भारतीय अर्थशास्त्र

प्रस्तुतकर्ता की अन्य पुस्तकें

1. Co-operation in the East and the West (Co-author)
2. Economics Essays in Honour of Prof. Rudra (Co-author)
3. Essays in Economic Theory (Co-author) (in the Press)
4. आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त
5. पूर्व और पच्छिम में सहकारी आन्दोलन (सहलेखक) (प्रेस में)

भारतीय अर्थशास्त्र

(लेखकों की विख्यात पुस्तक Indian Economics का हिन्दी रूपान्तर)

[खण्ड १]

जी० बी० जथार एम० ए०
तथा
एस० जी० बेरी एम० ए०

प्रस्तुतकर्ता
डी० एस० कुशवाहा
(इलाहाबाद विश्वविद्यालय)



राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद नई दिल्ली

मूल पुस्तक Home University Library और Oxford University Press द्वारा प्रकाशित की गई है। हिन्दी संस्करण में अद्यतन सूचनाएँ और आँकड़े प्रस्तुतकर्ता द्वारा यथास्थान दे दिये गए हैं।

प्रथम हिन्दी संस्करण, १९५५

मूल्य
प्रथम खण्ड ७)
दोनों खण्ड १४)

मुद्रक—श्री गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली

प्रकाशक— राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई

भूमिका

पिछले २५ वर्षों से प्रो० जथार तथा प्रो० बेरी द्वारा लिखित 'इण्डियन इक-नॉमिक्स' को एक प्रामाणिक पुस्तक के रूप में सबने स्वीकार किया है। विषय का सर्वांगीण विवेचन तथा निष्पक्ष आलोचनात्मक दृष्टिकोण इसकी विशेषता है। अभी तक यह पुस्तक केवल अंग्रेज़ी में ही उपलब्ध थी, इसलिए विषय का हिन्दी में अध्ययन करने वाले विद्यार्थी इससे लाभ न उठा पाते थे। विश्वविद्यालयों द्वारा हिन्दी माध्यम अपनाये जाने पर इसके हिन्दी संस्करण की आवश्यकता और बढ़ गई। मूल पुस्तक का यह हिन्दी संस्करण विषय पर एक गम्भीर पुस्तक प्रस्तुत करने के अतिरिक्त विद्यार्थियों के लिए भी हितकर सिद्ध होगा, क्योंकि उन्हें इस संस्करण में अद्यतन सूचनाओं और आँकड़ों के अतिरिक्त भारतीय अर्थशास्त्र-सम्बन्धी लगभग सभी विषयों पर पर्याप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ उनका सविस्तार आलोचनात्मक विवरण भी उपलब्ध हो जायगा जिसका अन्यत्र मिलना कठिन ही है।

प्रस्तुत संस्करण में प्रत्येक विषय-सम्बन्धी अद्यतन विकास की रूपरेखा और आँकड़े दे दिये गए हैं। अतएव यह मूल पुस्तक का केवल हिन्दी संस्करण-मात्र ही नहीं, वरन् उसका *संशोधित संस्करण* भी है। संशोधन-कार्य में मुझे जिन साधनों से सहायता मिली है, उनमें से निम्न मुख्य हैं: भारतीय संविधान, सन् १९५१ की जनगणना रिपोर्ट, स्टेटिस्टीकल एब्स्ट्रेक्ट १९५१-५२, लेबर ईयरबुक १९५२-५३, इण्डियन ईयर बुक (टाइम्स ऑफ इण्डिया), इण्डिया ऐट ए ग्लान्स, इण्डिया १९५४, रिव्यू ऑफ द कोऑपरेटिव मूवमेन्ट इण्डिया, बैंकिंग एण्ड मॉनीटरी स्टेटिस्टिक्स ऑफ इण्डिया, रिज़र्व बैंक बुलेटिन, एग्रिकल्चरल सिचुएशन इन इण्डिया, प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ द फाइव ईयर प्लान आदि। इनका तथा अन्य प्रयुक्त साधनों का उल्लेख यथास्थान भी कर दिया गया है। जहाँ तक सम्भव हुआ है अद्यतन आँकड़ों का समावेश पाठ में ही किया गया है और महत्त्वपूर्ण विकास, जिसका पुस्तक में पहले समावेश नहीं था, पाद-टिप्पणियों में दे दिया गया है। अतएव पाठक किसी भी विषय का आधुनिक विकास और तत्सम्बन्धी सांख्यिकीय स्थिति बड़ी सरलता से जान सकते हैं। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए आवश्यक स्थलों पर हिन्दी पर्याय के सामने कोष्ठक में अंग्रेजी शब्द भी हिन्दी में लिख दिये गए हैं।

पुस्तक को हिन्दी में प्रस्तुत करने में मुझे अनेक व्यक्तियों से सहायता मिली है। सर्वश्री छैलबिहारीलाल एम० ए०, पारसनाथसिंह एम० ए०, गिरीशदत्त

पाण्डे, एम० ए०, विष्णुसरन अग्रवाल एम० ए० और लाल सूर्योदय प्रतापसिंह एम० ए० आदि सभी धन्यवाद के पात्र हैं। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी होने के अतिरिक्त इनमें से कुछ अन्यत्र कालिजों में इस विषय के अध्यापक भी हैं। उन्होंने मुझे अनेक विषयों पर परामर्श भी दिये हैं। श्री छैलबिहारीलाल ने भाषा के रूप के सम्बन्ध में मुझे उपयोगी सुझाव दिये हैं, इसके लिए मैं उनका विशेष रूप से आभारी हूँ।

मुझे आशा है कि पुस्तक का यह हिन्दी संस्करण विद्यार्थियों एवं भारत की आर्थिक गतिविधि के जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

अर्थशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
३१ जुलाई, १९५५

—धर्मेन्द्रसिह कुशवाहा

सूची

१. क्षेत्र तथा परिभाषा १

परिभाषा—दूसरा सम्भावित अर्थ—तीसरी व्याख्या—भारतीय अर्थशास्त्र : अध्ययन का एक अलग विषय—भारतीय अर्थशास्त्र भारत के उदाहरणो सहित अर्थ-शास्त्र के नियमो का आख्यान-मात्र नही है—रानाडे का बहुमूल्य कार्य—पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्त तथा भारतीय अर्थशास्त्र ।

२. भारत का भौतिक परिवेश तथा प्राकृतिक साधन ७

प्राकृतिक साधन और उनका महत्त्व—भारत . क्षेत्रफल तथा जनसख्या—भौगोलिक अवस्थिति—बन्दरगाहो की न्यूनता—सचार-साधन—भौगोलिक अवस्थिति से जनित कठिनाइयों को दूर करने के प्रयत्न—भारत के तीन स्पष्ट विभाग—दक्षिणी प्रायद्वीप—सिन्धु-गंगा का मैदान—हिमालय तथा प्रायद्वीप की नदियाँ—हिमालय श्रेणी—भौगोलिक तथा जलवायु-सम्बन्धी विभिन्नताएँ—भारत में ऋतुएँ—वर्षा—वर्षा का महत्त्व—जलवायु—आर्थिक उन्नति के सन्दर्भ में उष्ण जलवायु—वन—वनो की उपादेयता—वन-सरक्षण—भारत में वनो के क्षेत्र—वन प्रशासन का उद्देश्य—भारतीय वनो से कच्चे माल की प्राप्ति—वनो के प्रमुख और गौण उत्पादन—भारतीय वनो की समता—भूगर्भ-रचना—खनिज उत्पादन—कोयला—लोहा—मैंगनीज—सोना—पैट्रोलियम—अभ्रक—शोरा—अन्य खनिज पदार्थ—नमक—इमारती पत्थर—सीमेण्ट बनाने का सामान—चूना—वनस्पति-साधन—पशु-सम्बन्धी साधन—शक्ति के साधन—जल-शक्ति—समृद्ध देश के निर्धन निवासी ।

३. जनसंख्या ४०

कुल जनसंख्या—घनत्व निर्धारित करने वाले तत्त्व—घनत्व तथा समृद्धि—धर्म तथा जाति के आधार पर जनसख्या का वितरण—व्यवसाय के आधार पर जन-संख्या का वितरण—नगरो तथा गाँवो में जनसख्या—जनसंख्या : पुरुष और स्त्रियों में—आयु के अनुसार वितरण—भारत में जन्म और मृत्यु-दर—जनसंख्या की वृद्धि—भारत मे जनाधिक्य की समस्या—प्रतिबन्धक निरोध—भारत में विवाह-दर—अवन्ध्यता का कम होना—सामाजिक रीति-रिवाज (स्तन-पान इत्यादि)—शिशु-

हत्या—गरीबी और बीमारी—जनाधिक्य और राष्ट्रीय आय—निश्चयात्मक तथा निवारक उपाय—जनसख्या रोकने के लिए विचारपूर्वक किये गए उपायो के अतिरिक्त अन्य उपाय—इन उपायो की सीमाएँ—जनाधिक्य के विरुद्ध श्रम के अभाव का तर्क—कृषि-विकास—अन्तर्प्रान्तीय प्रवास—परावास—जनसख्या और उत्पादन—धन की वृद्धि एक अप्रत्यक्ष और शक्तिशाली उपचार—चेष्टापूर्वक नियन्त्रण करने का महत्त्व—परिवारो का परिसीमन पक्ष और विपक्ष—जनसख्या को सीमित करने के उपाय—प्रवास आबादी का देश मे एक जगह से दूसरी जगह जाना—सुजनन विद्या—सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई—शिक्षा—जातिगत सम्मान।

४. सामाजिक और धार्मिक सस्थाएँ ९१

आर्थिक कार्यों पर धार्मिक और सामाजिक सस्थाओ का प्रभाव—वर्ण-व्यवस्था—वर्णों के तीन मुख्य भेद—वर्ण-व्यवस्था का उद्भव—वर्ण-व्यवस्था की कठोरता—वर्ण-व्यवस्था के लाभ और उसकी उपलब्धियाँ—जाति-व्यवस्था वर्तमान रूप मे समर्थनीय नही—सजातीय विवाह तथा जातियो का अपकर्ष—जाति-व्यवस्था वैयक्तिक सम्मान और व्यवसाय के सामञ्जस्य में बाधक है—पूँजी और श्रम मे गतिमत्ता का अभाव—बडे पैमाने के साहसोद्यम मे जाति-प्रथा बाधक—जातियाँ और श्रम की गरिमा—जाति-प्रथा समानता के सिद्धान्त की विरोधी है—पाश्चात्य सभ्यता का जाति-प्रथा पर प्रभाव—जाति-व्यवस्था की शक्ति—जाति-व्यवस्था की बुराइयो का उपचार—सयुक्त परिवार-व्यवस्था—सयुक्त परिवार का उद्भव—सयुक्त परिवार-व्यवस्था के लाभ—इसकी बुराइयाँ—आधुनिक विघ्नटनकारी प्रभाव—उत्तराधिकार और दायाधिकार के नियम—मिताक्षर और दायभाग प्रणाली—दोनो प्रणालियो के अन्तर्गत दायाधिकार—दायाधिकार एव उत्तराधिकार के नियमो का आर्थिक प्रभाव—क्या भारतीयो की आध्यात्मिकता उनकी आर्थिक अवनति का कारण है?—ऐतिहासिक प्रमाण—आर्थिक क्रिया-कलाप पर धार्मिक भावना के प्रभाव की अतिशयोक्ति—भाग्यवादिता अतीत की अशान्त राजनीतिक परिस्थितियो की देन है—परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल धर्म के पुनराख्यान का क्रम—भारतीय निराशावादिता के (धर्म के अतिरिक्त) अन्य कारण।

५. भारत में आर्थिक संक्रान्ति ११४

इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति—इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति की चार मुख्य बातें—औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम—मॉरीसन का वर्गीकरण : नवीन और प्राचीन ढंग के देश—प्राचीन ढंग के देशों की विशेषताएँ—नवीन ढंग के देशो की विशेषताए—प्राचीन आर्थिक संगठन : गाँव—ग्रामों का उद्भव कैसे हुआ और आज भी वे क्यो विद्यमान हैं—ठेठ भारतीय गाँव—ग्राम-व्यवस्था : कृषक—गाँव के अधिकारी (अफसर)—गाँव के शिल्पी—गाँवों का अलग-थलगपन और आत्म-निर्भरता—द्रव्य की

अनुपस्थिति आदि—रीतिरिवाज और परिष्ठा (status)—रिवाज और लगान—रिवाज और मज़दूरी—रिवाज और मूल्य—प्राचीन अर्थ-व्यवस्था में नगर—अतीत काल में भारतीय उद्योग—भारतीय उद्योगों की अवनति के कारण तथा उत्तरोत्तर ग्राम-निर्भरता—भारत और इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति : दोनों का अन्तर—संक्रमण-कालीन ग्राम—संक्रमणकालीन ग्राम की विशेषताएँ—ग्रामीण व्यवसायों में संक्रान्ति—परिष्ठा और रीति-रिवाज—प्रतियोगिता और संविदा में संक्रान्ति—उद्योगों में संक्रान्ति—औद्योगिक उन्नति की कसौटियाँ—नगरों के विकास को प्रभावित करने वाली आधुनिक शक्तियाँ—नगरों के ह्रास के कारण—स्थानीय अर्थ—व्यवस्था से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में आकस्मिक क्रान्ति—क्या औद्योगीकरण भारत के लिए वांछनीय है।

६. कृषि-उत्पादन और निर्यात — १५०

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का स्थान—कृषि-विकास की आवश्यकता—भारत में विभिन्न फसलों के क्षेत्रफल-सम्बन्धी आँकड़े—प्रमुख फसलों की अनुमानित उपज तथा क्षेत्रफल—विस्तृत और घनी खेती की सम्भावनाएँ—फसलों की सापेक्षिक महत्ता—भारत की प्रमुख फसलों का सर्वेक्षण—कृषि-उत्पत्ति का निर्यात—खाद्य पदार्थों के निर्यात पर प्रतिबन्ध—कच्चे माल के निर्यात पर प्रतिबन्ध—कम उत्पत्ति तथा उसके कारण—क्या भारत की भूमि का निरन्तर क्षय होता जा रहा है।

७. कृषि-भूमि और उसकी समस्याएँ — २०५

उपविभाजन और अपखण्डन : अनुकूलतम जोत का विचार—कृषि और स्वामित्व की इकाई—उपविभाजन और अपखण्डन के दोष—उपविभाजन और अपखण्डन का पक्ष—भारत में यह दोष किस-किस हद तक बढ़ा हुआ है—उपविभाजन और अपखण्डन के कारण—आर्थिक जोत क्या है ?—उपचार—सन् १९२७ का बम्बई का स्वल्प जोत-बिल (स्मॉल होल्डिंग्स बिल)—**स्थाई-सुधार : स्थायी** सुधारों का अभाव और इसके परिणाम—**सिंचाई :** आवश्यकता और महत्त्व—सिंचाई के साधनों का वर्गीकरण—विस्तार, विकास और राजस्व—सरकार की सिंचाई-नीति—सिंचाई बनाम रेलें—भूमि पर पानी और नमक का जमाव—पंजाब के नहर-उपनिवेश।

८. कृषि : श्रम, उपस्कर और संगठन — २४०

मानव-अंग : उसकी असन्तोषजनक प्रकृति—ग्राम्य शिक्षा की व्यापक योजना—किसानों की शारीरिक अक्षमता : उसके कारण और उपचार—भोर कमेटी रिपोर्ट—गाँव और नगरों मे घनिष्ठतर सम्पर्क की आवश्यकता—कृषि मज़दूर—**ज़मींदार और गाँव की अर्थ-व्यवस्था में उसका स्थान**—भूमि-स्वामित्व के सहवर्ती कर्तव्य तथा उत्तर-दायित्व—**प्रविधि और उपस्कर : प्रविधि :** कृषि की विधियाँ—खाद—**उपस्कर :** औज़ार—पशुधन—चारे की समस्या—पशु-अभिजनन—पशु-चिकित्सा विभाग—

सुरक्षित पूँजी—**संगठन :** ग्रामीण उद्योगों की महत्ता—डेरी फार्मिंग आदि—**खद्दर की** आर्थिक महत्ता—कुछ अन्य ग्राम-उद्योग—कृषि उत्पाद का सदोष विपणन—**सहकारी** विक्रय—विपणन-व्यवस्था में कुछ सुधार—नई विपणन-व्यवस्था—विपणन संगठन द्वारा किये गए कार्य—भाण्डागारों तथा मापों और बाटों के मानकीकरण की आवश्यकता।

९. ग्रामीण ऋणिता — २८३

ग्रामीण ऋणिता : एक गम्भीर समस्या—ऋणिता का विस्तार : प्रारम्भिक जाँच-पड़ताल—प्रान्तीय बैंकिंग जाँच-समितियों के ग्रामीण ऋणिता-सम्बन्धी अनुमान—ऋणिता के कारण—ग्रामीण ऋणिता के बारे में सरकारी नीति—आवश्यक ऋणों से बचाव के लिए उठाये गए कदम—दीवानी कानून (लॉ) में सुधार के कदम—साहूकारों का नियन्त्रण करने और अनुज्ञा देने के बारे में विधान—ऋण-सम्बन्धी समझौता और अपाकरण—आधुनिक ऋण-समझौता कानून—ऋण को अनिवार्य रूप से कम करना—भूमि के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध—द्रव्य और साख की पूर्ति—कृषि वित्त उपसमिति की रिपोर्ट, १९४४।

१०. भारत में सहकारी आन्दोलन — ३२४

सहकारिता का अर्थ—जर्मनी में सहकारिता—सहकारिता तथा भारत में इसके उपयोग—सहकारी उधार समिति अधिनियम, १९०४—सन् १९०४ से १९१२ तक **की प्रगति का दिग्दर्शन**—सहकारी समिति अधिनियम, १९१२—१९१२ के **अधिनियम के बाद आन्दोलन की प्रगति**—सन् १९३९-४५ के विश्वयुद्ध के समय सहकारिता आन्दोलन—सहकारी समितियों का वर्गीकरण—प्राथमिक कृषि उधार समितियाँ—कृषीतर उधार-समितियाँ—**गैर-उधार सहकारी आन्दोलन :** कुछ सामान्य प्रश्न—एकव्येयी बनाम बहुव्येयी समिति—ऋण-इतर कृषि-आन्दोलन—ऋण-इतर गैर-कृषि समितियाँ—गृह-निर्माण समितियाँ—केन्द्रीय समितियाँ; सहकारी वित्त—केन्द्रीय सहकारी बैंक—राज्यीय सहकारी बैंक—क्या अखिल भारतीय सहकारी बैंक आवश्यक है?—रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया और सहकारी कृषि-वित्त का सम्बन्ध—सहकारी बैंकों के सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक का कार्य—सहकारिता आन्दोलन और सरकार का सम्बन्ध—सहकारी संस्थान आदि—भारत में सहकारी आन्दोलन का अलोचनात्मक मूल्यांकन—सहकारिता आन्दोलन का नवीकरण—**भूमिबन्धक बैंक**—भूमिबन्धक बैंकों की आवश्यकता—भूमिबन्धक बैंकों के तीन प्रकार—भारत में भूमिबन्धक बैंकों का इतिहास—भूमिबन्धक बैंकों को राज्य की सहायता—बम्बई और मद्रास की योजनाएँ—भूमिबन्धक बैंकों के कार्य—भूमिबन्धक बैंकों की परिसीमाएँ—अव्यापारिक भूमिबन्धक बैंक।

११. राज्य और कृषि का सम्बन्ध — ३८३

कृषि विभागों का विकास—कृषि विभाग के कार्य—सुधरे औज़ारों और नवीन

पद्धतियों का प्रदर्शन—राज्य-सहायता की दूसरी मदें—कृषि-शिक्षा—ग्रामोद्धार—गुड़-गाँव का प्रयोग—राजकीय कृषि ग्रायोग—रिपोर्ट पर सरकार की कार्यवाही : शिमला सम्मेलन—भारतीय कृषि ग्रनुसन्धान परिषद्—रसेल-राइट जाँच—ग्रधिक खाद्य-उत्पादन ग्रौर ग्रायोजित विकास।

१२. भू-धृति (पट्टेदारी) तथा भू-राजस्व ४०२

भारत में भू-राजस्व का ऐतिहासिक सर्वेक्षण—भू-धृति के तीन प्रकार—गाँवों के संगठन के दो प्रमुख रूप—जमीदारी ग्रथवा संयुक्त गाँव का संगठन ग्रौर प्रकार—एक से ग्रधिक गाँवों की मल्कीयतें सम्मिलित करने वाली जमींदारियाँ—उप-स्वामित्व एवं ग्रासामियों के ग्रधिकार—मौरूसी काश्तकारों के ग्रतिरिक्त ग्रन्य काश्तकार—मौरूसी विशेषाधिकारों के सामान्य लक्षण—जमींदारी प्रान्तों में काश्तकारी कानून-सम्बन्धी नये प्रयत्न—रैयतवारी राज्यों में काश्तकारी—सन् १९३९ का बम्बई का काश्तकारी ग्रधिनियम (द बॉम्बे टेनेन्सी एक्ट)—बन्दोबस्त क्या है ?—बन्दोबस्त के ग्रावश्यक तत्त्व—बन्दोबस्तों का वर्गीकरण—जमीदारी बन्दोबस्त : बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त—बंगाल में सन् १७९३ के जमींदारी बन्दोबस्त की ग्रालोचना—बनारस तथा मद्रास में स्थायी बन्दोबस्त—स्थायी बन्दोबस्त का बाद का इतिहास—बंगाल के शेष जमीदारों तथा ग्रवध के ताल्लुकेदारों के साथ ग्रस्थायी बन्दोबस्त—महलवारी बन्दोबस्त—महलवारी पद्धति में मालगुजारी निर्धारित करने के सिद्धान्त—उत्तरप्रदेश में महलवारी बन्दोबस्त-सम्बन्धी कार्य—पंजाब का महलवारी बन्दोबस्त—मध्यप्रदेश का मालगुजारी बन्दोबस्त—रैयतवारी बन्दोबस्त : मद्रास की रैयतवारी विधि—बम्बई की रैयतवारी विधि—बम्बई के बन्दोबस्त की मुख्य बातें—ग्रासाम की व्यवस्था—राज्य स्वामित्व ग्रथवा वैयक्तिक स्वामित्व—भू-राजस्व (मालगुजारी) : कर ग्रथवा लगान—स्थायी बनाम ग्रस्थायी बन्दोबस्त—बंगाल का भू-राजस्व ग्रायोग (१९३८-४०)—बन्दोबस्त की ग्रवधि—मालगुज़ारी निर्धारण के सिद्धान्त—मालगुज़ारी निर्धारित करने के ग्राधार के रूप में लगान-मूल्य—भारत के भू-राजस्व के सम्बन्ध में रिकार्डों का सिद्धान्त—मालगुज़ारी या भू-राजस्व निर्धारित करने का एक नया ग्राधार—मालगुज़ारी की दर : एक सिफ़ारिश—मालगुज़ारी में वृद्धि करने की क्या सीमाएँ होनी चाहिएँ—भू-राजस्व मे करके सिद्धान्तों को लागू करना—ग्रौपचारिक न्याय का सिद्धान्त—वैधानिक नियन्त्रण—भू-राजस्व सम्बन्धी विधान की प्रगति—सन् १९३९ का बम्बई भू-राजस्व संहिता (संशोधन) विधान—**परिशिष्ट**।

१३. उद्योग : एक सामान्य सर्वेक्षण ४७४

हाल के वर्षो मे भारत का ग्रौद्योगिक इतिहास—ग्रौद्योगिक विकास के सम्बन्ध में सरकारी नीति का सर्वेक्षण—१९१४-१८ के युद्ध-काल में ग्रौद्योगिक विकास—भारतीय युद्ध-सामग्री बोर्ड (इण्डियन म्यूनिशन्स बोर्ड)—(१९१४-१८) युद्धोत्तर ग्रौद्यो-

गिक अभिवृद्धि—व्यापारिक अवसाद (मदी)—औद्योगिक समुत्थान व पश्चायन (रिसेशन)—सरक्षणात्मक प्रशुल्क का सूत्रपात, आदि—भारत के औद्योगिक आयोजन के लिए कांग्रेस का प्रस्ताव—(द्वितीय) युद्धकालीन एवं युद्धोत्तर औद्योगिक विकास—पुनर्निर्माण समितियो की स्थापना—अर्थशास्त्रियों की परामर्श समिति—भारतीय उद्योग की बाधाएँ—अमेरिकन टेकनिकल मिशन—भारत का औद्योगिक पिछड़ापन—औद्योगिक विकास से लाभ—उद्योग की कृषि पर प्रतिक्रिया—उद्योगो के लिए पूँजी—बाह्य पूँजी—विदेशी पूँजी की मात्रा—भारत मे विदेशी पूँजी : मुख्य समस्याएँ—विदेशी पूँजी के विरुद्ध आपत्तियाँ—बाह्य-पूँजी के उपयोग और लाभ—बाह्य-पूँजी पर प्रतिबन्ध—१९३५ के सविधान मे विदेशी पूँजी की स्थिति—आन्तरिक-पूँजी के साधनो के विकास की आवश्यकता।

परिशिष्ट : विभाजन के बाद ५०६

जनसंख्या —कृषि—खनिज पदार्थ—व्यापार और उद्योग—यातायात—मुद्रा (करेन्सी) और विनिमय—बैंकिग—राजस्व।

अध्याय १

क्षेत्र तथा परिभाषा

१. परिभाषा—भारत की मुख्य आर्थिक समस्याओं के अध्ययन और उनके सम्भावित कारणों तथा उन्हें सुलझाने के लिए किये गए या किये जाने वाले उपायों के विश्लेषण को समष्टि रूप से हम भारतीय अर्थशास्त्र के नाम से अभिहित कर सकते हैं। यह राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देश की आर्थिक स्थिति का अध्ययन है। देश की आर्थिक स्थिति के परीक्षण में स्वभावतः दो बातें आ जायँगी—एक तो सरकारी नीति की आलोचना अथवा प्रशंसा और दूसरे इस आर्थिक दशा को सुधारने की योजनाओं का निर्माण। यदि हमारे अध्ययन का दृष्टिकोण बराबर राष्ट्रीय रहे तो हमारा प्रथम और अन्तिम लक्ष्य भारतीय जनों की भौतिक उन्नति ही होगा। सन् १८७७ में सर जॉन स्ट्रैची ने वित्त-विवरण पेश करते हुए इस सिद्धान्त का खण्डन किया था कि भारत-सरकार का कर्तव्य केवल भारतीय हितों का विचार करना है। वरन् उन्होंने इस बात को स्वीकार किया था कि वह अपने देश के प्रति अपने कर्तव्यों से बड़ा कोई अन्य कर्तव्य नहीं समझते। यह वास्तव में उपनिवेश-नीति की एक प्रतिध्वनि-मात्र थी, जिसके अनुसार इंगलैण्ड के समुद्र-पार स्थित उपनिवेशों और डोमिनियनों का मुख्य उद्देश्य अंग्रेज़ी हितों की सिद्धि ही था। यह स्पष्ट है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद अन्य स्वशासित डोमिनियनों की भाँति भारत भी अब अपने निजी हितों की दृष्टि से सबसे उपयुक्त नीति निर्धारित करने के लिए स्वतन्त्र है, भले ही वह कॉमनवेल्थ का सदस्य बना रहने का निश्चय क्यों न कर ले।

२. दूसरा सम्भावित अर्थ—उपरोक्त परिभाषा के अनुसार कई कारणों से 'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्द के औचित्य पर कभी-कभी सन्देह होता है। इनमें से एक कारण यह है कि यह शब्द साधारणतया स्वीकृत अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों की ओर भी संकेत करता है, परन्तु किसी शब्द के एक विशेष प्रयोग को उचित बतलाने के लिए यह सिद्ध करना आवश्यक नहीं है कि उसका दूसरा अर्थ होना असम्भव है। सच बात तो यह है कि 'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्द के कम-से-कम दो अर्थ और हो सकते हैं। इसका एक अर्थ यह हो सकता है कि 'भारतीय अर्थशास्त्र' आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक की भारतीय आर्थिक चिन्ताधारा का इतिहास है। सम्भवतः ऐसे इतिहास का अध्ययन रोचक नहीं होगा, क्योंकि इस चिन्ताधारा के क्रमबद्ध विकास का हमें पता नहीं है और उसकी प्रगति का कोई अभिलेखन भी नहीं हुआ है। किसी एक शताब्दी के प्रचलित विचार परवर्ती शताब्दियों में भी लगभग उसी रूप में बने रहे हैं। जो परिवर्तन हुए हैं वह आधुनिक युग में आने पर ही, और उसके मूल में पाश्चात्य प्रभावों की महत्ता

स्वीकार करनी पड़ती है। यह भी सम्भव है कि ऐसा इतिहास अविच्छिन्न न हो, क्योंकि अनेक स्थानों पर हमारी अज्ञानता के कारण प्रवाह भंग होगा। आज वस्तु-स्थिति यह है कि अपने अतीत इतिहास के कई कालखण्डों की परिस्थितियों एवं विचार-पद्धतियों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान नही के बराबर है। परन्तु इन आक्षेपों के कारण 'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्द का प्रयोग भारतीय आर्थिक चिन्ताधारा के इतिहास के अर्थ में करने में हमें कोई संकोच नही होना चाहिए। (यद्यपि इस अर्थ-विशेष का बोध कराने के लिए पूरे पद का प्रयोग करने से भ्रान्ति की कोई गुंजाइश नही रहती।)

३. तीसरी व्याख्या—अगर केवल भाषा की दृष्टि से विचार किया जाय तो 'भारतीय अर्थशास्त्र' का अर्थ आर्थिक सिद्धान्तों की एक नवीन पद्धति भी हो सकता है। यदि यह सत्य है कि भारतीय समाज और परिस्थितियाँ पाश्चात्य समाज और परिस्थितियों से मूलतः इतनी भिन्न हैं कि राजनीतिक अर्थशास्त्र की सामान्य आधार-भूत धारणाएँ इस देश में लागू नहीं होतीं तो ये सिद्धान्त पश्चिम में प्रचलित सिद्धान्तों से भिन्न होंगे। फिर भी चूँकि एकान्ततः भारतीय तथ्यों पर आधारित 'अर्थशास्त्र' नाम के किसी सर्वथा नवीन विज्ञान का अस्तित्व ही नहीं है, इसलिए भारतीय अर्थ-शास्त्र शब्द को इस विशेष अर्थ में प्रयोग करने की कभी आवश्यकता न होगी। मानव-स्वभाव भारत में प्रधानतः वैसा ही है जैसा कि पश्चिम मे, और वे आधारभूत अनुमान, जिन पर राजनीतिक अर्थशास्त्र का निर्माण हुआ है, अन्य स्थानों की भाँति भारत में भी लागू होते हैं। यदि पश्चिम मे पर्याप्त प्रबल और निरन्तर क्रिया-शील स्वार्थ-भाव अर्थशास्त्र का आधार माना गया है तो यह मानने के लिए कोई कारण नहीं है कि यहाँ लोग सामान्यतः आर्थिक भावना के बजाय परोपकार की भावना से प्रेरित होते हैं। यही बात स्वतन्त्र प्रतियोगिता, श्रम तथा पूँजी की गतिमत्ता आदि अन्य धारणाओं के सम्बन्ध में भी है। यद्यपि भारतीय परिस्थितियों में ये धारणाएँ उसी निश्चय के साथ नही की जा सकतीं जैसे कि पश्चिम में, फिर भी वे पश्चिमी विचारकों द्वारा विवेचित अर्थशास्त्र के सामान्य नियम निर्धारित करने में बहुत-कुछ संगत हैं, और भारत की आर्थिक समस्याएँ समझने में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। व्यावहारिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में पाश्चात्य अनुभव से भारत को अनेक शिक्षाप्रद बातें मिलती हैं।

मानव-प्रकृति सर्वत्र एक-सी है और अर्थशास्त्र मानव-प्रकृति की कुछ सार्व-लौकिक विशिष्टताओं पर निर्भर है। अतएव, वास्तव में 'अर्थशास्त्र' केवल एक ही हो सकता है; जिस तरह गणितशास्त्र, भौतिक-शास्त्र, रसायनशास्त्र सब एक-एक हैं। अतः पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्तों से अवगत कोई विद्यार्थी भारतीय अर्थशास्त्र की कोई पुस्तक अर्थशास्त्र के नवीन सिद्धान्तों की खोज की आशा से उठाता है तो उसे निराश होना पड़ेगा। अधिक-से-अधिक अध्ययन के पश्चात् उसे 'विभिन्न रूपों में अर्थशास्त्र की वस्तुगत एकता' (मार्शल) का पूर्ण रूप से ज्ञान हो जायगा और साथ ही आर्थिक सिद्धान्तों की सापेक्षता के सम्बन्ध में भी उसका विचार खूब दृढ़ हो जायगा।

४. भारतीय अर्थशास्त्र : अध्ययन का एक अलग विषय—इस स्वीकृति से कि अर्थशास्त्र केवल एक है, हमारे लिए यह मानने में कोई बाधा नहीं है कि प्रत्येक देश की आर्थिक स्थिति का अलग-अलग अध्ययन न केवल उचित है वरन् अनिवार्य भी है। यह बिलकुल स्पष्ट है कि ऐसे अध्ययन के अभाव में आर्थिक नीति ग़लत समझी जा सकती है और वह देश के सच्चे हितों के लिए हानिकर हो सकती है। 'भारतीय अर्थशास्त्र' को अध्ययन का एक अलग विषय कहने से हमारा यही तात्पर्य है। फिर भी हमें यह सोचने की ग़लती नहीं करनी चाहिए कि भारत की आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन किसी भी प्रकार से अन्य देशों के ऐसे ही अध्ययन से पूर्णतया भिन्न है।

५. भारतीय अर्थशास्त्र भारत के उदाहरणों सहित अर्थशास्त्र के नियमों का आख्यान मात्र नहीं है—भूमि, श्रम, पूँजी, उत्पादन, वितरण और विनिमय आदि सामान्य शीर्षकों के अन्तर्गत भारतीय अर्थशास्त्र की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन सम्भव है। इससे हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि 'भारतीय अर्थशास्त्र' केवल आर्थिक नियमों का एक विवरण है, जिसमें भारतीय आर्थिक जीवन के तथ्यों को उदाहरणों के रूप में समाविष्ट कर दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि अपरिचित स्थितियों से दिये गए उदाहरणों की अपेक्षा भारत के उदाहरणों के साथ अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को भारतीय विद्यार्थी अधिक आसानी से ग्रहण कर लेगा। फिर भी इसे 'भारतीय अर्थशास्त्र' कहलाने का कोई अधिकार नहीं है। 'भारतीय अर्थशास्त्र' पूरी तरह भारत के आर्थिक जीवन की स्थितियों और समस्याओं का ही एक तथ्यपरक अध्ययन है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का निर्देश वहीं तक उचित है जहाँ तक कि वे इन समस्याओं और स्थितियों को समझने में सहायक हों।

भारत के सम्बन्ध में इस प्रकार के अलग-अलग अध्ययन को हम 'भारतीय अर्थशास्त्र' कहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि ब्रिटिश परिस्थितियों के ऐसे ही अध्ययन को हम 'ब्रिटिश अर्थशास्त्र' कह सकते हैं। ब्रिटेन के आर्थिक जीवन के विभिन्न रूपों जैसे बैंकिंग (बैंक-व्यवहार), मुद्रा, यातायात, कृषि आदि के सिद्धान्त-ग्रन्थ 'ब्रिटिश अर्थशास्त्र' से ही सम्बन्धित माने जा सकते हैं।

६. रानाडे का बहुमूल्य कार्य—उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश भाग में देश की सरकारी नीति अनावश्यक रूप से सिद्धान्तपरक थी। आर्थिक सिद्धान्तों के परिकाल्पनिक स्वरूप की उपेक्षा कर यहाँ की आर्थिक नीति अर्थशास्त्र की लोकप्रिय अंग्रेज़ी पाठ्य-पुस्तकों में दिये हुए आर्थिक नियमों पर आधारित थी। स्वतन्त्र व्यापार (Free Trade) इंगलैंड के लिए हितकर था, अतएव इस बात पर ज़ोर दिया गया कि वह भारत के लिए भी हितकर होगा। राज्य-अनतिपात (हस्तक्षेप न करने की नीति) अंग्रेज़ी परिस्थितियों के उपयुक्त थी, इसलिए कहा गया कि यह नीति भारत के लिए भी उतनी ही लाभप्रद होगी—यद्यपि भारत में व्यक्तिगत साहसोद्यम करीब-करीब था ही नहीं, और यदि था भी तो बहुत कम विकसित। सरकार द्वारा अर्थशास्त्र के निष्कर्षों के पालन का आग्रह कभी निश्छल होता था तो कभी कपटपूर्ण। बहुत से विचारशील लोगों के मत से आर्थिक विषयों में सरकारी नीति भारत के सच्चे हित के लिए उप-

योगी न थी। इस नीति पर राजनीतिज्ञों ने आक्षेप किया। उन्होंने साम्राज्यवादी और ब्रिटिश हितों के लिए भारत के राष्ट्रीय हितों की आहुति देने के लिए खुलकर सरकार को दोषी ठहराया। अर्थशास्त्रियों ने भी इस नीति पर आक्षेप किये, जिनमें स्वर्गीय न्यायमूर्ति रानाडे प्रमुख थे। रानाडे ने अपने सहज पाण्डित्य के बल जैसी सशक्त और प्राणवान भाषा में इस नीति पर आर्थिक दृष्टिकोण से प्रहार किया उसकी समता कोई अन्य भारतीय लेखक नहीं कर सकता था। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि राजनीतिक अर्थशास्त्र के सैद्धान्तिक विश्लेषण के अनेक आधारभूत अनुमान भारत में लागू नहीं होते; अतएव यदि सरकारी नीति वास्तव में देश की आर्थिक उन्नति करने के लिए है तो भारतीय परिस्थितियों की बहुत सी विशेषताओं को भुलाया नहीं जा सकता। प्रायः उद्धृत किये जाने वाले निम्नलिखित अंश में वे सरकार द्वारा उपस्थित कुछ महत्त्वपूर्ण विशिष्ट लक्षणों की ओर संकेत करते हैं: 'क्योंकि यह अनुमान (रानाडे का संकेत व्युत्पन्न व्यक्तिवाद, स्वतन्त्र प्रतियोगिता, श्रम और पूँजी की गतिमत्ता आदि अनुमानों की ओर है) अत्यधिक उन्नतिशील समाज में भी पूर्ण रूप से लागू नहीं होते, इसलिए स्पष्ट है कि हमारे जैसे समाज में मुख्य रूप से इनका अभाव ही होगा। हमारे यहाँ एक औसत व्यक्ति-मानव, अधिकांश में आर्थिक मनुष्य के ठीक विपरीत होता है। जीवन में उसकी स्थिति निर्धारित करने में परिवार तथा जाति अधिक प्रबल हैं। धन की इच्छा के रूप में स्वार्थ का अभाव नहीं है, किन्तु यह एकमात्र और प्रमुख प्रेरणा नहीं है। धन की खोज ही उसका एकमात्र ध्येय नहीं है। कुछ पूर्व-निश्चित क्षेत्रों अथवा संघों के अतिरिक्त स्वतन्त्र तथा असीमित प्रतियोगिता की न तो आकांक्षा ही है और न योग्यता ही। रीति-रिवाज तथा सरकारी नियम प्रतियोगिता से कहीं अधिक प्रबल हैं और संविदे की अपेक्षा परिष्ठा (Status) का कहीं अधिक निश्चयात्मक प्रभाव पड़ता है। पूँजी तथा श्रम दोनों ही एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिए गतिमान, जोखिम उठाने वाले तथा बुद्धिमान नहीं हैं। मज़दूरी एवं लाभ स्थिर हैं, न कि नम्य और परिस्थितियों के साथ परिवर्तित होने वाले। जनसंख्या अपने ही नियमों का अनुसरण करती है। बीमारी तथा अकालों से उसमें कमी होती रहती है, जबकि उत्पादन लगभग स्थिर रहता है और एक वर्ष की अच्छी फ़सल दूसरे गाढ़े वर्षों में कमी पूरने के काम आती है। इस प्रकार से निर्मित समाज में स्वयंसिद्ध प्रवृत्तियाँ केवल लागू ही नहीं होतीं, वरन् वस्तुतः उचित दिशा से दूर पड़ती हैं। मापनीय समय के अन्दर अपने व्यावहारिक आचरण के कारणस्वरूप लोग पर्वतों के समुद्र में बह जाने, घाटियों के भर जाने या सूर्य के ठण्डे हो जाने की बात भी कर सकते हैं।'[1]

७. पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्त तथा भारतीय अर्थशास्त्र—उन्नीसवीं शताब्दी के इंगलैण्ड की सर्वथा भिन्न परिस्थितियों के लिए उपयुक्त आर्थिक नीति का भारत में अन्धानुकरण करने का प्रबल विरोध करके रानाडे ने अपने देश की महान् सेवा की। इतने समय बाद आज उनके शब्दों पर फिर से विचार करने पर यह मानना पड़ता है

१. एम० जी० रानाडे द्वारा लिखित 'एसेज़ ऑन इण्डियन इकनॉमिक्स', द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०-११ में 'इंडियन पॉलिटिकल इकनॉमी' शीर्षक लेख देखिए।

कि उन्होंने अंशतः इस धारणा को प्रचारित किया कि पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्त भारत की आर्थिक घटनाओं का आख्यान करने तथा आर्थिक उन्नति के उपाय सुझाने में बिलकुल बेकार हैं। जहाँ तक रानाडे की इन धारणाओं का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि व्यावहारिक सार्थकता और प्रभावशीलता के लिए वस्तुस्थिति को बढ़ा-चढ़ाकर कहने की आवश्यकता थी। उन दिनों सरकार राजनीतिक अर्थशास्त्र के शास्त्रीय रूप को अतिशय सम्मान देती थी जिसके लिए वह सार्वलौकिक प्रामाणिकता का दावा करती थी; और कभी-कभी किसी एक अतिशयोक्ति को सुधारने का केवल एक ही उपाय होता है कि विपरीत दिशा में भी अत्युक्तियों का सहारा लिया जाय। रानाडे ने यह ऐसे समय लिखा था जबकि व्यावहारिक प्रश्नों को हल करने के लिए अर्थशास्त्र के तथाकथित शाश्वत नियमों पर विश्वास करना एक सामान्य बात थी और सैद्धान्तिक निष्कर्षो की ऐतिहासिक और आगमनात्मक अध्ययन द्वारा रक्षा करने की आवश्यकता नही समझी जाती थी, जिससे कि इस बात का पता चल जाय कि किसी विशेष मानव-समाज में वे कहाँ तक लागू किये जा सकते हैं। भारत में रानाडे का कार्य जर्मनी में फ्रेडरिक लिस्ट की ऐसी ही सफलता से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। फ्रेडरिक लिस्ट ने अपनी कृति 'नेशनल सिस्टम आफ़ पोलिटिकल इकानमी' (१८४२) में राजनीतिक अर्थशास्त्र के मतवादों और तथाकथित सार्वलौकिक सत्यों का दृढ़ता से विरोध किया। उन्होंने विशेषकर वर्तमान आर्थिक पद्धति में सार्वत्रिक सिद्धान्त का और स्वतन्त्र व्यापार के परम मत का, जो कि उस सिद्धान्त के अनुरूप था, विरोध किया। 'उन्होंने राष्ट्रीय विचार को प्रधानता दी तथा परिस्थितियों के अनुसार—मुख्यतः उसके विकास की स्थिति के अनुसार—प्रत्येक राष्ट्र की विशेष आवश्यकताओं पर बल दिया।'[1] वस्तुतः रानाडे को मुख्य रूप से लिस्ट (List) के लेखों से ही प्रेरणा मिली और अपने युग में उन्होंने देश की वैसी ही बहुमूल्य सेवा की जैसे कि लिस्ट ने जर्मनी की। उन्होंने इस विषय में एक शैली चलाई जो अपने लिए उपयुक्त समय के बहुत बाद तक चलती रही। उदाहरणार्थ, आजकल भी इस विचार में बहुत कम संगति है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र की शायद ही कोई धारणा भारतीय परिस्थितियों में लागू होती हो और 'सुखवादी सिद्धान्त में जहाँ-तहाँ केवल हेर-फेर की ही आवश्यकता नहीं है, वरन् वह भारत के लिए बिलकुल प्रयोजनहीन हो जाता है।'[2] इस ढंग के विचार कभी-कभी लोगों में यह धारणा फैलाते है कि भारतीय आर्थिक समस्याओं के विशेष अध्ययन के लिए एक बिलकुल ही नवीन आर्थिक प्रणाली की आवश्यकता है। वास्तव में भारतीय आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए हमें हर क़दम पर पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्तों की ही शरण लेनी पड़ेगी। यह भी सच है कि रानाडे के लिखने के बाद राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा भारत दोनों में ही रूप-परिवर्तन हुआ है। राजनीतिक अर्थशास्त्र अपने परिणामों के अनुमानशील स्वरूप को उचित रूप से बल देने लगा है तथा उनके

१. 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के ग्यारहवें संस्करण में एफ० लिस्ट पर लेख पढ़िए।

२. सन् १९२६ में मद्रास में हुई तृतीय भारतीय 'इकनॉमिक कान्फ्रेंस' में पी० एन्स्ऐ द्वारा पठित लेख देखिए।

लिए सार्वलौकिक पुष्टता की माँग करने में भी सावधान है।[1] धारणाओं में सुधार करके यह अधिक मानवीय और व्यावहारिक हो गया है जिससे कि नियम यथार्थ स्थिति के अधिक अनुरूप हो सकें। अपनी प्राचीन बनावटी सादगी छोड़ देने से यह बहुत अधिक उपयोगी हो गया है। भारतीय परिस्थितियाँ भी बहुत हद तक बदल चुकी हैं और पाश्चात्य स्थितियों के अधिक-से-अधिक निकट आने की दिशा में बराबर तेज़ी से बढ़ रही हैं।

१. 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त कुछ ऐसे निश्चित निष्कर्ष नहीं प्रदान करते हैं जिन्हें नीति निर्धारित करते समय तुरन्त ही व्यवहार में लाया जा सके। एक सिद्धान्त की अपेक्षा यह एक कार्य-प्रणाली है, प्रज्ञा का उपकरण है तथा विचार करने की प्रविधि है जो इससे युक्त व्यक्ति को सही निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता देती है।—''केम्ब्रिज इकनॉमिक हैण्डबुक्स' की सामान्य प्रस्तावना; जे० एम० केन्स द्वारा लिखित।

अध्याय २

भारत का भौतिक परिवेश तथा प्राकृतिक साधन

१. प्राकृतिक साधन और उनका महत्त्व—किसी जाति के आर्थिक जीवन को निश्चित करने में प्राकृतिक साधनों का अतीव महत्त्वपूर्ण योगदान है। जैसा कि जे० एस० निकल्सन का कथन है, इंगलैंड में उसके व्यापार तथा मिल-उत्पादनों की प्रधानता होने पर भी प्राकृतिक परिस्थितियाँ विशेष महत्त्व की है। तट और नदियाँ, लोहे और कोयले की खानों की सन्निकटता, कम और शीतोष्ण जलवायु तथा भूमि की उर्वरा शक्ति अब भी वहाँ राष्ट्र-सम्पदा के आधार हैं। बुद्धि और ज्ञान की वृद्धि के साथ प्रकृति के ऊपर मनुष्य का स्वामित्व भले ही बढ़ता जाय, परन्तु इस प्रक्रिया की भी निश्चित सीमाएँ हैं और अन्त मे मनुष्य को प्रकृति की शक्तियों और पदार्थों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। अत: भारत की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध मे हम अपना अध्ययन उसकी प्राकृतिक परिस्थितियों के संक्षिप्त वर्णन से प्रारम्भ करेंगे।

२. भारत : क्षेत्रफल तथा जनसंख्या—भारतीय संघ का क्षेत्रफल १२,६६,६४० वर्गमील और सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार जनसंख्या लगभग ३५.६ करोड़ है। उत्तर से दक्षिण तक देश की लम्बाई २००० मील है तथा पूरब से पश्चिम तक लगभग १७०० मील है। इस प्रकार भारत अपने में एक दुनिया है जो ब्रिटिश द्वीपसमूह की तेरह गुनी है और उसका क्षेत्रफल फ्रांस और रूस के क्षेत्रफल को घटा देने पर शेष यूरोप के बराबर है। उसकी विस्तृत स्थल-सीमा लगभग ८२०० मील लम्बी है। तथा उसकी तटरेखा की लम्बाई लगभग ३५०० मील है। अत: भारत को एक उप-महाद्वीप मानना उचित ही है।

३. भौगोलिक अवस्थिति—भौगोलिक अवस्थिति जो सदैव ही महत्त्वपूर्ण होती है, आर्थिक विकास की परवर्ती अवस्थाओं के साथ और अधिक महत्त्वपूर्ण होती जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए शेष दुनिया की अपेक्षा भारत की स्थिति अत्यन्त अनुकूल है। भारत पूर्वी गोलार्द्ध के बिलकुल केन्द्र पर है तथा यहाँ से सभी दिशाओं को जाने वाले व्यापारिक मार्ग हैं। विस्तृत समुद्री तटों के कारण समुद्री मार्ग उसके लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, और यदि उसके पास आवश्यक समुद्री उपस्कर हो जायँ तो संसार के व्यापार का एक मुख्य संवाहक बनने की उसमें क्षमता है।

४. बन्दरगाहों की न्यूनता—भारत की एक कठिनाई ऐसे प्राकृतिक बन्दरगाहों का अभाव भी है जहाँ आधुनिक जहाज ठहर सकें। ओखा, बम्बई मर्मागिओ तथा कोचीन

को छोड़कर पच्छिमी किनारे के सभी बन्दरगाह मानसून के समय में परिवहन के लिए क़रीब-क़रीब बन्द ही रहते हैं। पूर्वी किनारे पर ऊँची-ऊँची लहरें उठती हैं तथा वहाँ कोई प्राकृतिक बन्दरगाह नही है। अत्यधिक व्यय से बनी हुई समुद्री दीवारों के निर्माण के पश्चात् मद्रास के बन्दरगाह में वहुत सुधार हो गया है। पूर्वी किनारे के कटे-पिटे न होने के कारण जो कठिनाइयाँ हैं उनको दूर करने के लिए दूसरा प्रयत्न यह था कि विशाखापटनम बन्दरगाह का विस्तार और सुधार किया गया। यद्यपि कलकत्ता की स्थिति वैसे वहुत अच्छी है फिर भी हुगली नदी में बनने वाली रेतीली रुकावटों की कठिनाई उसमें रहती है। चिटगाँव की दशा भी इसी प्रकार की है। अतः यह बात सरलता से समझ में आ सकती है कि भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार क्यों तीन बन्दरगाहों— कलकत्ता, बम्बई, और मद्रास—तक ही सीमित है। इनमें केवल बम्बई प्राकृतिक बन्दरगाह है। वर्तमान असन्तोषजनक परिस्थितियाँ ऐसी सशक्त नीति की आवश्यकता की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं जिसका उद्देश्य अच्छे बन्दरगाहों की संख्या में वृद्धि करना हो और जिसके अन्तर्गत नये बन्दरगाहों का निर्माण तथा पुराने बन्दरगाहों का पुनर्जीवन भी हो। समुद्री जहाजों की परिस्थिति भी बहुत असन्तोषजनक है, क्योंकि समुद्री कार्रवाइयों की पुरातन परिपाटी के योग्य व्यापारिक जहाजी बेड़ा भी भारत के पास नहीं है।

५. संचार-साधन—भारत के मुख्य-मुख्य बन्दरगाह रेलों तथा सड़कों के जाल द्वारा देश के व्यापारिक केन्द्रों से सम्बन्धित ही हैं।[1] देशीय संचार के सम्बन्ध में प्रायद्वीप (दक्षिण भारत) की तुलना में उत्तर भारत की परिस्थिति अधिक अच्छी है। उत्तर भारत में नाव चलाने योग्य नदियाँ तो हैं ही, इसके अतिरिक्त वहाँ के बड़े-बड़े मैदानों म रेलें और सड़कें बड़ी आसानी से बन सकती हैं जबकि प्रायद्वीप (दक्षिण भारत) की ऊँची-नीची तथा पहाड़ी भूमि में इस बारे में बड़ी कठिनाइयाँ हैं जिन्हें बहुत व्यय करके ही दूर किया जा सकता है। जहाँ तक नाव चलाने योग्य नदियों का सम्बन्ध है उत्तर भारत की स्थिति प्रायद्वीप से कहीं अधिक अच्छी है। यातायात की सम्पूर्ण स्थिति का अधिक विस्तृत विवेचन दूसरे खण्ड में किया गया है।

६. भौगोलिक अवस्थिति से जनित कठिनाइयों को दूर करने के प्रयत्न—भौगोलिक अवस्थिति की कठिनाइयों को दूर करने के सम्बन्ध में सैलिगमैन ने तीन प्रकार के सुधारों की चर्चा की है; अर्थात् (i) मनुष्य तथा पण्य का यातायात, (ii) विद्युत्संचरण, तथा (iii) विचारों का आदान-प्रदान इनमें से पहले विषय का हमने उल्लेख मात्र किया है। विद्युत संचरण से सम्बन्धित प्रश्न पर इसी अध्याय में बाद में विचार किया जायगा (४३)। विचारों और जानकारी के आदान-प्रदान। के सम्बन्ध में डाक, तार, टेलीफोन तथा बे-तार के तार ने भौगोलिक स्थिति के महत्त्व को बहुत कम कर दिया है, और वे आधुनिक व्यापार तथा आर्थिक कार्य-कलाप के महत्त्वपूर्ण अंग हो गए हैं। इनमें से कुछ साधन जैसे डाक व तार, भारत में बहुत परिचित व विस्तृत हो चुके हैं तथा यातायात के साधनों के सुधारों के साथ इन्होंने देश के आर्थिक जीवन को अनेक प्रकार से

१. प्रिन्सिपल ऑफ पॉलिटिकल इकनॉमी, वाल्यूम १ पृ० ६६।

बदल दिया है। जिस प्रकार शेष दुनिया से भारत अब अलग नहीं है उसी प्रकार गाँव का एकाकीपन भी अधिकतर अतीत की बात हो गई है। तो भी भारत व्यापारिक जानकारी के प्रसार के लिए बेतार के तार के प्रयोग में अब भी पिछड़ा हुआ है और कुछ बड़े शहरों को छोड़कर टेलीफोन का प्रचार अभी बहुत कम हुआ है।

७. भारत के तीन स्पष्ट विभाग—भारत स्पष्ट रूप से तीन भागों में विभाजित है: (i) भारत का प्रायद्वीप जो कच्छ की पश्चिमी सीमा से लेकर दिल्ली तक और दिल्ली से लेकर कलकत्ता तक फैली हुई रेखा के नीचे के भाग को समाहित करता है; (ii) हिमालय और प्रायद्वीप के बीच सिन्ध और गंगा का मैदान जो दुनिया में समतल भूमि की कृषि का सबसे बड़ा क्षेत्र है; और (iii) गंगा के मैदान के शीष रूप में हिमालय पर्वत श्रेणी।

८. दक्षिणी प्रायद्वीप—यह एक ऊँचा पठार है जिसे सिन्धु और गंगा के मैदान से विन्ध्याचल और सतपुड़ा पर्वत-श्रेणी—नीची पहाड़ियों और खड़े ढालों की एक रेखा—अलग करती है। इसके दोनों पार्श्वों में तटीय पर्वत-श्रेणियाँ हैं जिन्हें पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट कहते हैं। इनमें से पश्चिमी घाट कहीं बड़ा है और एक अविच्छिन्न विशाल समुद्री दीवार है जिसमें दक्षिणी सिरे से दो सौ मील के अन्तराल को छोड़कर न तो किसी आकार की घाटियाँ ही हैं और न उसे चीरकर नदियाँ ही बहती हैं। पूर्वी घाट इतने कठिन नहीं हैं। उनमें चौड़ी-चौड़ी घाटियाँ हैं जो महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी आदि नदियों द्वारा प्रायद्वीप के निकास को बंगाल की खाड़ी से मिलाती हैं। बम्बई प्रान्त में समुद्र की ओर समुद्र और पश्चिमी घाट के बीच स्थल की केवल एक संकरी पट्टी है। इस कारण समुद्र की ओर से देश के अन्तर में प्रवेश कठिन हो गया है—यहाँ तक कि मानसून के बादल भी पहाड़ी अवरोध पर अपनी नमी छोड़ने के लिए विवश हो जाते हैं और इस तरह अन्तर्भाग में सूखा और अकाल की सम्भावना बढ़ जाती है। पूर्वी घाट और समुद्र तट के बीच काफी जगह है। पूर्वी घाट की निचली श्रेणियों के ऊपर से मानसून बड़ी सरलता से अन्तर्भाग में छा सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप नदियों से प्राप्त निचली उपजाऊ भूमि से प्रायद्वीप के पूर्वी भाग घनी आबादी का पोषण करते हैं और इस सम्बन्ध में उनकी तुलना उत्तर के मैदानों से की जा सकती है।

प्रायद्वीप का धरातल सामान्यतया ऊबड़-खाबड़ तथा चट्टानी है और जङ्गलों से ढकी हुई पर्वत-शिखर और पर्वत-श्रेणियों से युक्त है। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के दृश्य और वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। पूर्व में नीची पहाड़ियों के नीचे धान का क्षेत्र फैला है; पच्छिम में ज्यों-ज्यों भूमि ऊँची होती जाती है—क्योंकि प्रायद्वीप पच्छिम से पूर्व की ओर एक मकान की छत की तरह झुका हुआ है—तथा अपेक्षाकृत कम वर्षा वाले क्षेत्र मिलते हैं, धान का स्थान ज्वार-बाजरा ले लेते हैं और वृक्षहीन पठारी भूमि पर कपास पैदा की जाती है।

९. सिन्धु-गंगा का मैदान—यह मैदान पूर्णतया नदियों और उनके द्वारा जमा की हुई मिट्टी से बना है। दो दिशाओं में बहते हुए नदियों के दो क्रम इसके आर-पार फैले हुए हैं। पच्छिम की पाँच नदियाँ जिनसे पंजाब नाम बना, पाकिस्तान में सिन्धु नदी के

निचले भाग में मिलकर अरब सागर में गिरती हैं। पूर्व की ओर सात अन्य बड़ी-बड़ी नदियाँ, जिनमें गंगा और जमुना भी सम्मिलित हैं, गंगा में मिलकर बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। समुद्र के निकट इनमें ब्रह्मपुत्र भी मिल जाती है जो पूर्व से आसाम की घाटी से बहती हुई आती है। इन नदियों द्वारा जमा की हुई मिट्टी बंगाल की खाड़ी के ऊपर मुहाने का धीरे-धीरे विस्तार कर रही है जिस पर कलकत्ता शहर बसा हुआ है।

१०. हिमालय तथा प्रायद्वीप की नदियाँ—हिमालय की नदियाँ सामान्यतः बारहमासी हैं, क्योंकि उन्हें गरमियों में भी हिमालय की पिघलती हुई बर्फ से प्रचुर मात्रा में पानी मिलता है। चौड़े मैदानों से बहती हुई ये नदियाँ अपने दोनों ओर उपजाऊ भूमि वाले भूखण्ड बनाती हैं। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उपजाऊ नदीपात्र प्राचीन आर्य-सभ्यता के केन्द्र रहे हैं और आज भी देश के प्राकृतिक धान्यागार बने हुए हैं। इनमें से कुछ नदियाँ जैसे गंगा और सिन्धु नौ-चालन के योग्य हैं और उन्होंने रेलों के चलने से पहले वाणिज्य के बड़े संवाहकों का काम किया है। यही नदियाँ सिंचाई की भी पोषक हैं जिन पर पंजाब और उत्तर प्रदेश की खुशहाली निर्भर है। इसके विपरीत प्रायद्वीप की महत्त्वपूर्ण नदियाँ मानसून के समय बड़े वेग से बहती हैं परन्तु गरमियों में सूखकर पोखर-मात्र रह जाती हैं। उनमें से अनेक सँकरी घाटियों में से बहती हैं जिसके कारण उनमें नाव नहीं चलतीं।[1] इनकी घाटियों में समय-समय पर पानी के अभाव को दूर करने के लिए एक भिन्न प्रकार की और मँहगी सिंचाई की योजना बनानी पड़ी, जिसके अन्तर्गत वर्षा के पानी को एकत्रित करने के लिए बड़े-बड़े जलाशयों का निर्माण ज़रूरी हो गया।

११. हिमालय श्रेणी—सिन्धु और गंगा के मैदान पर हिमालय छाया हुआ है। इसकी कुछ चोटियाँ ३०,००० फीट तक ऊँची हैं। २००० मील लम्बी पर्वत-श्रेणियाँ भारत को एशिया से अलग करती हैं। इसमें १,२५० मील की लम्बाई में हिमालय का विस्तार है। हिमालय की बर्फ के घुलने से बड़ी-बड़ी नदियों को पानी मिलता है, जिससे उत्तरी भारत के मैदानों की सिंचाई होती है। हिमालय के दोनों सिरों पर पर्वतों के फैलाव में यकायक परिवर्तन हो जाता है; पूर्व और पच्छिम के बजाय वे उत्तर और दक्षिण में फैलने लगते हैं और हिमालय के साथ वे भारत के मैदान को तीन ओर से—अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान और बर्मा की ओर से—बन्द कर देते हैं। एक अभेद्य सीमावरोध के रूप में उसका राजनीतिक महत्त्व तो है ही; इसके अतिरिक्त वर्षा, हवाओं, गरमी, सरदी, नमी और वनस्पति पर अपने प्रभावों के द्वारा हिमालय आर्थिक दशाओं पर भी बहुत असर डालता है।

१२. भौगोलिक तथा जलवायु-सम्बन्धी विभिन्नताएँ—भारत के विभिन्न भागों में भौगोलिक और जलवायु-सम्बन्धी बड़ी असमानताएँ हैं। 'उत्तर में बरफीले क्षेत्रों से घिरे हुए ऊँचे-ऊँचे विशाल पर्वत तथा शान्त एकान्त हिमखण्ड हैं। उनके चरणों पर नदीपात्रों के विस्तृत क्षेत्र हैं जो रेतीले, सूखे और सूर्य से झुलसे हुए, या खेती किये हुए तथा भाप की तरह नम वातावरण से गीले हैं। दक्षिण की ओर बड़ा मध्यवर्ती पठार फैला हुआ है जिसके जंगलों में अब भी आदिनिवासियों की तितर-बितर हुई

जातियाँ विद्यमान हैं। इसके पश्चिमी पार्श्व में हिन्द महासागर की ओर उन्मुख विच्छिन्न पर्वतमाला तथा दुर्ग की रूपरेखा की तरह के पर्वतों का पृष्ठ भाग है। दक्षिण में ऊँचे हरे-भरे क्षेत्रों के सरल गोलाकार ढाल हैं।'[1] 'उदाहरण के लिए, यदि किसी ने भारत के सम्बन्ध में दक्षिणी बंगाल में जानकारी प्राप्त की हो तो उसके लिए भारत स्थिर नमी और गरमी का देश है जहाँ भरपूर वनस्पति, नदियाँ, तालाब, धान के खेत, नारियल, थोड़े से शहर तथा भीरु प्रकृति के व्यक्तियों की घनी आबादी है।' अगर कोई आगरा और अमृतसर को देखे 'तो पृथ्वी के अत्यधिक नम और हरे-भरे देश के बजाय गरमियों के प्रारम्भ में हम उसे अत्यधिक भूरे रंग का तथा सूखा पाएँगे; वह एक ऐसा देश लगेगा जो गरमी में भट्टी से निकलते हुए गरम झोकों की तरह की हवाओं से झुलसा हुआ तथा जाड़ों में शीत और स्फूर्तिदायक जलवायु से युक्त है। बंगाल की उष्ण प्रदेशीय वनस्पति के स्थान पर हमें हजारों वर्गमील भूमि शीतोष्ण प्रदेशों की पैदावार—गेहूँ और जौ—से ढकी मिलती है।'[2] वह प्रसिद्ध शहरों, शानदार स्मारकों तथा हृष्ट-पुष्ट और बलवान लोगों का देश लगता है।

मौसम-शास्त्र की दृष्टि से दुनिया के किसी भी भाग की तुलना में भारत में अधिक विभिन्नताएँ हैं। इस देश में उष्ण तथा शीतोष्ण प्रदेशों का मौसम बड़ी विलक्षण रीति से एक साथ मिलता है। 'बाहर के दो समीपवर्ती भागों से भारत प्रभावित है। उत्तर में हिमालय पर्वत-श्रेणी और अफगानिस्तान का पठार मध्य एशिया की जलवायु को दूर रखकर उसे महाद्वीपी जलवायु प्रदान करते हैं, जिसकी विशेषताएँ भूमि से चलने वाली हवाएँ, वायु की अत्यधिक शुष्कता, दैनिक तापक्रम की बड़ी सीमा और वर्षा का न होना है। दक्षिण में समुद्र उसे समुद्री जलवायु प्रदान करता है जिसकी विशेषताएँ तापक्रम की समानता, दैनिक तापक्रम की छोटी सीमा, वायु की अत्यधिक नमी और बहुधा वर्षा होना हैं।....जाड़े की ऋतु में दक्षिणी भारत की तुलना में पंजाब का औसत तापक्रम ३० डिग्री कम रहता है। पंजाब, उत्तर प्रदेश और उत्तर भारत की जलवायु रिवीयरा[3] की ठण्डी और सूखी जलवायु से मिलती-जुलती है।........दक्षिणी भारत में पूर्वी किनारे की अपेक्षा पच्छिमी किनारे की जलवायु अधिक गरम है। सबसे अधिक तापमान कृष्णा नदी के उद्गम के समीप पाया जाता है। समुद्र की निकटता के कारण कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में एक-सी जलवायु है। कलकत्ता में शीत ऋतु भी होती है जो दूसरे प्रेसीडेन्सी शहरों में नहीं है, परन्तु साथ ही वहाँ की ग्रीष्म ऋतु अपेक्षाकृत अधिक असह्य होती है।'[4]

१३. भारत में ऋतुएँ—सरकारी तौर पर पंजाब में ग्रीष्म ऋतु १५ मार्च से प्रारम्भ होती है और उसके बाद जून में वर्षा प्रारम्भ होने तक तपती हुई पृथ्वी पर सूर्य की अग्निमय किरणों के कारण तापमान बढ़ता जाता है। इस मौसम में प्रायद्वीप के भीतरी

१. इम्पीरियल गजेटियर, वाल्यूम १, पृ० १।

२. सर जे० स्ट्राची, 'इण्डिया, इट्स एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोग्रेस', चौथा संस्करण, पृ० ३-४।

३. Riviera

४. इम्पीरियल गजेटियर, वाल्यूम १, पृ० २।

भाग और उत्तरी भारत बहुत गरम हो जाते हैं और तापमान की विपरीतता
दक्षिणी भारत के बीच न होकर भारत के भीतरी भाग और समुद्री किना
समीपवर्ती क्षेत्रों के मध्य होती है। दक्षिण और मध्य प्रदेश का अधिकांश
धिक गरम क्षेत्रों में सम्मिलित किया जाता है, यद्यपि मई में अधिकतम तापम
पश्चिमी राजपूताना तथा दक्षिण-पश्चिमी पंजाब में पाया जाता है। भा
स्थानों में जहाँ ऋतुओं की स्पष्ट परिभाषा दी जा सकती है, तीन ऋतुएँ होत
सूखा और सरद मौसम (शीत ऋतु), जब उत्तरी व्यापारी हवाएँ चल
उत्तर के प्रान्तों को छोड़कर जहाँ कभी-कभी मामूली चक्रवात आते हैं, वर्षा
या बिलकुल नहीं होती; (ii) वर्षा ऋतु, जो दक्षिण-पश्चिमी मानसून के प्र
अति उष्ण और कष्टकारक है; (iii) ग्रीष्म ऋतु जो वर्षा के पूर्व होती
बहुधा अचानक तूफान के साथ आती है।

१४. वर्षा—सालाना औसत वर्षा चेरापूंजी के ४६० इंच की वर्षा से लेकर
के कुछ भागों की ३ इंच की वर्षा तक होती है। जलवायु के दृष्टिकोण
प्रायद्वीप एशिया के बृहत् मानसून क्षेत्र का एक भाग है तथा इस क्षेत्र के
की तुलना में यहाँ मानसून का नियन्त्रण अधिक पूर्णता से प्रकट है। पारिभ
में मानसून शब्द का प्रयोग हवाओं के परिवर्तन या उलटाव के लिए किया ज
सम्पूर्ण मानसून क्षेत्र में होता रहता है तथा वर्ग को दक्षिण-पश्चिमी मा
उत्तर-पूर्वी मानसून दो स्पष्ट भागों में विभाजित करता है। वास्तव में दक्षिण
मानसून दक्षिण-पूर्वी व्यापारिक हवाओं का विस्तार मात्र है जो भूमध्य रेख
कर दाहिनी ओर मुड़कर दक्षिण-पश्चिमी हवाएँ बन जाती हैं। जुलाई तक
भारत में पूरी तरह स्थापित हो जाता है। ये हवाएँ दक्षिणी भारत, गंगा
और गंगा की घाटी में क्रमशः दक्षिण-पश्चिम, दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व से
सिन्धु नदी का भाग इन हवाओं की पहुँच का अन्तिम तथा हटने का प्रथम
इससे वहाँ पर वार्षिक वर्षा बहुत कम है। पश्चिमी घाट तथा हिमालय पर
होती है, यहाँ तक कि भूमि को बचाने के प्रयत्न करने पड़ते हैं। सितम्बर
का वेग तेज़ी से कम होने लगता है और लगभग १५ सितम्बर के बा
पश्चिमी भारत के अधिकांश भागों में वर्षा नहीं होती। उसके पी
उत्तर-पूर्वी हवा चलने लगती है जो उत्तर-पूर्वी मानसून कहलाती है तथा
विस्तार बंगाल की खाड़ी तक है। मानसून के नियन्त्रण के कारण भार
नियतकालिक हो गई है और इस कारण जलवायु-वर्ष को हम इस प्रकार
कर सकते हैं : (अ) दक्षिण-पश्चिमी मानसून की ऋतु—(i) आधे जून से अ
म्बर तक—सामान्य वर्षा का मौसम, (ii) आधे सितम्बर से आधे दिसम्बर
मानसून के पीछे हटने का मौसम; (ब) उत्तर-पूर्वी मानसून की ऋतु (i) जन
फरवरी—सर्द मौसम, (ii) मार्च से आधा जून—गरम मौसम। एक वर्ग की फ
कपास, बाजरा आदि जून में बोये जाते हैं तथा सरद ऋतु में काटे जाते
खरीफ की फसल कहते हैं। दूसरे वर्ग की फसलें गेहूँ, जौ, तिलहन आदि म

समाप्ति पर आधे सितम्बर में बोये जाते हैं तथा जनवरी और मार्च में काटे जाते हैं। इसे रबी की फसल कहते हैं।

१५. वर्षा का महत्त्व—यह सम्पूर्ण भारत की जलवायु और कृषि का सामान्य वर्णन है। यद्यपि देश के किसी विशेष स्थान के सम्बन्ध में इसमें हेर-फेर करना होगा, परन्तु सामान्य रूप से देश के मौसम में वर्षा का महत्त्व इससे स्पष्ट हो जाता है, जिसके परिमाण, वितरण तथा समय के परिवर्तन लाखों मनुष्यों की विपन्नता या सम्पन्नता का कारण होते हैं।[1] कदाचित् दुनिया के अन्य किसी भाग में वर्षा का जीवन के प्रत्येक पहलू पर इतना प्रभाव न होगा जितना कि भारत में। यहाँ के जीवन का आधार कृषि है जिसका अस्तित्व वर्षा पर निर्भर है और वर्षा पूर्णतया दक्षिण-पश्चिमी मानसून पर निर्भर है, जो देश की कुल वर्षा के ९० प्रतिशत का कारण है। इस दृष्टिकोण से उत्तर-पूर्वी मानसून की अपेक्षा दक्षिण-पश्चिमी मानसून कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और वह एक धुरी की तरह है जिस पर समूचा भारतीय जीवन आधारित है।

भारत में वर्षा की विशेषता यह है कि वह निरन्तर और निश्चित रूप से नहीं होती। उदाहरण के लिए इंगलण्ड में वर्ष के किसी भी समय वर्षा की आशा की जा सकती है, परन्तु भारत में वर्षा कुछ निश्चित ऋतुओं तक ही सीमित है। अधिकांश में भारी वर्षा होती है और पानी ज़मीन के बिना सोखे हुए ही बह जाता है जिससे ज़मीन में नमी की कमी, भूमि का कटाव आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

निम्न विभाजन विभिन्न स्थानों की वार्षिक वर्षा की असमानता के आधार पर किया गया है: (i) वे क्षेत्र जिनमें सदैव निश्चित रूप से वर्षा होती है। इनमें आसाम, पूर्वी तथा दक्षिणी बंगाल, अरब सागर और पश्चिमी घाट के नीचे की तटीय पट्टी तथा प्रायद्वीप के धुर दक्षिण से सूरत जिले की दक्षिणी सीमा तक के भाग सम्मिलित हैं; (ii) कम वर्षा वाले क्षेत्र जहाँ १० इंच से ३० इंच तक वर्षा होती है जैसे उदयपुर, अजमेर तथा पश्चिमी घाट को छोड़कर बम्बई का दक्षिणी भाग; (iii) सूखे वर्षा वाले क्षेत्र जिनमें बिना सिंचाई के कृषि सन्दिग्ध और कहीं-कहीं असम्भव है, जैसे पश्चिमी राजपूताना, आदि।

१६. जलवायु—भारत की जलवायु के सम्बन्ध में सामान्य कथन असम्भव है, क्योंकि जैसा हम देख चुके हैं, उसकी सीमाओं के अन्दर उष्ण या शीतोष्ण प्रदेशों में पाई जाने वाली जलवायु का कोई भी रूप पाया जाता है। फिर भी मुख्यतया भारतीय जलवायु अर्द्ध-उष्ण या अर्द्ध-अयनवृत्तीय कही जा सकती है, क्योंकि शीतोष्ण प्रदेशों की जलवायु के शक्तिवर्धक प्रभावों के विपरीत यह जलवायु मनुष्य को उत्साहहीन करती है तथा अपेक्षाकृत उनके स्वास्थ्य और शरीर को हीन बनाती है। भारतीय श्रमिकों की तुलना में यूरोप के श्रमिकों की श्रेष्ठ कार्यक्षमता का कम-से-कम एक कारण अधिक अनुकूल जलवायु है। इस सम्बन्ध में यद्यपि हमें जलवायु के प्रभाव की अति-

---

१. वर्ष में कई महीने भारत की जीवन-परीक्षा होती है और कभी-कभी ही वह दंडमुक्त होता है। —एल० सी० ए० नोल्स द्वारा उद्धृत, 'दी इकनॉमिक डिवेलपमेण्ट ऑफ़ द ब्रिटिश ओवरसीज़ एम्पाइर', पृ० २७८.

अयोक्ति नहीं करनी चाहिए परन्तु साथ ही उसे स्वीकार अवश्य करना चाहिए।

१७. आर्थिक उन्नति के सन्दर्भ में उष्ण जलवायु—बहुधा कहा जाता है कि अयनवृत्तीय देशों में प्रकृति मनुष्य को जीवन-यापन के साधन अपेक्षाकृत सरल प्रयत्नों से ही दे देती है (जबकि शीतोष्ण प्रदेशों की अपेक्षा उष्ण (अयनवृत्तीय) प्रदेशों के मनुष्यों की आवश्यकताएँ भी कम होती हैं) तथा उसमें सतत प्रयत्न, विचार और शक्तियों के भरसक प्रयोग के प्रति अरुचि उत्पन्न कर देती है। इसके विपरीत शीतोष्ण प्रदेशों में प्रकृति कंजूस है और बिना कठोर परिश्रम के कुछ भी प्राप्त नहीं होता। काम करना सभी के लिए अनिवार्य होने के कारण श्रम को स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अच्छा पारिश्रमिक भी मिलता है। जाड़ों के सरद और तूफानी होने के कारण भोजन, वस्त्र तथा आश्रय-सम्बन्धी बातों पर उससे पहले गरमियों में ही विचार करना आवश्यक होता है। इन क्षेत्रों में रहने का मूल्य सावधानी से नियोजित अनवरत कठोर परिश्रम है और यह एक उच्च कोटि की सभ्यता की उन्नति में सहायक है।

प्रो० कार-सॉण्डर्स ने इस मत का विरोध किया है कि जब प्रकृति के उपहार सरलता से प्राप्य होते हैं तो आर्थिक प्रगति और सभ्यता पिछड़ जाती है। इसके विपरीत उनका विचार है कि 'जिन प्रदेशों में उपयोगी पदार्थ गुण एवम् मात्रा में बहुतायत से मिलते हैं वहाँ उनके उपयोग देखने की अधिकतम सम्भावना होती है तथा वहाँ कुशलता में वृद्धि होने पर प्रति व्यक्ति उपलब्धि अधिकतम होगी। इसलिए जितनी अधिक उर्वरता होगी उतनी ही कुशलता प्राप्त करने के लिए प्रेरणा मिलती है।'[1] कुछ भी हो, भारत की उष्ण जलवायु और उर्वरता ने ही गत युगों में विशाल सभ्यता के विकास में कोई रुकावट नहीं डाली। अतः आज भारतीयों के पिछड़े तथा उदासीन होने का कारण, जो उनके स्वभाव की विशेषताएँ हो गई हैं, जलवायु या प्रकृति की प्रचुरता न होकर कुछ और ही है।

१८. वन—भारत के अत्यन्त बहुमूल्य प्राकृतिक साधनों में उसके विशाल वनों की भी गिनती है। देश के वनों की प्रकृति ऊँचाई और वर्षा पर निर्भर है। जहाँ वर्षा अधिक होती है वहाँ सदा हरे रहने वाले ताड़, महीन पत्तियों वाले पेड़, बाँस और रबड़ के वृक्ष आदि हैं। इससे कम वर्षा वाले क्षेत्रों में चौड़ी पत्तियों वाले वन दिखाई देते हैं जिनमें सागौन, साल तथा अन्य प्रकार के कीमती पेड़ होते हैं। इससे भी कम वर्षा होने पर वनस्पति छिबरी होती जाती है तथा बबूल, इमली आदि के वृक्ष पाये जाते हैं। हिमालय में अर्द्ध उष्ण से लेकर आर्कटिक तक की दशाएँ पाई जाती हैं तथा ऊँचाई के अनुसार वहाँ अनन्नास, देवदार, अखरोट तथा बाँस आदि पाये जाते हैं। यह प्रत्येक देश का अनुभव है कि वनों की उत्पत्ति और पुनरुत्पत्ति की प्रक्रिया जिससे कि जंगल बने रहते हैं मनुष्य की नष्ट करने की शक्ति की तुलना में वनों को जीवित रखने में असमर्थ है; अतः देश के हित में जंगलों को बुरी तरह से नष्ट होने से बचाने के लिए सरकार को विशेष उपाय करना आवश्यक हो जाता है। किसी देश में वनों को किस सीमा तक सुरक्षित रखा जाय, यह प्रश्न कुछ विशेष परिस्थितियों पर निर्भर है, जैसे

१. ए० एम० कार-सॉण्डर्स, द पापुलेशन प्रॉब्लम, पृ० ४२२।

देश की संस्थिति, उसकी संचार-व्यवस्था, वनों के अतिरिक्त भूमि को अन्य प्रकार से प्रयोग में लाने की सम्भावनाएँ, आबादी की सघनता, विनियोग के लिए प्राप्त पूँजी आदि; परन्तु फिर भी सर्वमान्य धारणा यही है कि भारत के वन बहुमूल्य राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं और उनका उचित संरक्षण भारत सरकार का एक प्रमुख आर्थिक कार्य है।

१६. वनों की उपादेयता—मनुष्य और प्रकृति की अर्थ-व्यवस्था में वनों की प्रत्यक्ष और परोक्ष उपयोगिता है। वनों के परोक्ष प्रयोगों मे से ये है : (i) वन जलवायु को अधिक समान बना देते है, वायु की नमी में सापेक्षिक वृद्धि करते हैं तथा वर्षा होने में सहायता करते है; (ii) वे जल की पूर्ति को नियमित रखने मे सहायता करते है, सोतों को अधिक स्थायी रूप से पानी देते हैं, प्रबल बाढ़ों को रोकते है तथा नदियों में पानी के बहाव को निरन्तर बनाये रखते हैं; (iii) वे भूमि के कटाव को रोकते हैं और उसके उपजाऊपन में वृद्धि करते है, क्योंकि वे खनिज-भूमि से भी वनस्पति की खाद बनने में सहायता करते है; (iv) वे हवा के वेग को कम करते है, निकटवर्ती क्षेत्रों की सरद और गरम हवाओं से रक्षा करते है और पशु, पक्षियों तथा शिकार के जानवरों को आश्रय देते हैं; (v) कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में वे देश के स्वास्थ्य को बढ़ाते है और उसकी रक्षा में भी मदद करते हैं; (vi) वे देश के सौन्दर्य मे वृद्धि करते हैं तथा जन-साधारण पर स्वस्थ कलात्मक प्रभाव डालते हैं।

वनों की प्रत्यक्ष उपयोगिता मुख्यतया उनकी उत्पादन वस्तुओं के कारण है, जैसे लकड़ी, ईधन तथा विभिन्न उद्योगों के लिए कच्चा माल। विशेषकर भारत में उनका दूसरा मुख्य उपयोग जानवरों के लिए चरागाहों की सुविधा है, परन्तु यह वन-संरक्षण में बहुत बाधक हो सकता है। इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत में यह तरीका अपनाया गया है कि जंगलों का कुछ भाग चरने के लिए एकदम बन्द कर दिया जाता है, कुछ भाग कुछ जानवरों—जिनमें भेड़, बकरी, ऊँट शामिल हैं—के चरने के लिए बन्द कर दिया जाता है और बहुत बड़ा भाग हर तरह के जानवरों के चरने के लिए खोल दिया जाता है।

साधारण वर्षो में बन्द रहने वाले क्षेत्र कमी और अकाल वाले वर्षों में चारे का सुरक्षित भण्डार हो जाते है। उस समय उन्हें पशुओं के चराने के लिए खोल दिया जाता है या घास काटकर उन जिलों को भेजी जाती है जहाँ उसकी अत्यधिक आवश्यकता होती है। प्रायः यह शिकायत सुनने में आती है कि भारतीय वन-प्रशासन वनों के संरक्षण और विकास के प्रति उचित कर्तव्यों का पालन करते हुए ग्रामीण जनता की जरूरतों को जितनी सहानुभूति दे सकता है उतनी नही देता। वन-विभाग और प्रत्यक्ष रूप से किसानों की उन्नति से सम्बद्ध कृषि तथा सहकारिता जैसे विभागों के बीच विरोधी दृष्टिकोणों को मिटाने के लिए अधिक निकट सामंजस्य वाञ्छनीय है। यद्यपि वन-विभाग का मुख्य कार्य वन-संरक्षण और विकास-कार्य ही है, परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि कृषि के सहायक रूप में भी इसका महत्त्व है। इसका कारण यह है कि वन किसानों की तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है जैसे ईंधन देकर, जिससे कि गोबर की खाद को जलाया न जाय। घर बनाने के लिए तथा

अन्य आवश्यकताओं के लिए लकड़ियाँ, पशुओं के लिए चारा और चरागाह आदि ऐसी सुविधाएँ हैं जिनके भारतीय किसान शताब्दियों से आदी हो चुके हैं। और इन पर एकाएक रोक लगाने से वे बुरा मानते हैं, क्योंकि इसे वे स्वेच्छाचार और अनावश्यक रूप से कठोर मानते हैं।

वनों के प्रशासन में किसानों के सजग दृष्टिकोण और वनों की उपयोगिता बढ़ाने के लिए कृषि आयोग ने ये सिफारिशें की थी : (१) प्रत्येक प्रान्त में वन आयोग अधिकारी की नियुक्ति की जाय जिसका प्रमुख कार्य वनों से सम्बन्धित उद्योगों को विकसित करना हो। इसका किसानों, विशेषकर वनों के पास रहने वालों के लिए बड़ा महत्त्व है। (२) वनों का पुनर्वर्गीकरण; बड़ा प्रदेश या इलाका जिसके अन्तर्गत व्यावसायिक तथा जलवायु और भौगोलिक कारणों से आवश्यक वन हों; छोटा प्रदेश या इलाका जिसके अन्तर्गत छोटे-मोटे वन, ईंधन वाले वन, गाँव की बेकार जमीन तथा वन हों। वन-विभाग के अधीन वन-क्षेत्रो को, मद्रास सरकार की तरह समुचित रूप से किन्ही चुनी हुई ग्रामीण समितियों अथवा पंचायतों के अधीन कर दिया जाय। (३) वन और कृषि-विभाग के सम्बन्ध को और घनिष्ठ करने के लिए वनाधिकारियों को कृषि-विद्यालयों में अल्पकालीन शिक्षा दी जाय।[1]

२०. वन संरक्षण—भारत में अंग्रेज़ी राज्य से पूर्व शताब्दियों तक वनों को असावधानी से नष्ट करने का क्रम चलता रहा। विदेशी शासन के आरम्भिक वर्षो में अनेक कारणों से वनों को अत्यधिक नष्ट किया जाने लगा। इसके विभिन्न कारण जनसंख्या की वृद्धि, पशुसंख्या की वृद्धि, कृषि का विस्तार, और रेलों के लिए ईंधन और लकड़ी की माँग आदि है। आखिरकार, सरकार इस असावधानी के साथ किये जाने वाली क्षति को रोकने के प्रति सजग हुई और १८५५ में लगभग लार्ड डलहौज़ी के शासन-काल में वनों की सुरक्षा के लिए पहले संगठित प्रयत्न किये गए। उस समय बम्बई, मद्रास और बर्मा में वन-संरक्षक होते थे। इसके बाद शीघ्र ही अन्य नियुक्तियाँ भी की गईं और १८६४ में वनों के इन्सपेक्टर जनरल के अधीन एक संगठित राजकीय विभाग की स्थापना की गई। तब से भारतीय वन-विभाग विकसित होता रहा और अब वह भारतीय संघ के लगभग १५ प्रतिशत भाग का नियन्त्रण करता है। १८९४ में भारत की सरकार ने एक महत्त्वपूर्ण परिपत्र जारी किया, जो सरकार की वन-नीति का आधार है। इसके अनुसार वन चार विभागों में विभाजित किये गए। (१) वे वन जिनकी सुरक्षा जलवायु और भौगोलिक कारणों से आवश्यक है; (२) वे वन जिनसे व्यापारिक उद्देश्यों के लिए मूल्यवान लकड़ियाँ प्राप्त होती हैं; (३) छोटे-छोटे वन जो सच्चे अर्थों में वन हैं, परन्तु जिनमें निम्न कोटि की लकड़ियाँ अथवा अच्छी किस्म की कम लकड़ियाँ होती हैं, और (४) घास के मैदान और चरागाह जो नाम-मात्र के लिए ही वन हैं।[2]

२१. भारत में वनों के क्षेत्र—सन् १९४९-५० में समस्त भारत के १२,६६,६४०

---

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, १९२८, पैरा २२९-३३।

२. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २१५।

वर्गमील क्षेत्रफल में से १,९४,८३५ वर्गमील या लगभग १५ प्रतिशत वन-क्षेत्र था।[1] इस वन-प्रदेश में १३०,५४१ वर्गमील आरक्षित वन, २४,०८७ वर्गमील में सुरक्षित वन और २७,३९९ वर्गमील में अवर्गीकृत राजकीय वन थे।[2] प्रयोक्ताओं के अधिकार पर सरकार के घटते हुए नियन्त्रण के अनुसार वन क्रमशः आरक्षित, सुरक्षित और अवर्गीकृत सरकारी वनों में विभाजित हैं। सन् १९४९-५० में विभिन्न राज्यों में वनों की सापेक्षिक महत्ता निम्नलिखित तालिका से देखी जा सकती है। तालिका से यह स्पष्ट है कि मध्यप्रदेश इस सम्बन्ध में नेतृत्व कर रहा है। दूसरा स्थान मध्य भारत और आसाम का है। बम्बई, मद्रास और बंगाल उनसे बहुत पीछे हैं।

राज्य	वन क्षेत्र का राज्य के क्षेत्रफल से अनुपात	राज्य	वन क्षेत्र का राज्य के क्षेत्रफल से अनुपात
मद्रास	१३.९	आसाम	२३.४
बम्बई	१४.६	हैदराबाद	११.९
पश्चिमी बंगाल	८.७	जम्मू और काश्मीर	११.९
उत्तर प्रदेश	८.१	मध्य भारत	२३.९
पंजाब	१२.३	मैसूर	१५.९
विहार	३ ५	अजमेर	३.०
उड़ीसा	१७.१	कुर्ग	५२.३
मध्य प्रदेश	२७.९	अण्डमन और निकोबार	९८.१

भारत में बड़े-बड़े वन-क्षेत्र पहाड़ियों में स्थित हैं, परन्तु मैदानों में भी कृषि-क्षेत्रों के बीच-बीच में वन फैले हुए हैं। ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट है कि वनों का अन्तर्राज्यीय वितरण असामान्य है। साथ ही बहुत सा क्षेत्र तो बेकार जमीन का है, जिसमें पेड़ लगभग हैं ही नहीं। वनों की इन विशेषताओं के कारण सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति कठिन हो जाती है।

२२. वन-प्रशासन का उद्देश्य—वन-प्रशासन का उद्देश्य यह है कि वनों को अति उपयोग के खतरों से बचाया जाय और साथ-ही-साथ उनकी उत्पत्ति-क्षमता बढ़ाई जाय। सरकार इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में बहुत सफल हुई है। वन-विभाग के प्रथम पचास वर्षों में वन-अर्थशास्त्र के अनुसंधान के महत्त्व को मान्यता नहीं दी गई, और अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने भी कोई खास कदम नहीं उठाया। सन १९०६ में देहरादून में वन-अनुसंधान संस्थान (फारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट) की स्थापना हुई। सन् १९१८ के भारतीय औद्योगिक आयोग की सिफ़ारिशों के अनुसार उसका समुचित विस्तार किया गया और अब यह वन-अनुसंधान के प्रत्येक पहलू पर खोज करने में समर्थ है। इसके परिणामस्वरूप बहुत से महत्त्वपूर्ण खोज-कार्य

१. स्टैटिस्टिकल ऐब्स्ट्रैक्ट १९५१-५२, पृ० ५४९ के आधार पर।

२. अवर्गीकृत राजकीय वनों के अन्तर्गत अनधिकृत एवम् बेकार भूमि, जो बहुधा वृक्षविहीन होती है, भी सम्मिलित की जाती है। अतएव उपर्युक्त आंकड़े पूर्णतया जंगली क्षेत्र का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

किये गए तथा वैज्ञानिक और व्यावहारिक ज्ञान में लगातार उन्नति हुई जिससे बहुत हद तक वनों की उत्पत्ति का पूरा और पहले से अच्छा उपयोग हो सका।

२३. भारतीय वनों से कच्चे माल की प्राप्ति—विभिन्न उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति और बहुत से लोगों को जीविका प्रदान करने में भारतीय जंगलों और वनों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हाथ है। उदाहरण के लिए हम वनों में रहने वाली अधिकांश जनसंख्या को ले सकते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से वनों की पैदावार से अपनी जीविका चलाती है। वनों के समीप रहने वाले अनेक लकड़ी काटने वाले, आरा चलाने वाले, बोझा ढोने वाले, कारीगर आदि व्यक्ति बहुत बड़ी संख्या में वनों में या उनके आस-पास काम करते हैं। अन्त में वनों के कच्चे माल से वस्तुएँ बनाने वाले जैसे बढ़ई, पहिया बनाने वाले, नाव बनाने वाले, रस्सी बुनने वाले, चमड़ा कमाने वाले, तथा लाख बनाने वाले आदि भी हैं।

२४. वनों के प्रमुख और गौण उत्पादन—जंगलों की उत्पत्ति दो मुख्य भागों में विभाजित है—(१) प्रधान उत्पत्ति जैसे इमारती लकड़ी तथा ईंधन; (२) गौण उत्पत्ति जिसमें लाख, चमड़ा कमाने की वस्तुएँ, तेल, तारपीन और गोंद आदि हैं। भारतीय जंगलों की गौण उत्पत्ति का महत्त्व बढ़ता जा रहा है और उनमें से कई ने तो विश्व के बाज़ारों में अपना स्थान बना लिया है। अनुसंधान कार्य का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह सिद्ध कर देने में है कि सवाई और भावर घास, जो पहले कलकत्ता के अंग्रेज़ों की मिलों में काम में लाई जाती थी, के अतिरिक्त बाँस से भी काग़ज़ की लुगदी बनाई जा सकती है। और बाँस के विस्तृत क्षेत्रों के कारण आवश्यक कागज़ को यहीं बनाने का काम आरम्भ किया जा सकता है। इन सम्भावनाओं को विचार में लाकर ही टैरिफ़ बोर्ड की सिफ़ारिशों के अनुसार भारतीय कागज़ की बाँस की लुगदी के व्यवसाय को संरक्षण प्रदान किया गया था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कृषि आयोग ने प्रत्येक राज्य में वन उपयोग अधिकारी की नियुक्ति की सिफ़ारिश की थी ताकि वन-उद्योगों का विकास उसकी खास ज़िम्मेदारी बना दी जाय।[1]

२५. भारतीय वनों की क्षमता—सन् १९१४-१८ के विश्वयुद्ध में मेसोपटामिया में तैनात अंग्रेज़ी फ़ौजों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत को अपने साधनों पर निर्भर रहना पड़ा। इस विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए समुचित पैमाने पर किये गए विशेष प्रयत्नों ने भारतीय जंगलों की अप्रत्यक्ष सम्भावनाओं को स्पष्ट रूप से सबके सामने ला दिया और वन-उपयोग ने एक नये युग का आरम्भ किया। द्वितीय युद्ध में इनके उपयोग के लिए और भी प्रोत्साहन मिला।

२६. भूगर्भ-रचना—किसी भी देश के भूगर्भीय सर्वेक्षण में सतही और निचले परतों की मिट्टी पर विचार किया जाता है। अब हम पहले भारत की सतह वाली मिट्टी पर विचार करेंगे और उसका अन्तर मुख्य प्रकार की मिट्टियों से बताएँगे जो तीन प्रकार की भूगर्भीय रचना के कारण होता है।

(१) नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी के भूखंड बहुत विस्तृत और कृषि-कार्य के

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २२४।

लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यह भूखंड गुजरात, राजपूताना, पंजाब, उत्तर प्रदेश और बंगाल के अधिकांश भाग तथा मद्रास राज्य के गोदावरी, कृष्णा और तंजौर ज़िलों में फैले हुए हैं। नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी की विभिन्न चौड़ाई की एक पट्टी प्रायद्वीप के पूर्वी और पश्चिमी किनारों पर फैली हुई है जो नदियों के डेल्टों पर चौड़ी होती गई है। नदियों वाली मिट्टी के प्रदेश जहाँ पर वर्षा मध्यम परिमाणों में हर जगह होती है, विशेषकर सिन्धु और गंगा के मैदान, जिनकी मिट्टी अधिक मात्रा में भुरभुरी, पर्याप्त रासायनिक तत्त्वों से युक्त और सरलता से जोती जा सकती है, रबी और खरीफ़ की अधिकांश फसल उगाने में समर्थ हैं।

(२) दक्षिणी भाग बम्बई और मद्रास के अधिकांश भाग, (पहले के) सम्पूर्ण बरार प्रान्त, मध्य प्रदेश के पश्चिम की ओर के तिहाई भाग और हैदराबाद के पश्चिमी भाग से मिलकर बना है। इस क्षेत्र की मिट्टी कई प्रकार की है और उसकी उर्वरा शक्ति भी असमान है। रुई पैदा करने वाली असली काली मिट्टी, दक्षिणी भाग में पहाड़ियों के नीचे ढालू जगहों में फैली हुई है। स्थिति के अनुसार उसकी गहराई में अन्तर पड़ता जाता है और जहाँ वह बहुत गहरी है वहाँ नदियों द्वारा लाकर जमा की गई है। नर्मदा और ताप्ती की घाटियों में मिट्टी अधिक गहरी होने के कारण भारी वर्षा होने पर ज़मीन काम करने योग्य नहीं रह जाती और तब यह रबी की गेहूँ, चना और तीसी तिलहन फ़सलों के लिए प्रयोग की जाती है। दक्षिण प्रदेश की काली मिट्टी जो ख़रीफ़ में मुख्य फसलों के तौर पर रुई और ज्वार पैदा करती है, ३ या ४ फुट गहरी है और उसमें चूना मिला हुआ है। नीचे की मिट्टी में काफ़ी चूना मिला होने और पथरीली कंकरीली होने के कारण नीचे की चट्टानों के लिए पर्याप्त बहाव सम्भव हो जाता है।

(३) शेष मिट्टी लाल मिट्टी कहलाती है, जो पूरे मद्रास, मैसूर, दक्षिणी-पूर्वी, बम्बई और आधे पूर्वी हैदराबाद और मध्यप्रदेश के दो तिहाई भाग को घेरे हुए है। यद्यपि प्रायः इसमें रासायनिक तत्त्वों का अभाव है और कमज़ोर फ़सलें ही पैदा होती हैं, फिर भी इसके कुछ प्रकार जैसे मद्रास और मैसूर की लाल मिट्टी तथा लाल और भूरी चिकनी मिट्टी बहुत उपजाऊ हैं। बीच के दर्जे की उपजाऊ मिट्टी भी कई प्रकार की पाई जाती है। काफी गहराई वाली मिट्टी में सिंचाई से लाभ हो सकता है। जहाँ नहर की सिंचाई सम्भव है वहाँ चावल को मुख्य फ़सल की तरह पैदा किया जा सकता है। तालाबों और कुओं की सिंचाई से अन्य किस्म की मूल्यवान फ़सलें भी पैदा की जा सकती हैं। इस तरह की भूरी और पीली लाल मिट्टी, जो बेलगाँव, धार-वार आदि में पाई जाती है, फल वाले वृक्षों, विशेषकर आम, के लिए अनुकूल है।

२७. खनिज उत्पादन—सन् १९१८ के औद्योगिक आयोग की राय में उन उद्योगों को छोड़कर जिनमें रोचातु (वैनेडियम), गिलट (निकल) और सम्भवतः संवर्णातु (मोल-डिनम) की आवश्यकता होती है, शेष सभी मूल उद्योगों के लिए भारत के खनिज पर्याप्त हैं। बहुत दिनों तक लोगों में यह विश्वास था कि देश के खनिज-पदार्थ आधुनिक स्तर पर लाभ-सहित खोदने के लिए बहुत कम हैं। सन् १८८० दशक के आरम्भिक वर्षों

तक भारतीय खनिजों के प्रयोगात्मक विकास के लिए कुछ भी नहीं किया गया। इसलिए भारतीय खनिज पदार्थों की सम्भावनाओं के बारे में कोई विश्वसनीय निर्णय सम्भव नही था। बाद की खोजों ने उत्खनन के लिए अनेकों प्रकार के खनिज पदार्थ ढूँढ निकाले। अब हम कुछ निश्चय के साथ कह सकते है कि भारतीय खनिज पदार्थ, भले ही वह असीमित या अद्वितीय न हों, किसी भी प्रकार नगण्य नही है और वे देश के धातु वाले उद्योगों के विकास का आधार बन सकते हैं। आधुनिक यातायात के विस्तार, बैंक-व्यवहार के विकास, तथा वर्तमान औद्योगीकरण के साथ खनिज पदार्थों का और भी अच्छी प्रकार से विकास हो रहा है। भारत की खनिज सम्पत्ति के उपयोग को सन् १९१४-१८ और सन् १९३९-४५ के युद्ध ने बहुत प्रोत्साहन दिया।[1]

खनिज पदार्थ	१९४६		१९५१	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
कोयला (टनों में)	२९,३६०,६८५	३५,०३,३९,९४२	३४,४३२,३६६	५०,४८,११,३५४
सोना (औंस में)	१३१,७५५·५	३,४८,९०,२५१	२२६,३६४	६,७५,३०,७०६
वर्णिज (क्रोमाइट) (टनों में)	२४,२०१	६,९१,८५०	१६,७०२	९,१३,०८७
कच्चा तांबा (टनों में)	३५२,७१८	७१,७१,२९६	३९९,०५७	१,९४,००,५५०
हीरा (कैरट में)	१,१०७·२	१,७७,४७२	१,६७४	५,३४,३६१
अपोरंजजारिज (इल्मेनाइट) (टनों में)	१८५,०३२	१७,४२,८६९	२१९,५६८	४०,२४,७००
लिखिज (ग्रेफाइट) ,,	१,६२७	१,६०,१७८	१,७३५	२,३१,६५७
कच्चा लोहा ,,	२,४०७,६८२	६५,०७,८५५	३,६५७,१०५	२,०९,५२,९१६
अभ्रक (हंडरवेट में) (क)	२०९,८८१	३,०९,०६,९३२	४९०,४८८	१३,७९,४१.२३०
शोरा (साल्ट पीटर) (हंडरवेट में)[1]	(क) २२,७०३	(क) ६,३५,८०७	५,२१२	(ख) ३५,८४,०८४
चाँदी (औंस में)	११,२७५	५२,७१८	१४,६१२	७०,३१०
कच्चा मैंगनीज़ (टनों में)	२५२,९१६	९८.६३,७२४	१,२९२.३७५	१७,८३,४७,७५०

ऊपर दी हुई तालिका में सन् १९४६ और सन् १९५१ में भारतीय संघ के खनिज पदार्थों के उत्पादन और मूल्य के आंकड़े दिये गए है।[2]

१. (क) निर्यात आंकडे हैं। (ख) इसमें मद्रास राज्य के उत्पादन का मूल्य सम्मिलित नही है। यह तालिका स्टेटिस्टिकल एब्सट्रैक्ट इण्डिया—१९५१-५२; पृ० ५८८ से ली गई है। —अनुवादक

२. खनिज पदार्थों के लिए मुख्यतः निम्नलिखित साधनों की सहायता ली गई है—सी० डब्लू० ई० कॉटन, हैण्डबुक ऑफ कमर्शियल इन्फॉर्मेशन ऑफ इण्डिया; जे० सी० ब्राउन, इन्डियाज़ मिनरल वेल्थ; रिपोर्ट ऑफ दी जियॉलॉजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया (१९३९); एनुअल रिपोर्ट ऑफ द चीफ इन्स्पेक्टर ऑफ माइन्स इन इण्डिया (१९३८); स्टेटिस्टिकल एब्सट्रैक्ट फॉर ब्रिटिश इण्डिया (१९३७-८); इण्डिया ईअर बुक (१९४१-२) पृ० ७४०-४; कैपिटल (इण्डियन इण्डस्ट्रीज ट्रेड एन्ड ट्रान्सपोर्ट सप्लीमेन्ट), दिसम्बर १९४०; और इण्डियन फाइनैन्स (ईस्टर्न ग्रुप नम्बर और ईअर बुक, १९४०) दिसम्बर १९४०।

सन् १९४६ और १९५१ में खनिज पदार्थों का कुल मूल्य क्रमशः ४४·३७५ और ९४·०२ करोड़ रुपए था।[1]

अब हम भारत में व्यावसायिक आधार पर उपयोग किये जाने वाले कुछ प्रमुख खनिज पदार्थों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

२८. कोयला—कोयला भारतवर्ष का प्रमुख खनिज पदार्थ है और हर प्रकार से देश का महत्त्वपूर्ण आधारोद्योग है। भारत में कोयले के उद्योग का प्रारम्भ देश में रेलों के निर्माण से होता है, जिसने तुरन्त ही कोयले की माँग बढ़ा दी तथा गत शताब्दी के मध्य में नई खानों के उत्खनन को जन्म दिया। आयात किये हुए ब्रिटिश कोयले से अधिक सस्ते और सुलभ कोयले की प्राप्ति के हेतु ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी के अनुसन्धानों से इस उद्योग का खूब विकास हुआ। यह कार्य विशेषतया यूरोपीय सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियाँ (जॉयण्ट स्टॉक कम्पनियों) ने किया जो इसी उद्देश्य के लिए निर्मित थीं। सन् १८८४ और १९०१ के बीच में कोयले का उत्पादन १३ लाख टन से बढ़कर ६६ लाख टन हो गया।[2] बंगाल में लगभग एकाधिपत्य प्राप्त करने के अतिरिक्त भारतीय कोयला पूर्वी बाजारों, जैसे कोलम्बो, ब्रिटिश मलाया तथा पूर्वी द्वीप समूह आदि में भी पहुँच गया। सन् १९१४-१८ के युद्ध से पूर्व पाँच वर्षों में आन्तरिक उपभोग में वृद्धि होने के कारण कोयले की वार्षिक औसत उत्पत्ति बढ़कर १४७ लाख टन हो गई। इन पाँच वर्षों में कोयले का औसत आयात (खासकर ब्रिटिश कोयले का) ४५५,००० टन और औसत निर्यात २२५,००० टन हो गया। यूनाइटेड किंगडम को छोड़कर भारतवर्ष कॉमनवेल्थ के अन्य किसी भाग की अपेक्षा अधिक कोयला उत्पन्न करता है। भारत में पाये जाने वाले कोयले का अधिकांश भाग बंगाल, बिहार और उड़ीसा (गोंडवाना की कोयले की खान) से आता है। इन प्रान्तों के बाद कोयले की मुख्य खानें हैदराबाद में सिंगरेनी और सस्ती तथा मध्यप्रदेश और आसाम में हैं। राजपूताना, बीकानेर तथा मध्यभारत से भी भारत में मिलने वाले कुल कोयले का कुछ भाग मिलता है। भारतीय कोयले का वितरण बहुत ही असमान है। प्रायद्वीप (दक्षिण भारत) में इसकी कमी विशेष रूप से मालूम होती है। मद्रास राज्य में कोयले के अभाव तथा परिवहन की ऊँची लागत के राज्य कच्चे लोहे की उन्नति में बाधा रही है। बम्बई राज्य में भी स्थानीय कोयले के अभाव के कारण इसी तरह की कठिनाई थी, जिसकी कमी कुछ जलविद्युत्-शक्ति और कुछ समय के लिए दक्षिणी अफ्रीका से आयात किये हुए कोयले से पूरी की गई। दूसरी बुराई यह है कि हमारे

१. पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत खनिज साधनों के विकास के लिए १०६·१९ लाख रुपये की रकम रखी गई है। इसमें से केवल १९·६० लाख की रकम अब तक खर्च की जा चुकी है। योजना के प्रारम्भ में प्रगति धीमी रही, परन्तु फिर भी योजना के पहले दो वर्षों में भारतीय संघ के खनिज उत्पादन की मात्रा और मूल्य में सामान्य वृद्धि हुई। सन् १९५०, १९५१, १९५२ में कुल खनिज उत्पत्ति का मूल्य क्रमशः ८३·४१ करोड़ रु०, १०५·५५ करोड़ रु० और १०८·०४ करोड़ रुपये था। यह वृद्धि मुख्यतः उत्पादन की वृद्धि के कारण हुई थी।—पंचवर्षीय योजना, प्रगति रिपोर्ट १९५३-५४, अध्याय ११।

२. स्टेटिस्टीकल एब्सट्रैक्ट, इण्डिया १९५१-५२ के आधार पर।

देश का कोयला विदेशी कोयलों की तुलना में खराब होता है। धातुशोधक कोयले के उत्पादन के विचार से केवल बंगाल का ही कोयला विदेशी कोयलों का मुकाबला कर सकता है।

सन् १६१४-१८ के विश्वयुद्ध में विशेषतया १६१७ और १६२१ के बीच और उसके बाद के वर्षों में, कोयला-उद्योग का आश्चर्यजनक विस्तार हुआ। जहाजरानी की कमी की वजह से ब्रिटिश कोयले का न मिलना, अप्रैल सन् १६२० तक सरकार द्वारा कोयले की माँग, कोयले की कीमत में वृद्धि और युद्ध के अनन्तर उद्योगों की उन्नति से हुई कोयले की खपत में वृद्धि आदि कारणों ने उद्योग को प्रोत्साहित किया। कोयला ढोने के लिए रेल के डिब्बों की कमी से और खानों में काम करने वाले मज़-दूरों के पर्याप्त संख्या में न मिलने से इसका विकास सीमित रहा।[1] विश्वयुद्ध के बाद के अभिवृद्धि काल में नई-नई कोयले की खानें खोदी गईं। साथ ही सरकार ने बहुत सी बड़ी-बड़ी खानें खुदवाईं जिससे रेल-व्यवस्था को कोयले के लिए बाज़ार पर निर्भर न रहना पड़े। इसी बीच में दक्षिणी अफ्रीका का कोयला-निर्यात पूर्वी देशों के बाज़ारों में, जिनमें भारत भी शामिल था (वहाँ की सरकार की दी हुई यथेष्ट सहायता के कारण) बहुत बढ़ गया। ब्रिटेन का आयात बन्द हो गया और भारत में कोयले की कमी और रेलों पर अधिक भार होने के कारण सन् १६२०-२३ में भारतीय कोयले के निर्यात पर रोक लगाई गई। इन कठिनाइयों के दूर हो जाने पर भी विदेशी बाज़ारों में भारतीय कोयले की बिक्री पहले की बिक्री की आंशिक रूप से अधिक न हो सकी। बाज़ार में प्रतिस्पर्धा बढ़ती चली गई। दक्षिणी अफ्रीका के व्यापारिक सन्तुलन में परिवर्तन होने के बाद तथा भाड़े की सस्ती दरें (जहाज के निचले भाग में कोयला भरकर भेजने की दरें) न रहने के कारण दक्षिणी अफ्रीका के कोयले की पहले जैसी अच्छी स्थिति पूर्वी बाज़ारों में नहीं रही।[2] कोयलों और कोक के आयात और निर्यात व्यापार के समय-समय के आँकड़े निम्न तालिका में दिखाये गए हैं।[3]

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ़ द टेरिफ बोर्ड (कोयला उद्योग), १६२६, पैरा ११।
२. ऐन्स्टे (द ट्रेड ऑफ द इंडियन ओशन) पृष्ठ ५५।
३. देखिये, रिव्यू ऑफ़ द ट्रेड ऑफ़ इंडिया।

	युद्ध के पहले का औसत १९०९-१० से १९१३-१४	युद्ध के समय का औसत १९१४-१५ से १९१८-१९	युद्ध के बाद का औसत १९१९-२० से १९२३-२४	१९२९-३०	१९३४-३५	१९३८-३९	१९३९-४०
आयात-मात्र हज़ार टनों में	४५५	१३३	६३०	२३७	७१	४४	१८
मूल्य हज़ार रुपयों में	८०८९	३०४१	२२५३९	४५५५	१२५०	८०५	२६४
निर्यात-मात्र हज़ार टनों में	८२५	५२६	४३४	६८८	३११	१३४१	२०००९
मूल्य हज़ार रुपयों में	७५७७	४८४६	५७२४	७२०५	२९२२	१३६२५	१९३३५

इन अंकों से प्रगट होता है कि मन्दी के समय कोयले के निर्यात में कमी होने के बाद आगे चलकर १९३७-३८ से १९३९-४० तक इस व्यापार का बहुत काफ़ी विस्तार हुआ। निर्यात के इस आकस्मिक विस्तार के प्रधानतः दो कारण थे। पहला कारण चीन और जापान की शत्रुता थी जिससे जापान को सुदूर पूर्व के बाज़ारों में कोयला नही मिल सका। दूसरा कारण दक्षिणी अफ्रीका का कोयले के निर्यात को बन्द करना था। इस उद्योग ने १९३९-४० में आश्चर्यजनक उन्नति की और पिछले मात्रा-मानों (रिकार्ड) से बहुत आगे बढ़ गया। परन्तु जहाज़ों द्वारा निर्यात की कठिनाइयाँ और भाड़े की अत्यधिक वृद्धि निर्यात व्यापार के विस्तार में बाधा डालती है। हर हालत में निर्यात व्यापार के अनुकूल कारण अस्थायी हैं। माँग और उत्पादन में समंजन कराने वाली दीर्घकालिक नीति निर्धारित करते समय हमें कोयला-उद्योग की इस विशेषता को ध्यान में रखना चाहिए। भारतीय कोयले की अधिकांश खपत देशी बाज़ारों में ही होती है और वही इस उद्योग का प्रधान अवलम्ब है। वास्तव में देश की कोयले की माँग (लगभग ३०० लाख टन) इसकी वार्षिक उत्पत्ति (लगभग २२० लाख टन) से अधिक है।

सन् १९१४-१८ के युद्ध तथा उसके बाद कोयला-उद्योग ने जो उन्नति की उसे हम इस बात से आँक सकते हैं—सन् १९१४ में कोयले की उत्पत्ति और मूल्य क्रमशः १,६४,६४,२६३ टन, और ५,८६,१०,६९५ रुपया था। सन् १९३० में उत्पत्ति

और मूल्य बढ़कर क्रमशः २३,८०३,०४८ टन और ६,२६,२५,३२३ रुपया हो गया। कोयला-उद्योग पर देश के औद्योगिक क्रियाकलापों के उतार-चढ़ाव का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। आर्थिक अपकर्ष के आरम्भ तथा उसके परिणामस्वरूप आन्तरिक खपत की कमी के कारण दाम एकदम गिर गए और कोयले की अनेक खानें मजबूरन बन्द करनी पड़ीं। सन् १९३३ में कोयले की उत्पत्ति घटकर १९,७८९,१६३ टन रह गई जिसका मूल्य ६,११,८६,०८३ रुपया था। (सन् १९३० में २३,८०३,०४८ टन का उत्पादन हुआ था जो उस समय तक सबसे अधिक था।) सन् १९३४ में आर्थिक समुत्थान के आरम्भ में परिवर्तन की दिशा बदल गई और उत्पादन बढ़कर २२० लाख टन हो गया जिसका मूल्य ६३० लाख रुपया था। १९३५ में प्रगति शिथिल रही और उत्पादन २३,०१६,६९५ टन रहा। सन् १९३६ में उत्पादन २२,६१०,८२१ टन था जो १९३५ के उत्पादन से भी कम था। १९३७ में २५, ०३६, ३८६ टन कोयला निकाला गया जो उस समय तक किसी वर्ष में निकाले गए कोयले से अधिक था। तदनन्तर उत्पत्ति इससे भी अधिक होती गई। १९३८ में और १९३९ में कुल उत्पादन क्रमशः २८,३४२,९०६ टन और २७७ लाख टन था। १९३७-३९ का समय कोयला-उद्योग के उच्चतम उत्पादन के वर्ष थे। १९३८ में बिहार से १५,३६४, ०७९ टन और बंगाल से ७,७४५, ३७२ टन कोयला निकाला गया। सन् १९३८-३९ के आखिरी महीनों में तथा १९३९-४० के प्रथम पाँच महीनों में अल्प समय के लिए व्यापार में मन्दी आ गई। युद्ध छिड़ते ही भविष्य उज्ज्वल हो गया; कोयले की माँग तेज़ी से बढ़ने लगी, और उसका अतिरिक्त भण्डार समाप्त हो गया। जनवरी १९४० के बाद डिब्बों की अत्यन्त कमी हो जाने से, कोयले के भण्डार फिर इकट्ठे होने लगे। मज़दूरी और किराये की अधिकता तथा कोयले पर अधिभार के कारण उत्पादन की लागत बहुत बढ़ गई, जिससे लाभ कम हो गया। विदेशी प्रतिस्पर्धा के अभाव में औद्योगिक उपभोग की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक उत्पादन द्वारा ही ये लाभ बने रहे थे। निर्यात व्यापार की अवस्था की ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है।[1]

हाल के वर्षों में देश के अन्दर खपत में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। 'टैरिफ' बोर्ड के अनुमान के अनुसार सन् १९१० के ९८ लाख टन की खपत की तुलना में १९२५ में खपत की मात्रा १८४ लाख टन थी। तदनन्तर इसमें काफ़ी वृद्धि हुई। भारतीय

१. कोयला और कोक के उत्पादन और निर्यात सम्बन्धी वर्तमान स्थिति इस प्रकार है :

वर्ष	उत्पादन (लाख टन)	निर्यात (लाख टन)
१९४८-४९	२८०.१	११.२
१९४९-५०	३२३.४	९.७
१९५०-५१	३६१.८	३६.९
१९५१-५२	३५०.०	२४.०

भारत में कोयले के उत्पादन और निर्यात दोनों में ही उन्नति हुई है। भारत से कोयला मुख्यतः जापान, आस्ट्रेलिया, सीलोन और पाकिस्तान जाता है। भारत से कोयला आयात करने वाले अन्य देश फ़िनलैन्ड, ईजिप्ट आदि हैं। नीचे की तालिका में हाल ही में विभिन्न देशों से निर्यात किये

कोयले की प्रधान उपभोक्ता भारत की रेलें हैं। देश का बढ़ता हुआ औद्योगीकरण भी, जो लोहा तथा अन्य उद्योगों के विस्तार से प्रकट है, देश के अन्दर कोयले के बढ़ते हुए उपभोग का कारण है। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है हाल ही में हुए युद्ध ने कोयले की माँग को बढ़ा दिया। यद्यपि कोयले को विद्युत् और जलने वाले तेल की बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है, तथापि उसकी स्थिति अब भी दृढ़ है, और भविष्य में उसका प्रयोग बढ़ने की बहुत सम्भावना है।

अब हम कोयला-उद्योग के कतिपय प्राविधिक (टेक्निकल) पहलुओं पर विचार करेंगे जो उद्योग की उन्नति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। उदाहरणार्थ असेम्बली के मार्च सन् १९२४ के दक्षिणी अफ्रीका के कोयले पर संतुलन शुल्क लगाने के पक्ष के प्रस्ताव के अनुसार भारतीय कोयला कमेटी (इण्डियन कोल कमिटी) की नियुक्ति की गई। कमेटी का कार्य भारतीय कोयले को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए संरक्षण प्रदान करने के प्रश्न को शुल्कआयोग (टैरीफबोर्ड) के विचाराधीन करने से पूर्व इस विषय के प्राविधिक पहलू की जाँच करना था। इस कमेटी ने भारतीय उद्योग की स्थिति को दृढ़ बनाने के लिए और विशेषतया कलकत्ता के बन्दरगाह से भारतीय और विदेशी बन्दरगाहों को कोयला निर्यात बढ़ाने के लिए अनेक सिफ़ारिशें प्रस्तुत कीं। उनके विचार से इस सम्बन्ध में गुण और मूल्य यह दो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पहली बात की प्राप्ति के लिए उसने कोयला श्रेणी-बन्धन परिषद (कोल ग्रेडिंग बोर्ड) के स्थापित करने की सिफ़ारिश की, जिसके प्रमाण पत्र सम्बन्धित कोयले के गुण की गारण्टी होंगे। सरकार ने इस सिफ़ारिश को मान लिया और १९२५ में कोयला श्रेणी-बन्धन एक्ट (कोल ग्रेडिंग बोर्ड एक्ट) के रूप में आवश्यक विधान पास किया गया और बाक़ायदा २० जनवरी सन् १९२६ को यह बोर्ड बना दिया गया। कमेटी ने खानों से कलकत्ता जाने वाले प्रमाणित कोयले पर रेलों को ३७½ प्रतिशत अधिक छूट देने की और नदियों से

हुए कोयले का मूल्य दिखाया गया है :

	१९४९-५० रु०	१९५०-५१ रु०	१९५१-५२ रु०
पश्चिमी पाकिस्तान	१,००,०३,९९१		४०,७२,४२७
लंका (सीलोन)	१,५९,२६,०६६	१,०,५४,९५६	८२,९९,२०४
बर्मा	३६,१२,७२४	५०,१०,९१४	४६,०१,१२१
सिंगापुर	२५,३०,८२१	१८,९२,४७३	३६,२६,४०८
हांगकांग	३७,३९,१३०	३८,४५,४५१	४८,२६,५१७
जापान	१,९९,२६०	३७,७५,३९०	२,६३,४३,१४७
आस्ट्रेलिया	६०,०१,६६०	६६,७७,५६०	५८,८३,८७६
अन्य देश	१,२७,५०४	१४,७३,४१६	२,०४,७३,९३८
	४,२१,४१,१५६	३,३६,३०,१६३	७,८१,२६,६३८

विदेशों में भारतीय कोयले की बढ़ती माँग हर्ष का विषय है। अब से लगभग बीस वर्ष पूर्व भारतीय कोयले के निर्यात व्यापार में अनेक कठिनाइयाँ थीं। कोयले के प्रकार में सुधार होने के साथ भारतीय कोयले का प्रचार बढ़ रहा है।

—अनुवादक

जाने वाले कोयले के किराये को चार आना प्रति टन कम करने की भी सिफ़ारिश की। बोर्ड की यह सिफ़ारिशें भी रेलवे कम्पनियों और पोर्टट्रस्ट अधिकारियों द्वारा स्वीकृत कर ली गई।

भारत के भूगर्भ सम्बन्धी सर्वेक्षण के संचालक लुई फर्मर ने सन् १९३६ में एक सरकारी पत्रिका में आगामी सौ वर्षों के अन्दर अच्छे कोयले के साधनों के पूर्णतया समाप्त हो जाने की सम्भावना की चेतावनी दी। उसके बाद भारतीय कोयले को सुरक्षित रखने का प्रश्न सामने आया। यह अनुभव किया गया कि कोयला खोदने के दोषपूर्ण ढंग से भारतीय कोयला जो वैसे ही अधिक नहीं है, नष्ट होता है। अक्टूबर १९३६ में भारत सरकार द्वारा नियुक्त कोयला खान समिति (कोल माईनिंग कमिटी) ने कोयले के संरक्षण और खानों में सुरक्षा का प्रबन्ध करने के प्रश्नों पर विचार किया। कमेटी ने मई १९३७ की रिपोर्ट में यह विचार प्रकट किया कि द्वितीय श्रेणी के कोयले के भण्डार तो लगभग असीमित हैं। अच्छे प्रकार के सारे कोयले को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने कानून की सहायता लेने की इच्छा प्रकट की और उसे सुरक्षित रखने के लिए विधिवत् इकट्ठा करने की सिफ़ारश की।[1]

कमेटी की सिफ़ारिश पर अप्रैल १९३९ में कोयला उत्खनन सुरक्षा कानून पास किया गया। इस कानून द्वारा निरीक्षकों को खानों के अन्दर काम करने वाले मज़दूरों के लिए सुरक्षा सम्बन्धी कार्य करने तथा कोयले को सुरक्षित ढंग से जमा करने का प्रबन्ध करने का अधिकार मिल गया। इस कानून के अन्तर्गत कोयले को सुरक्षित रूप से रखने (स्टोइंग) की सहायतार्थ कोष इकट्ठा करने के लिए कोयला और कोक पर उत्पादन कर लगाने की आवश्यकता हुई। इस नये कानून को कार्यान्वित करने के लिए, जिसका उद्देश्य कोयला ढंग से निकालना अथवा बरबादी रोकना है, कलकत्ते में कोयले की खानों का सुरक्षा-मण्डल स्थापित किया गया।[2]

---

१. कोल माइनिग कमिटी की रिपोर्ट

२. सन् १९३९ के कानून में कोयले की सुरक्षा के लिए स्टोइंग की सहायता के लिए कोई विधान न था। अनेक कमेटियों द्वारा कोयले के साधनों के आपरीक्षण ने कोयले की सुरक्षा की अनिवार्यता को सामने ला दिया। ४ मार्च १९५२ को एक नया क़ानून कोयला खान (संरक्षण) क़ानून [कोल माइन्स (कन्जरवेशन एण्ड सेफ्टी) एक्ट] बनाया गया। इसने सन् १९३९ के कानून को रद्द कर दिया। नया कानून जम्मू और काश्मीर को छोड़कर समस्त भारत पर लागू होता है। इस कानून के अन्तर्गत सरकार को अधिकार है कि खानों और कोयले की सुरक्षा के लिए ऐसे क़दम उठाए जिन्हें वह उचित समझती है। कानून के अन्तर्गत कोयला परिषद (कोल बोर्ड) की स्थापना का भी विधान है। सरकार परामर्शदात्री कमेटियां भी बना सकती है जो केन्द्रीय सरकार या बोर्ड के कानून के कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में राय दे सकता हैं। कानून के अन्तर्गत उत्खनिक कोयले तथा खानों में तैयार किये और बाहर भेजे जाने वाले कोक पर उत्पादन कर लगाने की भी व्यवस्था है। उत्पादन कर से प्राप्त राशि कोयला परिषद (कोल बोर्ड) को दे दी जायगी और यह राशि कोयले की खानों के सुरक्षा कोष (कोल माइन्स सेफ्टी एण्ड कन्जर्वेशन फण्ड) में जमा कर दी जायगी। इसका उपयोग बोर्ड के व्यय तथा सुरक्षा सम्बन्धी कार्यादि के लिए होगा। प्रमुख निरीक्षक और निरीक्षकों को कोयले की खानों को देखकर यह पता लगाने का अधिकार है कि इस कानून के अनुसार काम हो रहा है या नहीं। देखिए, द इन्डियन लेबर ईअर बुक, १९५२-५३ पृ० ८४।

—अनुवादक

२९. लोहा—लौह धातु-शोधन का ज्ञान भारत मे बहुत पुराना है। यूरोप से आयात की हुई धातु की प्रतिस्पर्धा से पूर्व लोहे का उद्योग उन्नतिशील अवस्था में था तथा भारत के सभी भागों में फैला हुआ था।

बड़े पैमाने पर लोहे के निर्माण की आधुनिक विधाओं का प्रारम्भ सन् १८७४ से बराकर आयरन वर्कस के कार्य से होता है। यही कारखाने बाद में बंगाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनी कहलाए। इसका मौजूदा नाम बंगाल आयरन कम्पनी है। सन् १९११ मे बिहार प्रान्त में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का उद्‌घाटन साक्ची (Sakchi) नामक स्थान पर हुआ। सन् १९१३ के अन्त तक भारतीय इस्पात का निर्माण और लोठन सफलतापूर्वक होने लगा। कोयले की खानों की सन्निकटता और बिहार में लोहे के निक्षेपों के कारण इस काम में बहुत सुविधा हुई। लोहा और इस्पात उद्योगों के विकास का ब्यौरेवार विवेचन भारतीय उद्योगों वाले अध्याय में करना उचित होगा (दूसरा खण्ड।)

भारत में कच्चे लोहे के उत्पादन में की गई उन्नति निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट है :

१९१४		१९२१		१९२९		१९३८	
मात्रा टनों में	मूल्य रुपयों में	मात्रा. टनों में	मूल्य रुपयों में	मात्रा टनों में	मूल्य रुपयों में	मात्रा टनों में	मूल्य रुपयो में
४,४१,५७४	५,४४,७४०	९४२,०८४	२१,०८,३२९	२४,२८,५५५	६४,९१,२३६	२७,४३,६७५	४८,५६,९७४

१९३० और १९३३ के बीच जो शिथिलता आई, वह उत्पादन तथा मूल्य की कमी में परिलक्षित होती है। सन्१९३३ में १,२२८,६२५ टन उत्पादन हुआ, जिसका मूल्य २४,९७,९१४ रुपये था। १९३४ मे समय ने पलटा खाया और उत्पादन तेजी से बढ़कर १९,१६,९१८ टन हो गया। १९३५ में उत्पादन और भी बढ़कर २३,६४,२९७ टन तक पहुँचा। उन्ही दिनों खान से निकले हुए लोहे और इस्पात में पर्याप्त वृद्धि हुई।[1] (दूसरा खण्ड दूसरा अध्याय देखिए।) १९३७ में कच्चे लोहे का उत्पादन २,८७०,८३२

१. पिछले चार वर्षों में कच्चे लोहे का उत्पादन और उसका मूल्य इस प्रकार था :

	उत्पादन (हजार टनों में)	मूल्य (लाख रु० में)
१९५०	२९९५	१५४
१९५१	२९५७	२१०
१९५२	३९२६	२६८
१९५३	२७८४	......

फाइव ईअर प्लान प्रोग्रेस रिपोर्ट फॉर १९५३—५४, पृ० २२५।

टन था जो १९२९ के उत्पादन की मात्रा से अधिक था। सन् १९३८ में उत्पादन कुछ कम होकर २७,४३,६७५ टन रह गया। १९३९-४५ के विश्व युद्ध के कारण देश के कच्चे लोहे के निक्षेपों को प्रयोग मे लाने के लिए काफी प्रोत्साहन मिला।

सिंहभूम और उड़ीसा के क्योंझर, बोनई और मयूरभंज नाम के स्थानों में लोहे के जो निक्षेप है वे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हाल के अनुसन्धानों से ज्ञात हुआ है कि उड़ीसा राज्य में लगभग ४० मील लम्बाई मे फैली हुई कच्चे लोहे की पट्टी है। कहा जाता है कि एक स्थान पर कच्चे लोहे की पट्टी को काटकर फैली हुई एक घाटी में उत्तम प्रकार की हैमेटाइट की ७०० फुट मोटी तह है जिसमें ६०प्रतिशत से अधिक लोहा है और कम-से-कम २,८००,०००,००० टन कच्ची धातुओं का अनुमान किया जाता है। मैसूर राज्य में भी कच्चे लोहे की खानें पाई जाती है जिनका उपयोग भद्रावती के कारखानों द्वारा किया जा रहा है। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि विश्व में कच्चे लोहे के उत्पादक देशों में भारत अवश्य ही एक प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेगा।

हम जैसे-जैसे लोहे की इन खानों के उपयोग की राह पर प्रगति करते जायँगे वैसे-वैसे ही यह कहा जा सकता है कि विदेशी लोहे पर भारत की निर्भरता कम होते हुए अन्त में समाप्त हो जायगी।[1]

३०. मैंगनीज़—यह बहुत ही मूल्यवान औद्योगिक खनिज पदार्थ है। यह एक तथ्य है कि विश्व में पाई जाने वाली मैंगनीज़ का ९०% हिस्सा इस्पात के निर्माण की बेसेमर और खुली भट्टी प्रक्रियाओं के लिए आवश्यक होता है। भारी रासायनिक, विद्युत् तथा शीशे के उद्योगों में भी इसका उपयोग होता है।

भारत मे मैंगनीज़ उद्योग का आरम्भ १८९२ से मद्रास प्रान्त में विशाखापटनम में हुआ, जब वहाँ पत्थर की खानें खोदी गई। १९००-१९०१ में ९०,००० टन मैंगनीज़ बाहर भेजा गया। इसके बाद से सबसे अधिक मैंगनीज़ पैदा करने का गौरव मध्य-प्रदेश को प्राप्त है। भारत मे सन् १९१४-१५ मे ६८२,८९८ टन मैंगनीज़ हुआ जिसका मूल्य १,३१,५८,९६५ रुपये था, जबकि सन् १९२९ में ९९४, २७९ टन मैंगनीज़ हुआ जिसका मूल्य २,१०,५१,८०२ रुपये था। १९३२ में उत्पादन और मूल्य कम होकर क्रमशः २१२,६०४ टन और १८,६२,२९३ रुपये हो गया। १९०१ के बाद से अब तक उत्पादन की यह मात्रा और मूल्य सबसे कम थे। मैंगनीज़ उद्योग पर मन्दी का जितना गम्भीर प्रभाव पड़ा उतना भारत के किसी अन्य बड़े खनिज उद्योग पर नहीं

१. भारत अब विदेशी लोहे पर निर्भर नहीं, वरन् उसने लोहे का निर्यात भी आरम्भ कर दिया है। गत चार वर्षों में लोहे का निर्यात इस प्रकार था :

वर्ष	कच्चे लोहे का निर्यात (हजार टन)
१९५०	५५
१९५१	१९७
१९५२	६९९
१९५३	१०९५

पड़ा। मध्य प्रदेश में १९३२ और १९३३ के बीच अधिकांश खानें बन्द रहीं। सन् १९३४ और १९३५ में मैंगनीज़ उद्योग ने फिर थोड़ी-बहुत उन्नति की। इन दोनों वर्षों में उत्पादन और मूल्य बढ़कर क्रमशः ४०६,००० टन व ५१,६३,५९२ रुपये और ६४१,४८३ टन व १,२६,४३,३७९रुपये हो गया। १९३८ में कच्चे मैंगनीज़ का उत्पादन ९६७,९२९ टन हो गया जिसका मूल्य ३,९२,९४,७६२ रुपये था। भारत की तीनों प्रधान लोहा-कम्पनियों के कारखानों में कच्चे मैंगनीज़ की नियमित मात्रा में खपत होती है। इसका उपयोग इस्पात की भट्टियों में अयो-लोहक (फेरो मैंगनीज़) के निर्माण के हेतु तथा खान से निकले हुए लोहे के निर्माण के हेतु भट्टी में डालने के लिए होता है। सितम्बर सन् १९३९ में विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया, जिसने भारतीय मैंगनीज़ उद्योग को और प्रोत्साहन दिया।

मैंगनीज़ उत्पादन करने वाले प्रमुख क्षेत्र बम्बई, मध्य प्रदेश, मद्रास और मैसूर हैं। सन् १९०७ में यह उद्योग अपनी पूरी समृद्धि पर पहुँच गया था जबकि भारत ने रूस को, जो इस धातु को पैदा करने वालों में सबसे आगे था, पीछे छोड़ दिया। परन्तु १९१२-१३ में पुनः रूस भारत से आगे निकल गया। १९१४ के बाद रूस का निर्यात लगभग बन्द-सा हो गया। पिछले कुछ वर्षों में रूस ने अलाभकर तरीके अपनाकर अत्यधिक मात्रा में कच्ची धातु को बाज़ार में सस्ते दामों पर प्रस्तुत किया। दक्षिणी अफ्रीका के निक्षेपों का भी विकास किया जा रहा है। १९१४-१८ के युद्ध में भारत में मैंगनीज़ के बढ़ते हुए उत्पादन के कारण और मूल्यों के भी बहुत बढ़ जाने से उसके उत्पादन को काफ़ी प्रोत्साहन मिला। अतः १९२९-३० में निर्यात के लिए ८१६,००० टन मैंगनीज़ उपलब्ध था जिसका मूल्य २२९ लाख रुपया था। मैंगनीज़ के जखीरों में वृद्धि होने तथा विश्व में इस्पात के उत्पादन की कमी और फलतः मैंगनीज़ की माँग में कमी हो जाने के कारण १९३२-३३ की मन्दी में मैंगनीज़ का निर्यात घटकर १९८,००० रह गया जिसका मूल्य ४८ लाख रुपया था। फिर विश्व में लोहा और इस्पात, तथा शस्त्र-उद्योगों के विस्तार के कारण मैंगनीज़ की माँग बढ़ी। इसके फलस्वरूप १९३७-३८ में मैंगनीज़ का निर्यात १०,०१,००० टन हो गया जिसका मूल्य २२१ लाख रुपया था। इस्पात उद्योगों की माँग में कमी हो जाने के कारण १९३८-३९ में मैंगनीज़ का निर्यात घटकर ४५६,००० टन रह गया जिसका मूल्य १०७ लाख रुपया था, परन्तु दूसरे ही वर्ष (१९३९-४०) में इसका निर्यात फिर बढ़कर ७१९,००० टन हो गया जिसका मूल्य १८३ लाख रुपया था।[1]

१. गत चार वर्षों में कच्चे मैंगनीज का उत्पादन, उसका मूल्य और निर्यात निम्न था।

वर्ष	उत्पादन (हजार टन)	मूल्य (लाख रु०)	निर्यात (हजार टन)
१९५०	९८३	८४८	७८०
१९५१	१२९२	१७८३	९०७
१९५२	१४६२	२२४५	२४०९
१९५३	१८६४		१६५४

फाइव ईअर प्लान प्रोग्रेस रिपोर्ट फॉर १९५३-५४, पृ० २२५।

३१. सोना—विश्व में सोने के कुल उत्पादन का केवल तीन प्रतिशत भारत में होता है। भारत में निष्पादित कुल सोने का ९८ प्रतिशत भाग, पूर्वी मैसूर मे स्थित कोलार से प्राप्त होता है जो भारत मे सोना पैदा करने वाले क्षेत्रों मे सबसे प्रधान है। आजकल कोलार का उत्पादन कम होता जा रहा है। सन् १९०५ में ६१६,७५८ औंस सोना निकाला गया था। इससे अधिक सोना किसी भी और वर्ष में नही निकाला गया। शेष सोने का अधिकांश भाग मद्रास राज्य के अनन्तपुर नामक क्षेत्र से निकलता है। सन् १९०३ में हुट्टी नामक स्थान में निजाम की खान पर काम शुरू किया गया था, पर सन् १९२० के बाद से उसमें काम नही किया गया। पंजाब, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में भी साफ करने की क्रिया से कुछ सोना तैयार किया जाता है, पर उसकी मात्रा नगण्य है। सन् १९३१ मे ३३०,४८८ औस सोना पैदा हुआ जिसका मूल्य २,०८,०१,९४३ रुपया था जबकि सन् १९३८ मे ३२१,१३८ औंस सोना निकाला गया जिसका मूल्य ३,०४,७५,३९७ रुपया था। सोने की ऊँची क़ीमतों के कारण उत्पादन की कमी की क्षतिपूर्ति हो गई है और इससे सोने के उत्पादन को प्रोत्साहन मिला है। फलतः सोने का निष्पादन १९३४ के ३२२,१४३ औंस से १९३५ मे बढकर ३२७,६५३ औंस, १९३६ में ३३३,३८५ औंस हो गया, पर १९४३ में २५२,२६२ औंस रह गया।[1]

३२. पैट्रोलियम[2]—भारत में हिमालय पर्वत के दोनों ओर स्पष्टतया पेट्रोलियम के दो क्षेत्र हैं—पूर्व की ओर वाले क्षेत्र में जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है और जिसमें आसाम भी सम्मिलित है, कुल निष्पादन का ८५% प्रतिशत तेल निकलता है। दूसरा पंजाब और बिलोचिस्तान का पश्चिमी क्षेत्र पाकिस्तान मे चला गया है।

बर्मा के अलग हो जाने से भारत के पेट्रोलियम-साधन विश्व की तुलना में कुछ भी नही रहे। १९३८ में इसका कुल निष्पादन ८७० लाख[3] गैलन और मूल्य १६५ लाख रुपया था जो विश्व के कुल निष्पादन के एक प्रतिशत का दसवाँ भाग है। आसाम में तेल निकालने का काम किया जाता है, परन्तु अभी और जगह भी तेल-क्षेत्रों के पाये जाने की आशा है।[4]

भारत से बर्मा के अलग होने से पहले भी हमारे यहाँ मोटर-स्पिरिट, मिट्टी का तेल आदि पर्याप्त मात्रा में बाहर से मँगाया जाता था। बर्मा के अलग हो जाने के बाद भारत की विदेश-निर्भरता बहुत अधिक बढ़ गई। प्रायः बर्मा ही भारत की मिट्टी

---

१. नीचे हम सन् १९५२ तक के लिए सोने के उत्पादन के आँकड़े दे रहे हैं :

(हज़ार शुद्ध (फाइन) औंस में।)

१९४६	१९४७	१९४८	१९४९	१९५०	१९५१	१९५२
१३२	१७२	१८०	१६४	१९७	२२६	२४३

—इण्डिया एट ए ग्लान्स, पृ० १३४५

२. पेट्रोल उद्योग के रोचक वर्णन के लिए देखिए, रिपोर्ट ऑफ़ द टेरीफ बोर्ड (तेल-उद्योग) १९२८, अध्याय १

३. १९३५ में बर्मा और भारत का पेट्रोलियम का कुल उत्पादन ३२३० लाख गैलन था।

४. रिपोर्ट ऑफ़ द टेरिफ़ बोर्ड (तेल उद्योग), पैरा ५।

के तेल और मोटर-स्पिरिट-सम्बन्धी अधिकांश आवश्यकताओं को पूरा करता है। इसमें हवाई पैट्रोल भी सम्मिलित है। उदाहरणार्थ १९३९-४० में बाहर से मँगाये जाने वाले १९३० लाख गैलन मिट्टी के तेल में से ११२० लाख गैलन अथवा ५८ प्रतिशत और १९३८-३९ में कुल आयात किये हुए १८२० लाख गैलन में से ११४० लाख गैलन या ६३ प्रतिशत बर्मा से आया।[1] जहाँ तक मोटर स्पिरिट का सम्बन्ध है १९३९-४० में ५ करोड़ गैलन या कुल आयात का ५८ प्रतिशत, और १९३८-३९ में ५ करोड़ १० लाख गैलन अर्थात् ५९ प्रतिशत भारत में बर्मा से मँगाया गया।[2]

३३. अभ्रक—अभ्रक का प्रयोग मुख्यतः विद्युत् उद्योग में अवरोधन-माध्यम के रूप में होता है। १९१४-१८ के युद्ध-काल में बेतार से समाचार भेजने, वैयानिकी और मोटर-परिवहन के विकास के कारण इसने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया, क्योंकि अभ्रक के बिना इनका विकास असम्भव था। १९३९-४५ के युद्ध ने इसके प्रयोग और महत्ता को और भी बढ़ा दिया।

विश्व में अभ्रक के उत्पादन का $\frac{३}{५}$ भाग भारत में होता है। अभ्रक का उत्पादन करने वाले देशों में भारत अग्रगण्य रहा है। अभ्रक बिहार, मद्रास राज्य के नैलोर, सलेम तथा मालाबार जिलों, ट्रावनकोर तथा अजमेर-मेरवाड़ा और राजस्थान के अन्य भागों में पाया जाता है। १९३९-४० में २१७,००० हंडरवेट अभ्रक, जिसका मूल्य १७२ लाख रुपया था, बाहर भेजा गया। भारत में अभ्रक का वार्षिक उत्पादन शायद लगभग इतना ही है।[3]

३४. शोरा – शीशा बनाने, खाद्यों को सुरक्षित रखने तथा खाद बनाने की क्रियाओं आदि औद्योगिक कार्यों के लिए शोरे की माँग बहुत होती है। इसका उत्पादन बिहार, उत्तर प्रदेश और पंजाब में ही होता है। एक समय था जब दुनिया में शोरे

१. पेट्रोलियम (पेट्रोल, वेन्जीन और वेन्जोला भी सम्मिलित हैं।) के आयात-सम्बन्धी गत वर्षों के आँकडे इस प्रकार हैं : (हजार गैलन में)

१९४४-४५	१९४५-४६	१९४६-४७	१९४७-४८
५,९०,२२९	५,३२,२९०	१,२३,८२६	१०,८६,४८
१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२
१,२२,४४९	१,७७,४०१	१,९३,४८१	२,५१,०८४

स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रेक्ट आफ इण्डिया १९५१-५२, पृ० ७५२

२. भारत में खनिज तेलों के साधनों के सम्बन्ध में अन्य बातों के लिए दूसरे खण्ड का छठा अध्याय देखिए।

३. अभ्रक के निर्यात और उसके मूल्य-सम्बन्धी हाल के आँकड़े इस प्रकार हैं :

	१९४६	१९४७	१९४८
मात्रा (हंडरवेट में)	२०९,८८१	१९१,५७१	३६३,०१५
मूल्य (रु० में)	३०९,०६,९६२	४,६५,७९,६६३	६,१४,५०,०३६
	१९४९	१९५१	१९५२
मात्रा (हण्डरवेट में)	२७०,७६०	३२८,४००	४९०,४८८
मूल्य (रु० में)	५,७१,९६,३१८	९,१५,०२,९६५	१३,७९,४१,२३०

स्टेटिस्टीकल ऐब्स्ट्रैक्ट ऑफ इण्डिया १९५१-५२, प० ५६३।

के-अम्ल की जितनी जरूरत होती थी वह सब भारत पूरी करता था। यह विस्फोटक पदार्थों और रासायनिक खादों के निर्माण के लिए बहुत ही आवश्यक होता है। किन्तु, कुछ तो भारत सरकार की तटकर-नीति के कारण जिसने भारी निर्यात कर लगाकर अपने इस एकाधिकार से अधिक-से-अधिक आय का प्रयत्न किया और कुछ अन्य कारणों से भारत का यह स्थान प्रतिस्पर्धी विदेशी उत्पादकों द्वारा समाप्त कर दिया गया। १९१४-१८ के युद्ध में युद्ध-सामग्री के लिए शोरे की आवश्यकता पड़ी जिससे स्थिति मे कुछ सुधार हुआ। युद्धकालीन माँग खत्म हो जाने तथा विदेशी बाज़ारों मे चिल्ली शोरे और फ्रान्स के पोटाश मे प्रतियोगिता हो जाने के कारण शोरा-उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। युद्धकालीन निर्यात की तुलना में युद्धोत्तर निर्यात कम हो गया। १९१४-१५ से १९१८-१९ मे औसतन ४४०,००० टन हंडरवेट शोरा, जिसका मूल्य ८० लाख रुपया था, का निर्यात हुआ जबकि १९४३-४४ में ४७,०००[1] हंडरवेट शोरे का निर्यात हुआ जिसका मूल्य १२·३४ लाख रुपया था।[2] शोरे का लगभग सम्पूर्ण उत्पादन वाहर भेज दिया जाता है। केवल कुछ भाग खाद के उपयोग के लिए—विशेषकर आसाम के चाय-बागों मे खाद देने के लिए—रख लिया जाता है।

३५. अन्य खनिज पदार्थ—कुछ कम महत्त्व वाले और खनिज पदार्थ भी भारत मे पाये जाते है जैसे ताँबा, अल्मोनियम, वर्णिज (क्रोमाइट), पोटाश, अम्बर, हीरा, मानिक (रूबी) और गन्धक आदि।

३६. नमक—भारत में साल-भर मे नमक की जितनी खपत होती है उसका लगभग ४/५ हिस्सा भारत में ही होता है। देश में वर्ष मे १८ लाख टन नमक की खपत होती है। १९३८ में कुल १,५३९,६६३ टन नमक हुआ जिसका मूल्य ९५,१८,३८३ रुपया था। १९३९-४० में मुख्यतः बंगाल के उपयोग के लिए ३१४,००० टन नमक का आयात किया गया जिसका मूल्य ६२ लाख रुपया था। यह अधिकांश में अदन से मँगाया गया था। बम्बई और मद्रास के समुद्र-तटों पर पानी सुखाकर ६० प्रतिशत के लगभग नमक पैदा किया जाता है। नमक-उत्पादन के अन्य साधन पंजाब में नमक की पहाड़ियाँ और कोहाट की खानें हैं, जो क्षेत्र भारत-विभाजन में पाकिस्तान में जा चुके हैं।

१. शोरे का निर्यात और उसका मूल्य हाल ही के वर्षों में घटता गया है। निम्न आंकड़ो से निर्यात और उसके मूल्य का दिग्दर्शन होता है :

	१९४६	१९४७	१९४८
मात्रा (हंडरवेट में)	२२,७०३	१६,३२३	७२१
मूल्य (रुपयों में)	६,३५,८०७	६,३४.९६०	६३,५०८

सन् १९४९-५० और १९५१ में देश में शोरे का उत्पादन और मूल्य इस प्रकार था :

	१९४९	१९५०	१९५१
मात्रा (टनों में)	६,५५४	५०,५०१	५,२१२
मूल्य (रुपयों में)	३४,६६,६५२	२८,५६,६५४	३५,८४,०८४ (अ)

(अ) मद्रास राज्य का उत्पादन सम्मिलित नही है।

—स्टेटिस्टीकल एब्सट्रैक्ट, इण्डिया, १९५१-५२, पृ० ५६३

२. रिव्यू ऑफ़ द ट्रेड ऑफ़ इण्डिया १९४३-४४, पृ० १७२

दो और जगहों से नमक उपलब्ध होता है : राजपूताना में स्थित साम्भर झील का खारा नमक और कच्छ की खाड़ी में खारे पानी से जमाया हुआ नमक। नमक में भारत को आत्म-निर्भर बनाने के लिए उत्पादन की वृद्धि का प्रश्न विचारार्थ सन् १९२९ में तटकर मण्डल (टैरीफ बोर्ड) को सौंपा गया था जिसने १९३० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। बंगाल के बाज़ारों के लिए लगभग ५००,००० टन विदेशी नमक की माँग थी। बंगाल के बाज़ारों में इसका विशेष ध्यान रखा जाता है कि नमक सफेद हो, उसकी डलिया इकसार हों तथा नमी न हो। भाव का भी निस्सन्देह ही महत्त्व होता है। कलकत्ता के बाजार में मूल्य बड़ी तेज़ी से घटते-बढ़ते रहते हैं। इसका कारण कुछ तो किराये की दरों का परिवर्तन है, परन्तु मुख्य कारण व्यापारियों और संघों के कार्य हैं। तटकर-मण्डल का विचार था कि बंगाल के बाज़ार की कुल माँग भारत और अदन (जो १९३७ में भारत से अलग कर दिया गया) के नमक से पूरी की जा सकती है, यदि समुद्र से आने वाले नमक के उद्‌गम-स्थानों (कराची और ओखा) और रेलों से आने वाले नमक के उद्‌गम-स्थानों (खेबरा, साम्भर और पंचभद्र) का समुचित ढंग से विकास किया जाय।

राष्ट्रीय हित की दृष्टि से खेवरा आदि का रेलवाहित नमक बंगाल के लिए समुद्र से लाये हुए कराची और ओखा के नमक से अच्छा है, यद्यपि कराची और ओखा आदि केन्द्रों को कुछ विशेष प्राकृतिक लाभ प्राप्त है। रेलों से लाने में यह विश्वास रहता है कि युद्ध-काल मे नमक की कमी न पड़ेगी, रेलों को अधिक यातायात का अवसर मिलेगा और उत्पादन में वृद्धि हुई तो मूल्यों में कमी निश्चय ही होगी। परन्तु रेल से लाये हुए नमक की मात्रा कम पड़े तो वह समुद्र से लाये हुए नमक से पूरी कर लेनी चाहिए। तटकर मण्डल ने सरकार से साधनों के विकास और रेलों के किराये घटाने के लिए इस प्रश्न की अच्छी तरह जाँच करने की सिफारिश की।[1] आयात किये हुए नमक के मूल्य में अत्यधिक कमी होने के कारण जल्दी से कुछ करने के लिए तटकर मण्डल द्वारा सुझाये गए तरीके अर्थात् सरकारी नियन्त्रण से अधिक सरल समझकर विधान-सभा की एक कमेटी ने (अदन को छोड़कर) विदेशों से आने वाले नमक पर ४½ आना प्रति मन अस्थायी अतिरिक्त कर लगाने की सिफ़ारिश की। (इसके लिए अदन भारत का ही भाग समझा जाता है।) यह सिफ़ारिश १९३१ में नमक (अतिरिक्त) आयात-कर-अधिनियम (साल्ट एडिशनल इम्पोर्ट ड्यूटी) में सम्मिलित कर ली गई। इस अधिनियम की अवधि आरम्भ में एक साल के लिए सीमित थी, बाद में समय-समय पर अधिनियमों द्वारा इसकी अवधि बढ़ती गई। १९३१ के पूरक वित्त अधिनियम द्वारा नमक के आयात और उत्पादन पर २५ प्रतिशत अधिभार लगाया गया।[2] १९३३ में, जैसी कि विधान-सभा की नमक-उद्योग-समिति ने सिफ़ारिश की थी, अतिरिक्त कर ४½ आ० प्रति मन से घटाकर २¾ आ० प्रति मन कर दिया गया। २१ अप्रैल १९३६ से यह घटाकर १½ आना प्रतिमन कर दिया गया तथा उसकी

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ द टेरीफ़ बोर्ड (साल्ट इण्डस्ट्री), १९३०।

२. द्वितीय खण्ड का १२वाँ अध्याय देखिए।

अवधि दो वर्ष के लिए बढा दी गई ।[1] बंगाल के सदस्यों ने नमक के अतिरिक्त आयात का इस आधार पर विरोध किया कि इस प्रकार बंगाल के उपभोक्ताओं के खर्चे पर अदन के उत्पादकों को सहायता दी जा रही थी (जो भारत से अलग किया जाने वाला था)। भारत सरकार ने स्वीकार किया कि यह कर न्यायोचित नही और अप्रैल सन् १९३८ मे इसे खत्म कर दिया गया ।[2] नमक-सुरक्षा के समय विदेशी नमक का आयात कम हुआ, परन्तु देशी नमक के उत्पादन मे वृद्धि हुई। उदाहरणार्थ १९३० और १९३५ मे भारत मे नमक का उत्पादन क्रमशः १७·१ लाख टन और १९·५ लाख टन था, परन्तु इन्ही वर्षो मे आयात क्रमशः ६·९ लाख टन और ३·९ लाख टन था। आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य मे भारत, जनता की अत्यावश्यक वस्तु नमक के सम्बन्ध मे अपनी जरूरत आप पूरी करने योग्य हो जायगा ।[3]

३७. इमारती पत्थर—भारत में उपलब्ध इमारती पत्थरों मे सबसे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक बलुआ पत्थर है, जो विन्ध्याचल की पहाड़ियों मे मिलता है। इसका क्षेत्र देहरी-आन-सोन से होशंगाबाद और ग्वालियर तक तथा वहाँ से आगरा और नीमच तक फैला हुआ है। अशोक के समय से आज तक निर्मित भारतीय कला के अधिकांश उत्कृष्ट नमूने इसी पत्थर से बनाये गए है। प्रायद्वीप के दक्षिणी भागों में विभिन्न आग्नेय चट्टानों का प्रयोग होता है। मकान बनाने की अन्य सामग्री मे दक्षिणी भारत के मध्य मे पाया जाने वाला स्लेट और कंकरीला पत्थर, मध्यभारत और मध्यप्रदेश का भूरा पत्थर तथा सम्पूर्ण भारत में विस्तृत रूप से फैला हुआ लाल पत्थर, कराची और बम्बई मे प्रचुरता से प्रयुक्त पोरबन्दर-पत्थर, जबलपुर तथा अन्य भागों में पाया जाने वाला संगमरमर और अन्य अनेक प्रकार के पत्थर है, जिनकी चर्चा यहाँ नही की जा सकती।

३८. सीमेण्ट बनाने का सामान—खडिया, ककरीला पत्थर और चिकनी मिट्टी ही प्रमुख वस्तुएँ हैं जो सीमेण्ट बनाने के काम आती है। ये भारत मे बहुलता से पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए लखेरी के पास (राजपूताना के बूँदी राज्य मे) और कटनी में, जहाँ अच्छे प्रकार का कंकरीला पत्थर और चिकनी मिट्टी भी पाई जाती है, उत्तर प्रदेश में लखनऊ और कानपुर के समीप और काठियावाड़ के पोरबन्दर आदि स्थानों में भी ये चीजे पाई जाती है। भारत मे निर्मित पोर्टलैण्ड सीमेण्ट इंगलैण्ड में बने हुए उत्तमोत्तम सीमेण्ट के समकक्ष है। सब बातो को देखते हुए कह सकते है कि भारत में सीमेण्ट उद्योग का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

३९. चूना—चूना बनाने का प्रधान साधन कंकरीला पत्थर है, जिसकी चर्चा अन्य

१. विभाजन के पश्चात् नमक का आयात लगभग नहीं के बराबर हो गया है। थोडी मात्रा में विदेशों को निर्यात भी किया जाने लगा है। हाल ही में जापान को काफी नमक निर्यात किया गया।

२. द हिस्टी ऑफ़ द इंडियन टेरिफ़—बी० एन० अदारकर, १९२४-३९, पृ० ६५-६६।

३. भारत के स्वतन्त्र होने के बाद नमक-कर समाप्त कर दिया गया। अब उत्पन्न किये हुए नमक पर केवल उपकर है, जो गैर-सरकारी स्थानों पर २ आना प्रति मन तथा नमक बनाने के सरकारी स्थानों पर साढे तीन आना प्रति मन है। यह उपकर साल्ट कमिश्नर के कार्यालय के प्रशासन का खर्च चलाने के लिए लगाया गया है।

प्रयोगों के सम्बन्ध में ऊपर की जा चुकी है। यह बहुत अधिक मात्रा में उपलब्ध है, परन्तु केवल उन्हीं खानों में काम किया जाता है जो परिवहन की दृष्टि से या किसी अन्य स्थानीय कारण से सुविधाजनक प्रतीत होती हैं।

४०. वनस्पति-साधन—देश के विस्तृत क्षेत्र, ऊँचाई के अन्तर, अक्षांश के विस्तार, जलवायु और मिट्टी आदि की विशेषताओं के कारण भारत में उपअयनवृत्तीय और समशीतोष्ण कटिबन्धों में पाई जाने वाली अनेक वनस्पतियों का उत्पादन होता है, जैसा कि नीचे के ब्यौरे से स्पष्ट हो जायगा :

(i) खाद्यान्न—चावल बंगाल, बिहार, उड़ीसा में तथा थोड़ा-बहुत मद्रास और बम्बई में पैदा होता है। गेहूँ भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग में तथा ज्वार और बाजरा बम्बई और मद्रास में पैदा होता है। जौ उत्तरप्रदेश और बिहार में तथा रांगी उत्तरप्रदेश, मद्रास और बम्बई में पैदा होता है। मक्का बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश और पञ्जाब में, तथा चना उत्तर प्रदेश, पञ्जाब, बिहार, उड़ीसा और मध्य-प्रदेश में होता है।

(ii) शाकादि—मसाले और व्यंजन मद्रास, बम्बई और बंगाल में, ईख सम्पूर्ण भारत में, कहवा मद्रास और कुर्ग में, चाय मद्रास, आसाम, बंगाल और ट्रावनकोर में होती है।

(iii) बीज—तिलहन, जैसे अलसी या तीसी, तिल, सरसों, मूँगफली और रेंडी आदि मद्रास, उत्तरप्रदेश, मध्य प्रदेश, और बम्बई में होती है।

(iv) रेशे—बम्बई, बरार, पञ्जाब और मद्रास में कपास तथा बंगाल में पट-सन पैदा होता है।

(v) विविध—अफ़ीम उत्तरप्रदेश में, तम्बाकू बंगाल, बिहार, बम्बई, मद्रास में, चारे की फ़सल उत्तरप्रदेश और पञ्जाब में, सिनकोना दक्षिण भारत में और भारतीय रबर आसाम और खासी पहाड़ियों में होता है। इनके अतिरिक्त वन-उत्पादन भी होते हैं।

भारत की प्रधान फ़सलों का अधिक ब्यौरेवार वर्णन तथा कृषि-विभाग द्वारा पैदावार और क़िस्म सुधारने के प्रयत्नों का अध्ययन-विवेचन हम भारतीय कृषि वाले अध्याय में करेंगे।

४१. पशु-सम्बन्धी साधन—भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए पशुओं का कितना महत्त्व है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। भारत में परिस्थितियों की विविधता के कारण यहाँ अनेक प्रकार के पशु पाये जाते हैं। भारत में पाई जाने वाली पशुओं की जातियाँ यूरोप से कहीं अधिक हैं। गाय और भैंस विशेषकर दूध देने के लिए रखी जाती हैं। यन्त्र-शक्ति तथा घोड़ों का प्रयोग यहाँ कोई खेती के लिए नही करता, अतः ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में बैलों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे माल ढोने के और खेती के काम आते हैं। भारतीय किसान को जितनी खाद की जरूरत होती है, वह उसे भेड़ बकरियों और उन पशुओं से प्राप्त हो जाती है जिनसे वह खेती के काम लेता है। कृत्रिम खाद का उपयोग अभी शुरू ही किया जाने लगा है। गधा भी हर जगह पाया

जाता है जिससे बोझा ढोने का काम खूब लिया जाता है। ऊँट देश के रेतीले भागों में पाया जाता है। यह रेगिस्तान में परिवहन का साधन है। मछली भी बहुत आवश्यक है, विशेषकर बंगाल, आसाम और प्रायद्वीप के तटीय भागों में जहाँ भोजन में नाइट्रोजन-तत्त्व तक के लिए उस पर निर्भर रहा जाता है, जिनके लिए अन्यत्र दालों का प्रयोग किया जाता है। भारत के समुद्रों में कई प्रकार की खाने के काम आने वाली मछलियाँ पाई जाती हैं। इन साधनों से आधुनिक ढंग पर संगठित रूप से फ़ायदा उठाने की आवश्यकता है।

भारत के विस्तृत वनों में अनेक प्रकार के पशु-पक्षी शरण लिये रहते हैं जिससे शिकारियों को अच्छे शिकार मिल जाते हैं।

४२. शक्ति के साधन—भारत में पाये जाने वाले शक्ति-साधनों में कोयला, ईंधन, तेल, अलकोहल, हवा और पानी प्रधान हैं। कोयले का विवेचन खनिज पदार्थों के अन्तर्गत किया जा चुका है। ईंधन के लिए जंगलों की उपयोगिता की ओर भी संकेत किया जा चुका है। बहुत से भारतीय जंगल पर्वतीय क्षेत्रों में स्थित हैं, इस कारण वहाँ परिवहन-व्यवस्था बड़ी कठिन और महँगी होती है। यदि इस कठिनाई को दूर भी कर लिया जाय तब भी जंगल लगाए बिना ईंधन की पूर्ति और उसकी औद्योगिक माँग का बराबर होना सन्देहास्पद ही है। लकड़ी का कोयला तथा अन्य उपोत्पाद जैसे मिथाइल अलकोहल, बिरोजा या राल आदि प्राप्त करने की विधि के रूप में वनस्पति-मंच बनाने (वुड-डिस्टिलेशन) की क्रिया पर औद्योगिक आयोग ने विशेष ध्यान दिया। उपोत्पाद के विक्रय से लकड़ी के कोयले की स्थानीय लागत बहुत कम हो जायगी। उन्होंने सुझाव दिया कि शक्ति की अत्यन्त छोटी इकाइयों को छोड़कर अन्यत्र प्रभूषण गैस यन्त्र लगाना सुविधाजनक भी है और उससे काम भी सुचारु रूप से हो सकता है। और ऐसी विधियों को अपनाने की सिफारिश की जिससे इन यन्त्रों के लिए आवश्यक ईंधन सस्ते में सुलभ हो जाय। भारत के तेल साधनों की स्थिति और बर्मा के अलग हो जाने के बाद उस स्थिति के पहले से खराब हो जाने की ओर, खनिज पदार्थों के अन्तर्गत संकेत किया जा चुका है। आसाम और पंजाब आदि के तेल वाले क्षेत्रों की भावी उपादेयता अब भी सन्देहास्पद ही है। अतः हम लोग इस शक्ति-रूप पर अधिक भरोसा नहीं कर सकते।

औद्योगिक कार्यों में विद्युत्-शक्ति के लिए जहाँ तक अलकोहल के प्रयोग का सम्बन्ध है, लगता है, कुछ प्रकार की वनस्पतियों से विशेष प्रक्रियाओं द्वारा अलकोहल की आवश्यक मात्रा पैदा की जा सकती है। परन्तु अभी यह अनुमान-मात्र है और सावधानी से इस सम्बन्ध में जाँच-परख और प्रयोग कर देखने की आवश्यकता है। इसमें सुविधा देने के विचार से औद्योगिक-आयोग ने आबकारी-नियन्त्रण (एक्साइज़ रिस्ट्रिक्शन) में कुछ ढील करने का सुझाव दिया था।

४३. जल-शक्ति—सस्ती गति-शक्ति की उपलब्धि सफल औद्योगिक विकास की एक आवश्यक शर्त है। शक्ति उत्पन्न करने की दृष्टि से कोयला, ईंधन अथवा तेल आदि की स्थिति उतनी अच्छी नहीं है जितनी कि होनी चाहिए। इसके कारणों की ओर पहले

ही संकेत किया जा चुका है। किन्तु जल-शक्ति के विकास के आसार काफी अच्छे हैं। अब तक तो उसका विकास सीमित ही रहा है, क्योंकि वर्षा तो ऋतु-विशेष में ही होती है; अतः बड़ा धन व्यय करके जलाशय आदि की व्यवस्था किये बिना काम नहीं चल सकता था। जब तक विद्युत्-शक्ति को दूर-दूर भेजने में सफलता नहीं हुई थी उस समय तक पहाड़ी नदियों पर पनचक्कियों, सिंचाई की नहरों के झरनों पर आटे की चक्कियों को चलाने के लिए ही जल-शक्ति का प्रयोग होता था। उस समय तक जल-शक्ति का पर्याप्त प्रयोग, पहाड़ी रियासतों में छोटे-छोटे कारखानों तथा दो-एक बड़ी सूती मिलों, जैसे बम्बई प्रान्त में गोकाक की सूती मिल, आदि में ही होता था। इधर कुछ वर्षों से बड़ी-बड़ी पनबिजली योजनाओं पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। कोलार की सोने की खानों में शक्ति पहुँचाने के प्रमुख उद्देश्य से मैसूर सरकार ने कावेरी नदी पर शिवसमुद्रम् के पास प्रथम पनबिजली संयत्र स्थापित किया (१९०२)। तब से बंगलौर और मैसूर शहरों तथा मैसूर राज्य के लगभग २०० अन्य नगरों और गाँवों में शिवसमुद्रम से विद्युत्-शक्ति पहुँचाई जाने लगी है। उसके बाद काश्मीर-राज्य ने उसी प्रकार का कारखाना झेलम नदी पर बनवाया, जिसमें २०,००० विद्युत-हार्स पावर पैदा करने के लिए पर्याप्त पानी ले जाने की शक्ति है। बम्बई प्रान्त मे पश्चिमी घाट इस प्रकार के कार्यो के लिए विशेष रूप से अनुकूल है। अत. यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि भारत के सबसे बड़े जल-शक्ति के कारखाने वहीं स्थित हैं। भारत के औद्योगिक विकास में टाटा-पनबिजली योजना का समारम्भ एक बहुत बड़ा कदम है। टाटा हाइड्रो इलेक्ट्रिक पावर सप्लाई कम्पनी ने १९१५ मे सबसे पहला काम लोनावला के पास प्रारम्भ किया था। बम्बई के मिलों की अत्यधिक औद्योगिक माँग तब भी पूरी नही हो सकी; अतएव विद्युत्-शक्ति का और विकास करना, और तुरन्त ही करना, बहुत जरूरी था। दूसरी योजना के, जो आन्ध्र घाटी विद्युत् योजना (१९२२) (आन्ध्र वैली पॉवर स्कीम) के नाम से मशहूर है, पूर्णतया विकसित होने पर १००,००० हार्स पावर विद्युत्-शक्ति प्राप्त हो सकेगी। नीलामुला नामक जल-विद्युत् योजना भी टाटा पॉवर कम्पनी द्वारा चालू की गई है (१९२७), जिससे १५,००० हार्स पॉवर बिजली पैदा होने का अनुमान है। कोयना नदी की विस्तृत घाटी में भी टाटा की एक विशाल योजना का निर्माण विचाराधीन है। इन योजनाओं के, जो एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत है तथा जिनकी संयुक्त शक्ति २४६,००० हार्स पावर है, पूरे हो जाने पर बम्बई के आस-पास कोयले के अभाव की कठिनाई पूर्णतया दूर हो जायगी तथा बम्बई मे सार्वजनिक स्वास्थ्य की दशा भी सुधर जायगी। बम्बई की सूती मिलों तथा अन्य कारखानों में १५०,००० हार्स पॉवर बिजली की खपत होती है। बी० बी० एण्ड० सी० आई और जी० आई० पी० रेलवे के बाहरी भाग तथा थाना कल्याण और ग्रेटर पूना बिजली के लिए उपर्युक्त साधन पर निर्भर हैं। पंजाब की प्रसिद्ध मण्डी जल-विद्युत् योजना एक अन्य महत्त्वपूर्ण योजना है जिसके पूर्ण होने पर इतनी अधिक बिजली उत्पन्न हो सकेगी कि अनेक औद्योगिक केन्द्रों के अतिरिक्त दिल्ली जैसे दूरस्थ स्थानों में भी (इस योजना से) बिजली जा सकेगी। यह योजना

१९३३ में कार्यान्वित की गई। मद्रास में भी, जिसे बम्बई की अपेक्षा कोयले की अधिक कठिनाई है, हाल में विद्युत्-शक्ति की उन्नति-सम्बन्धी रोचक प्रयत्न किये गए हैं। मद्रास सरकार द्वारा १९२९ के अन्त में प्रारम्भ की गई पाइकारा विद्युत्-शक्ति योजना सन् १९३३ से काम कर रही है। इस योजना में नीलगिरी पठार से निकलने वाली पाइकारा नदी के जल का प्रयोग किया जाता है। मिट्टूर जल-विद्युत् योजना, जो मिट्टूर सिंचाई योजना से संयुक्त है, अधिक से अधिक ६०,००० हार्स पॉवर बिजली उत्पन्न कर सकती है। यह योजना १९३३ में चालू की गई। तिनेवेली ज़िले में ताम्रपर्णी नदी के झरनों का उपयोग करने के लिए मद्रास सरकार ने १९३८ में पापनाशम नामक जल विद्युत् योजना को भी मञ्ज़ूर किया। अन्य रोचक योजनाएँ उत्तरप्रदेश में गंगा नहर जल विद्युत् योजना (गेंजिज केनाल हाईड्रोइलेक्ट्रिक ग्रिड प्रॉजेक्ट) तथा अन्य योजनाएँ हैं। ये योजनाएँ अनेक नगरों और गाँवों में विद्युत् शक्ति ले जायँगी तथा ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में विशेष सहायता देंगी। गत वर्षों में विद्युत् उपभोक्ताओं की बढ़ती हुई माँग और औद्योगिक विकास की नीति के फलस्वरूप मैसूर सरकार ने शिमला झरने के समीप २३,००० हार्स पावर तथा जोग झरने पर २४,००० हार्स पावर बिजली उत्पन्न करने वाले शक्ति-केन्द्रों, (पावर स्टेशनों) के निर्माण की मञ्ज़ूरी दी। बंगलोर में भारत के सर्वप्रथम हवाई जहाज बनाने के कारखाने की स्थापना सस्ती विद्युत्-शक्ति से बहुत अधिक प्रभावित हुई थी। राज्य के बीच से बहने वाली गोदावरी कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों से लाभ उठाकर हैदराबाद राज्य ने अनेक योजनाओं को प्रारम्भ किया है। २८ फरवरी १९४५ को तुंगभद्रा योजना का उद्घाटन किया गया। यह योजना जिसकी अनुमानित लागत २० करोड़ रुपये है, हैदराबाद और मद्रास सरकार के बीच लगभग ५० वर्षों से होने वाले पत्र-व्यवहार का परिणाम है तथा अकाल का खतरा मिटाने के लिए दोनों राज्यों के संगठित प्रयत्नों का परिणाम है। १९५२ तक इस योजना के पूरे होने की आशा की जाती है।[1] यह मद्रास और हैदराबाद राज्यों में अलग-अलग ५ लाख एकड़ भूमि को सींचेगी। इससे जल-विद्युत्-शक्ति भी पैदा की जायगी। आयोजना के इस भाग से सिंचाई-योजना की अपेक्षा शीघ्र लाभ होगा। औद्योगिक आयोग की सिफारिश के अनुसार भारत सरकार ने जल-विद्युत् की दृष्टि से १९१८ में विस्तृत सर्वेक्षण किया। जल विद्युत्-शक्ति के विकास के सम्बन्ध में इस आपरीक्षण से अनेक रोचक सम्भावनाओं का पता चला। उदाहरणार्थ सिन्ध से पूर्व की ओर बहने वाली सात बड़ी नदियों के बहाव से हिमालय से प्रति हज़ार

---

१. तुंगभद्रा योजना में जलाशय बन चुका है। नहर बनाने का काम अभी जारी है। फाइव ईयर प्लान प्रोग्रेस रिपोर्ट, १९५३-५४, पृ० १२९

उसकी कुल लागत, आगामी वर्षों में उस पर किये जाने वाला व्यय और उसे प्राप्त लाभ के सम्बन्ध में वर्तमान अनुमान इस प्रकार हैं :—

तुंगभद्रा योजना कुल-लागतः ४९६८ लाख रुपया, १९५५-५६ में प्रस्तावित खर्च, ३३१४ लाख रुपया, १९५६ में होने वाले अतिरिक्त लाभ : सिंचाई ३१५००० एकड़; शक्ति की अधिष्ठित क्षमता ३०,००० किलोवाट। देखिए इण्डिया एट ए ग्लान्स (१९५३), पृ० १०८८-९०।

फीट नीचे गिरने के बाद ३० लाख हार्स पावर बिजली उत्पन्न हो सकती है और ऐसी सम्भावनाएँ अन्य नदियों के बारे में भी है। जल विद्युत् योजनाएँ केवल कारखानों को ही विद्युत् प्रदान नही करेंगी वरन् उनसे सिंचाई की सुविधा भी बढ़ेगी।[1]

हम उस समय का स्वप्न देख सकते है, जब जल-विद्युत्-शक्ति केन्द्रों के समीप के सारे गाँव, ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए तथा अन्य ग्रामीण सुविधाओं के लिए विद्युत्-शक्ति प्राप्त कर सकेंगे।[2] भारत में अधिकांश जल-विद्युत् योजनाओं के लिए आवश्यक लम्बी रकम इन लक्ष्यों की प्राप्ति ने बाधक है। यहाँ वर्षा एक ही ऋतु में होती है, अतः तालाबों पर बहुत सा खर्च अनिवार्य होता है। इस प्रकार लगाई हुई लागत के कारण काफी सस्ती बिजली देना अत्यन्त कठिन हो जाता है। बम्बई जैसे औद्योगिक केन्द्रों में भी, जहाँ कोयला मँहगा है जलविद्युत् सापेक्षिक दृष्टि से विशेष सस्ती नही है।[3] विज्ञान अथवा नियोजन और वित्त के सम्बन्ध में हमारे विचार, जिनमें युद्धकाल में अनेक तेजी से परिवर्तन हुआ, कहाँ तक इस कठिनाई को दूर कर सकेंगे, यह केवल भविष्य ही बता सकता है।

४४. समृद्ध देश के निर्धन निवासी—उपर्युक्त वर्णन से भारत के प्राकृतिक साधनों की समद्धि और विविधता स्पष्ट है। यह एक साधारण कथन है कि प्रकृति ने उदारतापूर्वक भारत को अपने उपहार प्रदान किये हैं, परन्तु भारतीय उससे समुचित लाभ नही उठा सके। प्राकृतिक विपुलता और मानव-निर्धनता की यह विषमता कैसी विडम्बना है! इस कथन का यही कारण है जो अब एक कहावत-सा बन चुका है कि भारत निर्धनों से बसा हुआ एक समृद्ध देश है।

---

१. देश में जल-विद्युत् की उन्नति सम्बन्धी आधुनिकतम स्थिति इस प्रकार है। प्रत्येक वर्ष की १ जनवरी को अधिष्ठित क्षमता। १९५१—५५६,२८५, १९५२—५७५,१७६, १९५३—७१५,१७६, १९५४—७३१,१७६—देखिए, फाइव ईयर प्लान प्रोग्रेस रिपोर्ट, १९५३-५४, पृ० १४८।

२. सन् १९४५ में दिल्ली में हुई इन्स्टीट्यूट ऑफ इंजीनियर्स की एक बैठक में भारत सरकार के विद्युत् कमिश्नर ने कहा कि भारत में उत्पन्न की जाने वाली कुल विद्युत् शक्ति यूनाइटेड स्टेट्स के विद्युत् शक्ति के साप्ताहिक उत्पादन के बराबर है। भारत की तुलना में यहाँ प्रति व्यक्ति विद्युत् का प्रयोग १८० गुना है (इंगलिस्तान में यह सौ गुना है)।

३. 'जब कोई सदा बहने वाला झरना किसी औद्योगिक केन्द्र के निकट स्थित होता है तभी रासायनिक और धातु-शोधक विधियों के लिए जल-विद्युत् सस्ती पड़ती है।'—श्री० जे० वीसुगर के ७ फरवरी १९४५ के रेडियो-भाषण से।

अध्याय ३

जनसंख्या

१. कुल जनसंख्या—सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या का अनुमान ३५६,८७९,३९४ था। सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार अविभाजित भारत की जनसंख्या ३८८,९९७,९५५ थी, जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों की जनसंख्याएँ भी सम्मिलित थीं।[1] सन् १९४१-'५१ भारत के लिए एक महत्त्वपूर्ण दशक था। इस दशक में ही भारत का विभाजन हुआ। निम्नलिखित तालिका सन् १९३१, १९४१ और सन् १९५१ के बीच हुए परिवर्तनों को स्पष्ट कर रही है।

	१९३१	१९४१	१९५१
कुल संख्या	३३·८ करोड़	३८·९ करोड़	३५·६ करोड़
पुरुष	१७·४ ,,	२०·१ ,,	१८·३ ,,
स्त्री	१६·४ ,,	१८·८ ,,	१७·३ ,,
शहरी	३·७ ,,	५·० ,,	६·१ ,,
ग्रामीण	३०·१ ,,	३३·९ ,,	२९·५ ,,
साक्षर	२·३ ,,	४·७ ,,	६·० ,,

२. घनत्व निर्धारित करने वाले तत्त्व—जनसंख्या का घनत्व (अर्थात् प्रति वर्गमील पर आश्रित व्यक्तियों की संख्या) जलवायु, जान-माल की सुरक्षा, आराम का स्तर, आर्थिक साधन तथा आर्थिक विकास की अवस्था पर निर्भर होता है। दूसरे शब्दों में जनसंख्या का घनत्व बाह्य परिस्थितियों और मनुष्यों द्वारा उनके प्रयोग पर निर्भर होता है। अन्य बातों के समान रहने पर यदि आर्थिक साधन बहुतायत से हों तो

१. जनसंख्या की वृद्धि जानने के लिए निम्नलिखित आँकड़े रोचक सिद्ध होंगे।

वर्ष	अविभाजित भारत (दस लाख)	भारत संघ का क्षेत्र (दस लाख)
१९०१	२८३·४	२३८·४
१९११	३०३·०	२५२·३
१९२१	३०५·७	२५१·७
१९३१	३३८·१	२७९·२
१९४१	३८९·०	३१८·९
१९५१	—	३५६·८

—इंडिया एट ए ग्लान्स, पृ० ९९ (१९५३)

स्पष्ट ही किसी देश में आर्थिक साधनों के कम होने की स्थिति की तुलना में जनसंख्या का घनत्व अधिक होगा। इसी प्रकार अन्य बातों के समान रहने पर यदि कोई जाति अपनी सभ्यता की कलाओं में आगे बढ़ी हुई है तो उसकी घनी जनसंख्या को आश्रय देने की क्षमता भी अधिक होगी। गहरी खेती वाले, अत्यधिक व्यापारिक और उद्योगीकृत देशों में सामान्यतः जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है, उदाहरणार्थ इंगलैण्ड और वेल्स (७१२), बेल्जियम (७१२)। एक नितान्त खेतिहर देश सामान्यतः कहीं कम जनसंख्या को आश्रय देगा। भारत का प्रधानतः खेतिहर होना ही यहाँ की जनसंख्या के औसत घनत्व के कम होने को स्पष्ट करता है।

पुनः, कृषि-युग की तुलना में पशुचारण युग प्रति वर्गमील कम मनुष्यों को आश्रय दे सकता है, तथा आखेट-युग उससे भी कम मनुष्यों को। एक खेतिहर देश में जनसंख्या का घनत्व खेती के स्वरूप पर भी निर्भर होगा।

प्रति वर्गमील पर आश्रित व्यक्तियों की संख्या का कोई विशेष महत्त्व नहीं है जब तक कि उससे सम्बन्धित जनसंख्या के आराम के स्तर को भी ध्यान में न रखा जाय। उदाहरणार्थ बंगाल में जनसंख्या का घनत्व (७७९) बेल्जियम या इंगलैण्ड और वेल्स के घनत्व से अधिक है। परन्तु आर्थिक क्षेम के दृष्टिकोण से बंगाल और इन देशों के मध्य कोई तुलना ही नहीं है। बंगाल में जनसंख्या का घनत्व केवल अत्यधिक निर्धनता का द्योतक हो सकता है, क्योंकि बंगाल प्रधानतः एक खेतिहर प्रदेश है। अनुमान किया गया है कि अच्छी परिस्थितियों में भी आराम के एक समुचित स्तर पर कृषि प्रति वर्गमील २५० से अधिक व्यक्तियों को आश्रय नहीं दे सकती।

३. घनत्व तथा समृद्धि—सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार समस्त भारत की जनसंख्या का औसत घनत्व ३१२ प्रति वर्गमील है। तुलना के लिए कुछ अन्य देशों की जनसंख्या के औसत घनत्व के आँकड़े नीचे दिये जा रहे हैं।

बेल्जियम	७१२ (१९३८)	नीदरलैण्ड्स	६८६·५ (१९३८)
इंगलैण्ड और वेल्स	७१२ (१९३१)	जापान	४६९·० (१९३५)

यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका ४४·२ (१९४०)

औसत घनत्व से आर्थिक स्थिति के बारे में कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ इंगलैण्ड और वेल्स का घनत्व बंगाल के घनत्व के बराबर है, परन्तु इंगलैण्ड और वेल्स निस्सन्देह बंगाल से अधिक समृद्धिशाली हैं। इसके विपरीत यूनाइटेड स्टेट्स तथा इंगलैण्ड और वेल्स के घनत्वों में बहुत अन्तर है, परन्तु यह अन्तर उनकी आर्थिक स्थिति की समानता में कोई रुकावट नही डालते। जनसंख्या के घनत्व और आर्थिक स्थिति में यदि कोई सम्बन्ध है, तो उसे जानने के लिए हमें प्रत्येक देश का अलग से अध्ययन करना पड़ेगा। नीचे दी हुई तालिकाओं में (i) सन् १९०१ से प्रत्येक दशाब्दी में भारत तथा प्रान्तों के घनत्व की वृद्धि, (ii) प्रतिशत परिवर्तन, और (iii) कुछ प्रान्तों की घनत्व की वृद्धि के तुलनात्मक आँकड़े दिखाए गए हैं।[१]

१. सेन्सस रिपोर्ट (१९४१) खण्ड १, भाग १, पृ० ६९ पर ही दी हुई तालिकाओं में सन् १९५१ की जनगणना के आँकड़े भी सम्मिलित कर दिये गए हैं।

तालिका एक : औसत घनत्व

	१९०१	१९११	१९२१	१९३१	१९४१	१९५१
भारत	१७९	१९१	१९३	२१३	२४६	३१२
राज्य	२५४	२६७	२६९	२९६	३४१	—

तालिका दो : प्रतिशत परिवर्तन

	भारत	राज्य
१९०१—११	+६.७	+५.०
१९११—२१	+०.९	+०.८
१९२१—३१	+१०.६	+९.९
१९३१—४१	+१५.०	+१५.२
१९०१—४१	+३७.०	+३४.१
१९०१—५१	+७४.३[1]	—

तालिका तीन

राज्य	घनत्व, प्रति वर्ग मील				प्रतिशत परिवर्तन
	१९०१	१९३१	१९४१	१९५१	१९०१–५१
मद्रास	२८७	३५०	३९१	४४६	+५५.४
बम्बई	२००	२३५	२७२	३२३	+६१.५
बगाल	५२९	६२७	७७९	८०६[2]	+५२.४
पजाब	२०१	२३८	२८७	३३८	+६८ २
बिहार	४०५	४६४	५२१	५७२	+४१.२
सी० पी० और बरार	१२०	१५६	१७०	१९३	+३५.८
सिक्किम	२१	४०	४४	५०	+१३८.१

उपर्युक्त तीसरी तालिका राज्यों के बीच घनत्व का अत्यधिक परिवर्तन दिखा रही है।

जनसंख्या के घनत्व पर असर डालने वाले अनेक कारणो मे से किसी एक कारण द्वारा इन असमानताओं को स्पष्ट नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ यह कहना गलत होगा कि भारत में मुख्यतया वर्षा ही घनत्व को निश्चित करती है। एक सीमा के बाद लाभदायक होना तो दूर की बात है, वर्षा निश्चय ही हानिकारक हो जाती है। भारत के अधिकांश भागों में यदि वर्षा का वितरण उचित रूप से हो तो अनुकूलतम परिस्थितियों के लिए वर्ष में ४० इंच की औसत वर्षा की आवश्यकता है। जब वर्षा

१. यह प्रतिशत परिवर्तन अविभाजित भारत (सन् १९०१) तथा विभाजित भारत के (सन् १९५१) घनत्वों का है, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

२. पश्चिमी बंगाल के लिए है।

इससे कम होती है या उसका वितरण अत्यन्त असमान होता है, तभी कृषि पर वर्षा की मात्रा का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है; और इस प्रकार घनत्व पर भी। जहाँ तक कृषि की सफलता पानी पर निर्भर है, वहाँ तक सिंचाई का प्रभाव भी वर्षा के समान ही होगा और इसलिए सिंचाई घनत्व निर्धारित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि सिंचाई का प्रभाव कुल भारत के एक बहुत छोटे भाग पर ही पड़ता है, इसका घनत्व पर सामान्य प्रभाव नहीं के बराबर है। यदि सम्पूर्ण देश की दृष्टि से विचार किया जाय तो उसकी आकृति बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण कारण है। दूसरी बातों के एक-सा रहने पर सफल कृषि अधिकांश में पृथ्वी-तल की आकृति पर निर्भर रहती है। वह जहाँ समतल है वहाँ भूमि के हर इंच पर खेती की जा सकती है परन्तु जहाँ भूमि ऊँची-नीची या ढलवां है वहाँ कृषि कठिन और अनिश्चित हो जाती है, भले ही निचले ढाल बहुत उपजाऊ हों। सम्पूर्ण भारत में सबसे घने बसे हुए भाग समतल मैदान हैं; उदाहरणार्थ बंगाल, पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग में पूर्वी किनारे के निचले भाग। उपजाऊ भूमि तथा पर्याप्त वर्षा वाले विस्तृत मैदान स्पष्ट ही ऊँचे घनत्व के अनुकूल हैं, जैसे बंगाल तथा उत्तरप्रदेश।

इन बातों में परिस्थितियों का इतना अनुकूल न होना ही बम्बई के अपेक्षाकृत कम घनत्व को स्पष्ट करता है। कभी-कभी प्रतिकूल जलवायु के कारण अन्य सारे लाभ व्यर्थ हो जाते हैं जिससे घनत्व अपेक्षाकृत कम हो जाता है जैसा कि आसाम में है।

आवश्यक वर्षा के साथ ही भूमि का स्वरूप एक महत्त्वपूर्ण कारण बन जाता है। भारत में उसका स्वयं कोई विशेष महत्त्व नही है। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े क्षेत्रों को लिया जाय तो घनत्व के अन्तर इतने सूक्ष्म हैं कि उन पर विचार नहीं किया जा सकता।

घनत्व के सम्बन्ध में ये असमानताएँ कुछ सीमा तक भारतीयों की घर पर ही रहने की प्रवृत्ति तथा देश के अन्दर ही प्रवास-सम्बन्धी अन्य कठिनाइयों के कारण भी हैं। दिल्ली (घनत्व प्रति वर्गमील = १,६०२) की स्थिति अपनी तरह की है, जहाँ दिल्ली नगर की जनसंख्या राज्य की कुल जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग है।[1]

४. धर्म तथा जाति के आधार पर जनसंख्या का वितरण—सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत में प्रत्येक १०,००० व्यक्तियों में ८,४९९ हिन्दू, १७४ सिक्ख, ४५ जैन, ६ बौद्ध, ३ पारसी, २३० ईसाई, ९९३ मुसलमान तथा ५० अन्य धर्मावलम्बी हैं।

सरकार की जातीय विभेद कम करने की नीति के अनुसार सन् १९५१ की जनगणना में जाति-सम्बन्धी सूचना कुछ विशेष वर्गों के लिए ही एकत्रित की गई है।

१. जैसा पहले कहा जा चुका है जनसंख्या का घनत्व भूमि का स्वरूप, वर्षा, जलवायु आदि कारणों पर निर्भर होता है। अत: घनत्व की समस्या के उचित अध्ययन के लिए देश के राजनीतिक विभाग उतने उपयुक्त नहीं हैं जितने कि प्राकृतिक विभाग। इस बात को ध्यान में रखकर सन् १९५१ की जनगणना में जनसंख्या के घनत्व के दृष्टिकोण से देश को १५ उपविभागों में बाँटा गया जिन्हें पुनः तीन क्षेत्रों—ऊँचे, मध्यम तथा कम घनत्व वाले क्षेत्र—में वर्गीकृत किया गया। नीचे हम इन क्षेत्रों और उपविभागों का घनत्व दे रहे हैं :

इसमें वे वर्ग शामिल है जिनका उल्लेख संविधान में किया गया है। अनुसूचित जाति, पिछड़ी हुई जाति, अनुसूचित आदिम जाति के सदस्य तथा आंग्ल-भारतीय विशेष वर्ग में सम्मिलित किये जाते हैं। संविधान के अनुच्छेद ३१४ तथा ३४२ के अन्तर्गत राष्ट्रपति के आदेशानुसार अण्डमन, चन्द्रनगर और सिक्किम में कोई अनुसूचित जातियाँ नहीं थीं, अतः सन् १९५१ की जनगणना में चन्द्रनगर तथा सिक्किम के लिए पश्चिमी बंगाल की अनुसूचित आदिम जाति-सम्बन्धी सूची का ही प्रयोग किया गया।

नीचे दी हुई तालिका में भारत में विभिन्न धर्मावलम्बियों की संख्या दी हुई है :

धर्म	संख्या (लाखों में)
हिन्दू	३,०३२
सिक्ख	६२
जैन	१६
बौद्ध	२
पारसी	१
ईसाई	८२
मुसलमान	३५४
अन्य धर्म (आदिम जातीय)	१७
अन्य धर्म (ग़ैर आदिम जातीय)	१

अधिक घनत्व वाले क्षेत्र उपविभाग	घनत्व प्रति वर्गमील	कम घनत्व वाले क्षेत्र उपविभाग	घनत्व प्रति वर्गमील
१. गङ्गा का नीचे का मैदान	८३२	६. रेगिस्तान	६१
२. गङ्गा का ऊपर का मैदान	६८१	७. पश्चिमी हिमालय	६८
३. मलाबार कोंकण	६३८	८. उत्तर-पश्चिमी पहाड़ियाँ	१६३
४. दक्षिणी मद्रास	५५४	९. पूर्वी हिमालय	११८
५. उत्तरी मद्रास और तटीय उड़ीसा	४६१	१०. उत्तरी एवं मध्य की पहाड़ियाँ और पठार	१६४
सम्पूर्ण क्षेत्र का घनत्व	६६०	११. उत्तर-पूर्वी पठार	१९२
		सम्पूर्ण क्षेत्र का घनत्व	१२९

मध्य घनत्व वाले क्षेत्र उपविभाग	घनत्व प्रति वर्गमील
१२. गङ्गा पार का मैदान	३३२
१३. दक्खिन का दक्षिणी भाग	२४७
१४. दक्खिन का उत्तरी भाग	२४६
१५. गुजरात काठियावाड़	२२६
सम्पूर्ण क्षेत्र का घनत्व	२६६

सेन्सस ऑफ इण्डिया; वाल्यूम १, पार्ट १—A रिपोर्ट, अध्याय १.

विशेष वर्गों के सम्बन्ध में आँकड़े इस प्रकार हैं :

आँग्ल भारतीय	१,११,६३७
अनुसूचित जाति	५,१३,४३,८९८[1]
अनुसूचित आदिम जाति	१,९१,१६,४९८[1]

	अनुसूचित जाति	अनुसूचित आदिम जाति
चन्द्रनगर	५,४५७	१३७
सिक्किम	११२	२९,४२९

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अनुयायियों की संख्या के अनुपात से भारत में धर्मों का क्रम इस प्रकार है : हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, अन्य धर्म (आदिम जातीय), जैन, बौद्ध, पारसी तथा अन्य धर्म (ग़ैर आदिम जातीय)। हिन्दू धर्म के अनुयायियों की संख्या सबसे अधिक है। विभाजन के पश्चात् भी भारत में दूसरा मुख्य धर्म इस्लाम ही है। इस्लाम धर्म के अनुयायी मुख्यतः उत्तर भारत में ही फैले हुए हैं। सिक्ख मुख्यतया पंजाब में हैं। जैन अधिकतर राजस्थान, अजमेर मेरवाड़ा और बम्बई प्रान्त में हैं। आदिम जाति के लोग मुख्यतया आसाम, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश बम्बई में फैले हुए हैं। आधे से अधिक ईसाई दक्षिण भारत में ही रहते हैं। पारसियों का मुख्य निवास-स्थान बम्बई है।

९. व्यवसाय के आधार पर जनसंख्या का वितरण—हमारे देश की ७०% जनसंख्या कृषि पर निर्भर है तथा शेष ३०% व्यक्ति दूसरी वृत्तियों से जीविकोपार्जन करते हैं। सौराष्ट्र, कच्छ, अजमेर, दिल्ली तथा अण्डमन और निकोबार द्वीपों को छोड़कर सारे भारत में कृषि प्रधान जीविका है। पश्चिमी बंगाल तथा बम्बई में भी, जो उद्योगों में कहीं अधिक बढ़े-चढ़े हैं, कृषिकर जनसंख्या का अनुपात कृषि-इतर जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक है, यद्यपि अन्य राज्यों की तुलना में वहाँ कृषि-इतर जनसंख्या का अनुपात बहुत कम है।

हर १०० भारतीयों में, आश्रितों को सम्मिलित करने पर, ४७ भूस्वामी कृषक, ९ लगान देने वाले कृषक, १३ भूमिहीन मजदूर और १ (भूमिधर) है जबकि उद्योगों एवं कृषि-इतर उत्पादन कार्यों में १०, वाणिज्य में ६, परिवहन में २, तथा अन्य सेवाओं और वृत्तियों में १२ व्यक्ति लगे हुए हैं। नीचे दी हुई तालिका में जीविकाओं के दो बड़े विभागों तथा उनके आठ उपविभागों के अन्तर्गत स्वावलम्बी, अर्जन न करने वाले आश्रित और अर्जन करने वाले आश्रितों की संख्या दिखाई गई है :

१. इन आँकड़ों में चन्द्रनगर और सिक्किम की जनसंख्या सम्मिलित नहीं है।

कृषीय	स्वावलम्वी	अर्जन न करने वाले आश्रित	अर्जन करने वाले आश्रित	कुल योग (लाखों में)
वे कृषक जो पूर्णतः या मुख्यतः भूमि के स्वामी हैं	४५८	१००१	२१४	१६७३
वे कृषक जो भूमि के बिलकुल स्वामी नहीं हैं या केवल आंशिक रूप से ही स्वामी हैं	८८	१८६	३६	३१६
कृषि करने वाले मजदूर	१४६	२४६	५३	४४८
कृषि करने से हुए भूस्वामी[1] तथा कृषि-लगान पाने वाले व्यक्ति	१६	३३	४	५३
योग	७११	१४६६	३१०	२४६०
गैर-कृषीय				
कृषि-इतर उत्पादन	१२२	२२४	३१	३७७
वाणिज्य	५६	१४५	६	२१३
परिवहन	१७	३६	३	५६
अन्य सेवाएँ और साधन	१३६	२६८	२६	४३०
योग	३३४	६७३	६६	१०७६

कृषि-इतर विभाग के अन्तर्गत स्वावलम्बी व्यक्तियों की संख्या ३३४ लाख है। इनमें चार प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित हैं: नियोक्ता, स्वयं-नियोज्य, नियोज्य तथा निवृत्ति-वेतन, लगान आदि पाने वाले व्यक्ति। इनकी संख्या क्रमशः ११ लाख, १६५ लाख, १४८ लाख तथा १० लाख है। यदि नियोक्ताओं को छोड़ दिया जाय तो शेष स्वावलम्बी व्यक्ति उद्योग और सेवाओं के निम्न दस वर्गों में विभिन्न अनुपातों में बँटे हुए हैं जिसे नीचे दी हुई तालिका स्पष्ट कर रही है :

१. कृषि करते हुए भूस्वामी (Cultivating owners of land) से तात्पर्य उन कृषकों से है जो भूमि के स्थायी काश्तकार हैं और जिनसे भूमि छुड़ाई नहीं जा सकती। इस प्रकार कृषि करने से ही वे उसके स्वामी हैं, यद्यपि कानूनन वे उसके स्वामी नहीं हैं।

उद्योगों और सेवाओं का विभाजन	संख्या (लाखों में)	प्रतिशत
१. कृषि के अतिरिक्त अन्य प्राथमिक उद्योग, खानों तथा पत्थर की खानों की खुदाई	२४	७·४
२. खानों तथा पत्थर की खानों की खुदाई	५·७	१·८
३. विधायन और निर्माण—खाद्य पदार्थ, कपड़ा, चमड़ा तथा उनकी अन्य उत्पत्ति	५५·१	१७·०
४. विधायन और निर्माण—धातुएँ, रासायनिक पदार्थ और उनकी उत्पत्ति आदि	१२·४	३·८
५. विधायन और निर्माण—जिसे अन्यत्र सम्मिलित नहीं किया गया है।	२४·३	७·५
६. सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाएँ और निर्माण	१५·६	४·६
७. वाणिज्य	५६·०	१८·२
८. परिवहन, भाण्डागार और यातायात	१६·०	५·६
९. स्वास्थ्य, शिक्षा तथा सार्वजनिक प्रशासन	३२·६	१०·२
१०. सेवाएँ, जिन्हें अन्यत्र सम्मिलित नहीं किया गया है।	७५·४	२३·३
योग	३२३·७	१००·०

उपर्युक्त आँकड़ों की तुलना सन् १९३१ तथा उससे पूर्व की जनगणना में एकत्रित आँकड़ों से दी जा सकती है। (सन् १९४१ में इस प्रकार के आँकड़े एकत्रित नहीं किये गए थे।) इसके अतिरिक्त ये आँकड़े राष्ट्र-संघ की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संस्था द्वारा स्वीकृत योजना के अनुसार अन्य देशों में एकत्र किये हुए आँकड़ों से भी तुलना योग्य हैं।

भारत में १००० स्वावलम्बी अपने-आपको एवं २५०४ अन्य व्यक्तियों को आश्रय देते हैं। इन २५०४ व्यक्तियों में कमाने वाले आश्रितों की संख्या ३७३ और निवृत्ति-वेतन और लगान पाने वालों की संख्या २६ है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में १००० स्वावलम्बियों पर १५४७ व्यक्ति ही आश्रित हैं और इंगलैण्ड में प्रति १००० आश्रितों की संख्या केवल १२०७ ही है। भारत में आश्रितों की अधिकता का एक प्रमुख कारण १५ वर्ष से कम आयु की जनसंख्या का अधिक अनुपात है। प्रति १००० स्वावलम्बियों में १४ वर्ष या उससे कम आयु वालों की संख्या भारत में १,३१७ तथा संयुक्तराष्ट्र अमेरिका और इंगलैंड में क्रमशः ७०२ तथा ४९६ है।[1]

दुनिया के सभ्य देशों की तुलना में भारत में कृषि पर निर्भर व्यक्तियों का प्रतिशत सबसे अधिक है तथा उद्योग, परिवहन, व्यापार आदि में लगे हुए व्यक्तियों

१. सेन्सस ऑफ इण्डिया—वलयूम १. पार्ट १-A रिपोर्ट, पृ० ११६

का प्रतिशत सबसे कम। उदाहरण के लिए इंगलैण्ड में प्रति १००० व्यक्तियों में ५० व्यक्ति कृषि में लगे थे तथा शेष ९५० व्यक्ति खानों, निर्माण, वाणिज्य तथा अन्य उद्योगों और व्यवसायों में थे जबकि भारत में सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार प्रति १००० व्यक्तियों में ७०६ व्यक्ति कृषि में तथा २९४ व्यक्ति खानों, निर्माण, वाणिज्य तथा अन्य उद्योगों और सेवाओं में लगे थे।

इतनी अधिक सीमा तक कृषि पर निर्भर रहने वाले देश की आर्थिक व्यवस्था अवश्य ही अस्थिर होगी। कृषि पर निर्भर रहने का अर्थ वर्षा पर निर्भर रहना है, और यदि वर्षा नही होती तो व्यापक रूप से देश पर संकट आ जाता है। यदि देशवासियों का अधिकांश भाग कृषि पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर न हो तो ऐसा नही होगा। सन् १८८० के दुर्भिक्ष आयोग ने स्थिति का सही निदान करते हुए ठीक ही कहा था कि भारतवासियों की गरीबी तथा उन पर आने वाले जोखिमों का मूल यह दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति है कि कृषि ही अधिकांश जनता का एकमात्र धन्धे का साधन है। इस संकट से बचने के लिए उन्होंने निर्माण उद्योगों के विकास की सिफारिश की। सचमुच देश के आर्थिक साधनों के सर्वतोमुखी विकास के साथ-साथ व्यवसायों का सम वितरण अत्यधिक वांच्छित है।

६. नगरों तथा गाँवों में जनसंख्या : कृषि की प्रधानता ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों मे वितरित जनसंख्या में भी झलकती है। सन् १९३१ की जनगणना मे सन् १९२१ की तुलना में शहरी जनसंख्या १०·२ प्रतिशत से बढ़कर ११ प्रतिशत हो गई। सन् १९४१ में कुछ और वृद्धि हुई और जनसंख्या १२·८ प्रतिशत हो गई। सन् १९५१ में यह प्रतिशत १७·३ हो गया। कुल जनसंख्या तथा ग्रामीण जनसंख्या के परिवर्तनों का घनिष्ठ सम्बन्ध तथा शहरी जनसंख्या और कुल जनसंख्या के परिवर्तनों के सम्बन्ध का इसका विपरीत होना शहरी जनसंख्या के कम अनुपात का द्योतक है।

सन् १९४१ की शहरी जनसंख्या की तुलना में सन् १९५१ की शहरी जनसंख्या में २२ प्रतिशत वृद्धि हुई है, परन्तु ग्रामीण जनसंख्या १३ प्रतिशत कम हो गई है। इसका कारण भारत का विभाजन है जिसके फलस्वरूप काफी ग्रामीण क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए। बड़े- बड़े शहरों जैसे कलकत्ता, दिल्ली, बम्बई आदि के भारत में ही रहने के अतिरिक्त पाकिस्तान में शहरी क्षेत्रों के अपेक्षाकृत कम आने के कारण विभाजित भारत की शहरी जनसंख्या सन् १९४१ की तुलना में बढ़ गई है। भारत अब भी प्रधानतः गाँवों का देश है तथा उसकी ८२·७ प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में ही रहती है।[1]

दिल्ली और अजमेर के मोटे राज्यों को छोड़कर जहाँ शहरी जनसंख्या क्रमशः ८३ तथा ४३ प्रतिशत है, अन्य राज्यों में वह ४·१ प्रतिशत (उड़ीसा), ४·६ प्रतिशत (आसाम), ६·७ प्रतिशत (बिहार), ३१ प्रतिशत (बम्बई), तथा ३४ प्रतिशत

१. सन् १९५१ की जनगणना में सारे देश को २५ वर्गमील के 'ग्राम-समूहों' में बाँटा गया था। सारे देश में ऐसे ४७,०७४ ग्राम-समूह थे। भारत के ६ भागों में एक सामान्य ग्राम-समूह में, ग्राम एवं ग्रामीणों की संख्या निम्न प्रकार थी :

(सौराष्ट्र) है ।[1]

भारत की १७·३ प्रतिशत शहरी जनसंख्या की तुलना में फ्रांस में ४९ प्रतिशत, उत्तरी आयरलैण्ड में ५०·८ प्रतिशत, कनाडा में ५३·७ प्रतिशत, संयुक्तराज्य अमरीका में ५६·२ प्रतिशत तथा इंगलैंड और वेल्स में ८० प्रतिशत शहरी जनसंख्या है ।[2]

नीचे दी हुई तालिका में वे शहर दिये हुए हैं जिनकी जनसंख्या एक लाख से अधिक है । इस समय भारत में ७३ शहरों की जनसंख्या एक लाख या उससे अधिक है। तालिका में इन शहरों की सन् १९४१ की जनसंख्या भी दी गई है।

राज्य और नगर (पार्ट ए राज्य)	सन् १९५१ की जनसंख्या	सन् १९४१ की जनसंख्या	दस वर्षीय औसत वृद्धि (१९४१-१९५१)
बिहार			
१. पटना	२,८३,४७९	१,९६,४१५	+३६·३
२. जमशेदपुर	२,१८,१६२	१,६५,३९५	+२७·५
३. गया	१,३३,७००	१,०५,२२३	+२३·८
४. भागलपुर	१,१४,५३०	९३,२५४	+२०.५
५. राँची	१,०६,८४९	६२,५६२	+५२·३
बम्बई			
१. बम्बई	२८,३९,३७०	१६,९५,१६८	+५०·५
२. अहमदाबाद	७,८८,३३३	५,९१,२६७	+२८·६
३. पूना	४,८०,९८२	२,७८,१६५	+५३·४
४. शोलापुर	२,६६,०५०	२,०३,६९१	+२६·६
५. सूरत	२,२३,१८२	१,७१,४३४	+२६·२
६. बड़ोदा	२,११,४०७	१,५३,३०१	+३१·९

एक 'ग्राम-समूह' में ग्राम एवं ग्रामीणों की संख्या

	ग्रामों की संख्या	ग्रामीणों की संख्या (हजारों में)
उत्तरी भारत	२५	१२.२
पूर्वी भारत	१८	७·८
दक्षिणी भारत	९	९·०
पश्चिमी भारत	७	५·०
मध्य भारत	९	३·९
उत्तर-पश्चिमी भारत	८	३·६
भारत	१२	६·३

१. भारत में शहरी जनसंख्या ६१९ लाख है जो ग्रेट ब्रिटेन या फ्रांस की कुल जनसंख्या से भी अधिक है । शहरी जनसंख्या के अनुपात के क्रम में भारत के भाग निम्न प्रकार से हैं : पश्चिमी भारत (३१·२ प्रतिशत), उत्तर-पश्चिमी भारत (२१·४ प्रतिशत), दक्षिणी भारत (१९·७ प्रतिशत), मध्य भारत (१५·८ प्रतिशत) और उत्तर भारत (१३·६ प्रतिशत) तथा पूर्वी भारत (११·१ प्रतिशत) ।

२. सेन्सस ऑफ़ इंडिया १९५१, खण्ड १, A रिपोर्ट, अध्याय २, तथा इंडिया १९५४, पृ० १५ ।

७. कोल्हापुर	१,३६,८३५	९३,०३२	+३८·१
८. हुब्ली	१,२९,६०९	९५,५१२	+३०·३
मध्य प्रदेश			
१. नागपुर	४,४९,०९९	३,०१,९५७	+३९·२
२. जबलपुर	२,५६,९९८	१,७८,३३९	+३६.१
मद्रास			
१. मद्रास	१४,१६,०५७	७,७७,४८१	+५८.५
२. मदुरई	३,६१,७८१	२,३९,१४४	+४०·८
३. तिरुचिरापल्ली	२,१८,९२१	१,५९,५६६	+३१·४
४. सलेम	२,०२,३३५	१,२९,७०२	+४३.८
५. कोयम्बटूर	१,९७,७५५	१,३०,३४८	+४१·१
६. **विजयवाड़ा**	१,६१,१९८	८६,१८४	+६०·६
७. कोज़हकोड	१,५८,७२४	१,२६,३५२	+२२·७
८. **गुंटूर**	१,२५,२५५	८३,५९९	+३९·९
९. **मंगलोर**	१,१७,०८३	८१,०६९	+३६.३
१०. **विशाखापटनम**	१,०८,०४२	७०,२४३	+४२·४
११. **वैलोर**	१,०६,०२४	७१,५०२	+३८·९
१२. **राजामुन्दरी**	१,०५,२७६	७४,५६४	+३४·२
१३. **तंजोर**	१,००,६८०	६८,७०२	+३७·८
उड़ीसा			
१. कटक	१,०२,५०५	७४,२९१	+३१·९
पंजाब			
१. अमृतसर	३,२५,७४७	३,९१,०१०	—१८·२
२. जालन्धर	१,६८,८१६	१,३५,२८३	+२२·१
३. लुधियाना	१,५३,७९५	१,११,६३९	+३१·८
उत्तर प्रदेश			
१. कानपुर	७,०५,३८३	४,८७,३२४	+३६·६
२. लखनऊ	४,९६,८६१	३,८७,१७७	+२४·८
३. आगरा	३,७५,६६५	२,८४,१४९	+२७.७
४. बनारस	३,५५,७७७	२,६३,१००	+३०·०
५. इलाहाबाद	३,३२,२९५	२,६०,६३०	+२४·२
६. मेरठ	२,३३,१८३	१,६९,२९०	+३१·८
७. बरेली	२,०८,०८३	१,९२,६८८	+ ७·७
८. मुरादाबाद	१,६१,८५४	१,४२,४१४	+१२·८
९. सहारनपुर	१,४८,४३५	१,०८,२६३	+३१.३
१०. **देहरादून**	१,४४,२१६	७८,२२८	+५९·३

११. अलीगढ़	१,४१,६१८	१,१२,६५५	+२२.८
१२. **रामपुर**	१,३४,२७७	८६,३२२	+४०·२
१३. **गोरखपुर**	१,३२,४३६	९८,९७७	+२८·९
१४. झाँसी	१,२७,३६५	१,०३,२५४	+२०·९
पश्चिमी बंगाल			
१. कलकत्ता	२५,४८,६७७	२१,०८,८९१	+१८·९
२. हावड़ा	४,३३,६३०	३,७९,२९२	+१३·४
३. **टॉलीगंज**	१,४९,३१७	५८,५९४	+८७.५
४. भटपारा	१,३४,९१६	१,१७,०४४	+१४·२
५. **खडगपुर**	१,२९,६३६	८७,१८५	+३९·२
६. **गार्डन रीच**	१,०९,१६०	८५,१८८	+२४·७
७. **साउथ सबर्बन (बेहाला)**	१,०४,०५५	६३,४७९	+४८·४
(पार्ट बी राज्य)			
हैदराबाद			
१. हैदराबाद	१०,८५,७२२	७,३९,१५९	+३८·०
२. **वारंगल**	१,३३,१३०	९२,८०८	+३५·७
मध्य भारत			
१. इन्दौर	३,१०,८५९	२,०३,६९५	+४१·७
२. ग्वालियर	२,४१,५७७	१,८२,४९२	+२७·९
३. **उज्जैन**	१,२९,८१७	८१,२७२	+४६·०
मैसूर			
१. बंगलोर	७,७८,९७७	४,०६,७६०	+६२·८
२. मैसूर	२,४४,३२३	१,५०,५४०	+४७·५
३. कोलार गोल्ड फील्ड्स	१,५९,०८४	१,३३,८५९	+१७·२
राजस्थान			
१. जयपुर	२,९१,१३०	१,७५,८१०	+४९·४
२. जोधपुर	१,८०,७१७	१,२६,८४२	+३५·०
३. बीकानेर	१,१७,११३	१,२७,२२६	— ८·३
सौराष्ट्र			
१. भावनगर	१,३७,९५१	१,०२,८५१	+२९·२
२. राजकोट	१,३२,०६९	५२,१७८	+८६·७
३. जामनगर	१,०४,४१९	७१,५८८	+३७·३
ट्रावनकोर-कोचीन			
१. त्रिवेन्द्रम	१,८६,९३१	१,२८,३६५	+३७·२

२. **एलेथी**	१,१६,२७८	५६,५३३	+६९·५
(पार्ट सी राज्य)			
१. अजमेर	१,९६,६३३	१,४७,२५८	+२८·७
२. **भोपाल**	१,०२,६३३	७५,२२८	+३०·५
३. दिल्ली	९,१४,७९०	५,२१,८४९	+५४·७
४. **नई दिल्ली**	२,७६,३१४	९८,७३३	+९८·७

तालिका में मोटे अक्षरों में दिये गए नगर वे है जिनकी जनसंख्या सन् १९५१ में पहली बार १ लाख से अधिक हुई थी।[1]

सन् १९५१ में शहरी जनसंख्या की वृद्धि बडे-बड़े शहरों की जनसंख्या की वृद्धि को भी दिखा रही है। तालिका को देखने से पता चलता है कि बम्बई और मद्रास मे जनसंख्या की वृद्धि क्रमशः ५०·५ और ५८·५ प्रतिशत हुई है।

अधिकांश पश्चिमी देशों में उन्नीसवीं शताब्दी में संगठित उद्योगों का विकास हुआ, जिसके परिणामस्वरूप शहरी जनसंख्या मे अत्यधिक वृद्धि हुई, जब कि भारत में शहरी जनसंख्या की वृद्धि बहुत धीमी है। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् इंगलैण्ड की शहरी जनसंख्या की आश्चर्यजनक वृद्धि एक ऐसी सर्वविदित घटना है जिसका विवेचन यहाँ अनावश्यक है। इंगलैण्ड में लगभग ८० प्रतिशत लोग शहरों में रहते हैं, जबकि भारत में लगभग ८० प्रतिशत लोग गाँवों में।

जनसंख्या का गाँवों और शहरों के बीच इतना असमान वितरण कि शहरों में रहने वाले कुल जनसंख्या का एक नगण्य भाग ही हों, जनसंख्या की पिछड़ी हुई आर्थिक दशा का द्योतक है। रानाडे ने गाँवों की बढती हुई जनसंख्या पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि इससे शक्ति, बुद्धि की कुशाग्रता और आत्म-निर्भरता की हानि होगी। सभ्यता और प्रगति शहरों से ही प्रारम्भ होकर गाँवों में फैली है। गाँवों ने तो अपने आप शायद ही कभी विकास करने की क्षमता का परिचय दिया हो। गाँवों और शहरों के बीच जनसंख्या का वितरण शहरों के पक्ष में उद्योग, व्यापार और यातायात के विकास से ही बदला जा सकता है। हमें कुछ बड़े-बड़े शहरों जैसे लन्दन, न्यूयार्क, बम्बई, कलकत्ता में ही जनसंख्या के केन्द्रित होने के दोषों को नहीं भुला देना चाहिए, परन्तु देश-भर में औसत क्षेत्र वाले शहर होने से बड़े पैमाने के उत्पादन और शहरी जीवन की सुविधाएँ प्राप्त होंगी और साथ ही आधुनिक गन्दी बस्तियों (स्लम) से सम्बन्धित नैतिक और शारीरिक स्वास्थ्य भी अनेक खतरों से बचा रहेगा।

७. जनसंख्या : पुरुष और स्त्रियों में—निम्नलिखित तालिका में विभिन्न जनगणनाओं के अनुसार स्त्रियों की संख्या दी हुई है।

जनगणना (वर्ष)	स्त्रियों की संख्या (प्रति १,००० पुरुष)
१९११	९५४
१९२१	९४६
१९३१	९४०

१. इंडिया १९५४, पृ० १६-१८।

१९४१	९३५
१९५१	९४७

उड़ीसा, मणिपुर, मद्रास, ट्रावनकोर-कोचीन और कच्छ को छोड़कर जहाँ प्रति १००० पुरुष क्रमशः १,०२२, १,०३६, १,००६, १,००८ और १,०७९ स्त्रियाँ हैं, शेष राज्यों में पुरुषों की संख्या अधिक है। निकोबार द्वीपों तथा दिल्ली में स्त्रियों की संख्या सबसे कम है। वहाँ क्रमशः प्रति १००० पुरुषों के अनुपात में ६२५ तथा ७६८ स्त्रियाँ हैं। पश्चिमी बंगाल, आसाम, कुर्ग, पंजाब तथा पैप्सू में प्रति १००० पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या ९०० से भी कम है।[१]

यह स्वाभाविक बात है कि सभी देशों में स्त्रियों की जनसंख्या कम होती है। यूरोप के देशों में यह असमानता पुरुषों की अधिक ऊँची शिशु-मृत्यु-दर द्वारा दूर हो जाती है। 'शारीरिक रचना के विचार से स्त्री पुरुष से अधिक शक्तिवान् है।'[२] परन्तु यूरोप के देशों के विपरीत भारत में स्त्रियों के जीवन के लिए परिस्थितियाँ स्पष्ट रूप से अनुकूल नहीं हैं। यूरोप की स्थिति के विपरीत यहाँ दस वर्ष की उम्र के बाद, विशेष रूप से किशोरावस्था के बाद, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की मृत्यु-दर अधिक होती है। इसके कारण रूप में कुछ सामाजिक प्रथाएँ भी कही जा सकती हैं। उदाहरण के लिए घनी आबादी वाले शहरों में पर्दा स्त्रियों के स्वास्थ्य के लिए विशेष हानिकारक होता है। यह प्रथा धनी मुसलमानों तथा हिन्दुओं में भी देश के उन भागों में पाई जाती है जहाँ मुसलमानी प्रभाव अधिक रहा है। परन्तु स्त्रियों की ऊँची मृत्यु-दर का सबसे प्रमुख कारण बाल-विवाह है, जो लड़कियों को अपरिपक्व अवस्था में ही माँ बनने को बाध्य करता है। बड़ोदा (१९०१) के जनगणना-अधीक्षक ने ठीक ही कहा है कि अनेक बाल-वधुएँ 'सुहाग-सेज से ही मृत्यु-शय्या की ओर प्रस्थान कर देती हैं। स्नायविक अशक्तता, क्षय तथा गर्भाशय की बीमारियाँ उनका सत्यानाश कर देती हैं।' इतने शीघ्र गृहस्थ भार के साथ ही उन्हें बार-बार बच्चों को जन्म देने का कष्ट भी उठाना पड़ता है। सन् १९३३ में सर जॉन मेगॉ की जाँच के अनुसार भारतवर्ष में माताओं की मृत्यु-दर प्रति हज़ार २४·०५ है। इनके अनुसार बंगाल में यह दर प्रति हज़ार ५० है। 'इंगलैण्ड में इस बात पर विशेष चिंता प्रकट की जाती है कि यह दर बहुत ऊँची अर्थात् प्रति हज़ार ४·११ है।' दूसरा सम्भाव्य कारण यह है कि भारत में पश्चिमी देशों की अपेक्षा स्त्री-जीवन न केवल पुरुषों द्वारा ही वरन् स्वयं स्त्रियों द्वारा भी महत्त्वहीन समझा जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रारम्भिक वर्षों में स्त्रियों के स्वास्थ्य के प्रति जान-बूझकर लापरवाही की जाती है। इसके अतिरिक्त खेतों और कारखानों में काम करने वाली मज़दूर स्त्रियों के जनन के पूर्व और पश्चात् आराम के लिए आवश्यक

१. इण्डिया, १९५४ पृ० १३।

२. पी० के० वट्टल, पॉपुलेशन प्रॉब्लम इन इण्डिया, पृ० १७। लड़कों और लड़कियों का असमान अनुपात कभी-कभी इस बात का द्योतक माना गया है कि लड़कियों की शिशु-हत्या अभी पूर्णतया बन्द नहीं हुई है। यह प्रथा केवल नीची जातियों में ही नहीं वरन् जाट, खत्री, गूजर, राजपूत जैसी सम्मानित और प्रसिद्ध जातियों में भी कुछ हद तक प्रचलित है। देखिए, सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९२१) खण्ड १, परिशिष्ट ६.

समय शायद ही कभी मिलता हो। इतने कार्याधिक्य से भी उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। गाँव की दाई का अशिक्षित दाई-कर्म भी इसमें योग देता है। हर जनगणना में (सन् १९५१ को छोड़कर) पुरुषों की संख्या के प्रति स्त्रियों की संख्या का अनुपात घटता ही गया है। (जैसा कि प्रारम्भ में दिये गए आँकड़ों से स्पष्ट है)

साधारण जनसंख्या में विशेष रूप से शहरों में स्त्रियों की कमी है। पश्चिमी देशों में परिस्थितियाँ इसके बिलकुल विपरीत हैं। वहाँ शहरों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक है। इसका कारण कारखाने के मज़दूरों का प्रभाव है। वे शायद ही कभी अपने परिवारों को शहर में लाते हैं। इसका दूसरा कारण यह है कि शहरी उद्योगों में स्त्रियों की संख्या कम है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार शहरों में प्रति १००० पुरुषों के अनुपात में ८६० स्त्रियाँ हैं। यदि १ लाख से ऊपर की आबादी वाले शहरों को ही लिया जाय तो यह अनुपात और भी कम केवल ७८७ है। कलकत्ता और बम्बई में यह अनुपात क्रमशः ६०२ और ५९६ (प्रति १००० पुरुष) है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि शहरों में स्त्रियों की कमी मज़दूरों के स्वास्थ्य, सुविधा और चरित्र पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है।

स्त्रियों की कुल संख्या का २५ प्रतिशत काम करता है (मज़दूरी या अन्य काम) और इसकी तुलना पश्चिम के अत्यन्त समृद्धिशाली देशों से की जा सकती है। यह बहुत ही आश्चर्यजनक है और इस बात का द्योतक है कि स्त्रियों की बहुत कम संख्या पर पर्दे का प्रभाव है। साथ ही इससे भारत की ग़रीबी का भी पता चलता है, क्योंकि भारत में अर्जन-क्षमता के बढ़ जाने पर स्त्रियाँ काम करना बन्द कर देती हैं। प्रचलित विचारों के अनुसार प्रतिष्ठित भावना के कारण घर की स्त्रियों का बाहर काम करने जाना अच्छा नहीं माना जाता। स्त्रियों में काम करने वालों का बड़ा अनुपात इस बात का द्योतक है कि देश में बहुत थोड़े व्यक्ति ही अपनी स्त्रियों को बेकार रख सकते हैं। अनिच्छापूर्वक भी परिवार की आय को पूरा करने के लिए उन्हें काम करना पड़ता है।

८. आयु के अनुसार वितरण—सन् १९५१ की जनगणना रिपोर्ट ने आयु-समूहों के निम्नलिखित आँकड़े प्रस्तुत किये हैं।

	आयु-समूह	प्रतिशत
शिशु और बच्चे	०—४	१३·५
लड़के और लड़कियाँ	५—१४	२४·८
युवक और युवतियाँ	१५—२४	१७·४
	२५—३४	१५·६
अधेड़ पुरुष और स्त्री	३५—४४	११·९
	३५—५४	८·५
वृद्धजन	५५—६४	५·१
	६५—७४	२·२
	७५ या अधिक	१·०
		१००

जनसंख्या के आयु-समूहों का प्रमुख आर्थिक महत्त्व क्रियाशील जनसंख्या के अनुपात में है। किसी देश की जनसंख्या का आयु के अनुसार वितरण एक पिरामिड के आकार में दिखाया जा सकता है। कम आयु वाले समूह, जो जनसंख्या का सबसे बड़ा भाग दरशाते हैं, इस पिरामिड का आधार होते हैं और यह ऊँची अवस्था वाले समूहों के साथ कम होता जाता है और अन्त में एक बिन्दु से समाप्त होता है, क्योंकि एक आयु के बाद कोई जीवित व्यक्ति न मिलेगा जिसकी गणना की जाय। विभिन्न आयु-समूहों की कुल संख्या के अनुपात के अनुसार पिरामिड का आकार बदल जाता है। भारत में बहुत ऊँची जन्म-दर होने के कारण आयु-पिरामिड का आधार सब देशों की तुलना में अधिक चौड़ा है। भारत में १० वर्ष से कम उम्र वाले बालकों का अनुपात सबसे अधिक है। दूसरे देशों की अपेक्षा भारत शीर्ष-बिन्दु की ओर भी तेजी से गतिवान् होता है, यह बात भारतीय जनसंख्या की दीर्घ जीविता में कमी की ओर संकेत करती है। यहाँ ५० वर्ष से अधिक जीवित रहने वाले व्यक्तियों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है।

यूरोप में क्रियाशील जनसंख्या की सामान्यतः आयु-सम्बन्धी स्वीकृत सीमा १५ वर्ष से लेकर ६०-६५ वर्ष तक है। भारत में ऊपरी सीमा आवश्यक रूप से कम होती है, क्योंकि वृद्धावस्था तथा काम करने की अशक्तता यूरोप की अपेक्षा यहाँ बहुत जल्दी आरम्भ हो जाती है। इस सम्बन्ध में यहाँ की मान्य सीमा १३ वर्ष से लेकर ४० वर्ष तक है। इस अर्थ में भारत की क्रियाशील जनसंख्या कुल जनसंख्या का लगभग ४४·९ प्रतिशत[१] है। १५ वर्ष से ६० वर्ष तक की सीमा के अनुसार फ्रान्स में यह अनुपात ५३ प्रतिशत तथा इंगलैण्ड में ६४ प्रतिशत से अधिक है। जनता को स्वस्थ और दीर्घायु बनाने के लिए किये गए उपाय अवश्य ही क्रियाशील जनसंख्या का अनुपात बढ़ा देंगे। सम्भवतः सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग के पुनर्संगठन तथा उनकी कार्रवाइयों के बढ़ जाने के कारण ही सन् १९२० से मृत्यु-दर थोड़ी घट गई है।

१. सामाजिक प्रथाओं के विरोध में भी स्त्रियों का घर से बाहर निकलकर काम ढूँढ़ने के लिए बाध्य होना, इस निष्कर्ष का—कि भारत गरीब है—आधार है, परन्तु इससे इस तर्क के सत्य में कोई फर्क नहीं पड़ता कि पश्चिमी देशों की अपेक्षा यहाँ मजदूर स्त्रियों की कुल मात्रा कम है। रीति-रिवाज और प्रतिकूल विचारों के कारण अनेक धन्धे स्त्रियों के लिए बन्द हैं जिससे स्त्रियों का श्रम-अधिकार बेकार हो जाता है तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय भी जितनी होनी चाहिए उससे कम होती है। काम करने वाली स्त्रियों की संख्या तो बहुत है, परन्तु उनमें से अधिकांश आंशिक समय के लिए या कुछ समय के लिए ही काम करती हैं तथा वैतनिक श्रमिकों की संख्या का वे (पुरुष श्रमिकों की तुलना में) नगण्य भाग हैं। सन् १९३१ की जनगणना में काम करने वाले और काम न करने वाले आश्रितों में अन्तर किया गया था। जिस व्यक्ति की आय नगण्य हो या कभी-कभी होती हो, उसे काम न करने वाला आश्रित ही माना गया था। इस वर्ग में अधिकतर स्त्रियाँ ही थीं। इसलिए सन् १९३१ की जनगणना में काम करने वाली स्त्रियों की संख्या बहुत कम थी। यद्यपि इससे पहले की जनगणनाओं के वर्गीकरण के आधार पर उनमें से अनेक काम करने वालों के वर्ग में ही आतीं।

२. १५ वर्ष से लेकर ४४ वर्ष तक की आयु के व्यक्तियों का प्रतिशत है।
(सन् १९५१ की जनगणना से)

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि एक ही देश में जनसंख्या का आयु के अनुसार वितरण समय-समय पर बदल सकता है। उदाहरण के लिए मृत्यु और जन्म-दर बदल सकती हैं। युद्ध, अकाल, महामारी आदि भी आयु-विवरण को बदल सकते हैं। युद्ध युवकों के अनुपात को कम कर देता है। अकाल और महामारी का प्रभाव विभिन्न आयु-वर्गों पर भिन्न होगा। वयस्कों की अपेक्षा बच्चों पर अकाल का अधिक प्रभाव पड़ता है, जबकि महामारियों का प्रभाव इसका उल्टा होता है। बच्चों की अत्यधिक मृत्यु का प्रभाव कुछ समय बाद (लगभग १५ वर्ष बाद) वयस्कों की कम संख्या से व्यक्त होता है। इसी प्रकार यदि प्रजनन-क्षमता वाले अनेक वयस्कों की महामारी से मृत्यु हो जाय तो इसके परिणामस्वरूप जन्म-दर घट जायगी और बच्चों का अनुपात कम हो जायगा। सन् १९१८ की इनफ्लुएंज़ा महामारी से होने वाली भारी मृत्यु-संख्या के कारण भारत में कुल जनसंख्या के साथ क्रियाशील जनसंख्या का अनुपात असाधारण रूप से प्रतिकूल हो गया। यद्यपि सभी आयु के व्यक्ति उसके शिकार हुए, परन्तु सबसे अधिक मृत्यु वयस्कों की हुई थी।

नीचे दी हुई तालिका में सन् १९२१ की जनगणना के समय जनसंख्या का आयु और लिंग के अनुसार विवरण दिया गया है :

आयु	कुल जनसंख्या (लाखों में)			आयु	कुल जनसंख्या (लाखों में)		
	मनुष्य	पुरुष	स्त्री		मनुष्य	पुरुष	स्त्री
०-५	३९६·५	१९४·८	२०१·७	४०-४५	१९५·८	१००·७	९५·१
५-१०	४६७·४	२३८·४	२२९·०	४५-५०	११६·४	६३·४	५३·०
१०-१५	३६७·४	२०१·७	१६५·७	५०-५५	१३७·४	७०·३	६७·१
१५-२०	२६१·४	१३६·५	१२४·९	५५-६०	५५·७	२९·९	२५·८
२०-२५	२६०·६	१२५·६	१३५·०	६०-६५	८८·८	४३·१	४५·७
२५-३०	२७५·९	१४०·२	१३५·७	६५-७०	२५·१	१३·०	१२·१
३०-३५	२६१·३	१३३·७	१२७·६	७० और			
३५-४०	१८९·६	१०३·०	८६·६	अधिक	५३·४	२५·८	२७·६
				आयु, जिनकी व्याख्या नहीं की गई	२४[1]	२४[1]	
				कुल योग	३१५३·५	१६२०·८	१५३२·७

६. भारत में जन्म और मृत्यु-दर—आवास-परावास के नगण्य होने के कारण भारत की जनसंख्या का आकार प्रधानतः जन्म और मृत्यु-दर से निश्चित होता है। भारत

१. यह लाखों में नहीं है।

सबसे अधिक वार्षिक जन्म और मृत्यु-दर वाले देशों में से है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार जन्म और मृत्यु की वार्षिक दरें ४० और २७ प्रति हजार थीं।[1] प्रगतिशील यूरोपीय देशों में जन्म और मृत्यु-दर की घटने की प्रवृत्ति बराबर बनी रही है। उदाहरण के लिए इंगलैण्ड और वेल्स में १८९१-५ में प्रति हज़ार जन्म और मृत्यु-दरें क्रमश: ३०·५ और १८·७ थीं। वहाँ सन् १९३२ में ये दरें १५·३ (जन्म-दर) तथा १२·० (मृत्यु-दर) थीं। सन् १९५१ की भारतीय जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार अब ये दरें क्रमश: १६ (जन्म-दर) और १२·५ (मृत्यु-दर) हैं।

भारत में जन्म और मृत्यु-दरें इस प्रकार कम नहीं हुई हैं। इसके विपरीत कभी-कभी दोनों में ही वास्तविक वृद्धि हुई है जैसा कि नीचे दी हुई तालिका से भी ज्ञात होता है।[2]

अवधि या वर्ष	जन्म, प्रति हजार	मृत्यु, प्रति हज़ार
१८८५-९०	३५·८३	२७·४४
१८९१-१९००	३५·४३	३१·३१
१९०१-१०	३८·१८	३३·९४
१९११-१७	३८·६८	३०·३१
१९१८	३५·३५	६२·४६
१९१९	३०·२४	३०·८४
१९११-२० औसत	३६·९३	३४·१३
१९२१	३२·२०	३०·५९
१९२३	३५·०६	२५·००
१९२६	३४·७७	२६·७६
१९२८	३६·७९	२५·५९
१९३०	३५·९९	२६·८५
१९३१	३४·३८	२४·८९
१९३२	३३·७	२१·६
१९३३	३५·६	२२·४
१९३४	३३·७	२४·९
१९३५	३५·०	२३·८
१९३६	३५·६	२२·७
१९३७	३४·५	२२·४
१९३८	३४·१	२४·३

१. भारत में जीवनांक विशेष रूप से अविश्वसनीय हैं—खास तौर पर गाँवों में, जहाँ उन्हें इकट्ठा करने के लिए नियुक्त व्यक्ति कम वेतन पाने वाले तथा निरक्षर हैं। यदि इस बात का समुचित ध्यान रखा जाय तो प्रोफेसर ज्ञानचन्द के अनुसार जन्म और मृत्यु-दर के आँकड़े क्रमशः ४८ और ३३ (प्रति हजार) होंगे। देखिए, ज्ञानचन्द, 'टीमिंग मिलियन्स', पृ० ९७-९।

२. 'इस तालिका में सन् १९३० तक (सन् १९३० सहित) जन्म और मृत्यु-दर की प्रवृत्तियाँ सही नहीं हैं, क्योंकि मृत्यु की तुलना में जन्म की अधिकता से हुई जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।' उपर्युक्त निर्देश के लिए राजकीय कृषि गवेषणा परिषद् (इम्पीरियल

१०. **मृत्यु-दर**—प्रायः अनियंत्रित तथा ऊँची जन्म-दर ऊँची मृत्यु-दर से सम्बन्धित होती है। भारत में ऊँची मृत्यु-दर अन्ततोगत्वा सामान्य ग़रीबी के कारण ही है जो व्यक्तियों को मलेरिया, प्लेग, इन्फ्लुएंज़ा जैसी बीमारियों से बचने में असमर्थ बना देती है। भारतीयों की निम्न जीवन-शक्ति से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विभिन्न आयु-स्तरों पर यूरोपीय देशों की अपेक्षा यहाँ जीवन की आशा कम होती है।

'इंगलैण्ड में पुरुष की औसत आयु ५५·६२ वर्ष है; भारत में केवल २६·९१ वर्ष, अर्थात् वहाँ की आधी भी नहीं है। स्त्रियों के सम्बन्ध में इंगलैण्ड और भारत के आँकड़े क्रमशः ५९·५८ तथा २६·५६ हैं।.........सन् १८९१ में इंगलैण्ड और भारत में पुरुष-जीवन के आँकड़े क्रमशः ४४·१३ और २५·५४ थे। सन् १९२०-२२ में इंगलैण्ड के आँकड़े बढ़कर ५५·६२ हो गए परन्तु भारत के आँकड़े १९०१ में २३·९६, सन् १९११ में २३·३२ और सन् १९३१ में भी केवल २६·५६ थे। दूसरे शब्दों में अंग्रेजों ने ३० वर्ष की अवधि में जीवन में ११½ वर्ष बढ़ा लिये जब कि भारतीयों ने उससे अधिक अवधि अर्थात् ४० वर्षों में केवल १ वर्ष की वृद्धि की।[1] भारत में पैदा होने वाले १००० व्यक्तियों में ४५ व्यक्ति ५ वर्ष की आयु से पूर्व ही मर जाते हैं जबकि पश्चिमी यूरोप के देशों में केवल १४-१५ ही मरते हैं।

मृत्यु-निवारण कारणों के ऊपर अधिकार तथा रहने की अच्छी परिस्थितियों के कारण यूरोपीय देशों में औसत आय निश्चित रूप से बढ़ रही है जबकि भारत की आर्थिक स्थिति ज्यों-की-त्यों है तथा यूरोपीय देशों की-सी प्रगति यहाँ नहीं हो सकी। भारत में औसत आयु के कम होने का अर्थ यह है कि अनेक अनुभव-प्राप्त और समझदार व्यक्ति उस उम्र में जीवन खो बैठते हैं, जब उनमें राष्ट्र की सेवा करने की अधिकतम शक्ति होती है।

भारत में मृत्यु-दर की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ अत्यधिक शिशु-मृत्यु तथा प्रजनन-आयु में स्त्रियों की अत्यधिक मृत्यु है। भारत में शिशु-मृत्यु किसी भी सभ्य देश की तुलना में अधिक है। लगभग २० प्रतिशत बच्चे १ वर्ष की आयु से पहले ही मर जाते हैं, और इस प्रकार शिशु-मृत्यु-दर सभी आयु-वर्गों की कुल मृत्यु-दर की २० प्रतिशत है। बड़े शहरों की गन्दी परिस्थितियों के कारण वहाँ अत्यधिक शिशु-मृत्यु होती है। उदाहरण के लिए बम्बई में शिशु-मृत्यु-दर २७४ प्रति हजार है जबकि लन्दन में यह दर ६६ प्रति हजार है। किसी समय यूरोप में भी शिशु-मृत्यु भारत के समान ही अधिक थी, परन्तु इस शताब्दी में शिशु-मृत्यु-दर में उल्लेखनीय कमी हुई,

---

काउन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च) के अंक-शास्त्री डॉ० पी० वी० सुखात्मे के हम आभारी हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि यह दरें जनगणना के वर्षों से पहले जितनी वास्तव में होनी चाहिएँ, उससे अधिक हैं। उदाहरण के लिए सन् १९३० की संशोधित जन्म-दर ३२·९ है जबकि तालिका में यह ३५·९९ है। इसी प्रकार इस वर्ष की संशोधित मृत्यु-दर तालिका की २६·८५ दर के बजाय २४·६ है। सन् १९३१ के बाद संशोधन की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि को ध्यान में रखा गया है।

१. वट्टल, पृ० ७१-२।

जैसा कि इंगलैण्ड और वेल्स के लिए दी हुई निम्न तालिका से प्रकट होता है :

अवधि	एक वर्ष से कम आयु में मृत्यु प्रति हज़ार	अवधि	एक वर्ष से कम आयु में मृत्यु प्रति हज़ार
१८५०-५	१५६	१९११-१५	११०
१८७०-५	१५३	१९१६	८०
१८९१-५	१५१	१९२४	७५
१८९६-१९००	१५६	१९२५	७५
१९०२-५	१३८	१९२६	७०
१९०६-१०	११७	१९३२	६०

इसके विपरीत नीचे दी हुई तालिका से भारत में शिशुओं की मृत्यु स्थिति प्रकट होती है—

वर्ष	एक वर्ष से कम आयु में मृत्यु, प्रति हज़ार		वर्ष	एक वर्ष से कम आयु में मृत्यु, प्रति हज़ार	
	पुरुष	स्त्री		पुरुष	स्त्री
१९११	२१४	१९६	१९१८	२७४	२६०
१९१२	२१६	१९९	१९१९	२२८	२२०
१९१३	१९३	१९७	१९२०	२०१	१८८
१९१४	२१९	२०४	१९२२	१८३	१६६
१९१५	२०८	१९५	१९२५	१८१	१६७
१९१६	२०९	१९५	१९२८	१८१	१६४
१९१७	२१२	१९८	१९३१	१८८	१७०

शिशु-मृत्यु की यह ऊँची दर किसी प्रकार भी पश्चिमी देशों के समान कम होती नहीं दिखाई देती। कुछ अंशों तक यह बाल-विवाह प्रथा के कारण है, जो माँ की जीवन-शक्ति कम कर देते हैं और इसी प्रकार बच्चे की भी। काम करने के लिए माँ का बच्चों को अफीम खिलाना तथा अच्छे दूध का पर्याप्त मात्रा में न मिलना भी इसका कारण हैं। ये कारण शहरों में तो विशेष रूप से विद्यमान हैं ही परन्तु गाँव भी उनसे अछूते नहीं। इन सबके अतिरिक्त तथा सबसे महत्त्वपूर्ण कारण जनता की घोर ग़रीबी है। भारतीय मृत्यु-दर की दूसरी विशेषता प्रजनन-आयु की स्त्रियों की अत्यधिक मृत्यु है। इसके कारणों का विश्लेषण हम पहले ही कर चुके हैं, अतः इस विषय पर टीका-टिप्पणी करने की अब कोई आवश्यकता नहीं है।

११. जनसंख्या की वृद्धि—यदि हम पिछले ५० वर्षों पर विचार करें, जिनकी जनगणना के आँकड़े प्राप्य हैं, तो पता चलेगा कि जनसंख्या की वृद्धि की गति प्रत्येक दशक में बहुत धीमी रही है। कारण यह है कि ऊँची जन्मदर के साथ ही मृत्यु-दर भी करीब-करीब वैसी ही ऊँची रही है और इसलिए यूरोप की अपेक्षा यहाँ जीवन-दर कम है। यह ठीक है कि यूरोप में जन्म-दर कम है परन्तु वहाँ की मृत्यु दर और भी कम है। सन् १८७२ और १९२१ के बीच भारत की जनसंख्या केवल २० प्रतिशत बढ़ी। सन् १९११ की जनसंख्या ३१५,५६,३९६ थी जो १९२१में बढ़कर ३१८,९४२,४८० हो गई, अर्थात्

१.२ प्रतिशत वढ़ी। सन् १६१८ में चारों ओर वर्षा न होने तथा इनफ्लुएंज़ा की महामारी के महानाश के कारण ही (जिसने पिछले सात वर्षों में हुई जनसंख्या की वृद्धि को लगभग समाप्त कर दिया) १६११-२१ की वृद्धि-दर बहुत नीची रही। अनुमान है कि इनफ्लुएंजा से लगभग १४० लाख लोगों की मृत्यु हुई थी। नीचे दी हुई तालिका में जनसंख्या की अनियमित गति देखी जा सकती है—

संख्या मे वृद्धि जनगणना-वर्ष	जनसंख्या (करोडों में)	पिछली जनगणना से प्रतिशत परिवर्तन
१८७२ बर्मा सहित	२०.६१६	....
१८८१	२५.३८६	+२३.२
१८६१	२८.७३१	+१३.२
१६०१	२६.४३६	+ २.५
१६११	३१.५१५	+ ७.१
१६२१	३१.८६४	+ १.२
१६३१	३५.२८	+१०.६
१६४१	४०.५८२	+१५
१६५१	३५.६	—१४[1]

जनसंख्या की वृद्धि की वास्तविक दर जानने के लिए हमें क्षेत्रफल की वृद्धि तथा जनगणना विधि के सुधारों से हुई वृद्धि को भी ध्यान में रखना होगा। इन कारणों से हुई वृद्धि के लिए उचित छूट देने पर हम निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जो वृद्धि की वास्तविक दर दिखाते हैं :[2]

अवधि	नये क्षेत्र सम्मिलित करने के कारण वृद्धि	जनगणना-विधि में सुधार से हुई वृद्धि	वास्तविक वृद्धि	कुल योग	वास्तविक वृद्धि की प्रतिशत दर
	(लाखों मे)	(लाखों मे)	(लाखों में)	लाखों में	
१८७२-८१	३३०	१२०	३०	४८०	१.५
१८८१-६१	५७	३५	२४३	३३५	६.६
१८६१-१६०१	२७	२	४१	७०	१.४
१६०१-१६११	१८	....	१८७	२०५	६.४
१६११-१६२१	१	....	३७	३८	१.२
१६२१-१६३१	०	....	३४०	३४०	१०.६
योग	४३३	१५७	८७८	१४६८	३०.७

जबकि भारत में १८७० और १६३० के बीच जनसंख्या की वृद्धि ३० प्रतिशत थी, तब यूरोप में यह ६० प्रतिशत थी।

जिस अवधि में भारत की वृद्धि-दर अत्यन्त कम है उसमें अकाल, प्लेग, महामारी

१. भारत का विभाजन होने से भारत की जनसंख्या सन् १६४१ की अविभाजित भारत की जनसंख्या की तुलना में घट गई है, इसलिए सन् १६५१ का प्रतिशत परिवर्तन ऋणात्मक है।

२. सेन्सस ऑफ इण्डिया (१६२१), खण्ड १, पृ० ७ और इण्डिया इन १६३०-१, पृ० १४६।

आदि घटनाएँ हुई हैं, जिन्होंने स्वाभाविक वृद्धि को बहुत कम कर दिया है। उदाहरण के लिए सन् १८७६-८ में दक्षिण भारत में भयानक अकाल पड़ा तथा १८६० और १६०० में प्लेग और अकाल ने वृद्धि के रोकने में एक दूसरे का साथ दिया।

सन् १६०१ से १६११ तक के समय को कृषि की मध्यम सम्पन्नता का समय कहा जाता है। यदि प्लेग और मलेरिया महामारी के रूप में उत्तर प्रदेश और पंजाब में अत्यधिक मृत्यु के कारण न बनते तो जनसंख्या में काफी वृद्धि होती। सन् १८८१ से १८६१ का दशक ही ऐसा समय था जिसमें कोई भयानक विपत्ति नहीं आई। अतः यह भी कहा गया है कि वृद्धि की ६·६ प्रतिशत दर असाधारण है तथा जनसंख्या की सामान्य वृद्धि के जानने के लिए उसमें कुछ कमी अवश्य करनी चाहिए। परिस्थितियों के विशेष रूप से अनुकूल या प्रतिकूल न होने पर जो वृद्धि होती है उसे सामान्य वृद्धि कहते हैं। सन् १६२१ के जनगणना कमिश्नर ने विकास की स्थिति को देखते हुए तथा अपवादस्वरूप आने वाली आपत्तियों को छोड़कर एक दशक में जनसंख्या की संभाव्य स्वाभाविक वृद्धि ७ या ८ प्रतिशत मानी थी।[१] यह अनुमान सम्भवतः कम है। सन् १६१८ की इनफ्लुएंज़ा महामारी के बावजूद भी, जिसने प्रजनन-आयु की जनसंख्या को विशेष रूप से प्रभावित किया था, सन् १६२१ और १६३१ के बीच सम्पूर्ण भारत में वास्तविक वृद्धि १०.६ प्रतिशत थी।

इसके विपरीत सन् १६३१ से पूर्व दशक में, जो जनसंख्या की वृद्धि के लिए विशेष रूप से अनुकूल था, जनसंख्या की वृद्धि ३४० लाख थी। इस दशक में कोई बड़ा अकाल नहीं पड़ा तथा हैज़ा प्लेग, और काला अजार जैसी महामारियों को रोकने की विधियों में भी सुधार हो रहा है।[२] सन् १६३१ की तुलना में सन् १६४१ में लगभग ५०० लाख की वृद्धि हुई। सन् १६४१ में भारतीय संघ के क्षेत्र की जनसंख्या लगभग ३१८६ लाख थी।[३] सन् १६५१ में यह ३५६८ लाख थी। अतः सन् १६४१ की तुलना में भारतीय संघ (विभाजित भारत) की जनसंख्या में ३७६ लाख की वृद्धि हुई। सन् १६५१ की जनगणना के अनुसार जनसंख्या की प्राकृतिक वृद्धि-दर १.३ प्रतिशत है। आधुनिक समय में भारतीय जनसंख्या की वृद्धि का कारण आर्थिक विकास न होकर राजनीतिक सुरक्षा है। यदि युद्धोत्तर योजना से वाञ्छित आर्थिक विकास सम्भव हो सका तो इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह होगा कि मृत्यु-दर काफी कम हो जायगी, परन्तु जन्म-दर में इस प्रकार की कोई कमी न होगी। इसके फलस्वरूप जीवन-दर बढ़ जायगी और जनसंख्या अनुमानित दर से भी—उदाहरण के लिए बम्बई योजना (बाम्बे प्लान) की दर—अधिक तेजी से बढ़ेगी। बम्बई योजना में अनुमानित ५० लाख प्रति वर्ष की वृद्धि के बजाय देश में जनसंख्या की वृद्धि सम्भवतः १०० लाख प्रतिवर्ष या उससे भी अधिक होगी।

१. सेन्सस ऑफ इण्डिया (१६२१) खण्ड १, पृ० ४८।

२. सन् १६२१-३१ में प्रारम्भ किया हुआ इलाज काला अजार को दस या उससे भी कम दिनों में ठीक कर देता है—सेन्सस ऑफ इण्डिया (१६३१), खण्ड १, प० ७।

३. देखिए, इण्डिया एट ए ग्लान्स, पृ० ६६।

१२. भारत में जनाधिक्य की समस्या—जनसंख्या की अनियंत्रित वृद्धि ही भारत की ग़रीबी का प्रमुख कारण है। भारत में इस प्रश्न पर बहुत वाद-विवाद हुआ है। ब्रिटिश सरकार का मत यही था कि भारत की ग़रीबी का बहुत बड़ा कारण जनाधिक्य है, परन्तु राजनीतिज्ञ इसका विरोध करते थे, क्योंकि इसके मानने का अर्थ अंग्रेज़ों को भारत की ग़रीबी के दोष और दायित्व से मुक्त करना था।

जनाधिक्य को एक स्थिति या प्रवृत्ति-रूप माना जा सकता है और सबसे अच्छा तो यह होगा कि उसे अनुकूलतम जनसंख्या की धारणा से सम्बन्धित कर दिया जाय। इसे कैनन ने इस प्रकार समझाया है, "किसी भी दिये हुए समय में अर्थात् ज्ञान और परिस्थितियों के समान रहने पर अधिकतम प्रत्युपलब्धि का एक बिन्दु होता है। उस समय श्रम की मात्रा ऐसी होती है कि उसमें वृद्धि या कमी करने पर प्रत्युपलब्धि अनुपात के अनुसार ही कम हो जायगी।…………जिस प्रकार किसी एक उद्योग में अधिकतम प्रत्युपलब्धि का बिन्दु होता है, उसी प्रकार सभी उद्योगों के मिला लेने पर भी एक अधिकतम प्रत्युपलब्धि बिन्दु होगा। यदि जनसंख्या इतनी अधिक नहीं है कि सारे उद्योग इस बिन्दु तक पहुँच जायँ तो प्रत्युपलब्धि कम होगी, उस समय जनसंख्या की वृद्धि ही उपाय है। इसके विपरीत यदि जनसंख्या इतनी अधिक है कि इस बिन्दु का अतिक्रमण हो चुका है तो उपाय जनसंख्या को कम करना है।"[1] जनाधिक्य का अर्थ जनसंख्या का अनुकूलतम आकार से अधिक होना है।

जनसंख्या के बढ़ने से श्रम-शक्ति में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप सामान्यतः कुल धन में वृद्धि होती है; परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि (धन की) यह वृद्धि जनसंख्या की वृद्धि की समानुपाती है या नहीं ताकि प्रत्येक व्यक्ति का भाग कम-से-कम पूर्ववत् बना रहे। यह सच है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास खाने के लिए मुँह के साथ ही काम करने के लिए दो हाथ भी होते हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि यह हाथ उसका सम्पूर्ण भार सँभालने में समर्थ भी होंगे। जब जनसंख्या की वृद्धि इस प्रकार की हो कि उससे प्रति व्यक्ति आय कम होने की सम्भावना हो, तो हम इसे जनाधिक्य की प्रवृत्ति कहते हैं। यह मानने के लिए पर्याप्त कारण हैं कि वर्तमान जनसंख्या के कम होने से प्रतिव्यक्ति आय बढ़ जायगी, तो इसे हम जनाधिक्य की दशा कहते हैं।[2] जनाधिक्य की प्रवृत्ति और दशा का साथ-साथ होना कोई असाधारण बात नहीं है। भारत में आज निश्चय ही यह स्थिति है। माल्थस मनुष्यों की संख्या बढ़ने की शक्ति के अनुमान में मूलतः सही था और उसका यह सुझाव भी सही था कि यदि जनन-शक्ति का पूरा उपयोग किया जाय तो अपवादस्वरूप अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों को छोड़कर जीवन-निर्वाह के साधन जनसंख्या की वृद्धि से पीछे रह जायँगे। उदाहरण के लिए गणना की गई है कि वृद्धि के वर्तमान अनुपात से, जो नैसर्गिक और प्रतिबन्धक निरोधों से अत्यधिक नियंत्रित है तथा किसी प्रकार भी अधिकतम दर नहीं है, स्त्री-पुरुष का एक जोड़ा १७५० वर्षों में दुनिया की वर्तमान जन-

---

१. ई. कैनन वैल्थ, पृ० ६८-६।

२. देखिए, पी. एस. फ्लोरेन्स, ओवर पॉपुलेशन, पृ० ११

संख्या के बराबर सन्तति उत्पन्न कर सकता है। मानव की जनन-क्षमता इतनी अधिक है कि यदि उसका पूर्ण उपयोग किया जाय तो यह बहुत सम्भव है कि धनोत्पत्ति किसी भी सीमा तक की प्रगति पीछे रह जाय। इसलिए यदि किसी पुराने देश के बारे में अनियंत्रित प्रजनन की बात निश्चित रूप से कही जा सके, तो यह उस देश के जनाधिक्य का पुष्ट प्रमाण माना जा सकता है। जनाधिक्य के लक्षण जन्म तथा मृत्यु-दर—विशेषकर शिशु मृत्यु-दर—का ऊँचा होना है।

उपर्युक्त विवाद के अनुसार अब हम इस प्रश्न पर विचार कर सकते है कि भारत में जनाधिक्य एक प्रवृत्ति या दशा या दोनों ही रूपों में विद्यमान है अथवा नही। इस सम्बन्ध में प्रमुख विचारणीय बात यह है कि भारत में जनसंख्या की वृद्धि के रोकने के लिए प्रतिबन्धक निरोधों का प्रभावपूर्ण प्रयोग होता है या नही। यदि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे यहाँ प्रयुक्त ही नही होते या उनका प्रभाव नगण्य है तथा जनसंख्या मुख्यतः प्राकृतिक विरोधों द्वारा ही नियंत्रित है, त। देश में वर्तमान दोष के रूप में जनाधिक्य की बात दृढ़ता से सिद्ध हो जाती है।

१३. प्रतिबन्धक निरोध—जनसंख्या की वृद्धि रोकने वाले विभिन्न प्रतिबन्धक निरोधों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है[१]—(i) देर मे विवाह करने या अविवाहित रहने के कारण विवाह-दर का न्यून होना, (ii) प्रतिविवाह अवन्ध्यता का कम होना, (क) प्राकृतिक—जनन-क्षमता का कम होना (ख) परिस्थितिजन्य, पति की अनुपस्थिति आदि, (ग) विचारपूर्वक किये गए कार्य: परहेज़, आत्म-संयम, गर्भ-निरोधक वस्तुओ का प्रयोग, ऐच्छिक गर्भपात, इत्यादि, (iii) कुछ सामाजिक रीतिरिवाज तथा आदतें—उदाहरणार्थ बच्चों को अधिक समय तक दूध पिलाना, कुलीन प्रथा इत्यादि, (iv) शिशु-हत्या, (v) गरीबी, बीमारी आदि।

अब हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि भारत में इनमें से एक या अधिक प्रतिबन्ध किस सीमा तक प्रयोग में लाए जाते है।

१४. भारत में विवाह-दर—इस सम्बन्ध में पहली बात सम्पूर्ण भारत में विवाहित दशा का पाया जाना है। पश्चिम में धर्म कभी-कभी अविवाहित रहने का आदेश देता है, परन्तु भारत में धार्मिक आदेश विवाह के पक्ष में है। 'प्रत्येक हिन्दू को विवाह और सन्तानोत्पत्ति करना चाहिए ताकि पुत्र उसकी अन्त्येष्ठि-क्रिया कर सकें और उसकी आत्मा पृथ्वी के शून्य भागों में अशान्त होकर न भटके।'[२] सामाजिक निन्दा से बचने के लिए लड़कियों का विवाह रजस्वला होने से पहले ही कर देना चाहिए।[३] यद्यपि मुसलमानों और अनीमियों को शादी के सम्बन्ध में धर्म विवश नही करता, परन्तु विवाहों का शीघ्र होना वहाँ भी प्रचलित है। संयुक्त परिवार की प्रथा इसे और प्रोत्साहित

१. फ्लोरेन्स, पूर्व उद्धृत, पृ० १८।

२. वट्टल, पूर्व उद्धृत पृ० २३।

३. यदि उच्च वर्ण की हिन्दू कुमारी रजस्वला होने पर भी अविवाहित रहती है, तो उसकी यह दशा परिवार को सामाजिक निन्दा का पात्र बना देती है और धर्म ग्रन्थों के वचनों के अनुसार पूर्वजों को पिछली तीन पीढ़ियाँ तक नरक की भागी होती है।—एच० रिसले, पीपुल ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १५४।

करती है। नवविवाहित दम्पति के लिए परिवार के साधन अनिश्चित समय तक उपलब्ध होने के कारण भारत में उन विचारों का कोई प्रभाव नहीं है जिनके कारण यूरोप में विवाह स्थगित करने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त अत्यधिक ग़रीबी ग्राम जनता में आर्थिक कारणों से विवाह को रोकने के बजाय प्रोत्साहित करती है, क्योंकि घरेलू काम के लिए पत्नी आवश्यक है तथा कभी-कभी वह बाहर के काम में भी पति की मदद करती है। बच्चे भी किसी-न-किसी काम पर लगा दिये जाते है और जैसे ही सम्भव होता है कमाना आरम्भ कर देते हैं। वे भार नहीं समझे जाते, क्योंकि जीवन का प्रचलित स्तर निम्नतम है, जहाँ छोटी आय ही काफ़ी है तथा बच्चों के लिए किसी प्रशिक्षण की अपेक्षा नही करता। कम आयु वालों के काम की शक्ति को शीघ्र ही प्रयोग में लाने से होने वाले सामाजिक अपव्यय पर साधारणतः ध्यान नहीं दिया जाता। यदि इस पर ध्यान दिया भी जाय, तो अत्यधिक ग़रीबी के कारण माता-पिता बच्चों को ज़िन्दा रहने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण नहीं दे सकते और न उनको उसके लिए कुशल बना सकते हैं।

सन् १९३१ की जनगणना की कुल जनसंख्या ३५२,८३७,७७८ में से विवाहित पुरुषों की संख्या ८४,२०८,४६७ (४७ प्रतिशत) तथा विवाहित स्त्रियों की संख्या ८३,६०७,२२३ (४९ प्रतिशत) थी। ८६,३३८,००१ (४८ प्रतिशत) पुरुष तथा ५९,६९८,०४३ (३५ प्रतिशत) स्त्रियाँ अविवाहित थीं; शेष विधुर थे।[1] सन् १९५१ की जनगणना में (विस्थापित व्यक्तियों को छोड़कर) हर दस हज़ार व्यक्तियों में ५,१३३ पुरुष तथा ४८६७ स्त्रियाँ हैं। इनमें से २,५२१ पुरुष और १,८८६ स्त्रियाँ अविवाहित हैं। अविवाहित स्त्री और पुरुषों की संख्या मिला देने पर कुल जनसंख्या का ४१.१ प्रतिशत भाग अविवाहित है।

अन्य देशों की तुलना में अविवाहित स्त्री-पुरुषों का अनुपात भारत में सबसे कम है। बाल-विवाह प्रचलित है—लड़कों की विवाह-आयु लड़कियों से कुछ अधिक होती ह।[2] (बाल-विवाह के आँकड़े स्पष्टतया कम हो रहे हैं। १५ वर्ष से कम आयु वाली विवाहित लड़कियों का अनुपात सन् १९४१ में ९·६ प्रतिशत था जबकि १९५१ में यह अनुपात ७·४ प्रतिशत था)। यदि हम इंगलैंण्ड और वेल्स के आँकड़ों को पश्चिमी यूरोप का प्रतिनिधि मान लें तो यूरोप की तुलना में प्रान्तीय विभिन्नताओं के बावजूद भी भारतीय विवाह-दर बहुत ऊँची है। 'पुरुष जनसंख्या में ४८ प्रतिशत अविवाहित हैं जिनमें तीन चौथाई से कुछ अधिक (७७ प्रतिशत) १५ वर्ष की आयु से कम हैं जबकि अविवाहित स्त्रियों में ९१ प्रतिशत इस आयु से कम हैं। १५ वर्ष से ४० वर्ष

१. इन आँकड़ों में विवाहित पुरुषों का अनुपात विवाहित स्त्रियों के अनुपात से अधिक है जबकि इससे पूर्व की जनगणनाओं में विवाहित स्त्रियों का अनुपात अधिक था। डा० हटन का कहना है कि १ अप्रैल सन् १९३० से लागू शारदा कानून के अन्तर्गत मुकदमा चलाये जाने के भय से सन् १९३१ की जनगणना में बड़ी संख्या—लगभग १२½ लाख—विवाहित स्त्रियों को अविवाहित ही बताया गया।

२. यद्यपि बाल-विवाह कानून (शारदा कानून) जिसने लड़कियों की विवाह-आयु को बढ़ा दिया है, स्वागत योग्य है, परन्तु मनुष्यों की संख्या के दृष्टिकोण से उसका प्रभाव नगण्य होगा, क्योंकि वह अत्यधिक अवन्ध्य आयु—१५ से २० वर्ष की आयु--को प्रभावित नहीं करता।

तक के प्रजनन-काल की आयु में अविवाहित स्त्रियों का अनुपात केवल ५ प्रतिशत रह जाता है जबकि इंगलैण्ड और वेल्स में यह अनुपात ३६ प्रतिशत है।'[1]

हाल में ही स्त्रियों और पुरुषों में देर में विवाह करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, परन्तु यह केवल शिक्षित समाज तक ही सीमित है जो संख्या में नगण्य हैं। ग्राम जनता में अभी यह बात नहीं आई है। इसके अतिरिक्त देर में विवाह करने की प्रवृत्ति पुरुषों में ही विशेष रूप से पाई जाती हैं। जनसंख्या को सीमित करने के लिए देर में विवाह करना बहुत ही प्रभावपूर्ण तरीका है, यदि वह लड़कों की अपेक्षा लड़कियों पर अधिक लागू किया जाय। एक दूसरे दृष्टिकोण से प्रश्न यह उठता है—जब तक कि विवाह बहुत ही देर में न किया जाय उसको स्थगित करने से जनसंख्या घटने के बजाय बढ़ने तो नहीं लगेगी ? विवाह के जल्दी होने से दम्पति के—विशेषकर पत्नी के—स्वास्थ्य पर पड़े हुए घातक प्रभाव अवन्ध्यता को कम कर देते हैं जो देर में विवाह करने से बढ़ने लगेगी। शीघ्र विवाह का बहिष्कार सामाजिक सुधार का एक महत्त्वपूर्ण अंग होना चाहिए, परन्तु उससे जनसंख्या की तीव्र वृद्धि भी हो सकती है, जब तक कि विवाह की औसत आयु, विशेषकर स्त्रियों के लिए, काफी न बढ़ा दी जाय और अन्य निरोध प्रयोग में न लाये जायँ।

अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि रोकने के लिए विवाह न करना या देर से विवाह करना, भारत में नहीं के बराबर है तथा पशु-प्रवृत्तियाँ जिन्हें अंशत: धार्मिक मान्यता भी प्राप्त है, पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि भारतीय जन्म-दर दुनिया की सबसे ऊँची दरों में से है।

१२. अवन्ध्यता का कम होना : (क) प्राकृतिक—अत्यधिक ऊँची जन्म-दर होने के बावजूद भी भारत में जनसंख्या की यथार्थ वृद्धि यूरोपीय देशों से बहुत कम है। इसका कारण मृत्यु-दर का बहुत ऊँचा होना है। कभी-कभी कहा जाता है कि यह भारतीयों की जनन-क्षमता की हीनता के कारण है। प्रजनन-आयु की विवाहित स्त्रियों की अवन्ध्यता १६० प्रति हज़ार है जबकि इंगलैण्ड[2] में १९६ प्रति हज़ार है। सभ्यता की उन्नति के साथ जनन-क्षमता बढ़ जाती है, इस सिद्धान्त का समर्थन उपर्युक्त उदाहरण से किया जाता है।[3] जनन-क्षमता और अवन्ध्यता में सावधानी से अन्तर करना आवश्यक है।

---

१. वट्टल, पूर्व उद्धृत, पृ० २४।

२. देखिए, कार-सॉण्डर्स, द पॉपुलेशन प्रॉब्लम, पृ० ६७।

३. जनन-क्षमता और अवन्ध्यता में सावधानी से अन्तर न करने के कारण बहुधा भ्रम उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए जब यह कहा जाता है कि मुसलमानों की जनन-क्षमता हिन्दुओं से अधिक है, तो अर्थ यह होता है कि मुसलमान हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक तेज़ी से बढ़ रहे हैं। परन्तु केवल इतने से ही मुसलमानों की अधिक जनन-क्षमता नहीं सिद्ध होती। मुसलमानों की ऊँची वृद्धि-दर के अन्य अनेक कारण हैं; उदाहरण के लिए कम आयु की विवाह-प्रथा का कमजोर होना (इस प्रथा से स्वास्थ्य खराब हो जाता है और अवन्ध्यता कम हो जाती है, विधवा-विवाह का प्रचलन जो हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में अधिक प्रचलित है तथा कुलीनता का न होना इत्यादि।) मुसलमानों की अधिक वृद्धि-दर जो जनगणनाओं में क्रमशः दृष्टिगोचर हुई है अंशतः हिन्दुओं द्वारा इस्लाम धर्म को स्वीकार करने तथा हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों द्वारा कम संख्या में ईसाई धर्म को स्वीकार करने के कारण भी है। सन् १९३१

जनन-क्षमता का प्रयोग प्रजनन-शक्ति के अर्थ में किया जाता है और अवन्ध्यता का अर्थ वास्तविक प्रजनन से होता है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि भारतीयों की जनन-क्षमता कम है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि कुल जनसंख्या के अनुपात में यहाँ प्रति वर्ष कम बच्चे पैदा होते हैं; यह तो नितान्त असत्य है। इसका अर्थ यह है कि अन्य बातों के समान रहने पर एक अंग्रेज़ स्त्री की तुलना में एक भारतीय स्त्री प्रजनन-काल में अपेक्षाकृत कम बच्चों को जन्म दे सकती है। इंगलैण्ड में प्रजनन-शक्ति पूर्णतया प्रयोग में नहीं आती, क्योंकि भारत की अपेक्षा वहाँ अविवाहित रहना और देर से शादी करना अधिक प्रचलित है। अतः भारत की हीन जनन-क्षमता का सिद्धान्त ऊँची जन्म-दर के तथ्य के विरोध में नहीं है।

कहा जाता है कि अवन्ध्यता का यह अन्तर भारत में प्रचलित बाल-विवाहों से ही स्पष्ट नहीं किया जा सकता। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं है कि अवन्ध्यता कम करने के यह महत्त्वपूर्ण कारणों में से एक है, परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि यूरोप में प्रतिबन्धक निरोधों का अत्यधिक प्रचलन इससे कहीं अधिक प्रभावशाली है और इसलिए भारत में अवन्ध्यता का कम होना (अर्थात् प्रति स्त्री बच्चों की संख्या) यूरोपीय जातियों की तुलना में भारतीयों की जनन-क्षमता कम होने के कारण ही है। फिर भी सभ्यता की प्रगति और जनन-क्षमता की वृद्धि को सम्बन्धित करने वाला सिद्धान्त एक अनुमान-मात्र है जिसकी पर्याप्त पुष्टि किसी अकाट्य प्रमाण से अभी तक नहीं हुई है। सामान्यतः स्वीकृत विचार यह है कि जनन-क्षमता मानसिक और भौतिक विकास के साथ घटती जाती है, परन्तु उपर्युक्त सिद्धान्त इसके विपरीत है।

(ख) परिस्थितिजन्य—कभी-कभी पति और पत्नी एक-दूसरे से काफी समय तक अलग रहते हैं। उदाहरण के लिए यदि वर्षा न हो तो पति परिवार को छोड़कर महीनों बाहर घूमता रहता है। परन्तु ऐसा कभी-कभी होता है और इसलिए अवन्ध्यता कम करने की दिशा में उसके प्रभाव पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

(ग) विचारपूर्वक किये गए कार्य—माल्थस द्वारा बताये गए नैतिक परहेज़ का कोई विशेष प्रयोग नहीं किया जाता और यह बात माल्थस की परम्परा के आधुनिक तरीकों पर भी लागू होती है। ऐसा सकारण विश्वास किया जा सकता ह कि बड़े शहरों में उच्च-मध्यम-वर्ग वालों में इनका प्रयोग बढ़ता जा रहा है तथा भविष्य में इनके और अधिक प्रयोग की आशा की जा सकती है। परन्तु वर्तमान समय में जन्म-दर को कम करने में इसका प्रभाव लगभग नहीं के बराबर है।

स्वेच्छा से गर्भपात तो कुछ हद तक किये जाते हैं, परन्तु कानून द्वारा इस प्रथा

और १९४१ की जनगणनाओं में मुसलमानों की संख्या के आँकड़ों के अतिरंजित होने की सम्भावना को भी नहीं भुला देना चहिए। पहले की जनगणनाओं के बायकाट में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं ने अधिक भाग लिया है तथा सन् १९४१ की जनगणना में अनेक कारणों से, जिनमें अधिकारियों का पक्षपात भी एक कारण है, मुसलमानों ने अपने-आपको अधिक संख्या में गिनवाया। अधिकांश मुसलमान जाति के दृष्टिकोण से हिन्दुओं के समान ही हैं, अतः मुसलमानों की जनन-क्षमता हिन्दुओं से अधिक है, इस बात को शीघ्र ही बिना सोचे-समझे स्वीकार न करना चाहिए।

को संगीन अपराध मानना उचित ही है। जनसंख्या की वृद्धि रोकने में इसका प्रभाव तेज़ी से घटता जा रहा है।[1]

१६. सामाजिक रीति-रिवाज (स्तन-पान इत्यादि)—भारत में अधिक समय तक स्तन-पान कराने की प्रथा आम तौर से प्रचलित है और यह सर्वसाधारण के मत से, जिसमें डाक्टरों का साक्ष्य भी है, गर्भ धारण करने की शक्ति कम कर देती है। यूरोप में सौन्दर्य-रक्षा की भावना से माताएँ कभी-कभी बच्चों को स्तन-पान बिलकुल नहीं करने देतीं और यदि स्तन-पान कराती हैं तो भारत की अपेक्षा बहुत जल्द बन्द कर देती हैं। विशेषज्ञ चिकित्सकों के अनुसार नौ महीने या एक साल से अधिक स्तन-पान माँ और बच्चा दोनों के लिए ही हानिप्रद है। यूरोपीय माताओं का इससे बचने का यह एक और कारण है। परन्तु भारत में इस प्रथा के प्रचलन को जनसंख्या रोकने का कारण अवश्य मानना चाहिए।

हम पहले ही कह चुके हैं कि भारत में जनसंख्या रोकने के लिए विवाहित जीवन में संभोग से ऐच्छिक परहेज़ नहीं के बराबर है। हाँ, कुछ धार्मिक आदेश कुछ समयों पर परहेज़ अनिवार्य कर देते हैं। उदाहरण के लिए मनु का आदेश है कि द्वितीया और पूर्णिमा (तिथियों) के दिन पति-पत्नी को अलग रहना चाहिए। अनेक आधुनिक प्रभावों के कारण ऐसे नियमों का पालन धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त यह बहुत समय तक अलग रहने के लिए बाध्य नहीं करते और वास्तव में उनका प्रभाव नगण्य है।

कुलीन-प्रथा भारत के कुछ भागों में, उदाहरणार्थ पूर्वी बंगाल में, अब भी प्रचलित है और कुछ सीमा तक यह जनसंख्या की वृद्धि अवश्य रोकती है। इसके अनुसार एक लड़की समाज में अपने बराबर या हीन जाति के व्यक्ति से विवाह नहीं कर सकती। वह केवल अपने से उच्च वर्ण में ही विवाह कर सकती है। उच्च वर्ण के वरों की संख्या सीमित होने के कारण, वे अत्यधिक प्रतिस्पर्धा का विषय बन जाते हैं और इससे ऊँचे दहेज़ तथा बहु-विवाह जैसी कुप्रथाओं का जन्म होता है।[2]

विधवा-विवाह का निषेध जनसंख्या की वृद्धि पर एक नगण्य निरोध नहीं है। इससे गर्भ धारण करने योग्य लगभग ६० लाख स्त्रियों का 'सामाजिक वन्ध्यीकरण' हो जाता है। अगर यह निषेध बन्द हो जाय तो वृद्धि की दर लगभग ६ प्रति हज़ार

१. गर्भपात बहुधा जुर्म तथा नीतिविरुद्ध जन्म छिपाने के लिए ही अपनाया जाता है। विहित जन्मों को रोकने के लिए अधिकतर लोग उसे पसन्द नहीं कर सकते।

२. मैं ऐसे दो कुलीनों को जानता हूँ जिनमें से एक के साठ पत्नियाँ थीं तथा दूसरे के सौ से भी अधिक। दोनों एक पुस्तक रखते थे जिसमें वे अपनी विवाहित पत्नियों के पिताओं के नाम लिखते थे। शीत ऋतु प्रारम्भ होने पर वह किताब लेकर अपनी ससुराल-यात्रा पर चल देते थे तथा जिन पत्नियों के यहाँ जाते थे उनके पिता से उसकी परिस्थिति के अनुसार रुपया इकट्ठा करते हुए शेष दिन अपने गाँव में बिताने के लिए गरमी के प्रारम्भ में लौट आते थे।—बाबू अभयचन्द्रदास, रिसले द्वारा उद्धृत, पृ० १६६-१६७। कुलीन-प्रथा इस भयानक रूप में अब प्रचलित नहीं है, परन्तु वह समाप्त भी नहीं हुई है। रिसले ने कुलीन-प्रथा के आधुनिक विकास का भी हवाला दिया है जो बंगाल के विवाह-बाजार में ग्रेजुएट वरों की माँग के कारण हुआ है।

की दर से बढ़ जायगी।[1]

१७. शिशु-हत्या—कभी-कभी उपर्युक्त प्रकार से लड़की की शादी करने की कठिनाइयाँ शिशु-हत्या (लड़कियों की) का कारण बनती है। लड़कियों के रजस्वला होने से पूर्व ही उनकी शादी करने के सामाजिक और धार्मिक दायित्व के कारण लड़कियों का जन्म साधारणतः हर्ष का विषय नहीं होता और यह लड़कियों की उपेक्षा का एक कारण है। जहाँ कुलीन प्रथा प्रचलित है, वहाँ स्थिति और भी शोचनीय है। परन्तु लड़कियों की शिशु-हत्या[2] स्वेच्छा से कराये हुए गर्भपात की तरह ही कम होती जा रही है और आशा है कि जनमत और कानून के संयुक्त प्रभाव से इसके चिह्न तक शीघ्र ही मिट जायँगे।

१८. ग़रीबी और बीमारी[3]—ग़रीबी शारीरिक शक्ति को हीन कर जन्म-दर को सीमित करती है। ग़रीबी के इस सम्भाव्य परिणाम की ओर हम पहले भी संकेत कर चुके हैं। साधारणतः ग़रीबी को असावधानी और नासमझी से हुए प्रजनन का कारण माना जाता है, यद्यपि ग़रीबी विवाह करने के लिए हतोत्साहित करती है। विवाह में होने वाले खर्च न कर सकने के कारण उसे अनिच्छापूर्वक टालना पड़ता है, परन्तु जैसे ही आर्थिक स्थिति सुधरती है वैसे ही सबसे पहले इस स्थगित संस्कार को सम्पन्न करने का उपक्रम किया जाता है।

मलेरिया ज्वर जिससे भारत का कोई भी भाग अछूता नहीं है, अवन्ध्यता के प्रतिकूल है, क्योंकि प्रजनन आयु की स्त्रियाँ विशेष रूप से उसका शिकार होती हैं।

१९. निष्कर्ष—हम ऊपर देख चुके हैं कि भारत में ऐच्छिक तथा अनैच्छिक दोनों प्रकार के प्रतिबन्धक निरोध किस सीमा तक क्रियाशील हैं। परन्तु ऊँची जन्म-दर स्पष्टतया संकेत करती है कि इन सब उपायों का 'सम्मिलित प्रभाव बहुत कम है। उनमें से कुछ, जैसे शिशु-हत्या, और गर्भपात लगभग मिट रहे हैं, तथा अन्य, जैसे बाल-विवाह, कुलीन-प्रथा तथा विधवा-विवाह का निषेध, सामाजिक सुधार की प्रगति और सर्व-साधारण की शिक्षा के साथ कम होते जायँगे। इन प्रतिबन्धक निरोधों को हटा दिया गया या कमज़ोर कर दिया गया और रोक के नये उपायों ने उनका स्थान न लिया तो स्पष्टतया जीवन-निर्वाह के साधनों को अतिक्रमण करने की जनसंख्या की प्रवृत्ति को बल मिलेगा।

निश्चयात्मक और निवारक निरोधों में विलोम सम्बन्ध है। जनसंख्या को जीवन-निर्वाह के साधनों से संतुलित रखने के लिए स्वयं किये गए उपायों के अभाव में प्रकृति

१. ज्ञानचन्द, पूर्व उद्धृत, पृ० १४०।

२. पंजाब में '२० वर्ष पूर्व की तुलना में अब परिस्थितियां अच्छी हैं, परन्तु अब भी ऐसे जाट और राजपूत हैं जो अपनी लड़कियों का विवाह अपनी स्थिति से नीचे करने के बजाय उनका मर जाना पसन्द करते हैं।—एम० एल० डार्लिंग, द० पंजाब पेज़ैण्ट इन प्रॉस्पेरिटी एण्ड डेट, चौथा संस्करण, पृ० ५१।

३. ग़रीबी और बीमारी को बहुधा निश्चयात्मक निरोधों के अन्तर्गत रखा जाता है। यहाँ हमने उन्हें प्रतिबन्धक निरोधों के अन्तर्गत सम्मिलित किया है, क्योंकि हम वर्तमान जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के सम्बन्ध में उनके प्रभावों पर विचार कर रहे हैं, वर्तमान जनसंख्या कम करने के बारे में नहीं।

के कष्टकारक तरीके अपना काम प्रारम्भ कर देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारत अनियन्त्रित प्रजनन का दण्ड भोग रहा है। लाखों अतिरिक्त व्यक्ति थकी हुई पृथ्वी पर बोझ बन जाते हैं जो उनका पालन नहीं कर सकती। ऊँची मृत्यु-दर अंशतः सार्वजनिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी अपर्याप्त प्रबन्ध तथा स्वास्थ्य-नियमों की अज्ञानता के कारण है। लेकिन आखिर में इनका कारण भी ग़रीबी ही है। लगभग ९० प्रतिशत व्यक्ति सदैव क्षुधा-पीड़ित रहते हैं—और यह घोर निर्धनता शिशुओं तथा वयस्कों की भारी मृत्यु-संख्या का मुख्य कारण है। बच्चों की मृत्यु का कारण यह है कि उनको समुचित पोषण-तत्त्व नहीं मिलते तथा अपर्याप्त भोजन के कारण वयस्कों की हीन जीवन-शक्ति उन्हें सरलता से बीमारी का शिकार बना देती है। सन् १९१८-१९ की इनफ्लुएंज़ा महामारी में हुई भयानक मृत्यु भारतीयों की बीमारियों को रोकने की हीन शक्ति के कारण थी जिसका कारण ग़रीबी था।

यदि जनसंख्या की अनियंत्रित वृद्धि हो रही हो और उपलब्ध साधन उसका पालन करने में असमर्थ हों, तो यह जनाधिक्य का सूचक है। भारत की वर्तमान दशा इसी प्रकार की है। ग़रीबी के कारण ऊँची मृत्यु-दर जनाधिक्य की खरी कसौटी है। इस अर्थ में, यह बहुत सम्भाव्य है, कि भारत में जनाधिक्य है। यहाँ की वर्तमान दशा और निकट भविष्य में विकास की सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि यदि जनसंख्या की वृद्धि काफ़ी कम दर से हो तो यहाँ के निवासियों के लिए यह अधिक अच्छा देश बन जाय।[1]

२०. जनाधिक्य और राष्ट्रीय आय—राष्ट्रीय आय की गणना से पता चलता है कि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय धीरे-धीरे बढ़ती रही है। यदि जनसंख्या बढ़ रही हो और उसके साथ राष्ट्रीय आय भी कम-से-कम उसी दर से बढ़ रही हो, तब हम जनाधिक्य की चर्चा कैसे कर सकते हैं। इस कठिनाई से निकलने का एक उपाय राष्ट्रीय आय-गणनाओं की विभिन्न मान्यताओं की यथार्थता पर सन्देह प्रकट करना है।[2] सही आँकड़ों के अभाव में राष्ट्रीय आय की गणना अनुमान-मात्र ही है।[3] हम विन्सेन्ट स्मिथ पर

१. इस सामान्य निष्कर्ष के बावजूद भी हमारा विश्वास है कि भारत के वृहत् विस्तार, जलवायु, वंश तथा प्राकृतिक साधनों के विभिन्न प्रकारों के कारण जनाधिक्य की गम्भीर समस्या का अध्ययन यदि छोटे पैमाने पर जिलों और राज्यों के आधार पर किया जाय तो अधिक उपयुक्त हो। श्री एन. वी. सोवानी ने अपनी पुस्तक पॉपुलेशन प्रॉब्लम आफ इण्डिया, १९४२, में इस समस्या का प्रादेशिक आधार पर ही अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त जाति-प्रथा तथा भारतीय समाज की अन्य विशेषताओं के कारण प्रतिस्पर्धाहीन जन-समूह बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। सामान्य सर्वेक्षण की तुलना में जिसका हमने यहाँ प्रयत्न किया है, प्रत्येक समूह और जाति का अध्ययन जनाधिक्य की समस्या के विस्तार और प्रकृति में महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि प्रदान करेगा।

२. देखिए, खण्ड २, अध्याय ४।

३. राष्ट्रीय आय के परिगणनों को अगर हम अनुमान-मात्र न मानें तब भी वह जनाधिक्य के विरोध में कोई सबल तर्क उपस्थित नहीं करते। इन अनुमानों से वास्तविक आय की वृद्धि का कोई अनुमान नहीं मिलता। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय आय समिति का अनुमान (प्रति व्यक्ति २६५ रुपए के लगभग) मुद्रा प्रसार के कारण ही इतना अधिक है। —अनुवादक

पक्षपात का सन्देह नहीं कर सकते; परन्तु इस सम्बन्ध में वह भी केवल इतना ही कह सके कि अन्य राज्यों की अपेक्षा अंग्रेज़ी राज्य में जनता अधिक सुखी थी तथा सब बातों को ध्यान में रखते हुए जनता के हित के दृष्टिकोण से अकबर के राज्य की तुलना में अंग्रेज़ी राज्य का पलड़ा कुछ भारी था।[1] मोरलैण्ड ने भी यही कहा है कि कोई बड़ा गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ।[2] देश की आर्थिक परिस्थितियों में ऐसा स्पष्ट सुधार नहीं हुआ है कि उसे हरएक व्यक्ति देख ले। स्थिति बड़ी गम्भीरता से अध्ययन करने वाले भी उसमें सुधार की अपेक्षा अवनति अधिक पाएँगे।

इस कठिनाई से बचने का दूसरा उपाय यह है कि हम आर्थिक स्थिति के सुधार को स्वीकार कर लें, परन्तु यह कहें कि यह सुधार प्राकृतिक निरोधों के क्रियाशील होने के बजाय जनसंख्या के अपेक्षाकृत कम होने तथा जान-बूझकर जन्म रोकने से कहीं अधिक होता। हमारे विचार से यही सही मत है।[3]

२१. निश्चयात्मक तथा निवारक उपाय—यदि जनसंख्या को कम करना वाञ्छित मान लिया जाय तब उसे कम करने के लिए निश्चयात्मक और निवारक निरोधों के सम्बन्ध में हम उदासीन नहीं हो सकते। आराम के उच्चतम स्तर को पाने के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि जनसंख्या के अनुकूलतम संख्या तक सीमित ही किया जाय वरन् यह भी आवश्यक है कि हम अनुकूलतम संख्या से सम्बन्धित उत्पादन-क्षमता को भी बनाए रखें। प्रकृति के तरीके भद्दे हैं; वे बहुत ही दुखदायी होते हैं। यद्यपि प्राकृतिक आपत्ति जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि को समाप्त करने में सफल हो सकती है, परन्तु वह शेष व्यक्तियों को उत्साहहीन और शिथिल कर देती है। इससे इतनी अधिक आर्थिक व सामाजिक दुर्व्यवस्था हो सकती है कि इस आपत्ति के बाद समाज की स्थिति पहले से बुरी हो सकती है। और इस प्रकार से जनसंख्या में होने वाली कमी से ग़रीबी और कष्ट बढ़ सकते हैं। इसलिए आर्थिक दृष्टिकोण से जनाधिक्य के दोषों को दूर करने के लिए निश्चयात्मक निरोधों की तुलना में निवारक निरोध अच्छे हैं। सच तो यह है कि निश्चयात्मक निरोध शायद ही कभी जनाधिक्य का रोग दूर कर सकें, बहुधा वे उसे बढ़ा ही देते हैं।

भारत में जनाधिक्य है, इस बात के खण्डन करने के विचार से कभी-कभी पश्चिमी देशों की तुलना में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि यहाँ जनसंख्या अपेक्षाकृत कम दर से बढ़ रही है। इस अल्प वृद्धि द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि जनाधिक्य नहीं होता। इसके लिए हमें यह भी सिद्ध करना होगा कि धन की वृद्धि कम-से-कम उसी अनुपात में हुई है तथा जनसंख्या की वृद्धि-दर के और कम होने से प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कम हो जाती। दूसरे, हमें यह भी देखना होगा कि जनसंख्या की वृद्धि को निश्चयात्मक निरोध रोक रहे हैं अथवा निवारक। हमें मालूम है कि भारत में मुख्यतया निश्चयात्मक निरोध ही काम करते रहे हैं। इस कारण से, जैसा कि हम ऊपर कह चुके

१. विन्सेन्ट स्मिथ, अकबर द ग्रेट मुग़ल, पृ० ३९४-४१४।

२. डब्लु, एच. मोरलैण्ड, इण्डिया एट द डेथ ऑफ अकबर, पृ० २७०।

३. देखिए, सेक्शन २८ (नीचे)।

हैं, जन-संख्या की कम वृद्धि-दर या जनसंख्या की कमी और देशवासियों की आर्थिक स्थिति का ह्रास परस्पर-विरोधी नही है ।

२२. जनसंख्या रोकने के लिए विचारपूर्वक किये गए उपायों के अतिरिक्त अन्य उपाय—भारत में जनाधिक्य है, इस मत के प्रतिपादन का अर्थ यह नही है कि देश के साधनों के समुचित रूप से विकसित होने पर यहाँ और अधिक संख्या में व्यक्तियों के रहने की सुविधा नही है। कहा जा सकता है कि पश्चिमी देशों का आर्थिक विकास चरम सीमा को पहुँच चुका है जबकि भारत में अभी इसका उदय-काल ही है, उद्योगीकरण अभी शुरू ही हुआ है तथा उद्योगों की अधिकतम प्रत्युपलब्धि बहुत दूर है। यही बात परिवहन, जहाज़रानी आदि के बारे में भी लागू होती है। कृषि में भी विकास और सिंचाई की सम्भावनाओं का पूर्ण उपयोग नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त धनोत्पत्ति में वृद्धि के अलावा धन का समुचित वितरण आर्थिक क्षेत्र के इसी या इससे भी ऊँचे स्तर पर अधिक जनसंख्या को रख सकता है। जनसंख्या का वितरण अपेक्षाकृत अधिक समान हो सकता है। घने बसे हुए जिलों से अतिरिक्त जनसंख्या उन भागों में बसाई जा सकती है जिनमें जनसंख्या उचित आर्थिक विकास के लिए अपर्याप्त है। अति सघनता (अत्यधिक घना बसा होना) को कम करने के लिए प्रवास की सहायता भी ली जा सकती है।

२३. इन उपायों की सीमाएँ—फिर भी इनमें से किसी भी उपाय के पूरी तरह कारगर होने की सम्भावना का अतिरंजित अनुमान हमें नहीं करना चाहिए।

यदि हम वर्तमान बाधाओं पर ध्यान न भी दें तथा निकट भविष्य में योजनाओं के कार्यान्वित होने से तीव्र औद्योगिक विकास अवश्यम्भावी मान लें तब भी यह सम्भव नहीं है कि उद्योगों के विकास के लिए प्राप्य संख्या से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होगी। ऐच्छिक निरोधों के अभाव में जनसंख्या की सदैव आवश्यकता से अधिक हो जाने की सम्भावना है। यदि जनसंख्या में क्रमशः होने वाली वृद्धि विकासशील आर्थिक साधनों द्वारा खपती जाय तो शायद प्रकृति के कठोर निरोधों की कभी नौबत ही न आए। नये बसे हुए देशों में कभी-कभी ऐसा होता है, परन्तु ऐसी घटना बहुत थोड़े समय के लिए होती है।[1] भारत एक नया देश नही है और न ही प्राप्त अवसर, चाहे कितनी ही आशाभाव से देखें, औद्योगिक क्रान्ति के समय की इंगलैण्ड की परिस्थितियों के समान हैं।

---

१. इस समस्या का एक अन्य पहलू निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—'मेरा विचार है कि पूँजी का अत्यधिक संचय, जिससे वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग सम्भव हो जाता है बड़े पैमाने के निर्माण उद्योगों में वृद्धिमान उपलब्धियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। यदि मनुष्यों की अधिक संख्या आवश्यक भी हो तब भी अंकशास्त्री को पूछना चाहिए कि क्या आन्तरिक मितव्ययता तथा अधिकांश बाह्य मितव्ययताएँ व्यक्तिगत संगठनों, बाजारों तथा शहरों में बड़ी संख्या में नियोजित लोगों से प्राप्त नहीं होतीं ? यदि बढ़ती हुई प्रत्युपलब्धि की यही मुख्य शर्त हो तो इसका सम्बन्ध प्रत्येक उद्योगशाला या स्थान में नियोजित व्यक्तियों की औसत संख्या की वृद्धि से होगा, जिससे कृषि की घटती हुई प्रत्युपलब्धि कम हो जायगी न कि समस्त उद्योग में श्रमिकों की संख्या की वृद्धि। यह संभव है कि जनसंख्या की वृद्धि से उद्योग को बढ़ती हुई प्रत्युपलब्धि प्राप्त ही न हो।' —फ्लोरेन्स, पूर्व उद्धृत, पृ० १५।

अतिरिक्त जनसंख्या की औद्योगिक कार्य व्यापारों में खपत समस्या का स्थायी हल तभी बन सकता है जबकि जनसंख्या की वृद्धि केवल उत्पादित खाद्य तक ही नहीं बल्कि औद्योगिक श्रमिकों की माँग चरम बिन्दु तक सीमित रखी जाय। (ऊपर सेक्शन ११ देखिए)

२४. जनाधिक्य के विरुद्ध श्रम के अभाव का तर्क—कृषि तथा उद्योग में श्रम के अभाव का तर्क बहुधा जनाधिक्य के विरोध में दिया जाता है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि श्रम के अभाव का विचार कुछ अवसरों पर ही, जैसे फसल बोने और काटने के समय, उत्पन्न होता है, क्योंकि उस समय श्रम की माँग अत्यधिक होती है। लोग भूल जाते हैं कि वर्ष के शेष समय में श्रम को बेकार रहने के लिए मजबूर होना पड़ता है। कृषि-काल में श्रम का अपेक्षाकृत अभाव सदैव ही रहा होगा, परन्तु, अब उसकी अधिक चर्चा की जाने लगी है। शहरों के पास के ग्रामीण क्षेत्रों को श्रम के बढ़ते हुए अभाव की शिकायत हो सकती है, क्योंकि कुछ भाग शहरों में चले जाने के कारण श्रम का कुछ भाग उनके लिए अप्राप्य हो जाता है अथवा कृषि-कार्यों के लिए आवश्यकता के अनुसार सारा श्रम नहीं मिल पाता। परन्तु यह बात शहरों से दूर स्थित ग्रामीण क्षेत्रों के ऊपर लागू नहीं होती। कृषि श्रम के सामान्य अभाव का विचार इस सिद्धान्त से मेल नहीं खाता कि भूमि का भार बढ़ रहा है तथा समाई से अधिक व्यक्ति उस पर आश्रित हैं।[1] कृषि आयोग का सुविचारित मत यह था कि आसाम को छोड़कर अन्य किसी प्रान्त में भी श्रम के सामान्य अभाव की स्थिति कठिन नहीं थी।[2] इसी प्रकार उद्योगों में भी श्रम का अभाव वास्तविक नहीं है, केवल प्रतीत ही होता है। श्रम बिलकुल ही प्राप्य हो, ऐसी बात नहीं है। किन्तु निवास-स्थान की कठिनाइयाँ और रहने की अस्वास्थ्यकर दशा श्रम को हतोत्साहित करती है और उनके कारण बहुत सा सम्भावित श्रम भी नहीं मिल पाता। इसके अतिरिक्त देशवासियों की रूढ़िवादिता और अज्ञान को दूर करने के लिए कोई ठीक संस्था भी नहीं है। ये लाग खेती करके कठिनाई के जीवन ही बिताते रहेंगे, भले ही शहरों में स्थायी काम से स्थिति सुधारने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो। श्रम की माँग भी अधिकतर कुशल श्रम के लिए होती है। अतः इसका उपाय आधुनिक उद्योगों के लिए श्रमिकों को प्रशिक्षण की आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करना है। अन्तिम बात यह है कि माँग किसी मूल्य पर ही होती है। सम्भव है कि श्रमिक को दिया जाने वाला मूल्य (मजदूरी) पर्याप्त रूप से आकर्षक न हो। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कृषि और उद्योग दोनों में ही श्रम की माँग और पूर्ति (असमंजित) हैं, परन्तु यह बात अत्यधिक सन्देहास्पद है कि

१. आर्थिक आधार पर खेती करने में वास्तविक कठिनाई यह है कि दिये हुए क्षेत्र पर गिने-चुने व्यक्ति ही काम कर सकते हैं। भले ही खाद्योत्पत्ति उनसे अधिक व्यक्तियों के लिए भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो, परन्तु जनसंख्या की अधिक वृद्धि कृषि-क्षेत्रों के विभाजन को जन्म देगी और इस प्रकार अनार्थिक क्षेत्र होने के कारण उत्पत्ति कम हो जायगी या देश में जनसंख्या का एक भाग ऐसा हो जायगा जो कृषि में भी न लगा होगा तथा जिसके पास आवश्यक खाद्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए खाद्योत्पत्ति करने वालों से विनिमय के लिए भी कुछ न होगा। —सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९३१), खण्ड १, पृ० ३१।

२. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ५०६।

इसका उपाय जनसंख्या में शीघ्र वृद्धि है। श्रमिकों की संख्या में वृद्धि उन्हें इस बात पर तो मजबूर कर सकती है कि वे कार्य करने की उन दशाओं तथा उस मज़दूरी को स्वीकार कर लें जिस पर काम करने से वे आज इन्कार करते हैं। इससे नियोक्ता के लिए स्थिति सरल हो सकती है, परन्तु श्रमिक को इससे हानि होगी। एक वर्ग-विशेष अस्थायी रूप से लाभ उठा ले, परन्तु राष्ट्र की स्थिति अब से खराब हो जायगी।

२५. कृषि-विकास—कृषि की सम्भावनाएँ बहुत अवश्य हैं परन्तु असीमित नहीं हैं और सभी को कार्यान्वित भी नहीं किया जा सकता।[१] ऐसे बहुत से अविकसित क्षेत्र हैं जहाँ अभी तक खेती नहीं की गई। परन्तु उपजाऊ भूमि अधिकतर जोती जा चुकी है तथा शेष भूमि अपेक्षाकृत कम उपजाऊ है और उसे प्रयोग में लाने के लिए इतनी पूँजी अपेक्षित है जो साधारणतः एक सामान्य कृषक की सामर्थ्य के बाहर है। खेतों के विभाजित और दूर-दूर होने के कारण गहन कृषि की सम्भावनाएँ सीमित हैं। ये कठिनाइयाँ एकबारगी दूर नहीं की जा सकतीं। फिर कृषि की आधुनिकतम विधियाँ धीरे-धीरे ही अपनाई जा सकती हैं और उसके बाद भी असमान प्रत्युपलब्धि का नियम कालान्तर में अवश्य लागू होगा, क्योंकि अब तक के अनुभव के आधार पर हम कृषि में लगातार ऐसे सुधारों की आशा नही कर सकते जिससे ह्रासमान प्रत्युपलब्धि का प्रारम्भ अनिश्चित समय के लिए रुक जाय। कृषि का विकास सिंचाई पर निर्भर है, और देश के अधिकांश भाग मे सिंचाई-सम्बन्धी दुर्जय असुविधाओं के कारण मानसून पर ही निर्भर है, इसलिए निकट भविष्य में उनकी कृषि-सम्बन्धी स्थिति में किसी उल्लेख्य उन्नति की सम्भावना नहीं है।[२]

२६. अन्तर्प्रान्तीय प्रवास[३] : यदि छितरे बसे हुए क्षेत्रों की अधिक जनसंख्या को आश्रय देने की क्षमता-सम्बन्धी अतिरंजित अनुमानों को छोड़ दिया जाय, तो भी विभिन्न राज्यों में जनसंख्या के अधिक समान वितरण की संभावनाओं के सम्बन्ध में घने बसे हुए क्षेत्रों से अन्य क्षेत्रों में जनसंख्या के स्थानान्तर की कठिनाई को हमें यों ही नहीं भुला देना चाहिए। विभिन्न राज्यों में भाषा, विचार, रहन-सहन तथा जलवायु आदि इतने भिन्न हैं कि लोगों को बड़ी संख्या में एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाने की आशा नहीं की जा सकती। घर तथा परिचित परिस्थितियों के प्रति स्वाभाविक प्रेम अज्ञान, रूढ़िवादिता तथा देशवासियों की असाहसी प्रकृति से और भी पुष्ट हो जाता है।[४] आसाम जैसे राज्यों में जनसंख्या के विस्तार के लिए पर्याप्त स्थान है, यह स्वीकार

---

१. "कृषि प्रधान भारत १९५ प्रति वर्गमील के घनत्व से अत्यधिक औद्योगिक यूरोप या यूनाइटेड स्टेट्स की तुलना में प्रति वर्गमील अधिक जनसंख्या को आश्रय देता है। यूरोप तथा यूनाइटेड स्टेट्स में घनत्व क्रमशः १२७ तथा ४१ प्रति वर्गमील है।"—वट्टल, पूर्व उद्धृत, पृ० १०।

२. भारत में नदियों का ५·६ प्रतिशत पानी सिंचाई के काम आता है। सिंचाई की बड़ी-बड़ी योजनाएँ पूरी होने पर भी उनका १३·६ प्रतिशत पानी ही काम में आ सकेगा। यह भारत में होने वाली वर्षा का लगभग ६·६ प्रतिशत होगा। —इण्डिया १९५४, पृ० १८७ के आधार पर।

३. नीचे सेक्शन ३३ देखिए।

४. देश के विभाजन का एक दुःखद परिणाम यह हुआ कि अनेक व्यक्ति बे-घरबार हो गए। इससे

कर लेने पर भी हमें यह मानना पड़ेगा कि पूर्वी मद्रास से लेकर उत्तर में बंगाल, बिहार, और उत्तर प्रदेश तक फैले हुए कटिबन्ध की अतिरिक्त जनसंख्या का एक छोटा हिस्सा ही वहाँ खप सकता है जबकि इस पट्टी से जनसंख्या के स्थानान्तर की सबसे अधिक आवश्यकता है।[1]

२७. परावास—विदेशों में जाकर बसने से समस्या के हल में कोई खास सहायता की आशा करना हाल की घटनाओं के सम्बन्ध में अक्षम्य अज्ञान का परिचायक है। हाल की घटनाओं में ब्रिटिश उपनिवेशों की भारतीयों को बसाने की नीति तथा राष्ट्रीय स्व-निर्भरता-नीति विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यह सच है कि भारतीय श्रमिकों ने उपनिवेशों को मूल्यवान् बना दिया है तथा ब्रिटिश साम्राज्य के सभी भागों को लाभप्रद सम्पत्ति बना दिया है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें बसाने के लिए हर उपनिवेश तैयार है। इस सम्बन्ध में दक्षिणी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया का रुख इस बात को स्पष्ट कर देता है कि भारतीयों को अपनी आर्थिक उन्नति के लिए अपने देश में ही काम करना चाहिए।

२८. जनसंख्या और उत्पादन—जनाधिक्य की समस्या से सम्बन्धित सभी प्रश्नों में सामग्री के सम्भरण की स्थिति सबसे प्रमुख है। सामान्यतः खाद्य-सामग्री के सम्भरण के लिए भारत (बर्मा को छोड़कर, जहाँ से चावल मँगाया जाता है) विदेशों पर कोई विशेष निर्भर नहीं है तथा खाद्य-उत्पादन की मात्रा के अन्तर का स्पष्ट प्रभाव जीवन-निर्वाह के साधनों पर जनसंख्या के दबाव के रूप में पड़ता है। यदि हम यह सिद्ध कर सकें कि खाद्य-सामग्री का सम्भरण कम-से-कम जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात में हो रहा है, तो हम कह सकते हैं कि जनाधिक्य नहीं है। इस विषय पर उपलब्ध आँकड़े इसके विरोधी हैं। के० एल० दत्त ने अपनी कीमत जाँच रिपोर्ट (प्राइसेज़ इन्क्वायरी रिपोर्ट) में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सन् १८९४-१९१२ के मध्य कृषि-क्षेत्र, विशेषकर वह क्षेत्र जो खाद्योत्पादन में लगे थे, जनसंख्या के हिसाब से पिछड़े हुए थे। भारत सरकार ने इस निष्कर्ष को इस आधार पर नहीं माना था कि श्री दत्त के आँकड़े अनिश्चित और सन्देहास्पद थे। उनका कहना था कि सिंचाई आदि जैसे कारणों से कृषि-क्षेत्र तथा खाद्य-सामग्री दोनों ही जनसंख्या के अनुपात में बढ़ रहे थे। सन् १९२० में श्री दुबे ने यह सिद्ध करने के लिए आँकड़े प्रस्तुत किये कि देश में ९० से १०० लाख टन के लगभग खाद्यान्न का अभाव है, (देश के निर्यात को शामिल करते हुए)। इससे खाद्यान्न का तत्कालीन अभाव तथा जनाधिक्य तो पता चलते हैं, परन्तु यह पता नहीं चलता कि पिछले वर्षों की तुलना में स्थिति अच्छी है या बुरी। इसके विपरीत जनसंख्या का बढ़ता हुआ दबाव, जिसे अनेक अर्थशास्त्री स्वीकार करते हैं, इस बात की पुष्टि करता है कि उत्पादन की वृद्धि जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात से कम है।

भारत तथा पाकिस्तान दोनों के सम्मुख लाखों शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या आ गई। दोनों ही देशों में जनसंख्या और साधनों का सन्तुलन पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बिगड़ गया।

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ५०६।

डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'फूड प्लानिंग फॉर फोर हण्ड्रेड मिलियन्स' (१६३८) में अनुमान किया है कि सामान्य फसलों वाले वर्ष में लगभग १२% जनसंख्या के लिए खाद्य का अभाव रहता है। सन् १६३८ में श्री पी० के० वट्टल ने कहा कि सन् १६१३-१४ से १६३५-३६ के बीच जनसंख्या १% प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी, जबकि इस समय में खाद्य सामग्री की वृद्धि ०·६५ प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। इसका अर्थ यह है कि कृषि-उत्पादन में जनसंख्या के अनुकूल वृद्धि नहीं हुई।[1] प्रोफेसर ज्ञानचन्द ने भी इसी प्रकार का मत प्रस्तुत किया है। उन्होंने अनुमान किया है कि १६०० और १६३४ के बीच में जबकि कृषि-क्षेत्र में ११ प्रतिशत वृद्धि हुई है, जनसंख्या लगभग २१ प्रतिशत बढ़ी है।[2] योजना आयोग का अनुमान है कि १६४७-५२ तक प्रतिवर्ष देश में ३२.७ लाख टन खाद्यान्न आयात होता था। सन् १६५१ के आसपास देश में खाद्य-उत्पादन ५५६ लाख टन तथा खपत ५६० लाख टन थी। इस प्रकार सन् १६५१ में भी देश में ३४ लाख टन खाद्यान्न की कमी थी जो देश के २१ दिन के खाद्यान्न की ज़रूरत के बराबर है।[3]

डॉ० पी० जे० थॉमस[4] ने समस्या को जनसंख्या और उत्पादन के अन्तर-सम्बन्ध के दृष्टिकोण से देखा। उनके अनुसार १६२०-१ से १६२१-२ और १६३०-१ से १६३१-२ इन दो वर्षों में जनसंख्या की वृद्धि १०.४% थी, कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि क्रमशः १६ और ५१ प्रतिशत थी। तीस साल की लम्बी अवधि (१६००-१६३०) पर विचार करके भी वह ऐसे ही निष्कर्ष पर पहुँचे।[5] इन तीस वर्षो मे जनसंख्या १६ प्रतिशत बढ़ी, परन्तु यदि पहले (१६००-१ से १६०४-५) और अन्तिम (१६२५-६ से १६२६-३०) पाँच वर्षो की तुलना की जाय तो विदित होगा कि जनसंख्या केवल १३.५ प्रतिशत बढ़ी तथा कृषि उत्पादन २६ प्रतिशत तथा औद्योगिक उत्पादन उससे भी अधिक, अर्थात् १८६ प्रतिशत बढ़ा। इस प्रकार हम कोई भी समय क्यों न लें, इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि जनसंख्या आवश्यक उत्पादन से अधिक है। अंकशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर उनका दावा है कि उत्पादन बराबर जनसंख्या के अनुरूप बढ़ता रहा है और किन्ही क्षेत्रों में, जैसे मिल-उद्योग, व्यापारिक फसल इत्यादि में उत्पादन जनसंख्या की अपेक्षा कही तेज़ी से बढ़ा। महत्त्व की बात तो यह है कि यह प्रगति व्यापारिक मन्दी में भी बनी रही, और यदि जन-समूह की स्थिति इसे स्पष्ट नहीं करती तो इसका कारण अवश्य ही वितरण की असमानता है।

इस विषय पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने की मुख्य कठिनाई भारत में

१. खाद्य-फसलों के अन्तर्गत वास्तविक क्षेत्र लगभग ०.७२ एकड़ प्रतिव्यक्ति है। ऐसा प्रतीत होता है कि पिछले २०-३० वर्षों में प्रतिव्यक्ति कृषि क्षेत्र घट गया है। अकाल जांच आयोग (१६४४), अन्तिम रिपोर्ट।

२. पूर्व-उद्धृत अध्याय ८।

३. सेन्सस ऑफ इण्डिया, १६५१, खण्ड १, पार्ट A, रिपोर्ट, पृ० १६७-१७२।

४. इण्डियन जरनल आफ इकनामिक्स, कान्फ्रेन्स नम्बर (अप्रेल १६३५), पृ. ७३७-४७।

५. तुलना कीजिए, डी. जे. कर्वे, पावर्टी एण्ड पॉपुलेशन इन इण्डिया, प. ११०-१३।

उत्पादन-सम्बन्धी सही और विश्वसनीय आँकड़ों की कमी है।[1] यह बात फसलों के भावी अनुमानों के आधार पर फसलों के उपज-सम्बन्धी सरकारी अनुमानों पर विशेष रूप से लागू होती है, जो कृषि-उत्पादन को वास्तविकता से अधिक या कम आँकते हैं। डॉ० थॉमस का विचार है कि ये अनुमान बहुधा कम ही होते हैं। यह तो हर हालत में स्पष्ट ही है कि डॉ० थॉमस ने जनसंख्या की वृद्धि से सम्बन्धित खाद्य-समस्या के आँकड़ों को अलग नहीं निकाला है। वह स्वीकार करते हैं कि भारत में धान की खेती के सीमित विस्तार के कारण यह अत्यधिक सम्भव है कि भविष्य में भारत आयात किये हुए चावल पर ही निर्भर रहेगा, परन्तु उनका विचार है कि इसकी क्षतिपूर्ति औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि से हो जायगी। यदि हम डॉ० थॉमस के मतानुसार 'यह मान भी लें कि कृषि-उत्पादन जनसंख्या की वृद्धि से अधिक अनुपात में बढ़ रहा है और कृषि-उत्पादन का अधिक भाग खाद्यान्न होने के कारण, खाद्य-सामग्री का सम्भरण जनसंख्या की अपेक्षा अधिक तेज़ी से बढ़ रहा है'[2] तो भी इसका अर्थ केवल इतना है कि भारत में जनाधिक्य भद्दे तथा अत्यधिक स्पष्ट रूप में नहीं है। डॉ० थॉमस के आँकड़े, जैसा कि वह स्वयं स्वीकार करते हैं, इस बात को असिद्ध नहीं करते कि भारत की जनसंख्या अनुकूलतम से अधिक है। इस सम्पूर्ण तर्क के मध्य में जनाधिक्य की धारणा बनी रहती है जिसका अर्थ यह है कि जनसंख्या की वृद्धि की कम दर होने से देशवासियों की स्थिति में निस्सन्देह उल्लेखनीय सुधार होगा।

२९. धन की वृद्धि : एक अप्रत्यक्ष और शक्तिशाली उपचार—जनाधिक्य की प्रवृत्ति और स्थिति को स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं है कि आर्थिक सुधार के सारे प्रयत्न निरर्थक हैं। ऐसा निष्कर्ष ग़लत तथा अत्यधिक हानिकारक है। कृषि और औद्योगिक उन्नति की सशक्त नीति द्वारा प्रत्याशित धन की वृद्धि से संख्या में वृद्धि हो सकती है, परन्तु कुछ हद तक इससे जीवन-स्तर भी ऊँचा हो सकता है। एक बार जीवन-स्तर के ऊँचे हो जाने पर जनसंख्या के स्वैच्छिक नियन्त्रण द्वारा उसे स्थिर बनाये रखने की इच्छा और क्षमता बढ़ जाती है।[3] पश्चिमी देशों में ऐसा हुआ है और हम यह विश्वास करें तो अनुचित न होगा कि उस प्रकार के कारणों

---

१. देखिए, खण्ड २, अध्याय ४।

२. यहाँ डॉ० थॉमस के पक्ष में बहुत कुछ रियायत की गई है। यह बात आँकड़ों के आधार पर सिद्ध की जा सकती है कि सन् १९२१-१९४१ में खाद्यान्न और दालों के कृषि-क्षेत्र में १.५ प्रतिशत की वृद्धि हुई परन्तु जनसंख्या १५ प्रतिशत से अधिक बढ़ी और खाद्यान्न ४ प्रतिशत कम हो गया। देखिए नानावती और अंजारिया, द इण्डियन रूरल प्रॉब्लम, पृ० ५५।

३. जन्म-दर पर ऐच्छिक नियन्त्रण के अलावा अन्य कारण जिनसे मृत्यु-दर कम हो जाती है, अज्ञात रूप से जन्म-दर को भी कम कर देते हैं। धन और मानसिक कार्यों की वृद्धि के साथ प्रजनन-क्षमता भी कम हो जाती है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार जीवन-स्तर का सुधार, शिक्षा का प्रसार, स्त्रियों का घरेलू कामकाज के अतिरिक्त उपयोगी कार्यक्षेत्रों में पदार्पण आदि सुधार जनसंख्या की अनियमित और तीव्र वृद्धि को रोकने के लिए भी वांछनीय हैं। देखिए, सेन्सस ऑफ इण्डिया, (१९३१) खण्ड १, पृ० ४३।

का प्रभाव भारत में भी वैसा ही होगा। देशवासियों की आर्थिक स्थिति में पर्याप्त सुधार हो जाय तो जनसंख्या की वृद्धि को विचारपूर्ण दूरदर्शिता से नियमित करने की आवश्यकता मालूम हो जायगी। अतः जनाधिक्य का सबसे आशाजनक हल यह है कि देशवासी तथा सरकार हर दिशा में देश के आर्थिक विकास का प्रयत्न करें। आर्थिक आयोजन की सफलता तथा उसके फलस्वरूप धन की वृद्धि से तुरन्त ही जनसंख्या के बढ़ने की सम्भावना रहती है। बाद में आर्थिक उन्नति के साथ-साथ यह वृद्धि कम होती जायगी, क्योंकि अतीत का अनुभव हमें बताता है कि आर्थिक उन्नति और शिक्षा के एक सीमा तक पहुँचने पर शहरी औद्योगिक सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ सह-सम्बन्धन में प्रारम्भ में मृत्यु-दर में तीव्र कमी होती है और उसके बाद जन्म-दर तेजी से घटती जाती है।[1]

३०. चेष्टापूर्वक नियन्त्रण करने का महत्त्व—यद्यपि हमारे मुख्य प्रयत्न द्रुत आर्थिक विकास की ओर ही होने चाहिएँ, परन्तु सन्तति-निरोध का प्रचार भी वाञ्छनीय है।[2] अन्ततोगत्वा जनाधिक्य की समस्या का हल रहन-सहन के स्तर को बनाए रखने की इच्छा वाले व्यक्तियों द्वारा संख्या के स्वयं निरोध में ही है। जो व्यक्ति देश के विपुल अविकसित साधनों के विकास की चर्चा करते हैं और उसके आधार पर संयम की कोई आवश्यकता नहीं समझते, वे सम्भाव्य और वास्तविकता का अन्तर नहीं समझते। आखिरकार इस कहावत में कि, 'ते ते पाँव पसारिये जेती लांबी सौर', अवश्य ही व्यावहारिक बुद्धिमत्ता है। किसी भी समय जनसंख्या को निश्चित करने के लिए उपलब्ध या प्राप्य साधनों को ही पथ-प्रदर्शक मानना चाहिए न कि उन्हें विकसित करने की दूरस्थ भावनाओं को। इसमें सन्देह नहीं कि यदि वैज्ञानिकों के स्वप्न प्रतिदिन वास्तविकता होते जायँ तथा परमाणु, सूर्य और ज्वार-भाटे की असीमित शक्ति को मनुष्य की सेवा के योग्य बना लिया जाय, तो पृथ्वी वर्तमान से कहीं अधिक जनसंख्या को आश्रय दे सकेगी और तब हमारी सन्तान जनसंख्या की समस्या के सम्बन्ध में हमारी चिंता पर हँसेगी। परन्तु इसे एक सिद्ध सत्य मानकर चलना भी मूर्खता है। भावी विकास की सभी सम्भावनाओं से इन्कार करने वाले संशयात्माओं के रुख का हमें निस्सन्देह तिरस्कार करना चाहिए, परन्तु साथ ही हमें उन व्यक्तियों से सावधान रहना चाहिए

---

१. आर्थिक तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रगति से मृत्यु-दर में कमी की आशा की जा सकती है। इसके बाद जन्म-दर कम होगी, जिसकी कमी मृत्यु-दर की कमी से कम होगी (जैसा कि आजकल यू० एस० एस० आर० में है)। इसके बाद जन्म-दर और मृत्यु-दर की कमी इस प्रकार संतुलित होगी कि जनसंख्या स्थिर रहेगी और अन्त में ऐसी स्थिति आएगी जिसमें जन्म-दर मृत्यु-दर से भी कम होगी जैसा कि वर्तमान समय में इंगलैंड और उससे भी अधिक फ्रान्स में है।

२. स्वास्थ्य-सेवाओं के माध्यम से राज्य ऐसे कदम उठा सकता है जो परिवार को सीमित करने को प्रोत्साहित करेंगे। सन्तति-निरोध-सम्बन्धी ज्ञान प्रसूतिका और शिशु-कल्याण केन्द्रों में लेडी डाक्टरों द्वारा उन स्त्रियों को दिया जा सकता है, अधिक बच्चे होने से जिनके स्वास्थ्य के खराब हो जाने का भय है, तथा उन स्त्रियों को भी दिया जा सकता है जो अपने बच्चों के बीच उचित अन्तर रखने के सम्बन्ध में सलाह चाहती हैं।—अकाल जाँच आयोग (१९४४), अन्तिम रिपोर्ट, पृ० १०३।

जो विकास के पथ की सारी कठिनाइयों को भुला देते हैं। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि आर्थिक विकास से जनसंख्या की वृद्धि के अल्प भाग का ही काम चल सकता है। यदि मानव की प्रजनन-क्षमता को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय तो अवश्य ही युद्ध, महामारी, अकाल जैसी दुष्ट शक्तियाँ जो 'प्राकृतिक नियन्त्रण' शब्दों मे समाविष्ट है, अपना कार्य प्रारम्भ कर देगी। आर्थिक विकास को जनाधिक्य का एक अस्थायी उपचार ही समझना चाहिए तथा हर स्थिति मे उसे ऐच्छिक और विवेक-पूर्ण नियन्त्रण से पुष्ट करना चाहिए। इसी नियन्त्रण मे विवेकशील प्राणी—मानव—और खरगोशों का अन्तर परिलक्षित होता है।

२१. परिवारों का परिसीमन : पक्ष और विपक्ष—अधिकतर लोग इस बात को बड़ी सरलता से मान लेते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने साधनो के अनुसार परिवार को सीमित करना चाहिए ताकि उसकी सन्तान को जीवन में कम-से-कम अपने बराबर तो अवसर मिल सके। जिस प्रकार पौधो के विकास के लिए बहुत घने बीज नही बोने चाहिएँ, उसी प्रकार उचित विकास के लिए परिवार मे बहुत अधिक सन्तान भी नहीं होनी चाहिए। अत्यधिक सन्तान होने से जीवन-शक्ति क्षीण हो जाती है और शिशु-मृत्यु-दर बढ़ जाती है। जो बच्चे उचित पोषण और सावधानी की कमी के कारण मर जाते है, उनके पालन मे किया हुआ श्रम अकारथ हो जाता है तथा उनका संक्षिप्त जीवन माता-पिता तथा जीवित बच्चों के लिए व्यर्थ ही कष्ट का कारण होता है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से यह उचित है कि बच्चे उस समय तक न पैदा किये जायँ जब तक कि उनके उचित पालन-पोषण के लिए वह व्यक्ति स्वयं समर्थ न हो। व्यक्ति का हित समूचे समाज का हित भी है। यदि अधिकांश व्यक्ति बिना सोचे-समझे बच्चे पैदा करते रहेगे तो रहन-सहन का सामान्य स्तर अवश्य ही नीचा हो जायगा।[1] अक्सर देखा गया है कि अनेकों परिवारों के कष्ट और दु:ख का कारण उनमें अनेक बच्चों का जन्म है। सावधानी और दूरदर्शिता अति की हद तक भी बढ़ सकती है जैसे कि फ्रान्स में, परन्तु इसके विपरीत एकदम असावधानी बरतना भी चिन्तनीय है, जिसके परिणाम वर्तमान भारतीय सन्तान के ललाट पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखे हैं।

फ्रान्स का प्रसंग आ जाने से सन्तति-निरोध के विरुद्ध एक सामान्य तर्क की याद आती है कि जनसंख्या का परिसीमन इस हद तक भी पहुँच सकता है कि वह सैनिक दृष्टिकोण से खतरे का विषय बन जाय।[2] फ्रान्स इसका सबसे अच्छा उदाहरण

---

१. हेरल्ड कॉक्स, द प्राब्लम ऑफ पॉपुलेशन, पृ० ११८।

२. जैसा कि कॉक्स कहता है : "जनसंख्या की अनियन्त्रित वृद्धि स्वयं युद्ध का एक शक्तिशाली कारण है, क्योंकि विभिन्न राष्ट्रों के मध्य जीवन-संघर्ष को यह तीव्रतर कर देता है, यद्यपि बहुधा आक्रमण को रोकने के एक प्रभावपूर्ण साधन के रूप में इसका प्रचार किया जाता है। जनसंख्या के बढ जाने पर नेता-गण कहते हैं : 'हमारे देश की जनसंख्या इतनी अधिक है कि हमें और अधिक स्थान के लिए लडना चाहिए।' युद्ध के पश्चात् नेतागण कहते हैं, 'हमें दूसरे युद्ध की तैयारी के लिए जनसंख्या बढानी चाहिए।' आखिर इस भयानक खेल का अन्त किस प्रकार होगा? यह तभी समाप्त हो सकता है जब दुनिया के सभी राष्ट्र जनसंख्या की अतिवृद्धि को युद्ध का एक आवश्यक कारण मान ले। ऐसा होने पर

है। वहाँ की सरकार जनसंख्या के न बढने या काफी न बढ़ने पर चिन्तित है तथा बड़े-बड़े परिवार बनाने के लिए प्रयत्न किये गए हैं कि कहीं जर्मनी, जो फ्रान्स का सदैव शत्रु रहा है, केवल अपनी अधिक जनशक्ति से फ्रान्स को समाप्त न कर दे। मार्शल पेतां के अनुसार जून १९४० में फ्रान्स की हार का एक मुख्य कारण 'बच्चों का बहुत कम होना' था। भारत में सैनिक योग्यता के लिए संख्या की अपेक्षा ऊँचे दर्जे के शारीरिक स्वास्थ्य, बौद्धिक चैतन्य, अनुशासन, संगठन, सुरक्षा तथा आक्रमण के लिए आधुनिकतम साधन तथा एक सूत्र में बाँधने वाली राष्ट्रीय भावना की अधिक आवश्यकता है।

३२. जनसंख्या को सीमित करने के उपाय : (क) नैतिक संयम—जन्म-निरोध के समर्थकों में भी इस उद्देश्य के लिए उपयुक्ततम साधन के बारे में मतैक्य नहीं है। कुछ लोग नैतिक संयम को ही सबसे अच्छा उपाय मानते हैं। यद्यपि यूरोपीय मध्य-वर्गीय परिवारों में विद्यमान नैतिक संयम को प्रायः कम आँके जाने की प्रवृत्ति है, फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि रोकने के लिए सभी वर्ग के व्यक्तियों द्वारा नैतिक संयम पर्याप्त रूप से नहीं अपनाया जा सकता। विवाहित व्यक्तियों को अधिक समय तक संयम से रहने का उपदेश देना, भूख दूर करने के लिए पेट काटने के उपाय के समान है। उसके अपनाये और न अपनाये जाने की सम्भावनाएँ बराबर हैं। माल्थस स्वयं इसे अच्छी तरह समझता था और इसीलिए उसकी कृतियों में निराशा की झलक है। इसके अतिरिक्त मान्य डाक्टरी राय के अनुसार दीर्घ काल तक संयम रखने से विवाहित दम्पति के शरीर और मस्तिष्क पर पड़े हुए हानिकारक प्रभावों के कारण यह उपचार रोग से भी बुरा है।[1]

(ख) गर्भ-निरोधक—गर्भपात, शिशु-हत्या आदि के पुराने तरीके कानून और जनमत में उचित नहीं समझे जाते और यह ठीक ही है। उनको पुनः अपनाने का सुझाव कोई नहीं देगा। उनके त्याग से हम नैतिक स्तर में एक कदम आगे बढ़ जाते हैं तथा यह प्रगति का शुभ चिन्ह है। दूसरा उपाय केवल गर्भ-निरोधकों का प्रयोग है। अधिकांश यूरोपीय देशों में हाल में ही जन्म-दर का बहुत कम होना निस्सन्देह सन्तति-निरोध के कृत्रिम उपायों के प्रयोग के कारण ही है।

प्रत्येक पश्चिमी देश में जन्म-दर की कमी एक विचित्र ढंग से सन्तति-निरोध के प्रचार के साथ ही प्रारम्भ हुई है। उदाहरण के लिए इंगलैण्ड में जन्म-दर की कमी सन् १८७७ में ब्रेडलॉ के मुकदमे से शुरू होती है जिसमें श्रीमती बेसेन्ट और चार्ल्स ब्रेडलॉ पर सन्तति-निरोध के विभिन्न उपायों के सम्बन्ध में एक पुस्तिका प्रकाशित करने के अपराध में मुकदमा चलाया गया था। उनके मुकदमे ने जनसाधारण का बहुत ध्यान आकर्षित किया और इस संयोग से गर्भ-निरोध-सम्बन्धी उपायों के ज्ञान और

प्रत्येक राष्ट्र का नैतिक कर्तव्य हो जायगा कि अपने पड़ोसियों से संघर्ष बचाने के लिए वह जनसंख्या को सीमित रखे। —पूर्व उद्धृत, पृ० ३५।

१. 'नैतिक इन्द्रिय-दमन' के विरुद्ध प्रमुख आपत्तियों के कथन के लिए देखिए, ल्योनार्ड डारविन 'ह्वट इज़ यूजेनिक्स', पृ० ३६।

प्रयोग का प्रचार हुआ।[1]

प्रश्न यह उठता है कि भारत मे माल्थस के आधुनिक मत के बारे मे हमारा क्या रुख होना चाहिए। इस सामान्य आपत्ति को कि यह अप्राकृतिक है, हम सरलता से भुला सकते है। यदि यह अप्राकृतिक है तब तो वस्त्र, पका हुआ भोजन, औषधियाँ तथा सभ्य जीवन से सम्बन्धित ऐसी ही अनेक-असख्य वस्तुएँ भी अप्राकृतिक है। हमे अन्य प्रमुख विरोधो पर विचार करना चाहिए जिनमे से सर्वप्रचलित यह है कि गर्भ-निरोध-सम्बन्धी ज्ञान का प्रसार यौन-अनैतिकता की जबरदस्त रोक को हटा देगा। इसका यह प्रत्युत्तर कि अनैतिकता के परिणामो के भय से होने वाली नैतिकता व्यर्थ है, विश्वास योग्य नही है, क्योकि अनियमित सम्बन्धो की रोक-थाम, भले ही वह किन्ही कारणो मे हो, समाज के लिए वाञ्छनीय है।[2] इसे सरलता से स्वीकार किया जा सकता है कि ऐसे कार्यो के प्रति आकर्षित होने वाले कुछ व्यक्ति देखे जाने के भय से या गैर-कानूनी सन्तान होने के भय से ही रुक जाते है। इस देश मे अधिकतर गर्भ-पात जुर्म को छिपाने के विचार से किया जाता है और कुछ हद तक गर्भ-निरोध-सम्बन्धी ज्ञान के प्रचार से गर्भ-निरोध गर्भपात का स्थान ले लेगा। इस विवाद के प्रसग मे यह पूछना उचित है कि समाज की सभ्यता का क्या होगा यदि हम हर चीज़ को केवल इसलिए न अपनाएँ क्योकि व्यक्तियो के एक वर्ग द्वारा उसके दुरुपयोग की सम्भावना है। गर्भ-निरोधक-सम्बन्धी ज्ञान के प्रसार से सम्भव खतरो को स्वीकार करते हुए भी यह कहना पडेगा कि सरकार इन खतरो को कम कर सकती है। सरकार ऐसे ज्ञान को हर प्रकार के व्यक्तियो मे प्रसारित न करके उसे केवल उन्ही व्यक्तियो तक सीमित रखे जो नैतिक और आर्थिक कारणो से उसे जानना चाहते हो।

सन्तति-निरोध के उपायो के सम्बन्ध मे विवेकहीन प्रचार से यौन-अनैतिकता की वृद्धि सम्भव है। प्रश्न यह है कि जनाधिक्य के सम्भावित खतरे से बचने के लिए प्रचार के ऊपर विवेक-सम्मत सरकारी नियन्त्रण लगाने के बावजूद इससे सम्बन्धित जोखिम उठाना उचित है या नही।

विरोधियो द्वारा सन्तति-निरोध के विपक्ष मे दूसरा तर्क यह है कि इनका प्रयोग अधिकतर उन्नत और बुद्धिमान् व्यक्तियो द्वारा ही किया जायगा जबकि गरीबी, असावधानी तथा उनमे स्त्रियो का दर्जा नीचा होने के कारण उनकी अपनी इच्छा के विरुद्ध बच्चो को जन्म देना आदि कारणो से गरीबो मे इसकी अधिक आवश्यकता है। परिणाम यह होगा कि समाज मे जनसख्या की वृद्धि गलत दिशा मे होगी तथा देशवाशियो मे गुण घटते चले जायँगे। इसका अर्थ यह नही है कि अमीरो के बच्चो

---

१ देखिए, फ्लोरेन्स, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ ३१-२।

२ कॉक्स का तर्क यह है कि गर्भ-निरोध के साधनों के ज्ञान से वेश्यावृत्ति या अनियमित सम्बन्धो के बढ जाने का भय निराधार है। इसके विपरीत कुछ अनियमित सम्बन्ध तो इसलिए होते है कि बच्चे होने के भय से बहुत से लोग पवित्र विवाह-सम्बन्ध स्वीकार ही नही करते। गर्भ-निरोध के ज्ञान के प्रसार से बच्चे कम होंगे और इस प्रकार यौन-अनैतिकता भी कुछ हद तक कम हो जायगी। देखिए, द प्रॉब्लम ऑफ़ पॉपुलेशन, पृ० १३४-८।

की तुलना में गरीबों के बच्चे शारीरिक और मानसिक गुणों में हीन होंगे। उनकी अधिक संख्या के कारण उनका पालन-पोषण ऐसा नहीं हो पाता कि उनके उत्कृष्ट गुण विकसित हो सकें। ग़रीबी तथा असावधानी के अलावा सन्तति-निरोध-सम्बन्धी नये ज्ञान के अभाव के कारण भी वे उससे लाभ नहीं उठा पाते। इसका उपचार यह है कि इस ज्ञान को हमें उन तक अधिकाधिक पहुँचाने की कोशिश करनी चाहिए। सन्तति-निरोध के विरुद्ध एक तर्क यह भी है कि सन्तति-निरोध के अपेक्षाकृत निर्दोष तरीके ग़रीबों की सामर्थ्य के बाहर हैं जिसकी वजह से उन्हें सन्तति-निरोध के हानिप्रद तरीकों को अपनाना पड़ता है। यह और भी शोचनीय है क्योंकि इससे उत्पन्न दोष जनाधिक्य के दोष से कहीं अधिक गम्भीर हैं। यहाँ शंका की जा सकती है कि क्या जनाधिक्य से बढ़कर भी कोई दोष है ? यह विश्वास करना भी कठिन है कि बच्चों के पालन-पोषण का व्यय सन्तति-निरोध के उपायों पर किये हुए व्यय से कम होगा। पश्चिम में उच्च वर्ग के लोग थोड़े बच्चों के पालन-पोषण के भार और हर्ष की अपेक्षा अनावश्यक रूप से ऊँचे जीवन-स्तर को पसन्द करते हैं और इस प्रकार इतना सन्तति-निरोध करते हैं जो समाज के लिए हानिप्रद है, अतः उन्हें राज्य को स्वस्थ, सुदृढ़ और सुशिक्षित नागरिक प्रदान करने के नैतिक कर्त्तव्य को निबाहने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। हर दृष्टि से वाञ्छित होने पर ही हमें सन्तति-निरोध की सुविधाएँ देनी चाहिएँ। स्वार्थ-सिद्धि के लिए उसके प्रयोग की हमें हर प्रकार से निन्दा करनी चाहिए। सन्तति-निरोध के पक्ष और विपक्ष दोनों में ही प्रचार की आवश्यकता है।[1] इस समय भारत में सभी लोगों की प्रवृत्ति जनसंख्या की अतिवृद्धि की ओर है। अतः जनसंख्या को विवेकपूर्वक नियन्त्रित करने के लिए एक संगठित प्रयत्न आवश्यक प्रतीत होता है।[2]

सन्तति-निरोध के प्रश्न पर इस देश में कभी गम्भीरता से विचार नहीं किया गया है, यद्यपि इसकी बहुत आवश्यकता है। यहाँ व्यर्थ के विरोधों का ही बोलबाला रहा है। हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यह एक विचारणीय प्रश्न है और इसे हम आर्थिक विकास की असीमित भावनाओं के धुँधले सामान्य निष्कर्षों के आधार पर यों ही नहीं छोड़ सकते।

देशवासियों की अत्यधिक निर्धनता और उससे उत्पन्न विचारपूर्ण निरोध की शिथिलता के कारण सन्तति-निरोध के भली प्रकार व्यवहार में आने में बहुत दिन लगेंगे। अज्ञानवश किये जाने वाले विरोध को भी दूर करना होगा। अब यह धारणा हो चली है कि 'राम भरोसे नीति' भयानक सिद्ध होगी।[3]

---

१. ल्योनार्ड डारविन, पूर्व उद्धृत, पृ० ३८.

२. 'उत्पादन और प्रजनन का अर्थशास्त्र घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। उत्पादन का युक्तिकरण तभी और उतना ही हो सकता है जबकि और जितना प्रजनन का युक्तिकरण किया जायगा।'—प्रो० गोल्डशीड, एन० वी० सोवानी द्वारा उद्धृत, पृ० २०८.

३. हाल का एक महत्त्वपूर्ण विकास यह है कि भारतीय स्त्रियाँ जन्म-निरोध के प्रश्न में बहुत अभिरुचि दिखाने लगी हैं। जन्म-निरोध के पक्ष में प्रस्ताव स्त्रियों की कान्फ्रेन्सों की एक सामान्य विशेषता हो गए

३३. प्रवास : आबादी का देश में एक जगह से दूसरी जगह जाना[1]—एडम स्मिथ का यह कथन कि सब प्रकार के सामान में मनुष्य का परिवहन अत्यधिक कठिन है, भारत में विशेष रूप से लागू होता है। सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार लगभग ३५ करोड़ की जनसंख्या में १० लाख से भी कम व्यक्तियों का जन्म अन्यत्र हुआ था। सन् १९५४ में विदेशों में रहने वाले भारतीयों की संख्या ४० लाख के लगभग थी। भारतीयों का 'गृह-प्रेम सामाजिक एवम् आर्थिक कारणों का परिणाम है। भूमि से अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित कृषक जनसंख्या की गतिहीनता भी इसका कारण है जिसे जाति, भाषा, सामाजिक-रीति-रिवाज तथा किसी भी प्रकार के परिवर्तन से भयभीत होने की प्रवृत्ति ने और भी दृढ़ कर दिया है।' हिन्दुओं को प्रभावित करने वाला प्रमुख सामाजिक कारण जाति-व्यवस्था है जिसके कारण सामाजिक परिधि के बाहर एक मनुष्य का जीवन कठिन हो जाता है। बहुधा अन्य जातियों के साथ खान-पान, विवाह आदि करने में वह असमर्थ होता है तथा उसकी अधिक समय की अनुपस्थिति से लोग सन्देह करने लगते हैं कि उसने जाति-पाँति के नियमों का उल्लंघन किया है और इससे वापिस आने पर उसे समाज-बहिष्कृत भी किया जा सकता है।

प्रवास की सबसे बड़ी आर्थिक बाधा तो यह है कि भारतीय मुख्यतया कृषि पर निर्भर हैं। भूमि के छोटे टुकड़े का स्वामित्व या उसमें दिलचस्पी होने पर अन्यत्र जीविकोपार्जन की जोखिम के भय से लोग जीविका के इस असन्तोषप्रद साधन को छोड़ना ही नहीं चाहते। मलेरिया, हुकवर्म आदि बीमारियों का प्रभाव भी हानिप्रद होता है तथा ये देशवासियों की शक्ति और कार्यारम्भ की प्रवृत्ति को रोकती हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश ग्रामीण साहूकार के पंजों में रहते हैं जो उनके गाँव छोड़ने में हर सम्भव रोड़ा अटकाते हैं।

मान्यता है कि जनसंख्या कम होने पर अन्यत्र पैदा होने वाले व्यक्तियों का अनुपात अधिक होता है। यदि यह सच है तब भारत में, जहाँ संसार की लगभग $\frac{१}{५}$ जनसंख्या रहती है, प्रवास का कम होना अवश्यम्भावी है। जनसंख्या की सामान्य गतिहीनता के बावजूद भी देश के अन्दर गतिशीलता के कुछ निश्चित प्रवाह हैं, जिनका हम संक्षेप में विवेचन करेंगे।[2]

हैं। अप्रैल सन् १९३७ में बम्बई में हुए अखिल भारतवर्षीय जनसंख्या और परिवार-स्वास्थ्य सम्मेलन (ऑल इण्डिया पॉपुलेशन एण्ड फेमिली हाईजीन कान्फ्रेन्स) ने जन्म-निरोध आन्दोलन को खूब प्रोत्साहित किया।

१. देखिए, सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९३१), खण्ड १, अध्याय ३; सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९२१) खण्ड १, पृ० ८३-९; सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९११) खण्ड १, अध्याय ३; सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९०१) खण्ड १, पृ० ८८-९५ और कृषि आयोग रिपोर्ट पृ० ५८१-५।

२. सन् १९११ की जनगणना रिपोर्ट में विभिन्न प्रकार के देशान्तर-गमन को इस तरह बताया गया है : (i) पड़ोस के गाँवों के मध्य गतिशीलता; इसका मुख्य कारण रीति-रिवाज हैं। लगभग सभी हिन्दुओं में माता-पिता पुत्र-वधू किसी दूसरे गाँव में खोजते हैं तथा सामान्यतः गर्भावस्था में वधू माता-पिता के यहाँ चली जाती है, विशेषकर पहली बार। (ii) अस्थायी; यह नई नहरों, रेलों, तीर्थयात्रा, विवाह-संस्कारादि अवसरों पर श्रम की माँग की पूर्ति के लिए कुलियों के देशान्तर-गमन के कारण होती है। (iii) सामयिक;

(क) **आसाम**—आसाम राज्य की आबादी दूर-दूर बसी हुई है तथा खेती के लिए प्राप्य भूमि प्रचुर मात्रा में है। अतः वहाँ के निवासियों के लिए किराये पर काम करना आवश्यक है। इस कारण राज्य के चाय के बागानों लिए मज़दूर कहीं और से प्राप्त करने होते हैं। ब्रह्मपुत्र की घाटी में खेती-योग्य बेकार पड़ी हुई ज़मीन अन्य राज्यों के आवासियों को आकर्षित करती है।

चाय के बागानों में काम करने वाले आसाम से बाहर के लोग बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और मद्रास से आते हैं तथा ब्रह्मपुत्र की घाटी में बसने वाले मुख्यतया पूर्वी बंगाल से आते हैं। आसाम में तीसरा आवास-प्रवाह नेपालियों का है जो मुख्य रूप से पशु-चारण करते हैं। आसाम में समस्त स्रोतों से प्राप्त कुल आवास का परिमाण काफ़ी है। प्रान्त की लगभग एक चौथाई जनसंख्या बाहर की या बाहर पैदा होने वालों की है। आसाम में अब भी खेती-योग्य भूमि बहुत है, परन्तु काला आज़ार तथा अन्य बीमारियों का प्रसार, सन्देश भेजने के असन्तोषप्रद साधन तथा कम मज़दूरी बाहर के लोगों की खपत को बढ़ने नहीं देतीं।

सन् १९२१ के बाद उन प्रान्तों से प्राप्त आवास के परिमाण में विकास और परिवर्तन हुआ है जो इससे पहले चाय के बागानों में श्रमिकों की कमी पूरी करते थे। मद्रास ही एक ऐसा प्रान्त है जहाँ से आसाम के लिए प्रवास की मात्रा बढ़ रही है। सन् १९२१ के बाद बिहार और उड़ीसा की भरती, जो असहयोगियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप बहुत कम हो गई थी, अल्पकालीन भरती की प्रथा की लोकप्रियता के कारण फिर से बढ़ने लगी। साथ ही आसाम स्वयं स्थानीय श्रम पर निर्भर रहना सीख रहा है।

(ख) **बंगाल**—बंगाल के आवासियों में लगभग ६० प्रतिशत बिहार और उड़ीसा के हैं तथा शेष उत्तर प्रदेश (१८ प्रतिशत), नेपाल (५ प्रतिशत), आसाम (४ प्रतिशत), और मध्य प्रदेश (३ प्रतिशत) के हैं। आवास के प्रमुख प्रवाह इस प्रकार हैं: (क) कलकत्ता और उसके आसपास के औद्योगिक क्षेत्र में बिहार, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी ज़िलों से; (ख) वीरभूम, माल्दा, दिनाजपुर और उत्तरी बंगाल के ज़िलों में संथाल पर-

---

यह श्रम की मौसमी माँग के कारण होती है। फसल कटने के समय सुन्दरबन, बर्मा, उत्तरी भारत के गेहूँ के जिलों के लिए वार्षिक देशान्तर-गमन तथा बिहार और उत्तर प्रदेश में जाड़े के दिनों में सड़कों पर काम करने के वृहत् देशान्तर-गमन को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। (iv) अर्द्धस्थायी; जब एक स्थान के निवासी किसी दूसरे स्थान पर जीविका कमाते हैं, परन्तु अपना सम्बन्ध पुराने घर से बनाये रखते हैं, जहाँ वे अपने परिवार को छोड़ आते हैं और आखिर वहीं लौट जाते हैं। बड़े शहरों में मिल और कारखानों में काम करने वाले श्रमिक, सरकारी दफ्तरों के क्लर्क, घरेलू नौकर, तथा हर जगह पाये जाने वाले मारवाड़ी व्यापारी और साहूकार इसका उदाहरण हैं। (v) स्थायी; इस प्रकार का देशान्तर-गमन उपनिवेशन की तरह का होता है। यह उस समय होता है जब सिंचाई या सन्देशवाहन में सुधार होने के कारण या राजनीतिक परिस्थितियों के बदल जाने के कारण नई भूमि बसने के लिए प्राप्त हो जाती है। इसका उदाहरण दक्षिणी बर्मा तथा पंजाब के नहरी क्षेत्र का उपनिवेशन है। (vi) सन् १९३१ की जनगणना रिपोर्ट प्रवास का एक और प्रकार बताती है जिसे 'दैनिक' कहा गया है, यद्यपि यह भी स्वीकार किया गया है कि भारत में ऐसी परिस्थिति कुछ विशेष उत्पन्न नहीं हुई है कि मज़दूर का रहने और काम करने का स्थान जनगणना की विभिन्न इकाइयों में हो।

गना से; (ग) दार्जिलिंग और जलपाइगुरी के चाय के बागों में नेपाल और छोटा नागपुर से; और (घ) त्रिपुरा राज्य में आसाम से ।

बंगाल की भूमि की अपेक्षाकृत अधिक उर्वरता, उद्योगों का विकास, विशेषकर कलकत्ता के आसपास, तथा शारीरिक श्रम से विमुखता, जो बंगालियों की प्रमुख विशेषता है, आदि कारण बंगाल में आवास के लिए उत्तरदायी हैं । केवल शारीरिक परिश्रम करने वाले श्रमिक ही नही, वरन् जेल में पुलिस के पहरेदार और जमीदारों के चपरासी आदि भी अधिकतर अन्य राज्यों से ही भरती किये जा सकते हैं । राज्य के आन्तरिक प्रवासन की विशेषता यह है कि बीच के कटिबन्ध से एक ओर जनसंख्या कलकत्ता के आसपास के औद्योगिक क्षत्रों मे जाती है तथा दूसरी ओर उत्तरी बंगाल और आसाम की घाटी में ।

(ग) **बम्बई**—बम्बई में आवास की विशेषता यह है कि बड़े-बड़े औद्योगिक एवम् व्यापारिक शहरों—जैसे बम्बई, शोलापुर—आदि में पंजाब, उत्तर प्रदेश, हैदराबाद (दक्षिण) और मद्रास से आने वाले लोग बस गए हैं । सन् १६२१ के बम्बई जनगणना के अध्यक्ष श्री एल०जे० सेजविक के अनुसार "यहाँ आवासियों के दो प्रवाह पहुँचते हैं ।[1] एक तो उत्तर पश्चिमी भारत से आता है जिसका प्रतिनिधित्व बिलोचिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, पंजाब, उत्तर प्रदेश और राजपूताना के विस्तृत क्षेत्र करते हैं तथा दूसरा दक्षिण-पूर्व अर्थात् मद्रास, हैदराबाद से आता है । उत्तर का प्रवाह बम्बई और कराची के निर्धनों की संख्या में वृद्धि करता है तथा दक्षिण का प्रवाह शोलापुर की मिलों में जाता है ।........"[1] बंगाल की अपेक्षा बम्बई औद्योगिक दृष्टिकोण से आगे बढ़ा हुआ है । उसकी भूमि की उर्वरा-शक्ति कहीं कम होने के कारण वहाँ जनसंख्या का घनत्व कम है और स्थानीय श्रम कहीं अधिक मात्रा में उपलब्ध है । अत: श्रम की माँग का अपेक्षाकृत बहुत थोड़ा अंश राज्य के बाहर से पूरा करना पड़ता है ।

उत्तर-पश्चिमी भारत से वास्तविक आवास की मात्रा बहुत काफ़ी है । एक तिहाई आवासी उत्तरप्रदेश से, $\frac{2}{5}$ राजपूताना से तथा शेष पंजाब से आते हैं । राज्य के अन्य भागों से औद्योगिक क्षेत्रों की ओर जनसंख्या का अन्तर्वाह आन्तरिक प्रवासन की विशेषता है । दक्षिण प्रदेश अनुपजाऊ एवम् कृषि-मन्दी से ग्रस्त भाग है । वहाँ की अतिरिक्त जनसंख्या बम्बई राज्य के शेष भागों में जाती है तथा बम्बई नगर में भी अन्य प्रदेशों की तुलना में सबसे अधिक व्यक्ति इसी क्षेत्र के हैं।

२. परावास—आसाम की तरह बर्मा में भी आबादी छितरी बसी हुई है और वहाँ खेती योग्य बहुत सी ज़मीन बेकार पड़ी है । जिन कारणों से आसाम के चाय-बागानों में बाहरी श्रम काम करता है उन्हीं कारणों से बर्मा की धान और तेल की मिलें भी बाहरी श्रम पर—जो मुख्यतया मद्रास से प्राप्त होता है—निर्भर रहती हैं । अकयाब में धान की फसल के समय तथा रंगून में धान की कुटाई-पिसाई के लिए अनेक कुली चटगाँव से बर्मा चले जाते थे । बर्मा की कुल आवासित जनसंख्या ७०७,००० थी, जिनमें ५७३,००० भारतीय थे । सन् १६११ और १६२१ की जन-

१ सेजविक का उपर्युक्त कथन बम्बई और सिन्ध के सम्बन्ध में है, केवल बम्बई के सम्बन्ध में नहीं ।

गणनाओं के मध्य बर्मा में भारतीय आवासियों की संख्या में १६ प्रतिशत वृद्धि हुई। सन् १९२१ की तुलना में सन् १९३१ की जनगणना में आवासियों की संख्या में २१००० की वृद्धि हुई[1]। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की कम संख्या इस आवास के अस्थायित्व को स्पष्ट करती है। बर्मा में भारतीय आवासियों की संख्या में मद्रासी सबसे अधिक हैं। उसके बाद बंगाल, उत्तर प्रदेश और पंजाब का नम्बर आता है। भारतीय आवासी मुख्यतया शहरी उद्योगों में लगे हुए थे तथा कठिन शारीरिक परिश्रम का कार्य करते थे। इन कार्यों में बर्मियों की रुचि नहीं है।

अप्रैल १९३७ में बर्मा के राजनीतिक दृष्टि से भारत से अलग हो जाने के बाद जब बर्मियों में जागरण की भावना विकसित हुई तथा बर्मी जनसंख्या की वृद्धि के कारण आर्थिक दबाव बढ़ा तो ब्रिटिश भारत के घने बसे क्षेत्रों से बर्मा में जाना कठिनतर होने लगा। सन् १९४१ में भारत-बर्मा आवास पैक्ट (इन्डो-बर्मन इमिग्रेशन पैक्ट) पर हुआ घोर मतभेद इसका प्रमाण है। ये कठिनाइयाँ अब भी हैं और जापानियों से बर्मा पुनः जीतने के बाद स्वभावतया इनका रूप और भी विकट हो गया है।[2] यह बात मलाया आदि क्षेत्रों पर भी लागू होती है। लंका (सीलोन) में भारतीय आवासियों के प्रति विरोध दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

इस समय लगभग ४० लाख भारतीय विदेशों में हैं। कॉमनवैल्थ के विभिन्न भागों में उनका विवरण इस प्रकार है :—

	भारतीय जनसंख्या	वर्ष		भारतीय जनसंख्या	वर्ष
लंका (सीलोन)	९,८५,३२७	१९५३	केन्या	९०,५२८	१९४८
ब्रिटिश मलाया	६,४०,७०९[3]	१९५२	टाँगानीका	५६,४९९	१९५२
मारीशस	३,२२,९७२	१९५२	जमैका	२५,०००	१९५२
दक्षिणी अफ्रीका	३,६५,५२४	१९५१	जंजीबार और पेम्बा	१५,८१२	१९४८
ट्रिनीडाड और टोबेगो	२,२७,३९०	१९५०	यूगांडा	३३,७६७	१९४८
ब्रिटिश गायना	१,९७,६९६	१९५१			
फीजी द्वीपसमूह	१,४८,८०२	१९५२			

आज भारतीय प्रवास के मुख्य देश मलाया, लंका और बर्मा हैं (सन् १९३१

१. बर्मा में भारतीयों की संख्या के सम्बन्ध में सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार वहाँ भारतीयों की संख्या ११ लाख थी। रंगून में भारतीय मिशन (इण्डियन मिशन) के अनुसार अब भारतीयों की संख्या लगभग ७ लाख है।—देखिए, इण्डिया १९५४, पृ० २९।

२. जापानियों से बर्मा सन् १९४५ में मुक्त हो गया था, परन्तु नागरिक-प्रशासन की पुनः स्थापना सन् १९४६ में हुई। ४ जनवरी सन् १९४८ को बर्मा स्वतन्त्र प्रजातन्त्र राज्य हो गया, परन्तु देश गृह-युद्ध में फँस गया। गृह-युद्ध के प्रारम्भ से ही अधिकाधिक संख्या में भारतीय भारत लौटने के लिए बाध्य किये गए। बर्मा की सरकार सार्वजनिक सेवाओं के पद से भारतीयों को राष्ट्रीयता के आधार पर पदच्युत करने लगी।—देखिए, इण्डिया एट ए ग्लान्स, पृ० ४०४ व १५६८

३. इस संख्या में पाकिस्तानी भी सम्मिलित हैं।

में यहाँ भारतीयों की जनसंख्या १० लाख से ऊपर थी)। अगस्त सन् १९३० में रबड़ और टीन के मूल्य गिर जाने के कारण मलाया में भारतीय श्रम की भरती बन्द कर दी गई और सन् १९३०-३१ में बहुत बड़ी संख्या में स्वदेश-आगमन हुआ। लंका में सन् १९३० में रबर के क्षेत्रों में भारतीय श्रम की भरती बन्द कर दी गई और सन् १९३१ में ११००० भारतीय स्वदेश वापिस आये, परन्तु अन्यथा प्रवास जारी रहा। देखने से प्रतीत होता है कि इस देश में अब और भारतीय नही बस सकते। भारतीय प्रवास मुख्यतया दो प्रकार का हुआ है। प्रथम, इकरारनामा के अन्तर्गत अदक्ष श्रमिकों का प्रवास जैसा कि फीजी, मारीशस, नेटाल, और वेस्ट इण्डीज़ मे हुआ, या भरती की विशेष विधि के अनुसार प्रवास, जैसा कि मलाया और लंका में हुआ। द्वितीय, व्यापारियों, कारीगरों एवम् खास पेशेवाले व्यक्तियों (प्रोफेशनल) का स्वैच्छिक प्रवास। पहले प्रकार की अपेक्षा दूसरे प्रकार के प्रवास का क्षेत्र अधिक विस्तृत है और इसकी पहुँच उन क्षेत्रों तक है जो सहाय्य प्रवास की किसी भी स्कीम के अन्तर्गत नहीं आए। उदाहरण के लिए दक्षिणी अफ्रीका तथा कुछ ब्रिटिश उपनिवेशों—विशेषकर पूर्वी अफ्रीका के क्षेत्रों के उपनिवेशों को—छोड़कर यह बात स्वशासित डोमिनियनों पर पूरी तरह लागू होती है।

अधिकांश प्रवासी रबर, चाय, कहवा के बागानों में कृषक-श्रमिकों की तरह काम करते हैं। मार्च सन् १९१७ में श्रमिकों का इकरारी प्रवास बन्द कर दिया गया जिसके फलस्वरूप प्रवास बहुत कम हो गया। सन् १९२१ के साम्राज्य-सम्मेलन (इम्पीरियल कान्फ्रेन्स) ने इस नियम को फिर से दुहराया कि ब्रिटिश कॉमनवैल्थ का प्रत्येक देश अन्य देशों से आने वालों की संख्या को सीमित कर अपने देश की जनसंख्या के संघटन पर नियन्त्रण रखने का पूर्ण अधिकारी है। कॉमनवैल्थ के अधिकांश देशों ने भारतीय आवास बन्द करने के लिए, नही तो कम-से-कम रोकने के लिए अवश्य ही आवास को नियमित करने के अधिकार का प्रयोग किया। इसके कारण भले ही राजनीतिक, जातीय या एकदम आर्थिक हों, परन्तु इस कटु सत्य को मानना ही पड़ेगा कि भारत में जनसंख्या के घनत्व को दूर करने के लिए प्रवास का उपाय व्यवहारतः असम्भव है।[1] आस्ट्रेलिया, कनाडा और न्यूजीलैण्ड जैसे डोमीनियन निश्चयात्मक रूप से ऐसी नीति को अपनाये हुए हैं ताकि उनके प्रदेश भविष्य में श्वेत वर्ण की जातियों के लिए सुरक्षित रहें। अभ्यंश-विधि (कोटा सिस्टम) के अन्तर्गत सन् १९२२ से संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने निश्चयात्मक रूप से एशियाई देशों के प्रति विशेष नीति अपना ली है। दक्षिणी अफ्रीका, पूर्वी अफ्रीका तथा केन्या में

१. भारत सरकार की प्रवास नीति के विभिन्न पहलुओं के विस्तार में जाना अनावश्यक है। इससे सम्बन्धित संख्या नगण्य है और देश की आर्थिक परिस्थितियों को सरल करने की दृष्टि से यह प्रश्न किसी भी अर्थ में महत्त्वपूर्ण नहीं है। सन् १९२२ के प्रवास कानून (ऐमीग्रेशन एक्ट, १९२२) के अनुसार उन देशों और कालों को छोड़कर जिसे गवर्नर-जनरल-इन-कौन्सिल निर्देशित करे, अदक्ष श्रमिकों का सहाय्य प्रवास अवैध था। एक स्थायी प्रवास समिति (स्टेंडिंग एमीग्रेशन कमिटी) भी है जो सरकार को प्रवास सम्बन्धी बड़े-बड़े प्रश्नों पर, जैसे अदक्ष प्रवासियों की मजदूरी का निर्धारण, उपनिवेशन की शर्तें आदि, सलाह देती है।

भारतीयों को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उनसे प्रवास के घटने की ही सम्भावना है। हाल ही की घटनाएँ जैसे दक्षिणी अफ्रीका में 'पैगिंग बिल' का पास होना भी इसका पूर्व-संकेत करती हैं।[1] सन् १९३१ की जनगणना में यह बात देखी गई थी कि दशाब्दी में जनसंख्या की तेज़ और भारी वृद्धि के बावजूद भी पहले की तुलना में प्रवास से कोई विशेष सहायता नहीं मिली।

ऊपर वर्णन किये गए विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्धों के कारण भारत के बाहर प्रवास महत्त्वहीन हो गया है। प्रवास की सम्भावना ब्रिटिश साम्राज्य के अयनवृत्तीय या उप-अयनवृत्तीय भागों तक ही सीमित है। ब्रिटिश मलाया के अतिरिक्त ब्रिटिश गायना के लिए प्रवास की बहुत सम्भावना है, क्योंकि वहाँ कृषि-विस्तार के लिए अभी बहुत गुञ्जाइश है। ब्रिटिश गायना की जनसंख्या लगभग ३२०,००० है परन्तु वह देश इससे दस गुनी संख्या को आश्रय दे सकता है तथा भारतीयों के बसने लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। सन् १९२२ के प्रवास अधिनियम के अन्तर्गत इस उपनिवेश में प्रवास के लिए एक योजना स्वीकृत हुई थी, परन्तु बाग़-मालिकों द्वारा शर्तों को अलाभप्रद मानने के कारण वह अब तक कार्यान्वित नहीं हुई। कृषि-आयोग ने इस स्कीम की प्रशंसा की और कहा कि उसके बारे में आगे जाँच होनी चाहिए, क्योंकि भारतीय जनसंख्या के द्विगुणित होने की सम्भावना को यों ही नही भुलाया जा सकता। (रिपोर्ट, पैरा ५१०)

३४. सुजनन-विद्या—धनोत्पत्ति में सबसे महत्त्वपूर्ण निमित्त मनुष्य है और जो बातें उसके स्वास्थ्य, चरित्र एवम् बुद्धि को श्रेष्ठतर करती हैं वे उसकी कार्य-क्षमता एवम् आर्थिक शक्ति को भी बढ़ाती हैं। आर्थिक महत्त्व के पौधों तथा जानवरों के सुधार के लिए वंश-परम्परा के विषय का अभी हाल के वर्षों में बहुत अध्ययन हुआ है तथा इस दिशा में महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक परिणाम प्राप्त हुए हैं। अक्सर कहा जाता है कि पौधों तथा घरेलू जानवरों के लिए जो कुछ मनुष्य कर सका है वह अपने लिए नहीं कर सका। मनुष्य जाति के सम्बन्ध में वंश-परम्परा का अध्ययन तथा जाति के सुधार के लिए उसके नियमों के प्रयोग में कठिनाई यह रही है कि विस्तृत सीमाओं के अन्दर मनुष्यों पर प्रयोग करना या संभोग के नियमन के लिए उन्हें पौधों या जानवरों की तरह बरतना असम्भव है।

फिर भी मानव-जाति के कल्याण के लिए यह अत्यधिक महत्त्व की बात है कि उसका सतत अस्तित्व जहाँ तक सम्भव हो उन व्यक्तियों पर ही निर्भर रहे जो जाति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयुक्ततम हैं। यह और भी आवश्यक हो गया है क्योंकि वर्तमान सभ्यता की प्रवृत्ति कतिपय ऐसे कारणों को दूर करने की है जो शारीरिक और मानसिक रूप से अयोग्य व्यक्तियों को नष्ट कर देते हैं। विकास की प्रारम्भिक दशा में कमज़ोरों के जीवित रहने या अपनी जाति बनाये रखने की बहुत कम सम्भावना

१. वाडिया और मरचेण्ट, पूर्व उद्धृत, तृतीय संस्करण, पृ० १०२ : 'पचास वर्ष पूर्व जस्टिस रानाडे सुदूर देशों में भारतीय श्रम का प्रवास सोच सकते थे। आज परिस्थिति इतनी बदल गई है कि पुराने प्रवासियों के स्वदेश आगमन की समस्या खड़ी हो गई है।' —डी० आर० गाडगिल, सोवानी की (पूर्व उद्धृत) पुस्तक की प्रस्तावना में।

थी। उदाहरण के लिए जो लोग अत्यधिक साहसी और साधनयुक्त होते थे वे समाज के कमजोर सदस्यों की तुलना मे अधिक पत्नियाँ रख सकते थे तथा जाति की अधिक वृद्धि कर सकते थे। आजकल मानव-प्रेम की भावना के साथ-साथ सफाई, औषधि तथा शल्य-चिकित्सा की प्रगति के कारण 'प्राकृतिक वरण' समाप्त हो गया है।[१] शरीर से अयोग्य, मस्तिष्क के खोखले एवम् नैतिक पतन तथा परम्परागत बीमारियों के बीज समाहित करने वाले व्यक्तियों के विवाह एवम् सन्तानोत्पत्ति पर कोई प्रभावपूर्ण रोक नहीं है। वैज्ञानिक पर्यवेक्षण और प्रयोग की कठिनाइयों के कारण सुजनन-विद्या की प्रगति बहुत धीमी रही है तथा मानवीय गुणों की परम्परा को समझाने के लिए वंश-परम्परा के नियमों का ज्ञान अभी बहुत कम है। इस समय हम अधिक-से-अधिक पशु-पालन के पर्यवेक्षित नियमों से मनुष्यों के लिए कुछ निष्कर्ष ही निकाल सकते हैं। सुजनन-विद्या की किसी भी व्यावहारिक योजना के सकारात्मक एवम् नकारात्मक पहलू होंगे अर्थात् वह उपयुक्त व्यक्तियों के प्रजनन को प्रोत्साहित करेगी तथा अनुपयुक्त व्यक्तियों के प्रजनन को हतोत्साहित करेगी। भारत मे विवाह-सम्बन्ध के लिए सुजनन-विद्या के कुछ नियमों का पालन किया जाता है। उदाहरणार्थ कुछ सीमा तक सम्बन्धियों में विवाह नही हो सकता। जातियाँ गोत्रों मे बँटी हुई है तथा एक ही गोत्र वाले आपस मे विवाह नही कर सकते। इस प्रथा के वैज्ञानिक आधार के सम्बन्ध में भी प्रश्न किया गया है।[२] भारत में कुछ ऐसी प्रथाएँ भी है जो सम्भवतः हानिप्रद है जैसे अति अल्प-संख्यक उप-जातियों में सगोत्र या सजातीय विवाह की प्रथा।[३] सम्पूर्ण स्थिति को देखकर कहा जा सकता है कि मानव वंश-परम्परा के नियमों के सम्बन्ध मे भारत को भी अन्य देशों के समान ही ज्ञान की आवश्यकता है। अत्यधिक ज्ञान होने पर केवल वाञ्छित (उपयुक्त) वंश-परम्परा का ही प्रसार होगा, ऐसी आशा करना व्यर्थ है। अधिकांश पश्चिमी देशों में भी जो बहुत आगे बढ़े हुए है निश्चयात्मक सुजनन की वैधानिक योजनाओं को अपनाने का प्रश्न नही उठता, क्योंकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने के कारण उनका विरोध होगा। फिर भी कुछ देशों ने इस सम्बन्ध मे प्रयोग के लिए कानून बनाए हैं। उदाहरणार्थ संयुक्त राष्ट्र अमरीका के नेब्रास्का राज्य में गुप्त रोगों से पीड़ित किसी भी व्यक्ति को विवाह करने की मनाही है। कनेक्टीकट राज्य में मृगी-रोग से पीड़ित या दुर्बल मस्तिष्क वाले व्यक्ति विवाह नही कर सकते। मोण्टाना में निर्बुद्धि (पागल) एवम् मृगी-रोग से पीड़ित व्यक्तियों की आपरेशन द्वारा प्रजनन-शक्ति खत्म

१. यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि प्रारम्भिक दशा में 'प्राकृतिक वरण' से श्रेष्ठतम व्यक्ति ही बचते हों, ऐसा आवश्यक नहीं था। ठीक ही कहा गया है कि 'प्राकृतिक वरण' में मस्तिष्क की अपेक्षा सुदृढ पेशियों का चुनाव होता था और कलात्मक प्रतिभा के स्थान पर निकृष्ट धूर्तता या चालाकी का। सफाई तथा औषधि की प्रगति निस्सन्देह सारी जाति की आर्थिक क्षमता बढा देती है। फिर भी यह निर्विवाद है कि प्रारम्भिक दशा की तुलना में वर्तमान परिस्थितियों में अपेक्षाकृत अधिक अयोग्य पुरुष जीवित रहने तथा सन्तानोत्पत्ति के योग्य हो जाते हैं।

२. एस० वी० करन्दीकर ने 'हिन्दू एक्ज़ोगेमी' में हिन्दू समाज द्वारा विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्धों के सरल करने के मत का समर्थन किया है।

३. देखिए, करन्दीकर, (पूर्व उद्धत) पृ० २८८।

कर दी जाती है जिससे उनकी यौन-क्रियाएँ ज्यों-की-त्यों बनी रहती हैं, परन्तु प्रजनन की शक्ति नष्ट हो जाती है। यह सुझाव भी दिया गया है कि घोर अपराधियों एवम् अन्य अवाञ्छित प्रकार के व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी यही रास्ता अपनाया जाय।[1] अधिकांश वर्तमान देशों में जनमत एवम् भावना के समक्ष सुजनन-सम्बन्धी कानून बनाने में अधिक प्रगति करना सम्भव नहीं है। परन्तु राज्य जनमत को शिक्षित बनाकर, आवश्यक ज्ञान का प्रसार कर तथा इस महत्त्वपूर्ण विषय पर सलाह देकर कुछ प्रगति अवश्य कर सकता है।

३५. **सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई**—देशवासियों की आर्थिक क्षमता को बनाए रखने के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई के महत्त्व पर जितना ज़ोर दिया जाय कम है। प्लेग, इनफ्लुएंज़ा, मलेरिया, चेचक तथा ठीक होकर पुनः होने वाले ज्वर आदि के कारण होने वाली आश्चर्यजनक मृत्युएँ आर्थिक दृष्टिकोण से अनिष्टकारी हैं, क्योंकि इनसे धनोत्पादन-व्यवस्था में बाधा पड़ती है। पिछले ८० वर्षों में इंगलैण्ड में सार्वजनिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी बहुत सुधार हुए हैं जिनके कारण टाइफायड, हैज़ा, लाल जूड़ी, (संक्रामक) कुष्ठ रोग आदि का नामोनिशान लगभग मिट गया है। भारत में देशवासियों की असावधानी, शिथिलता एवम् उदासीनता आदि विशेषताएँ अधिकतर हुकवर्म, मलेरिया जैसी बीमारियों के ही परिणाम हे। ये बीमारियाँ 'स्थानीय प्रचलित बीमारियों के दुखान्त नाटक की दुष्ट अभिनेत्री हैं जिस पर कभी परदा नही गिरता।'[2] ये बीमारियाँ जितने व्यक्तियों को मारती नही उससे अधिक व्यक्तियों को अपना शिकार बनाकर शक्तिहीन कर देती हैं। इन्हें दूर करने से होने वाला आर्थिक लाभ असीम और अपार होगा। स्वास्थ्य और स्वास्थ्य-विज्ञान के सम्बन्ध में देशवासियों के मध्य ज्ञान-प्रसार की तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य विभागों के सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता है। यद्यपि इस कार्य में प्रारम्भिक व्यय बहुत अधिक होगा, परन्तु यह वाञ्छनीय होगा क्योंकि इससे आर्थिक क्षमता की अत्यधिक वृद्धि—भले ही वह तुरन्त न हो—अवश्य होगी।[3]

३६. **शिक्षा**—किसी भी देश की आर्थिक क्षमता को पूर्णतया विकसित करने के लिए सामान्य ज्ञान तथा विशेष व्यवसायों के लिए विशेष प्रकार का प्रशिक्षण आवश्यक है। भारत में सामान्य एवम् शिल्पिक (टैक्निकल) शिक्षा के सम्बन्ध में अभी बहुत-कुछ करना

---

१. देखिए, सी० पी० ब्लेकर, 'बर्थ कन्ट्रोल एण्ड दि स्टेट,' पृ० ६७-९.

२. लार्ड रोनाल्डशे (मार्क्वेस आफ़ ज़ेटलेण्ड)।

३. 'राष्ट्र के स्वास्थ्य पर किया हुआ सार्वजनिक व्यय डूबने से बचाने वाली नौका (लाइफ़ बोट) या आग बुझाने वाले एंजिन पर किये हुए व्यय के समान है; इतना ही नहीं, वह दीर्घकालीन विनियोग है। उस पर निश्चयात्मक रूप से सौ गुना ब्याज प्राप्त होता है, परन्तु कुछ वर्षों बाद और कभी-कभी कुछ पीढ़ियों बाद। कभी-कभी हम यह बेकार का प्रश्न भी सुनते हैं कि स्वास्थ्य पर किये हुए व्यय से क्या लाभ है। बहुधा यह प्रश्न ऐसे व्यक्ति पूछते हैं जो यह नहीं सोचते कि चैतन्य एवम् समर्थ जीवितों के मध्य उनकी स्वागत योग्य उपस्थिति ही इसका उत्तर है।'—इंगलैण्ड के स्वास्थ्य-विभाग के प्रधान स्वास्थ्य अधिकारी (मेडिकल आफिसर) की वार्षिक रिपोर्ट, १९२१।

शेष है। इस विषय का विवेचन हम बाद में कृषि एवम् औद्योगिक उन्नति के प्रसंग में करेंगे।

३७. जातिगत सम्मान—आर्थिक प्रगति निहित जातिगत क्षमता पर भी निर्भर होती है तथा कुछ जातियों में इसके लिए सम्मान ही नही होता। कुछ वंशों (जातियों) की उच्चता तथा कुछ की हीनता के सम्बन्ध में सहज निष्कर्षों के विवेचन में पड़ना खतरनाक है। इस प्रकार के अनेक निष्कर्ष वर्तमान स्थिति के संक्षिप्त सार मात्र हैं। आज भारतीय आर्थिक एवम् सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, इसलिए कुछ लेखकों का मत है कि यूरोपीय कवियों के समान सभ्यता के शिखर पर पहुँचने की उनमें क्षमता ही नही है। हम कल्पना कर सकते हैं कि इसी प्रकार का निष्कर्ष किसी भारतीय पर्यवेक्षक का रहा होगा। जब ब्रिटिश द्वीपसमूह के निवासी असभ्यों की तरह जंगलों में घूमते होंगे तथा भारत अपनी शक्तिशाली सभ्यता पर गौरव करता होगा। यदि उससे कोई कहता कि इन असभ्यों के वंशज भारत पर शासन करेंगे तो इस सुझाव का स्वागत वह क्षम्य घृणा एवम् अविश्वास के साथ करता। परन्तु यह आश्चर्यजनक घटना होकर रही और अब भारतीयों की बारी आई कि वे अपने सभ्य होने की क्षमता के दावे को सिद्ध करें। इतिहास के क्रम में एक जाति के दूसरी जाति के बारे में इस प्रकार के अनेक निर्णय भरे पड़े हैं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में पश्चिमी यूरोप वाले रूस-निवासियों को अर्द्ध-असभ्य मानते थे तथा अलम्बर्ट और डिडेरट उनका यूरोपीय स्तर तक सभ्य होना सम्भव ही नही समझते थे। अब भी नीग्रो जाति के बारे में सामान्य धारणा यही है कि वे श्वेत वर्ण की जातियों के समान नही हो सकते तथा भारतीयों के बारे में भी कभी-कभी इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि सभी भूरी जातियों के समान वे भी सतत प्रगति करने में असमर्थ हैं जिसके कारण वे प्रगति के कुछ मध्यान्तरों को छोड़कर दीर्घकाल तक गतिहीन और एक ही प्रकार के विचारों में पड़े रहेंगे।[1] यह मत स्वयं खण्डित है क्योंकि इसमें यह स्पष्ट बात भुला दी गई है कि भारतीय किसी एक जातीय तत्त्व से संगठित नही वरन् उनके निर्माण में अनेक जातीय-प्रवाहों का सम्मिश्रण है। इसके अतिरिक्त यह सर्वविदित है कि भारत के धन और सभ्यता ने ही विदेशियों को आकर्षित किया था। अब भी इस पिछड़ी हुई दशा में योग्य पर्यवेक्षकों ने भारतीयों में महत्ता के तत्त्व देखे हैं और स्वीकार किया है कि उचित अवसर मिलने पर भारतीय बुद्धि में यूरोपियनों से किसी प्रकार भी हीन नहीं हैं।[2] यह बात भी असत्य है कि वे आर्थिक संगठन और प्रगति के प्रति उदासीन हैं या कुछ करने में समर्थ नहीं हैं। अतः आर्थिक उन्नति के सम्बन्ध में भारतीयों को इस भावना से प्रभावित न होना चाहिए कि उनकी हीनता दूर ही नही की जा सकती।

---

१. मेरेडिथ टाउनसेन्ड, 'एशिया एण्ड यूरोप', पृ० ६।

२. २६ अगस्त १६१६ को जोहान्सबर्ग में भाषण देते समय फ़ील्ड मार्शल स्मट्स ने निम्न शब्दों का प्रयोग किया—'मैं भारतीयों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखता वरन् आशा की दृष्टि से देखता हूँ।··· ·· संसार के इतिहास में भारतीय महान् पुरुष हुए हैं। मानव-जाति का नेतृत्व करने वाले महान् भारतीय भी हुए हैं जिनके पाँवों की धूल के बराबर भी मैं नहीं हूँ।'

अध्याय ४

सामाजिक और धार्मिक संस्थाएँ

१. आर्थिक कार्यों पर धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं का प्रभाव—किसी देश के आर्थिक जीवन पर वहाँ की सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इस अध्याय में हम भारत के आर्थिक जीवन की मूलाधार संस्थाओं का वर्णन करेंगे और यह विचार करेंगे कि उनमें से विशेष महत्त्व वाली संस्थाएँ किस सीमा तक देश के आर्थिक जीवन के विकास में बाधक अथवा साधक सिद्ध हुई हैं। इस बात पर ज़ोर देने की आवश्यकता नही कि भारत के आर्थिक जीवन की धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि का विशेष अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष ही है कि भारतवर्ष के आर्थिक जीवन के अनेक अंगों की रूपरेखा देश की आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं की विशेषताओं का ही फल है।[1]

२. वर्ण-व्यवस्था—वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

संसार के सभी राष्ट्रों में सामाजिक वर्ग-विभाजन के जो अनेक सोपान पाये जाते है उनसे हमारे देश की जाति-व्यवस्था सर्वथा भिन्न है। अन्य राष्ट्रों में हमारी तरह विभाजन की कठोर सीमा-रेखाएँ नही खिंची हुई और इनके विभाजन का आधार भी धर्म नहीं है। इस कारण से किसी एक वर्ग के व्यक्ति को दूसरे वर्ग में जाना भी वर्जित नही है। इनमें अन्तर्वर्गीय विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नही है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन-व्यवसाय चुनने की पूरी स्वतन्त्रता है। इसके विपरीत वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत हिन्दू समाज एक-दूसरे से नितान्त पृथक् असंख्य छोटी-बड़ी जातियों और उपजातियों में विभाजित है। इन जातियों के सदस्यों का नित्यप्रति का आचरण भी उस जाति-विशेष में प्रचलित विस्तृत नियम-संहिता से नियन्त्रित होता है। किसी एक जाति के सदस्यों का अपने से नीची जाति के सदस्यों के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना अथवा खान-पान वर्जित है। भारत में तो जन्म से ही व्यक्ति-विशेष के सामाजिक और घरेलू सम्बन्ध सदा के लिए निश्चित हो जाते है। जिन रूढ़ियों और रीति-

१. "सामाजिक जीवन के ढंग ने ही भारत में लोगों की भूमि-अधिकार व्यवस्था को निश्चित किया है। ग्राम्य जीवन व्यवस्था...संयुक्त परिवार तथा जाति-व्यवस्था ने सदा से ही लोगो के व्यक्तिगत अधिकार संयुक्त परिवार के सदस्य की हैसियत से, तथा उन व्यावसायिक वर्गों के सदस्य की हैसियत से, जिसमें उस व्यक्ति ने जन्म लिया है, निश्चित किये है।"—एन० एस० चटर्जी, इण्डियन इकानॉमिक्स, पृष्ठ ८०।

रिवाजो के बीच उसका जन्म हुआ है उसे खान-पान, वेश-भूषा विवाह आदि मे जीवन-भर उन्ही के अनुकूल चलना पडता है।[1]

३. वर्णों के तीन मुख्य भेद—वर्णों के तीन मुख्य भेद है—व्यावसायिक, आनुवशिक तथा धार्मिक। इनमे सबसे अधिक महत्त्वशाली व्यावसायिक जातियाँ है। ये जातियाँ उन व्यवसायो की प्रतीक है जिनमे यन्त्रो के प्रयोग मे आने के पहले प्राचीन युग मे लोग लगे हुए थे।[2] व्यावसायिक जातियो के उदाहरण पूजापाठ कराने वाले ब्राह्मण और व्यापार करने वाले वैश्य है, जिनमे अन्य जातियो के अतिरिक्त पजाब की खत्री जाति और राजपूताना की अग्रवाल और ओसवाल जातियाँ आदि भी सम्मिलित है। सभी व्यावसायिक जातियो की गणना तो कठिन है, फिर भी उनमे से मुख्य जुलाहे, बढई, कुम्हार और सुनार आदि का उल्लेख किया जा सकता है। गाँवो मे काम करने वाले ग्वाले, नाई, धोबी भी इसी वर्ग के होते है। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के काम करने वालो की जैसे ज्योतिषी, तेली, अहीर, गडरिया तथा कत्थक आदि की भी इनमे गणना की जाती है। आनुवशिक जातियाँ असख्य है और भारत के कोने-कोने मे फैली हुई है। इनमें से बगाल की राजवशी तथा चाडाल आदि, उत्तर प्रदेश और बिहार की भर तथा चीरो आदि, राजपूताना और पजाब की जाट, गूजर तथा मेव आदि, बम्बई की कोली और महार आदि तथा मद्रास की नायर तथा परायन आदि जातियो के नाम विशेष उल्लेखनीय है। धार्मिक जातियाँ वे है जिनका उद्भव किसी धार्मिक सम्प्रदाय-विशेष से हुआ है, जैसे बम्बई की लिगायत जाति। इस जाति की नीव एक ऐसे धार्मिक नेता द्वारा डाली गई थी जिसने ब्राह्मणो की प्रभुता को स्वीकार नही किया था।[3]

४. वर्ण-व्यवस्था का उद्भव—जेम्स मिल के मतानुसार समाज का वर्णों मे विभाजन मूलत: किसी ऐसे दैवी-प्रेरणा-प्राप्त व्यक्ति द्वारा किया गया होगा जो व्यवस्थित श्रम-विभाजन के लाभो की पूर्व-कल्पना करने मे समर्थ रहा होगा। उनके मतानुसार किसी एक जाति के दूसरी जाति पर प्रभुता स्थापित करने के दो मुख्य कारण थे। एक तो कमज़ोर जातियो मे बलिष्ठ जातियो के प्रति काल्पनिक भय की भावना तथा दूसरे ब्राह्मण जाति की शक्ति-लोलुपता, जो कि उनकी विशेषता रही है। अपनी इस विशे-

---

१. इपीरियल गजटियर ऑफ इण्डिया; खण्ड १, पृष्ठ ३२३, डा० जी० एस० घूरिये ने भारतीय वर्ण-व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ वर्णन की हैं (१) समाज का छोटे-छोटे वर्गों में विभाजन, (२) आचार्याधिपत्य, (३) खान-पान तथा सामाजिक व्यवहार में निषेध, (४) भिन्न-भिन्न जातियों के नागरिक अथवा धार्मिक अधिकार तथा अयोग्यताएँ, (५) व्यवसाय चुनने के अवसर का अभाव, और (६) विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने में बाधाएँ।—Caste & Race in India, पृष्ठ २-१८।

२. व्यवसाय वर्ण-व्यवस्था का एकमात्र कारण नही माना जा सकता, क्योंकि सिनार्ट के मतानुसार यदि ऐसा होता तो इस सस्था के अधिक उपविभाजन तथा अस्त-व्यस्त होने की सम्भावना कम होती और आरम्भ में उन्हें सयुक्त रखने का कारण ही बाद में भी उनको सम्मिलित रखता। यदि व्यवसाय के आधार पर ही जातियाँ बनी होतीं तो इनमें एक जाति में एक प्रकार का ही व्यवसाय करते हुए लोग दिखाई देते। पर हम जानते है कि ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए देश के एक भाग में रहने वाले सभी कपडा बुनने वाले एक ही जाति के नहीं होते।"—रिसले, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ २६९-७०।

३. देखिए, इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स; भाग ३, पृ० २३१।

पता के कारण धीरे-धीरे ब्राह्मण जाति ने समाज में ऐसा उच्चतम पद प्राप्त कर लिया कि उनके प्रति सम्मान प्रकट करना अन्य जातियों का कर्तव्य हो गया। दैवी प्रकोपों के बाद, जिन्हें दूर करने की सामर्थ्य का ब्राह्मण ढोंग करते थे, युद्ध के अनिष्टकारी परिणामों का ही विशेष भय होता था, और इसीलिए ब्राह्मणों के बाद सम्मान में दूसरा स्थान क्षत्रियों का हुआ।[1]

सिनार्ट के सिद्धान्तानुसार, "जाति-व्यवस्था आर्यों की प्राचीन संस्थाओं के स्वाभाविक विकास का फल है, जिसने भारत की तत्कालीन परिस्थितियो के अनुकूल ढलते-ढलते यह रूप धारण कर लिया है।" इस मत के प्रतिपादन में उन्होंने हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था तथा ग्रीस और रोम के राष्ट्रीय विकास के प्रारम्भिक युग की अवस्था के बीच पाये जाने वाले अत्यधिक साम्य को आधार माना है। इन दोनों में अन्तर केवल इतना था कि भारत मे जाति-व्यवस्था बडी कठोर और अनम्य हो गई, परन्तु यूरोप मे ऐसा नही हुआ।

एम० सिनार्ट के वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी सिद्धान्त का आधार निम्न बाते कही जा सकती है—(१) आर्यों का देश मे दूर-दूर तक फैल जाना, जिससे वर्गों की संख्या में वृद्धि होती गई; (२) दस्युओं मे आर्यों का सम्पर्क, जिससे कुल-भेद के गर्व को प्रोत्साहन मिला; (३) धार्मिक अनुष्ठानो में पवित्रता का विचार, जिसके कारण वहाँ के आदिवासियो को शारीरिक श्रम वाले कार्यो मे लगना पड़ा जबकि उच्च व्यवसाय केवल आर्यो के लिए सुरक्षित रहे; (४) पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रभाव, जिसके अनुसार समाज मे प्रत्येक व्यक्ति का स्थान पूर्व जन्म के कर्मो के अनुसार नियत होता है; (५) राजनीतिक सत्ता का अभाव जो इन बिखरे हुए समूहो को एक सूत्र मे बाँध सकता था; और (६) ब्राह्मणों की सत्ता जो उन्होंने धीरे-धीरे प्राप्त कर ली थी।[2]

४. वर्ण-व्यवस्था की कठोरता—जातियों के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। पर वे सब अपूर्ण कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे भारतीय जाति-व्यवस्था की अप्रतिम कठोरता का कारण पूर्ण रूप से स्पष्ट करने में असमर्थ हैं। बारहवी और अठारहवी शताब्दी के बीच यवनों के बारम्बार के आक्रमणों के प्रतिक्रियास्वरूप इस व्यवस्था में और भी अनम्यता आ गई। इस्लाम धर्म के लोकतन्त्रीय प्रभावो की ऐसी प्रतिक्रिया होना बड़ी अजीब और अप्रत्याशित बात थी। यह विश्वास करने के पर्याप्त कारण है कि विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे वर्ण-व्यवस्था

१. देखिए, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, ग्यारहवाँ संस्करण, जाति पर लेख।

२. रिसले, पीपुल ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २६७। वर्ण-व्यवस्था की हाल की प्रगति को समझाते हुए डॉ० जी० एस० घूरिये का कथन है कि देश में कठोर एकछत्र शासन के अभाव, शासकों की कानून और रिवाज के समान मापदण्डो को लागू करने की अनिच्छा तथा उनके भिन्न-भिन्न वर्गो में प्रचलित रिवाजों को मान्यता प्रदान करने की तत्परता आदि ने जाति-विभेदों की वृद्धि की है और प्रत्येक समूह में सजातीय भावना को बढाकर उनमें ऐक्य स्थापित किया है। डा० घूरिये का यह भी मत है कि 'जातियों की अनेकता तथा सम्पूर्ण व्यवस्था की सर्वांङ्ग पूर्णता हिन्दुओं के वर्ग-विभाजन का स्वभाव तथा उसे तर्कसहित चरम सीमा तक पहुँचाने की प्रवृत्ति का प्रमाण है जो उनके विश्वास, साहित्य तथा दर्शन की विशेषता है।' पूर्व उद्धृत, पृ० १४७-८।

इतनी अनम्य न थी—विशेष रूप से जहाँ तक तीन मुख्य वर्णों का सम्बन्ध है। इनकी इस नम्यता का लोप कैसे हो गया, यह सदैव एक ऐसा प्रश्न रहेगा जिसका सही उत्तर नहीं दिया जा सकता। हो सकता है विजित दस्युओं की प्रतिनिधि होने के कारण अथवा किसी और कारण से शूद्र जाति के साथ शुरू से ही लगा हुआ हीनता-दोष ही इस अनम्यता का मूल कारण रहा हो और वही धीरे-धीरे समूची समाज-व्यवस्था में व्याप्त हो गया हो। यह भी सम्भव हो सकता है कि आर्यों के यज्ञ तथा संस्कारों की क्रियाओं की विधि को विशेष महत्ता मिलने के कारण ब्राह्मणों के हाथों में, जो ये कार्य सम्पन्न कराते थे, शक्ति केन्द्रित हो गई हो और उन्होंने इस शक्ति का प्रयोग अपने सामाजिक उत्कर्ष के लिए किया हो। यह भी सम्भव है कि सिनार्ट महोदय ने जिन कारणों का उल्लेख किया है उनका भी कुछ हाथ रहा हो, लेकिन यह मान लेना कठिन है कि भारतीय समाज की स्थैर्य और शान्तिमय स्थिति ने कई पीढ़ियों तक व्यावसायिक परम्परा निश्चित कर ली और इस प्रकार आनुवंशिकता और उत्तराधिकार के सिद्धान्तों को दृढ़ बनाकर जातियों की वृद्धि में योग दिया।[1] हम ऐसा इसलिए कहते हैं कि ऐसी ही स्थिरतामय स्थिति औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व समस्त यूरोप में फैली हुई थी, फिर भी वहाँ भारतीय जाति-व्यवस्था की कठोरता के तुल्य सामाजिक व्यवस्था का जन्म नहीं हुआ। ऐसे ही कारणों के आधार पर हम इस तर्क को भी अस्वीकार करने के लिए बाध्य हैं कि संचार के अविकसित साधनों और जनसाधारण के अज्ञान ने सामाजिक सम्पर्क को दुःसाध्य बनाकर जाति-व्यवस्था की नींव और भी मजबूत की। उपर्युक्त तर्कों से केवल इतना ही स्पष्ट होता है कि जाति-व्यवस्था की कठोरता एक बार आरम्भ होने पर किस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यह स्पष्ट नहीं होता कि जाति-व्यवस्था की कठोरता का जन्म कैसे हुआ। अस्तु, वर्ण-व्यवस्था के जन्म और विकास के प्रश्न को यह कहकर छोड़ देना ही उचित होगा कि यह 'एक अबूझ और निष्प्रयोजन पहेली' है।

६. वर्ण-व्यवस्था के लाभ और उसकी उपलब्धियाँ—वर्ण-व्यवस्था का सबसे अधिक प्राणवान् सिद्धान्त, जिसके कारण इसे युक्तियुक्त अथवा न्याय्य ठहराया जाता है, श्रम-विभाजन का सिद्धान्त है जिससे लोगों की आर्थिक शक्ति तथा कार्य-क्षमता की वृद्धि हुई है। प्रायः सभी देशों में कभी-न-कभी व्यवसाय सिद्धान्त-रूप में नहीं तो कार्य-रूप में अवश्य परम्परागत रहे हैं और इसमें अनेक लाभ भी थे। ऐसी व्यवस्था में पुत्र स्वभावतः व्यवसाय के रहस्यों को बड़ी सरलता से जान लेता था और घर के सुखद वातावरण, पिता के वात्सल्ययुक्त संरक्षण में कम-से-कम प्रयास से कार्य में दक्षता प्राप्त कर लेता था। इस बात की महत्ता उस समय विशेष थी जबकि शिक्षा का कोई व्यवस्थित ढंग न था और हस्त-लाघव का विशेष मान था। इस प्रकार पिता को बड़े सस्ते में एक सहायक प्राप्त हो जाता था और पुत्र को बड़ी सुगमता से जीवन में प्रवेश मिल जाता था, क्योंकि उसे पैतृक सम्पति के रूप में पिता की कला और ख्याति प्राप्त हो जाती थी। कला में शिक्षा से प्राप्त निपुणता का बहुत मूल्य था और कुलागत परम्परा इसमें सहायक होती थी। जब तक इस सिद्धान्त का प्रयोग स्वाभाविक और संगत ढंग से

१. देखिए, पी० ए० वाडिया और जी. एन० जोशी, वैल्थ ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १२४।

होता रहा इसमें कोई आपत्ति नही की जा सकती थी। पर ऐसा नही हुआ। कुछ समय के पश्चात् किसी व्यक्ति का दूसरे व्यवसाय का अपनाना असाधारण बात ही नही, वरन् दोषपूर्ण तथा दण्डनीय माना जाने लगा।

व्यावसायिक जातियों की तुलना प्रायः यूरोप के मध्यकालीन व्यापार-संघों से की जाती है और उनको समान व्यवसायियों के बीच आपसी सम्बन्ध स्थापित करने का एक लाभप्रद साधन माना जाता है। ये जातियाँ यूरोप के प्राचीन व्यापार-संघों की ही तरह अपने सदस्यों के लिए शिशिक्षुओं को शिक्षा देकर, सदस्यों के बीच सद्भाव का प्रचार करके झगड़ों का निबटारा करने के लिए विवाचन-न्यायालयों की व्यवस्था करके सदस्यों के पारिश्रमिक तथा लाभ को नियमित करके और कभी-कभी कठिनाई के समय उनकी सहायता करके, अन्योन्य हितकारिणी समितियों का कार्य किया करती थी।[1] 'हिन्दुओं के लिए तो उनका जाति-संघठन ही उनका सम्मिलन-केन्द्र है, उनका व्यापार-संघ है, हितकारिणी समिति है और वही उनकी जन-हितैषी सभा भी है।'[2] यूरोपीय व्यापार-संघ कुछ विशेष बातों में जातियों से भिन्न है। सर्वप्रथम, वे स्वेच्छा से बनाये गए संघ थे जो कि ये जातियाँ नही हैं। दूसरे, यद्यपि इन संघों में सदस्यों के पुत्रों को शिशिक्षु की हैसियत से बहुत लाभ प्राप्त हो जाते थे फिर भी आवश्यक शिक्षा प्राप्त बाहरी लोगों को भी प्रवेश मिल जाता था। ऐसा कम-से-कम उस समय तक होता रहा जब तक कि ये बिगड़कर संकीर्ण एकाधिकारी संघो के रूप में परिणत नहीं हो गए। इसके अतिरिक्त इनमें अन्तर्वर्गीय विवाह की आज्ञा थी, क्योकि वे इसे विशुद्ध रूप से सामाजिक भावना की बात मानते थे। भारतवर्ष में किसी जाति-विशेष की सदस्यता पूर्णतः जन्म पर निर्भर रही है और अन्तर्जातीय विवाह दृढ़ता से वर्जित रहे है। यूरोपीय व्यापार-संघों के सम्बन्ध में सदस्यों की व्यावसायिक एकता ही वास्तव में उनके बीच का यथार्थ बन्धन था और यह एकता ही आगे चलकर सामन्तों और राजाओं के विरुद्ध उनकी सामूहिक शक्ति का स्रोत सिद्ध हुई। भारत की जातियों की तरह उनकी व्यावसायिक एकता आपसी फूट और कमजोरी की प्रतीक नही थी। कुछ लेखकों का विश्वास है कि यूरोप के मध्यकालीन व्यापार-संघों की तरह जातियों ने भी सम्भवतः कला और उद्योग को प्रश्रय दिया होगा और उनकी उन्नति की होगी और शायद 'इस व्यवस्था ने शिल्पियों की आश्चर्यजनक यान्त्रिक निपुणता की बाह्य प्रतिस्पर्धा से रक्षा की होगी।'[3] निस्सन्देह, इस विचार में सत्य का अंश है, पर यह भी बिलकुल सम्भव है कि भारत की वर्तमान शिल्प-कला में जो समयानुकूल परिवर्तनशीलता का अभाव अथवा साधारणतया विकास के प्रति शैथिल्य दिखाई पड़ रहा है, जाति-व्यवस्था के बन्धनों ही के कारण है, जिसने अवश्य ही उसकी स्वाभाविक उन्नति में बाधा डाली होगी।[4]

---

१. देखिए, चटर्जी; पूर्व उद्धृत, पृष्ठ ६२।

२. एस० लो०, विजन ऑफ इण्डिया, पृ० २६३

३. देखिए, वाडिया एण्ड जोशी; पूर्व उद्धृत, पृ० १२६।

४. 'व्यावसायिक संघ विस्तृत और विकसित हो सकता है। इसमें कलात्मक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति

जाति-व्यवस्था के पक्ष में कहा जा सकता है कि आर्यों के आक्रमण के समय शायद यह भिन्न-भिन्न जातियों के सहयोग तथा संस्कृतियों की सहकारिता में सहायक सिद्ध हुई होगी।[1]

सम्भवतः इस व्यवस्था ने हिन्दू-समाज को स्वयं अक्षुण्ण बने रहकर राजनीतिक आक्रमणों के आघातों को सहने की शक्ति भी दी। यह भी कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था ही ने भारतीय समाज को आधारभूत स्थिरता और सन्तोष प्रदान किया। अभी हाल तक भारत मे किसी व्यक्ति का जीवन-पथ और व्यवसाय जन्म से ही निश्चित होता था। इससे वह अपने व्यवसाय चुनने की उलझन तथा उद्विग्नता से, जो वर्तमान सामाजिक जीवन की विशेषता है, बच जाता था। चूँकि व्यक्तियों का व्यवसाय जन्म से ही निश्चित हो जाता था, इसलिए वह 'सामाजिक विद्वेष तथा असफल आकांक्षाओं से जनित विप' से भी सुरक्षित रहता था।

७. जाति-व्यवस्था वर्तमान रूप में समर्थनीय नहीं—जाति-व्यवस्था की प्रारम्भ में चाहे जो भी अच्छाइयाँ रही हों, पर वह अपने वर्तमान रूप में हर प्रकार से निन्दनीय है। मनुष्य की कुत्सित धूर्तता द्वारा जनित और पोषित यह व्यवस्था प्रगति के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। वर्तमान समय में तो यह अत्याचार और असहिष्णुता का व्यापक साधन बन गई है,[2] जो सामाजिक तथा राजनीतिक अनैक्य और दुर्बलता को जन्म देती है। यदि आज भारतीय राष्ट्रीयता को वास्तविक ऐक्य की भावोष्णता से रहित भिन्न-भिन्न अंगों का अव्यवस्थित संग्रथन कहा जा सकता है तो यह स्मरण रहे कि इसके लिए जाति-व्यवस्था ही बहुत हद तक उत्तरदायी है। भारतवर्ष में जाति-व्यवस्था सुदृढ़ राष्ट्रीयता के विकास में बाधक रही है, जब कि अन्यत्र एक ही प्रदेश में रहने वाली भिन्न-भिन्न जातियों का निर्बाध मिलन इस विषय में सहायक ही होता रहा है। सम्भवतः यह एक ऐसी महान् राजनीतिक बाधा है जिसके कुप्रभाव से आज भी भारतीय पीड़ित है और जो अतीत में उनकी राजनीतिक दुर्बलता का कारण रही है।

का पूर्ण अवसर रहता है। मध्यकालीन नगरों का जन्म भी इन्हीं संघों के कारण हुआ था। जाति एक निम्न कोटि की व्यवस्था है। पार्थक्य की भावना से इसकी संख्या में बढ़ती होती है। ज्यों-ज्यों इसमें वृद्धि होती है उसकी अपनी कलात्मक प्रवृत्तियों के विकास की क्षमता का ही नहीं उनको सुरक्षित रखने की क्षमता का भी ह्रास होता जाता है।' रिसले, पूर्व उद्धृत, पृ० २७०

१. 'यथार्थ में वर्ण-व्यवस्था न तो आर्यों की देन है और न द्रविड़ों की, वरन् इसका आरम्भ समय की आवश्यकता के अनुसार किया गया जब अनेक जातियों को एक-दूसरे से मिल-जुलकर रहना पड़ा। किसी जाति-विशेष की संस्कृति की रक्षा के लिए (बहुसंख्यक आदिनिवासियों के प्रचलित अन्धविश्वासों द्वारा जिसके मिट जाने का बहुत भय था) अपनी जाति और संस्कृति-सम्बन्धी विशेषताओं को कठोर बन्धनों द्वारा अलग रखने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय न था। दुर्भाग्य से इस सामाजिक व्यवस्था को अवनति और मृत्यु से बचाने की यह युक्ति अन्त में विकास के हित में बाधक सिद्ध हुई है।'—एस० राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलासफी, खण्ड १, पृ० ११२-१३।

२. 'किसी जिले अथवा नगर की जनसंख्या ऐसे भिन्न-भिन्न देशवासियों की समष्टि है जो न तो एक साथ खाएँगे न पिएँगे, और न आपस में विवाह ही करेंगे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि भारतवासी लगभग २००० जातियों-उपजातियों में विभाजित हैं जिनमें जीवन-सम्बन्धी आपसी समानता इतनी कम है कि जितनी किसी अजायबघर के जीव-जन्तुओं में।'—बैम्फाइल्ड फुलर, दि एम्पायर ऑफ इण्डिया।

उदाहरणार्थ, प्रो० जदुनाथ सरकार की यह स्थापना, कि मराठों की शक्ति का ह्रास विशेष रूप से जातीयता की अस्वस्थ भावना के विकास से हुआ, बहुत-कुछ अंशों में सत्य है।

८. सजातीय विवाह तथा जातियों का अपकर्ष—जाति-व्यवस्था के पक्ष में एक बात प्रायः यह कही जाती है कि इसने उच्च वंशों की विशुद्धता को अक्षुण्ण रखा है। केवल हिन्दू जाति ही नहीं है जिसने विशुद्धता की रक्षा के लिए यह व्यापक युक्ति निकाली है, पर संसार के किसी भी देश में सजातीय विवाह के सिद्धान्त को इतनी दृढ़ता से नहीं अपनाया गया जितना कि भारत में। इसके कारण सदैव सजातीय अभिजनन होता है जिससे सम्भवतः उच्च-कुलागत मूल गुणों का ह्रास हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्त-र्जातीय विवाह न होने से यदि किसी एक जाति में पुरुषों का बाहुल्य हो तथा किसी दूसरी में स्त्रियों का बाहुल्य हो तो स्त्री-पुरुषों की संख्या की यह असमानता भी दूर नहीं की जा सकती, क्योंकि एक जाति की कमी दूसरी जाति से पूरी नहीं हो सकती। भारी दहेज की कुत्सित सामाजिक प्रथा, और पंजाब के कुछ भागों में अब भी प्रचलित शिशु-हत्या की घृणित प्रथा का कारण भी कुछ हद तक यही (सजातीय विवाह) है।

९. जाति-व्यवस्था वैयक्तिक रुझान और व्यवसाय के सामञ्जस्य में बाधक है—आर्थिक उन्नति और समृद्धि के लिए मानव की सहज प्रवृत्ति और उसके व्यवसाय में जो सामञ्जस्य होना चाहिए उसमे जाति-प्रथा बाधक होती है। यदि केवल जन्म के ही आधार पर लोगों की प्रवृत्ति तथा योग्यता का विचार किये बिना ही हम उनको पृथक्-पृथक् वर्गो में बाँट दें और उन्हें अपनी शक्तियों को पूर्ण रूप से विकसित करने का जन्म-सिद्ध अधिकार न दें तो राष्ट्र उन लाभों से वंचित रहेगा जो अन्यथा राष्ट्रीय सम्पत्ति तथा जन-कल्याण में वृद्धि करते। हम नहीं जानते कि इस प्रकार लोगों को अनुपयुक्त स्थानों पर रखकर अथवा दूसरे शब्दों में सबको समान अवसर न देकर हम उनके आर्थिक उद्यम को कितना बड़ा आघात पहुँचा रहे हैं।[1]

१०. पूँजी और श्रम में गतिमत्ता का अभाव—जाति-व्यवस्था पूँजी और श्रम की स्वतन्त्र गतिमत्ता में बाधा उपस्थित करती है। व्यवसाय-परिवर्तन तथा स्थान-परिवर्तन के कठिन होने पर श्रम की गतिमत्ता कम हो जाती है। शिल्प-कला की पुरानी व्यवस्था में शिल्पी स्वयं अपनी ही पूँजी का प्रयोग करता है, इसलिए श्रम कि गतिहीनता का अर्थ स्वभावतः पूँजी की गतिहीनता भी होता है। इस प्रकार इस व्यवस्था में ऐसे वर्गों की स्थापना हो गई थी जिनमें आपसी प्रतिद्वन्द्विता के लिए कोई अवसर न था। ऐसी स्थिति में किन्हीं व्यवसायों में काम करने वालों का बाहुल्य दिखाई पड़ता था, जब कि दूसरों में व्यवसायी जाति-भेद की दीवारों के कारण बाह्य प्रतियोगिता से बचकर लाभान्वित होते थे।

११. बड़े पैमाने के साहसोद्यम में जाति-प्रथा बाधक—जाति-व्यवस्था ने कुछ हद तक अधिक मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों के विकास को अवरुद्ध किया है। पहले तो किसी विशेष प्रकार के श्रमिकों की माँग और उसके सम्भरण में तुरन्त समंजन

१. एस० वी० केटकर, इण्डियन इकानॉमिक्स।

होना कठिन है। दूसरे, जाति-व्यवस्था आजकल के बड़े पैमाने की उत्पादन-प्रणाली के लिए आवश्यक श्रम के सूक्ष्म विभाजन की विरोधी है। इन बातों के अतिरिक्त जाति-भेद के कारण बुद्धि, शारीरिक श्रम और पूँजी को जो प्राय: भिन्न-भिन्न जातियों की विशेषताएँ होती हैं, एक स्थान पर एकत्रित करना भी कठिन है।[1] प्रत्येक जाति के खाने-पीने, पहनने और रहने के ढंग मे अन्तर होने के कारण उपभोग का स्वरूप भी साम्प्रदायिक तथा स्थानीय हो जाता है। इसलिए अनेक प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन तो करना पड़ता है परन्तु प्रत्येक वस्तु का उत्पादन छोटे पैमाने पर ही किया जाता है।[2] इन बातों के फलस्वरूप देश के इतने विशाल होते हुए भी उत्पादन छोटे पैमाने पर ही होता रहा है और बड़े पैमाने पर उत्पादन करने में जो बचत होती है उससे लाभ नही उठाया जा सका। एक छोटा दोष यह भी है कि सामाजिक दृष्टि से नीची जातियों की आर्थिक स्थिति में उन्नति हो जाय तब भी वह सदैव रहन-सहन के स्तर में परिलक्षित नही होती, क्योंकि नीची जातियों के उच्च जातियों में सम्मिलित किये जाने की तो कोई सम्भावना होती नहीं और इसलिए उनके अनुकरण द्वारा रहन-सहन का श्रेष्ठतर स्तर अपनाने का भी अवसर उन्हें नही मिल पाता।

१२. जातियाँ और श्रम की गरिमा—जाति-व्यवस्था प्राय: उच्च वर्गों के लोगों में नीच जातियों द्वारा अपनाये गए उद्योगों के अनुकरण के प्रति अरुचि पैदा कर देता है। परिणाम यह होता है कि वे बहुधा अपनी आर्थिक स्थिति में उन्नति नहीं कर पाते और इस प्रकार तथाकथित प्रतिष्ठित व्यवसायों में काम करने वालों के बाहुल्य से उत्पन्न विषमताएँ बढ़ती जाती है। यह सत्य है कि यूरोप में श्रम की गरिमा के बारे में लोगों में कोई भ्रान्त धारणा नहीं है। वे किसी व्यवसाय-विशेष को किसी वर्ग-विशेष का एकाधिकार नहीं मानते, वरन् वे तो लोगों में काम को समान और स्वतन्त्र रूप से वितरित करने के पक्षपाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह अपनी आर्थिक स्थिति की उन्नति के लिए कोई भी व्यवसाय अपना ले। उनकी दृष्टि में कोई भी ईमानदारी का व्यवसाय हीन नहीं है। वहाँ अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर किसी अन्य व्यवसाय के अपनाने से न तो कोई जातिच्युत होता है और न सामाजिक निन्दा का भागी ही। इससे श्रम तथा पूँजी की गतिमत्ता को प्रोत्साहन मिलता है और आर्थिक स्थिति दृढ़ होती है। जाति-प्रथा से एक और हानि विभिन्न जातियों में कृषिक तथा औद्योगिक उत्पादन के विकास के कुछ तरीकों के विरुद्ध विद्यमान अरुचि और पूर्वग्रहों के कारण होती है। हड्डियों, मछलियों तथा विष्ठा का खेती में खाद के रूप में प्रयोग करने में आपत्ति इसका एक उदाहरण है।

---

१. भारत में संयुक्त पूँजी वाले बैंकों का आरम्भिक असफलता का एक कारण यह भी था कि बैंक में काम करने के लिए एक ही जाति के लोग न मिलते थे। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार बैंकों के कार्य को सफलतापूर्वक चलाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था।

२. यह मानना पड़ेगा कि यदि किसी जाति के सदस्यों की संख्या लाखों में हो, जैसी कि कुछ क्षत्रियों की है, तो इस तर्क में कोई बल नहीं रह जाता।

१३. जाति-प्रथा समानता के सिद्धान्त की विरोधी है—जाति-व्यवस्था समानता के लाभकारी सिद्धान्त को अस्वीकार करती है। इससे ऊँची तथा नीची दोनों जातियों को हानि पहुँची है। इस भेद-व्यवस्था ने उच्च वर्णों में एक विकृत तथा निराधार प्रभुता की भावना को और नीच वर्णों में उनके स्वाभिमान के विकास के लिए घातक मानसिक प्रवृत्ति को जन्म दिया है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण अछूत जाति के लोग हैं, जो तरह-तरह से निरादृत किये जाते हैं, जलालत भुगतते हैं और अनेक सामाजिक ही नहीं आर्थिक कठिनाइयों से भी दबे हैं।[1] इस प्रथा के अभागे शिकार, अर्थात् अछूत, दुकानों में घुसने तथा उन सड़कों पर जहाँ दुकानदार रहते हैं, चलने योग्य न होने के कारण साधारण व्यापारिक आदान-प्रदान में सदा घाटे में रहे हैं। शताब्दियों से प्रचलित सामाजिक बहिष्कार की यह अपमानजनक प्रथा पौरुष, स्वातन्त्र्य तथा स्वावलम्बन की भावना के विकास में बहुत बड़ी बाधा रही है।[2]

१४. पाश्चात्य सभ्यता का जाति-प्रथा पर प्रभाव—पाश्चात्य विचार-धारा के प्रभाव तथा सभ्यता के आधुनिक साधनों (उदाहरणार्थ रेल आदि) ने कुछ अंशों तक जाति-भेद की दीवारों को ढाने का प्रयत्न किया है। गाँवों के बाह्य जगत् से सम्बन्धित हो जाने के कारण तथा व्यापार और नवीन उद्योगों की वृद्धि के कारण अधिकाधिक संख्या में लोग अपने प्राचीन परम्परागत व्यवसायों को छोड़कर नये कारखानों, मिलों तथा खानों में काम स्वीकार करके लाभ उठाने लगे हैं। उच्च जाति के लोग भी आर्थिक परिस्थिति के दबाव से ऐसे व्यवसायों को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो रहे हैं, जो अभी तक समाज में केवल निम्न जाति वालों द्वारा ही अपनाये जाते थे। उदाहरणार्थ, अनेक ब्राह्मण आज दरज़ी, व्यापारी तथा दुकानदारी का काम करने लगे हैं। इसलिए अब व्यवसाय सही मानों में जाति का सूचक नहीं रह गया है। रेल-यात्रा की आवश्यकता ने भी खान-पान तथा व्यक्तिगत व्यवहार-सम्बन्धी निषेधों को शिथिल कर दिया है। इस कार्य में पाश्चात्य शिक्षा ने, जिसमें ऊँच-नीच के भावों के मिटाने की प्रवृत्ति है, बहुत सहायता पहुँचाई है।[3]

१. स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, विशेषकर नवम्बर सन् १९४९ में भारतीय संविधान बन जाने के बाद, परिस्थिति बदल गई है। संविधान के अनुच्छेद १५ (२) के अनुसार कुल, जाति, योनि, जन्मस्थान या इनमें से किसी एक या अनेक कारणों से किसी व्यक्ति के दुकानों, आमोद-प्रमोद के स्थानों आदि में जाने या कुएँ, तालाब, स्नान-घाट के प्रयोग करने पर कोई रोक नहीं है। पिछड़ी जातियाँ अब अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रही हैं तथा उच्च जातियों का रुख भी बदल रहा है। भविष्य में जाति-प्रथा की असमानताएँ कम होंगी, ऐसी प्रवृत्ति दिखाई देती है। अनुच्छेद (१७) के अनुसार अस्पृश्यता का भी बहिष्कार हो चुका है और किसी भी रूप में अस्पृश्यता पर अमल करने की मनाही है।
—अनुवादक

२. मॉरल एण्ड मेटीरियल प्रोग्रेस रिपोर्ट (१९२३)।

३. अन्य जातियों के साथ सम्पर्क तथा भोजन आदि के नियम आनुष्ठानिक दूषण के अधिमानसिक सिद्धान्त पर आधारित थे जिसमें कई अपवाद भी मान्य थे। मनु के समय से ही यह सर्वमान्य रहा है कि यदि कोई यात्री भूख से मर रहा है तो उसे जाति-भावना का विचार त्याग कर हर प्रकार से भूख मिटा लेनी चाहिए। आधुनिक काल में, विशेषकर जब से रेलों का प्रचार हो गया है, धर्माधर्म विचारक ब्राह्मणों ने इस सिद्धान्त की विशेष अनुकूल व्याख्या कर ली है। उदाहरणार्थ, मिठाई, जिनमें कई तरह

पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति, विश्व-विद्यालयों और कॉलेजों का जीवन, जहाँ नीच जाति के लोग उच्च जाति वालों के साथ कन्धे-से-कन्धा रगड़ते हैं, विशाल नगरों की स्थापना और इस प्रथा के प्रति अविश्वास आदि जातीयता की संकीर्ण भावना को मिटा रहे हैं। इन कारणों से उच्च वर्ग अपने विशेष अधिकारों के लिए उत्तरोत्तर कम बल देने लगा है और निम्न वर्ग उच्च वर्ग की प्रभुता को अकारण ही स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। देश में अब केवल एक ही नियम बिना किसी भेदभाव के सब पर लागू है और राज्य की ओर से भी उच्च वर्ण वालों के अभिमान को न तो किसी प्रकार का प्रोत्साहन ही प्राप्त है और न सरकारी नौकरियों में उच्च पदों की प्राप्ति में उनके साथ कोई पक्षपात बरता जा रहा है। उलटे निम्न वर्ग के लोगों को सरकारी नौकरियों में औरों की अपेक्षा अधिमान्यता (Preference) दी जा रही है और इस प्रकार एक प्रतिलोम जाति-व्यवस्था का प्रारम्भ हो गया है। नीची जातियाँ अब अपनी पूर्व निर्योग्यताओं को सामूहिक प्रयत्न द्वारा दूर करने में विशेष रूप से सचेष्ट हैं। हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक तनाव ने संकीर्ण हिन्दुओं में भी सामाजिक सुधार और सामाजिक समानता के विचारों के प्रति सहानुभूति जगा दी है। ऐसा लोग अनुभव करने लगे हैं कि हिन्दुओं का एक जाति के रूप में अस्तित्व तभी सम्भव है जब कि वे अपना सुधार कर लें, जिसका अर्थ यह है कि जाति-व्यवस्था को नष्ट कर दिया जाय अथवा उसमें ऐसे सुधार कर दिये जायँ कि उसका बिलकुल रूपान्तर हो जाय।[1]

१५. जाति-व्यवस्था की शक्ति—यह सब होते हुए भी जाति-व्यवस्था को मृतप्राय समझना भ्रमात्मक होगा। दुर्भाग्य से समाज पर उसका प्रभाव आज भी भरपूर है। भारतीय जनता पर जाति का प्रभाव इतना गहन है कि मुसलमान भी इससे अछूते न रह सके यद्यपि उनका धर्म इस्लाम सभी अनुयायियों में परस्पर पूर्ण समता के भाव पर बहुत ज़ोर देता है। हाल की कुछ घटनाओं ने जाति-व्यवस्था के दोषों को और

की चीजें मिली रहती हैं, जो स्टेशन के प्लेटफार्मों पर बेची जाती है, किसी से भी लेकर खाई जा सकती है। मिठाई बेचने वालों से उनकी जाति-पाँति के विषय में स्टेशनों पर, जहाँ कुछ ही क्षण गाड़ियाँ खड़ी होती हैं, तीसरे दर्जे की खिड़कियों से पूछताछ नहीं की जा सकती। यहाँ यह कहावत सही बैठती है कि 'पानी पीकर जाति पूछने से क्या?' इसी सिद्धान्त के अनुसार चतुर लोग भी यह भुला देते हैं कि बरफ़ भी पानी का ही परिवर्तित रूप है तथा सोडावाटर भी बोतलों में भरे जाने से पहले साधारण पानी ही था, गंगा-जल नहीं। अनेक औषधियाँ ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध गौ-मांस से है, और दूसरे देशों से मँगाये हुए बिस्कुट न जाने कितने जातिहीन व्यक्तियों द्वारा बनाये गए हैं। ऐसे चतुर व्यक्ति इस सम्बन्ध में कोई पूछताछ नहीं करते कि अशुद्ध होने से बचने के लिए उनके पड़ोसी को कितनी दूर रहना चाहिए जबकि वे जानते हैं कि रेल-यात्रा में १२ घण्टे तक उनसे कन्धे-से-कन्धा मिला कर बैठना ही पड़ता है।—रिसले, पृष्ठ २७९-८०।

१. कुछ पाठकों को याद होगा कि सन् १९३६ में डा० अम्बेदकर ने अपने अनुयायियों के साथ हिन्दू धर्म त्याग कर किसी भी ऐसे धर्म को, जो धर्म-परिवर्तित करके आये हुए हरिजनों के प्रति समानता का व्यवहार करने को तैयार हो, अपनाने की घोषणा करके सनसनी पैदा कर दी थी। उन्हें जाति-प्रथा से पीड़ित हिन्दुत्व के गढ़ पर चारों ओर से किये गए अप्रत्याशित आक्रमण भी याद होंगे, जिनके कारण कुछ प्रबुद्ध अछूतों ने हिन्दू जाति छोड़ने का विचार किया था।

विषम बना दिया है। विशेष रूप से हाल के राजनीतिक सुधारों ने भिन्न-भिन्न जातियों के बीच राजनीतिक अधिकारों को हथियाने की प्रवृत्ति को जन्म देकर मनोमालिन्य और कटुता बढ़ाई है। नीची जातियों की जागृति की ओर पहले संकेत किया जा चुका है। अनेक दृष्टिकोणों से उस जागृति का हम स्वागत करते हैं पर व्यवहार में देखा जाता है कि अपनी जाति के प्रति मोह अन्य उच्च जातियों के प्रति कट्टर घृणा की भावना का रूप ले लेता है; और इस प्रकार उच्च जातियों के प्रति अपने पुराने वैमनस्य को प्रज्वलित करने में अधिक शक्ति नष्ट की जाती है। लोकतन्त्रीय सुधारों ने जो नये-नये अधिकार लोगों को दिये हैं, उनका दुरुपयोग प्रायः राष्ट्रीय कल्याण की अपेक्षा केवल अपने ही वर्ग के हित की भावना जगाने में किया जा रहा है। उन जातियों का, जिनका संगठन अच्छा है और जो सुदृढ़ आत्म-चेतना से सम्पन्न हैं, राजनीतिक गुटों के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। यद्यपि भिन्न-भिन्न जातियाँ अपने से उच्च जातियों के प्रति खुल्लमखुल्ला विरोधी भावनाएँ प्रकट करती हैं, पर वे समाज में स्वयं अपने से नीची जातियों को समानता प्रदान करने के लिए तैयार नहीं हैं। अन्य सामाजिक समानता का प्रचार करने वालों की ही तरह ये भी ऊपर से अपने तक तो समानता लाना चाहते हैं पर नीचे वालों को अपनी समानता में नहीं लाना चाहते। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणों की प्रभुता घट रही है परन्तु ब्राह्मणत्व की भावना अभी विद्यमान है और निम्न वर्गों में भी व्याप्त हो गई है।

१६. जाति-व्यवस्था की बुराइयों का उपचार—जब हमारा ध्यान जाति-व्यवस्था के अनेक दोषों की ओर जाता है तो हृदय दुखी होकर अनायास ही ऐसे परोपकारी तथा शक्तिशाली राजा के अवतरण की कामना करने लगता है जो वर्तमान सामाजिक ढाँचे को छिन्न-भिन्न करके नये सिरे से अधिक विचारपूर्ण ढंग से उसका पुनर्निर्माण करे। भारतीय जाति-व्यवस्था को नष्ट करने के लिए फ्रान्स की क्रान्ति से भी बढ़कर व्यापक शक्तिशाली और परिवर्तनकारी सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता है। ऐसी क्रान्ति की सम्भावना के अभाव में जाति-व्यवस्था को मिटाने और निर्दोष बनाने के लिए हमें शिक्षा के प्रसार और जन-साधारण की जागृति की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। यह ध्यान रहे कि यह जागृति स्त्रियों में विशेष रूप से होनी चाहिए क्योंकि उनका अज्ञान और रूढ़िप्रियता उन्हें प्राचीन विधि-निषेधों के पालन में बहुत दृढ़ बना देती है। इसी प्रकार यह भी परम आवश्यक है कि यह जागृति गाँवों में भी प्रवेश पाये, क्योंकि हमारे देश में गाँवों की प्रधानता है और सुधारों का विरोध बहुत अधिक मात्रा में गाँव-वासियों की ओर से ही होने की सम्भावना है।[1]

१७. संयुक्त परिवार-व्यवस्था—हिन्दू समाज की दूसरी विशेषता अविभक्त अथवा संयुक्त परिवार है। पाश्चात्य देशों में एक परिवार में प्रायः पति, पत्नी तथा उनके छोटे बच्चे ही सम्मिलित रहते हैं। परन्तु भारतवर्ष में एक परिवार में कभी-कभी तीन-तीन पीढ़ियों के लोग, अनेक अन्य सम्बन्धियों के साथ, रहते हुए मिल सकते हैं।

१. जाति-प्रथा को मिटाने के विभिन्न उपायों के सम्बन्ध में पाठक श्री घूरिये की पूर्व उद्धृत पुस्तक के पृ० १८२-१८६ देखें।

हिन्दुओं का संयुक्त परिवार केवल सम्पत्ति के दृष्टिकोण से ही संयुक्त नहीं है वरन् उनका खाना-पीना और पूजापाठ तक संयुक्त ढंग से होता है। इतना ही नहीं विवाह, भरण-पोषण, गोद लेना, उत्तराधिकार तथा पैतृक धन के सम्बन्ध में हिन्दू क़ानून का अधिकार संयुक्त परिवार की संस्था ही है।

१८. संयुक्त परिवार का उद्भव—समाज-शास्त्र-वेत्ताओं के अनुसार पशु-पालन-काल से कृषि-काल तथा औद्योगिक काल तक हुए आर्थिक जीवन के विकास-काल में ही संयुक्त परिवार-प्रणाली का उद्भव खोजा जा सकता है। 'जब कि आखेट अथवा कन्द-मूल का स्थान सुव्यवस्थित कृषि ने ले लिया, उस समय भूमि जोतने, घर बनाने तथा पैतृक सम्पत्ति की रक्षा करने के मानव-प्रयत्नों की महत्ता बहुत बढ़ गई। इस स्थिति में पुरुष आर्थिक प्रक्रिया का मुख्य अंग बन गया। इसीलिए इस युग में पितृसत्ता-परिवारों का अस्तित्व दीख पड़ता है।'[१] आर्थिक कारणों के अतिरिक्त आपस के रिश्ते-नाते की प्रबल भावना तथा धार्मिक ऐक्य आदि सब मिलकर परिवार के वृद्ध जनों के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति की भावना बढ़ाते थे। इस प्रकार संयुक्त परिवार-संस्था एक जटिल सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था बन गई जिसका कार्य उन बड़े-बड़े संयुक्त परिवारों का आध्यात्मिक तथा आर्थिक कल्याण करना हो गया जिनसे उनका समाज संघटित होता था। भारत की पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार-व्यवस्था जो कि आर्यों की विजय के बाद समूचे देश में फैल गई थी, प्राचीन यूनान और रोम की पेट्रिया पोटेस्टास (patria potestas) से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। उनकी तरह भारत के संयुक्त परिवारों में भी सबसे वयोवृद्ध पुरुष-सदस्य को परिवार के कार्यों में सबसे अधिक प्रभुत्व प्राप्त था। वह एक प्रकार से परिवार का न्यासधारी समझा जा सकता है जिसका कार्य परिवार की सम्पत्ति की देखरेख करना तथा सदस्यों के आध्यात्मिक और आर्थिक कल्याण की दृष्टि से नित्य प्रति के कार्यों का नियन्त्रण करना था। इस दृष्टिकोण से परिवार के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय करने का उसे पूर्ण अधिकार था। परिवार की स्त्रियों की प्रधान एक स्त्री ही होती थी। उसे भी प्रधान पुरुष के समान घर के आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में अधिकार प्राप्त थे और वह बहुधा परिवार के बाह्य मामलों के नियन्त्रण में भी अपना पर्याप्त प्रभाव रखती थी, यद्यपि बाह्य मामले प्रधानतः वयोवृद्ध पुरुष सदस्य के ही अधिकार में रहते थे। प्रत्येक सदस्य की आय एकत्रित कर ली जाती थी और प्रत्येक की आवश्यकता के अनुसार परिवार के प्रधान द्वारा निकाली तथा खर्च की जाती थी। प्रत्येक सदस्य अपनी शक्ति के अनुसार कमाता था और ख़र्च के लिए उसे आवश्यकतानुसार मिलता था। इस प्रकार संयुक्त परिवार को हम समाजवादी आदर्श के निकटतम पहुँची हुई व्यवस्था कह सकते हैं।

पारिवारिक, धार्मिक तथा सामाजिक परम्परागत सम्बन्धों के अतिरिक्त जीवन की आर्थिक परिस्थितियों तथा श्रम-व्यवस्था ने भी सदियों तक संयुक्त परिवारों के ऐक्य और दृढ़ता में सहयोग दिया है। सूचना तथा संचार के साधनों की कमी ने परिवार के सभी सदस्यों को एक साथ रहने और मिलकर परम्परागत पारिवारिक व्यवसाय को करने

२. ई० आर० ए० सेलिगमैन. 'प्रिन्सिपल्स ऑफ इकनॉमिक्स', अध्याय ६।

के लिए बाध्य किया।[1] ऐसी परिस्थिति में किसी सदस्य के लिए यह कहना कठिन था कि वह परिवार से निकलकर कहीं बाहर जाता और अपने लिए कोई दूसरा स्वतन्त्र व्यावसायिक जीवन निर्धारित करता। इस प्रकार लोगों की विशेष अभिरुचि और प्रवृत्ति से लाभ उठाने का भी, जो वर्तमान जटिल आर्थिक व्यवस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण है, कोई अवसर न था।

१९. संयुक्त परिवार-व्यवस्था के लाभ—संयुक्त परिवार के पक्ष में अनेक बातें कही जा सकती हैं। सर्वप्रथम यह लोगों को बिना किसी हानि की सम्भावना के निःस्वार्थ रूप से परिश्रम करना सिखाती है। प्रत्येक को कम-से-कम जीवन-निर्वाह का आश्वासन तो रहता ही है, जो आर्थिक उन्नति के लिए प्राथमिक महत्त्व की बात है। बिना माँ-बाप के बालकों को संरक्षण प्राप्त रहता है जो अन्यथा जीवन का भार वहन करने की सामर्थ्य प्राप्त करने के पहले दर-दर की ठोकरें खाते फिरें। इसी प्रकार संयुक्त परिवार अभागी विधवाओं को सुरक्षित और सम्मानपूर्ण आश्रय प्रदान करता है जिनके लिए पुनर्विवाह द्वारा इस असहाय दशा से बचने का उपाय साधारणतः असम्भव होता है। इनके कारण सरकार को भी वृद्धों और निर्धनों के लिए दरिद्रता-निवारण तथा वृद्धावस्था-वृत्ति देने के प्रबन्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वृद्ध तथा अशक्तांगों को भी, उनकी क्षमता के अनुरूप घर में कार्य बाँटकर घरेलू आर्थिक व्यवस्था में उचित स्थान दिया जाता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि संयुक्त-परिवार में हमें साधारण श्रम-विभाजन के लाभ किसी हद तक प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि प्रत्येक सदस्य को उसकी योग्यतानुसार काम दिया जाता है। गाँवों में किसानों और शिल्पियों के व्यवसाय में उनके परिवार की स्त्रियाँ तथा बच्चे भी, पुरुषों की सहायता करते हैं। विशेषकर फसल के समय जबकि गाँव में किराये के मजदूर नहीं मिलते, इन लोगों की सहायता बड़े काम की सिद्ध होती है।

उपभोग के क्षेत्र में भी संयुक्त-परिवार में बहुत बचत हो जाती है और बड़े-बड़े परिवारों का अपेक्षाकृत कम आय में ही सुगमता से काम चल जाता है, क्योंकि घर में आवश्यक सामान और चीज़-वस्तु पर दोहरे खर्च की आवश्यकता नहीं होती। यदि परिवार अलग-अलग रहते तो जितने परिवार हों, घरेलू आवश्यकता की वस्तुओं की संख्या भी उतनी ही होनी जरूरी है। जब तक संयुक्त-परिवार में मेलजोल से काम चलता रहता है, उसकी सम्पत्ति का अच्छे-से-अच्छा आर्थिक प्रयोग सम्भव है और भूमि के बहुत अधिक उपविभाजन और अपखण्डन से बचा जा सकता है।

इन आर्थिक लाभों के अतिरिक्त संयुक्त-परिवार सदस्यों में आत्मसंयम, त्याग, आज्ञाकारिता तथा शील आदि गुणों का भी पोषण करता है।

२०. इसकी बुराइयाँ—आज की परिवर्तित परिस्थितियों ने इस प्रथा के मौलिक दोषों को उभार दिया है। एक सबसे बड़ा दोष, जो समाजवाद के अनेक रूपों पर भी लागू होता है, प्रयत्न और प्रतिफल के बीच सामञ्जस्य का अभाव है। यह मानव-स्वभाव की विशेषताहै कि यदि उसे निश्चित रूप से यह विश्वास हो जाय कि अपने प्रयत्न का पूरा-

१. बी० जी० भटनागर, 'बेसिस ऑफ इंडियन इकनॉमी'।

पूरा फल उसे ही प्राप्त होगा तो वह अपनी शक्ति-भर प्रयत्न करने में किंचित्मात्र भी संकोच नही करता। संयुक्त-परिवार में, दुर्भाग्य से, यह आश्वासन किसी को नही होता। प्रायः ऐसा देखा गया है कि इस विश्वास के कारण कि परिवार के प्रत्येक सदस्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध तो हो ही जायगा, चाहे कोई काम करे या न करे, संयुक्त परिवार में अनेक आलसी निरुपयोगी लोग पदा हो जाते है जिनमें न तो स्वाभिमान ही होता है और न उत्तरदायित्व की भावना ही।

संयुक्त परिवार का आधार समष्टि-हित के लिए व्यक्ति-हित के उत्सर्ग की भावना है। इसलिए कुलपति को कुल के प्रत्येक सदस्य के साधारण-से-साधारण आचार-विचार पर नियन्त्रण रखना पड़ता है। ऐसी स्थिति में परिवार का वातावरण बहुधा ऐसे सदस्यों के व्यक्तित्व, साहसिकता तथा उद्योगारम्भ-भावना को प्रोत्साहित करने के लिए हितकर नही होता जिनका कर्तव्य केवल आज्ञा पाना और पालन करना हो। कुलपति ही इसका अपवाद ह। ऐसा होते हुए भी प्रायः वह परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व के विचार से जोखिम वाले कार्यो में हाथ डालने का साहस नही करता, यद्यपि आज आर्थिक उन्नति के लिए वे इतने आवश्यक है। सदस्यों की कुल आय का प्रत्येक की आवश्यकता की पूर्ति के लिए थोड़े-थोड़े में बँट-बिखर जाने के कारण पूंजी एकत्रित नही हो सकती और इसीलिए बड़े पमाने पर उत्पादन करने का प्रोत्साहन नही मिलता। परिवार में पारस्परिक स्नेह की वृद्धि यद्यपि बड़ी ही प्रिय वस्तु है पर उसके फलस्वरूप लोगों में घर पर ही रहने की इच्छा बलवती हो जाती है और इस कारण श्रमिकों में गतिमत्ता का अभाव बढ़ जाता है।

२१. आधुनिक विघटनकारी प्रभाव—आज की परिस्थितियाँ संयुक्त परिवार के अस्तित्व के लिए अनुकूल नहीं है इसलिए इसके दोषों को उभारकर दिखाया जा रहा है और विभिन्न शक्तियों के प्रभाव से धीरे-धीरे यह संस्था मिटती जा रही हैं। पहली बात तो यह है कि परिवहन तथा संचार साधनों के विकास के कारण प्रत्येक व्यक्ति को नये साहसोद्यम आरम्भ करने का अवसर प्राप्त हो सकता है। परिवार के अधिक साहसोद्यमी सदस्य परिवार का मोह छोड़ नये-नये व्यवसाय आरम्भ कर अपना स्वतन्त्र जीवन-क्रम निश्चित करने की प्रेरणा पाते हैं। दूसरे, प्राचीन पारिवारिक व्यवसाय के विनष्ट हो जाने के कारण बहुत से परिवारों का संयुक्त रूप से रहना असम्भव हो गया है। पाश्चात्य सभ्यता की देन के रूप में प्राप्त व्यक्तिवादिता ने भी संयुक्त-परिवार की दृढ़ता में शैथिल्य उत्पन्न कर दिया है। अंग्रेज़ी (सिविस लॉ) जानपद नियमों के व्यवहार ने अपने विशेष व्यक्तिवादी झुकाव के कारण संयुक्त परिवार-व्यवस्था के ह्रास की गति को बढ़ा दिया है। अपने-अपने अस्तित्व के लिए होने वाला संघर्ष तीव्रतर हो जाने और व्यक्तिवादिता की भावना के विकास ने मिलकर इस संस्था को समय के अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया है। अब संयुक्त परिवार में यह घरेलू सुख और शान्ति तथा सन्तोष, जो पारस्परिक आदान-प्रदान की भावना का स्थान अकम्प-व्यक्तिनिष्ठता ने ले लिया है जिसके फलस्वरूप संयुक्त परिवारों में असन्तोष फैल गया है और छोटी-छोटी बातों पर आपस में झगड़ा होता दिखाई पड़ता है।

संयुक्त परिवार-संस्था के ह्रास का हम स्वागत करते हैं, पर इसका मतलब यह नही कि हम पूर्णरूपेण स्वार्थरत, आत्मकेन्द्रित तथा अपने दीन-हीन सम्बन्धियों के प्रति सहायता का हाथ न बढ़ाने वाले घोर व्यक्तिवादियों की वृद्धि चाहते हैं। वाञ्छनीय तो यह है कि एक ओर हम व्यक्तित्व को पूर्णरूप से संयुक्त परिवार-व्यवस्था में मिट जाने से बचाएँ और दूसरी ओर पारस्परिक सहानुभूति तथा सहायता की भावना को पूर्ण रूप से निजी स्वार्थ मे संकुचित होने से बचाएँ। स्वार्थ-त्याग की आवश्यकता तो सदा रहेगी ही, पर यह स्वार्थ-त्याग स्वेच्छाजनित होना चाहिए, न कि अनिवार्य।

२२. उत्तराधिकार और दायाधिकार के नियम—संयुक्त परिवार-व्यवस्था पर विचार कर लेने के पश्चात् हमारे लिए यह स्वाभाविक होगा कि हम उत्तराधिकार एवं दायाधिकार के नियमों पर विचार करें, जो विशेष रूप से संयुक्त परिवार-परिपाटी पर निर्भर हैं। सेलिगमैन ने ठीक ही कहा है कि 'व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था वर्तमान आर्थिक जीवन का मूलाधार है।' और यह एक दीर्घ काल के विकास का परिणाम है जिसमें तीन अवस्थान स्पष्ट रूप से गिनाये जा सकते हैं। पहला अवस्थान तो सामूहिक या सामाजिक सम्पत्ति का है। दूसरा अहस्तान्तरणीय और संयुक्त परिवार-सम्पत्ति का है तथा तीसरा अवस्थान व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति का। भारत में हम लोग आज भी दूसरे ही अवस्थान में कहे जा सकते हैं, यद्यपि तीसरे में पदार्पण आरम्भ हो गया है। हिन्दू कानून का आधार अब भी संयुक्त पारिवारिक सम्पत्ति है जब तक कि सदस्यों में उसका नियमानुसार बँटवारा न हो जाय।[1]

२३. मिताक्षर और दायभाग प्रणाली—आरम्भ में पारिवारिक सम्पत्ति पर अधिकार का स्वरूप समष्टिगत अधिकार जैसा था। सम्पत्ति पर पूरे परिवार का संयुक्त रूप से अधिकार माना जाता था, न कि पृथक्-पृथक् प्रत्येक सदस्य का, जैसा कि साझीदारी में होता है। उस सम्पत्ति का व्यवस्थापक कुलपति ही होता था जिसके ऊपर किसी का नियन्त्रण नही होता था। जब तक कि सम्पत्ति के अलग होने की अनुमति नही थी तब तक सम्पत्ति का स्वामित्व और उसकी व्यवस्था में अन्तर करने का कोई

१. 'इंगलैण्ड में स्वामित्व अधिकार नियम के अधीन ऐकान्तिक स्वतन्त्र तथा अबाध है। भले ही वह संयुक्त हो, पर पहला अनुमान इसके विरुद्ध ही होगा। यदि उसमें कोई प्रतिबन्ध है तो केवल विशेष परिस्थिति और व्यवस्था के अधीन। भारतवर्ष में इसके विपरीत संयुक्त अधिकार ही नियमित रूप से पाया जाता है और किसी भी मामले में जब तक इसके विपरीत सिद्ध न कर दिया जाय, संयुक्त स्वामित्व ही माना जाता है। यदि किसी व्यक्ति के पास निजी सम्पत्ति है तो वह दूसरी पीढी में अवश्य संयुक्त रूप से अधिकृत सम्पत्ति हो जायगी। निरपेक्ष अनियंत्रित अधिकार, जिसमें स्वामी अपनी सम्पत्ति का जो चाहे करे, अपवाद मात्र है। पिता पुत्र द्वारा, भाई-भाई द्वारा तथा स्त्रियां अपने उत्तराधिकारियों द्वारा सम्पत्ति पर अधिकार के सम्बन्ध में नियंत्रित हैं। यदि अर्जित करने वाले के हाथ में सम्पत्ति स्वतन्त्र है तो उसके उत्तराधिकारियों के हाथ में जाने पर नियन्त्रित हो जायगी। व्यक्तिगत सम्पत्ति पाश्चात्य देशों का नियम है और सम्मिलित सम्पत्ति पूर्वीय देशों का। यद्यपि दोनों के बीच का अन्तर उनमें वैपरीत्य बता करके ही व्यक्त किया जा सकता है, फिर भी यह तो पूर्ण रूप से निश्चित है कि दोनों का उद्गम एक ही है। भारत में अतीत और वर्तमान अविच्छिन्न है और इंगलैण्ड में दोनों के बीच बड़ा व्यवधान है। जिस हेतु द्वारा व्यावहारिक रूप से वे जुड़े हुए हैं उसके कुछ अंश ही शेष हैं।' जे० डी० मेन, 'ट्रीटिज ऑन हिन्दू लॉ एण्ड यूसेज', पृ० ३०५।

अवसर नहीं आया। कालान्तर में जब सम्पत्ति को अलग करने की बात उठी तब हिन्दू विधान के दो प्रमुख भाष्यों मिताक्षर तथा दायभाग में अनेक परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया।[1] मिताक्षर विचारधारा के अनुसार पुत्रों का पिता के जीवनकाल में पिता के साथ-ही-साथ पारिवारिक सम्पत्ति पर बराबर का अधिकार होता है और दायभाग विचारधारा के अनुसार पिता की मृत्यु के पश्चात् ही पुत्रों का पारिवारिक सम्पत्ति पर अधिकार होता है। दोनों ही दशाओं में पिता अनियन्त्रित प्रबन्धकर्ता होता है। अन्तर केवल स्वामित्व के सम्बन्ध में है। दायभाग प्रणाली में पिता अपने जीवनकाल में सम्पत्ति का एकान्त अधिकारी है और मिताक्षर में पिता और पुत्र दोनों ही संयुक्त रूप से अधिकारी होते हैं, व्यक्तिगत रूप से नहीं। इस अन्तर ने उत्तराधिकार तथा पारिवारिक विभाजन के अनेक सिद्धान्तों को जन्म दिया है। यदि किसी हिन्दू संयुक्त परिवार का कोई सदस्य परिवार से अलग होना चाहता है तो वह हो सकता है, क्योंकि परिवार के सदस्य एक साथ रहने के लिए बाध्य नहीं हैं। दायभाग प्रणाली में पिता और पुत्र के बीच बँटवारा हो सकता है, क्योंकि दोनों का ही संयुक्त रूप से उस सम्पत्ति पर अधिकार है। यदि कभी बँटवारा हुआ तो पुत्र अपने अधिकार को पूर्णरूप से मान्य करवा सकता है।[2]

२४. दोनों प्रणालियों के अन्तर्गत दायाधिकार—अब हम दायाधिकार के नियमों पर विचार करेंगे। दायाधिकार का अर्थ है मृत्यु के पश्चात् स्वामित्व का स्थानान्तरित होना।[3] मिताक्षर प्रणाली के मानने वाले संयुक्त परिवारों में दायाधिकार का कोई स्थान नहीं होता, क्योंकि किसी सदस्य की मृत्यु के कारण स्वामित्व में कोई परिवर्तन ही नहीं होता तथा सारी सम्पत्ति अविभक्त बनी रहती है, जब तक कि बँटवारा न किया जाय। मेन ने भी इस बात का संकेत किया है कि मिताक्षर प्रणाली में जब तक कि परिवार संयुक्त ही रहना चाहे कुलपति की मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति पर अधिकार परिवार के अन्य सदस्यों को इसलिए प्राप्त हो जाता है कि वे जीवित बचे हुए हैं न कि इसलिए कि वे सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हैं। बँटवारा न होने पर दायभाग प्रणाली में भी कुलपति की मृत्यु के पश्चात् पारिवारिक व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। हाँ, जब बँटवारा होता है तब उत्तराधिकार निश्चित करना पड़ता है। इस प्रणाली के मानने वाले परिवारों में जब कोई सदस्य मरता है, तभी उत्तराधिकार का

१. 'भारत में उत्तराधिकार के नियम हैं मिताक्षर और दायभाग। पिछला बंगाल में प्रचलित है और दूसरा भारत के अन्य भागों में। दोनों में अन्तर इस प्रकार है कि मिताक्षर विचारधारा में सगोत्रता ही उत्तराधिकार निश्चित करने का मूलाधार है और दायभाग विचारधारा में सगोत्रता के स्थान पर धार्मिक प्रभाव आधार है जिसका अर्थ उत्तराधिकारी की अन्य लोगों को लाभ पहुँचा सकने की शक्ति है।' डी० एफ० मुल्ला, 'प्रिंसिपल्स ऑफ हिन्दू लॉ', पृ० १६।

२. कुछ भारतीय रियासतों में और जमींदारियों में बँटवारा वर्जित है। राज्य-सिंहासन अथवा सम्पत्ति ज्येष्ठ पुरुष-सदस्य को प्राप्त होती है। ऐसी ही अपवाद-रूप स्थितियों में वयोज्येष्ठता का नियम लागू होता है।

३. बँटवारा मृत्यु से सम्बन्धित नहीं है, यद्यपि प्राय: पिता अथवा प्रबन्धक की मृत्यु के पश्चात् ही बँटवारा होता है।

प्रश्न उठता है और उस सदस्य का भाग उसके उत्तराधिकारी को प्राप्त हो जाता है।

परन्तु उपर्युक्त बातों का यह अर्थ कदापि न समझना चाहिए कि भारत में सभी सम्पत्ति संयुक्त परिवार की ही सम्पत्ति है। व्यक्तिगत सम्पत्ति भी अर्जित की जा सकती है, परन्तु किन परिस्थितियों में कोई सम्पत्ति व्यक्तिगत रूप से अर्जित निजी सम्पत्ति मानी जायगी, इस बात के निर्णय में बहुत कठिनाइयाँ हैं। अलग से अर्जित सम्पत्ति के सम्बन्ध में सही अर्थ में दायाधिकार होगा, जिसके लिए क़ानूनी व्यवस्था आवश्यक है।

२५. दायाधिकार एवं उत्तराधिकार के नियमों का आर्थिक प्रभाव—दोनों प्रणालियों के अन्तर्गत बँटवारे और दायाधिकार का परिणाम पारिवारिक सम्पत्ति का अत्यधिक बँट जाना है, क्योंकि पुत्र बराबर भाग के अधिकारी होते हैं और पुत्रियों तथा विधवाओं का भी सम्मिलित सम्पत्ति में कुछ सीमा तक हित निहित रहता है। सामान्य नियम यह है कि एक ही पुरखा के पुत्र-पौत्रादि द्वारा उत्पन्न पुरुष वंशजों का, दूसरों की अपेक्षा, सम्पत्ति पर अधिक अधिकार होता है। सिद्धान्त में न सही, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से मुसलमानों के दाय और उत्तराधिकार के नियम बहुत सीमा तक हिन्दुओं के नियमों से मिलते-जुलते हैं। यद्यपि मुसलमान-परिवार संयुक्त नहीं माने जाते, परन्तु उनमें संयुक्त परिवार का होना असाधारण बात नहीं है। मुसलमानों में पैतृक अथवा निजी अर्जित सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति का अधिकार केवल उसके जीवन-पर्यन्त ही रहता है और उसकी मृत्यु के पश्चात् वह अधिकार हिन्दू कानून की अपेक्षा अधिक विविध प्रकार के उत्तराधिकारियों को प्राप्त हो जाता है। मुसलमानों में सम्पत्ति के विभाजन का आधार केवल वंशगत ही नहीं है, वरन् एक प्रकार से समानता प्रदान करने के विचार पर आधारित है, जिसके कारण वंशगत अधिकारों पर आधारित नियमों में संशोधन हो गए हैं। हिन्दुओं के नियम की ही तरह मुसलमानों में भी वयोज्येष्ठता का कोई अधिकार नहीं है और उत्तराधिकार के सम्बन्ध में पुरुषों को स्त्रियों की अपेक्षा अधिमान्यता प्राप्त है।

भारत में प्रचलित दाय एवं उत्तराधिकार के नियमों के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वयोज्येष्ठता के नियम का अभाव समानता एवम् सबके प्रति न्याय की भावना के आदर का सूचक है। इन नियमों का ध्येय समाज में आर्थिक विषमता को कम करने तथा एक प्रभावशाली मध्यवर्ग का विकास करना है। उनका भूमि के बँटवारे का ढंग तो कुछ ऐसा लगता है मानो उनका आशय स्वतन्त्र एवं स्वाभिमानी कृषक स्वामियों से संघटित स्थिर ग्राम्य-समाज की स्थापना हो—जो स्वस्थ कृषि-संगठन की आधार-शिला हैं और जिनसे देश का आर्थिक हित घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। औद्योगिक प्रगति के दृष्टिकोण से भी हम कह सकते हैं कि समाज में प्रत्येक सदस्य को आर्थिक जीवन आरम्भ करने के लिए एक सहारा मिल जाना बड़े लाभ की बात है। एक तरह से पैतृक सम्पत्ति की न्यूनता पाने वाले को अपने प्रयत्नों द्वारा सम्पत्ति बढ़ाने के लिए बाध्य करती है, ताकि पहले का रहन-सहन का स्तर कायम रखा जा सके।[1]

१. देखिए, पी० बनर्जी, 'ए स्टडी ऑफ इण्डियन इकानॉमिक्स', पृ० ४८।

इसके विपरीत भारत में प्रचलित उत्तराधिकार के नियमों के विरुद्ध भी बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं। उनका एक दोष तो यह है कि वे अधिक मात्रा में पूँजी के संचय में बाधा डालकर बड़े पैमाने पर उत्पादन को हतोत्साहित करते हैं। जब प्रत्येक व्यक्ति का भाग थोड़ा होता है और सम्पत्ति का समान वितरण होने पर बहुधा ऐसा ही होता है, तो बचत बहुत कठिन हो जाती है। परन्तु यह दोष सीमित दायित्व वाली सम्मिलित पूँजी के आधार पर उद्योगों का संगठन करने से बहुत-कुछ दूर किया जा सकता है, क्योंकि इस व्यवस्था में थोड़ी-थोड़ी बचत का भी प्रयोग बड़े पैमाने से उत्पादन के लिए किया जा सकता है।

इन नियमों के निर्बाध परिपालन का दूसरा भयानक खतरा यह है कि भूमि अत्यधिक छोडे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होकर लाभकर नहीं रह जाती। मुकद्दमेबाज़ी को प्रोत्साहन मिलता है, जो किसानों की दरिद्रता बढ़ाने के लिए बहुत हद तक उत्तर-दायी है।

२६. क्या भारतीयों की आध्यात्मिकता उनकी आर्थिक अवनति का कारण है?—प्रायः यह आरोप किया जाता है कि भारतवर्ष में, 'धर्म लोगों को भौतिक लाभों के प्रति उदासीन होने की शिक्षा देता है और यदि वे हिन्दू हैं तो हर चीज़ को धर्म की अभिव्यक्ति-मात्र मानने लगते हैं।' भारतीय सभ्यता की विशेषता है कि व्यक्ति अनन्त शक्ति का सदा अनुभव करता रहे, परन्तु आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि उसका ध्यान संसार के नश्वर और भौतिक पहलू पर भी रहे। भारतीय आध्यात्मिकता के अच्छे-बुरे प्रभाव का निर्णय करने के लिए एक तो यह देखना आवश्यक है कि भारतीय धर्म और दर्शन कहाँ तक लोगों में ऐसी पारलौकिक दृष्टि को प्रोत्साहन देते हैं, कि यह बात अन्य देशों के धर्म और दर्शन पर किस हद तक लागू होती है और दूसरे हमें यह भी विचार करना है कि भारतवर्ष में आर्थिक उन्नति का मार्ग भारतीय अध्यात्मवाद द्वारा जनता के सम्मुख रखे हुए आदर्श द्वारा किस हद तक अवरुद्ध हुआ है।

२७. ऐतिहासिक प्रमाण—भारतीय अध्यात्मवाद द्वारा जनता में निराशावादिता तथा भौतिक पदार्थों के प्रति उदासीनता जगाने के दोषारोपण के विरुद्ध हमें इतिहास में अनेक प्रमाण मिलते हैं। यदि भारतीयों का ध्यान सदैव परलोक की ही चिन्ता में संलग्न रहा होता तो वे इतिहास में उपनिवेश-स्थापकों, विजेताओं तथा बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापकों के रूप में कदापि प्रसिद्ध न हुए होते।[1] इस सम्बन्ध में उनकी महत्त्वपूर्ण सफलताओं को किसी ने भी अस्वीकार नहीं किया है। यद्यपि भारतीयों का धर्म और दर्शन में कोई सानी नहीं था, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी प्रतिभा इन क्षेत्रों तक ही सीमित थी। व्यावहारिक विज्ञान के क्षेत्र में उनकी सर्वमान्य सफलताएँ इस धारणा को, कि भारतीय सदैव धार्मिक और अधिमानसिक चिन्तना में ही लीन रहते थे, असत्य ठहराती हैं। भारतीयों ने ही गणित-विज्ञान तथा यन्त्र-विज्ञान की नींव डाली थी। 'उन्होंने ही भूमि को नापा, आकाश का मानचित्र बनाया, सूर्य तथा अन्य

१. देखिए, वी० जी० काले, 'इंडियन इकनॉमिक्स', भाग १, अध्याय ३।

नक्षत्रों के मार्ग-चक्र कटिबन्धों का अन्वेषण किया, भौतिक पदार्थ के तत्त्वों का विश्लेषण किया और पशु-पक्षी, वनस्पति तथा बीजों की प्रकृति का अध्ययन किया।' समस्त यूरोप में प्रचलित गणना के अंक तथा बीजगणित और उसका ज्यामिति शास्त्र में प्रयोग हिन्दुओं का ही आविष्कार है। इन सबके अतिरिक्त भारतीय हस्तकला की संसार-व्यापी प्रसिद्धि इस बात का प्रमाण है कि भारतीय आध्यात्मिकता ने आर्थिक क्षेत्र में उनके कौशल को विनष्ट नहीं किया था। यह सत्य है कि भारतीयों ने किसी बड़े यन्त्र का आविष्कार नहीं किया। डॉ० राधाकृष्णन् के मतानुसार इसका कारण 'प्रकृति की विशेष कृपा रही है जिसने उन्हें इतनी नदियाँ और बहुतायत से खाद्यान्न प्रदान किया है।' उपर्युक्त तथ्य के आधारभूत कारणों के पूरे-पूरे स्पष्टीकरण के लिए यह स्थापना काफी नहीं, पर इस सम्बन्ध में अन्य जो दो मत हैं उन्हें हम निस्संकोच भाव से अस्वीकार कर सकते हैं—पहला तो यह कि इसका कारण भारतीय मेधा की कोई मौलिक कमी है, और दूसरा यह कि सांसारिक वस्तुओं की बजाय आध्यात्मिकता में उनका मन बहुत अधिक केन्द्रित रहा है। फिर हमें यह भी याद रखना चाहिए कि यान्त्रिक आविष्कार अपेक्षाकृत हाल की ही घटनाएँ हैं। १८वीं शताब्दी तक तो भौतिक सभ्यता की कलाओं में भारतीय प्रमुख पाश्चात्य देशों से टक्कर लेने में समर्थ थे। इसके बाद ही भारत की आर्थिक प्रगति में शिथिलता आ गई। अतः भारतीय आध्यात्मिकता को उसका कारण ठहराना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। आगे चलकर पता चलेगा कि इस शैथिल्य के अन्य अनेक कारण हैं जो उपर्युक्त कारणों की तुलना में कहीं अधिक संगत, और विश्वास-नीय हैं।

२८. आर्थिक क्रिया-कलाप पर धार्मिक भावना के प्रभाव की अतिशयोक्ति—भारत की वर्तमान स्थिति देखने पर पता चलता है कि हिन्दुओं में मारवाड़ी, जैन और भाटिया आदि तथा मुसलमानों में खोजा, बोहरा और मेमन आदि जातियों ने, जो प्राचीन धार्मिक परम्पराओं से बहुत प्रभावित मानी जाती हैं, देश की औद्योगिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है और पश्चिमी उद्योग-व्यवस्था अपनाने में आश्चर्यजनक क्षमता दिखाई है।[1] इसलिए हम कह सकते हैं कि हिन्दू या इस्लाम धर्म आर्थिक प्रगति में बाधक नहीं हुआ है। यदि हम जनसाधारण के मतानुसार इस बात को मान भी लें कि भारतीयों की धार्मिक प्रवृत्ति प्रायः सांसारिक कार्य-कलाप के प्रतिकूल रही है, फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि यदि आर्थिक उन्नति के साधन पर्याप्त मात्रा में प्राप्य हों, और यदि जनता में उनसे लाभ उठाने के प्रति जन्मजात अयोग्यता या उदासीनता न हो तो धर्म के इस कुप्रभाव को अवश्य ही मिटाया जा सकता है। अंग्रेजों के भारत में आगमन के पहले से ही जैन, भाटिया आदि जातियों में, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, साहसोद्यम और व्यापार की सुदृढ़ परम्परा थी जिनसे उन्हें बड़ी सहायता मिली है। कोई भी धर्म, चाहे वह कितना ही परलोकोन्मुख क्यों न हो, मनुष्य की अपनी आर्थिक दशा सुधारने की सहज-वृत्ति को हमेशा के लिए दबाए नहीं रख सकता। अर्थ की प्रेरणा धर्म की प्रेरणा से किसी तरह कम शक्तिशाली नहीं होती, और हर जगह अपेक्षाकृत

१. देखिए, काले, पूर्व उद्धृत, भाग १, पृ० ४५।

अधिक स्थायी रूप से क्रियाशील होती है। यह बात पूर्व और पश्चिम दोनों के बारे में समान रूप से सत्य है। हाँ, यदि राज्य-व्यवस्था लोगों की निर्माण-प्रवृत्ति के दमन की नीति का अनुसरण करने वाली है तब अवश्य ही साधारण जनता सन्तोष, शान्ति तथा भाग्यवादिता का प्रचार करने वाले धर्म का आश्रय लेगी, और उसे अपने चारों ओर के अप्रिय वातावरण को, जिसका निराकरण करने में वे असमर्थ हैं, भुलाने वाली पीड़ा-नाशक, औषधि समझेगी। जब आर्थिक स्थिति को सक्रिय प्रयत्नों द्वारा परिवर्तित करने का सुअवसर प्राप्त हो, तब निष्क्रियता की भावना तथा ऐसी धार्मिक भावना, जो सांसारिक सुख की सिद्धि मे बाधक हो, केवल दिखावा-मात्र रह जाती है। धर्म और कर्म में अन्तर आ जाता है, और लोग धर्म-ग्रन्थों के प्रति बाह्य सम्मान प्रदर्शित करते हुए अपने जीवन को भिन्न मानदण्डों के आधार पर नियमित करते हैं। अथवा धार्मिक आचार कुछ कर्मकाण्डों और पूजा-पाठ आदि के नियमों के श्रद्धामय परिपालन तक ही सीमित रह जाता है जिनका धनोपार्जन-कार्यो से कोई विरोध नहीं है। इन विषमताओं का कारण यह है कि परम्परागत विश्वासों की परिवर्तित परिस्थितियों के साथ संगति नही बैठती। धार्मिक भावना का पुनः धीरे-धीरे विवेकपूर्ण संश्लेषण होता है और उसमें ऐसे नवीन विचारों का समावेश हो जाता है जो विश्वास और व्यवहार के बीच की खाई को पाट देते हैं। विभिन्न प्रकार के कार्यो के महत्त्व का ऐसा समंजन हो जाता है कि सांसारिक क्रिया-कलाप अपने में ही पापमय या अकारथ नहीं माना जाता। अब तो सांसारिक कार्यो में सक्रिय रूप से प्रवृत्त होने का प्रचार किया जा रहा है न कि वीतराग होकर उनसे दूर भागने का। साथ ही सांसारिक और आध्यात्मिक क्रियाओं के एक-दूसरे से पृथक् होने को भी अस्वीकार किया जा रहा है। ऐहिक सुखों की साधना और आध्यात्मिक लक्ष्य की उपलब्धि में कोई पारस्परिक असंगति है, यह बात नही मानी जाती। इसलिए इन दोनों आदर्शों की समन्वय भी व्यक्ति-जीवन का उद्देश्य बन सकता है। वर्तमान युग के मसीही-धर्मावलम्बी बाइबिल में दी हुई इस चेतावनी को, कि धनी व्यक्ति केवल धनवान होने के कारण आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकते, अक्षरशः सत्य नहीं मानते।[1] आजकल का मसीही धर्म-गुरु इस बात को मानने में कोई आपत्ति नहीं करेगा कि कैडबरी जैसे व्यापारी को भी स्वर्ग में स्थान पाने का उतना ही अवसर है जितना किसी और को। भौतिक सम्पत्ति अपने-आपमें कोई बुरी वस्तु नहीं है। ईमानदारी से अर्जित सम्पति का कारण समाज की कोई ऐसी सेवा है जिसके लिए समाज ने धन देना आवश्यक समझा है। इस प्रकार धनोपार्जन और धन-व्यय का उद्देश्य और परिणाम परोपकारिक हो सकते हैं।

२६. भाग्यवादिता अतीत की अशान्त राजनीतिक परिस्थितियों की देन है—हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि भारतीयों की भाग्यवादिता और पारलौकिकता, जो जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण की विशेषता तथा उनकी भौतिक उन्नति की बाधाएँ रही हैं, भारत में अंग्रेजों के आगमन के पहले की अव्यवस्थित राजनीतिक परिस्थितियों की देन है

१. 'कितनी कठिनाई से वे, जिनके पास धन है, स्वर्ग में पहुँच सकेंगे। किसी धनाढ्य के स्वर्ग जाने की अपेक्षा सुई की आँख में से होकर ऊँट का निकल जाना सरल है।' बाइबिल, मार्क, १०, २३।

जिसने भारतीयों की अर्थ-प्रेरणा की सहज गति को भंग कर दिया। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पहले के युग में, जब शासक प्रायः रक्षक न होकर भक्षक होते थे और जब प्रजा को क्षण-भर में ही अपनी बरसों की मेहनत की कमाई के किसी नृशंस शासक अथवा दैवयोग से आये हुए आक्रमणकारी द्वारा लुट जाने का भय सदैव लगा रहता था, परिश्रम से धनोपार्जन करने तथा उसके संचय की प्रेरणा का क्षीण हो जाना अवश्यम्भावी था। ऐसी स्थिति में लोगों के मन से आशा और महत्त्वांकाक्षा का लोप होना तथा भाग्यवादिता की भावना का दृढ़ होना स्वाभाविक ही था।

३०. परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल धर्म के पुनराख्यान का क्रम—देश में शान्ति की स्थापना के बाद से पाश्चात्य विज्ञान और पाश्चात्य विचारधारा के प्रभावों के कारण धर्म की व्याख्या पाश्चात्य ढंग पर की जाने लगी है, और निष्क्रिय होकर सब-कुछ सहने के स्थान पर सोद्देश्य कार्य में प्रवृत्त होने की शिक्षा दी जाने लगी है।[1] दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि लोगों की धार्मिक भावना उनकी आर्थिक स्थिति का फल है, न कि कारण। जैसे-जैसे आर्थिक स्थिति अनुकूल होती जाती है वैसे-वैसे भाग्यवादी धारणाएँ मिटती जाती हैं और आशावादी दृष्टिकोण उनका स्थान ले लेता है। हिन्दू धर्म को आर्थिक उन्नति की प्रगति का स्थायी बाधक मानना ग़लत है, क्योंकि यह धर्म ऐसा नहीं जो हमेशा एक बँधी-पिटी लीक पर चलता रहे और सदा के लिए स्थिर हो। उसकी रूपरेखा में भौतिक परिस्थितियों की उन्नति की आशा और समयानुकूल विचारों के विकास से सामंजस्य रखने के लिए प्रत्यक्ष रूप में परिवर्तन हो रहे हैं।[2] शताब्दियों तक शक्तिशाली आक्रमणों को बार-बार सहने के पश्चात् भी हिन्दू धर्म आज तक जो जीवित बच गया है उसका रहस्य है भारतीय सभ्यता की नम्य एवं परिवर्तनशील रूढ़िवादिता। वर्तमान परिस्थितियों में भी वह अपनी अनुकूल-शक्ति को बनाए रखेगा, इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। पुरातन काया में नये प्राण डालना, प्राचीन ग्रन्थों का नवीन अर्थ लगाना, अन्य धर्मों की अपेक्षा हिन्दू धर्म में कहीं अधिक सरल है। सहानुभूतिहीन समालोचकों ने इस गुण के कारण हिन्दू धर्म को

---

१. भारत में इस पुनराख्यान-क्रम के उदाहरण के तौर पर हम राधाकृष्णन् की 'इंडियन फिलॉसफी' भाग १, (संस्करण २, १९२९) से निम्न उद्धरण देते हैं :

'इस धारणा के आधार पर कि हमारी आत्मा संसार-भर की आत्माओं से बढ़कर है, मुक्ति-प्राप्ति के प्रयत्न आत्मा के सच्चे शील की अभिव्यक्ति नहीं हैं। उपनिषद् हमें निष्काम कर्तव्य की शिक्षा देते हैं।' (पृष्ठ २१६)

'जीवन के प्रति छद्म विरक्ति-भावना, जो जीवन को स्वप्न मानती है और संसार को माया-जाल समझती है, उपनिषदों की शिक्षा के विरुद्ध है। 'सांसारिक जीवन में एक स्वस्थ आनन्द सर्वत्र व्याप्त है विराग का दर्शन, विरक्तिपूर्ण आचार-संहिता, संसार के प्रति खिन्न उदासीनता का भाव विश्व के स्रष्टा का अपमान है और अपने तथा संसार के प्रति, जिसका हम पर अधिकार है, पाप-कर्म है। उपनिषद देवताओं में विश्वास रखते हैं और इसी प्रकार संसार में भी विश्वास रखते हैं।' (पृ० २१९)

२. 'विश्वास अथवा व्यवहार किसी भी दृष्टिसे एकरस, जड़ तथा अपरिवर्तनशील हिन्दू-धर्म जैसी कोई वस्तु नहीं रही है। हिन्दू-धर्म एक गतिमान व्यवस्था है, न कि स्थिर; वह प्रक्रिया है, परिणाम नहीं; एक वर्धमान परम्परा है, न कि जड़ अभिव्यक्ति'—राधाकृष्णन्, द हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़', पृ० १२९

रूपरेखाहीन और निश्चित सिद्धान्तों में व्यक्त किये जाने के अयोग्य बताया है और इसलिए ही 'वायु के समान अभेद्य तथा पकड़ मे न आने वाला' कहा है। पर यह गुण ही इसकी शक्ति है, जिसने इसे अपने-आपको परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप ढालने की क्षमता प्रदान की है। अतः यह धर्म संसार से विरत करने के दोषारोपण को सहज ही असत्य सिद्ध कर सकता है, क्योंकि ठीक प्रकार से समझा जाय तो उसमें यह दोष है ही नही। वास्तव में यह धर्म अपने अनुयायियों से केवल स्वार्थपरता त्यागने को कहता है, न कि संसार के सब लगाव। वह संसार से पिंड छुड़ाने के लिए नहीं कहता, वरन् उसमें उचित रीति से रहने की सीख देता है। तिलक की अमरकृति 'गीता रहस्य' का मुख्य आशय यही है कि भगवद्गीता, जो कि हिन्दू धर्म का मुख्य सन्देश है, वैराग्य के स्थान पर कर्मण्य जीवन को पसन्द करती है और निष्काम कर्मयोग की शिक्षा देकर आध्यात्मिक और सासारिक जीवन में समन्वय लाने का प्रयत्न करती है। बहुधा यह कहते सुना जाता है कि हिन्दू धर्म द्वारा प्रतिपादित कर्म-सिद्धान्त भारतीयों की निराशावादिता का मूल कारण है, क्योंकि यह सिद्धान्त हमें इस बात की शिक्षा देता है कि वैराग्य और त्याग ही वे साधन हैं जो बार-बार के पुनर्जन्म से किसी व्यक्ति की रक्षा कर सकते है। इस सिद्धान्त की एक नितान्त भिन्न व्याख्या की जा सकती है कि कर्म अवरोध उपस्थित करने के स्थान पर कार्य में प्रवृत्त करने का शक्तिशाली प्रेरक हो सकता है, क्योंकि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य ही अपना भाग्य-विधायक है, कोई अदृष्ट शक्ति नहीं।

दिलचस्पी की बात यह है कि इस्लाम धर्म के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों में भी कुछ इसी ढंग के परिवर्तन हो रहे हैं। उदाहरणार्थ इस्लाम धर्म-शास्त्रों के अनुसार कोई मुसलमान न तो ब्याज ले सकता है और न दे सकता है। इसलिए इस मत के अनुसार यह विवाद का विषय है कि कोई मुसलमान किसी सहकारी समिति का सदस्य हो सकता है अथवा नही, क्योंकि समिति ब्याज लेती है। यह भी सर्वविदित है कि मुसलमानों का ब्याज का लाखों रुपया डाकखाने के सेविंग बैंक खाते में पड़ा रहता है और उसकी कोई माँग नहीं करता। इन कारणों से इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि कुरान की प्रासंगिक आयतों की व्याख्या इस ढंग से की जाय कि ब्याज के प्रत्येक रूप के स्थान पर केवल सूदखोरी का ही निषेध हो।[1]

२१. भारतीय निराशावादिता के (धर्म के अतिरिक्त) अन्य कारण—अनेक निरीक्षकों ने निराशावादिता और दीनतापूर्ण विषाद को भारतीय मनोवृत्ति की विशेषता के रूप में देखा है। उसे सविस्तार समझने के लिए धर्म और दर्शन के अतिरिक्त अन्य कारणों का जानना भी अत्यन्त आवश्यक है। अनेक शताब्दियों की विदेशी प्रभुता और कुशासन के अवसादमय प्रभाव का पहले वर्णन किया जा चुका है। प्रकृति द्वारा किये गए विनाश को भी इन कारणों की सूची में जोड़ लेना आवश्यक है। भारत की जलवायु का प्रभाव, विशेषकर गरम और तर जलवायु वाले भागों में, मनुष्य को अशक्त कर देता है जिससे कर्क रेखाओं के बीच फैलने वाली प्लेग और हुकवर्म आदि बीमारियाँ

१. देखिए, डार्लिंग, 'रस्टीकस लोक्विटर', पृ० ३६७-३६८।

उनमें जोरों से फैलती हैं। इनमें से हुकवर्म आदि कुछ बीमारियाँ ऐसी हैं कि वे घातक न होते हुए भी प्राण-शक्ति को इतना क्षीण कर देती हैं कि बीमार का मन सदा के लिए उचट जाता है और जीवन के प्रति आशा-आकांक्षामय दृष्टिकोण असम्भव हो जाता है।[1] इस प्रकार उनकी निराशावादिता के मूल में शारीरिक कारण भी हैं जिसको नगण्य न समझना चाहिए। और फिर अनिश्चित मानसून हवाओं पर निर्भर भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में हमें दुर्भिक्ष आदि विपदाओं के प्रभाव का भी विचार करना चाहिए, जिनके निराकरण के लिए प्राचीन काल में दुर्भिक्ष-बीमा और सहायता आदि साधन उपलब्ध नहीं थे जैसे कि अब हैं। इस बारम्बार के दैवी प्रकोप के समक्ष लोगों की एकान्त असहायता ने उनके मन में अवश्य ही निराशावादी और भाग्यवादी भावनाओं को जन्म दिया होगा। दुर्भिक्ष और बीमारियाँ, जिनका प्रकोप बहुधा भारत में होता है, भारतीयों में व्याप्त अवसाद या खिन्नता के कारण रहे हैं। दूसरा महान् कारण विभिन्न जातियों द्वारा विभक्त समाज में निम्न जातियों की निर्योग्यताएँ थीं जिनके फलस्वरूप अन्य जातियों से सम्पर्क रखने अथवा आर्थिक उन्नति करने में हमेशा उनका मार्गावरोध हुआ और वे सदा दास बने रहने के लिए बाध्य हुए।

पश्चिम यूरोप में भी जन-साधारण में आशावादिता और कर्मण्यता की भावना की परिव्याप्ति अभी हाल की ही बात है। वर्तमान वैज्ञानिक युग के पहले दुर्भिक्ष तथा प्लेग और महामारी आदि बीमारियाँ दैवी प्रकोप समझी जाती थीं और निर्बल मनुष्यों द्वारा उनके विरोध की चेष्टा निष्प्रयोजन मानी जाती थी। इस प्रकार पूर्वी भाग्य-वादिता एक समय यूरोप की जनता में भी प्रचलित थी। यूरोप में असहायता और भाग्यवादिता की भावना का लोप इसलिए हो गया है कि विज्ञान के बहुमुखी विकास ने औषधियों, यातायात आदि की उन्नति में बड़ी सहायता पहुँचाई है, और मनुष्य अब प्रकृति पर अपनी विजय की उत्तरोत्तर वृद्धि की भावना से अनुप्राणित हो रहा है। अब तक जो विजय प्राप्त कर ली है उसके कारण वह समझने लगा है कि उसके दुःखों का सतत प्रयत्नों द्वारा निवारण सम्भव है। लोगों की भावनाओं में इस प्रकार का परि-वर्तन भारत में भी आरम्भ हो गया है। हम आशा करते हैं कि शिक्षा के प्रसार, व्याव-हारिक विज्ञान के विकास और राष्ट्रीय आर्थिक उन्नति की नीति के सतत परिपालन से भारतीयों की निराशावादिता के वर्तमान कारण दूर हो जायँगे और उनकी आर्थिक उन्नति के प्रमुख बाधकों में उसकी गिनती नहीं की जाया करेगी।

---

१. देखिए, रोनाल्डशे, इंडिया, ए बर्ड्स आई व्यू', अध्याय २२।

अध्याय ५

भारत में आर्थिक संक्रान्ति

१. इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति—इस अध्याय मे हम पिछले सौ वर्षों में यहाँ के जीवन और श्रम की परिस्थितियों का कायापलट करने वाले आर्थिक विन्यास तथा संगठन-सम्बन्धी मूल परिवर्तनों का सिंहावलोकन करेंगे। परिवर्तन करने वाली शक्तियों को (अंशतः) एक शब्द 'औद्योगिक-क्रान्ति' द्वारा व्यक्त किया जाता है। इन शक्तियों का स्वरूप भली-भाँति समझने के लिए इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति का संक्षिप्त इतिहास जान लेना श्रेयस्कर होगा।

इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति यद्यपि एक प्रकार से अनिष्टकारी कही जा सकती है, परन्तु दूसरे दृष्टिकोण से वह उन शक्तियों का परिणाम थी जो लगभग दो सौ वर्ष से क्रियाशील थी और जिन्होंने १८वीं शताब्दी के मध्य में उभरकर विस्फोट पैदा किया। इस विस्फोट के फलस्वरूप जो अद्भुत परिवर्तन हुए 'औद्योगिक-क्रान्ति' संज्ञा उन्हीं से सम्बद्ध है। सर्वप्रथम इंगलैण्ड में ही औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ होने के अनेक कारण थे। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में भारत के समुद्री मार्गों और अमेरिका की खोज के कारण हुई जो व्यापारिक क्रान्ति हुई वह इस औद्योगिक क्रान्ति की आवश्यक भूमिका थी। व्यापारिक क्रान्ति ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मापदण्ड और स्वरूप को बदल दिया तथा औद्योगिक क्रान्ति के नये-नये यान्त्रिक आविष्कारों से होने वाले विपुल उत्पादन की खपत के लिए संसार-व्यापी मण्डियाँ प्रस्तुत कीं। वाणिज्य-एकाधिकार-सिद्धान्त के कारण, जो पश्चिमी यूरोपीय देशों की वाणिज्य-नीति की विशेषता थी, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में आर्थिक राष्ट्रीयता के अनेक युद्ध हुए थे। इन युद्धों के दौर से इंगलैण्ड विजयी होकर एक बड़ी सामुद्रिक एवम् व्यापारिक शक्ति के रूप में प्रकट हुआ। इसके विपरीत उसके प्रतिद्वन्द्वी उद्योग तथा अन्य साधनों में शक्तिहीन हो गए। इससे इंगलैण्ड की प्रतियोगिता-शक्ति बहुत बढ़ गई। इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति तभी घटित हुई जब इधर भारत में अंग्रेजी शासन की सुदृढ़ स्थापना हुई। भारत की बड़ी-बड़ी मण्डियाँ हाथ में आ जाने के कारण लंकाशायर के सूत-उद्योग को नई गति और नई प्रेरणा मिली। अन्य अनेक कारणों ने भी इंगलैण्ड के इस नये आन्दोलन की प्रगति में योग दिया। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड की द्वीपी स्थिति, आन्तरिक स्वतन्त्र व्यापार की स्थापना तथा संसदीय शासन की स्थापना, जिसमें अभिजात-वर्गीय भूमिपतियों का प्रभुत्व था और

जिनका झुकाव उद्योग तथा व्यापार के प्रति विशेष रूप से था।[1]

२. इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति की चार मुख्य बातें—अंग्रेज़ी औद्योगिक क्रान्ति की चार मुख्य बातें थीं—(१) कृषि, (२) यातायात, (३) उद्योग, तथा (४) आर्थिक विचारधारा और नीति में क्रान्ति, जिन्होंने परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित किया। सर्वप्रथम जनसंख्या की वृद्धि के कारण अधिक अन्न की माँग से कृषि के क्षेत्र में क्रान्ति हुई और मध्यकालीन अपव्ययशील सामान्य कृषि प्रणाली का स्थान भू-धृति की नई पद्धति तथा अधिक सक्षम कृषि-पद्धति ने ले लिया। कृषि विज्ञान की उन्नति और वैज्ञानिक ढंग की कृषि-व्यवस्था के फलस्वरूप द्वितीय 'परिवेष्टन आन्दोलन' आरम्भ हुआ और इससे प्राचीन क्षेत्रपालों का लोप तथा भूमि-विहीन श्रमिकों और लगान पर खेती करने वाले ऐसे पूँजीपति कृषकों का उदय हुआ जो इन श्रमिकों को काम देते थे। इस प्रकार से वर्तमान तीन विभाजन हो गए—बड़े ज़मीदार, पूँजीपति किसान तथा भूमि-विहीन कृषि श्रमिक। यातायात तथा उद्योग के क्षेत्र में क्रान्ति संचार-साधनों के विकास तथा कारखानों (फैक्ट्री) की स्थापना के रूप में प्रकट हुई। पहले प्रकार के सुधारों में फाटकों से सुरक्षित सड़कें तथा नौगम्य नहरें तथा कोयला, लोहा और कपड़ा बुनने के उद्योगों में नये आविष्कार विशेषकर सूत कातने की मशीन (स्पिनिंग जैनी), बिजली-करघे, तथा भाप के इन्जन आदि हैं। दूसरे प्रकार के परिवर्तनों में बड़े पैमाने का उत्पादन और मानव-श्रम के स्थान पर यन्त्रों के उपयोग का समारम्भ आदि है। १८२५ के लगभग यातायात और संचार-साधनों में दूसरी क्रान्ति हुई, जिसने उपयुक्त समय पर रेल, तार और जहाज़ आदि को जन्म दिया। कपड़े के कारखानों, कोयले की खानों और लोहे की खानों से आरम्भ होकर धीरे-धीरे औद्योगिक क्रान्ति अन्य चीज़ों के कारखानों में भी फैली। इसकी प्रगति में सीमित-दायित्व वाली जॉयंट स्टाक कम्पनियों के संगठन तथा साख और बैंकिंग की सुविधाओं ने बड़ी सहायता दी।

इन परिवर्तनों से सहानुभूति रखते हुए एडम स्मिथ और उनके परवर्ती युग की आर्थिक विचारधारा को भी नई दिशा मिली। नयी विचारधारा सहज स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत साहसोद्यम की भावना पर आधारित थी, जो राज्य द्वारा राष्ट्र के आर्थिक जीवन के विशेष नियमन की प्राचीन प्रथा के विरुद्ध थी। मि० एडम स्मिथ की कृति 'वेल्थ आफ़ नेशन्स' भी अधिकांश में इस प्राचीन प्रथा का सशक्त शब्दों में तर्कपूर्ण प्रतिवाद थी। नवीन आर्थिक विचारधारा ने 'राज्य अनतिपात नीति' का आदर्श सामने रखा। आत्यन्तिक 'राज्य अनतिपात-नीति' ने, औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति को तो बढ़ाया, पर संक्रान्तिकालीन बुराइयों को भी शह दी और अनेक सामाजिक और आर्थिक दोषों के शमन को जो विशेषकर औद्योगिक क्रान्ति के कारण उत्पन्न हो गए थे बहुत दिनों के लिए टाल दिया।

३. औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम—औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम बड़े ही आश्चर्य-जनक हुए। धन के उत्पादन में बहुत बड़ी वृद्धि हुई। आन्तरिक और वैदेशिक व्यापार

१. जे० एल० और बी० हेमण्ड, 'द राइज़ ऑफ माडर्न इण्डस्ट्री', पृ० ६४-६५।

का विस्तार हुआ और इंगलैण्ड के दक्षिणी भाग से लोग बहुत बड़ी संख्या में उत्तरी भाग की ओर गये। जनसंख्या में भी तेज़ी से वृद्धि हुई। देश की सामाजिक और आर्थिक अवस्था में मौलिक परिवर्तन हुए, जिनसे सामाजिक और राजनीतिक शक्ति का सन्तुलन कृषि तथा उद्योगों के मज़दूरों के विरुद्ध, पूँजीपतियों की ओर विशेष झुक गया। घरेलू उद्योगों का स्थान बड़े पैमाने की फैक्ट्री ने ले लिया जिनमें हज़ारों की संख्या में मज़दूर काम करते थे। इनका पूँजीपतियों से स्वामी और मज़दूर के प्राचीन मानवीय सम्बन्ध के स्थान पर केवल नकद मजदूरी प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध न रह गया। पूँजी और उत्पादन के साधनों के थोड़े से धनाढ्यों के हाथ में केन्द्रित हो जाने के कारण मज़दूरों और मालिकों के बीच बड़ा व्यवधान आ गया, जिससे समाज ऐसे दो वर्गों में विभाजित हो गया जो सदैव के लिए दूसरे के विरोधी हो गए। मज़दूरों का अरक्षित और अनिश्चित जीवन जिसमे बेकारी का भय सदा बना रहता था, सामाजिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर देने वाली बार-बार की हड़तालें और आर्थिक सन्तुलन में विघ्न डालने वाले संकट—इस नई औद्योगिक व्यवस्था की विशेषताएँ हो गई और देश के समक्ष बड़ी जटिल आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ उपस्थित हो गईं।

४. मॉरीसन का वर्गीकरण : नवीन और प्राचीन ढंग के देश—हमें अब यह देखना है कि ये परिवर्तन भारतवर्ष में किस सीमा तक हुए। हम भारत में आर्थिक संक्रान्ति का वर्णन मॉरीसन-कृत संसार के देशों के दो मुख्य वर्गों से आरम्भ करेंगे—(i) वे प्राचीन आर्थिक व्यवस्था वाले देश जिनमें अभी औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई है। (ii) उस नई आर्थिक पद्धति पर चलने वाले देश जहाँ औद्योगिक क्रान्ति सम्पन्न हो चुकी है। पहले प्रकार के देशों में मिश्र पूर्वीय यूरोप के कुछ देश और भारतवर्ष की गणना भी की जा सकती है जिनमें उद्योगों की प्राचीन व्यवस्था वर्तमान परिवर्तनों से अप्रभावित चल रही है। दूसरे प्रकार के देशों में इंग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी और संयुक्त राज्य अमरीका की गणना की जा सकती है जिनमें प्राचीन व्यवस्था का स्थान उत्पादन और वितरण की नई रीतियों ने ले लिया है। ये विभाजन केवल कामचलाऊ ढंग पर किया गया है, क्योंकि दोनों प्रकार के देशों के बीच कोई पृथक् करने वाली गहरी रेखा नहीं खींची जा सकती। पहले वर्ग के बहुत से देशों में दूसरे वर्ग में परिणत हो जाने के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। हम अपने काम के लिए भारतवर्ष और इंग्लैण्ड को विरोधी वर्ग के देशों के प्रतिनिधि के रूप में मान लेंगे। अधिकांश में भारतवर्ष आज भी प्राचीन वर्ग के देशों में ही गिना जाने योग्य है, यद्यपि इसके दूसरे वर्ग में परिणत होने के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे हैं। इंगलैण्ड को अपनी औद्योगिक क्रान्ति पूर्ण करने वाला देश कहा जा सकता है जिसने जीवन और श्रम की स्थिति को इतना अधिक परिवर्तित कर दिया है जितना किसी भी अन्य देश ने नहीं। प्राचीन औद्योगिक व्यवस्था विशेष प्राकृतिक परिस्थितियों का परिणाम थी जो किसी-न-किसी समय संसार के प्रत्येक देश में वर्तमान थी और जहाँ-जहाँ वैसी परिस्थितियाँ थीं वहाँ लगभग एक-सी ही आर्थिक व्यवस्था का उदय हुआ था।

५. प्राचीन ढंग के देशों की विशेषताएँ—प्रथम वर्ग के अथवा प्राचीन आर्थिक व्यवस्था वाले देशों की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—(i) प्रतियोगिता तथा संविदा की अपेक्षा परिष्ठा (status) और रीति-रिवाजों का प्रभुत्व। (ii) जन-संख्या का छोटे-छोटे वर्गों में पृथक्करण, जैसा कि गाँवों में पाया जाता है और उनकी आर्थिक आत्म-निर्भरता जो विशेषकर यातायात और संचार-साधनों के दोषपूर्ण होने के कारण है। (iii) अन्य व्यवसायों की अपेक्षा कृषि का प्राधान्य तथा उसके फलस्वरूप विभिन्न व्यवसायों में जनसंख्या का असमान वितरण तथा शहरी जनसंख्या की अपेक्षा ग्रामीण जन-संख्या का प्राधान्य। (iv) मण्डियों के कम विस्तार के कारण श्रम का सीधा-सादा और अपूर्ण विभाजन। (v) घरेलू और कुटीर-उद्योगों जैसे छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योग-धन्धे जिनको शिल्पी स्वयं चलाता है और इसलिए उसमें थोड़ी ही पूँजी का उपयोग सम्भव है और उसमें मध्यस्थ, व्यवस्थापक या जोखिम उठाने वाला कोई नहीं होता। (vi) द्रव्य पर आधारित अर्थ-व्यवस्था का अभाव और वस्तु-विनिमय का या माल के बदले माल की प्रत्यक्ष अदल-बदल की व्यवस्था। (vii) अविकसित उधार-व्यवस्था और सूदखोरी।

६. नवीन ढंग के देशों की विशेषताएँ—उपर्युक्त विशेषताओं के विपरीत दूसरे यानी नई प्रकार की आर्थिक व्यवस्था वाले देशों की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(i) संविदा की स्वतन्त्रता और निर्बाध प्रतियोगिता। (ii) यातायात तथा संचार के विकसित साधनों के कारण औद्योगिक संसार के विभिन्न भागों का घनिष्ठ रूप से अन्योन्याश्रित होना। (iii) जनसंख्या का विभिन्न व्यवसायों में अपेक्षाकृत समान वितरण जिसमें कृषि का स्थान कोई विशेष महत्ता नहीं रखता तथा इस कारण से नगर-निवासियों की संख्या का ग्राम-निवासियों की संख्या से अधिक होना। (iv) मशीनों के अधिकाधिक प्रयोग तथा मण्डियों के विस्तार के फलस्वरूप श्रम का जटिल और पूर्ण विभाजन। (v) उद्योगों का बड़े पैमाने पर संगठन, तदर्थ बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता और गिने-चुने साहसोद्यमी व्यक्तियों द्वारा उद्योगों का संचालन; बड़े-बड़े कारखानों में मजदूरों का बहुत बड़ी संख्या में केन्द्रित होना और पूँजीपति तथा मजदूरों के बीच व्यक्तिगत सम्बन्ध का लोप। (vi) वस्तु-विनिमय के स्थान पर द्रव्य आधारित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना। (vii) उधार और बैंकिंग की सुविधाओं का प्रसार तथा सूदखोरी का लोप।

भारतवर्ष आर्थिक संक्रान्ति में से गुज़र रहा है, इसलिए उसमें दोनों प्रकार के देशों की विशेषताएँ न्यूनाधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होती हैं। शताब्दियों से वह विकास की विषम अवस्थाओं से गुज़र रहा है, क्योंकि उसके कुछ भाग यदि आदियुगीन नहीं तो मध्यकालीन अर्थ-व्यवस्था वाले तो लगते ही हैं और कुछ भाग निश्चित रूप से आधुनिक लगते हैं जो प्रगतिशील यूरोप के पश्चिमी देशों में पाई जाने वाली अर्थ-व्यवस्था को पूर्णरूप से अपना चुके हैं। तात्पर्य यह है कि विकास की प्रवृत्ति ऊपर वर्णित दूसरे प्रकार की व्यवस्था की ओर ही है।

७. प्राचीन आर्थिक संगठन : गाँव—जो परिवर्तन भारत में हुआ है उसे ठीक-ठीक समझने के लिए यह आवश्यक है कि भारत के उस प्राचीन आर्थिक संगठन का वर्णन

किया जाय जो नई शक्तियों के प्रभाव से पूर्व देश में विद्यमान था।

भारत के प्राचीन आर्थिक संगठन की प्रमुख विशेषता यह है कि देश गाँवों में विभाजित था जहाँ अधिकांश लोग रहते थे और आज भी रहते हैं। विविक्त और आत्म-निर्भर गाँव ही प्राचीन आर्थिक संगठन की इकाई थे। और आज भी 'उस व्यवस्था के लोगों के रहन-सहन और काम की स्थिति का अध्ययन करने के लिए हमें गाँव में ही जाना पड़ेगा।[1]

८. ग्रामों का उद्भव कैसे हुआ और आज भी वे क्यों विद्यमान हैं—गाँव के नाम की बस्ती के उद्भव के सम्बन्ध में अनेक परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। हो सकता है खेती के लिए जंगल साफ़ करने के कठिन काम में एक-दूसरे का सक्रिय सहयोग पाने के लिए कोई यायावर जन-जाति या वंश कही एक जगह स्थायी रूप से बसने के लिए बाध्य हुआ हो। दूसरा प्रभावशाली कारण जल-प्राप्ति की सुविधा हो सकती है। किसी क्षेत्र-विशेष में सर्वत्र पानी अप्राप्य होने पर बसने के लिए वे स्थान चुने जाते थे जहाँ पानी का बाहुल्य होता था। लोगों के इस तरह केन्द्रित होने का तीसरा कारण जंगली पशुओं और आक्रान्ता क़बीलों से अपनी रक्षा करने की आवश्यकता हो सकता है। अन्य देशों में भारतीय गाँवों के समान बस्तियाँ न हों ऐसा नही है। इंगलैण्ड के मध्य-कालीन मेनर, जर्मनी के मार्क और रूस के मीर स्पष्ट रूप से ऐसी ही बस्तियाँ हैं। परन्तु अनेक राजनीतिक परिवर्तनों के समक्ष भारतीय ग्राम-व्यवस्था का स्थायित्व उसकी अपनी विशेषता है जिसकी ओर विदेशियों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। उन्होंने उसकी आदर्श सरलता और सुख-शान्ति की, जिसका कदाचित् प्राचीन ग्रामीण-समाजों में एकच्छत्र साम्राज्य रहा होगा, भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[2]

युद्धों और क्रान्तियों से एकदम अप्रभावित रहकर गाँव के लोग जीवन व्यतीत करते रहे, अन्य कारणों को समझे बिना यह स्वीकार नहीं किया जा सकता।[3] उदाहरणार्थ अठारहवीं शताब्दी में मुगलों के शासन के छिन्न-भिन्न हो जाने के पश्चात् जब सम्पूर्ण देश हत्या, मारकाट और लूटपाट की स्थायी रंगशाला बन गया था, यह मान लेना कि ग्रामवासी बिना किसी विघ्न-बाधा के शान्तिपूर्वक जीवनयापन करते रहे होंगे समीचीन नहीं प्रतीत होता। आक्रमणों के विरुद्ध अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध सामान्यतः उन्हें स्वयं करना पड़ता था। हम मान लेते हैं कि कभी-कभी वे आक्रमणों से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाते थे, पर बहुधा शत्रु अधिक शक्तिशाली सिद्ध होते थे और सफलता से उनका सामना करना असम्भव था। बलात्, अपहरण लूट-मार और

१. मॉरीसन, पूर्व उद्धृत, पृ० ३४.

२. सन् १८३० के सर चार्ल्स मेटकाफ के प्रायः उद्धृत किये जाने वाले विवरण को पाठक याद करें—"गाँव के समाज छोटी-छोटी स्वायत्त शासन की इकाइयाँ हैं जहाँ प्रत्येक आवश्यकता की वस्तु उपलब्ध है और उनका प्रायः बाह्य संसार से सम्बन्ध नहीं है। ऐसा लगता है कि जब और कोई व्यवस्था स्थिर न रहेगी वे तब भी स्थिर रहेंगे। एक पृथक् छोटे राज्य की इकाइयों के रूप में व्यवस्थित गाँव के समाजों का ऐक्य उनकी सुख, शान्ति और स्वतन्त्रता का बहुत बड़ा कारण रहा है।"

३. ए० एस० अल्तेकर, 'ए हिस्ट्री आफ़ विलेज कम्यूनिटीज़ इन वेस्टर्न इण्डिया', पृ० १०५-६. से तुलना कीजिए।

डाकेजनी आदि विभीपिकाओं ने समय-समय पर उनकी अर्थ-व्यवस्था को जरूर ही बेतरह झकझोरा होगा और उनके दुःखदायी प्रभावों से निकलकर पुनः अपनी सामान्य अवस्था को प्राप्त करने की प्रक्रिया निश्चय ही बड़ी लम्बी और कष्टमय रहती होगी। ग्राम-संगठन के सदियों तक अप्रभावित और अपरिवर्तित बने रहने के कुछ ऐसे चिरस्थायी कारण ही हो सकते हैं जो आज भी बने हुए हैं जैसे संचार साधनों का अभाव तथा उसके फलस्वरूप किसी समर्थ केन्द्रीय शासन-व्यवस्था की अनुपस्थिति आदि। गाँवों की व्यवस्था में निहित कोई गुण-विशेष इसके कारण नहीं।

९. ठेठ भारतीय गाँव—ठेठ भारतीय गाँव खेती किये हुए भूमि-खण्डों की समष्टि होता है—जिसके साथ परती जमीन का कुछ क्षेत्र कभी जुड़ा रहता है कभी नहीं। उसके केन्द्रीय भाग में रहने के अनेक घर पास-पास बने होते हैं। गाँव के खेत प्रायः बस्ती के चारों ओर समकेन्द्र वृत्तों में फैले होते हैं। कभी-कभी छोटे-छोटे निवासस्थान खेतों पर भी अलग से बने होते हैं, यद्यपि सुरक्षा के विचार से अथवा अन्य कारणों से प्रायः किसान अपने गाँव के घर में ही रहता है। गाँवों में प्रायः एक बगिया भी होती है और किसी-न-किसी तरह का सरकारी कार्यालय भी, जहाँ पर गाँव के अफ़सर अपने कागज पत्रादि रखते हैं और अपना कार्य करते हैं।

१०. ग्राम-व्यवस्था : कृषक—ग्राम-व्यवस्था का वर्णन करते समय हम भारत में गाँवों के दो मुख्य रूपों रैयतवाड़ी तथा संयुक्त गाँवों के अन्तर को छोड़ देंगे और यहाँ एक सामान्य वर्णन करने का प्रयत्न करेंगे जिसमें दोनों प्रकार के गाँवों में समान रूप से पाये जाने वाले लक्षणों का समावेश हो जाय। प्रत्येक गाँव पूर्णतया आत्म-निर्भर आर्थिक इकाई होता है जिसकी हद में वहाँ की कृषि तथा उद्योग-धन्धों के लिए आवश्यक पूँजी, श्रमिक तथा कारीगर आदि सभी मिल जाते हैं। ग्रामवासी तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं, (i) किसान, (ii) गाँव के पदाधिकारी, तथा (iii) गाँव के शिल्पी और नौकर आदि। किसान भू-स्वामी और लगान पर खेती करने वाले दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। ये ग्राम-समाज के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सदस्य होते हैं। असल में, खेती करने वाले चाहे भूमि के स्वामी हों अथवा लगान पर जोतने वाले किसान, सभी प्रायः छोटे-छोटे खुले हुए खेतों पर खेती करते हैं (जो इंगलैण्ड में कृषि-क्रान्ति के पहले के सम्मिलित रूप से जोते जाने वाले परिवेष्टनहीन खेतों का स्मरण दिलाते हैं) और श्रम के लिए मुख्यतः अपने और अपने परिवार के लोगों पर ही निर्भर रहते हैं। ये कभी-कभी ही किराये के मजदूरों की सहायता लेते हैं। आवश्यक पूँजी वे अपनी बचत से प्राप्त करते हैं अथवा गाँव के जमींदार या अक्सर महाजन से उधार लेते हैं। वे ही खेती की जोखिम उठाते हैं तथा अपनी छोटी सी खेती के प्रबन्धक संगठन-कर्त्ता और विशेषज्ञ भी स्वयं होते हैं। वे स्वयं ही अपने खेतों में पैदा हुई चीजों को सबसे नजदीक के बाजारों में ले जाते हैं और उसे बेचकर नमक तथा अन्य छोटी-मोटी आवश्यक और ऐश-आराम की वस्तुएँ ले आते हैं जो प्रायः गाँव में नहीं मिलतीं।

११. (२) गाँव के अधिकारी (अफसर)—भारत में गाँव शासन-व्यवस्था की इकाई रहा है, और अब भी है। प्रत्येक गाँव में उसके अधिकारी होते हैं। इन अधिकारियों

में मुखिया अथवा पटेल का स्थान—विशेषकर रैयतवाड़ी गाँवों में—सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह पद आनुवंशिक होता है। गाँव में शान्ति स्थापित रखने तथा लगान वसूल करने का उत्तरदायित्व उसी पर होता है। बहुधा वह छोटे-मोटे झगड़ों का फैसला भी करता है। उसके अधिकार में 'भूमि' का एक भाग होता है जिसे 'वतन, कहते हैं। यह भूमि उसको उसकी सेवाओं के बदले में मिली हुई होती है। पटवारी अथवा कुलकर्णी गाँव का दूसरा अधिकारी है जो गाँव से सम्बन्ध रखने वाले जरूरी कागजात तथा अन्य लेखा रखता है। गाँवों में चौकीदार होता है जिसे गाँव में हुए अपराधों की सूचना देनी पड़ती है। अपराधियों को पकड़वाने में वह पुलिस की सहायता करता है। गाँव में एक सन्देश-वाहक भी होता है। गाँव के ये पदाधिकारी समष्टि रूप से 'अंलूत' भी कहलाते हैं। गाँव के अन्य सेवकों कारीगरों तथा छोटे-मोटे काम करने वालों से, जिन्हें 'बलूत' कहते हैं, इनका दर्जा भिन्न होता है। ग्रामवासियों का एक तीसरा वर्ग इन शिल्पियों और सेवकों का माना जा सकता है। प्राचीन काल में बहुत से गाँवों में पंचायत अर्थात् वयोवृद्धों की एक जमात होती थीं जो गाँव-समाज में एका बनाए रखने के अतिरिक्त कुशल और मध्यस्थ-न्यायालय का काम भी करते थे, जिसमें किसी को कुछ विशेष खर्च नहीं करना पड़ता था।

१२. (३) गाँव के शिल्पी—प्राचीन काल में प्रायः प्रत्येक गाँव में समाज के लिए आवश्यक कारीगर—उदाहरणार्थ, बढ़ई, लुहार, कुम्हार, नाई, जो शल्य-कर्म (जर्राही) भी करता था, चमार, धोबी, सुनार, तेली और एक छोटा बनिया आदि रहा करते थे। गाँवों में एक-न-एक महात्मा भी हुआ करते थे; वे या तो ज्योतिषी होते थे या पुजारी अथवा फकीर। बड़े-बड़े गाँवों में एक जुलाहा भी हुआ करता है। पर प्रत्येक ग्राम में एक महाजन अवश्य होता है जो ब्याज पर रुपया देने के साथ ही प्रायः अन्न का थोक व्यापार भी किया करता है। शिल्पी गाँव वालों के सेवक होते हैं और उनका कार्य वंश-परम्परा में चलता रहता है। अपने काम से उनकी आमदनी कोई खास नहीं होती। उन्हें तो गाँव में रहने के लिए घर दे दिया जाता है और वे सभी गाँव वालों की सभी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। गाँव वाले आवश्यक सामान या उसके दाम-भर उन्हें दे देते हैं। उपर्युक्त सेवाओं के लिए उन्हें वार्षिक पारिश्रमिक या भूमि अथवा फसल के समय अन्न मिल जाया करता है।[1] उन शिल्पियों को, जिनकी सेवाओं की कभी-कभी आवश्यकता पड़ती है, जैसे जुलाहे आदि, कार्य के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाता ह। नियमित रूप से सेवा करने वाले गाँव के बढ़ई को बैलगाड़ी अथवा कोल्हू बनाने के लिए अलग से मजदूरी मिलती है। सन् १९०१ की जनगणना के अनुसार 'भारतीय ग्राम्य-जीवन की विशेषता गाँवों में सभी प्रकार के शिल्पियों और सेवकों का होना है, जिनके कारण, पाश्चात्य पण्यों जैसे मशीन का बना कपड़ा-मिट्टी का तेल, छाते इत्यादि के गाँवों में आने से पहले अभी हाल तक, नमक तथा कुछ अन्य ऐश-आराम की वस्तुओं को छोड़कर जिन्हें वे गाँव के मेलों अथवा फेरीवालों से खरीद लिया करते थे, गाँव पूर्ण-

१. बेडेन पॉवेल और नॉवल्स कृत 'द इकानॉमिक डेवलपमेंट ऑफ द ओवरसीज़ ब्रिटिश एम्पायर', पृ० ४३५-३६.

तया स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर थे।'

१३. गाँवों का अलग-थलगपन और आत्म-निर्भरता—रेलों और सड़कों के निर्माण के पहले, गाँव-वासियों का बाह्य संसार से सम्पर्क नही के बराबर था। कभी-कभी कोई व्यक्ति अपनी दस्तकारी की चीजों को बड़े-बड़े व्यापार-केन्द्रों में बेचने के उद्देश्य से जाता था अथवा कपड़े और अन्न के व्यापारी, एक गाँव की कमी पूरी करने के लिए दूसरे गाँव की अतिरिक्त उपज ले जाकर बेचा करते थे। बाह्य संसार से सम्पर्क टूट जाने के कारण गाँवों के लिए आत्म-निर्भर हो जाना अनिवार्य हो गया। मॉरीसन के कथनानुसार "जब कि जलमार्ग से यातायात असम्भव हो और थल के साधन धीमे और अविश्वसनीय हों तो आदान-प्रदान केवल उन्ही वस्तुओं तक सीमित रहता है जो मनुष्यों और जानवरों द्वारा लादकर लगाई जा सकती हों।" १९वीं सदी के आरम्भ में गंगा और सिन्धु नदियों जैसे प्राकृतिक जलपथ भारत में बहुत कम थे और सड़कों की दशा ऐसी खराब थी जैसी की आर्थर यंग द्वारा वर्णित अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में इंगलैण्ड की सड़कों की। मुगल शासकों द्वारा निर्मित इनी-गिनी सड़कों के अतिरिक्त अच्छी सड़कें प्राय: थी ही नहीं और यदि थीं भी तो उनकी दशा बहुत असन्तोषजनक थी और उन पर लुटेरे और डाकुओं का आतंक रहता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सड़कों की उन्नति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उनका ध्येय तो आय की वृद्धि था, शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप देना नहीं। आन्तरिक व्यापार इसलिए ही विकसित नहीं हुआ। बाह्य संसार से पूर्णतया पृथक् हो जाने के कारण गाँवों को अपनी आवश्यकता-पूर्ति का पूरा प्रबन्ध करना पड़ा और उन्हें इस बात में आवश्यक शिल्पियों को घर और नियमित पारिश्रमिक देकर गाँवों में रहने के लिए आकर्षित करना पड़ा। सामान्यत: गाँवों को यातायात के साधनों की कमी के कारण कोई हानि नहीं उठानी पड़ी, क्योंकि उनकी संघटना इस कठिनाई को ध्यान में रखकर ही की गई थी। अकाल के समय अवश्य इस अभाव के कारण प्राचुर्य के क्षेत्र से कमी के क्षेत्र में अन्न का ले जाना कठिन हो जाता था और कमी के क्षेत्रों में लोगों की विपदा बहुत अधिक बढ़ जाती थी। यही कारण है कि पड़ोस के गाँवों में वस्तुओं के मूल्य में इतने आश्चर्यजनक अन्तर पाये जाते थे। ये गाँव इतने निकट होते हुए भी यातायात के साधनों की कमी के कारण एक-दूसरे से दूर हुआ करते थे। यदि यह विपत्ति थोड़े ही दिनों की होती थी तब तो गाँव के अन्न-भण्डार ही उनकी रक्षा में समर्थ होते थे। गाँव के शिल्पियों द्वारा बनाये माल का बाजार बहुत संकीर्ण था, इसलिए श्रम का अपूर्ण विभाजन ही हो पाता था। विशेषज्ञता के कामों का कोई अवसर ही न था तथा समय और कौशल का बहुत अपव्यय होता था जिसके कारण ग्रामीण उद्योग-धन्धे बहुत पिछड़ गए।[1] भारतीय दस्तकारी की उत्कृष्ट कला-कृतियों की जो अक्सर प्रशंसा की जाती है, उसका श्रेय वस्तुत: प्राचीन नागरिक उद्योगों को है, न कि गाँवों में चलाये जाने वाले उद्योगों को।

१४. द्रव्य की अनुपस्थिति आदि—गाँव के जीवन की दूसरी विशेषता, जिस पर ज़ोर देने की आवश्यकता है, वस्तुओं के क्रय-विक्रय तथा सेवाओं के पारिश्रमिक के लिए

१. देखिए, गैडगिल, पूर्व उद्धृत, पृ० १२।

अभी हाल तक द्रव्य का अल्प प्रयोग है। वास्तव में आत्म-निर्भर समाज में जहाँ बाहरी दुनिया से विनिमय करने के अवसर बहुत ही कम होते हैं द्रव्य की आवश्यकता प्रायः महसूस नहीं की जाती है।[1] कृषि सबसे अधिक महत्त्व का उद्योग होने के कारण अनाज ही मूल्य का मापदण्ड था और ग्रामवासियों द्वारा अन्य वस्तुओं के साथ विनिमय करने में प्रयुक्त होता था। अन्न की सर्वत्र माँग थी और विनिमय क्योंकि गाँव में ही होते थे इसलिए उसकी दुर्वहनीयता कोई खास बाधा पैदा नहीं करती थी। अन्न के ही समान भूमि की भी गाँव में माँग थी और क्योंकि भूमि पर अधिकार होना ही लोगों की उच्च सामाजिक स्थिति का द्योतक था इसलिए पटेल आदि महत्त्वशाली अधिकारियों को, उनकी सेवाओं के बदले में भूमि दी जाती थी।[2] ये सब भुगतान गाँव के बड़े सूक्ष्म और जटिल रिवाज़ों पर आधारित थे जिन्हें सभी खूब अच्छी तरह समझते थे। पारिश्रमिक तथा गाँव के अन्य आर्थिक सम्बन्धों का नियमन प्रतियोगिता के आधार पर न होकर प्रचलित रिवाज़ों के आधार पर होता था।[3]

श्रम की गतिहीनता और ग्रामवासियों की रूढ़िवादिता आज की भी अपेक्षा पहले कहीं अधिक थी, परन्तु उस समय आपसी ऐक्य और संगठन की भावना बहुत बलवती थी जिसका अब धीरे-धीरे लोप होना बहुत चिन्ता का विषय है।

उपर्युक्त वर्णन को वर्तमान स्थिति का एक सच्चा चित्र न समझ लेना चाहिए। देश की अन्य प्राचीन आर्थिक व्यवस्थाओं की तरह गाँव में भी अनेक बड़े-बड़े परिवर्तन हो गये हैं जिन्हें हमें कुछ हद तक आधारभूत परिवर्तन कह सकते हैं। यह परिवर्तन विशेषकर पिछले सौ वर्षों में होने वाली उथल-पुथल के कारण हुए हैं। फिर भी प्राचीन व्यवस्था का स्थान पूर्ण रूप से आधुनिक व्यवस्था ने ले लिया है, यह कहना ठीक नहीं होगा। आज, इतने परिवर्तन होने के बाद भी, ग्राम-व्यवस्था में उसकी प्राचीन रूपरेखा की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। संक्रमणकालीन गाँव का विशेष वर्णन इस अध्याय में आगे चलकर किया जायगा। (सेक्शन २३—२७)

१५. रीति-रिवाज और परिष्ठा (Status)—रानाडे के मत का हम पहले ही निर्देश कर चुके हैं कि भारतवर्ष में "कुछ गिने-चुने व्यवसायों को छोड़कर अन्यत्र लोगों में न तो स्वतन्त्र तथा असीमित प्रतियोगिता की इच्छा ही है और न प्रवृत्ति ही। रीति-रिवाज तथा सरकारी नियम प्रतियोगिता से अधिक शक्तिशाली हैं और सामाजिक स्थिति का संविदा की अपेक्षा अधिक निर्णयात्मक प्रभाव है।"[4] रीति-रिवाज और

१. द्रव्य की कमी का अनुभव विशेषकर सरकार का भूमि का लगान देने में रोकड़ की आवश्यकता के अनुसार हुआ होगा। उस परिस्थिति में किसान को अपनी उपज का एक भाग बेच देना पड़ता था और इस प्रकार उसकी स्थिति वर्तमान स्थिति की अपेक्षा हीन थी। यातायात कष्टकर और दुरूह होने के कारण व्यापारी क्रय और विक्रय के मूल्य में अधिक अन्तर रखना चाहते थे। कच्चे माल के निर्यात का प्रचार न होने के कारण सभी किसान अपनी वस्तुओं का अधिकतम मूल्य पाने के दृष्टिकोण से आज की अपेक्षा हीनतर दशा में थे।

२. देखिए मॉरीसन, पूर्व उद्धृत, पृ० ४५।

३. आगे सेक्शन १५-१८ देखिए।

४. पृष्ठ ४ देखिए।

परिष्ठा अर्थात् सामाजिक स्थिति भारतीय सभ्यता के गतिहीन स्वरूप, लोगों की रूढ़िवादी प्रवृत्ति और विशेषकर प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था या वस्तु-विनिमय से पोषित थे। डॉ० कनिघम के अनुसार वस्तु-विनिमय का रीति-रिवाजों से और प्रतियोगिता का द्रव्य से सम्बन्ध है। "जब तक वस्तु-विनिमय चलता रहेगा लगान, कर तथा मज़दूरी आदि के भुगतान का रीति-रिवाजों पर आधारित होना सम्भव है, परन्तु द्रव्य का प्रयोग आरम्भ होते ही इन भुगतानों के स्वरूप में परिवर्तन होने लगता है और अन्त में वे प्रतियोगिता द्वारा निश्चित होने लगते हैं।"

भारतीय जाति-व्यवस्था और संयुक्त परिवार-संस्था के अध्ययन से हमें यह तो अन्दाज़ हो ही गया है कि इन संस्थाओं का वैयक्तिक जीवन-क्रम निर्धारित करने और उसके सामाजिक और घरेलू सम्बन्धों को निश्चित करने में कितना हाथ रहता है। जब तक कि इन संस्थाओं पर वर्तमान परिवर्तनों का प्रभाव नहीं पड़ा था समाज का कोई सदस्य अपना व्यवसाय, अपना रहन-सहन का स्तर, अपना आवास आदि स्वयं निश्चय करने के लिए स्वतन्त्र नहीं था। किसी विशेष जाति में जन्म लेने से ही सामाजिक स्थिति, चाहे अच्छी हो अथवा बुरी, निश्चित हो जाती थी, जिससे छुटकारा असम्भव था। जन्म के संयोग से व्यक्ति अपने-आपको जिस स्थिति में पाता था उसके अनुरूप ही उसे अपने आप को ढालना पड़ता था और विवश होकर अपनी परिस्थिति से समझौता करना पड़ता था। ऐतिहासिक दृष्टि से, रिवाजों ने हर तरह के आर्थिक सम्बन्धों के निर्णय में बहुत बड़ा भाग लिया है। यूरोप में भी औद्योगिक क्रान्ति के पहले व्यापार-संघ-व्यवस्था और मेनर-व्यवस्था (मेनोरियल सिस्टम) के युग में इसका बोलबाला रहा है। अभी थोड़े ही दिनों से प्रतियोगिता ने रिवाज़ों का स्थान ले लिया है। प्राचीन भारतीय व्यवस्था में बहुत हद तक लगान, मज़दूरी तथा मूल्य का निर्धारण इसी प्रकार से होता था।

१६. रिवाज और लगान—अब हम प्राचीन काल के विभिन्न आर्थिक सम्बन्धों पर रिवाजों के प्रभाव का विवेचन करेंगे।

किसानों द्वारा ज़मींदारों को दिया जाने वाला लगान अधिकतर परम्परागत रिवाज़ों के अनुसार निर्धारित होता था और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला करता था। कुछ विशेष परिस्थितियाँ भी ऐसी थीं जिनके कारण यदि प्रतियोगिता होती तो भी लगान-निर्धारण में परिवर्तन न हो पाता। पुराने जमाने में भूमि के प्राचुर्य के कारण किसान खेतों की खोज नहीं करते थे वरन् खेतों के लिए किसानों की खोज की जाती थी जैसी कि इधर हाल में स्थिति रही है। किसी सीमा तक इसका कारण राजनीतिक अरक्षा की भावना थी जिसके कारण किसानों को अपने प्रयत्न का फल स्वयं उपभोग कर पाने का आश्वासन कभी नहीं रहता था। इसके अतिरिक्त युद्ध के चिरन्तन भय के कारण बहुधा किसान ज़मीदारों की छत्रछाया में रहना ही श्रेयस्कर समझते थे। वास्तव में अरक्षा की इसी भावना के मारे किसान जमींदारों के साथ कड़ाई से सौदा करके अपने हित के अनुकूल लगान निर्धारित नहीं करा पाते थे, क्योंकि आखिर ये ज़मींदार ही उनके रक्षक थे और उन्हीं की शक्ति पर उनकी उन्नति भी निर्भर

थी।[1] इन परिस्थितियों ने जमीदारों और किसानों के बीच पारस्परिक हितमूलक सम्बन्ध स्थापित कर दिया। पर जब शान्ति की स्थापना हो गई तब ज़मींदार लगान बढ़ाने में नही चूके। इसके लिए उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से लगान न बढ़ाकर किसानों पर अतिरिक्त उपकर लगाने की युक्ति से काम लिया।

१७. रिवाज़ और मज़दूरी—देश में यदा-कदा खेती के कार्य के लिए जो मज़दूर किराये पर रखे जाते थे, उनकी मज़दूरी का नियमन और निर्धारण प्रायः कुछ सर्वमान्य प्रचलित रिवाजों के आधार पर होता था। मजदूर को प्रायः खाने और रहने की सुविधा अथवा कभी-कभी अन्न के रूप में पारिश्रमिक देने का रिवाज़ प्रचलित था। मज़दूर प्रायः पूरे वर्ष-भर के लिए रखा जाता था। हम पहले ही बता चुके हैं कि गाँव के दस्तकारों को उनकी सेवाओं के बदले प्रत्येक किसान द्वारा खलिहान से अन्न की विशिष्ट मात्रा प्रतिवर्ष पारिश्रमिक के रूप में दी जाती थी। यह विधान दोनों पक्षों के लिए हितकर ही था। मज़दूरी में दी जाने वाली अन्न की मात्रा प्रतिवर्ष फसल के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थी। चूँकि अन्न में लेन-देन होता था इसलिए द्रव्य की क्रय-शक्ति के परिवर्तनों के कारण वास्तविक और द्राव्यिक मज़दूरी में पाये जाने वाले अन्तर का कोई प्रश्न न उठता था।

१८. रिवाज और मूल्य—खरीदी हुई वस्तुओं का द्रव्य के रूप में मूल्य चुकाना उस समय का नियम नही वरन् अपवाद था। जहाँ कहीं द्रव्य में मूल्य चुकाया जाता था वहाँ भी सामान्य स्थिति में प्रायः रिवाज ही उसे नियमित करते थे। जिस समाज में सभी लेन-देन रिवाजों द्वारा प्रभावित हों वहाँ ऐसा होना स्वाभाविक ही था। पर असाधारण परिस्थितियों में प्रतियोगिता का प्रभाव रिवाजों की अपेक्षा बहुत अधिक और प्रबल हो जाता था और अन्न की कमी के वर्षों में मूल्य बेहद अधिक और प्राचुर्य होने पर मूल्य बहुत गिर जाया करता था। यातायात के साधनों के अभाव में गाँव बाहरी दुनिया से लगभग बिलकुल ही अलग-थलग हो जाता था इसलिए गाँव की मंडियों में स्थानीय कारणों से होने वाले मूल्य-परिवर्तनों में बाहर से किसी प्रकार का प्रभाव पड़ने की सम्भावना नही थी। ऐसी परिस्थिति में जब कोई विस्तृत, सुव्यवस्थित और बाहरी दुनिया की घटा-बढ़ी के प्रति जागरूक बाजार नही था, समूचे देश में प्रतियोगिता-मूल्यों का एक-सा स्तर होना सम्भव नहीं था। हम पहले भी बता चुके हैं कि बहुधा पड़ोस तक के गाँवों में वस्तुओं के मूल्य में आश्चर्यजनक अन्तर होता था।

१९. प्राचीन अर्थ-व्यवस्था में नगर[2]—यह सम्भव है कि गत शताब्दी के आरम्भ में भारत की शहरी जनसंख्या का प्रतिशत अनुपात रूस और फ्रांस आदि यूरोपीय देशों के लगभग बराबर रहा हो। यह याद रखने की बात है कि उस युग में उद्योगों में काम करने वाले प्रायः गाँव में ही बसते थे और आज की अपेक्षा जनसंख्या का बहुत बड़ा अंश अपनी जीविका के लिए इन गाँव और नगरों के उद्योगों पर निर्भर

१. मार्टिन लीक कृत 'द फाउण्डेशन ऑफ़ इण्डियन कल्चर', पृ० १३०, से तुलना कीजिए।
२. नगरों के विवरण के सम्बन्ध में हमने बहुत-कुछ गाडगिल, पूर्व उद्धृत, से लिया है।

रहता था।

भारत के बहुत से प्राचीन नगरों का उद्भव और उनकी समृद्धि निम्न तीन कारणों पर निर्भर कही जा सकती है :—(१) उनके तीर्थ-स्थान होने अथवा किसी धार्मिक भावना से सम्बद्ध होने के कारण, जैसे इलाहाबाद, बनारस, नासिक, पुरी आदि; (२) उनके किसी प्रान्त की राजधानी होने अथवा शासन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण होने के कारण, जैसे दिल्ली, लखनऊ, नागपुर, पूना, तन्जौर, अरकाट आदि; और (३) व्यापारिक मार्गों पर स्थित होने से व्यापार-केन्द्र होने के कारण जैसे मिर्ज़ापुर, बंगलौर, हुबली आदि। इनमें व्यापारिक नगरों की अपेक्षा राजधानियाँ और तीर्थस्थान विशेष महत्त्व के नगर थे। बनारस जैसे पवित्र नगर में पूजा-पाठ-सम्बन्धी बर्तनों की निरन्तर माँग होने के कारण वहाँ तांबे, पीतल के बर्तन और घण्टियाँ बनाने के उद्योग-धन्धे विकसित हो गए। राजधानियों की महत्ता इस दृष्टि से कुछ कम नहीं थी। राजदरबारों वाले नगर भी संख्या में कुछ कम नहीं थे, क्योंकि इनका उद्भव केवल शाही दरबारों से ही सम्बद्ध होने के कारण नहीं हुआ था वरन् छोटे-छोटे सामन्तों और नवाबों से भी ये सम्बद्ध थे। अतः इनकी समृद्धि आश्रयदाता राज्य पर निर्भर रहती थी और उनके विनाश के साथ इनका भी विनाश हो जाता था। प्राचीन दक्षिणी भारत की राजधानियों के साथ यही हुआ; आज भी वे उसी ध्वस्त अवस्था में पड़ी हुई हैं जैसे देवगिरी, पैठान, बीजापुर और विजयनगर। इस प्रकार के नगरों में विलासिता से सम्बद्ध चीजों के उद्योगों का बाहुल्य था, जैसे महीन कपड़े, बेल-बूटे के काम, सोने और चाँदी के काम तथा हाथी दाँत आदि के अन्य बहुत से कलात्मक कार्य जो उस युग में अपनी ख्याति की चरम सीमा पर पहुँच चुके थे और जो कला-प्रेमियों द्वारा प्रशंसित थे। व्यापारिक नगरों की समृद्धि उनके व्यापार-मार्गों पर स्थित होने के कारण थी। पहले ये ऐसे स्थलों पर स्थित गाँव थे जहाँ दो सड़कें एक-दूसरी को काटा करती थीं और उसी स्थिति से धीरे-धीरे बढ़कर वे इतने बड़े नगर बन गए। चूँकि भारत में आन्तरिक और वैदेशिक व्यापार इस युग में बहुत ही नगण्य था इस कारण ऐसे नगरों की कोई विशेष-महत्ता नहीं थी। परन्तु इनकी स्थिति उन नगरों की अपेक्षा अधिक स्थिर थी जो अपने अस्तित्व के लिए राज-दरबारों की समृद्धि पर निर्भर थे।

उस काल में भी नागरिक जीवन की विशेषताएँ ग्राम-जीवन से भिन्न थीं। नगरों में लोगों की संख्या अधिक थी और अपनी अनाज की आवश्यकता के लिए वे आस-पास के गाँवों पर ही निर्भर रहते थे। उनमें विविध प्रकार के व्यवसाय और उद्योग-धन्धे प्रचलित थे। वहाँ के बाज़ारों में अधिक व्यापकता थी और उद्योग अधिक सुव्यवस्थित होते थे। उनमें लेन-देन अधिकतर द्रव्य के माध्यम से होता था। वहाँ वस्तुओं के उपयोग में भी अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी और उधार-व्यवस्था भी सुसंगठित थी। आदि काल से ही भारत में वस्तुओं के एकत्रित करने तथा बाद में बिक्री द्वारा भिन्न-भिन्न उपभोक्ताओं तक पहुंचने की व्यवस्था बहुत अधिक विकसित हो चुकी थी। हुण्डी आदि देशी साख-पत्रों का प्रयोग, जो एक व्यापारी दूसरे को लिखा करते थे, व्यापार-

व्यवस्था के विकास का द्योतक था और इस प्रकार भारत-भर में द्रव्य एक खाते से दूसरे खाते में बड़ी सुगमता से स्थानान्तरित हो जाता था। बड़े-बड़े व्यापारी केवल द्रव्य के ही लेन-देन का कार्य नहीं करते थे वरन् वस्तुओं का भी व्यापार करते थे। उदाहरण के लिए, मिरजापुर और बनारस में ऐसे व्यापारी थे जो माल इकट्ठा करके दूर-दूर तक बेचा करते थे।

२०. अतीत-काल में भारतीय उद्योग—प्रायः कहा जाता है कि भारतवर्ष कभी भी औद्योगिक देश नहीं रहा है। उसे तो प्रकृति ने कृषि-देश होने के लिए ही रचा है। यदि इस कथन का अर्थ भारत के कृषि-प्रधान होने से है तब तो इस पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। यदि इसका अर्थ यह माना जाय कि भारत अर्वाचीन ढंग का औद्योगिक देश नहीं रहा है तो भी इसे स्वीकार किया जा सकता है, पर यह याद रहे कि इंगलैण्ड और आजकल के दूसरे बड़े-बड़े देश भी कुछ समय पहले तक औद्योगिक विकास के उसी अवस्थान में थे जिसमें भारतवर्ष आज है। यह तो मानी हुई बात है कि भारत में कृषि के अतिरिक्त कभी भी बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे नहीं थे, पर यह कथन कि वह औद्योगिक देश नही रहा है, निराधार है। हमारा प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है। सन् १९१८ के औद्योगिक आयोग का कथन है कि "जिस समय पश्चिमी यूरोप में, जो कि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का जन्म-स्थान है, असभ्य लोग निवास करते थे उस समय भारत अपने शासकों की अपार सम्पत्ति तथा अपने शिल्पकारों के स्तुत्य कला-कौशल के लिए प्रसिद्ध हो चुका था। बहुत बाद में भी जब भ्रमणशील एवं साहसी पाश्चात्य व्यापारिक यात्री सर्वप्रथम भारत में आये, यहाँ का औद्योगिक विकास यूरोप के उन्नतिशील देशों के मुक़ाबले किसी प्रकार कम नहीं था।"[१] प्रो० बेवर का कहना है कि भारत के शिल्पकार नाजुक तन्तुओं से कपड़ा बुनने में, रंगों के मिश्रण में, बहुमूल्य धातुओं में नगों की जड़ाई करने में तथा अन्य विशिष्ट कला के कार्यों में अपनी निपुणता के लिए आरम्भ से ही विश्व-प्रसिद्ध थे।"[२] मिश्र में २००० वर्ष पूर्व के आरक्षित शव भारत की सर्वोत्कृष्ट प्रकार की मलमल से आवेष्टित पाये गए हैं। रोम में भारत की वस्तुओं का सबसे अधिक प्रयोग होता था और ढाका की मलमल को यूनानी गेञ्जेटिका के नाम से प्रयोग किया करते थे। लोहे के उद्योग का भी समुचित विकास अवश्य हो चुका था; दिल्ली-स्थित लौह-स्तम्भ इसका साक्षी है। इस प्रकार 'भारतीय उद्योग केवल स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं करते थे वरन् अपनी निर्मित वस्तुएँ विदेशों में भी भेजते थे।'[३] इसी प्रकार भारत रेशमी कपड़ों, ऊनी शाल-दुशालों, चन्दन की मंजूषाओं तथा लोहे की बनी अन्य वस्तुओं के लिए भी प्रसिद्ध था। कितने ही परदेशी यात्रियों ने भारत की कला और तत्सम्बन्धी उद्योगों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। ११वीं शताब्दी से आरम्भ होने वाले विदेशियों के नियमित आक्रमणों ने निश्चय ही कुछ काल तक भारतीय उद्योगों के विकास को रोका होगा। अकबर महान् के शासन-काल में

१. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट, पृ० १।
२. वही—असहमति का वृत्तांश, पृ० २९५।
३. रानाडे, 'एसेज ऑन इण्डियन इकनॉमिक्स' पृ० १७१।

पुनः स्थायी शान्ति की स्थापना होने पर उनका पुनरुत्थान हुआ प्रतीत होता है भारतीय सूती तथा रेशमी माल बड़ी मात्रा में फ़ारस, सीरिया और अरब भेजा जाता था। इसी व्यापार और समृद्धि ने यूरोपीय व्यापारियों को भारत की ओर आकर्षित किया। उन देशों की भारत में पैर जमाने की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, यहाँ के कच्चे माल के लिए नहीं थी, वरन् उसके द्वारा निर्मित बहुमूल्य और वैविध्यपूर्ण शिल्प और कला-कृतियों के लिए थी। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी का लाभकारी व्यापार भारत की मलमल की छींट, कसीदे और कढ़ाई के काम की वस्तुओं, हीरे-जवाहिरात तथा ऊनी और रेशमी कपड़ों पर आधारित था।[1]

पिछली शताब्दी के आरम्भ में नगर के उद्योग-धन्धे प्रायः अभिजात-वर्ग के लिए विलासिता की वस्तुएँ तैयार करने और उत्कृष्ट एवं महीन कपड़ा तैयार करने तक ही सीमित थे। गाँव के उद्योग की अपेक्षा नागरिक उद्योग अधिक सुव्यवस्थित था और विदेशी प्रतियोगिता का पहला धक्का इसे ही सहना पड़ा। हाथ के बिने कपड़े का उद्योग मुख्य था और इसमें भी सूती कपड़े का स्थान सर्वोपरि था और भारत में सर्वत्र उसका प्रसार था। आर० सी० दत्त का कथन है कि "बिनाई का काम जनता का राष्ट्रीय उद्योग था और कताई का काम लाखों स्त्रियाँ करती थीं।" सूती कपड़ों के केन्द्र ढाका, लखनऊ, अहमदाबाद, नागपुर और मथुरा आदि नगर थे। ऊनी वस्त्रों में सबसे प्रसिद्ध काश्मीरी दुशाले थे जो सिर्फ काश्मीर में ही नहीं बनाये जाते थे, पंजाब के कुछ नगरों में भी ये काश्मीरी दुशाले बनते थे। यद्यपि धातु की चीजें बनाने की उद्योगशालाएँ जहाँ पीतल, तांबे और घण्टी की धातु की चीजें तैयार होती थी, सिर्फ बनारस, नासिक, पूना, अहमदाबाद, विजगापट्टम और तञ्जौर आदि नगरों में ही केन्द्रित थीं तथापि यह उद्योग सारे भारतवर्ष में फैला हुआ था। ढाल, तलवार आदि अस्त्र-शस्त्र पञ्जाब और सिन्ध के प्रान्तों में बनाए जाते थे। राजपूताना के नगरों ने पत्थर पर खुदाई करने तथा जेवरों पर मीने के काम आदि कला-कृत्यों में विशेष निपुणता प्राप्त कर ली थी। सोने और चाँदी के तार बनाने की कला, प्रस्तर कला, चन्दन-काष्ठ कला, कामदार चूड़ियों के बनाने की कला, चमड़ा कमाने और चमड़े का सामान बनाने की कला तथा कागज और तेल इत्यादि बनाने की कला और ऐसे ही दूसरे प्रकार के कला-कौशल भी भारत में प्रचलित थे।[2] डेढ़ सौ वर्ष पहले पोत-निर्माण का उद्योग इतनी समृद्ध अवस्था में था कि इंगलैण्ड के पोत-निर्माता एवं व्यापारी आदि भी उसके उत्कर्ष से ईर्ष्या करते थे। इस उद्योग के उत्कर्ष का कारण भारत में उपयुक्त लकड़ी का प्राचुर्य था जो इस्पात-निर्मित जहाजों के युग के पहले इस उद्योग में विशेष महत्त्व की वस्तु समझी जाती थी।

नगर की हस्त-कलाएँ जाति के आधार पर निर्मित व्यापार-संघों में संगठित थीं। ये संघ आनुवंशिक व्यवसायों को अपनाते थे और पारस्परिक सहायता वाली समितियों का काम करते थे। सदस्यता की शर्तों और उनके काम के सौष्ठव का भी वे नियमन

१. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट, मालवीय जी का असहमति वृत्तांश, पृ० २९६-७।
२. गैडगिल. पूर्व उद्धृत, पृ० ३५-३७.

करते थे। काफ़ी हद तक श्रम का विभाजन लागू था और पिछले वर्णन के अनुसार किसी सीमा तक उद्योगों का स्थानीयकरण भी हो गया था, यद्यपि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नगर में विविध दस्तकारियों की चीजें सम्यक् मात्रा में मिल जाती थीं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नगर के उद्योग-धन्धों की व्यवस्था गाँव के उद्योग-धन्धों से अधिक सुव्यवस्थित थी। संसार के अन्य देशों की तरह यहाँ के स्वतन्त्र शिल्पकारी बड़े पूँजीपति नहीं होते थे। वे प्रायः ग्राहकों के कहने पर काम किया करते थे और उन्हें कच्चा माल ग्राहकों से ही प्राप्त होता था। घरेलू उद्योग-व्यवस्था के अधीन रहने के कारण शिल्पी को अपने पिता से अपने व्यवसाय के रहस्य और बारीकियाँ सीखने की सुविधा थी और परिवार के आनुवंशिक व्यवसाय की प्रथा का चलन होने के कारण वह अपनी स्थिति के बारे में आश्वस्त रहता था। यह कहना तो सत्य नहीं कि आज की अपेक्षा उस युग में, वस्तुओं की निश्चित माँग होने के कारण, शिल्पकार अधिक समृद्धिशाली थे। उसकी आर्थिक स्थिति को बहुत उन्नतिशील कहना भी उचित न होगा। उदाहरणार्थ जुलाहे प्रायः अपनी वस्तु की अधिक माँग होने का पूर्ण लाभ नहीं उठाते थे, क्योंकि अधिकांश लाभ मध्यस्थ ले लेते थे जो उनको अपने यहाँ नौकर रखते थे और जो इन जुलाहों को द्रव्य उधार देते थे तथा जिनमें उनका शोषण करने की सामर्थ्य तो होती ही थी, कभी-कभी उसको क्रियान्वित भी करते थे।

२१. भारतीय उद्योगों की अवनति के कारण तथा उत्तरोत्तर ग्राम-निर्भरता—उद्योगों की अवनति के कारण. जो किन्हीं उद्योगों में १८ वीं सदी के अन्त में ही लक्षित होने लगे थे, १९ वीं शताब्दी के मध्य में पूर्णरूप से प्रकट हो गए। ये कारण निम्नलिखित हैं—

(१) देशी राज-दरबारों का लोप—राज-दरबारों और सरदार-सामन्तों का संरक्षण समाप्त हो जाने पर हस्त-कला की वस्तुओं की मुख्य माँग का स्रोत सूख गया। अतः उनका ह्रास शुरू हो गया। उदाहरण के लिए, बंगाल के सूती और रेशमी कपड़ों के उद्योग की समृद्धि मुग़ल साम्राज्य के आगरा, दिल्ली और लाहौर के दरबारों के कारण थी और औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होते ही बंगाल में कपड़ा बनना स्वभावतः धीरे-धीरे कम होने लगा। दरबारों और सरदार-सामन्तों की संरक्षकता के तिरोभाव की गति अंग्रेज़ी शासन के विस्तार से बहुत अधिक बढ़ गई और जहाँ उद्योग उन पर ही निर्भर थे, जैसे तन्जौर और लखनऊ आदि में, वहाँ उनका तेजी से ह्रास होने लगा।

(२) विदेशों का प्रतिकूल प्रभाव—अंग्रेजी राज्य की स्थापना ने इन संघों तथा अन्य संस्थाओं की शक्ति को परोक्ष रूप से बहुत कम कर दिया, जो व्यापार का नियमन और प्रयुक्त कच्चे माल की किस्म की देख-रेख करते थे, शान्ति की स्थापना और जनता को निःशस्त्र करने की नीति की प्रतिक्रिया शस्त्र-निर्माण उद्योगों पर हुई। जिन लोगों की संरक्षकता में हस्त-कलाएँ पनप रही थीं उनके स्वाभाविक उत्तराधिकारी यूरोपीय अफसर, विदेशी यात्री और नये शिक्षा-प्राप्त भारतीय व्यवसायी थे। यद्यपि भारत में आये हुए यूरोपीय यूरोप से मँगाये हुए माल को ही अधिक पसन्द करते थे फिर भी

१. देखिए, पूर्व उद्धत गैडगिल पृ० ४०-४।

उन लोगों में भारतीय वस्तुओं की माँग थी, जो इन हस्त-कलाओं के ह्रास को रोकने में सहायक हुई। पर यूरोपीय रुचि के अनुरूप नये ढंग की वस्तुओं के निर्माण से और सस्ती वस्तुओं की माँग बढ़ने से भारतीय हस्तकला के सौष्ठव पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। शासकों के मापदण्डों से प्रभावित भारतीय शिक्षित वर्ग ने भी देशी बनी हुई वस्तुओं से मुँह मोड़ लिया और विदेशी वस्तुओं को बड़े प्रेम से खरीदने लगे। इस प्रकार पहले राज दरबारों से जो संरक्षण इन उद्योगों को प्राप्त था वह तो खत्म हो गया पर उस स्थान की पूर्ति नई परिस्थितियों में हुई भी तो केवल आंशिक रूप से।

(३) **ईस्ट इण्डिया कम्पनी और ब्रिटिश संसद की नीति**—आरम्भ में तो ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने अपनी व्यापारिक प्रवृत्ति की प्रेरणा से भारतीय उद्योगों को द्रव्यादि की सहायता द्वारा प्रोत्साहन दिया, क्योंकि उनका निर्यात-व्यापार इन्हीं पर निर्भर था। पर इस नीति का इंगलैण्ड के स्वार्थप्रिय लोगों ने बड़ा विरोध किया। उन्होंने अपनी शक्ति का प्रयोग संसद् में किया और कहा कि वह कम्पनी को अपना निर्यात-व्यापार भारत के ऐसे कच्चे माल तक ही सीमित रखने के लिए बाध्य करे जिनकी इंगलैण्ड के कारखानों को आवश्यकता थी।[१] १७वीं सदी के अन्त में इंगलैण्ड और भारत के बीच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार का इंगलैण्ड में इसलिए भी विरोध किया गया कि इस व्यापार के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड को बहुत मात्रा में सोना भारत भेजना पड़ता था। १८ वीं सदी के पूर्वार्ध इंगलैण्ड ने अपने रेशमी और ऊनी उद्योगों की रक्षा तथा महाद्वीपीय युद्ध का व्यय पूरा करने के दोहरे उद्देश्य से अतिरिक्त धन प्राप्त करने के लिए भारतीय माल के विरुद्ध तटकर लगा दिया। सन् १७०० से १८५४ तक इंगलैण्ड में रंगीन भारतीय छींटों का उपयोग गैरकानूनी था। परन्तु सादी मलमल, छींट और सभी प्रकार के रेशमी और सूती कपड़े जो इंगलैण्ड से पुनः अन्य यूरोपीय देशों को भेजे जाते थे, इस कानून से मुक्त थे। आर० सी० दत्त का कथन है कि "भारतवर्ष १८वीं सदी में एक बहुत बड़ा खेतिहर और औद्योगिक देश था और भारत के हाथ के बुने कपड़ों की एशिया और यूरोप में भारी खपत थी। सौ वर्ष पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी और ब्रिटिश संसद ने घोर स्वार्थपरता की नीति अपनाकर अंग्रेजी राज्य की स्थापना के आरम्भिक युग में भारतीय कारखानों को हतोत्साहित किया और विकासोन्मुख अंग्रेजी कारखानों को भरपूर प्रोत्साहन दिया। १८वीं सदी की अन्तिम दशाब्दी और १९वीं सदी की आरम्भिक दशाब्दी में जिस स्थायी नीति पर अमल किया गया उसका उद्देश्य भारत के उद्योगों को इंगलैण्ड के उद्योगों के आश्रित और अधीन कर देना था। उनका मन्तव्य यह था कि भारतीय इंगलैण्ड के करघों और अन्य कारखानों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए केवल कच्चे माल का उत्पादन करें। इस नीति का अनुसरण बड़ी दृढ़ता से किया गया और इसका घातक परिणाम हुआ। कम्पनी के कारखानों में भारतीय शिल्पियों से जबरदस्ती काम करवाने की आज्ञा भेजी गई। वाणिज्य-अधिकारियों को गाँवों और भारतीय जुलाहों के समुदाय के सम्बन्ध में कानून द्वारा व्यापक अधिकार दे दिये गए। भारतीय रेशमी और सूती कपड़ों पर

१. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट, पृ० ७५।

इतना अधिक आयात-कर लगा दिया गया कि वे इंगलैण्ड के बाजारों में प्रवेश ही न पा सकें। इसके विपरीत इंगलैण्ड का माल भारत के बाजारों में निःशुल्क या बहुत साधारण-सा कर चुकाने पर ही मँगाया जा सकता था।"[१] भारतीय माल पर ३० से ८० प्रतिशत तक के शुल्क लगाने और किसी-किसी हालत में इंगलैण्ड में उनका आयात बिलकुल रोक देने से इंगलैण्ड के लिए भारत से होने वाले निर्यात-व्यापार को बड़ी क्षति पहुँची।[२] इससे भी अधिक गम्भीर बात भारत तथा संसार की अन्य मण्डियों में इंगलैण्ड के बने माल की प्रतियोगिता थी।[३] 'यदि इतना अधिक कर न लगाया गया होता और निषेधात्मक आज्ञाएँ जारी न की गई होतीं तो पैस्ले और मैनचेस्टर के कारखाने आरम्भ में ही बन्द हो गए होते और भाप की शक्ति होते हुए भी उनके इन्जन शायद ही चलते। इन कारखानों का अस्तित्व भारतीय उद्योग की आहुति देकर बनाये रखा गया। ब्रिटिश निर्माताओं ने अपने ऐसे प्रतिद्वन्द्वी को दबाने के लिए, जिससे बराबरी के आधार पर प्रतिस्पर्धा करना उनकी सामर्थ्य के बाहर था, राजनीतिक अन्याय के अस्त्र का प्रयोग किया।'[४] अब इंगलैण्ड सूती कपड़े तैयार करता था जिसकी खपत के लिए भारत में बड़ा अच्छा बाजार था और इस बाजार से पूरा-पूरा लाभ उठाने में इंगलैण्ड को अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करने में तनिक भी संकोच न था। 'ब्रिटिश सरकार से ऐसी आशा करना भी व्यर्थ था कि वह पूर्णतया अपनी सत्ता के अधीन आये हुए भारत जैसे दूर देश के साथ अमरीका-स्थित ब्रिटिश उपनिवेशों की अपेक्षा अधिक निःस्वार्थ-नीति से काम लेगा।'[५] इंगलैण्ड द्वारा घरेलू उपभोग के लिए भारतीय वस्तुओं के विरुद्ध लगाये हुए आत्यन्तिक कर १९वीं सदी के मध्य में हटाये गए जब भारत और अन्य बाजारों में ब्रिटिश निर्माताओं की निर्बाध प्रतिस्पर्धा भारतीय उद्योग को मृतप्राय कर चुकी थी।

(४) **मशीनों से बने माल की प्रतियोगिता**—इस काल में भारतीय कपड़े तथा अन्य निर्मित वस्तुओं की मन्दी का मुख्य कारण इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति थी। जो कुछ भी हो भारत के घरेलू उद्योगों और हस्त-कलाओं का विदेशी उद्योगों से प्रतिस्पर्धा

१. आर० सी० दत्त, इकनामिक हिस्ट्री आफ़ इण्डिया अण्डर अरली ब्रिटिश रूल, पृ० ७, ८।

२. इंगलैण्ड में भारतीय माल का प्रवेश रोकने के लिए जो उपाय किये गए थे, भारतीय सूती उद्योग की अवनति के कारणों को स्पष्ट करने में लोग प्रायः उनका वर्णन बहुत बढ़ाकर करते हैं। इंगलैण्ड तो भारत के निर्यात-बाजार का 'जो कि जापान से लेकर चीन तक और ब्रह्मा, पीगू, फारस, अरब, पश्चिमी अफ्रीका और इंगलैण्ड के अतिरिक्त यूरोप के अन्य देशों तक फैला हुआ था', एक बहुत ही अदना अंग था।—नोल्स, द इकनामिक डैवलपमैंट ऑफ द ब्रिटिश ओवरसीज एम्पायर, पृ० ३१०।

३. सी० जे० हेमिल्टन कृत 'ट्रेड रिलेशन्स बिटवीन इंगलैण्ड एण्ड इण्डिया', पृ० १६३।

४. इस बात पर जोर दिया गया है कि भारतीय माल के आयात पर रोक लगाकर रक्षात्मक उपाय न किये जाते तो भी मशीनों से उन्हें जो फायदे थे उनके कारण इंगलैण्ड के कारखाने उन्नति करते। परन्तु विल्सन साहब के उपर्युक्त मत के अनुसार यदि इंगलैंड को भारत के हित की भी उतनी ही चिन्ता होती जितनी कि अपने हित की, तो निश्चय ही इंगलैण्ड अपने लिए सुरक्षा की नीति अपनाकर भारत पर स्वतन्त्र व्यापार की नीति न थोपता।

५. जे. एल. तथा बी. हैमण्ड, पूर्व उद्धृत, पृ० १८५।

करना असम्भव था, क्योंकि विदेशी उद्योगों की शक्ति के अजस्र स्रोत, बड़ी-बड़ी मशीनों, बड़े पैमाने के उत्पादन और जटिल श्रम-विभाजन से सम्पन्न औद्योगिक व्यवस्था थी, जिसे विकसित यातायात तथा संचार के अपार साधन उपलब्ध थे। जैसा कि दत्त महाशय ने लिखा है कि "यूरोप में बिजली-करघे के आविष्कार ने भारतीय उद्योगों के ह्रास में पूर्णाहुति दे दी।" भारत के पोत-निर्माण उद्योग की भी वही दशा हुई और भारतीय पोतों का स्थान इंगलैण्ड के व्यापारिक समुद्री जहाजों ने ले लिया। इसका कारण किसी हद तक भारतीय पोतों के सम्बन्ध में वह अहितकर नीति थी जिसे, इंगलैण्ड में किये गए आन्दोलन के कारण, संचालक-सभा ने लागू करना स्वीकार किया था। अन्य भारतीय उद्योगों—जैसे इस्पात, शीशा और कागज आदि—की भी ऐसी ही दशा हुई। सड़कों के तीव्र गति से बनने और विशेषकर लार्ड डलहौजी के शासन-काल के पश्चात् रेलों के निर्माण ने, देश के दूर-दूर तक के भीतरी भागों में भी विदेशी वस्तुओं को पहुँचा दिया और इस प्रकार प्रतिस्पर्धा की शक्तियों को और भी बल मिल गया।[1] स्वेज नहर के निर्माण, ब्रिटिश माल के निर्यात में परिवहन की कम लागत, स्टीमरों के भाड़े में कमी—विशेषत: १८३० के बाद-तथा रेल, तार और डाक की सुविधाओं आदि के कारण कठिनाइयाँ और बढ़ गईं तथा भारतीय शिल्पियों के विनाश की प्रक्रिया को और भी गति दे दी।[2] भारत में रेलों का निर्माण इतनी तीव्र गति से हुआ कि शिल्पी नई परिस्थिति से न तो सामंजस्य ही स्थापित कर सके और न अपने लिए धनोपार्जन का कोई दूसरा मार्ग ही ढूँढ़ सके। इस आकस्मिक परिवर्तन ने उन्हें बिलकुल बेसहारा कर दिया। हजारों की संख्या में शिल्पियों ने अपना वंशानुगत व्यवसाय छोड़ दिया और खेती करने लगे तथा इस प्रकार भूमि पर जीविकोपार्जन का दबाव बढ़ गया। यदि रेलों का निर्माण कुछ धीमी गति से हुआ होता और परिवर्तन भी मन्दतर गति से हुए होते तो शायद भारतीय उद्योगों ने कुछ अधिक प्रतिरोध दिखाया होता और इस प्रकार सब-के-सब कृषि की ओर ही न मुड़े होते। ऐसी स्थिति में दस्तकारों ने अपने लिए नये रास्ते खोज लिये होते और उनका अनुसरण किया होता तथा इस संक्रान्ति-काल में उन्हें जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा वे बहुत सीमा तक कम हो गई होतीं। परन्तु यह क्रान्ति इतनी आकस्मिक थी कि इस प्रकार का समंजन सम्भव नहीं हो सका।[3]

(२) भारतीय सरकार की अनतियात नीति—सरकार ने संघर्षरत हस्त-कलाओं की ओर सहायता का हाथ नहीं बढ़ाया। इतना ही नहीं उन्होंने अंग्रेजी निर्माताओं को भारतीय बाजारों से अनुचित और भरपूर लाभ उठाने के लिए कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप से सहायता भी दी जो कभी भी न्यायोचित नहीं थी। रेलें देश के कोने-कोने में इंगलैण्ड की बनी वस्तुएँ पहुँचा देती थीं जिससे देशी वस्तुओं के स्थान पर उनका प्रयोग होने लगता था और कच्चे माल के निर्यात को प्रोत्साहन मिलता था। देशी व्यापार का प्राण-

---

१. देखिए, खण्ड २, अध्याय ५।

२. देखिए, ए० चेटरटन कृत 'इण्डस्ट्रियल इवोल्यूशन इन इण्डिया', पृ० २०।

३. ए० लवडे कृत 'इण्डियन फैमिन्स' पृ० १०७ देखिए। भारत में हस्त-कलाओं के ह्रास का एक और कारण परिवहन-करों का अत्यधिक बोझ था। ये कर १८४४ में समाप्त कर दिये गए।

रस ग्रहण कर विदेशी व्यापार का विस्तार होता गया। परिणामस्वरूप देश के साधनों का एकांगी और अस्वस्थ विकास हुआ। रानाडे ने लिखा है कि "इंगलैण्ड के अधीन भारत के महान् राज्य ने इस (१९वीं) शताब्दी में प्राचीन उपनिवेशों का स्थान ले लिया। यह अधीन राज्य एक प्रकार से अंग्रेजों का वह कृषि-क्षेत्र है जहाँ कच्चा माल पैदा किया जाता है, जिसे अंग्रेजी अभिकर्त्ता अंग्रेजी पूँजी और श्रम के प्रयोग द्वारा तैयार माल का रूप देने के लिए अंग्रेजी जहाजों में इंगलैण्ड भेज देते हैं। बाद में फिर वही माल अंग्रेज माल-व्यापारियों द्वारा इसी अधीन राज्य (भारत) में अथवा अन्य स्थानों में अंग्रेजी फर्मों के पास निर्यात कर दिया जाता है। भाप-शक्ति और यन्त्र-कौशल के विकास और संचार की सुविधाओं ने मिलकर इस युगीन प्रवृत्ति को और भी बल दिया। इसके परिणामस्वरूप यह महान् अधीन राज्य धीरे-धीरे कृषि-कार्य में अधिकाधिक प्रवृत्त होता गया और निर्मित वस्तुओं के व्यवसाय का द्रुत ह्रास स्पष्ट परिलक्षित होने लगा।"[1] भारतीय उपभोक्ता को सस्ते विदेशी माल की प्राप्ति के कारण चाहे थोड़ा-बहुत लाभ हुआ हो पर देशीय दस्तकारी से उत्थापित कारीगरों के पूरी तरह कृषि पर आश्रित हो जाने से दुर्भिक्षकालीन सहायता का खर्च बढ़ गया और इस प्रकार करदाता की हैसियत से उपभोक्ता पर भार भी बढ़ गया।

२२. भारत और इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति : दोनों का अन्तर—यह सत्य है कि इंगलैण्ड में भी औद्योगिक क्रान्ति द्वारा प्राचीन व्यवस्था का जब नई व्यवस्था में संक्रमण हुआ तो भयंकर उथल-पुथल हुई और हस्तकला-शिल्पियों को बेहद कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। यह भी सत्य है कि इंगलैण्ड की सरकार ने विस्थापित जुलाहों और अन्य शिल्पकारों के भविष्य के प्रति ऐसी ही उदासीनता दिखाई जैसी यहाँ और राज्य की ओर से जो कुछ ठोस कार्यवाही की गई सो नये पूँजीपति-निर्माताओं की कठिनाइयाँ दूर करने के अभिप्राय से, न कि हस्तकला-शिल्पियों की मुसीबतें कम करने के लिए। परन्तु थोड़े काल के कष्ट के पश्चात् विस्थापित श्रमिक नये उद्योगों में लग गए। कृषि-कार्य की वृद्धि के स्थान पर नगर के व्यवसायों में बड़ी तेजी से विस्तार होने लगा और नये उद्योगों में श्रम की माँग इतनी बढ़ गई कि गाँव इस माँग की पूर्ति के लिए प्रायः निर्जन हो गए। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड ने शक्ति और समृद्धि के ऐसे युग में पदार्पण किया जिसकी मिसाल नहीं। उपर्युक्त सभी बातों के भारत में बिलकुल भिन्न परिणाम हुए। भारत में औद्योगिक क्रान्ति ऐसी शक्तियों के फलस्वरूप हुई थी जिनका उद्भव देश के बाहर हुआ था और मशीन-निर्मित माल, जिससे शिल्पियों को प्रतियोगिता करनी पड़ती थी, बहुत समय तक भारत में नहीं वरन् यूरोप के कारखानों में बनता रहा था।[2] इस प्रकार से बेकार हुई औद्योगिक आबादी को देश में बड़े पैमाने के उद्योगों के अभाव में लाचार होकर खेती की शरण लेनी पड़ी और खेती पर

१. पूर्व उद्धृत, पृ० १०६-७।

२. भारत में आर्थिक क्रान्ति का प्रभाव एकान्ततः यातायात के साधनों पर पड़ा और उसका महत्त्वपूर्ण परिणाम था आन्तरिक और वैदेशिक व्यापार की अपार वृद्धि। इसके साथ खेतों में या उद्योगों में उत्पादन के ढंग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

भार बढ़ गया। कृषक के रूप में शिल्पकारों ने अपने को आर्थिक दृष्टिकोण से पहले की अपेक्षा हीनतर दशा में पाया। इसके विपरीत इंगलैण्ड में नये कारखानों में काम पाने से शिल्पकारों की आर्थिक दशा पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी हो गई। समस्त देश पर इन सब परिवर्तनों के आर्थिक प्रभाव के कारण, कृषि, सिंचाई और परिवहन के साधनों में उन्नति होते हुए भी यह कहना विवादास्पद होगा कि पिछले सौ वर्षों से राष्ट्रीय आय में कोई उल्लेख्य वृद्धि हुई है।[1]

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार देश के बढ़ते हुए ग्रामीणीकरण का आभास जन-गणना के आँकड़ों से मिलता है, जो कृषि पर निर्भर लोगों की संख्या के सम्बन्ध में दिये गए हैं। सन् १८८० में ही इस वर्ष के दुर्भिक्ष-आयोग को यह पता लग गया था कि भूमि पर भली प्रकार खेती करने के लिए जितने लोगों की आवश्यकता थी, जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर निर्भर लोगों की संख्या उससे कहीं अधिक थी; और तब से यह प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती ही गई है। लगभग सभी प्रान्तों में (पञ्जाब में सम्भवतः अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है) भूमि पर जीविकोपार्जन का भार बढ़ गया है। यदि सम्पूर्ण भारत के दृष्टिकोण से देखा जाय तो १८६१ की जनगणना के अनुसार खेती करने वालों की संख्या कुल आबादी का ६१ प्रतिशत थी। १६०१ में यह बढ़कर ६५·०२ हो गई, १६११ में ६६·८ और १६२१ में ७०·६ हो गई। यदि १८६१ की जनगणना को बाद में वर्गीकरण के आधार में परिवर्तन हो जाने के कारण ठीक न भी मानें तो भी बाद की जन-गणनाओं की प्रतिशत संख्या देखते हुए, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि उद्योगों से निकलकर लोग कृषि की ओर ही अधिक प्रवृत्त हुए। सन् १६३१ में कृषिकार्यों में संलग्न लोगों की संख्या में जो कमी दिखलाई पड़ी थी वह कदाचित् खेती में काम करने वाली स्त्रियों की ग़लती से गृह-दासियों में शुमार हो जाने के कारण थी। १६४१ के आँकड़े प्राप्त नहीं हैं।[2] यह सत्य है कि जन-गणना के आँकड़ों को पूर्णरूपेण विश्वास-योग्य नहीं माना जा सकता क्योंकि उनमें प्रायः मुख्य और गौण व्यवसाय में भेद नहीं किया जाता। बहुत से घरेलू उद्योग-धन्धे खेती के साथ-साथ किये जाते हैं। परन्तु यह ग़लती तो सभी जनगणनाओं में विद्यमान रही है इसलिए उनके आँकड़े तुलनात्मक अध्ययन के काम में लाये जा सकते हैं।

आधुनिक ढंग के बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले उद्योग-धन्धों ने देश में कुछ प्रगति की है।[3] भारत और पाकिस्तान दोनों की सरकारें तेज़ी से उद्योगीकरण करने की नीति अपनाने के लिए वचनबद्ध हैं। इस कारण हम आशा कर सकते हैं कि भविष्य में इस दिशा में और सन्तोषजनक प्रगति होगी और जनता का खेती की ओर आवश्यकता से अधिक झुकाव कम हो जायगा जिसके कारण रानाडे का मन इतना चिन्तित-आशंकित हो उठा था। कारखानों की वृद्धि निश्चय ही शिल्पकारों की कठिनाइयों को बढ़ाएगी और

१. देखिए, खण्ड २, अध्याय ४।

२. सन् १६५१ की जनगणना के अनुसार कुल संख्या का ८२·७ प्रतिशत ग्रामीण है।

३. यह एक विचित्र बात है कि लोहा, इस्पात और इञ्जिनियरिंग आदि जो इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के आधार थे, अभी हाल तक भारत में उपेक्षित ही थे।

आगे चलकर हमें इस प्रश्न पर विचार करना पड़ेगा कि घरेलू उद्योग-धन्धों को, जिन्होंने इंगलैण्ड की अपेक्षा भारत में अधिक प्रतिरोध दिखाया है, विनष्ट हो जाने दिया जाय अथवा वे आधुनिक अर्थ में उद्योगीकरण के साथ-साथ प्रगति करते हुए चल सकते हैं।

२३. संक्रमणकालीन ग्राम—ग्राम-समाज की व्यवस्था और उसके ऊपर वर्णित आर्थिक जीवन में प्रशासकीय केन्द्रीयकरण से उद्भूत नई शक्तियों के जन्म, पाश्चात्य सभ्यता के समाधान के कारण व्यक्तिवादी भावना के विकास, यातायात और संचार-साधनों में क्रान्ति आदि कारणों से आमूल परिवर्तन हो रहा है।

(१) प्रशासकीय केन्द्रीयकरण—'भारतीय गाँवों को प्राचीन काल में बहुत अधिक मात्रा में स्थानीय स्वतन्त्रता प्राप्त थी। देशी राजवंश, तथा उनके स्थानीय प्रतिनिधि किसानों से व्यक्तिशः कोई सम्पर्क नहीं रखते थे। वे तो पूरे गाँव को अथवा किसी बड़े भूमिपतिको सरकारी लगान वसूल करने के लिए और वहाँ शान्ति रखने के लिए उत्तरदायी समझते थे। आजकल स्थानीय फौजदारी और दीवानी अदालतों की स्थापना के कारण अथवा वर्तमान लगान-वसूली तथा पुलिस-व्यवस्था के कारण और व्यक्तिगत रैयतवाड़ी प्रथा के उत्तरी भारत में भी प्रचलित हो जाने के कारण इस स्थानीय स्वतन्त्रता का लोप हो गया है।'[1] अंग्रेज़ों की प्रशासकीय केन्द्रीयकरण की नीति ने, जो सुदृढ़ स्थायी सरकार की स्थापना तथा सुगम यातायात और संचार-साधनों के कारण सम्भव हो सकती थी, गाँव की स्वतन्त्रता के प्रति लोगों की उमंग को मृतप्राय कर दिया और उनके स्थान पर जो नई ज़िला-परिषद् (बोर्ड) और तालुका परिषद् (बोर्ड) बनी वे गाँव के सीमित पर अधिक प्रभावशाली स्वायत्त शासन के समकक्ष नहीं थी। बम्बई के एलफिन्स्टन और मद्रास के मुनरो, ग्राम-समाज की प्राण-शक्ति और स्वास्थ्य को बनाये रखना चाहते थे। उनके विरोध के बावजूद भी यह नीति अपनाई गई।

(२) व्यक्तिवादिता का विकास—ग्राम-समाज के विघटन में योग देने वाला एक और कारण व्यक्तिवादिता की भावना का विकास था। वर्तमान समय में सभी क्षेत्रों में व्यक्तिगत विधि-अधिकारों का विस्तार हुआ है और इसने सामुदायिक जीवन की उपेक्षा करके व्यक्ति की स्थिति को दृढ़ किया है। ऐसी प्रवृत्ति भारत में भी परिलक्षित होती है और यह आज की सबसे प्रभावशाली शक्ति है जिसने व्यष्टि की अपेक्षा समष्टिगत अधिकारों पर आधारित भारतीय समाज के पुराने सूत्रों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। सामुदायिक भावना का भारतीय गाँवों में बहुत ह्रास हो गया है यद्यपि उसका पूर्णरूप से लोप नहीं हुआ है। गाँव इतने महत्त्वशाली हैं कि वे आज भी शासन की आरम्भिक इकाई माने जाते हैं और गाँव के प्राचीन पदाधिकारी जैसे मुखिया और पटवारी, अब भी गाँव और सरकार के बीच सम्पर्क स्थापित करने वाली एक आवश्यक कड़ी की तरह हैं। इसके अतिरिक्त गाँव के सामुदायिक जीवन तथा स्वतन्त्र शासन के पुनरुत्थान की प्रत्याशा सहकारिता आन्दोलन के प्रभाव तथा ग्राम-पंचायतों की महत्ता के अनुभव से, इधर कुछ विशेष बढ़ गई है। मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने इस आन्दोलन को, जिसे १९०९ के विकेन्द्रीयकरण आयोग (डिसेन्ट्रलाइजेशन कमीशन) की सहानुभूति प्राप्त थी,

१. रिपोर्ट आफ़ द डिसेन्ट्रलाइज़ेशन कमिशन (१९०९)।

आवश्यक प्रेरणा दी। बिना तोड़े-फोड़े जीर्णोद्धार सम्भव नहीं है और गाँवों की स्वायत्त शासन-प्रणाली को आज पुनरुज्जीवित करना बड़ा कठिन काम है, जब कि पिछली प्रचलित स्वायत्त शासन-प्रणाली से आज सौ वर्ष का व्यवधान पड़ चुका है और जब वित्त और कार्यकर्ताओं के सम्बन्ध में अपार कठिनाइयाँ हैं। इन सब कठिनाइयों के बावजूद ग्राम-स्वायत्तता का आदर्श अनुसरणीय है और इसके मार्ग की बाधाएँ कालान्तर में ग्रामीण भारत की आर्थिक दशा सुधारने और जनता में शिक्षा और ज्ञान के प्रसार होने से दूर हो जायँगी। यह आवश्यक है कि ग्राम-स्वायत्तता की स्थापना गाँवों के पुनर्निर्माण की व्यापक योजना का एक आवश्यक अंग माना जाय।

(३) परिवहन में क्रान्ति—१९वीं सदी के मध्यकाल से रेल और सड़कों के जाल बिछ जाने से परिवहन में जो क्रान्ति हुई वह गाँवों की अलग-थलग स्थिति को खत्म करने और उसके फलस्वरूप हुए बड़े-बड़े परिवर्तनों का कारण रही है।

२४. संक्रमणकालीन ग्राम की विशेषताएँ—(१) सबसे अधिक महत्त्वशाली विशेषता गाँवों की आत्मनिर्भरता का विनाश है। गाँव अब बाहर से कपड़ा, मिट्टी का तेल, अलुमिनियम के बर्तन, चीनी, चाय, दियासलाई, छाता, कैंची, चूडियाँ, दर्पण, दवाइयाँ तथा सीने की मशीनें आदि वस्तुएँ मँगाने लगे हैं। गाँवों की बाह्य क्षेत्रों पर उत्तरोत्तर निर्भरता को इस बात से और प्रोत्साहन मिला है कि उनका रहन-सहन का स्तर पाश्चात्य प्रभावों के कारण बहुत-कुछ बदल गया है। इतना ही नहीं, गाँव बाहरी बाज़ारों में विक्रय के लिए सामान तैयार करने लगे हैं और बाहरी दुनिया के साथ विनिमय पर अधिकाधिक निर्भर रहने के फलस्वरूप एक बड़ी ही प्रभावशाली आर्थिक क्रान्ति उत्पन्न हो गई है।

(२) गाँवों की अलग-थलग स्थिति खत्म हो जाने के कारण अकाल की विपदा का स्वरूप भी बदल गया है। स्थानीय फ़सल के खराब होने के कारण जहाँ अन्न की कमी हो जाती है वहाँ बाहुल्य के क्षेत्र से अन्न मँगाने की सुविधा के कारण अन्न के अकाल का स्थान धन के अकाल ने ले लिया है। अब तो अकाल का अर्थ केवल अन्न की दुष्प्राप्यता के कारण उसका बढ़ा हुआ मूल्य है अथवा रोज़गार और कृषि-कार्य में अस्थायी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाना है। बंगाल के युद्धकालीन दुर्भिक्ष को, हमें अपवाद समझना चाहिए क्योंकि उनका कारण तात्कालिक यातायात की सुविधाओं का लोप तथा अक्षम और भ्रष्ट शासन-व्यवस्था थी। इसी प्रकार इसके विपरीत फसल खूब अच्छी होने पर अनाज के बाहुल्य तथा उसके मूल्य गिर जाने से किसानों के विनाश का जो भय था, वह भी आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार के विस्तार के कारण बहुत घट गया है। प्राचीन कालिक ग्राम-भण्डारों की भी अब आवश्यकता नहीं रही क्योंकि अनाज की आवश्यकता पड़ने पर गाँव के लाग समूचे देश के व्यापक अनाज-भण्डार से अनाज प्राप्त कर सकते थे।

(३) एक और आश्चर्यजनक परिवर्तन द्रव्यपरक अर्थ-व्यवस्था के आरम्भ से सम्बन्धित है। बाह्य संसार से उत्तरोतर बढ़ता हुआ विनिमय, जिसका पहले प्रायः नितान्त अभाव था, खेती के मूल्य में वृद्धि, और गाँव से नौकरी करने गये व्यक्तियों

द्वारा भेजे हुए रुपये आदि, गाँवों में निरन्तर द्रव्य की मात्रा बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार द्रव्य की बढ़ती हुई आमद ने उसे गाँवों में विनिमय का सामान्य माध्यम बना दिया है और अब अनाज द्वारा भुगतान बहुत कम होता है। निस्सन्देह वस्तु-विनिमय के स्थान पर द्रव्य के उपयोग का आरम्भ प्राचीन से नवीन अर्थ-व्यवस्था में पदार्पण करने का परिचित संकेत है और सभ्यता के विकास की एक सीढ़ी है। मालगुज़ारी तथा अन्य ब्याज, मज़दूरी और लगान आदि का भुगतान नक़द ही होता है। गाँव के शिल्पकार को उसकी सेवाओं के बदले अनाज देने की प्रथा अभी पूर्ण रूप से नही बदली है, पर उसकी महत्ता प्राचीन काल की अपेक्षा अब बहुत घट गई है। बाहर से मँगाये हुए माल का मूल्य भी नक़द देना पड़ता है।

(४) गाँव की जनता अब पहले की तरह एक ही स्थान पर स्थायी रूप से रहने वाली नहीं रह गई है। इस परिवर्तन का श्रेय रेलो के समारम्भ और ग्रामवासियों की अपनी आमदनी को नगर की कमाई से बढ़ाने की आवश्यकता को है। पहले की तरह अब पूर्व-निर्धारित व्यवसायों के अनुसरण का बन्धन नहीं है और जाति तथा परिष्ठा (status) के प्रभाव भी क्षीण होते जा रहे है। कारखानों, खानों और बड़े-बड़े निर्माण-कार्यों में किसी एक वक्त काम करने वालों की संख्या कुल जनसंख्या के मुकाबले भले ही नगण्य हो पर समय-समय पर उनके बदलते रहने के कारण इन परिवर्तनों से बहुत बड़ी संख्या में लोग प्रभावित हुए हैं। जो गाँव बड़े-बड़े नगर-केन्द्रों के समीप स्थित हैं, उनका अलग-थलगपन किस हद तक खत्म हो गया है, यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

२५. ग्रामीण व्यवसायों में संक्रान्ति : (१) कृषि में संकान्ति—अब हम गाँव के व्यवसायों में संक्रान्ति का संक्षिप्त रूप में विवेचन करेंगे। पहले हम गाँव के प्रमुख उद्योग—कृषि—को लेंगे और बाद में गाँव की दस्तकारियों आदि में संक्रान्ति का अध्ययन करेंगे।

कृषि-उद्योग की व्यवस्था में कोई आधारभूत परिवर्तन नही हुआ है। छोटे-छोटे किसानों द्वारा छोटे पैमाने पर अपनी ही पूँजी और अपने ही श्रम से खेती करने की व्यवस्था आज भी सामान्य है। यदि कोई बात बदली है तो वह खेती पर अधिक लोगों की निर्भरता है तथा खेतों के अधिक बँटवारे के कारण किसानों की संख्या की वृद्धि है। इसी प्रकार खेती के वे प्राचीन ढंग जो न जाने कब से चले आ रहे हैं, आज भी ज्यों-के-त्यों प्रचलित हैं। खेती के नये ढंग सिखाने और आधुनिक उपकरणों का प्रयोग आरम्भ कराने में कृषि तथा सहकारी विभागों की सफलताएँ अभी तक तो बहुत सीमित ही रही हैं।

भारतीय कृषि में परिवर्तन के चार अंग हैं : (१) कृषि का वाणिज्यीकरण; (२) रैयत का बेदखल होना और खेतों का उनके अधिकार से निकलकर स्वयं खेती न करने तथा रुपया उधार देने वाले महाजनों के अधिकार में जाना; (३) खेतों का उत्तरोत्तर छोटे-छोटे भागों में बँटवारा; और (४) खेतिहर मजदूरों की दुष्प्राप्यता।[1]

[1] विशेष विवेचना के लिए गाडगिल, पूर्व उद्धृत, अध्याय ११ देखिए।

(१) कृषि का वारिणज्यीकरण मुख्यतः परिवहन और संचार-साधनों के विकास के कारण हुआ है। १८६९ में खोली गई स्वेज नहर ने—विशेष रूप से कृषि-उत्पादन के लिए—विस्तृत और संसार-व्यापी बाजार की स्थापना में सहायता की।

अमरीकी गृहयुद्ध के परिणामस्वरूप पिछली शताब्दी की सातवीं दशाब्दी में, संसार-भर में मण्डियाँ मिल जाने से भारतीय कृषि का जो वारिणज्यीकरण हुआ वह बड़े महत्त्व की बात थी। युद्ध के कारण अमरीका से रुई मिलना बन्द हो जाने से लंकाशायर को भारत और मिश्र आदि पर निर्भर होना पड़ा। लंकाशायर की माँग से रुई के व्यापार की ऐसी अभिवृद्धि हुई कि रुई उगाने और निर्यात करने वालों को कुछ काल तक बहुत लाभ हुआ। पंजाब और उत्तर प्रदेश में सिंचाई के बड़े-बड़े साधनों का प्रयोग आरम्भ हो जाने से बड़े-बड़े भू-भाग खेती के योग्य हो गए और इससे निर्वाह-कृषि के स्थान पर वारिणज्य-कृषि को बहुत प्रोत्साहन मिला। परिवहन और सिंचाई का तो इससे सीधा सम्बन्ध है ही। इसके अतिरिक्त कृषि के वारिणज्यीकरण का एक और महत्त्वपूर्ण कारण गाँवों में कर, लगान, ब्याज और मजदूरी का नकद भुगतान और द्रव्य का अधिकाधिक प्रयोग है। नकद भुगतान की अनिवार्यता से कभी-कभी तो किसान को विवश होकर फ़सल कटने के पश्चात् तुरन्त ही उसका एक बहुत बड़ा अंश बेच देना पड़ता है और फिर बाद में उससे कहीं अधिक मूल्य पर महाजन से खरीदना पड़ता है। कृषि-उत्पादन के इस नये अवस्थान ने भिन्न-भिन्न भागों को भिन्न-भिन्न फ़सलें उगाने में विशेषता प्राप्त करने का अवसर दिया है। उदाहरणार्थ बंगाल ने पटसन, बम्बई और बरार ने कपास, मध्यप्रदेश ने तिलहन और इसी प्रकार पंजाब ने गेहूँ के उगाने में विशेषता प्राप्त कर ली है। इससे खाद्यान्न के स्थान पर औद्योगिक फ़सलें जैसे पटसन, कपास और तिलहन के उगाने का क्षेत्र बढ़ गया। इसके अतिरिक्त थोक विक्रेता तथा निर्यातक आदि का एक ऐसा विशिष्ट बिचौलिया वर्ग बन गया है जो रुई, पटसन और गेहूँ आदि फसलों को जल्दी-से-जल्दी बन्दरगाहों और देश के व्यापार-केन्द्रों तक पहुँचा देते हैं। आठवें अध्याय में हम यह विचार करेंगे कि कृषि के इस वारिणज्यीकरण ने कहाँ तक उत्पादन को और देश को लाभ पहुँचाया है और कृषि-उत्पाद के विपणन में किन सुधारों की आवश्यकता है।

(२) महाजन द्वारा किसानों की बेदखली ग्रामवासियों के अधिक कर्जदार होने का ही एक परिणाम है। भूमि-सम्बन्धी वैयक्तिक अधिकारों की वृद्धि से, हस्तान्तरण की स्वतन्त्रता से, भूमि का मूल्य बढ़ जाने से, सुविधापूर्ण उधार-व्यवस्था से और जटिल व्यवहार-कानून और कार्यविधि से भी इसे विशेष प्रोत्साहन मिला है। हम किसानों की ऋण-भारता के मुख्य और गौण कारणों पर तथा अकृषिक-वर्ग के लिए भिभू-हस्तान्तरण रोकने के बारे में सरकार द्वारा किये गए उपायों पर अन्यत्र विचार करेंगे।

(३) कृषि-भूमि के विभाजन-उपविभाजन और अपखण्डन का कारण यह है कि खेती पर आश्रित लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है और उसके साथ-साथ उत्तराधिकार तथा दायाधिकार के नियमों का परिपालन हो रहा है। भूमि के इस तरह टुकड़े-टुकड़े

हो जाना विकसित खेती के लिए बहुत घातक है।[1]

(४) कृषि-मज़दूरों के अभाव का विशेष रूप से अनुभव फ़सल कटते समय होता है जब कि छोटे-छोटे किसान भी जो प्रायः खाली समय में सपरिवार मज़दूरी कर लेते हैं, नहीं मिलते। इस अभाव के प्रायः अन्य कारण भी दिये जाते हैं जैसे, खेती के क्षेत्र का विस्तार, नगरों में उद्योगों का आरम्भ होना और धनी किसानों की जिन्हें मूल्य के बढ़ने से विशेष लाभ होता है, स्वयं खेती न करके किराये के मज़दूरों द्वारा खेती करवाने की प्रवृत्ति आदि।[2]

(२) ग्रामीण शिल्प-उद्योगों में संक्रान्ति—अब हम गाँव के शिल्पकारों की स्थिति में हुए परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे। कुल मिलाकर इनमें कोई आमूल परिवर्तन नही हुए। "बढ़ई, लुहार, धोबी, नाई, शल्य चिकित्सक और कुम्हार आज भी गाँव के सेवकों के रूप में विद्यमान हैं और उनके कार्य तथा वृत्ति निश्चित और सर्वस्वीकृत हैं।" उन्हें अपनी सेवाओं के बदले जो-कुछ मिलता आ रहा है, वही अब भी मिल जाता है, पर आज उनके परम्परागत कार्यों का महत्त्व पहले की अपेक्षा कम हो गया है। आज गाँव के शिल्पकार अधिक आय की खोज में गाँव छोड़कर बाहर जाने को अधिक तत्पर हैं। सस्ते और सुगम परिवहन-साधनों ने, जिनके कारण अब बाहर से माल आसानी से मँगाया जा सकता है, गाँव में ही सारी जरूरी वस्तुओं के निर्माण की आवश्यकता को भी बहुत कम कर दिया है। इसलिए शिल्पकारों की भी गाँव में सदैव उपस्थिति आवश्यक नहीं रह गई है। वार्षिक पारिश्रमिक देने के स्थान पर शिल्पकारों को उनके कार्य के अनुसार पारिश्रमिक देने का रिवाज धीरे-धीरे अधिक प्रचलित होता जा रहा है, यद्यपि इस दिशा में भी परिवर्तन अभी अधूरा ही है। यही कारण है जुलाहे और सुनार आदि शिल्पी बड़े-बड़े गाँवों और नगरों में किसी सीमा तक केन्द्रित हो गए हैं। गाँव के शिल्पियों को बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले भारतीय और विदेशी उद्योगों की प्रतिस्पर्धा के कारण भी बड़ा धक्का सहना पड़ा है और इस प्रतिस्पर्धा के कारण कुछ ग्राम-उद्योग खत्म भी हो गए हैं।

इस परिवर्तन से भिन्न-भिन्न शिल्पी भिन्न-भिन्न ढंग से प्रभावित हुए हैं। हाथ से सूत कातने के उद्योग को, जैसा कि इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के कारण हुआ था, सबसे अधिक धक्का सहना पड़ा है और घर-घर में चलने वाले चरखे अब प्रायः बन्द हो गए हैं। गाँव के रंगरेज को भी रासायनिक ढंगों के आयात और मशीन के रंगे हुए सूत के प्रयोग के कारण हानि उठानी पड़ी है। जुलाहों को केवल विदेशी माल (जिससे भारत का बाजार भरा पड़ा था) की प्रतिस्पर्धा से ही घाटा नहीं हुआ वरन् एशिया, जावा और फ़ारस में इंगलैण्ड के माल पहुँचने से भी हुआ, जहाँ अब तक भारत का माल जाया करता था। यह सब होते हुए भी यह नहीं हुआ कि हाथ से बुनना भारत में लोप हो गया। ऐसा अनुमान है कि आज भी भारत में लगभग २० या ३० लाख करघे हैं और लगभग ६० लाख जुलाहे हाथ से बुनने का कार्य कर

१. अध्याय ७ देखिए।

२. देखिए जी. एफ. कीटिङ्ग, प्रोग्रैस ऑफ एग्रीकल्चर इन वैस्टर्न इण्डिया, पृ० १४४-१४६।

रहे हैं[1] जिनकी कुल वार्षिक आय लगभग ५० करोड़ रुपया होनी चाहिए।[2]

जिस प्रकार लोहे के हल, चर्खी तथा अन्य आधुनिक वैज्ञानिक औजारों के अधिकाधिक प्रयोग ने बढ़ई तथा लुहार की स्थिति खराब कर दी है वैसे ही आकाचित तथा तांबे और पीतल के बरतनों के प्रयोग ने बेचारे कुम्हार को बहुत कुछ बेकार कर दिया है। कच्चे चमड़े के मूल्य में सारे संसार में वृद्धि हो जाने से, जिसे भारत बहुत बड़ी मात्रा में विदेश भेजता है, तथा कमाये हुए चमड़े के अधिक आयात के कारण गाँव के चमार को भी भयंकर आघात सहना पड़ा है। गाँव में मिट्टी के तेल का अधिक प्रयोग होने से, तिलहन के विदेश भेजे जाने से तथा नगरों में तेल पेरने के उद्योग का आरम्भ हो जाने से गाँव के तेली की भी हालत बिगड़ गई है। जहाँ कहीं भी गाँव के उद्योगों में मन्दी आई है या उन्हें आघात पहुँचा है, वहाँ शिल्पियों की या तो गाँव में ही मजदूरी करने की, अन्यथा नगरों में अधिक अच्छी जीविका की खोज में चले जाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। सामान्यतः शिल्पकारों ने अपने पैतृक व्यवसाय को तो तभी छोड़ा जब परिस्थितियों ने उन्हें विवश कर दिया पर कुछ के विषय में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने भावी विनाश का पहले ही आभास पा लिया और दुर्दशा को प्राप्त होने से पहले ही अपने व्यवसाय को त्याग दिया।

उन शिल्पकारों के सम्बन्ध में जो अपने आनुवंशिक शिल्प को आज भी चला रहे हैं, यह कहा जा सकता है कि उनकी स्थिति में सिवाय इसके और कोई परिवर्तन नहीं हुआ कि उन्होंने अपने व्यवसाय को उत्पादन की वर्तमान परिवर्तित परिस्थिति के थोड़ा-बहुत अनुकूल बना लिया है। उदाहरण के लिए जुलाहे अब अधिकतर मशीन के कते सूत का ही प्रयोग करने लगे हैं और मद्रास में तो वे यान्त्रिक टरकी (फ्लाई शटिल) का भी प्रयोग करते हैं। लुहार अब टीन और लोहे की बनी-बनाई चद्दरें मँगाता है, बढ़ई नवीन ढंग के औज़ारों का तथा दर्ज़ी सीने की मशीनों का प्रयोग करता है।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि गाँव के सभी शिल्पकार समान रूप से प्रभावित नहीं हुए हैं। जो बड़े-बड़े गाँवों में केन्द्रित हो गए अथवा नगरों में चले गए उन्होंने अपनी दशा सुधार ली। नगर की इञ्जीनियरी कर्मशालाओं तथा उपस्कारादि बनाने के उद्योगों में इनकी बहुत आवश्यकता रही है। उन लोगों को जो न तो गाँव ही छोड़ सकते थे और न कोई अन्य मार्ग ही अपना सकते थे, सब-कुछ सहना पड़ा और विवश होकर खेतिहर मज़दूर बनना पड़ा।

गाँव के शिल्प-उद्योग के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि ग्राम-उद्योग[3] अवनति पर है। बड़ी संख्या में शिल्पी मज़दूरी करने लगे हैं। बहुत कम ऐसे थे जिन्होंने नगरों में जाकर अपना भविष्य बना लिया। कुछ किसानी करने लगे और वे जिन्हें अपने आनुवंशिक व्यवसाय को ही करना पड़ा, बड़ी दुर्दशा में हैं और अकाल आदि विपत्तियों में वे

१. सम्पूर्ण भारत में २,८५१,६८५ हाथ-करघे हैं और एक करोड़ से अधिक व्यक्ति इस उद्योग में लगे हुए हैं।—इण्डिया ऐट ए ग्लान्स, पृ० १२३५।

२. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट देखिए, पैरा २५६ और एम०सी० मैथसन 'इण्डियन इण्डस्ट्री', परिशिष्ट ४।

३. विशेष विवरण के लिए गाडगिल देखिए, पूर्व उद्धृत, अध्याय १२।

ही सबसे पहले सार्वजनिक सहायता-कार्यों से लाभान्वित होने के लिए दौड़ते हैं।

२६. परिष्ठा और रीति-रिवाज़ से प्रतियोगिता और संविदा में संक्रान्ति—सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं वाले पिछले अध्याय में हमने इस विषय का विवेचन किया है कि जाति तथा सम्मिलित परिवार-संस्था द्वारा नियमित परिष्ठा (सामाजिक स्थिति) किस सीमा तक आज भी अपना महत्त्व रखती है और यह भी बताया है कि भारतीय समाज संक्रान्ति-काल से गुज़र रहा है। वह धीरे-धीरे अपना नया स्वरूप धारण कर रहा है। उदाहरण के लिए मूल्य, लगान और मज़दूरी नियमित करने वाले रिवाज़ों का स्थान विशेषरूप से नगरों में प्रतियोगिता लेती जा रही है। पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार, द्रव्य पर आधारित अर्थ-व्यवस्था का आरम्भ तथा उसका उत्तरोत्तर प्रसार और संचार-साधनों का विकास आदि कारण प्राचीन रिवाज़ों को शिथिल कर रहे हैं और प्रतियोगिता सब जगह प्रबल शक्ति होती जा रही है। यह ठीक है कि सबसे अधिक सभ्य समाज में भी प्रतियोगिता का ज़ोर रिवाज़ों के कारण थोड़ा-बहुत घट ही जाता है फिर भी हम यह कह सकते हैं कि यूरोप में यदि रिवाज़ों का पूर्णरूप से अभाव नहीं है तो कम-से-कम इसका प्रभाव नगण्य ही है। हाँ, भारत में अवश्य ही इसका प्रभाव बहुत है पर यह ध्यान रखना चाहिए कि सामान्य प्रवृत्ति रिवाज़ों का स्थान प्रतियोगिता को देने की ओर और धीरे-धीरे वातावरण को पाश्चात्य ढंग के अनुरूप बनाने की ओर है।

(१) प्रतियोगिता और लगान—जनसंख्या की वृद्धि, खेती द्वारा जीविकोपार्जन करने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, पटसन, रुई, गेहूं, तिलहन आदि व्यापारिक फ़सलों के मूल्य में वृद्धि, भूमि के प्रति परम्परागत मोह, नकद लगान अदा करने की अनिवार्यता तथा देश में स्थापित सुख और शान्ति आदि कारणों ने लगान निर्धारण में प्रतियोगिता के प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ा दिया है। बंगाल, मद्रास उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश आदि में तो ज़मींदारों के मनमाना लगान लेने पर प्रतिबन्ध लगाने के विचार से, भूधारण-अधिनियम भी पास करने पड़े हैं ताकि किसान उन अधिकारों का उपभोग कर सकें, जो प्रचलित रिवाज़ के अनुसार उन्हें प्राप्त हो गए हैं और ज़मींदार स्वेच्छा से न तो लगान ही बढ़ा सकें और न उन्हें बेदख़ल ही कर सकें।

(२) प्रतियोगिता और मज़दूरी—आजकल भारत में, विशेषकर शहरों में, मज़दूरी रिवाज़ की अपेक्षा प्रतियोगिता से नियमित होती है, यद्यपि पश्चिमी यूरोपीय देशों की तुलना में यहाँ इसका प्रभाव बहुत कम है। माँग और सम्भरण की स्थिति बदलने से मज़दूरी में यहाँ उतनी शीघ्रता से परिवर्तन नहीं होते जितनी शीघ्रता से पश्चिमी देशों में होते हैं। अतएव यहाँ मज़दूरी का स्तर लगभग स्थिर-सा है। अब प्रतियोगिता गाँवों में भी मज़दूरी को प्रभावित करने लगी है। इसके मुख्य कारण शहरों में मज़दूरों की अधिक माँग,परिवहन के विकास के कारण श्रम की अधिक गतिशीलता तथा मज़दूरी नक़द देने के तरीक़े का आरम्भ है। गाँव के शिल्पियों को, विशेषकर लुहार, बढ़ई आदि को जिन्हें शहर में सरलता से काम मिल सकता है, रीति-रिवाज के अनुसार पारिश्रमिक देने की प्रथा कम होती जा रही है। खेतिहर श्रमिकों की मज़दूरी भी, विशेषकर उन स्थानों में जहाँ कृषि का अभाव है, प्रतियोगिता से ही प्रभावित होती है। शहरों में मज़दूरों

की नित बढ़ती हुई माँग के कारण प्रायः प्रतियोगिता-जनित मजदूरी ही पाई जाती है।

(३) प्रतियोगिता और क़ीमतें—गाँवों में क़ीमतों का निर्धारण उत्तरोत्तर माँग और सम्भरण से नियमित प्रतियोगिता के आधार पर हो रहा है। संचार की विकसित सुविधाओं के कारण देश के एक भाग में क़ीमतों के घटने-बढ़ने से दूसरे भागों में क़ीमतों पर तुरन्त प्रभाव पड़ता है। संसार के अन्य बाजारों से सम्पर्क हो जाने के कारण मूल्य-निर्धारण में प्रतियोगिता का महत्त्व बहुत काफी बढ़ गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ग्रामवासियों के अज्ञान और रूढ़िप्रियता के कारण गाँवों में क़ीमतों का परिवर्तन नगरों की अपेक्षा धीमा होना अनिवार्य है।

२७. उद्योगों में संक्रान्ति—पिछले अध्यायों में हमने अपने देश के ग्राम उद्योगों में परिवर्तन तथा उनके ह्रास और बढ़ते हुए ग्रामीणीकरण के कारणों का विवेचन किया है।

स्वर्गीय रानाडे के मतानुसार भारत की औद्योगिक स्थिति पिछली शताब्दी की आठवीं दशाब्दी के मध्य में अधोगति को पहुंच गई थी।[1] परन्तु उसके बाद से बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले उद्योगों का धीरे-धीरे पर निरन्तर विकास ही होता गया है। 'जो लोग भारत में औद्योगिक क्रान्ति देखने की आशा करते हैं उन्हें उसका उज्ज्वल पक्ष गाँव में देखने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। उन्हें तो उन औद्योगिक केन्द्रों की ओर देखना चाहिए जो इधर थोड़े दिनों में ही अस्तित्व में आये हैं और जहाँ पर उद्योगों का प्रबन्ध पूर्णरूप से अर्वाचीन ढंग पर किया जा रहा है। श्रमिकों को केन्द्रित तथा कुशल व्यवस्थापकों की देख-रेख में काम करते हुए देखने के लिए हमें बम्बई कानपुर और हुगली-तट पर जाना पड़ेगा। इन्हीं नगरों में कारखानों के बनवाने और बहुमूल्य मशीनों के खरीदने में स्वतन्त्रतापूर्वक पूँजी का व्यय किया गया है और यहीं के कारखानों को बहुमात्रा-उत्पादन की मितव्ययता का लाभ मिला है तथा यहीं उद्योगों के बड़े-बड़े भारतीय अधिष्ठाता बने और बढ़े हैं।'[2] चाय, काफी नील और पटसन आदि बागान-उद्योगों द्वारा ही सर्वप्रथम उद्योग के नये स्वरूप की स्थापना हुई।[3] ये उद्योग आज तक यूरोपीय मालिकों के ही हाथों में रहे हैं और हैं। यह बात विशेषकर १८३३ के चार्टर एक्ट (चार्टर अधिनियम) के अनुसार यूरोपवासियों के लिए भारत में निवास तथा व्यवसाय करने पर लगाये हुए प्रतिबन्धों को हटा लेने के कारण हुई। इसका दूसरा कारण वेस्ट इन्डीज़ में दास-प्रथा का अन्त भी था जिससे वहाँ के बागान-मालिकों को सस्ते मजदूर मिलने बन्द हो गए।[4] इंगलैंड के व्यापारियों को भी यह समझते देर

---

१. १८७०-५ में दशा जितनी खराब हो सकती थी हो गई थी। उसके बाद से परिस्थिति ने पलटा खाया है और भारत में पुनर्जीवन के चिह्न दिखाई पड़े हैं जिसे हम भारत के पूर्णरूप से कृषि-आधारित देश होने की स्थिति से किसी सीमा तक औद्योगिक तथा व्यापारिक देश की स्थिति की ओर अग्रसर होने के लिए बढ़ाया हुआ पहला कदम समझते हैं। पूर्व उद्धृत, पृ० ११६।

२. मॉरीसन, पूर्व उद्धृत, १७०-१।

३. विभिन्न रोपण उद्योगों के विस्तृत वर्णन के लिए, देखिए, डी० एच० बुचानन, 'द डेवलपमेन्ट ऑफ़ द केपिटलिस्ट एन्टरप्राइज़ इन इण्डिया, अध्याय ३ और ४।

४. देखिए, नोल्स, पूर्व उद्धृत, पृ० ३०६।

न लगी कि यहाँ हर प्रकार के कच्चे माल के प्राचुर्य होने से यहाँ के बड़े-बड़े बाजारों में अर्वाचीन ढंग की मशीनों द्वारा निर्माण करने वालों के लिए कितना विस्तृत क्षेत्र है। लार्ड डलहौजी को भावी घटनाओं की गतिविधि का पहले ही कुछ आभास हो गया था। उनका पूर्वानुमान सही सिद्ध हुआ। पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में अंग्रेजी पूँजी और अंग्रेजी व्यवसाय ने भारत मे विशेष प्रगति दिखलाई।

यूरोपीय व्यापारियों के इस दृष्टान्त से, भारत के, विशेषकर बम्बई के, व्यापारी-वर्ग को प्रोत्साहन मिला। बम्बई को इस मामले में भारत के अन्य भागों का पथ-प्रदर्शन करने का श्रेय प्राप्त है और उसने भारत की औद्योगिक राजधानी के रूप में अपना स्थान बना लिया है। यद्यपि बहुमात्रा-उत्पादन उद्योगों की प्रगति बहुत धीमी रही है फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि ग्रामीणीकरण की प्रवृत्ति को जिसे रानाडे ने चिन्त्य बताया था, इसने किसी हद तक रोका है।

पिछली शताब्दी के मध्य के करीब भारत में फैक्ट्री उद्योगों के आरम्भ से इस देश में औद्योगिक क्रान्ति का प्रथम अवस्थान शुरू हुआ। इसके पश्चात् भारत के वर्तमान दो सबसे बड़े उद्योगों की बम्बई और बंगाल में स्थापना हुई। सूती कपड़ा-उद्योग आरम्भ से ही भारतीय पूँजी और व्यवस्था द्वारा संचालित रहा है पर पटसन उद्योग में अंग्रेजी पूँजी और व्यवस्था का प्राधान्य रहा है। औद्योगिक क्रान्ति विस्तार पाकर खान खोदने के उद्योग में पहुंची फिर धीरे-धीरे अन्य उद्योगों की ओर बढ़ी जैसे मनवा निकालना, रुई दबाना तथा कोयला, मेंगनीज़, सोना, अभ्रक और लोहे की खानें खोदना, इस्पात तैयार करना, धान छाँटना, दालें तैयार करना और तेल पेरना आदि। आरम्भ में तो प्रगति बहुत धीमी थी और देश के थोड़े से नगरों तक ही सीमित थी, पर पिछली दशाब्दी के अन्त मे देश के कोने-कोने में फैक्ट्रियाँ खुलने लगीं। वर्तमान सदी की प्रथम शताब्दी में स्वदेशी आन्दोलन के कारण जो उत्साह फैला उसके फलस्वरूप अनेक खनिज पदार्थ निकालने वाले और अन्य विविध प्रकार के उद्योगों की वृद्धि हुई। बाद के वर्षों में छोटी-छोटी मशीनों और इंजनों का प्रयोग भारत में खूब बढ़ा, सर्वत्र यान्त्रिक उपकरणों के प्रयोग करने की लोगों में प्रवृत्ति दिखलाई पड़ी।[1] सन् १९१४-१८ के युद्ध से भारतीय निर्माण उद्योगों को अस्थायी प्रोत्साहन मिला, विशेषकर पटसन, इस्पात, लोहे, चमड़े और सूती कपड़े के उद्योगों को। 'विभेदात्मक संरक्षण नीति' के कारण बड़े पैमाने पर माल तैयार करने वाले उद्योगों का हाल में जो विस्तार हुआ है उसकी चर्चा हम भारत की तटकर-नीति के अध्ययन के अन्तर्गत करेंगे।

भारतीय उद्योगों के इस परिवर्तन की दो विषादकारी बातों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात तो यह कि इस आन्दोलन की गति बहुत धीमी और असमान रही है और दूसरी यह कि इस आन्दोलन का संचालन विदेशी पूँजी द्वारा हुआ जिसके कारण भारतीय उद्योगों में विदेशी पूँजी ने महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया और भारत की नवसर्जित सम्पदा का बहुत बड़ा भाग आत्मसात् कर लिया। विदेशी पूँजी और साहसोद्यम के इस आक्रमण ने औद्योगिक विकास को गति दी, पर प्रायः इसने देश

१. ऐतिहासिक वर्णन के लिए गैडगिल देखिए, पूर्व उद्धृत, अध्याय ४, ६ और ८।

के बहुत से ऐसे साधनों का, जो स्वाभाविक विकास की प्रकिया के अधीन नहीं, समय के पहले ही प्रयोग किया और निहित स्वार्थों का एक ऐसा वर्ग तैयार कर दिया जो बहुधा राजनीतिक और आर्थिक मामलों में देश के राष्ट्रीय दृष्टिकोण का कट्टर विरोध करता रहा। हमारे देश के औद्योगिक विकास की मन्द और असमान गति के मुख्य कारण हैं: भारतीय पूँजी की अपर्याप्तता तथा उसके उपयोग में संकोच (जिसके कारण अधिकतर पूँजी ब्याज पर उधार देने, भूमि खरीदने अथवा वाणिज्य में लगाने ही तक सीमित रही), बैंकिंग-सुविधा की कमी, कोयले आदि प्राकृतिक साधनों का असमान वितरण, देश में उनकी जानकारी का अभाव तथा अपेक्षाकृत अविकसित स्थिति, प्राविधिक शिक्षा की कमी, कुशल और श्रमिकों की सापेक्षिक अक्षमता, कुशल श्रमिकों और उद्योग निर्देशकों का अभाव, लोहा और इस्पात जैसे मूल उद्योगों की अविकसित दशा, सरकार की उदासीनता और उद्योगों के विकास के लिए सरकार की ओर से विशेष प्रयत्न का अभाव आदि हैं। संरक्षण और आयोजना की वर्तमान नीति औद्योगिक विकास के प्रति उदासीनता की अंग्रेजी नीति से कहीं भिन्न है और यह निश्चय ही एक स्तुत्य परिवर्तन है।

२८. औद्योगिक उन्नति की दो कसौटियाँ—भारत में औद्योगिक विकास तथा आर्थिक क्रान्ति किस हद तक हुई है इसकी परख दो बातों से की जा सकती है। पहली, विदेश-व्यापार के आँकड़े और दूसरी, नगरों का विकास।

१. हम भारत के विदेशी-व्यापार के अन्तर्गत कारखानों में निर्मित वस्तुओं के आयात और निर्यात-अनुपात के आँकड़ों की सबसे पहले परीक्षा करेंगे। मॉरीसन के कथनानुसार "देश की सम्पत्ति और जनसंख्या की वृद्धि के साथ-ही-साथ आयात तथा निर्यात में भी बहुत वृद्धि हुई, परन्तु निर्मित वस्तुओं का निर्यात कच्चे माल के निर्यात से कहीं अधिक बढ़ा है। यह तथ्य स्थानीय उद्योगों के विकास को परिलक्षित करता है।" इस कथन से यह सिद्ध होता है कि देश में सामान तैयार करने के लिए कच्चा माल बड़ी मात्रा में मँगाया जाता रहा है। रानाडे ने भी संकेत किया है कि सन् १८७९ और १८९२ के बीच निर्मित माल का निर्यात १६ करोड़ ४२ लाख रुपये के मूल्य तक पहुँच गया था अर्थात् २११% की वृद्धि हो गई थी। कच्चे माल का निर्यात ५९ करोड़ ६ लाख रुपये से बढ़कर ८५ करोड़ ६ लाख रुपये तक अर्थात् ४३% बढ़ गया था। निर्मित माल का आयात २५ करोड़ ९० लाख रुपये से बढ़कर ३६ करोड़ २० लाख रुपये अर्थात् ३९% अधिक हो गया, और कच्चे माल का आयात तो लगभग दूना होकर १३ करोड़ ७५ लाख से २६ करोड़ ३८ लाख रुपया अर्थात् ९१% बढ़ गया। इन आँकड़ों के आधार पर रानाडे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि एक प्रतिकूल आन्दोलन देश के व्यवसायों का विनाश करने और धीरे-धीरे जीविका के मार्गों को अवरुद्ध करने के लिए बड़ी सफलता से आरम्भ हो गया है।[१] इसी प्रकार के विश्लेषण द्वारा १८९२ से १९०७ के आँकड़ों के आधार पर प्रो० काले ने यह दिखाया है कि "निर्मित माल का आयात इस काल में ९३ प्रतिशत और कच्चे माल का १२७ प्रतिशत बढ़ गया,

१. पूर्व उद्धृत, पृ० १११।

जब कि निर्मित माल का निर्यात १३६ प्रतिशत और कच्चे माल का केवल ५७ प्रतिशत बढ़ा। निर्मित माल के आयात का कुल आयात से अनुपात जो १८७६ में ६५% और १८६२ में ५७% था, १६०७ में ५३% रह गया, और उसी प्रकार निर्मित माल के निर्यात का अनुपात जो १८७६ में कुल ८%, और १८६२ में १६ प्रतिशत था, १६०७ में बढ़कर २२% हो गया।[1] यहाँ यह बता देना उचित होगा कि १६१४-१८ के महा-युद्ध से जो प्रोत्साहन मिला उसके कारण १६१६ में यह अनुपात बढकर ३६% हो गया। सन् १६३६-४५ के दूसरे महासमर ने भी इसी प्रकार निर्मित माल के निर्यात को प्रोत्साहित किया।[2]

इन आँकड़ों की सचाई पर कुछ समीक्षकों ने आक्षेप किया है। उदाहरणार्थ लार्ड केन्स का मत है कि 'निर्मित माल के आयात-सम्बन्धी आँकड़े जो सरकारी पदाधि-कारियों द्वारा दिये गए हैं, कम मूल्य के है और उन पर आधारित निष्कर्ष असत्य है,' क्योंकि इस मद में यन्त्रों, धातुओं और धातुओं की बनी वस्तुओं आदि के आयात के आँकड़े सम्मिलित नहीं किये गए हैं। इसी प्रकार कच्चे माल के आयात की वृद्धि के आँकड़े भी भ्रामक हैं। जहाँ तक निर्यात से सम्बन्ध है, अर्ध-निर्मित वस्तुएँ जैसे सूत और कमाया हुआ चमड़ा आदि निर्मित माल में सम्मिलित कर दिये गए हैं। और इस प्रकार निर्यात के बढ़े हुए आँकड़े दिखाये गए हैं जिससे उद्योगों की उन्नति और उनके विकास की गति का एक अतिरंजित चित्र हमारे सामने आता है। इस विषय पर हम फिर भारत के विदेश-व्यापार की विशेषताओं वाले अध्याय में विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि व्यापार के आँकड़े यह सिद्ध करते हैं कि भारत की औद्योगिक प्रगति पर सन्देह नहीं किया जा सकता और समय के साथ-साथ उसका विकास हो रहा है। यहाँ तक कि डॉ० गिल्बर्ट स्लेटर जैसे विद्वान् भारत के वर्तमान औद्योगिक विकास की गति से आशंकित है कि उसकी तीव्रता के कारण कहीं देश का आर्थिक और सामाजिक सन्तुलन न बिगड़ जाय और वर्तमान औद्योगीकरण की हानियों से बचने के लिए जो उपाय किये जा रहे हैं वे सब निष्फल न हो जायँ। पर इस विचार से प्रायः लोग असहमत हैं, क्योंकि अधिकतर लोग और अधिक वेग से औद्योगीकरण चाहते हैं। आज भी भारत का तीन-चौथाई आयात निर्मित वस्तुओं का ही है और अनाज सहित कच्चे माल का कुल निर्यात से अनुपात लगभग उतना ही बना हुआ है।[3]

२. अब हम दूसरी कसौटी अर्थात् नगरों के विकास पर विचार करेंगे।[4]

नगरों की संख्या का कम होना और कुल जनसंख्या के हिसाब से नगण्य

---

१. देखिए, पी० पी० पिले, इकनामिक कण्डीशन्स इन इण्डिया, पृ० ३१।

२. सन् १६५१-५२ में भारत के कुल निर्यात का मूल्य ७०१, ५७, ३४,००० रु० था और आयात का मूल्य ८६०, १४,०३,००० रु० था। आयात किये हुए सामान में कच्ची कपास, कच्ची ऊन, रेशमी सूत, सूती सूत, कच्चा जूट का कुल मूल्य २२०.६६ लाख रुपया था। पूर्णतः प्रधानतः निर्मित वस्तुओं के निर्यात का मूल्य २३,४०,३३ लाख रुपया था। देखिए, स्टेटिस्टिकल एक्सट्रैक्ट, इण्डिया १६५१-५२ पृ० ७२६, ७३७ तथा इण्डिया १६५४, पृ० २३०-२३३.

३. खण्ड २, अध्याय ६।

४. देखिए, गैडगिल, पूर्व उद्धृत, अध्याय १०।

अनुपात में लोगों का नगरों में रहना औद्योगिक दृष्टि से देश के पिछड़े होने का द्योतक समझा जा सकता है। बहुत काल तक नगर-निवासियों का कुल जनसंख्या से अनुपात ज्यों-का-त्यों ही बना रहा है। इसके विपरीत इंगलैण्ड में नये उद्योगों के विकास के साथ ही नगर-निवासियों का अनुपात बड़ी तेजी से बढ़ा था। इंगलैण्ड में जनसंख्या का ७८% भाग नगरों में रहता है। इस दृष्टिकोण से भारतवर्ष में नागरिक जनसंख्या का अनुपात अभी बहुत कम है।

२१. नगरों के विकास को प्रभावित करने वाली आधुनिक शक्तियाँ—अब हम उन विभिन्न शक्तियों का विवेचन करेंगे जो वर्तमान भारत में नगरों के विकास में सहायक हैं।

(१) रेल-यात्रा और नौ-यात्रा की सुविधाओं के कारण बहुत व्यापारिक केन्द्र स्थापित हो गए हैं और अनेक पुराने केन्द्रों की महत्ता बढ़ गई है। वास्तव में अंग्रेजी राज्य के प्रभाव से शुरू में ही बहुत से व्यापारिक केन्द्रों का विकास हो गया था और हम उन्हें भारत के नगरों के विधाता की उपाधि दे सकते हैं। बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, दिल्ली, हुबली और बंगलौर नये व्यापारिक केन्द्रों के उदाहरण हैं।

(२) पाश्चात्य देशों में नये उद्योगों के विकास का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ था कि जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा बड़े-बड़े नगरों में जा बसा; भारत में ऐसा नहीं हुआ। देश के बड़े-बड़े उद्योगों ने ग्रामों को नगरों में और नगरों को बड़े-बड़े शहरों में परिवर्तित कर दिया है। सूती कपड़ों के कारखानों वाले शहर बम्बई, अहमदाबाद, शोलापुर और हुबली आदि और ऊन तथा चमड़े के कारखानों से युक्त कानपुर नये औद्योगिक युग की देन हैं और उनका विस्तार तथा महत्ता बहुत-कुछ अंशों में उनके अपने प्रधान उद्योग के ही कारण है। टाटा के लोहे और इस्पात उद्योग के विस्तार के कारण सन् १९११ के बाद से जमशेदपुर का जिस वेग से विकास हुआ है वह भारत की औद्योगिक सिद्धि की एक रम्याद्भुत कहानी है। नगरों की वृद्धि में औद्योगिक उन्नति का भारत में इतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि पाश्चात्य देशों में पड़ा था। यह इस बात से स्पष्ट है कि भारत में (सन् १९५१ में) एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले ७३ नगरों में कम-से-कम २८ ऐसे थे जिनकी महत्ता उनकी व्यापारिक और औद्योगिक विशेषता पर नहीं वरन् किसी अन्य कारण पर आधारित है। १९११ की जनगणना के इस तथ्य से भी कि इन नगरों में केवल ३० प्रतिशत लोग औद्योगिक कार्यों में लगे थे, इस मत की पुष्टि होती है।[१]

(३) अकाल भी उन कारणों में से एक है जिससे गाँव के लोग गाँव छोड़कर नगरों को चले जाते हैं। ऐसा होने पर यह सम्भव है कि किसी नगर में आये हुए लोगों में से कुछ काम पाकर नगर में ही बस जायँ यद्यपि अधिकांश वर्षा आरम्भ होते ही अपने गाँवों को वापस चले जाते हैं।

(४) अकाल, पुराने किसान भू-स्वामियों की बेदखली तथा शिल्पकारों के साधारण मजदूरों में बदल जाने के कारण गाँवों में भूमिहीन श्रमिकों का एक नया वर्ग बन

१. सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का १७.३ नगरों में रहता है। सन् १९२१, १९३१ और १९४१ में यह प्रतिशत ११.२, १२.१ तथा १३.९ था।—इण्डिया १९५४, पृ० १५

गया है। इस प्रकार के लोग यदि काम पाना सम्भव हो तो तुरन्त नगरों में जाने के लिए तत्पर रहते हैं, इसलिए नगर की जनसंख्या बढ़ाने में इस वर्ग का अस्तित्व भी एक कारण रहा है।

(५) नागरिक जीवन के आकर्षण ने धनी ज़मींदारों और अन्य पैसे वालों को शहरों में बस जाने का प्रलोभन दिया है। स्वाभाविक है कि इसके कारण अपनी भूमि से अनुपस्थित रहने वाले ज़मींदारों की संख्या बढ़ गई है।

(६) प्रशासकीय केन्द्रीयकरण ने गाँव के मुक़ाबले ताल्लुका-नगर की और उसके मुकाबले ज़िले के सदर मुकाम की महत्ता बढ़ा दी है। डिवीज़न के सदर मुकाम तथा प्रान्तीय एवं केन्द्रीय राजधानियों का महत्त्व भी बहुत बढ़ा है।

(७) माध्यमिक और उच्च शिक्षा की सुविधाएँ बड़े-बड़े नगरों तक ही सीमित हैं, इसलिए माता-पिता बच्चे को शिक्षा देने के लिए नगरों में ही बस जाते हैं।

३०. नगरों के ह्रास के कारण—बढ़ते हुए नागरकरण के साथ-ही-साथ प्राचीन नगरों के उजड़ने की भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इसके कारण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं—

(१) प्रादेशिक महत्ता के परिवर्तन और व्यापार-मार्ग बदल जाने के कारण, बहुत से ऐसे नगरों का ह्रास हो गया है जिनकी समृद्धि सड़कों और नदियों द्वारा यात्रा की सुविधा पर निर्भर थी। इनका महत्त्व रेल की लाइनों के खुल जाने से बहुत कम हो गया है। गंगा के किनारे बसा हुआ मिर्ज़ापुर तथा पटना, सागर आदि नगर इसके उदाहरण हैं। इञ्जीनियर ऐसी युक्ति ढूँढ निकालने में सदैव सफल नहीं हो सकते कि रेल की लाइन प्राचीन नगरों से ही होकर जाय। फलतः उससे दूर पड़ जाने से नगरों का महत्त्व घटता चला जाता है।

(२) नगर से राज-परिवारों के विलुप्त होने और यूरोपीय प्रतियोगिता के फल-स्वरूप नागरिक दस्तकारियों के विनष्ट हो जाने से तञ्जौर और मुर्शिदाबाद जैसे नगरों की जनसंख्या में बहुत बड़ी कमी आ गई है, यहाँ तक कि यात्रियों की ओर से नगर के प्राचीन उद्योगों की वस्तुओं की माँग कम हो जाने के कारण गया और बनारस जैसे तीर्थ-स्थानों की महत्ता और जनसंख्या में भी कमी होती जा रही है।

(३) प्लेग और हैज़े जैसी बीमारियों के समय-समय पर फैलने पर नगर विशाल शवालयों का रूप धारण कर लेते हैं और लोगों को गाँव की खुली बस्ती में भाग जाने के लिए बाध्य करते हैं। यह परिवर्तन प्रायः अस्थायी होता है और नगरों में स्वास्थ्य की सामान्य परिस्थितियाँ स्थापित हो जाने पर गाँवों में गये हुए लोग पुनः वापस आ जाते हैं।

नगरों की विकास और ह्रास की दोनों परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अब तक दोनों पलड़ों में बिलकुल बराबर वज़न रहा है, फर इधर नागरकरण की प्रवृत्ति का पलड़ा कुछ भारी हो चला है। औद्योगिक क्रान्ति के कारण इंगलैण्ड में जो स्थिति पैदा हुई थी उसमें और इस स्थिति में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। वहाँ दक्षिण में बसे हुए नगरों का ह्रास बहुत तेज़ी से

हो गया, पर उत्तरी भाग में बड़ी जनसंख्या वाले नगर-केन्द्रों का विकास भी इतने वेग से हुआ कि इस दृष्टि से उन्हें किसी तरह का घाटा नहीं होने पाया।

३१. स्थानीय अर्थ-व्यवस्था से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में आकस्मिक संक्रान्ति—जिस विकास को हमने, 'आर्थिक संक्रान्ति' शीर्षक के अन्तर्गत स्पष्ट किया है उसे प्रो० वाडिया और जोशी ने, 'स्थानीय अर्थ-व्यवस्था से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में आकस्मिक संक्रान्ति' कहा है।[1] इसका अभिप्राय स्पष्टतः यह है कि भारतीय गाँव एकाएक ही बाह्य संसार से सम्बन्धित हो गए। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आन्तरिक व्यापार की अपेक्षा बहुत अधिक तेजी से विकास हुआ और चूँकि यह विकास अनियन्त्रित और अनियमित ढंग से हुआ अतः इसके फलस्वरूप देश के आर्थिक जीवन का एकांगी विकास हुआ और कुल मिलाकर इसका अहितकर प्रभाव पड़ा। उद्योग की अपेक्षा कृषि की ओर अधिक झुकाव हो गया। यह घटना यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा पिछड़े हुए अफ्रीका और एशिया महाद्वीपों के शोषण की व्यापक योजना का ही एक अंग थी और इसकी अनुमति देश में देश की सरकार ने सच्चे राष्ट्रीय हित की उपेक्षा की। यदि इस घटना को कोई छोटा-सा अभिव्यंजक शीर्षक देने की आवश्यकता समझी गई है तो हमारे मत में सम्भवतः 'आत्मनिर्भरता में अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में आकस्मिक संक्रान्ति' नाम अधिक उपयुक्त होगा। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था से यह ध्वनि निकलती है मानो राष्ट्रीय इच्छाओं के ऊपर कोई अन्तर्राष्ट्रीय इच्छा है जो अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में अभिव्यक्ति पाती है। पर अभी तो ऐसी किसी अन्तर्राष्ट्रीय इच्छा का अस्तित्व है नहीं, और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध मानवता के आदर्शों के आधार पर नियमित नहीं होते हैं, वरन् प्रत्येक राष्ट्र की अपनी-अपनी इच्छानुसार निश्चित होते हैं।[2] राष्ट्र आज भी एक आर्थिक इकाई है और हम अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का नाम भी उस समय तक नहीं ले सकते जब तक कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं हो जाता।[3] वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में कोई भी राष्ट्र स्वेच्छा से त्याग करने को तत्पर रहेगा न कि अन्य राष्ट्रों की धूर्तता अथवा पाशविक बल के डर से। और यह त्याग भी न्याय्य समझा जावेगा जब कि अन्ततः उससे केवल संसार के राष्ट्रों का ही हित-साधन न हो वरन् त्याग करने वाले राष्ट्र का भी हित-सिद्धि हो।

३२. क्या औद्योगीकरण भारत के लिए वांछनीय है?—भारत में औद्योगीकरण का आरम्भ बड़ी सफलता से हो गया है, और यद्यपि साधारणतः लोग इसकी तीव्रतर गति के पक्षपाती हैं तथापि ऐसे लोग भी मिलेंगे जो यह मानकर कि इसका परिणाम देश के लिए अहितकर और अशुभ होगा, अगर उनका वश चले तो इस आन्दोलन को समूल नष्ट करने में भी संकोच न करेंगे। औद्योगीकरण का विरोध अंशतः तो ऐसे लोगों द्वारा है जो मशीनों को एक भयावह वस्तु समझते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि इनसे मानव-जीवन और मानव-कार्य अधोगति को प्राप्त होते हैं तथा उसके परिणामस्वरूप

१. वेल्थ ऑफ इण्डिया, पृ० ८५८-६०।
२. जे. ग्रेजल, 'इकनामिक प्रोटेक्शनिज्म', पृ० ३-४।
३. सेलिगमैन, 'प्रिंसिपल ऑफ इकनामिक्स', पृ० ८१-२।

दोनों ही अप्रिय और यन्त्र-संचालित हो जाते हैं। वे प्राचीन साधारण ढंग के उद्योग की कामना करते हैं जिसमें हवा और धूप की कमी न होगी, हाथ-पैर फैलाने के लिए अधिक जगह होगी और अधिक स्वतन्त्रता होगी जो इस मशीन-युग में किसी तरह सम्भव नहीं है। उनके मन में उस आदर्श-सरल आर्थिक जीवन की ऐसी धुँधली काव्योचित कल्पना है जो वास्तविकता और यथार्थता से बहुत दूर है। हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि ये स्वप्न कही भी और कभी भी पूर्ण नही हुए हैं। इसके विपरीत हम यह भी जानते हैं कि शारीरिक श्रम अत्यन्त मन्द, निर्मम और निर्दयतापूर्ण हो सकता है और यह भी जानते हैं कि मनुष्य ने प्रकृति पर एक के बाद एक विजय प्राप्त करते हुए इस पृथ्वी को अधिक सुखकारी और मनचाहा स्थान बना लिया है तथा अपनी आर्थिक स्थिति सुधार ली है। वास्तव मे मानव और पशु-श्रम के स्थान पर मशीनों के प्रयोग का अर्थ भी मूलतः यही है।

कुछ लोग यह तो मानते हैं कि मानव और पशु-श्रम को मशीनों के सहयोग की आवश्यकता है, परन्तु एक विशेष सीमा तक ही, और वे मनुष्य के प्रकृति-विजय के प्रयत्नो को भी एक सीमा से आगे नही बढ़ने देना चाहते। उदाहरण के लिए वे हवा से चलने वाली मिल, पानी से चलने वाली मिल, लकड़ी के साधारण हल, अथवा सूत कातने के चर्खे तक ही यन्त्रों के प्रयोग में बढ़ सकते हैं, आगे नहीं। उनके पास इस प्रश्न का कोई सन्तोषप्रद उत्तर नही है कि प्रकृति पर मानव-विजय की इस प्रारम्भिक स्थिति को पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयत्न क्यों न किया जाय।

इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक यन्त्रों के प्रयोग और बहुमात्रा-उत्पादन का परिणाम बहुत भयानक हो सकता है जैसे नगरों में जनसंख्या का बाहुल्य होना, और शक्तिशालियों द्वारा निर्बलों का शोषण तथा बहुत बड़ी संख्या में मज़दूरों का बेहद भद्दे और अस्वास्थ्यकर वातावरण में अशान्तिपूर्ण, संकुचित और दुःखद जीवन बिताने के लिए बाध्य होना आदि। पर यह सही नहीं कि इन बुराइयों से बचने का एकमात्र उपाय आधुनिक ढंग से बहुमात्रा-उत्पादन के विचार को तिलाजंलि देना ही है। पाश्चात्य देशों के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि राज्य की ओर से यदि समुचित कार्यवाही की जाय और आवश्यक कानून बनाए जायँ तो ये बुराइयाँ अवश्य कम हो जायँगी। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि यद्यपि पाश्चात्य देशों में भी लोग वर्तमान आर्थिक व्यवस्था से बहुत अधिक असन्तुष्ट हैं पर किसी थोड़े-बहुत प्रभावशाली व्यक्ति ने भी मशीनों के खत्म किये जाने का कभी सुझाव नहीं रखा। उनका असंतोष उस ढंग के प्रति है जो उत्पादित संपत्ति के वितरण में अपनाया जाता है, न कि मशीनों द्वारा उत्पादन के ढंगों के प्रति।

निस्सन्देह हमें सावधान रहने की आवश्यकता है कि कहीं हम जीवन के भौतिक पक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व न दे बैठें। पर यह तो भारत जैसे निर्धन देश के लिए स्पष्टतः आवश्यक है कि देश की प्रति व्यक्ति सम्पत्ति बढ़ाई जाय और उसके लाखों-करोड़ों वासियों को जीते रहने-भर में जो कठिनाइयाँ और परेशानियाँ भुगतनी पड़ रही हैं उनसे उन्हें मुक्त किया जाय ताकि उनके लिए भी अधिक सुखी जीवन की

सम्भावना हो सके।[1] आधुनिक ढंग के उत्पादन-साधनों के प्रयोग के बिना यह सम्भव नहीं है। यह भी स्मरण रहे कि भारत यदि चाहे भी तो आज वह दूसरे देशों से अलग-थलग नहीं रह सकता और आधुनिक औद्योगिक प्रणाली के यन्त्रों के निर्माण द्वारा वह वैदेशिक प्रतियोगिता के आघातों को सहने में समर्थ हो सकता है। एफ०एस० मारविन ने मशीनों के प्रयोग के पक्ष में ठीक ही कहा है: "मशीन ऐसी चीज़ है जो प्रकृति से चुनौती लेने के लिए मनुष्य की शारीरिक शक्ति का विस्तार करती है, उसे इस योग्य बनाती है कि वह अपनी लम्बी और दक्ष उँगलियों में और सुदृढ़ मांस-पेशियों में बुद्धि की अधिकाधिक प्रेरणा कर सके। जो लोग इसका सिद्धान्ततः विरोध करते हैं, वे मानव जाति के विकास के विरोधी हैं। वे कोई ऐसी सीमा नहीं बाँध सकते जहाँ तक शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय और फिर आगे न बढ़ा जाय। क्या मानव-विकास को यन्त्र-संचालित हल तक या मिट्टी काटने की लकड़ी तक या पाषाण-युगीन मानव की मज़बूत कुल्हाड़ी तक सीमित रखना चाहिए? इनमें अगर कुछ अन्तर है तो शक्ति और पूर्णता के अवस्थान का। दरअसल, वास्तविक आपत्ति अन्य बातों के प्रति है—औद्योगिक नगर फैक्ट्री-प्रणाली और 'भृति-दासता' आदि के प्रति, पर ये तो सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं जो इच्छानुसार बदली जा सकती हैं और इनका प्रकृति पर हमारे शक्ति-विस्तार से कोई अविच्छेद्य सम्बन्ध नहीं है।"

भारत में औद्योगीकरण के विरोधी कभी-कभी दूसरा तर्क उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि भारत में उद्योगों का विकास कृषि को हानि पहुँचाकर ही सम्भव हो सकता है, जो कि देश का प्रमुख उद्योग है। इस मत की परीक्षा हम आगे चलकर उद्योगों वाले अध्याय में करेंगे। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि औद्योगिक विकास से कृषि के विकास में बाधा पहुँचने की तो कोई सम्भावना हो ही नहीं सकती बल्कि उस पर बड़ा अनुकूल और लाभकारी प्रभाव पड़ेगा।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सवेग औद्योगीकरण की आवश्यकता और वांछनीयता में सर्वसाधारण की इतनी प्रबल आस्था है कि जो लोग इसका विरोध करते हैं उनकी सफलता में केवल उतनी ही आशा की जा सकती है जितनी श्रीमती पार्टिंगटन के असमान प्रतिद्वन्द्वी अटलाण्टिक महासागर के साथ संघर्ष करने में।

---

१. भारत की भौतिक उन्नति के विशेष महत्त्वपूर्ण विचार के लिए डार्लिङ्ग कृत रस्टिकस लॉक्विटर, पृष्ठ ३७४, देखिए।

अध्याय ६

कृषि : उत्पादन और निर्यात

१. भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का स्थान—भारतवर्ष के आर्थिक जीवन की सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करने वाली विशेषता यहाँ के निवासियों का बहुत बड़ी संख्या में अन्य व्यवसायों की अपेक्षा कृषि-कार्य में संलग्न रहना है। देश की विशाल जन-संख्या के प्रति चार व्यक्तियों में से तीन की जीविका खेती से ही चलती है। देश में जिस-जिस और जितने अनाज की खपत है लगभग सभी अपने यहाँ खेती से ही प्राप्त होता है और फैक्ट्रियों में काम आने वाले कच्चे माल, जैसे रुई, पटसन और तिलहन आदि भी सब खेती से ही उपलब्ध होते हैं। फिर भी कृषि की वर्तमान स्थिति के अध्ययन से हम डॉ० क्लाउस्टन के निम्नलिखित निराशामूलक शब्दों से सहमत हुए बिना नहीं रह सकते : "भारत में दलित जातियाँ हैं और उन्ही के समान दलित उद्योग भी हैं; दुर्भाग्य से कृषि-उद्योग भी उन्हीं में से एक है।"[1] हम चाहे जिस मानक से देखें, किसानों के खेतों का विस्तार और स्थिति, उनके प्रयोग में आने वाले औज़ार और खाद, फसलों के हेर-फेर की पद्धति, बीजों का प्रकार, सिचाई की सुविधाओं और अन्य भूमि-सुधारों के सम्बन्ध में उनकी स्थिति, विपणन-व्यवस्था, पशुपालन-व्यवस्था, गाँवों के सहायक उद्योग-धन्धे इत्यादि, सभी दृष्टिकोणों से हमें यह कहना पड़ेगा कि हमारा कृषि-उद्योग पिछड़ी दशा में है। यह बात प्रति एकड़ उपज से सिद्ध होती है जो कि अधिक-से-अधिक अन्य देशों की उपज की एक चौथाई है और वह भी अनावृष्टि और अकाल में तो नगण्य-सी रह जाती है।[2]

२. कृषि-विकास की आवश्यकता—अनेक दृष्टिकोणों से कृषि का विकास परमावश्यक है। इससे सर्वसाधारण के आर्थिक जीवन में विकास और उसके रहन-सहन के स्तर में उन्नति होगी, देश की जनसंख्या के लिए पर्याप्त अनाज की प्राप्ति होगी। कृषि की उन्नति की अन्य उद्योगों पर प्रतिक्रिया भी कम महत्त्व की बात न होगी। गाँव की जनता की क्रय-शक्ति का बढ़ना देश की बनी हुई वस्तुओं की खपत के लिए एक बहुत ही अच्छा साधन होगी। कृषि में सुधार होने में यह बात तो निश्चित रूप से निहित ही है कि कृषि में मशीनों का विशेष प्रयोग होगा और इसके फलस्वरूप कृषि-सम्बन्धी और औज़ारों के निर्माण के लिए बहुत-से कारखाने स्थापित हो जायँगे।[3]

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, साक्ष्य-अभिलेख, खण्ड १, भारत सरकार के अधिकारियों की साक्षी।

२. वही, पृष्ठ १४।

३. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट देखिए, पृष्ठ २२।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कृषि-विकास का पक्ष लेने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि भारत के भाग्य में सदैव एकान्ततः खेतिहर देश बना रहना ही लिखा है। हमारे मत से तो भारत की स्थिति ऐसी है कि वह एक समृद्ध निर्माण-उद्योग तथा समुन्नत कृषि, दोनों से सम्पन्न देश हो सकता है। इसके अतिरिक्त हमें यह स्मरण रखना आवश्यक है कि बिना औद्योगिक समस्याओं का ध्यान रखे हमारी कृषि-सम्बन्धी समस्याएँ अलग से नहीं सुलझाई जा सकतीं। यहाँ इंगलैण्ड के औद्योगिक क्रान्ति के दृष्टान्त की ओर ध्यान आकृष्ट करना अप्रासंगिक न होगा जहाँ कृषि तथा कारखाने वाले उद्योग दोनों में साथ-ही-साथ परिवर्तन हुआ था; एक उद्योग की उन्नति दूसरे की उन्नति का कारण बनी थी। आवश्यकता से अधिक संख्या में लोगों के खेती पर निर्भर रहने तथा गाँवों में बसने की वर्तमान असन्तोषजनक स्थिति केवल कृषि की उन्नति से दूर नहीं की जा सकती। कृषि के साथ-साथ अन्य उद्योगों की उन्नति भी परमावश्यक है, जिससे कि जीविका के लिए एकान्ततः भूमि पर निर्भर रहने वालों की संख्या में कुछ कमी आ जाय और नगरों तथा कारखानों से खेती में प्रयुक्त होने के लिए पूँजी निरन्तर मिलती रहे।

वर्तमान भारतीय जागृति कृषि के प्रति संसारव्यापी दिलचस्पी का ही एक अवस्थान माना जा सकता है। १९१४-१८ के महायुद्ध से यह स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा है। कदाचित् महायुद्ध के पहले कृषि-उद्योग की परम महत्ता को लोग भूल गए थे, पर युद्ध-काल के अनुभव ने कच्चे माल और खाद्यान्न के लिए बाह्य देशों पर निर्भर रहने के भयानक परिणामों को प्रत्यक्ष करके इस उदासीनता का अन्त कर दिया। दूसरे महायुद्ध ने कृषि-उत्पादन के क्षेत्र में अधिक-से-अधिक आत्मनिर्भरता प्राप्त कर लेने की आवश्यकता को पूर्णतः सिद्ध कर दिया। बंगाल के दुर्भिक्ष ने १९४३ में भोजन-सामग्री की कमी पूरी तरह पर बड़ी कष्टमय प्रक्रिया से स्पष्ट कर दी थी। कृषि-उद्योग पुनः प्रधान उद्योग के गौरव-पद पर आसीन है और प्रत्येक देश में उसकी पुनर्स्थापना और विकास के विषय में विचार-विमर्श हो रहा है। इंगलैण्ड, जिसे हम कारखानों वाले उद्योग का प्राचीनतम देश कह सकते हैं, वह भी इससे अलग नहीं है।

३. भारत में विभिन्न फसलों के क्षेत्रफल-सम्बन्धी आँकड़े—

तालिका १

१९४९-५० (अंक हज़ार एकड़ों में)

१. सर्वेक्षण के अनुसार	८१०,८०९ [1]
२. गाँवों के कागजादि के अनुसार	६१४,६१० [2]
३. वन	९३,१४३
४. कृषि के लिए अप्राप्य	९६,०२४

१. इन आंकड़ों में २५०० हज़ार एकड़ भूमि सम्मिलित है जिसके सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं है तथा पाकिस्तान के अधीन जम्मू-काश्मीर का भाग छोड़ दिया गया है।

२. मनीपुर तथा अण्डमान-निकोबार द्वीपों की क्रमशः ५,५२२ हज़ार और २०५८ हज़ार एकड़ भूमि भी सम्मिलित है।

५. खेती न की जाने वाली अन्य भूमि (जिसमें बंजर सम्मिलित नहीं है)	९८,४००
६. बंजर	५८,१७१
७. बोया गया क्षेत्र	२६६,३७२
८. ऊपर ५ के अन्तर्गत कृषि-योग्य भूमि	११,५५४

१९५०–५१ (हजार एकड़ों में)[1]

खाद्यान्न के क्षेत्र—

चावल	७५,९७५	रागी	५,४४४
गेहूँ	२४,१३४	मक्का	७,७९४
जौ	७,७०१	चना	१८,७०९
ज्वार	३८,४१९	अन्य अन्न और दालें[2]	....
बाजरा	२२,२६७	कुल खाद्यान्न और दाल	२४४,७७६[3]

फल, शाक तथा जड़ वाली अन्य फसलें[2] ....

तिलहन के क्षेत्र

अलसी (तीसी)	३,४४७
तिल	५,६२९
सरसों तथा एक अन्य प्रकार का तिल (रेप)	५,०९७
अन्य तिलहन[2]	....

रेशे वाली फसलों का क्षेत्र

कपास	१४,५५६	जूट	१,४५४
रेशेवाली अन्य फसलें[2]	....	रेशेवाली फसलों का कुल क्षेत्र[4]	....

खाद्य-फसलों के अतिरिक्त अन्य फसलें

नील[2]	....
अफीम[2]	....
कहवा	२२४
चाय	७७७
चारे की किसमें[2]	....

अन्य[2]

कुल बोया हुआ क्षेत्र (एक बार से अधिक बोये जाने वाले क्षेत्रफल सम्मिलित हैं)	३०१,८८६[5]

---

१. ये तालिकाएँ १९५४ में प्रकाशित स्टेटिस्टीकल एब्स्ट्रेक्ट, १९५१-५२ से तैयार की गई हैं।
२. इनके आँकड़े १९४९-५० के हैं तथा भूमि-उपयोग आँकड़ों से सम्बन्धित हैं।
३. १९४९-५० से सम्बन्धित 'अन्य खाद्यान्न और दालों के आँकड़े' इसमें सम्मिलित हैं।
४. १९४९-५० से सम्बन्धित आँकड़ों के सम्मिलित होने के कारण नहीं दिये गए।
५. यह क्षेत्रफल १९४९-५० का है।

४. प्रमुख फसलों की अनुमानित उपज तथा क्षेत्रफल—

तालिका २

(संख्या हजारों में)

	क्षेत्रफल (एकड़ों में)	उत्पादन (टनों में)
चावल	७६,६४६	२७,०७९
ज्वार	४२,९९०	७,६९१
बाजरा	२८,८२०	४,२४६
गेहूँ	२६,०९८	७,७९२
चना	१८,८९३	४,५५१
गन्ना	३,५९८	४,६१४[1]
कपास (३९२ पौं० की गाँठों में)	१७,०२७	३,९३५
जूट (४०० पौं० की गाँठों में)	१,१९६	३,१२८
अलसी	३,३६९	३५५
सरसों	५,३७३	८२६
तिल	६,१३२	५३१
अरण्डी (रेंडी)	१,३६८	१०७
मूँगफली	११,३५६	३,७७२[2]

तालिका ३

१९४९-५० (हजार एकड़ों में)

राज्य	गाँव के कागजात के अनुसार क्षेत्रफल	वह क्षेत्रफल जिस पर खेती की जाती है		वह क्षेत्रफल जिस पर खेती नहीं की जाती		वन
		बोया हुआ क्षेत्र	वर्तमान बंजर	खेती के लिए अप्राप्य क्षेत्र	बंजर को छोड़कर खेती न किये जाने वाले अन्य क्षेत्र	
आसाम	३३,४००[3]	५,५७०	१,७३९	४,२४८	१९,९४६	४,०६२
बिहार	४४,७९०	२२,८४८	४,७३७	३,७४७	५,५७४	७,८८४
बम्बई	७०,२१२[3]	४१,०८२	७,०४२	८,४७३	२,०९८	९,९१४
मध्य प्रदेश	८३,१०४	२८,४५६	४,९१९	५,८१७	२०,२६७	२३,६४५
मद्रास	८०,७५७	३१,३०८	९,७१६	१४,६४७	११,२७२	१३,८१४
उड़ीसा	१८,२६४	६,३५९	१,१६९	४,७३६	३,४९८	२,५०२
पंजाब	२३,२०८	११,९४८	१,८८०	६,०३४	२,५८७	७५९
उत्तर प्रदेश	७२,२२४	३९,७६९	२,५६२	११,८३४	१०,२४०	७,८१९
पश्चिमी बंगाल	१९,५४९	११,७२०	१,१५९	३,०४६	१,९११	१,७१३
मध्य भारत	२७,६२५	१०,७५२	१,१०९	६,२१५	६,६६९	२,८८०
मैसूर	१७,३८५	६,४५६	१,८०७	५,७०५	१,४६०	१,९५७
अजमेर	१,५६१	३६९	२४७	५९५	३०३	४७
कुर्ग	१,०१२	१७०	३५	२५०	२२६	३३१
दिल्ली	३६६	२२५	११	८०	५०	....[3]

१. उत्पादन गुड़ का है।

२. यह उत्पादन छिलके सहित मूँगफली का है।

३. आसाम के आँकड़ों में ८,३५,००० एकड़ भूमि और बम्बई के आँकड़ों में, बनसकण्ठा जिले की

४. विस्तृत और घनी खेती की सम्भावनाएँ—कुल भूमि का (जंगलों को सम्मिलित करने पर) ३१ प्रतिशत[1] कृषि के लिए अप्राप्य है। कुल भूमि का केवल ५२.५ प्रतिशत भाग जोता-बोया जाता है। यदि सारी परती भूमि और अन्य खेती के अयोग्य भूमि को सम्मिलित कर लिया जाय तो कुल भूमि के लगभग २६ प्रतिशत हिस्से में खेती का विस्तार सम्भव है। भिन्न-भिन्न राज्यों में कितनी भूमि खेती के प्रसार के लिए प्राप्त हो सकती है यह तालिका नं० ३ से ज्ञात हो सकता है। इस तालिका में दिखाया गया है कि १९४९-५० में प्रमुख राज्यों में कितनी भूमि में खेती हो रही थी और कितनी में नहीं।

देखने से पता लगता है कि खेती के विस्तार के लिए विशेषकर आसाम, मद्रास और मध्यप्रदेश में बहुत गुंजायश है। परन्तु अध्ययन करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भारत मे विस्तृत ढंग की खेती के बढ़ाने की बहुत कम आशा है। बंगाल मद्रास, उत्तरप्रदेश और बम्बई जैसे प्राचीन प्रदेशों में कृषि करने में कम-से-कम कठिनाई का मार्ग अपनाया गया है; और सभी अच्छी भूमि पर खेती हो रही है। जो ख़राब भूमि है उसे तोड़ना बाकी है। ऐसी भूमि पर जब तक सिंचाई की पर्याप्ति सुविधाएँ नहीं प्राप्त होती खेती सम्भव नही हो सकती। ऐसी ही परिस्थिति पंजाब, मध्यप्रदेश, आसाम जैसे नये राज्यों में भी धीरे-धीरे पैदा होती जा रही है, जहाँ पर यद्यपि सारी अच्छी भूमि खेती के अन्तर्गत अभी नही आ पाई है फिर भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना है। पंजाब में खेती के विस्तार के लिए पहले सिंचाई के साधनों की उन्नति करना अनिवार्य है। यद्यपि बम्बई और मध्यप्रदेश आदि राज्यों की अपेक्षा वहाँ सिंचाई सुगम है, फिर भी वहाँ की आर्थिक और भौतिक परिसीमाएँ नगण्य नही हैं। भूगर्भ-शास्त्रीय सर्वेक्षण के आधार पर यह पता लगाने की कोशिश की जा रही है कि जल विद्युत के विकास की सम्भावनाएँ कहाँ तक हैं। आसाम में वहाँ की अस्वास्थ्यकर जलवायु के अतिरिक्त उपयुक्त श्रम की अप्राप्यता कृषि की उन्नति में एक बड़ी बाधा है। इसलिए जहाँ खेती योग्य बहुत-सी बेकार भूमि पडी भी है, उसका कभी उपयोग किया जा सकेगा इसकी आशा भी बहुत अधिक नहीं है। इस अनुच्छेद के अन्त में दिये हुए आँकड़े भी इस निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं। इन आँकड़ों से पता चलता है कि पिछले वर्षों में भारत के ब्रिटिश-अधीन भाग में बोये हुए खेतों के क्षेत्र में वृद्धि बड़ी मन्द गति से हुई है। कभी-कभी तो इस क्षेत्र में कमी भी हुई है।

कृषि की समस्याओं का घनी खेती में अधिक आशाजनक समाधान दिखाई पड़ता है। घनी खेती की सफलता सिद्ध करने के लिए जापान का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ ५६,०००,००० लोगों का १७,०००,००० एकड़ भूमि की खेती पर भरण-पोषण हो रहा है जिसका अर्थ है कि प्रति व्यक्ति के हिस्से १/३ एकड़ खेती की भूमि पड़ती है जबकि भारत में प्रति व्यक्ति के हिस्से ५/६ एकड़ भूमि आती है।[2] यद्यपि भारत में खेती

१६,०३,००० एकड़ भूमि भी सम्मिलित है, जिनके विषय में विशेष जानकारी नहीं है। दिल्ली का वन-क्षेत्र ५०० एकड़ से भी कम है।

१ यह तथा अन्य आँकड़े कामर्स, एनुअल नम्बर १९५४ से लिये गए हैं। —अनुवादक

२. देखिए, एम० विश्वेश्वरय्या, 'रिकन्स्ट्रक्टिंग इण्डिया', पृ० १७४।

पर निर्भर रहने वालों की बहुत बड़ी संख्या के कारण और खेतों के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे होने के कारण, विस्तृत खेती का ढंग बहुत ही अनुपयुक्त हैं फिर भी यहाँ अभी तक आधुनिक वैज्ञानिक ढंग पर घनी खेती का गम्भीरतापूर्वक आरम्भ नही हुआ है। डॉ० डब्ल्यू० बर्न्स ने अपनी टिप्पणी 'भारत में कृषि के औद्योगिक विकास की सम्भावनाएँ' (टेक्नोलॉजिकल पॉसीबिलिटीज़ ऑफ़ एग्रीकल्चरल डैवेलपमैण्ट इन इण्डिया) मे इस दिशा में विकास की सम्भावनाओ पर प्रकाश डाला है।

वर्ष	बोये हुए खेतों का वास्तविक क्षेत्रफल (दस लाख एकड़ की संख्या में)	
१८९२-९३	१९५.९१	बर्मा को मिलाकर
१९०१-२	१९९.७१	
१९१०-११	२२३.०६	
१९२१-२२	२२३.१८	
१९२७-२८	२२३.८६	
१९३०-३१	२२९.१२	
१९३२-३३	२२८.०८	
१९३३-३४	२३२.२५	
१९३४-३५	२२६.९८	
१९३५-३६	२०९.७१	बर्मा को छोड़कर
१९३७-३८	२१३.४९	
१९३८-३९	२०९.४०	
१९४०-४१	२१३.९६	
१९४२-४३	२१५.९३	
१९४३-४४[1]	२४६.२८	
१९४४-४५	२४५.६६	
१९४५-४६	२४१.९१	
१९४६-४७	२४२.७७	
१९४७-४८	२४५.५०	
१९४८-४९	२४८.९६	
१९४९-५०	२६६.३७	

६. फसलों की सापेक्षिक महत्ता—भारत में कृषि-उत्पादन में अनाज की फसलों का स्थान सर्वोपरि है। 'यहाँ के लोग अधिकतर शाकाहारी है। रेशे और बीज निर्यात की सबसे प्रमुख चीजें हैं। भारतीय किसान प्रधानतः अनाज की फसलों का उत्पादक है। उसके चौपाये खेती तथा परिवार के भरण-पोषण में सहायक होते हैं। मांस, ऊन और डेरी-उत्पाद देश से बाहर नही भेजे जाते।'[2] विभिन्न फ़सलों के अलग-अलग क्षेत्रों को देखा जाय तो कृषि-उत्पाद के स्वरूप की विविधता का पता लग जाता है जिसके कारण देश प्रायः खाद्यान्न के सम्भरण तथा अनेक प्रकार के कच्चे माल के लिए

१. १९४३-४४ से १९४९-५० तक के आंकड़े स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रैक्ट, इण्डिया, १९५१-५२, पृ० ५०६ से लिये गए हैं।

२. ए० हॉवर्ड, 'क्राप प्रोडक्शन', पृ० ६१।

आत्म-निर्भर है। विभिन्न फसलो के सापेक्षिक महत्त्व का आभास भी इससे मिल जाता है। अनाज की खेती सबसे अधिक होती है। ७९ ९८७ प्रतिशत कृषि-भूमि अनाज उपजाने मे और बाकी २०·०१३ प्रतिशत अन्य फसले उपजाने के काम आती है। ससार-भर में मूल्यो के बढ जाने पर अनाज की फसलो की अपेक्षा तिलहन, रुई और पटसन की फसलो मे अधिक भूमि का उपयोग करने की प्रवृत्ति देखी गई है। अनाज की फसलो में धान का स्थान सबसे पहला है। गेहूँ, ज्वार, बाजरा और चने का स्थान इसके बाद है। अनाज के अतिरिक्त अन्य फसलों मे रेशे वाली फसले जैसे रुई, पटसन आदि महत्त्वपूर्ण वर्ग मे आती है और कुल कृषि-भूमि के ७ ७ प्रतिशत हिस्से मे ये ही फसले उगाई जाती है। अनाज के अतिरिक्त जो फसले होती है उनमे एक और समान महत्त्व का वर्ग तिलहन का है और ६ ७५ प्रतिशत कृषि-भूमि मे इस वर्ग की फसलें बोई जाती है।[1]

७. भारत की प्रमुख फसलों का सर्वेक्षण[2]—(क) अनाज की फसलें[3] (१) चावल— चावल भारत की प्रमुख फसल है। यह देश के अधिकाश लोगो के भोजन का प्रधान अग है। इसकी खेती कुल कृषि-भूमि के ३२ प्रतिशत[4] हिस्से मे होती है। यह फसल उपजाने वाले खेतो का क्षेत्रफल ब्रिटिश भारत मे ६८८·५ लाख लाख एकड[5] भूमि था। सन् १९४०-४१ मे इसकी उपज २ करोड २० लाख टन थी। १९४३-४४ के आँकडे थे ७ करोड ६ लाख एकड भूमि और २ करोड ९० लाख टन उत्पादन।

१· इस सम्बन्ध में आधुनिक आकडे इस प्रकार है

६७·३ प्रतिशत अन्न की फसलें।

५·३ प्रतिशत रेशे वाली फसलें।

०·१ प्रतिशत, तिलहन। —इण्डिया एट ए ग्लान्स (१९५३), पृ० ५६१।

२. इस सर्वेक्षण के लिए निम्न पुस्तको से सहायता ली गई है—

(i) एग्रिकल्चर एण्ड एनीमल हसबेण्डरी इन इण्डिया (वार्षिक)।

(ii) एस्टीमेट्स आफ एरिया एण्ड यील्ड ऑफ द प्रिन्सिपल क्राप्स इन इण्डिया (वार्षिक)।

(iii) द क्राप एटलस ऑफ इण्डिया।

(iv) काटन, 'हैण्डबुक ऑफ़ कमर्शियल इन्फर्मेशन फॉर इण्डिया', तीसरा सस्करण (१९३७)।

(v) हॉवर्ड, (पूर्व उद्धृत)।

(vi) कृषि आयोग रिपोर्ट (१९२८)।

(vii) रिव्यू ऑफ द ट्रेड ऑफ इण्डिया, (वार्षिक)।

(viii) इण्डियन फाइनेन्स, ईस्टर्न ग्रुप नम्बर (१९४०), पृ० १८४-९७।

३ अनाज की फसलें अनेक खाद्य सामग्री बनाने वाले उद्योगों का आधार हैं। जैसे, आटा पीसने की मिलें, परिष्करणी, नानबाई की दुकान, मिठाइयाँ, नाश्ते का सामान तैयार करने वाली दुकानें, तरकारियों और फलों को डिब्बों में बन्द करने वाले, सुखाने वाले, उनका माल्ट बनाने वाले तथा माल्ट्युक्त सामान बनाने वाले, तरह-तरह के विटामिन और प्रोटीन निकालने वाले कारखाने तथा बिनौलों से घी तैयार करने वाले कारखाने आदि। अनाज का प्रयोग स्पिरिट और पॉवर अलकोहल तैयार करने में भी किया जाता है।

४. अब २६ प्रतिशत—इण्डिया एट ए ग्लान्स (१९५३), पृ० ५६१।

५. यह क्षेत्रफल १९५०-५१ में ७,५६,७५,००० एकड़ था।—स्टेटिस्टिकिल एब्स्ट्रैक्ट, इण्डिया, १९५१-५२, पृ० ५१४।

बर्मा के भारत से अलग करने से पहले भारत की चावल की उपज सारे संसार की उपज के अनुपात में ४० प्रतिशत थी और संसार में सबसे अधिक चावल का निर्यात भी यहीं से होता था; यद्यपि उसका औसत निर्यात उसकी कुल उपज के ७ अथवा ८ प्रतिशत से अधिक कभी नहीं हुआ। बर्मा के अलग हो जाने के बाद भारत का चावल का निर्यात नगण्य हो गया। (१९३९-४० में कुल उपज का केवल १ प्रतिशत था।) और अब केवल लंका, अरब और अफ्रीका के उन प्रदेशों को ही भेजा जाता है जहाँ की आबादी विशेष रूप से भारतीयों की ही है। चावल की उपज इतनी अधिक मात्रा में होने पर भी काफ़ी चावल विदेशों से, जिनमें बर्मा मुख्य है, मँगाया जाता है। इस प्रकार. १९३९-४० में भारत ने २,६२,००० टन चावल बाहर भेजा और १८,८७,००० टन बाहर से मँगाया।[1]

संसार-व्यापी आर्थिक मन्दी के कारण आरम्भ से ही भारतीय चावल की माँग में कमी आ गई। इस क्षति की थोड़ी-बहुत पूर्ति इसलिए हो गई कि इंगलैण्ड में भारतीय चावल को अधिमान्यता दी जाती रही। १९३९-४० में ब्रिटेन द्वारा केवल ७००० टन चावल खरीदा गया। १९४१ के अन्त तक भारत में चावल का आयात स्याम (थाइलैण्ड), फ्रान्सीसी हिन्दचीन और जापान से बहुत अधिक बढ़ गया। यह चावलों की टूटन थी और प्रायः मद्रास में उतरती थी। यह धान कूटने की मिलों का एक प्रकार का उप-उत्पाद था और इसने चावल के स्थानीय मूल्य को बहुत घटा दिया। अप्रैल १९३५ में भारतीय चावल पैदा करने वालों के सहायतार्थ टूटे चावलों पर बारह आना प्रतिमन का संरक्षण-कर लगा दिया गया और वह तब से लागू है। इस कर के कारण चावल के आयात पर विशेषकर थाइलैण्ड से, एक प्रकार की रोक लग गई और इसके कारण धीरे-धीरे आयात में कमी होने लगी। १९३४-३५ के २,८३,००० टन के आयात की तुलना में सन् १९३६-३७ में चावल का आयात घटकर केवल १८,००० टन रह गया। सन् १९३९-४० में धान का आयात बर्मा से ४३,००० टन, हिन्दचीन से २,६२,००० टन और थाईलैण्ड से ३४,००० टन हो गया। जुलाई १९४३ से चावल का निर्यात बन्द हो गया। भारत के अंग्रेज़ी शासनाधीन भाग से १९४३-४४ में (विशेष रूप से १९४३ के अप्रैल से जुलाई तक के चार महीनों में) चावल का निर्यात २७,००० टन था जब कि पिछले वर्ष के निर्यात के आँकड़े २,५५,००० टन के थे। इसमें से सबसे बड़ा भाग लंका का था जिसने २६,००० टन चावल का निर्यात किया था।

धान की खेती भारत के बहुत भागों में होती है, नम और तर भागों में विशेष रूप से। निम्न तालिका में यह दिखाया गया है कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में कितने लाख एकड़ भूमि में चावल पैदा किया जाता था।[2]

---

१. सन् १९४५ से निर्यात लगभग बन्द हो गया और भारत चावल का आयात करने वाला देश रह गया। सन् १९४८ से चावल का औसत आयात ५ लाख टन प्रतिवर्ष था।—इण्डिया एट ए ग्लान्स, पृ० ५६३।

२. इस सम्बन्ध में हाल के आँकड़े इस प्रकार हैं

राज्य	१९४०-४१	१९४३-४
बंगाल	२१·९९	२६·६१
बिहार	९·९५	९·९८
उड़ीसा	५·१४	५·११
मद्रास	९·८५	१०·९२
उत्तर प्रदेश	७·२९	७·१०
मध्यप्रदेश	५·७६	५·८७
आसाम	५·४४	५·६३
बम्बई	१·६७	२·००

पूर्वी प्रदेशो के निवासियो का तो चावल मुख्य भोजन है। यह जाड़ों की फसल है, जो दिसम्बर और जनवरी मे काटी जाती है। भारत के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार का धान बोया जाता है। इसकी किस्मों की संख्या स्थानीय परिस्थितियों और लोगों की जानकारी पर निर्भर होती है। प्रदेशों के कृषि-विभाग इस फसल की जटिलता और विस्तार के ही कारण सम्भवतः पहले इसमें कोई उन्नति नहीं कर सके। पर इधर हाल में कृषि-गवेषणा की साम्राज्यिक[1] परिषद (इम्पीरियल काउन्सिल ऑफ एग्रिकल्चरल रिसर्च) के तत्त्वावधान में भी खोज हुई है, उसमे कुछ सफलता मिली है। यहां १९३४ की फसल-योजना सम्मेलन (क्रॉप-प्लानिंग कॉन्फ्रेंस) की सिफारशों के अनुसार चावल-सम्बन्धी खोज के लिए एक स्थायी समिति की नियुक्ति भी कर दी गई है।

युद्धकाल मे बर्मा की हार के कारण देश में चावल की स्थिति बहुत खराब हो गई और १९४२-४३ मे विशेष रूप से बंगाल में इसके परिणामस्वरूप अन्न-संकट हुआ। चावल के थोक मूल्य का सूचनांक (आधार १९ अगस्त १९३९ = १००) अप्रैल १९४३ में मार्च के सूचनांक ४९६ से बढ़कर ६३४ हो गया। अगले महीनों में मूल्य तेजी से बढ़े और उसके फलस्वरूप अगस्त के महीने का सूचनांक ९५०·३४ हो गया जो कि बंगाल के अन्न-संकट का सबसे अधिक कष्ट का समय था। किसी प्रान्त की स्थिति इतनी गम्भीर

१९५०-५१ (हजार एकड़ों में)

प० बंगाल	९,८०२
बिहार	[illegible]
उड़ीसा	[illegible]
मद्रास	९,८८१
उ० प्र०	६,५११
मध्य प्रदेश	६,९४७
आसाम	४,०४३
बम्बई	३,००१

—स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रैक्ट ऑफ इण्डिया, १९५१-५२, पृ० ६३४

1. अब यह 'साम्राज्यिक' न होकर 'भारतीय' है।

हो गई थी कि भारत सरकार को उत्तर-पूर्वी प्रदेश को स्वतन्त्र व्यापार-क्षेत्र घोषित करके अपनी नीति मे बहुत बडा परिवर्तन करना पडा। पर कुछ ही महीने बाद जुलाई १९४३ मे ही उन प्रान्तो के आपत्ति प्रकट करने पर, जिनको यहाँ मे अनाज मिलना कठिन हो गया था अथवा जहाँ अनाज का मूल्य बहुत ऊँचा हो गया था, सरकार को स्वतन्त्र व्यापार-नीनि को त्यागना पडा। इसके पश्चात् उत्तर-पूर्वी प्रदेश से आने वाले प्रान्तो मे पुन. मूल्य-नियन्त्रण लागू कर दिया गया।

भारत में चावल की खेती का क्षेत्र १९४२-४३ के ७ करोड ५२ लाख एकड से बढकर १९४३-४४ मे ८ करोड़ एकड हो गया, यानी लगभग ६ प्रतिशत की वृद्धि हुई।[1] यह वृद्धि 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन का परिणाम थी। १९४३-४४ मे चावल की उपज भी काफी बढ़ी। यह १९४२-४३ में २ करोड ४९ लाख टन थी और १९४३-४४ में बढकर ३ करोड ६ लाख टन हो गई, अर्थात् करीब २३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। उपज में यह बढोतरी बगाल में विशेष रूप मे हुई। १९४२-४३ में ७० लाख टन से १९४३-४४ में १ करोड १८ लाख टन, यानी लगभग ६८ प्रतिशत बढ गई। चावल के सम्भरण की स्थिति सुधरने और अक्तूबर १९४३ के बाद मूल्य घटने का कारण मुख्यत १९४३-४४ की बढी हुई उपज ही थी। आसाम और बिहार मे बाजार-भाव नियत्रित मूल्य से नीचे था। सामान्य सूचनाक १९४४ मार्च तक घटकर ३६४ हो गया था जब कि मार्च १९४३ मे वह ४९६ था, यह लगभग २७ प्रतिशत की कमी हुई। उत्तरी भारत मे चावल के भाव मे भारी अन्तर था, इसलिए कानून द्वारा अधिक-तम मूल्य निर्धारित नही किया जा सका। पर इस बात मे जल्दी ही सब लोग सहमत हो गये कि भाव निर्धारित करने के लिए समुचित स्तर क्या होना चाहिए। भावो के मूल्य-नियन्त्रण से पूर्व यह भी निश्चय हुआ कि प्रत्येक प्रान्त भाव घटाकर उसी स्तर पर ले आने का प्रयत्न करे। इस काल में चोर बाजारी की बडी धूम थी इसलिए सूचनाक, माँग और सम्भरण की वास्तविक स्थिति के विश्वसनीय द्योतक नही माने जा सकते।[2]

२. गेहूँ—कृषि-क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से चावल के बाद गेहूँ का स्थान है। खेती की कुल जमीन के लगभग ११% हिस्से में गेहूँ की खेती होती है। गेहूँ रबी की

---

१. १९५१-५२ में चावल की खेती का क्षेत्रफल ७५,१९५,००० एकड और उत्पादन २०,७६७,००० टन था—टाइम्स ऑफ इण्डिया डाइरेक्टरी एण्ड इयर बुक, १९५३।

२. भारत में चावल की माँग और सम्भरण का संतुलन इस समय तक नहीं हुआ है। सन् १९४८ से १९५२ तक चावल का निर्यात नही हुआ। खपत के लिहाज से देश का उत्पादन कम है। सदैव ही कुल उत्पादन के ८ या १० प्रतिशत की कमी पड़ती है। पिछले तीन वर्षों में चावल का आयात इस प्रकार था : १९५०—३.५ लाख टन, १९५१—[illegible] लाख टन, १९५२—७.२ लाख टन।

सन् १९५१-५२ में चावल की खेती के क्षेत्रफल और उत्पादन का उल्लेख हम पिछले फुटनोट में कर चुके हैं। चावल की खेती का क्षेत्र लगातार बढता रहा है। यह वृद्धि मुख्यतः मध्यप्रदेश और बम्बई में हुई है, परन्तु किसी भी क्षेत्र में चावल की प्रति एकड उपज में कोई वृद्धि नहीं हुई है। इस विषय के विशेषज्ञों का अनुमान है कि यद्यपि चावल की खेती का क्षेत्रफल बढता जा रहा है परन्तु प्रति एकड उपज कमी की ओर जा रही है। अब यह ३३.९ प्रतिशत है—इण्डिया एट ए ग्लान्स (१९५३), पृ० ५६४।

३. अब यह ११.९ प्रतिशत है।

फसल है जो अक्तूबर से दिसम्बर तक बोई जाती है और मार्च से मई तक काटी जाती है। यह पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के लोगों का मुख्य भोजन है। अन्य प्रदेशों में इसे विशेषकर बाहर भेजने के लिए ही बोते है। १९४०-४१ में गेहूँ की खेती ३,४८, ६०,०००[1] एकड़ भूमि में की गई थी। गेहूँ पैदा करने वाले मुख्य प्रदेश और उनकी उपज नीचे दी हुई सारिणी से ज्ञात हो सकती है[2]:

प्रदेश और रियासतें	उत्पत्ति (दस लाख टन मे)			
	१९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४
पंजाब	९·८८४	१०·००८	१०·४६३	९·९८९
उत्तरप्रदेश	७.९३५	७·८७३	७·५४६	७·६७२
मध्य प्रदेश और बरार	३·२२९	२·८५१	२·५४४	२·६६८
मध्य भारतीय रियासतें	२ २१२	१·८३५	२·०३९	१·९५४
बम्बई	१·७५२	१.५६४	१·३२९	१·५६२
बिहार	१·०९६	१·३००	१·२८०	१·२२१
ग्वालियर	१·५३३	१·३२९	१·३२८	१·३३४
हैदराबाद	१·०९०	१·१२५	०·९६५	०·६९६
पंजाब की रियासतें	१·५२२	१·६१६	१·७६८	१·६३५
राजपूताना की रियासतें	१·३४७	१·२२०	१·५३५	१·६६७

गेहूँ की फसल के अन्तर्गत कुल क्षेत्र का ⅓ और कुल उपज का ½ भाग सिर्फ उत्तर प्रदेश और पंजाब में मिलाकर होता है। संसार की गेहूँ की उपज का $\frac{1}{10}$ भाग भारत में पैदा होता है। १९१४-१८ के महायुद्ध के पहले गेहूँ का निर्यात करने वाले पाँच मुख्य देशों के नाम क्रम से ये थे: संयुक्तराष्ट्र, रूस, कनाडा, अरजेन्टाइन गणराज्य तथा भारत "उत्पादन के दृष्टिकोण से भारत का स्थान तीसरा है" (काटन)। उस युद्ध के समय भारत में गेहूँ के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्र सरकारी खरीद के कारण २८,४७०,००० एकड से बढ़कर ३४,८६०,००० एकड़ हो गया था। १८७० में स्वेज नहर के खुल जाने

१. यह क्षेत्रफल १९५१-५२ के अन्तिम अनुमान के अनुसार २३,२३५,००० एकड़ है।

२. इन क्षेत्रों का वर्तमान (१९५०-५१) उत्पादन का परिमाण नीचे (हजार टनों में) दिया गया है।

पंजाब	२,९६०
उत्तर प्रदेश	८,१९३
मध्य प्रदेश	२,६२३
मध्य भारत	१,९९१
बम्बई	२,०७५
बिहार	१,४५४
हैदराबाद	४४८
पैप्स	९३८
राजस्थान	१,३१०

के बाद से गेहूँ का निर्यात-व्यापार निरन्तर बढ़ता जा रहा है। निर्यात की मात्रा भारत तथा संसार के अन्य भागों में मौसम के परिवर्तन के आधार पर बदलती रहती है। अकाल के समय स्थानीय मूल्य इतना बढ़ा हुआ होता है कि निर्यात बहुत घट जाता है। १९१४-१८ के महायुद्ध के पहले के पाँच वर्ष का औसत निर्यात १,३०८,००० टन था जिसका मूल्य १३ करोड़ ९६ लाख रुपये था अर्थात् कुल गेहूँ की उपज का १४ प्रतिशत था। तब से और विशेष रूप से पिछले वर्षों में गेहूं का निर्यात बहुत घट गया है। कुछ वर्षों तक तो भारत संसार के बाजार में बहुत ही कम मात्रा में गेहूं भेज सका। १९३५-३६ में निर्यात की मात्रा ९६,००० टन थी जिसका मूल्य साढ़े नौ लाख रुपया था जबकि १९३१-३२ में २०,२०० टन थी जिसका मूल्य १५ लाख रुपया था। लड़ाई के बाद वाले पहले पाँच वर्षों यानी १९१८ से १९२३ तक के औसत निर्यात २३७,००० टन था जिसका मूल्य ३ करोड़ ७० लाख रुपये था। अन्य देशों की तुलना में भाव में किफायत होने के कारण १९३६-३७ में भारत से काफी गेहूँ बाहर भेजा गया। निर्यात की मात्रा २,३१,५०० टन थी जिसका मूल्य २ करोड़ साढ़े नौ लाख रुपया था। १९३७-३८ में इन्हीं कारणों से निर्यात बढ़कर ४६०,००० टन हो गया जिसका मूल्य ४ करोड़ ६२ लाख रुपया था। १९३८-३९ में स्थिति कुछ खराब हुई। अमेरिका और कनाडा में गेहूँ की अच्छी फसल होने से भारत के निर्यात में कमी आ गई और केवल २७९,००० टन गेहूँ जिसका मूल्य २ करोड़ ४८ लाख रुपया था बाहर भेजा गया। १९३९-४० में तो गेहूं का निर्यात और भी घट गया और उसकी मात्रा कुल ७,८०० टन रह गई जिसका मूल्य १० लाख रुपया था। निर्यात में इतनी भारी कमी का कारण था कि संसार के बाजारों में द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ से पहले मूल्य कम हो गए थे[1] तथा कनाडा और अर्जेन्टाइना आदि अन्य निर्यातक देश अधिक मात्रा में गेहूं भेजने लगे थे। भारत का निर्यात आस-पास के देशों तक ही सीमित था। केवल बर्मा ही ३५०० टन खरीदता था। आयातक और निर्यातक दोनों तरह के देशों में १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद (आर्थिक सहायता और आयात प्रतिबन्धों के सहारे) खेती का अलाभ-कर ढंग से विस्तार हुआ है और गेहूं सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का मूल भी यही है।

इतनी अधिक प्रतियोगिता और गिरे हुए मूल्यों के कारण भारत को इन दिनों अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से केवल अलग ही नही रहना पड़ा वरन् उसे अपने किसानों के हित के विचार से बाहर से आने वाले सस्ते गेहूँ और सस्ते आटे पर कर भी लगाना पड़ा। मार्च १९३१ में जो कर (गेहूं आयात शुल्क अधिनियम के अन्तर्गत) २ रु० प्रति हन्ड्रेडवेट था, वह अप्रैल १९३५ में घटाकर १ रु० ८ आ० और अप्रैल १९३६ से १ रु० कर दिया गया। क्योंकि भारतीय और आस्ट्रेलिया के गेहूं के मूल्य का अन्तर भी घट गया था। १९३६-३७ में गेहूं का आयात नही के बराबर था। इसकी मात्रा केवल १०० टन हो गई थी जबकि १९३३-३४ में १८,३०० टन थी। मूल्य के बढ़ जाने से

---

१. सन् १९४४-४५ में भारत से १५०० टन गेहूँ, जिसका मूल्य ३९६ हजार था, का निर्यात हुआ। उसके बाद सन् १९५१-५२ तक कोई निर्यात नहीं हुआ।

३१ मार्च १६३७ को आयात कर हटा दिये गए। किन्तु इसके बाद आयात किया हुआ गेहूँ भारत के प्रमुख बन्दरगाहों में बहुत सस्ते भाव पर पहुँचने लगा अतः जनवरी १६३६ के भारतीय (संशोधन) अधिनियम के अधीन गेहूँ की खेती करने वाले किसानों के हित को ध्यान में रखते हुए ३१ मार्च १६४० तक की थोड़ी अवधि के लिए गेहूँ अथवा गेहूँ के आटे पर १ रु० ८ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट आयात कर लगा दिया। बाद में यह कर ३१ मार्च १६४१ तक के लिए बढा दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत मे गेहूँ का आयात १६३८-३६ के १५६,०६२ टन से घटकर १६३६-४० में ८५,५०६ टन हो गया। देश में काम आने के लिए लगभग १ करोड़ टन गेहूँ बचता है और देश की आवश्यकता में इधर कोई विशेष परिवर्तन भी नही हुआ है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जनता को कष्ट से बचाने के लिए भारत को वर्तमान परिस्थिति मे गेहूँ तथा अन्य खाद्य सामग्री बाहर से मँगाने के लिए अलग से प्रयत्न करना आवश्यक हो गया है।[1]

परिवहन और सिंचाई के साधनों के विकास के कारण पंजाब के नये नहर उपनिवेशों को गेहूँ की खेती करने में बहुत प्रोत्साहन मिला है। किसी जमाने मे भारतीय गेहूँ गन्दा समझा जाता था। पर इसका कारण लापरवाही के साथ गेहूँ के दानों का भूसे से अलग करना या धरना-उठाना इतना नही था जितना कि अंग्रेज़ी अनाज व्यापार की परम्परा के अनुरूप उसमें मिलावट करना। १६४७ से इस ओर बहुत उन्नति हुई है। जबसे कृषि-विभाग ने १२ नं० पूसा गेहूँ का उपयोग शुरू कराया है उसकी किस्म सुधर गई है। संसार के बाजारों मे कनाडा और अमेरिका के गेहूँ के बराबर मूल्य प्राप्त करने के लिए इसकी क़िस्म और अधिक सुधारने की आवश्यकता है।[2]

३. जौ—यह विशेषकर उत्तर प्रदेश (४८,१२,००० एकड़), बिहार (६०५,००० एकड़) और पजाब (३६८,००० एकड़) में[3] उगाया जाता है। इसकी खपत विशेष रूप से देश में ही होती है, इसलिए बहुत कम बाहर भेजा जाता है। १६३६-४० में इसका निर्यात ५०० टन था जिसका मूल्य ७५ हज़ार रुपया था। यह मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं को भी खिलाया जाता है।

---

१. देश में गेहूँ की खपत अधिक होने के कारण उसका आयात आवश्यक है। चावल की खपत कम करने के लिए भी उसकी जगह गेहूँ और गेहूँ की वस्तुएँ ही प्रयुक्त की गई है। अनुमान है कि आगामी वर्षों में लगभग २० लाख टन गेहूँ बाहर से मँगाना आवश्यक हो जायगा। पिछले तीन वर्षों में गेहूँ का आयात निम्न था :

(लाख टनों में)

१६५०	१६५१	१६५२
१.४१	३.०२	२.५१

२. गेहूँ में सुधार करने के लिए भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् (इण्डियन काउन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च) सतत प्रयत्नशील है। रस्ट (बीमारी) से बची रहने वाली गेहूँ की कई किस्में भी निकाली गई हैं। गेहूँ में प्रोटीन तत्त्व बढ़ाने के लिए उचित प्रकार की खादों और उनके प्रयोग के समय के बारे में भी अनुसन्धान हुआ है।—अनुवादक

३. ये आँकड़े १६५०-५१ के हैं।

४. ज्वार और बाजरा—ज्वार और बाजरा मद्रास, बम्बई (दक्षिण) और हैदराबाद के आसपास के जिलों में जनता के आहार की मुख्य फसलें हैं। इनसे पशुओं के लिए चारा भी प्राप्त होता है। इनकी खेती में गेहूँ की खेती की तरह मेहनत की आवश्यकता नहीं है। इसके खेत में कदाचित् ही कभी खाद दी जाती हो। सारे भारतवर्ष में ३,८४,१९,००० एकड़* भूमि से ज्वार और २,२२,६७,००० एकड़ भूमि में बाजरे की खेती होती है। ज्वार पैदा करने वाले मुख्य क्षेत्र ये हैं : हैदराबाद (दक्षिण), जहाँ ७२,५२,००० एकड़, बम्बई जहाँ १,१२,८४,००० एकड़, मद्रास जहाँ ४५,३२,००० एकड़, मध्य प्रदेश जहाँ ४९,९९,००० एकड़ और उत्तर प्रदेश जहाँ २३,२६,००० एकड़ भूमि में इसकी खेती की जाती है। इसी प्रकार बाजरे की भी खेती विस्तृत क्षेत्र में होती है। बम्बई में ४९,७५,००० एकड़, पंजाब में २०,२०,००० एकड़, मद्रास में २१,२५,००० एकड़, उत्तर प्रदेश में २५,८२,००० एकड़, और हैदराबाद (दक्षिण) में १० लाख एकड़ भूमि में इसकी खेती होती है। ज्वार-बाजरा दोनों में से किसी का भी कोई विशेष निर्यात नहीं होता। १९२९-३० में १५००० टन ज्वार-बाजरा बाहर भेजा गया था जिसकी क़ीमत २५ लाख १३ हज़ार रुपया थी, और सन् १९३९-४० में इनका निर्यात केवल ७,००० टन ही रह गया जिसका मूल्य ७ लाख ४५ हज़ार रुपया था।

५. दालें—इनकी खेती समस्त भारत में होती है और ये लोगों के भोजन का मुख्य अंग हैं। इनकी खेती विशेष रूप से उत्तरप्रदेश, पंजाब, बम्बई, मध्यप्रदेश और बंगाल आदि राज्यों में होती है। चना भारत की मुख्य दाल है और १९५०-५१ में १,८७,०९,००० एकड़ भूमि पर इसकी खेती की गई थी। जिसमें से लगभग ६०,२८,००० एकड़ की खेती तो अकेले उत्तरप्रदेश में ही हुई थी, जो इसकी खेती का प्रमुख प्रदेश है। देश में ही इसकी बहुत बड़ी खपत होने के कारण दालें बाहर बहुत कम भेजी जाती हैं। १९३९-४० में ७३,००० टन दालें बाहर भेजी गई थीं जिनका मूल्य ९५ लाख रुपया था।[1]

६. अन्य खाद्य-फसलें—इनके अन्तर्गत फल, तरकारियाँ मसाले और अन्य अनेक प्रकार की खाद्य फसलें आती हैं। सन् १९४९-५० में भारत में ४,४३,३३,००० एकड़ भूमि में इनकी खेती की गई थी। फल और तरकारियों में ज़मीन के नीचे फलने वाली फसलें भी सम्मिलित हैं जिनकी खेती ५०,०३,००० एकड़ भूमि में होती है। भारत में अनेक प्रकार के फल जैसे आम, सेब, सन्तरे, बेर आदि पैदा होते हैं।

फलों की कमी के कारण मूल्य अधिक होने तथा लोगों की गरीबी की वजह से फल-उद्योग का कम विकास हुआ है। भारतवर्ष में अनेक प्रकार की तरकारियाँ पैदा

---

१. चने का निर्यात गत वर्षों में इस प्रकार रहा है :

	१९४४-४५	१९४५-४६	१९४६-४७	१९४७-४८	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२
मात्रा (टनों में)	२८६०	८४५९	—	—	—	२	—	—
मूल्य (हज़ार रु० में)	७८०	२०३२	—	—	—	१	—	—

की जाती है जैसे आलू, प्याज, बैंगन, गोभी, करमकल्ला, शलजम और टमाटर आदि। यदि सिंचाई की सुविधा मिल जाय तो फल और तरकारी के खेतों के क्षेत्र का विस्तार, विशेषकर बड़े-बड़े नगरों के आसपास की भूमि में, सम्भव हो सकता है। परिस्थितियों को देखते हुए हमें यह कहना पड़ेगा कि कृषि विभागों द्वारा हम फल और तरकारी के प्राचुर्य वाले नये युग के आरम्भ की जो आशा करते थे वह पूरी नहीं हो सकी है। व्यापारिक दृष्टिकोण से फल पैदा करने वालों के लिए बड़े-बड़े नगर ही बिक्री-केन्द्र हैं, परन्तु परिवहन-साधनों के अभाव के कारण इस माँग का लाभ उठाना उनके लिए असम्भव है। इस उद्योग के समुचित विकास के लिए परिवहन-साधनों, फलों के तोड़ने और उनके पैक करने की विशेष कुशलता और शीत-भण्डारण (cold storage) की सुविधा आदि में सुधार आदि साधारण आवश्यकता की बातें है।[1] सन् १९४९-५० में भारत में तरह-तरह के मसालों की खेती के अन्तर्गत करीब २४,५९,००० एकड़ भूमि थी। मसालों की खेती मुख्यतः भारत के धुर दक्षिण में होती है। यों तो कुछ मसाले प्रायः सारे देश में बोये जाते हैं। भारतवर्ष के मुख्य मसाले जैसे काली मिर्च (मालाबार, ट्रावन्कोर, दक्षिणी केनारा, कुर्ग और थोड़ी मात्रा में बंगाल में), लालमिर्च (विशेषकर मद्रास, पूर्वी और उत्तरी बंगाल और बम्बई के कुछ जिलों में), अदरक (मालावार के किनारे, बम्बई प्रान्त के सूरत और थाना और उत्तर प्रदेश तथा बंगाल के कुछ जिलों में), इलायची (पश्चिमी और दक्षिणी भारत के नम जलवायु वाले जंगलों में तथा मद्रास, ट्रावन्कोर, मैसूर, कुर्ग और बम्बई में मुख्यतः केनारा जिले में), सुपारी (दक्षिणी भारत में), दालचीनी (दक्षिणी भारत के पच्छिमी घाट में), और लौंग (विशेषकर मद्रास प्रदेश के पश्चिमी घाट की नीची पहाड़ियों पर) पैदा होते है। इनका थोड़ा सा निर्यात व्यापार भी है। १९५१-५२ में ३८,९८,१४,००० हन्ड्रेडवेट मसाले (इलायची, लाल, काली मिर्च) जिसकी कीमत २५ करोड़ ७६ लाख ६६ हजार रुपये थी, बाहर भेजे गए थे।

७. **चीनी**—भारतवर्ष सम्भवतः गन्ने का आदि उद्गम-स्थान ही है और गन्ने की खेती जितने क्षेत्र में यहाँ होती है उतनी संसार के किसी भी देश में नहीं। परन्तु औसत उपज प्रति एकड़ इतनी कम है और शाकाहारी जनसंख्या इतनी अधिक है कि हमारे देश को थोड़े ही दिन पहले तक बाहर की सस्ती चीनी के आयात का ही भरोसा करना पड़ता था। उदाहरण के लिए सन् १९२९-३० में हमने १५ करोड़ ७७ लाख रुपये के मूल्य की १,०१२,००० टन विभिन्न प्रकार की चीनी बाहर के देशों से मँगाई थी। १९२० की भारतीय चीनी समिति (इण्डियन शूगर कमेटी) का कहना था कि भारत में चीनी की प्रति एकड़ पैदावार क्यूबा की पैदावार के १/३ से कम, जावा की पैदावार के १/६ से कम और हवाई की पैदावार के १/७ से कम थी। आस्ट्रिया और जर्मनी की चुकन्दर से बनाई हुई चीनी के आयात का स्थान धीरे-धीरे जावा और मॉरीशस की गन्ने की चीनी के आयात ने ले लिया। इसका श्रेय सन् १९०३ में

[1] रिव्यू ऑफ एग्रीकल्चरल आपरेशन्स इन इण्डिया (१९२७-२८) पृ० ४; वही (१९२८-२९) पृ० ५-७ और कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ५१५-५१९

लगाये गए आयात प्रति-कर को है। इस वैदेशिक प्रतियोगिता ने भारतीय गन्ने की खेती को बड़ी हानि पहुँचाई और सन् १९१४ की लड़ाई के पहले गन्ने की खेती के क्षेत्र में कुछ कमी आ गई। युद्धकालीन मूल्य-वृद्धि के कारण १९१८-१९ मे स्थिति बहुत-कुछ पूर्ववत् हो गई। कितने ही वर्षों तक लगातार गन्ने की खेती का क्षेत्र लगभग उतना ही बना रहा। सन् १९३०-३१ में समाप्त होने वाले २० वर्षों की औसत २,८६०,००० एकड़ रही। १९३०-३१ में गन्ने की खेती का कुल क्षेत्र २७,८०,००० एकड़ था। सरकारी रक्षा के परिणामस्वरूप चीनी के उद्योग में बहुत बड़ी वृद्धि हुई और १९३६-३७ में गन्ने की खेती का क्षेत्र बढ़कर ४४,४०,००० एकड़ हो गया। १९३८-३९ में क्षेत्रफल घटकर ३१,१०,००० हो गया, पर १९४०-४१ में फिर बढ़ कर ४५,९०,००० हो गया। गन्ने की खेती करने वाले मुख्य प्रदेश हैं उत्तर प्रदेश १८,८०,००० एकड़, बिहार ४,४०,००० एकड, पंजाब ४,२०,००० एकड़, बंगाल ३,२०,००० एकड़, मद्रास १,६०,००० एकड़, बम्बई ८०,००० एकड़, आसाम ४०,००० एकड़ और उड़ीसा ३०,००० एकड़ (सन् १९३८-३९ के आँकड़े)।[1] इससे यह स्पष्ट है कि उत्तरी भारत के लिए इस फसल का विशेष महत्त्व है। यद्यपि दक्षिणी भारत में गन्ने की खेती कम क्षेत्र में होती है पर जो गन्ना वहाँ पैदा किया जाता है वह उत्तरी भारत के गन्नों की अपेक्षा अधिक मोटा और अच्छा होता है। यद्यपि ब्रिटिश भारत में गन्ने की खेती कुल खेती के अनुपात में १·८ प्रतिशत ही थी पर इसकी देश के आर्थिक जीवन में बहुत बड़ी महता है। इधर चीनी-उद्योग के द्रुत विकास से भी यह बात प्रगट होती है।

चीनी उद्योग के हाल के आश्चर्यकारी विकास के पहले सफेद चीनी भारत में प्राय: नहीं बनती थी। सामान्यत: गन्ने के रस को उबालकर बिना उसमें की राब निकाले हुए गुड़ बनाया जाता है और उसी को लोग खाते हैं। आजकल गन्ना लोहे की बनी चर्खी से पेरा जाता है न कि लकड़ी के कोल्हू मे। सफेद चीनी उत्तर प्रदेश और बिहार के अनेक कारखानों में बनाई जाती है। पंजाब, बम्बई और मद्रास आदि

१. सन् १९५०-५१ में गन्ने की खेती का क्षेत्र ४२,१४,००० एकड़ था। मुख्य-मुख्य राज्यों में गन्ने की खेती का क्षेत्र निम्न था :

उत्तरप्रदेश	२५०५	हजार	एकड़
पंजाब	३०६	,,	,,
बंगाल	५३	,,	,,
मद्रास	२६७	,,	,,
बम्बई	१८८	,,	,,
आसाम	५८	,,	,,
उड़ीसा	६१	,,	,,
बिहार	४११	,,	,,

(स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रेक्ट, इण्डिया (१९५१-५२)

सन् १९५३-५४ और १९५४-५५ में सम्पूर्ण भारत में गन्ने की खेती का क्षेत्रफल और उत्पादन क्रमश: ३५,३६,००० एकड़ व ४,२१,११,००० टन तथा ३६,१७,००० एकड़ व ४,७४,६१,००० टन था।

—एग्रीकल्चरल सिचुएशन इन इण्डिया, जनवरी १९५५।

राज्यों में हाल में महीन चीनी बनाने के कारखाने खोले गए हैं। मैसूर और हैदराबाद आदि रियासतो ने भी चीनी के कारखाने खोले हैं।[1] १९३२-३३ के पहले केवल ३२ चीनी के कारखाने चल रहे थे। १९३१-३२ मे सरकारी संरक्षा मिल जाने से चीनी के कारखानो की सख्या १९३९-४० मे बढ़कर १४५ हो गई। गन्ने और गुड से चीनी का उत्पादन जो कि १९२८-२९ मे ९९,०८८ टन था, बढ़कर १९३०-३१ मे १५१,६५० टन, १९३२-३३ में ३७०,२८३ टन, १९३४-३५ मे ६१७,२१८ टन और १९३६-३७ में १,१३०,९०० टन पर पहुँच गया। इसमे खाण्डसारी[2] कारखानो का उत्पादन सम्मिलित नही है जिसकी मात्रा १९३६-३७ मे १००,००० टन हो गई थी। इस प्रकार भारत वर्ष की कुल चीनी के उत्पादन की मात्रा १९३६-३७ मे १,२३०,९०० टन के ऊपर ही थी—जो कि खपत की अनुमानित मात्रा (लगभग १,१५०,००० टन) से कुछ अधिक ही थी। दो कम उत्पादन के वर्षो के पश्चात् १९३९-४० में भारत में १३½ लाख टन चीनी पैदा हुई। सन् १९४३-४४ और १९४४-४५ मे फिर उत्पादन मे थोडा ह्रास हुआ।[3] देश मे चीनी का उत्पादन बढ जाने के कारण ब्रिटिश भारत मे चीनी का आयात बहुत तेजी से घट गया और १९३०-३१ मे जो आयात १०,००,००० टन था, वह सन् १९३६-३७ मे घटकर २३,००० टन हो गया।[4] भारतवर्ष अब चीनी की आवश्यकता के लिए पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर[5] हो गया है। भारतीय चीनी उद्योग की इस महान् प्रगति के कारण उसकी तटकर द्वारा संरक्षा, ससारव्यापी आर्थिक मन्दी के फलस्वरूप भूमि तथा कच्चे माल और मशीनरी के मूल्य मे कमी आदि भी हैं। भारतवर्ष आज संसार मे चीनी का सबसे अधिक उत्पादन करने वाला देश है और

---

१. भारतीय चीनी उद्योग के प्रादेशिक वितरण में परिवर्तन के विषय में अधिक जानकारी के लिए देखिए, रिपोर्ट ऑफ द टेरिफ बोर्ड (चीनी उद्योग), १९३८, पृष्ठ २१-२९।

२. खाण्डसारी कारखानों में सफेद चीनी बनाने का देशी ढंग ही जिसे 'बेल' ढंग कहते है, काम में लाया जाता है।

३. भारत में इस समय चीनी के १३४ कारखाने है। गत वर्षों में चीनी का उत्पादन निम्न था।

१९५१-५२	१४ ८ लाख टन
१९५२-५३	१३.२ ,, ,,
१९५३-५४	१०.१ ,, ,,

इस प्रकार १९५३-५४ का उत्पादन सन् १९५२-५३ तथा १९५१-५२ की तुलना में २३.४ प्रतिशत और ३१.८ प्रतिशत कम हो गया। इसका मुख्य कारण गन्ने के मूल्य की कमी थी जो १९५१-५२ में १ रुपया १२ आने प्रति मन था। १९५२-५३ और १९५३-५४ में घटकर क्रमशः १ रु० ७ आने और १ रु० ५ आने रह गया।—कामर्स, एनुअल नम्बर, १९५४ पृ० १३९; केपीटल (सप्लीमेन्ट), दिसम्बर १६, १९५४ पृ० ७१।

४. खराब फसल तथा समस्त भारत के उत्पादन में कमी के कारण १९३९-४० में आयात २५५,००० टन से अधिक था।

५. सन् १९५३-५४ में चीनी के उत्पादन का अनुमान १२-१३ लाख टन था। उपभोग की आवश्यकताओं का अनुमान १८ लाख टन था। अतएव ४००,०००—५००,००० टन आयात आवश्यक था, जिसके लिए बजट में २५.८४ करोड़ रु० का प्रबन्ध किया गया था। चीनी के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता के लिए आयात-सम्बन्धी निम्न आँकड़े विचार योग्य हैं :

चीनी उद्योग का सूती वस्त्रोद्योग के बाद द्वितीय स्थान है। इस उद्योग में १२०,०००[1] मजदूर काम करते हैं।[2]

भारतीय परिष्कृत चीनी उद्योग सरकारी संरक्षा पाने के पहले समृद्ध नहीं हुआ। इसका कारण अनेक कठिनाइयाँ थी, जैसे विदेशी चीनी की प्रतियोगिता, प्रति एकड़ उपज की कमी, गन्ना पेरने के नये ढंगों का अभाव, शीरे का कम निष्पादन, फैक्ट्री के आसपास से पर्याप्त गन्ने की प्राप्ति में कठिनाई, और कारखाने के आरम्भ करने में अधिक पूँजी की आवश्यकता आदि। कभी भारतवर्ष में समय-समय पर तटकर में वृद्धि करने पर भी १६१८ और १६३६ के बीच चीनी के मूल्य की कमी ने इस उद्योग की कठिनाइयों को बढ़ाया है। इस कमी का कारण चीनी की वास्तविक माँग की तुलना में उत्पादन का आधिक्य था जो १६१४-१८ का युद्धजनित स्थिति का परिणाम था और जिसने क्यूबा और वेस्ट इण्डीज आदि में गन्ने की घनी खेती को प्रोत्साहित किया। इसमें विभिन्न देशों की तटकर-नीति ने भी योग दिया और इसका भारत के चीनी उत्पादकों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। पहले के महायुद्ध के बाद यूरोप के चुकन्दर से चीनी बनाने वाले उद्योग का भी भारी आर्थिक सहायता और ऊँचे तटकर आदि के फलस्वरूप तेजी से पुनरुत्थान हुआ और संसार के बाजार वहाँ की चीनी से पाट दिये गए।

गन्ने की किस्म और उत्पादन के विकास के ध्येय से सन् १६०१-२ से गन्ने की खेती व्यवस्थित अध्ययन का विषय बन गई है। मद्रास के कोयम्बटूर नगर में गन्ने की किस्म सुधारने के लिए एक केन्द्र की स्थापना हुई। भारत सरकार द्वारा १६-१६ में एक चीनी समिति (शूगर कमेटी) भारत में चीनी उद्योग की व्यवस्था और विकास की सम्भावना की जाँच करने के लिए नियुक्त की गई थी। १६३० में नयी-नयी स्थापित कृषि-गवेषणा की साम्राज्यिक परिषद इम्पीरियल कौंसिल ऑफ एग्रिकल्चरल रिसर्च के आवेदन पर चीनी उद्योग को संरक्षा प्रदान करने के बारे में तटकर-मण्डल से

	१६४४-४५	१६४५-४६	१६४६-४७	१६४७-४८
मात्रा (टनों में)	—	३५	—	१६
मूल्य (हजार रुपयों में)	२	३८	—	३१
	१६४८-४६	१६४६-५०	१६५०-५१	१६५१-५२
मात्रा (टनों में)	१०,५७६	२३	८०५०	११,८८६
मूल्य (हजार रुपयों में)	६,५६०	२३	७०५६	८,५००

इन आँकड़ों तथा १६५३-५४ के उत्पादन और उपभोग (१०·१ लाख टन और १८ लाख टन क्रमशः) के आँकड़ों को देखकर हम कह सकते हैं कि आत्मनिर्भरता की स्थिति अभी नहीं आई है। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस दिशा में प्रयत्न हो रहा है। योजना के प्रथम वर्ष में गन्ने की खेती के क्षेत्रफल और उपज तथा दानेदार चीनी के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। दिसम्बर सन् १६५४ में ८०·५ हजार टन परिष्कृत चीनी तथा ६० हजार टन कच्ची शकर का आयात हुआ।

१. इस समय चीनी उद्योग में १३०,००० कुशल और अकुशल श्रमिक तथा ३५०० अन्य व्यक्ति काम कर रहे हैं तथा गन्ने के उत्पादन में २ करोड़ किसान लगे हुए हैं।—सप्लिमेन्ट टु कैपिटल, १६ दिसम्बर, १६५४, पृ० ७१।

२. इण्डियन ईअर बुक (१६४०-४१), पृ० ७७६।

सम्मति माँगी।[1] तटकर मण्डल ने अपनी १६३१ में छपी रिपोर्ट में इस उद्योग को संरक्षा प्रदान करने की सिफारिश की क्योंकि उनके मत के अनुसार इण्डियन फिसकल कमीशन (भारतीय राजवित्त आयोग) द्वारा निर्धारित सारी शर्तें यह उद्योग पूरी करता था। मण्डल ने राय दी कि राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से गन्ने की खेती का क्षेत्रफल कम नही होने देना चाहिए और सफेद चीनी के उद्योग को प्रोत्साहित करके गन्ने की खपत के लिए रास्ता खोल देना चाहिए। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि इस उद्योग की उन्नति के लिए प्रयत्न न किया गया तो गुड़ के मूल्य में भारी कमी आने का डर था जिसका किसानों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ सकता था।[2] मण्डल ने शासन-व्यवस्था की कठिनाई के कारण अर्थ-साहाय्य प्रदान करना अनुपयुक्त समझा और प्रथम सात वर्ष तक ७रु० ४ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट, तथा बाद के आठ वर्ष तक ६ रु० ४ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट संरक्षण-कर लगाने का सुझाव दिया और इस प्रकार १५ वर्ष तक के लिए इस उद्योग की संरक्षा का प्रवन्ध कर दिया। तटकर मण्डल की अनुमति पाने की आशा में १६३१-३२ के बजट में आमदनी बढ़ाने के विचार से १ रु० चार आ० प्रति हन्ड्रेड वेट का अस्थायी कर तुरन्त ही लगा दिया गया। इस पर अप्रैल १६३२ में विचार किया गया जब कि केन्द्रीय विधान-सभा ने चीनी उद्योग संरक्षण अधिनियम (शूगर इन्डस्ट्री प्रोटेक्शन एक्ट) पास किया। संरक्षण-कर (७ रु० ४ आना प्रति हन्ड्रेडवेट) आरम्भ में ३१ मार्च १६३८ तक ही लागू किया गया, पर अधिनियम के प्रचलन-काल में आवश्यकता होने पर उसकी अवधि बढ़ाई जा सकती थी। इससे उद्योग को बड़ा प्रोत्साहन मिला और तब से बड़ी तीव्र गति से उसका विकास हुआ। तटकर मण्डल (१६३८) के शब्दों में यह कहना कि भारत के चीनी उद्योग में क्रान्ति हो गई, कोई अत्युक्ति न होगी। विदेशी चीनी पर निर्भर रहने वाले देश से भारत संसार में सबसे अधिक चीनी का उत्पादन करने वाला देश हो गया है जिसका उत्पादन उसकी आवश्यकताओं से यदि अधिक नहीं तो बराबर अवश्य है (रिपार्ट पैरा १३)। दस वर्ष पहले उत्पादन की दृष्टि से प्रथम स्थान क्यूबा को प्राप्त था जो उस समय भारत से १६१ प्रतिशत अधिक उत्पादन करता था, परन्तु आज स्थिति बिलकुल विपरीत है।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात थी कि १६३४ में भारत के कारखानों में बनाई जाने वाली चीनी पर उत्पादन कर लगाना पड़ा।[3] यह कर चीनी का आयात घट जाने से

१. देखिए, अध्याय ११।

२ रिपोर्ट ऑफ द टेरिफ बोर्ड (चीनी उद्योग), १६३१ अध्याय ४, विशेष रूप से पैरा ४३,४५-४६।

३. २५% अधिभार (१ रु० १३ आना प्रति हन्ड्रेडवेट) के सितम्बर १६३१ में लागू होने पर कुल आयात शुल्क ६ रु० १० आना प्रति हन्ड्रेडवेट हो गया, जो १ अप्रेल, १६३४ तक रहा। सन् १६३४ के चीनी (उत्पादन-शुल्क कानून [शूगर एक्साइज ड्यूटी एक्ट] ने १ अप्रेल, सन् १६३४ से (१) खांडसारी चीनी पर १० आना प्रति हन्ड्रेडवेट तथा (२) पालमीरा चीनी को छोड़ जो कि ब्रिटिश भारत में एक कारखाने में बनाई जाती थी अन्य सभी प्रकार की चीनी पर १ रु० ५ आना प्रति हन्ड्रेडवेट उत्पादन-शुल्क लगा दिया। संरक्षण-कर बढ़ाकर ७ रु० १२ आना कर दिया गया और अधिभार घटाकर १ रु०५ आना कर दिया गया जो कि नये उत्पादन-शुल्क के बराबर था। १६३७ की फरवरी से संरक्षण-कर

केन्द्रीय आय की कमी को पूरा करने के लिए और इस विचार से लगाया गया था कि सितम्बर १६३१ में संरक्षण के उपरान्त २५% प्रतिशत अधिभार लगा देने से प्राप्त कृत्रिम प्रेरणा के फलस्वरूप कहीं उद्योग इतनी तेजी से उन्नति न करे कि बाद में उसका बुरा असर हो। साथ-ही-साथ ईख-अधिनियम (शुगर केन एक्ट) के केन्द्रीय विधान सभा द्वारा पास कर देने से प्रान्तीय सरकारों को ऐसी योजनाएँ लागू करने का अवसर मिल गया जिससे वे गन्ना पैदा करने वालो को फैक्ट्रियों के अधिकारियों से गन्ने का निश्चित न्यूनतम मूल्य अवश्य दिला सकें। इस अधिभार का उत्तरप्रदेश और बिहार की सरकारों ने लाभ उठाया और उन्होंने किसानो के हित को ध्यान में रखते हुए गन्नें के मूल्य को नियमित करने के कानून बना दिये। भारत सरकार ने एक आना प्रति हन्ड्रेडवेट के हिसाब से यानी कि लगभग ७ लाख रु० की रकम अलग रख देने का वायदा किया। इस कोष का उपयोग सफेद चीनी बनाने वाले प्रान्तों मे गन्ने की खेती करने को उचित मूल्य दिलाने के लिए सहकारी समितियों के स्थापनार्थ और उनके संगठन और संचालन के लिए तथा ऐसे ही अन्य सहायक कार्यों के लिए बाँटकर किया जाना था।

तटकर मण्डल ने १६३७ में इस बात की जाँच करवाई कि शेष संरक्षण-काल में, जो कि ३१ मार्च, सन् १६४६ तक था, चीनी उद्योग को किस हद तक संरक्षा की आवश्यकता है। इसकी रिपोर्ट जो भारत सरकार को दिसम्बर १६३७ मे ही दे दी गई थी, कहीं जाकर मार्च सन् १६३६ में सरकार के निर्णय के साथ छपी। मण्डल के मत में विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) नीति में आशातीत सफलता मिली थी और इसलिए मण्डल ने शेष संरक्षण अवधि (८ वर्ष) के लिए ७ रु० ४ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट (उत्पादन शुल्क के अतिरिक्त) संरक्षण करके लागू रखने की सिफारिश की।[1] संसार के चीनी बाजारों की परिस्थिति में तथा यहाँ उत्तरप्रदेश और बिहार राज्यों की परिस्थिति में चीनी उद्योग का नियमन और नियन्त्रण कर देने के कारण परिवर्तन आ जाने से भारत सरकार ने अप्रैल १६३६ मे दो वर्ष के लिए संरक्षण थोड़ा कम करके (बाद में १६३६-४५ के महायुद्ध द्वारा जनित परिस्थितियों के कारण फिर दो वर्ष के लिए और बढ़ा दिया गया) लागू करने का निश्चय किया और यह भी व्यवस्था कर दी कि इस काल के समाप्त होने के पहले ही दूसरी जाँच पूरी हो जाय। इसके अनुसार चीनी उद्योग संरक्षण अधिनियम (शूगर इन्डस्ट्री प्रोटेक्शन एक्ट) (अप्रैल १६३६) घटाकर ७ रु० ४ आना प्रति हन्ड्रेडवेट कर दिया गया और अधिभार २ रु० प्रति हन्ड्रेडवेट कर दिया गया जो कि देश की बनी चीनी पर उसी तारीख से लगे २ रु० प्रति हन्ड्रेडवेट के बढे हुए उत्पादन-शुल्क के बराबर था। भारतीय वित्त १६४० (इण्डियन फाईनेन्स एक्ट १६४०) ने युद्धकालीन कर-वृद्धि के अन्तर्गत चीनी पर उत्पादन शुल्क २ रु० से बढाकर ३ रु० प्रति हन्ड्रेडवेट कर दिया। साथ ही साथ आयात-कर भी उसी मात्रा में बढ़ा दिया गया। भारतीय चीनी उद्योग पर चीनी उत्पादन-कर के प्रभाव की समालोचनापूर्ण पुनरीक्षण के लिए बी० पी० अदारकर कृत इन्डियन फिस्कल पालिसी पृष्ठ २४८-२५१ देखिए। उत्पादन शुल्क के आरम्भ और उसकी समालोचना के लिए खण्ड २ में वित्त पर लिखे अध्याय का भी अध्ययन कीजिए।

१. रिपोर्ट ऑफ द टैरिफ बोर्ड (चीनी उद्योग) देखिए, १६३८, पैरा १३, १०७।

ने चीनी पर लागू संरक्षण-कर ७ रु० ४ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट से घटाकर ६ रु० १२ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट कर दिया (२ रु० राजस्व-शुल्क जो उत्पादन-शुल्क के बराबर था, इसमें सम्मिलित नही)। सन् १६४१ मे एक अधिनियम पास किया गया जिसके अनुसार उस समय लागू करों की अवधि मार्च १६४२ तक के लिए बढा दी गई। बाद मे उनकी अवधि फिर ३१ मार्च, १६४६ तक के लिए बढा दी गई।[1]

अनियन्त्रित आन्तरिक प्रतियोगिता को रोकने के लिए और भावों को अकस्मात गिरने से बचाने के लिए सन् १६३७ मे शूगर सिन्डीकेट की स्थापना की गई जिसमें ६० कारखानों से अधिक सम्मिलित थे। उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारों ने चीनी कारखाना नियन्त्रण अधिनियम (शूगर फेक्ट्री कन्ट्रोल एक्ट) पास किया जिसके अन्तर्गत प्रत्येक कारखाने को सरकार से लाइसेन्स लेना आवश्यक है। इन राज्यों में प्रत्येक कारखाने के लिए इण्डियन शूगर सिन्डीकेट का सदस्य बनना तथा उसकी मार्फत अपनी चीनी बेचना अनिवार्य है। १६४० मे एक चीनी आयोग (शूगर कमीशन) की भी नियुक्ति की गई थी जिसका उद्देश्य शूगर सिन्डीकेट द्वारा कारखानों पर आवश्यक सरकारी नियन्त्रण रखना था।

तटकर मण्डल (१६३१) का यह विश्वास था कि उसकी संरक्षा की योजना की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि चीनी उद्योग के कृषि और विज्ञान-सम्बन्धी पहलुओ को अधिक महत्त्व दिया जाय। उन्होंने इसलिए कृषि-गवेषणा की साम्राज्यिक परिषद् (इम्पीरियल काउन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च) को गन्ने के सम्बन्ध मे अन्वेषण-कार्य के लिए १० लाख रुपया वार्षिक देने की सिफारिश की।[2] दूसरे तटकर-

१. चीनी उद्योग की वर्तमान स्थिति (विशेषकर उत्तरप्रदेश की) और उसकी समस्याओं को जानने के लिए निम्न पत्रिकाओं से सहायता ली जा सकती है : कैपिटल (इण्डियन इण्डस्ट्रीज, ट्रेड एण्ड ट्रान्सपोर्ट, सप्लीमेन्ट) दिसम्बर १६४१, पृष्ठ २६-३१: इण्डियन फाइनेन्स (ईस्टर्न ग्रुप नम्बर, दिसम्बर १६४०, पृष्ठ १५७-८: रिव्यू ऑफ द ट्रेड ऑफ इण्डिया, (१६३६-४०) पृष्ठ ६३-६८; और बी० पी० अदारकर, पूर्व उद्धृत, पृ० २५७-५८)। यहाँ यह बताना उचित होगा कि १६३६-४५ के महायुद्ध के कारण चीनी-उद्योग को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ और हाल के वर्षों में तो चीनी उत्पादन के आधिक्य तथा बिहार और उत्तरप्रदेश की सरकारों द्वारा गन्ने के न्यूनतम मूल्य नियमित करने के लिए किये गए हस्तक्षेप के कारण हानि ही उठानी पड़ी है। यद्यपि उनका आशय सत् ही था, अन्य प्रान्तों में सरकारी नियन्त्रण का अभाव तथा शूगर सिन्डीकेट की सदोष कार्य-व्यवस्था यह परिस्थिति पैदा होने के अन्य कारण थे। शूगर सिन्डीकेट के कहने पर तथा १६४० के चीनी आयोग की सलाह के आधार पर नियन्त्रित उत्पादन नीति जो दो प्रान्तों द्वारा अपनाई गई उससे इस उद्योग को स्थिरता मिल जाने की आशा की जा सकती है।

२. रिपोर्ट ऑफ द टेरिफ बोर्ड (चीनी उद्योग) १६३१, पैरा १०५। अपनी पुस्तक 'इण्डियन टेरिफ पालिसी विद स्पेशल रेफरेन्स टु शूगर प्रोटेक्शन' (१६३६) पृष्ठ १३५-३६ में बी० एन० अदारकर लिखते हैं कि "चीनी उद्योग अब एक ऐसी स्थिति में पहुच गया है कि जब सरकार और उद्योगपतियों द्वारा चीनी के उत्पादन और निर्माण-सम्बन्धी खोज पर अधिक खले दिल से पैसा खर्च करने से अधिक लाभ की आशा है।" यहां यह बता देना उपयुक्त होगा कि चीनी उद्योग का कौशल और क्षमता बढाने के लिए और चीनी का मूल्य घटाने के लिए यह आवश्यक है कि उपजातों—जैसे राब और खुइया—का कुछ प्रयोग अवश्य किया जाय। पहले से पॉवर अलकोहल और दूसरा कागज बनाने की सम्भावना की नियमित ढंग से परीक्षा होनी चाहिए। (खुइया उसे कहते हैं जो गन्ना पेरने पर गन्ना की रेशेदार वस्तु

मण्डल (१६३८) के मत के अनुसार चीनी उद्योग के खेती-सम्बन्धी पहलू पर अनुसन्धान-कार्य में थोड़ी-बहुत प्रगति अवश्य हुई थी, पर वह पर्याप्त न थी। इसलिए उत्पादन शुल्क की आय से केन्द्रीय अनुसन्धान-कार्य के लिए तथा प्रान्तीय कृषि विभागों की सहायता के लिए ३ आ० प्रति हण्ड्रेडवेट दे दिया जाय। यह याद रहे कि भारत मे गुड का उत्पादन (७,१००,००० टन) और खपत बहुत अधिक मात्रा में होती है (४,४५४,००० टन १६३६-३७ में)।[1] इसलिए गुड़ बनाने के देशी उद्योग का भी उतना ही ध्यान रखना आवश्यक है जितना कि सस्ती सफेद चीनी तैयार करने का। कृषि के विभिन्न विभाग तथा कोयम्बटूर का ईख अभिजनन-केन्द्र (इम्पीरियल केन ब्रीडिंग स्टेशन) अच्छी किस्म के गन्ने का प्रयोग शुरू करके गन्ने का उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे है। चीनी औद्योगिक साम्राज्यिक संस्थान (इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ शूगर टेक्नॉलोजी) ने जो १६३६ में कानपुर में स्थापित हुआ था, बहुत ही लाभकारी अनुसन्धान-कार्य अपने जिम्मे लिया है। नये और अधिक अच्छे किस्म के गन्ने की खेती का क्षेत्रफल प्रत्येक प्रदेश में बढ़ गया है। १६३०-३१ में इसका क्षेत्र कुल का २० प्रतिशत था जबकि १६३८-३६ मे बढ़कर[2] ८२ प्रतिशत हो गया, पर प्रति एकड़ औसत उत्पादन में उतनी वृद्धि नही हुई। १६३०-३१ मे उत्पादन १२·३ टन प्रति एकड़ से बढ़कर १६३६-३७[3] मे सिर्फ १५·६ टन प्रति एकड़ हुआ है।[4]

यह बताने की आवश्यकता नही है कि लंका, फिजी और अन्य जलडमरूमध्य उपनिवेशों में भारतीयों के लिए कच्ची चीनी का निर्यात नगण्य है। १६३७ के अन्तर्राष्ट्रीय चीनी (इन्टरनेशनल शूगर कन्वेन्शन) के अन्तर्गत भारत सरकार ने पाँच वर्ष के समय के लिए परिष्कृत चीनी का सामुद्रिक मार्गों से निर्यात बर्मा के अतिरिक्त अन्य सभी देशों के लिए रोक दिया था। चीनी उद्योग तेजी से विकास कर रहा था और उसकी भावी उन्नति के लिए जरूरी था कि निर्यात की मण्डियाँ उसके हाथ में रहें अतः इस, फैसले से चीनी उद्योग के क्षेत्रों में भारी असन्तोष फैला। १६४० में अस्थायी ढंग पर यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया ताकि भारत ब्रिटेन को दो लाख टन चीनी भेज सके (युद्धजनित परिस्थितियों के कारण इसकी आवश्यकता हो गई थी)। ब्रिटिश सरकार ने

अवशिष्ट रहती है। आजकल इसका प्रयोग फैक्ट्रियों में वाष्प पैदा करने के लिए ईंधन के रूप में किया जाता है।)

१. अनुमान है कि १६५४-५५ (नवम्बर १६५४ से अक्टूबर १६५५) में गुड़ का उत्पादन ४,७४६ हजार टन होगा। १६५३-५४ में गुड़ का उत्पादन ४,२०६ हजार टन था। उत्पादन की वृद्धि का मुख्य कारण गुड के ऊँचे मूल्य थे। —एग्रीकल्चरल सिचुएशन इन इंडिया, जनवरी १६५५, पृ० ६४६।

२. अब अच्छे किस्म की गन्ने की खेती का क्षेत्रफल (कुल क्षेत्रफल का) लगभग ८० प्रतिशत है यद्यपि कुछ भागों में गन्ने की खेती की ६० प्रतिशत भूमि पर अच्छे किस्म के गन्ने की खेती होती है।

—अनुवादक

३. बी० पी० अदारकर, पृ० २१६-१७।

४. १६५३-५४ में उपज १२·०२ टन प्रति एकड़ थी। अनुमान है कि १६५४-५५ में प्रति एकड़ उपज १३·१२ टन होगी।—एग्रीकल्चरल सिचुएशन इन इण्डिया, जनवरी १६५५, पृ० ६४६ पर दिये हुए आँकड़ों के आधार पर।

बहुत कम मूल्य देना चाहा, अत शूगर सिन्डीकेट इस अनुज्ञा का लाभ नही उठा सका।

सन् १९४२ मे भारत सरकार की मार्फत बहुत बडी मात्रा मे चीनी मध्य-पूर्व और आसपास के देशो को उनकी युद्धकालीन माँग पूरी करने के लिए सिन्डीकेट द्वारा निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य पर भेजी गई। यह परिस्थिति पैदा होने का एक नया कारण यह भी था कि जावा मे चीनी के निर्यात की व्यवस्था टूट-सी गई थी। अगस्त सन् १९४२ मे अन्तर्राष्ट्रीय चीनी-करार (शूगर एग्रीमेन्ट) की अवधि समाप्त हो जाने के कारण भारत अब समुद्री-मार्ग से चीनी बाहर भेजने के लिए स्वतन्त्र है। पर अब (१९४९) इस स्वतन्त्रता का कोई व्यावहारिक लाभ नही है क्योकि चीनी का उत्पादन अपने ही देश की आवश्यकता के लिए पर्याप्त नही है।

(२) खाद्य से इतर फसलें—१. कहवा (कॉफी)—कहवा उद्योग भारत मे कब आरम्भ हुआ, इसका कुछ पता नही। ऐसा कहा जाता है कि भारत मे इसका प्रारम्भ सोलहवी शताब्दी मे मक्का से हज करके लौटने पर बाबा बूदन ने किया था। नियमित रूप से कहवा की खेती १८३० से ही आरम्भ हुई। कुर्ग, मैसूर और नीलगिरी की पहाडियो पर विस्तृत क्षेत्र मे कहवा उगाने का काम आरम्भ किया गया। १८६२ मे यह उद्योग उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। इसके पश्चात् एक हानिकारक कीडे के कारण इस उद्योग की अवनति आरम्भ हो गई। बाद मे यूरोपीय देशो मे ब्राजील के सस्ते कहवे के आयात ने भी भारतीय कहवे की खेती को हानि पहुचाई और इसमे कमी आ गई। बहुत से कहवा पैदा करने वाले भागो मे अब चाय पैदा की जाने लगी है। १९४०-४१ मे सारे भारतवर्ष मे १८१,२०० एकड भूमि मे कहवा पैदा किया गया था। मुख्य उत्पादक राज्य ये थे मैसूर ९६,२०० एकड, मद्रास ४४,६०० एकड, कुर्ग ३७,५०० एकड, कोचीन १,८०० और ट्रावन्कोर १,००० एकड।[1] १९३९-४० में १,६८,००० हेन्ड्रेडवेट कहवा जिसका मूल्य ७३ लाख रुपया था, ब्रिटिश-भारत से विदेश भेजा गया जबकि १९३०-३१ में २,९३,००० हन्ड्रेडवेट कहवा जो १९२ लाख रुपये का था विदेश भेजा गया।[2] सदा की तरह फ्रान्स और ब्रिटेन ही दो मुख्य देश भारतीय कहवे के ग्राहक थे। तत्कालीन कठिनाई मे भारतीय कहवा-उद्योग की सहायता करने के लिए सितम्बर १९३५ में विधान सभा ने भारतीय कहवा उपकर अधिनियम (इण्डियन काफी टेक्स एक्ट) पास किया। कहवा पर एक रुपया प्रति हन्ड्रेडवेट जो कर है उससे उपलब्ध धन के खर्च की व्यवस्था भारतीय कहवा उपकर कमेटी द्वारा की जाती है और

---

१. १९५०-५१ में भारतवर्ष में कहवा की खेती का क्षेत्रफल २,७४,००० हजार एकड था। कहवा उत्पन्न करने वाले मुख्य-मुख्य राज्यों में (१९५०-५१ में) कहवा की खेती का क्षेत्रफल निम्नलिखित था :

मैसूर	१०७ हजार एकड
मद्रास	९० ,, ,,
कुर्ग	४८ ,, ,,
ट्रावनकोर-कोचीन	९ ,, ,,

२. सन् १९४८-४९ में ६२९ हडेडवेट कहवा जिसका मूल्य १०७ हजार रु० था विदेशों को भेजा गया और १९४९-५० में ६६,६२८ हड्रेडवेट जिसका मूल्य १३,०५१ हजार रुपया था, निर्यात हुआ।

यह धन केवल प्रचार के ही काम नही आता वरन् इसका प्रयोग कृषि तथा औद्योगिक अनुसन्धान, बिक्री के ढंग की उन्नति तथा अन्य ढंगों से इस उद्योग के विकास के लिए भी किया जा सकता है। १९४१ में २,८०,७०० हन्ड्रेडवेट कहवा पैदा हुआ और युद्ध के कारण विदेशों में केवल ४८,७८० हन्ड्रेडवेट भेजा गया।[1]

२. **चाय**—चीन को छोडकर संसार-भर में शायद अधिक चाय पैदा करने वाला देश भारतवर्ष है। १८वी शताब्दी के उत्तरार्ध में चीन की चाय ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निर्यात-व्यापार की सबसे अधिक लाभ देने वाली वस्तु थी। शताब्दी के अन्त में भारत को चाय की प्राप्ति का एक अतिरिक्त स्थान बनाने का सुझाव दिया गया, परन्तु १८३४ से लॉर्ड विलियम बेन्टिन्क के प्रयत्न से ही इस विचार को गम्भीरतापूर्वक कार्यान्वित किया गया। आसाम में चाय के देशी पौधे के अस्तित्व का ज्ञान होने के कारण चीनी बीज का प्रयोग करके सरकारी बागीचे लगाये गए। १८५२ में यह पूर्णरूप से निश्चित हो गया कि भारतीय चाय चीन की चाय से लन्दन के बाजार में मुक़ाबला कर सकती है। इस उद्योग का तीव्र गति से विकास होने पर १८६५ में इसका सरकार से सम्बन्ध टूट गया। और तब से इसका प्रबन्ध मुख्यत: यूरोपीय व्यापारिक फर्मों द्वारा ही होता आ रहा है और उन्ही के द्वारा पूँजी भी लगाई जा रही है। चाय के उद्योग को देश में चाय की खपत बढ़ने तथा विदेशों के लिए निर्यात बढ जाने से बहुत प्रोत्साहन मिला है। १९४०-४१ में चाय की खेती ८३३,२०० एकड़ भूमि में होती थी जिसका ब्यौरा इस प्रकार है : आसाम ४३८,००० एकड़, बंगाल २००,८०० एकड़, मद्रास ७९,२०० एकड़, ट्रावनकोर ७७,००० एकड़, पंजाब (कांगड़ा) ९,५०० एकड़ और उत्तर प्रदेश ६,६०० एकड़। कुल उत्पादन ४६,३८,८०,००० पौण्ड था।[2] 'प्रत्येक चाय-बागान में उसकी एक निजी फैक्ट्री होती है जहाँ बाजार में बेचने के लिए चाय की पत्ती तैयार की जाती है, क्योंकि चाय की पत्ती तोड लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि तुरन्त ही पत्ती को तैयार करने से सम्बन्धित सभी प्रक्रियाएँ कर ली जायँ। जो फक्ट्रियाँ सुव्यवस्थित हैं उनमें सब तरह के उपस्कर और विशिष्ट संयंत्र मौजूद है तथा कुशल चाय-निर्माताओं के पर्यवेक्षण में काम होता है।' चाय की बहुत बड़ी मात्रा विदेशों को भेजी जाती है विशेषकर ब्रिटेन को जिसने १९३९-४० में भारत के कुल निर्यात का ८०% अर्थात् कुल उत्पादन का ७९% हिस्सा खरीदा था (४५,२०,००,००० पौ०) और बाकी की खपत देश में ही हुई। सन् १९२९-३० में ३७,६६,३०,००० पौण्ड चाय जिसकी कीमत २६ करोड़ रुपया थी, विदेश भेजी गई। इसके बाद से चाय का निर्यात उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति मे ह्रास हो जाने से और

---

१. सन् १९५०-५१ में ५४,३२३ हज़ार पौण्ड कहवा पैदा हुआ, जिसमें से ५३,५३३ हंड्रेडवेट कहवा, जिसका मूल्य १,३४,६५,००० रु० था, बाहर भेजा गया।

२. १९५० में ७,७७,००० एकड़ में चाय की खेती हुई। इसमें विभिन्न राज्यों का हिस्सा इस प्रकार था :

आसाम	बंगाल	मद्रास	ट्रावन्कोर-कोचीन	पंजाब	उत्तर प्रदेश	
३८२	१९८	८२	८०	९	५	(हज़ार एकड़ों में)

सन् १९५० में ६०,७३,०९,००० पौण्ड चाय पैदा हुई।

विदेशी-व्यापार पर प्रतिबन्ध लग जाने से बहुत घट गया। फिर भी कुल मिलाकर चाय के उद्योग में वैसी शिथिलता नही आई जैसी अन्य उद्योगों में। इसका श्रेय चाय के निर्यात को नियमित कर देने वाली अन्तर्राष्ट्रीय योजना को है जो मई १९३३ में लागू की गई। इसके अनुसार प्रत्येक निर्यातक देश को एक विशेष सीमित मात्रा तक ही चाय बाहर भेजने की छूट दी गई थी। निर्यात नियन्त्रण योजना १९३८ से पाँच वर्ष के लिए और बढ़ा दी गई और बाद में लड़ाई के समाप्त होने पर फिर दो वर्ष के लिए बढ़ाई गई।[1] १९३९-४० में विदेशों को निर्यात ३५,७०,००,००० पौण्ड था जबकि उससे पिछले वर्ष ३४,८०,००,००० पौण्ड ही था; इस हिसाब से मूल्य २३ करोड़ २९ लाख रुपये से बढ़कर २६ करोड़ ८ लाख रुपये हो गया। इस बढ़े हुए निर्यात तथा मूल्य-वृद्धि का कारण युद्धकालीन माँग थी। १९४०-४१ में चाय के निर्यात का मूल्य बढ़कर २७ करोड़ २३ लाख रुपये तक पहुँच गया। १९४१-४२ में निर्यात का मूल्य और अधिक बढ़कर ३९ करोड़ ५७ लाख रुपये हो गया और उसकी मात्रा ३८,२०,००,००० करोड़ पौण्ड थी।[2] दूसरे विश्व-युद्ध से चाय-उद्योग को बहुत लाभ पहुँचा। इस प्रकार चाय को हम निर्यात-व्यापार का मुख्य अंग कह सकते हैं। इसकी खपत भी भारत में तेज़ी से बढ़ रही है। इसका श्रेय भारतीय चाय संस्था (इण्डियन टी एसोसिएशन) के प्रयत्नों को मिलना चाहिए जिसे १९०३ में इस उद्योग की प्रार्थना पर भारत से विदेश भेजी हुई चाय पर लगाये गए मामूली से उपकर से प्राप्त धन दे दिया जाता है। अप्रैल १९३५ में इस प्रकार की दर ८ आ० प्रति १०० पौण्ड से बढ़ाकर १२ आ० प्रति १०० पौण्ड कर दी गई थी। संस्था द्वारा इस कोष का कुछ अंश विदेशों में—विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका में—भारत के चाय की बिक्री बढ़ाने पर खर्च किया जाता है।

३. **तिलहन**—भारत में अनेकों प्रकार के तिलहन पैदा किये जाते हैं जैसे अलसी, तिल, सरसों, मूँगफली, नारियल, अण्डी, बिनौला आदि। १९४०-४१ में ब्रिटिश भारत की १,६७,००,०००[3] एकड़ भूमि में तिलहन की खेती होती थी। इसकी बहुत बड़ी मात्रा विदेश भेजी जाती है। १९४०-४१ में भारतीय निर्यात में तिलहन का चौथा स्थान था। यदि हम १९०९-१० से १९१२-१४ के औसत निर्यात से, जो कि १४,५३,००० टन और २४ करोड़ ३७ लाख रुपये के मूल्य का था, मुकाबला करें तो पता चलता है कि विभिन्न प्रकार के तिलहन के निर्यात में बहुत कमी आ गई है। उदाहरणार्थ १९३५-३६ में १० करोड़ २९ लाख रुपये के मूल्य के ६७३,००० टन तिलहन का निर्यात हुआ। व्यापारिक शिथिलता के अतिरिक्त यूरोपीय देशों में विशेषकर जर्मनी, फ्रान्स और इटली (१९३९-

---

१. भारतीय धारा सभा ने भारतीय चाय नियन्त्रण कानून (इण्डियन टी कन्ट्रोल एक्ट) चाय की उत्पत्ति और बिक्री नियमित करने के लिए १९३८ में पास किया।

२. १९५०-५१ में ४३९,२५५ हजार पौण्ड चाय जिसका मूल्य ७९,८६,६४,००० रुपये था बाहर भेजी गई। १९५१-५२ में निर्यात की जाने वाली चाय की मात्रा और मूल्य क्रमशः ४२५,५१८,००० पौण्ड और ६३,३५,६९,००० रुपए था।

३. सन् १९५०-५१ में विभिन्न प्रकार के तिलहन के अन्तर्गत ३,०९,५४,००० एकड़ भूमि थी।

४५ की लड़ाई के पहले) में आयात-सम्बन्धी प्रतिबन्धों और नियमों के फलस्वरूप भी भारतीय तिलहन की माँग में कमी हुई। सन् १९३४-३५ मे और फिर १९३६-३७ मे अर्जन्टाइना की फसल खराब होने से और इंगलैण्ड के बाजार मे १० प्रतिशत (ओटावा) अधिमान्यता प्राप्त होने मे स्थिति कुछ अनुकूल हो गई। १९३७-३८ मे मूँगफली के मूल्य में कमी हो जाने और अलसी और मूँगफली के निर्यात के घट जाने से मात्रा और मूल्य में क्रमशः १८ और २४ प्रतिशत की कमी आ गई। १९३८-३९ मे स्थिति फिर कुछ सुधरी, क्योंकि भारत में मूँगफली की अच्छी फसल हो जाने से और अर्जन्टाइना मे अलसी की फसल खराब हो जाने से इन दोनों बीजो के निर्यात में—और तिलहन के निर्यात मे इन्ही की प्रधानता थी—विशेष उन्नति हुई। १९३९-४० में तिलहन के निर्यात की मात्रा और मूल्य मे २९ प्रतिशत और २१ प्रतिशत की कमी आ गई; ८४९,००० टन तिलहन का निर्यात हुआ जिसका मूल्य ११ लाख ८४ हजार रुपया था। उत्पादन में तो कोई विशेष कमी नहीं थी, पर महायुद्ध के कारण यूरोप मे तेल पेरने के उद्योग मे गड-बड़ी पैदा हो जाने से निर्यात में कमी हो गई। १९४०-४१ में भारतीय तिलहन के लिए यूरोप के बाजार बन्द हो जाने के कारण निर्यात मे और अधिक कमी हो गई। तिलहन के कुल उत्पादन और निर्यात का अनुपात विभिन्न बीजों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न है। अलसी की खेती अधिकतर विदेशों में भेजने के ही दृष्टिकोण से की जाती है। १९३९-४० में अलसी की पैदावार का ४६.९ प्रतिशत हिस्सा विदेश भेज दिया गया। अलसी के निर्यात के लिए जहाजों में जगह की कमी के कारण कम भूमि अलसी पैदा करने के प्रचार से और 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के फलस्वरूप १९३९-४० से अलसी की खेती में बहुत कमी आ गई है। मूँगफली भी काफी मात्रा मे बाहर भेजी जाती है (१९३९-४५ की लड़ाई के पहले फ्रान्स सबसे बड़ा ग्राहक था)। १९३९-४० में कुल उत्पादन का १८.३ प्रतिशत बाहर भेजा गया था। सरसो और तिल आदि का निर्यात नहीं के बराबर है। १९३९-४० में सरसों (कुल उत्पादन) का २.२ प्रतिशत और तिल का ०.८ प्रतिशत निर्यात हुआ था।

यद्यपि भिन्न-भिन्न स्थानों में तेल पेरने के उद्योग के विकास का प्रयत्न किया गया है। फिर भी ऐसा कहा जाता है कि भारत अपने तिलहन के साधनों का समुचित उपयोग नहीं करता।[1] पाश्चात्य देशों में वनस्पति तेल अनेक कामों में आता है। उदाहरण के लिए अमेरिका में बिनौले से तेल निकाला जाता है और उसे खाते हैं और उसकी खली को खाद के रूप में अथवा पशुओं के भोजन के रूप में प्रयोग करते हैं। पर भारत से अधिकांश बिनौला विदेशों में भेज दिया जाता है। तिलहन के निर्यात-व्यापार पर, जो मुख्यतः यूरोपीय देशों से रहा है, १९१४-१८ के महायुद्ध का बहुत प्रभाव पड़ा है। उस युद्ध ने यूरोपीय देशों की माँग का ही अन्त नहीं किया वरन् व्यापार की परिस्थितियों में भी परिवर्तन कर दिया। शोधन प्रक्रियाओं के विकास के कारण एक तेल की जगह दूसरे का प्रयोग बहुत-कुछ सम्भव हो जाने से बड़ा परिवर्तन पदा हो गया। उदाहरण के लिए खजूर और राई के तेलों की गणना खाने वाले तेलों में

१. देखिए खण्ड २, अध्याय २, सेक्शन ३१।

होने लगी है। इससे तिलहन प्राप्त करने के अनेक नये साधनों का भी पता चल गया। भारतवर्ष की १९१४-१५ की अनुकूल स्थिति पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। भारतीय अलसी को अब अर्जेन्टाइना की अलसी से, जिसकी खेती का क्षेत्रफल निरन्तर बढ़ता जा रहा है, प्रतियोगिता करनी पड़ती है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है १९३३ मे भारतीय अलसी को इंगलैण्ड मे १० प्रतिशत अधिमान्यता प्राप्त है। भारतीय निर्यात-व्यापारी को तिल के सम्बन्ध मे चीन के और मूँगफली के सम्बन्ध में पश्चिमी अफीका के मुकाबले का साथ-ही-साथ विचार रखना होगा। अन्य वनस्पतियों को जिनकी उपज चीन अमेरिका और पश्चिमी अफ्रीका में होती है, तेल निकालने के काम में लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। मूँगफली के तेल का प्रयोग बढ़ जाने से राई और सरसों आदि का प्रयोग कम हो गया है।[1]

सन् १९३९-४५ के महायुद्ध के कारण भारतीय तिलहन के महाद्वीपीय बाजार बन्द हो जाने से भारत में तेल पेरने के उद्योग का तुरन्त ही विकास करना बहुत ही ज़रूरी हो गया है। विदेश से मँगाये जाने वाले खनिज तेलों के मूल्य बढ़ जाने और मिट्टी के तेल और स्नेहक तेलों की सप्लाई में कमी हो जाने से तथा मूँगफली के तेल को उद्योगों में काम में लाने के प्रयत्नों के कारण (जैसे रासायनिक घी तैयारी करने के लिए) भारतवर्ष में वनस्पति तेलों की माँग बहुत बढ़ गई। उदाहरण के लिए केवल मूँगफली की खेती के क्षेत्र में १९४२-४४ में २० लाख एकड़ की वृद्धि हुई। १९४० में स्थापित वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान मण्डल (बोर्ड ऑफ साइन्टिफिक एण्ड इन्डस्ट्रियल रिसर्च) ने इस सम्बन्ध में अनुसन्धान-कार्य आरम्भ किया है। (देखिए खण्ड २, अध्याय १, सेक्शन १३।)

अब हम भारत में होने वाले कुछ प्रमुख तिलहनों की खेती का कुछ विवरण देंगे—

(क) अलसी की खेती उसके बीज के लिए की जाती है, रेशे के लिए नहीं। अधिकांश बीज और उनसे निकले हुए तेल तथा खली का निर्यात होता है। १९४०-४१ में रियासतों को शामिल करके कुल ३६ लाख एकड़ भूमि में अलसी की खेती हुई, जिसका ब्यौरा इस प्रकार है : मध्य प्रदेश में १२,६०,००० एकड़, बिहार में ५,८०,००० एकड़, उत्तरप्रदेश में ६,१०,००० एकड़[2], हैदराबाद (दक्षिण) में ४,१०,००० एकड़, बम्बई में १,२०,००० एकड़ और बंगाल में १,६०,००० एकड़।[3] १९३८-३९ के ४ करोड़ ४० लाख रुपये मूल्य की ३१८,००० टन अलसी की तुलना में १९३९-४० में केवल ३ करोड़ १८ लाख रुपये के मूल्य की २१९,००० टन अलसी

१. देखिए एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, तेरहवाँ संस्करण तेल और स्नेहक वर्ग पर लिखा लेख, और गॉडगिल द्वारा लिखित इण्डस्ट्रियल इवोल्यूशन ऑफ इण्डिया, अध्याय १५।

२. इसमें ६३०,००० एकड़ मिश्रित फसलें भी सम्मिलित हैं।

३. सन् १९५०-५१ में ३४,४७,००० एकड़ भूमि में अलसी की खेती हुई थी। इसमें से मध्यप्रदेश में ९,७०,००० एकड़, बिहार में २,६७,००० एकड़, उत्तरप्रदेश में ७,८७,००० एकड़, हैदराबाद में ५,३३,००० एकड़, बम्बई में ६२००० एकड़ और बंगाल में ६६,००० एकड़ भूमि में अलसी की खेती की गई थी।

विदेश भेजी गई।[1]

(ख) **तिल**—तिल लगभग सभी प्रदेशों में पैदा किया जाता है, पर विशेष रूप से इन जगहों में—मद्रास ७,३०,००० एकड़, मध्यप्रदेश ४,७०,००० एकड़, बम्बई १,७०,००० एकड़, बम्बई की रियासतों में ३,२०,००० एकड़, हैदराबाद (दक्षिण) में ४,२०,००० एकड़, उत्तरप्रदेश में ११,८०,००० एकड़[2], पंजाब में १,००,००० एकड़, बंगाल में १,८०,००० एकड़, बिहार में १,१०,००० एकड़ और उड़ीसा में १,००,००० एकड़ भूमि में। १९४०-४१ में तिल की खेती का कुल विस्तार ४० लाख ६० हजार[3] एकड़ था। हाल के वर्षों में निर्यात में बहुत कमी आ गई है। १९३८-३९ में १५ लाख रुपये कीमत के ८,००० टन तिल का निर्यात हुआ था और १९३९-४० में निर्यात केवल ४,००० टन ही रह गया जिसका मूल्य ७ लाख रुपया था।

(ग) **राई और सरसों**—१९४०-४१ में राई और सरसों की खेती मिलाकर ६१,८०,००० एकड़ भूमि में हुई (इसमें उत्तरप्रदेश की मिश्रित फसल की खेती का २५ लाख एकड़ क्षेत्र भी सम्मिलित है)। इसमें उत्तरप्रदेश का प्रमुख स्थान है जहाँ इसका क्षेत्र मिश्रित फसल को मिलाकर २८ लाख एकड़ था। अन्य स्थान ये हैं: बिहार (५,००,०००), बंगाल (७,७०,०००), पंजाब (११,१०,०००) और आसाम (४,१०,०००) आदि।[4] १९०९-१० से १९१३-१४ तक समय कुल पैदावार का लगभग २०% भाग विदेश भेजा गया। अब निर्यात का अनुपात घटकर ५ प्रतिशत से भी कम रह गया है। १९३६-३७ में ४ प्रतिशत था और १९३९-४० में २·२ प्रतिशत। बाद के वर्षों में निर्यात २२,००० हो गया, जिसका मूल्य ३३ लाख रुपया था।[5]

(घ) **मूँगफली**—तिलहन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण मूँगफली है और हाल में उसकी खेती में बहुत विस्तार हुआ है। १९१८-१९ में १४,००,००० एकड़ भूमि की तुलना में १९४०-४१ में ८७,७०,००० एकड़ भूमि में उसकी खेती की गई। इनमें मुख्य-मुख्य स्थान मद्रास (३६,२०,००० एकड़), बम्बई (१४,२०,००० एकड़), बम्बई की रियासतें (१०,१०,००० एकड़), हैदराबाद (१६,७०,००० एकड़) तथा मध्यप्रदेश और बरार

१. १९५०-५१ में ५,६६,७६,००० रु० की (६८,००० टन) अलसी बाहर भेजी गई और १९५१-५२ में ७०,०२,००० रु० की (७००० टन)।

२. इसमें ९,८०,००० एकड़ मिश्रित फसलें भी सम्मिलित हैं।

३. आजकल तिल लगभग सभी प्रदेशों में बोया जाता है, पर विशेषकर मद्रास (६७०,००० एकड़), मध्यप्रदेश (४४१,००० एकड़), बम्बई (२७४,००० एकड़), हैदराबाद (६३२,००० एकड़), उत्तरप्रदेश (१,२४८,००० एकड़), पंजाब (७२,००० एकड़), बंगाल (१७,००० एकड़), बिहार (४३,००० एकड़) और उड़ीसा (४२१,००० एकड़) में पैदा होता है। सन् १९५०-५१ में तिल की खेती का क्षेत्रफल ५,६२९,००० एकड़ था।

४. सन् १९५०-५१ में राई और सरसों की खेती का क्षेत्रफल ५,०९७,००० एकड़ था। इसमें से ३,०६९,००० एकड़ उत्तर प्रदेश में, ३१६,००० एकड़ बिहार में, २२१,००० एकड़ बंगाल में, ३४५,००० एकड़ पंजाब में तथा ३१३,००० एकड़ आसाम में था।

५. सन् १९५०-५१ में एक प्रकार की सरसों (रेप सीड) का निर्यात १००टन था जिसका मूल्य १२५,००० रुपये था। १९५१-५२ में २०० टन सरसों का निर्यात हुआ जिसका मूल्य २२२,००० रुपये था।

(२,४०,००० एकड़) है।[१] यह फसल आर्थिक दृष्टिकोण से कुछ प्रदेशों में बड़े महत्त्व की फसल होती जा रही है और कहीं-कहीं तो रूई की फसल से भी प्रतियोगिता करती दिखाई पड़ती है। पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इसके निर्यात और इसकी खेती के क्षेत्र-फल में काफी कमी आ गई जिसका कारण था देशी मूँगफली की खराब किस्म। सेनीगाल और मोज़मबीक की विदेशी सेगमार मूँगफली की अपने देश में सफलतापूर्वक खेती आरम्भ करने से १९०१ के बाद से कुछ स्थिति सुधरी और धीरे-धीरे खेती के क्षेत्र का विस्तार होना आरम्भ हुआ। १९२९-३३ की व्यापारिक शिथिलता के कारण इसके विकास में फिर कुछ बाधा पड़ी। १९३६-३७ में पुनः स्थिति सँभली, पर १९३७-३८ में फिर बिगड़ी। जो उन्नति १९३८-३९ में हुई थी वह १९३९-४० में कायम न रह सकी। १९३८-३९ में ८,३५,००० टन का निर्यात हुआ जिसका मूल्य ९ करोड़ ९३ लाख रुपया था और १९३९-४० में केवल ५,४६,००० टन का निर्यात हुआ जिसका मूल्य ७ करोड़ १९ लाख रुपया था। युद्धजनित अव्यवस्था ही इस कमी का कारण थी।[२] लगभग तीन-चौथाई फसल अपने उपयोग के लिए देश में ही रोक ली जाती है और बाकी बाहर भेजा जाती है। कृषि-विभाग को खोखली भूमि पर भी मूँगफली की पैदावार बढ़ाने में सफलता मिली है।

४. रेशे—रेशे वाली फसलें बड़े महत्त्व की फसलें हैं। ब्रिटिश भारत में १९०१-२ में कुल खेती के केवल ५·९ प्रतिशत हिस्से में और १९४०-४१ में ७·७ प्रतिशत में इस प्रकार की फसलें की गई थीं।[३]

(क) कपास भारत की रेशे वाली प्रमुख फसल है। सन् १९२५-२६ में ब्रिटिश भारत में १,८१,८०,००० एकड़ भूमि में इसकी खेती होती थी और १९४०-४१ में १,४०,८०,००० एकड़ भूमि में।[४] देशी रियासतों को शामिल करके खेती के क्षेत्र के आँकड़े उपर्युक्त क्रम के अनुसार २,८४,००,००० और २,३२,८०,००० एकड़ थे। इन वर्षों में (अर्थात् १९२५-२६ तथा १९४०-४१ में) कपास की उपज ६२,१०,००० और ५९,००,००० गाँठें थीं (वज़न—४०० पौंड प्रति गाँठ)[५]। इधर हाल में कपास की खेती के क्षेत्र में 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के कारण, और बम्बई आदि प्रदेशों में सर-कारी विधान के कारण अनिवार्यतः कमी आ गई है। हमारे देश में रुई का निर्यात-व्यापार भी काफी बढ़ा है। कुल उत्पादन का लगभग ६० प्रतिशत हिस्सा बाहर भेज दिया जाता

---

१. सन् १९५०-५१ में मूँगफली की खेती का क्षेत्र ११,१३०,००० एकड़ था। इसमें से ४,५७६,००० एकड़ मद्रास में, २,०७४,००० एकड़ बम्बई में, १६,६८,००० एकड़ हैदराबाद में तथा ५,४३,०००एकड़ मध्यप्रदेश में था।

२. सन् १९५०-५१ में ३८,००० टन मूँगफली जिसका मूल्य ३, ५७,११,००० रु० था, बाहर भेजी गई। सन् १९५१-५२ में २०,००० टन मूँगफली का निर्यात हुआ जिसका मूल्य २,३४,६६,००० रुपये था।

३. १९४९-५० में रेशे वाली फसलों के अन्तर्गत कुल क्षेत्र १,७०,५१,००० एकड़ था।

४. १९५०-५१ में कपास की खेती का क्षेत्रफल १४,५५६,००० एकड़ था।

५. सन् १९५०-५१ में २९,७१,००० गाँठें (३९२ पौंड प्रति गाँठ) हुईं।

ई सन्देह नहीं कि कुछ वर्ष पहले तक रुई भारत के निर्यात-व्यापार की प्रमुख व्यापारिक शिथिलता-काल (१९२९-३३) के आरम्भ के एक वर्ष पहले तक र्यात-मूल्य में आश्चर्यजनक वृद्धि भी हुई थी। १९१५-१६ में २४ करोड़ ये के मूल्य का अर्थात् ४४०,००० टन का निर्यात हुआ। १९२५-२६ में र ७४०,००० टन हो गया जिसका मूल्य ९५ करोड़ रुपया था। बाद के कारणों से—जैसे व्यापारिक शिथिलता, जापान का वित्त-संकट, भारतीय तों में खपत बढ़ जाना, कुछ वर्षों तक भारतीय रुई को अमेरिका की रुई धिक मान मिलना, और कुछ विशेष वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका में सल बहुत अच्छी होने से—रुई के निर्यात की मात्रा में तथा उसके मूल्य में ा गई। १९३२-३३ में निर्यात की मात्रा घट कर ३६८,००० टन रह गई २० करोड़ ३७ लाख रुपया था। दोनों विश्व-युद्धों के बीच में निर्यात के नीचे कभी नहीं गए। १९३३-३४ में निर्यात की मात्रा में थोड़ी वृद्धि होती १९३४ में जापान द्वारा लगभग छः महीने तक भारतीय कपास के कारण, जो कि जापान ने १९०४ के व्यापारिक समझौते को रद्द भारत के निर्णय का बदला लेने के दृष्टिकोण से किया था, बम्बई र की स्थिति कुछ समय तक डाँवाडोल रही। १९३४ के जनवरी के ारत और जापान के बीच नया व्यापारिक समझौता हो जाने के कार बन्द कर दिया गया। इस समझौते के अनुसार भारत द्वारा खरीदे कटपीस की मात्रा जापान द्वारा भारतीय रूई की खरीद की मात्रा पर इस प्रकार यह निर्धारित हो गया था कि ३२,५०,००,००० गज जापानी ारत द्वारा खरीदे जाने के बदले में जापान को भारत से १०,००,००० गाँठें रना अनिवार्य होगा। इस समझौते को १९३७ में फिर से नया कर लिया अधीन कटपीस की मूल आयात मात्रा घटाकर २८,३०,००,००० गज कर कि १ अप्रैल १९३७ से बर्मा भारत से अलग कर दिया गया था।* का निर्यात जो कि १९३६-३७ में ४१,४०,००० गाँठें था १९३७-३८ में ०,००० गाँठें हो गया और १९३८-३९ में केवल २७,००,००० गाँठें ही ह कमी जापान द्वारा—जो कि भारतीय रूई का सबसे बड़ा ग्राहक था— ा लेने के कारण हुई थी। यह जापानियों के युद्ध-सम्बन्धी आर्थिक उपायों ा-प्रतिबन्ध और विनिमय-नियन्त्रण आदि) का एक अंग था जिन्हें उन्होंने पान के बीच युद्ध आरम्भ हो जाने पर लागू किया था। जापान की खरी- १९३६-३७ में २३,३०,००० गाँठें थीं घटकर १९३७-३८ में १३,६०,००० ३९ में १२,१०,००० गाँठें और १९३९-४० में केवल १०,६०,००० गाँठें लंकाशायर की भारतीय कपास कमेटी (इण्डियन काटन कमेटी) के प्रयत्न

व १९३७ के भारत और जापान के समझौते तथा सन् १९४१ में भारत-जापान के न की समाप्ति के नोटिस के विशेष विवरण के लिए खण्ड २, अध्याय ७, और सेक्शन

के कारण भारत से ब्रिटेन के लिए निर्यात धीरे-धीरे बढ़ता गया। यह १९३३-३४ में ३४२,००० गाँठों से बढ़कर १९३६-३७ में ६१०,००० गाँठें हो गया। १९३७-३८ में यह निर्यात घटा और ३९५,००० गाँठें हो गया, पर १९३८-३९ और १९३९-४० में फिर वृद्धि के लक्षण दिखाई पड़े और निर्यात क्रमशः ४११,००० गाँठें और ४७२,००० गाँठें हो गया। यूरोपीय महाद्वीप दूसरे महायुद्ध में इस बाजार के हाथ से निकल जाने के पूर्व भारतीय रूई का एक महत्त्वपूर्ण खरीदार था। ब्रिटिश भारत से कुल रूई का निर्यात १९३८-३९ में २७,००,००० गाँठें अर्थात् ४८३,००० टन से बढ़कर, १९३९-४० में २९,५०,००० गाँठें अर्थात् ५२६,००० टन हो गया; यानी ९ प्रतिशत की वृद्धि हुई। निर्यात का मूल्य २३·८६ करोड़ रुपये से बढ़कर ३०·११ करोड़ रुपया अर्थात् २६% अधिक हो गया। यद्यपि जापान ने रूई की खरीद कम कर दी थी, पर चीन ने अपनी खरीदारी १९३८-३९ में १९३,००० गाँठों से १९३९-४० में बढ़ाकर ६८१,००० गाँठें कर दी। ब्रिटेन और फ्रान्स ने भी अपनी खरीद बढ़ाई। रूई के निर्यात से सन् १९४१ में जो ६½ करोड़ की कमी आ गई थी उसके मुख्य कारण यूरोपीय बाजार का हाथ से निकल जाना और जापान की खरीद में कमी थी। रूई के भाव की भारी कमी भी निर्यात का मूल्य घट जाने का कारण था। उदाहरण के लिए भडौंच की रूई का भाव जो १९३९ के जून के अन्त में (लड़ाई आरम्भ होने के पहले) १६० रुपया प्रति कैण्डी था, जनवरी १९४० में ३३७ रु० प्रति कैण्डी होकर शिखर पर पहुँच गया, लेकिन उसी वर्ष के जून के महीने तक पहुँचते-पहुँचते मूल्य फिर घटकर १५६ रुपया प्रति कैण्डी रह गया। भाव में यह आकस्मिक उतार-चढ़ाव युद्ध-काल में सट्टे की धूम होने और यूरोपीय बाजार निकल जाने के कारण था। भारतीय मिलों में खपत बढ़ जाने से १९४१ के जुलाई-अगस्त महीने में रूई का मूल्य २३० रु० प्रति कैण्डी पर स्थिर हो जाने के पश्चात् मार्च १९४२ में जापान से युद्ध छिड़ जाने के कारण जापानी बाजार का अन्त हो जाने पर मूल्य घटकर फिर १८५ रु० हो गया। इस प्रकार छोटे रेशे वाली रुई की स्थिति जिसका 'ऑर्फन' नाम उपयुक्त ही है, विशेष रूप से चिन्ताजनक हो गई। भारत सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और उसने एक अलग कोष की स्थापना करने के उद्देश्य से जनवरी सन् १९४२ में कपास पर आयात-कर दूना कर दिया। इस कोष का उपयोग छोटे रेशे वाली कपास की खेती करने वालों की सहायतार्थ सरकारी खरीदारी आदि उपायों पर खर्च करके किया जाना था। इनको यह सलाह दी गई थी कि वे कपास के स्थान पर अधिक उपयोगिता वाली विशेषकर खाद्यान्न की खेती करें। अनाज की खेती को प्रोत्साहन देने और आन्तरिक तथा बाह्य व्यापारों में घाटा बचाने के उद्देश्य से कपास की खेती के क्षेत्र पर सरकार ने जो प्रतिबन्ध लगाया है, उसके फलस्वरूप कपास की खेती करने वालों के लिए लाभ की प्रत्याशा अच्छी-खासी हो गई है।[1]

---

१. सन् १९४४-४५ से सन् १९४७-४८ तक (कच्ची) कपास का निर्यात-व्यापार उन्नतिशील रहा। निर्यात [illegible] जाने वाली मात्रा और मूल्य दोनों में ही उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। सन् १९४४-४५ के निर्यात-व्यापार (५६,९१८ टन, ६९८,३८,००० रु०) की तुलना में सन् १९४७-४८ के निर्यात-व्यापार की [illegible] और मूल्य क्रमशः २,०९,३१७ टन और ३४,७५,२९,००० रुपये था। हाल के निर्यात-सम्बन्धी

कहीं-कहीं पर तो अनाज की पैदावार की चिन्ता न करके कपास की खेती में अधिक भूमि का प्रयोग किया गया है। १८९५ से लगाकर १९०० तक का कपास की खेती के क्षेत्रफल का औसत १,३८,६०,००० एकड था, पर १९२५-२६ में २,८४,००,००० एकड़ भूमि पर कपास की खेती हुई थी। १९४०-४१ में कपास की खेती में २,३२,८०,००० एकड़ भूमि लगी हुई थी और १९४५-४६ में यह क्षेत्र १,४८,००,००० एकड़ हो गया था।[1] १९३९-४० में भारत में रुई पैदा करने वाले मुख्य क्षेत्र ये थे—बम्बई (३५ लाख एकड़), बम्बई प्रदेश की रियासतें (१४.७ लाख एकड़), मध्यप्रदेश और बरार (३३.३ लाख एकड़), हैदराबाद (३१.९ लाख एकड़), पंजाब (२६.४ लाख एकड़), मध्यभारत की रियासतें (१०.४ लाख एकड़), मद्रास (२२.२ लाख एकड़) और पंजाब की रियासतें (६$\frac{3}{2}$ लाख एकड)।[2] जहाँ तक कपास की खेती के क्षेत्र तथा उत्पादन से सम्बन्ध है, हम कह सकते हैं कि भारतवर्ष का स्थान संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद दूसरा है। भारतीय कपास प्रायः छोटे रेशे वाली होती है। उसका तूलिपट मिश्र और अमेरिका की रुई की अपेक्षा छोटा और रूक्ष होता है। इसलिए कुछ समय पहले तक रुई ऐसे महीन कपड़ों की बिनाई के लिए जैसे कि लंकाशायर के कारखाने बनाते हैं, अनुपयुक्त समझी जाती थी। भारत में कपास की प्रति एकड़ पैदावार कम है। भारत में प्रति एकड़ ७५ से १०० पौण्ड तक तूलिपट कपास का उत्पादन होता है जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में १८० पौण्ड और मिश्र में ३०० से ४०० पौण्ड तक। भारत का कृषि-विभाग, जिसकी स्थापना लंकाशायर की प्रेरणा से हुई थी, कुछ वर्षों से देशी रुई के गुण और प्रति एकड़ पैदावार की मात्रा की वृद्धि का प्रयत्न कर रहा है। इस विभाग ने विदेशी किस्म की विशेषकर लम्बे रेशे वाली रुई के उत्पादन का प्रयत्न किया है। भारत के बहुत से भागों की स्थिति विदेशी कपास के उत्पादन के अनुपयुक्त है, इसलिए देशी कपास की उन्नति पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। पठारों पर पैदा होने वाली अमरीकी कपास और मिश्री कपास की खेती का प्रयोग सिन्ध में किया गया था और अमेरिका की रुई का प्रयोग बहुत सफल भी हुआ था। यह आशा की गई थी कि सक्खरबैरेज नहर की पूर्ति इस प्रकार की रुई की खेती का क्षेत्र बढ़ा देगी और उत्पादन ५,४९,००० गाँठें प्रतिवर्ष हो जायगा। दूसरी प्रशंसनीय सफलता यह थी कि मद्रास में कम्बोडिया की रुई की खेती का आरम्भ किया गया। बम्बई, पंजाब और उत्तरप्रदेश में भी अमेरिकी किस्म की रुई की खेती आरम्भ कर दी गई है। मार्च १९३९ में आयात-कर को दूना करने का आशय लम्बे रेशे वाली रुई की खेती करने वाले भारतीय किसानों

आँकड़े इस प्रकार हैं—

	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२
मात्रा (टनों में)	७६,०८०	५७,६६४	१४,६६३	२३,०३७
मूल्य (हजार रुपया में)	१४ ००,१२	१०,५९,९५	४,९४,४१	१३,६६,३९

१. सन् १९५१-५२ में कपास की खेती का क्षेत्रफल १६,२,००,००० एकड़ था।

२. सन् १९५०-५१ में कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों का वितरण मुख्य-मुख्य राज्यों में इस प्रकार था : बम्बई—३,४८७,००० एकड़, मध्यप्रदेश—२,७७६,००० एकड़, हैदराबाद २,४१८,००० एकड़, पंजाब ४४७,००० एकड़, मध्यभारत १५,८६,००० एकड़, मद्रास १७,३०,००० एकड़।

की सहायता करना था। हाल के वर्षों में मध्यम वर्ग के रेशे वाली कपास की खेती में बहुत उन्नति हुई है और भविष्य में और अधिक उन्नति की आशा की जाती है, परन्तु ऐसी रुई का मूल्य कम होने के कारण इस बात का भय है कि किसान छोटे रेशे वाली कपास की खेती फिर से न करने लगे, क्योंकि छोटे रेशे वाली रुई की माँग सदैव रहती ह, यद्यपि इसके विकास की सम्भावना कम है। लंकाशायर में किये गए प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि भारत में पैदा होने वाली कुछ किस्म की कपास जैसे अमेरिकी-पंजाबी, कम्बोडियाई मद्रासी और सूरत वाली कपास से अधिक महीन सूत काता जा सकता है। १९३२ में उसकी स्थापना के समय से ही लंकाशायर भारतीय कपास-कमेटी (लंकाशायर-इण्डियन-कॉटन-कमेटी) के प्रयत्नों से भारतीय रुई की लंकाशायर के कारखानों में अब पहले से अधिक खपत हो गई है। १९३३ के बम्बई लंकाशायर टैक्सटाइल एग्रीमेन्ट, (जिसे सामान्यतः मोडी-ली-पैक्ट कहा जाता है) का आशय इंगलैण्ड में भारतीय रुई के प्रयोग को बढ़ाना था।[1] १९३९ के इण्डो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रीमेन्ट ने भारत से इंगलैण्ड के लिए रुई के निर्यात को लंकाशायर से सूती कटपीस के आयात से सम्बद्ध कर दिया।[2]

१९१४-१८ के महायुद्ध ने अंग्रेजी साम्राज्य की रुई के उत्पादन की आत्म-निर्भरता के प्रश्न को खड़ा कर दिया। इस कारण से तथा अन्य कारणों से भारत सरकार को लम्बे रेशे वाली रुई की उत्पत्ति की वृद्धि की सम्भावना की परीक्षा करने के लिए, वर्तमान बिनौला निकालने और बेचने के ढंग में उन्नति के उपाय बताने के लिए और मिलावट रोकने के उपायों की सिफारिश करने के लिए सन् १९१७ में भारतीय कपास कमेटी (इण्डियन कॉटन कमेटी) की नियुक्ति करनी पड़ी। इस कमेटी की रिपोर्ट, जो १९१९ में छपी दो भागों में विभक्त थी। पहला भाग कृषि-सम्बन्धी था और दूसरा व्यापार-सम्बन्धी। शुद्ध और अच्छी जाति की रुई के उत्पादकों को समुचित मूल्य दिलवाने के विचार से कमेटी ने अनेक बहुत अच्छी-अच्छी सिफारिशें, बरार के ढंग के खुले बाजारों के पक्ष में की, ताकि खरीदारों को इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान हो कि वह क्या और कैसी वस्तु खरीद रहे हैं। इसके अतिरिक्त सहकारी-बिक्री समितियों के विस्तार के लिए, बिनौला निकालने और रुई दबाने के कारखानों को लाइसेन्स लेने के लिए तथा रुई के स्थानान्तरित करने में प्रतिबन्ध लगाने के लिए भी सिफारिशें कीं ताकि मिलावट करने और भिगोने की अनीति में बाधा पड़ सके। रुई के व्यापार की उन्नति के लिए सेन्ट्रल ईस्ट इण्डिया कॉटन ट्रेड एसोसिएशन की स्थापना की भी सलाह दी गई। कमेटी का अन्तिम सुझाव रुई के व्यापार और कृषि-विभाग के बीच निकटतर सम्बन्ध बनाए रखने के लिए एक स्थायी रूप से केन्द्रीय कपास कमेटी (सेन्ट्रल कॉटन कमेटी) की स्थापना की थी। इस २० सरकारी और गैर-सरकारी सदस्यों की कमेटी को एक राय देने वाली संस्था बनाने की सम्मति दी गई थी जिससे सरकार अपने प्रस्तावित कानूनों के सम्बन्ध में राय लिया करेगी तथा

---

१. देखिए, खण्ड २, अध्याय ७, सेक्शन ६।

२. देखिए, खण्ड २, अध्याय २, सेक्शन १३, और अध्याय ७, सेक्शन ६।

जिसके द्वारा लाइसेन्स व्यवस्था की देख-रेख किया करेगी। कमेटी से यह भी आशा की जाती थी कि वह नये किस्मों की रुई की उपयोगिता के बारे में तथा रुई की कताई के प्रयोगों पर अपना अधिकारपूर्ण मत दिया करेगी। १९२२ में ईस्ट इण्डिया कॉटन ट्रेड एसोसिएशन की स्थापना हुई। सेण्ट्रल कॉटन कमेटी की पहली बैठक १९२१ में बम्बई में हुई। कमेटी ने १९२३ में एक काटन ट्रान्सपोर्ट एक्ट के प्रचलित कराने का प्रयत्न किया जिससे रुई में मिलावट बन्द हो जाय। सर्वप्रथम यह कानून बम्बई में लागू किया गया, जहाँ इसे इतनी सफलता मिली कि इसे मद्रास में भी लागू कर दिया गया। १९२५ में ट्रान्सपोर्ट एक्ट का एक उपनियम काटन जिनिंग एण्ड प्रेसिंग फैक्ट्रीज़ एक्ट भी पास किया गया। इण्डियन सेण्ट्रल काटन कमेटी ने बम्बई में कताई के प्रयोगों के लिए एक प्रयोगशाला खोल दी है। मध्यभारत की रियासतों के सहयोग से कमेटी ने इन्दौर की पौद-उद्योग संस्था (इन्स्टीट्यूट ऑफ प्लान्ट इण्डस्ट्री) के द्वारा रुई पर प्रयोग करवाना आरम्भ किया है। यह कमेटी विशिष्ट अन्वेषण-योजनाओं को भी भिन्न-भिन्न प्रान्तो में प्रोत्साहित कर रही है। इस कमेटी का सारा खर्च २ आना प्रति गाँठ के उपकर से पूरा किया जाता है जो कि भारत के कारखानों में काम आने वाली सभी प्रकार की रुई पर और भारत से विदेश भेजी जाने वाली रुई पर लागू किया गया है। १९२७ में बम्बई मे कॉटन मार्केट एक्ट पास किया गया था और इस एक्ट के अन्तर्गत सब नियम बम्बई सरकार द्वारा प्रचलित किये गए थे। इस एक्ट के प्रावधान जो तीन प्रान्तो में लागू थे, १९३९ में बम्बई एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स एक्ट में सम्मिलित कर लिये गए। इसी प्रकार के कानून मध्यप्रान्त में (सेन्ट्रल प्राविन्सेज काटन मार्केट एक्ट) और मद्रास में (दी मद्रास कमर्शियल क्राप्स मार्केट एक्ट) भी प्रचलित किये गए। ऊपर वर्णित परिस्थिति में हमें केवल यह कहना ठीक है कि भारत की विदेशी कपड़ों पर निर्भरता कम करने के लिए देश में ही नये और अच्छे किस्म की रुई के प्रयोग करने के उपाय निकालने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। हम लोग अच्छे किस्म के कपड़ों के बनाने के लिए अपनी मिलों में विदेशी रुई का प्रयोग करते हैं।

(ख) जूट—रुई के बाद दूसरी महत्त्वशाली रेशे वाली फसल जूट की है। भारत को जूट की उत्पत्ति का एकाधिकार प्राप्त है। (यह और नीचे के कथन अविभाजित भारत के लिए हैं।) इसका उत्पादन बंगाल स्थित गंगा-ब्रह्मपुत्र का डेल्टा, आसाम प्रान्त तथा उसके पड़ोस की कूच-बिहार की रियासत तथा बिहार और उड़ीसा तक ही सीमित है। यहाँ की भूमि नदियों द्वारा लाई हुई चिकनी मिट्टी से बनी हुई है, इसलिए यह फसल खाद पर एक पैसा भी खर्च किये बिना पैदा की जा सकती है। १९४०-४१ में जूट की खेती ५९·६ लाख एकड़ के क्षेत्रफल में की गई थी। यद्यपि १९२९-३३ के संसारव्यापी आर्थिक संकट के परिणामस्वरूप जूट के उद्योग में अवसाद और मूल्य में भारी कमी के कारण १९३१-३७ में जूट की खेती का क्षेत्र बहुत घट गया था फिर भी स्थिति के सुधार के लिए बहुत बड़ा प्रयत्न किया गया। सितम्बर, १९३४ में बंगाल की सरकार ने स्वेच्छा से जूट की उत्पत्ति कम करने की घोषणा की ताकि जूट

के मूल्य में कुछ वृद्धि हो जाय और लगातार तीन फसलों तक इसका प्रचार भी करती रही। यद्यपि समालोचकों ने इस स्वेच्छा के प्रयत्न को असफल ही समझा पर इसका निषेधात्मक मूल्य अवश्य था। १९३९-४५ के युद्ध-काल में जूट की माँग और उसके मूल्य में परिवर्तन के कारण बंगाल सरकार ने १९४० में बंगाल जूट रेगूलेशन एक्ट पास कर दिया जिसका प्रयोग १९४१ की फसल के बोने वालों पर उनके हित को विचाराधीन रखते हुए अनिवार्य रूप से लागू किया गया। १९४० में बंगाल में सबसे अधिक जूट की खेती हुई (३६,०७,००० एकड़ भूमि में) और अन्य प्रान्तों में जैसे बिहार (२८२,००० एकड़), उड़ीसा (२८,००० एकड) और आसाम (३६३,००० एकड़) में कम। कूचबिहार और त्रिपुरा की रियासतों में क्रम से ४६,००० एकड़ और १८,००० एकड़ भूमि में जूट की खेती हुई थी। उत्तरप्रदेश के गान्जार भाग में जूट की उत्पत्ति का प्रयोग सफल रहा। पिछले ६० वर्षों में जूट के अन्तर्गत खेतों का क्षेत्रफल और उत्पत्ति बहुत बढ़ गई है।[1]

जहाँ तक निर्यात-व्यापार से सम्बन्ध है जूट का स्थान रुई के बाद ही आता है।[2] १९२८-२९ में ३२·३५ करोड़ रु० के मूल्य का ८९८,००० टन जूट विदेशों को भेजा गया था। १९३२-३३ में केवल ५६३,००० टन जूट जिसका मूल्य ९·७३ करोड़ रुपया था, भेजा गया था। यह कमी भारत में और खरीदने वाले देशों के जूट के उद्योग में बहुत बड़े अवसाद के कारण आ गई थी। १९३६-३७ में स्थिति कुछ सुधरी और निर्यात की मात्रा ८२१,००० टन और मूल्य १४·७७ करोड़ रुपया हो गया। १९३७-३८ में व्यापार की अवनति के कारण फिर जूट के निर्यात में कमी हो गई और उसकी मात्रा ७४७,००० टन तथा मूल्य १४·७२ करोड़ रुपया हो गया। १९३८-३९ में और भी अधिक गिरकर केवल ६९०,००० टन ही रह गई जिसका मूल्य १३·४० करोड़ रुपया था। १९३९-४० में पिछले वर्ष की तुलना में निर्यात की मात्रा (५६८,०००) में १८ प्रतिशत की कमी आ गई थी, पर उसके मूल्य में (१९·७३ करोड़ रुपया) ४७ प्रतिशत की वृद्धि हो गई थी। यह वृद्धि सन् १९३९ के सितम्बर के महीने में द्वितीय महायुद्ध की घोषणा हो जाने पर जूट के मूल्य के बढ़ जाने के कारण हुई थी। जूट के बहुत अधिक सट्टे के कारण जूट का मूल्य जून में ९ रु० ४ आ० प्रतिमन से बढ़कर जनवरी में १९ रु० ८ आ० प्रतिमन हो गया। इसी प्रकार जूट के बने सामानों के मूल्य में भी वृद्धि हुई। इस मूल्य-वृद्धि का विदेशी ग्राहकों पर हानिकारक प्रभाव पड़ा। बाहरी देशों की बोरों की माँग में कमी आ गई और यूरोप की खरीदारी बिलकुल बन्द हो गई। इसका प्रभाव जूट और जूट के बने सामान पर बहुत बुरा हुआ और मूल्य गिर गया। १९४०-४१ में

१. सन् १९५०-५१ में जूट की खेती का क्षेत्रफल १४,५४,००० एकड था। मुख्य-मुख्य राज्यों में जूट की खेती का क्षेत्रफल इस प्रकार था: बंगाल ६५१,००० एकड़, बिहार ३५८,००० एकड़, उड़ीसा ११०,००० एकड़, आसाम २९२,००० एकड़, त्रिपुरा १९,००० एकड़ और उत्तर-प्रदेश २४,००० एकड़।

२. जूट और जूट के बने सामान के सम्मिलित निर्यात का भारत के निर्यात-व्यापार में प्रथम स्थान है।

जूट के निर्यात के मूल्य में १२ करोड़ रुपए[1] की कमी हुई।[2]

भारत के जूट के मुख्य खरीदार जर्मनी (१९३९ के पहले) और इंगलैण्ड थे। अन्य जूट खरीदने वाले देश स्पेन, फ्रान्स, जापान, चीन, संयुक्त राज्य अमेरिका, इटली और बेलजियम थे। जूट का निर्यात १७९५ में बहुत थोडी मात्रा से आरम्भ हुआ था। १८३२ तक डन्डी के शक्ति-संचालित करघो वाले कारखानों के जूट की खपत काफी हो गई थी। १८५० तक बंगाल के हाथों से चलाए जाने वाले करघों के उद्योग मे इतनी शक्ति थी कि हाथ के बने सामान का निर्यात जूट से अधिक ही रहा। क्रीमिया की लड़ाई के कारण इंगलैण्ड का रूस से फ्लेक्स (एक प्रकार का सन) का पाना बन्द-सा हो गया और जूट का प्रयोग एक व्यापारिक स्तर पर होने लगा, जिसके फलस्वरूप जूट का निर्यात १९०८-९ में बढकर ९००,००० टन हो गया। जर्मनी और इंगलैण्ड जूट के मुख्य खरीदार थे। १९१४-१८ के युद्ध-काल में निर्यात घट गया था, पर थोड़े ही समय पश्चात् वृद्धि हो गई और १९२९-३३ के अवसाद-काल तक स्थिति ठीक रही। जूट से सामान बनाने के उद्योग के विकास का वर्णन अन्यत्र किया जायगा (खण्ड २, अध्याय २)। यहाँ यह बताया जा सकता है कि जूट उद्योग में १९२९-३३ के व्यापार अवसाद तक अबाध गति से निरन्तर उन्नति होती रही है। १९१४-१८ की लड़ाई आरम्भ होने के पहले भारत मे जूट द्वारा बनाये जाने वाले सामान में जूट

१. दूसरे महायुद्ध के जूट उद्योग पर प्रभाव, जूट के और जूट के बने सामान के मूल्य पर सरकारी नियन्त्रण और जूट की खेती को बंगाल में नियमित करने के कानून के विषय में विशेष जानकारी के लिए खण्ड २, अध्याय २, सेक्शन १८ भी देखिए।

२. सन् १९४४-४५ में १६०,१७४ टन कच्चे जूट का निर्यात हुआ जिसका मूल्य ७,५०,०१,००० रु० था। ३८६,६३१,००० बोरों का भी निर्यात हुआ जिनका मूल्य २४,४९,६१,००० रु० था। सन् १९४५-४६ में कच्चे जूट के निर्यात की मात्रा और मूल्य बढ गया, परन्तु बोरों की निर्यात की हुई संख्या और मूल्य में कमी आ गई। सन १९४६-४७ और १९४७-४८ में कच्चे जूट का निर्यात कम हो गया, परन्तु १९४७-४८ में जूट का निर्यात कम होने पर भी उसका मूल्य अधिक था। इसका कारण जूट के मूल्य की अधिकता थी। इन दोनों वर्षों में बोरों के निर्यात मूल्य में वृद्धि हुई। १९४८-४९, १९४९-५० और १९५०-५१ में कच्चे जूट का निर्माण क्रमशः घटता गया। सन् १९५०-५१ में केवल ५२६ टन जूट का निर्यात हुआ। १९५१-५२ में कच्चे जूट का निर्यात ही नहीं हुआ। सन् १९५०-५१ को छोड़-कर बोरों का निर्यात वृद्धिशील था और १९५१-५२ में ५१२,८६१ हजार बोरे निर्यात किये गए जिनका मूल्य १,३५,३४,४८,००० रुपये था। सन् १९५२-५३ में जूट और जूट के बने सामानों के निर्यात का मूल्य १,२९,०५ ९५,००० रु० था। इनका निर्यात कुल निर्यात का २३·४२ प्रतिशत था।

उपर्युक्त निर्यात-आँकड़ों से प्रकट है कि सन् १९४७-५२ तक का समय जूट के निर्यात के लिए अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ। इसके मुख्यतः तीन कारण थे। इस अवधि में दो वर्ष जूट की फसल अत्यधिक अच्छी हुई। विदेशों की माँग एकदम कम हो गई। मिलों में जूट का भण्डार इकट्ठा हो जाने के कारण उनकी अपनी कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो गईं। विदेशों में जूट की माँग कम होने का एक मुख्य कारण भारी निर्यात-कर था जिसके कारण भारतीय जूट की प्रतिस्पर्धा शक्ति समाप्तप्राय हो गई। इस बात को ध्यान में रखते हुए ७ मई १९५२ को जूट का निर्यात-कर ७५० रु० प्रति टन से घटाकर २७५ रु० प्रति टन कर दिया गया। बोरों के टाट का निर्यात-कर भी घटा दिया गया। पहले ३८० रु० प्रतिटन से घटाकर उसे १७० रु० प्रतिटन किया गया और बाद में २७ फरवरी १९५३ को इसे और घटाकर ८० रु० प्रतिटन कर दिया गया। सन् १९५३-५४ जूट उद्योग के लिए अपेक्षाकृत अधिक स्थिर वर्ष थे।

के निर्यात से अधिक वृद्धि हुई और इस प्रवृत्ति को युद्ध-काल में और उसके पश्चात् और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। जूट की खपत भारत में उत्तरोत्तर बढ़ती रही। १९३९-४० में निर्यात की मात्रा से १४१%अधिक देश में ही जूट की खपत हुई थी। भविष्य में जूट की बिक्री में कमी होने की सम्भावना को रोकने के दृष्टिकोण से भारत की केन्द्रीय जूट कमेटी (इण्डियन सेन्ट्रल जूट कमेटी) ने, जिसने अपना कार्य १९३६ के अन्त में आरम्भ कर दिया था, जूट और जूट द्वारा निर्मित वस्तुओं के सम्बन्ध में निरन्तर अन्वेषण-कार्य करते रहने के लिए कुशल प्रबन्धकों की देखरेख में एक औद्योगिक प्रयोगशाला खुलवाई।[1]

५. नील—नील का इतिहास बड़े ही उत्थान और पतन का इतिहास है। इसका आरम्भ ईसवी सम्वत् के आरम्भ से हुआ। 'आरम्भ में पश्चिमी भारत में यह उद्योग पुर्तगालियों के हाथ में था, पर १७७८ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल में इसे पुनर्जीवन प्रदान किया और २० वर्ष तक इसे प्रोत्साहन दिया। पर १८३७ में जब यह उद्योग तिरहुत और उत्तरप्रदेश में आ गया तो भारत को नील उत्पादन करने वाले संसार के देशों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया, जिस पद से वह कुछ दिनों के लिए पश्चिमी द्वीप-समूह द्वारा हटा दिया गया था। भारत का यह स्थान उस समय तक बना रहा जब तक कि जर्मनी के लिए १८९७ में व्यापारिक स्तर पर नील का उत्पादन (वास्तव में लगभग ३० वर्ष पहले ही नील संश्लेषित हो चुका था) करना सम्भव नहीं हो गया। इसके पश्चात् बिहार के कारखानों का भी भविष्य वही होता दिखाई पड़ने लगा जो कि मंजिष्ठा और लाक्षारंजक का उत्पादन करने वाले उद्योगों का हो चुका था।'[2] भारतीय निर्यात पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। १९०७-८ तक नील का निर्यात रंजक वस्तुओं और चमड़ा कमाने की वस्तुओं के निर्यात के मूल्य का आधा था, पर १९१३-१४ में यह अनुपात कम होकर १/५ हो गया। नील की खेती का क्षेत्रफल भी १८९६-९७ में १,६८८,९०१ एकड़ से घटकर १९१३-१४ में १,७२,६०० एकड़ हो गया और निर्यात भी १६६,५२३ हण्ड्रेडवेट से घटकर १०,९३९ हण्ड्रेडवेट हो गया। नील के उद्योग को अस्थायी प्रोत्साहन १९१४-१८ की लड़ाई के कारण मिला जिसके कारण संश्लेषित नील की माँग का सारे संसार में अन्त हो गया था और इसका परिणाम यह हुआ कि नील का मूल्य बढ़ गया। नील की खेती का क्षेत्रफल भी बढ़कर १९१६-१७ में ७००,००० एकड़ हो गया और निर्यात १९१५-१६ में बढ़कर ४१,९३२ हन्ड्रेडवेट हो गया। युद्ध के समाप्त होने पर फिर कुछ अवनति हुई। इन दिनों तो नील का निर्माण बिलकुल ही नगण्य हो गया। १९३८-३९ में कुल निर्यात का मूल्य ४१,००० रु० था और १९३९-४० में घटकर १७,००० रु० रह गया। इस

१. भारतीय जूट मिल संस्था (इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन) ने उत्तरी अमेरिका के बाजारों में जूट की खपत बनाए रखने तथा बढ़ाने के लिए बाजार-विस्तार प्रोग्राम (मार्केट डिवेलपमेन्ट प्रोग्राम) प्रारम्भ किया है। सन् १९५२ से टाट के बोरों का विज्ञापन भी राष्ट्रीय पैमाने पर किया गया है। विदेशी बाजारों को बनाए रखने के लिए यह अति आवश्यक है।—अनुवादक

२. देखिए, कपास, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ २६४।

उद्योग के भविष्य के सम्बन्ध में मतभेद है, पर इसकी उन्नति की कोई आशा नहीं है। सस्ती लागत पर उत्पत्ति करने और निर्यात करने ही में कल्याण है। १९१५ में दिल्ली कान्फ्रेन्स ने इस उद्योग को तीन दृष्टिकोणों से सहायता देने की सिफारिश की थी—कृषि, अन्वेषण और व्यापार। १९१८ में नील के निर्यात पर उपकर लगाया गया। इस आय को भारत सरकार द्वारा नील की खेती और निर्माण-सम्बन्धी वैज्ञानिक अन्वेषण पर खर्च करने का इरादा था।

१९४०-४१ में नील की खेती के अन्तर्गत ६०,००० एकड़ भूमि थी'[1] इसकी खेती में भाग लेने वाले मुख्य रूप से मद्रास, उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब और बंगाल आदि प्रदेश थे। विदेशी व्यापार की दृष्टि से बिहार का बहुत बड़ा महत्त्व है क्योंकि यहीं पर यूरोपीय प्रबन्धकों की देखरेख में नील से रंजक उचित रूप से निकाला और अंकित किया जाता है। विहार के कारखानों में उत्पादित नील १९३९ के पहले कलकत्ते से मुख्यतः ग्रीस, इंगलैण्ड, मिश्र, यूगोस्लाविया, जापान और अदन को भेजा जाता था।[2]

६. अफीम—अफीम की खेती के अन्तर्गत तीव्रता मे कमी होती गई है। इसके कारण, १९०७ में चीन को उसके साथ किये समझौते के आधार पर पूर्णरूप से अफीम भेजना बन्द करना, १९३५ तक अन्य देशों को भी ऐसे ही समझौतों के अनुसार अफीम भेजना बन्द करना तथा देश में सरकार द्वारा अफीम के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाने की नीति हैं। तत्कालीन ब्रिटिश भारत में अफीम की खेती के क्षेत्रफल में कमी हो गई। १९०६-७ में ६१४,८७९ एकड़ भूमि में खेती होती थी, पर १९३९-४० में यह क्षेत्रफल घटकर ७,१३८ एकड़ हो गया। पोस्त की खेती सरकारी लाइसेन्स प्राप्त करके की जाती है और आजकल तो इसकी खेती उत्तरप्रदेश (५,८३४ एकड़) और पंजाव (१,३०४ एकड़) तक ही सीमित है।[3] १९३४-३५ में ६४४ पेटियाँ या ८२५ हण्ड्रेडवेट अफीम विदेश भेजी गई जबकि पिछले वर्ष २,८२३ पेटियाँ या ३५२४ हन्ड्रेडवेट अफीम भेजी गई थी। १९०९-१० से १९१३-१४ तक के पाँच वर्षों का औसत निर्यात ५१,००० हन्ड्रेडवेट था जिसका मूल्य ९.९७ करोड़ रुपया था।[4] व्यक्तिगत रूप से १९३५-६ के बाद से अफीम का निर्यात नहीं हुआ है। इस प्रकार भारत ने अफीम द्वारा प्राप्त होने वाली एक बहुत बड़ी आय का त्याग अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के अन्तर्गत अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने में किया है।

७. तम्बाकू—ऐसा विश्वास किया जाता है कि तम्बाकू की फसल का उत्पादन

१. १९४९-५० में नील की खेती का क्षेत्रफल १९,००० एकड़ था।—स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रेक्ट ऑफ इण्डिया, १९५१-५२, पृ० ५२०।

२. सन् १९५०-५१, १९५१-५२ और १९५२-५३ में रंजकरंगों का निर्यात मूल्य क्रमशः ६०,७७,००० रु०, १,५४,०४,००० रु० तथा १,००,९५,००० रु० था।

३. १९४९-५० में ४७,००० एकड़ भूमि पर अफीम की खेती होती है। सन् १९५०-५१ में पंजाब में २,००० एकड़, उत्तरप्रदेश में १६,००० एकड़, मध्यभारत में १८,००० एकड़, राजस्थान में ८,००० एकड़ और हिमाचल प्रदेश में ३,००० एकड़ भूमि अफीम की खेती के अन्तर्गत थी।

४. उपर्युक्त आँकड़ों की तुलना में अफीम के निर्यात की मात्रा बहुत कम हो गई है। गत वर्षों में इसके

भारत में १७ वी शताब्दी के आरम्भ में पुर्तगालियों द्वारा किया गया था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जमाने से ही सरकार ने तम्बाकू की पत्तियों को सुखाने और उसको उपयोग के योग्य बनाने के देशी ढंगों में सुधार तथा पत्ती की किस्म का विकास करने का प्रयत्न किया है। तम्बाकू-उद्योग के दो बड़े-बड़े केन्द्र हैं—एक उत्तरी और पूर्वी बंगाल और दूसरा दक्षिणी भारत। १९३९-४० में तम्बाकू की खेती में कुल भूमि १३,१०,००० एकड़ लगी हुई थी जिसमें मद्रास, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, बम्बई उत्तरप्रदेश और पंजाब की भूमि सम्मिलित है।[1] यद्यपि भारत में उत्पादित तम्बाकू का अधिकांश यहीं काम आ जाता है, फिर भी कुछ मात्रा में तम्बाकू की पत्ती, विशेषकर मद्रास से, विदेश भेजी जाती है। १९३९-४० मे ५७६ लाख पौण्ड तम्बाकू जिसका कि मूल्य १८१ लाख रुपया था, विदेश भेजी गई थी। १९४१-४२ मे निर्यात का मूल्य २२० लाख था जो १९४२-४३ में १४९ लाख रुपया रह गया। १९४३-४४ में तो पिछले वर्ष से भी निर्यात कम हो गया। उसकी मात्रा केवल १६९ लाख पौण्ड थी जिसका मूल्य ७६ लाख रुपया था जबकि १९४२-४३ में निर्यात की मात्रा ३८२ लाख पौण्ड थी। १९४३-४४ में जितनी तम्बाकू का निर्यात हुआ था उसमें ९४ प्रतिशत कच्ची पत्ती का अंश था, जिसका निर्यात ३७१ लाख पौंड से घटकर १६० लाख पौंड और मूल्य १३८ लाख रुपये से घटकर ५८ लाख रुपया हो गया था। इंगलैण्ड के लिए निर्यात बहुत कम हो गया। १९४२-४३ में २६३ लाख पौंड से घटकर[2] बाद में ४५ लाख पौंड हो गया।[3] जहाँ तक बनी हुई तम्बाकू से सम्बन्ध है आयात का मूल्य निर्यात से सदा बढ़कर रहा है, और यह अन्तर इधर सिगरेट के अधिक प्रयोग के कारण बहुत बढ़ गया है। १९२९-३० में भारत ने ५३ लाख पौंड सिगरेट, जिनका मूल्य २१३ लाख रुपया था, और ४८ लाख पौंड तम्बाकू जिसका मूल्य ५७ लाख रुपया था, विदेश से खरीदा। धीरे-धीरे सिगरेट का आयात कम हुआ और १९३३-३४ में घटकर ५,९३,००० पौंड हो गया। तब से आयात-कर के घट जाने के कारण सिगरेट के आयात में उन्नति हुई है। १९३९-४० में १३,७१,००० पौंड का आयात हुआ जिसका मूल्य ४० लाख रुपया था। तम्बाकू की कच्ची पत्ती का आयात १९३८-३९ में ६४ लाख पौंड से १९३९-४० में घटकर ५८ लाख पौंड हो गया, परन्तु मूल्य ५८

निर्यात की मात्रा और मूल्य इस प्रकार था :

	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१ ५२
मात्रा (हंड्रेडवेट)	१७७६	६१३५	४८१३
रुपये (हज़ार)	५८७०	२,००,९९	१,७३,३५

१. सन् १९५०-५१ में ९०२,००० एकड भूमि तम्बाकू की खेती के अन्तर्गत थी। तम्बाकू उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र बम्बई (२४६ ००० एकड) मद्रास (३७७,००० एकड), बिहार (४४,००० एकड़), पश्चिमी बंगाल (४४,००० एकड) उत्तरप्रदेश (४३,००० एकड़) आदि थे।

२. रिव्यू ऑफ द ट्रेड ऑफ इण्डिया (१९४३-४४), पृ० १०१।

३. सन् १९४५-४६ से प्रत्येक एकान्तरिक वर्ष में निर्यात की मात्रा बढी और घटी भी है, परन्तु १९४८-४९ से १९५१-५२ तक निर्यात की मात्रा और मूल्य में लगातार वृद्धि हुई है। सन् १९५१-५२ में अनिर्मित तम्बाकू के निर्यात की मात्रा और मूल्य क्रमशः ९९,२३५,००० पौंड तथा १३,९३,५२,००० रुपये थी।

लाख रुपये से बढ़कर ६४ लाख रुपया हो गया। १९४३-४४ में तम्बाकू के आयात में कुछ वृद्धि हुई। आयात की हुई सभी प्रकार की तम्बाकू ९८ लाख पौंड थी जिसका मूल्य १९४३-४४ में १६० लाख रुपया था जबकि इसके पिछले वर्ष ८६ लाख पौंड का आयात हुआ था, जिसका मूल्य १३३ लाख रुपया था। कच्ची तम्बाकू की पत्ती का आयात भी ७८ लाख की पौंड से बढ़ गया।[1] देश की माँग के कारण भारत में ही अनेक सिगरेट का निर्माण करने वाले कारखानों के खोलने में प्रोत्साहन मिला है। भारतीय तम्बाकू की पत्ती भरने के लिए बहुत ही उपयुक्त है पर लपेटन के योग्य नहीं है। यह कमी १९४१ तक जावा और सुमात्रा में पाई जाने वाली एक तरह की पत्ती के बहुत बड़ी मात्रा में आयात करने से पूरी हुई। भारतीय तम्बाकू की जाति मे उन्नति करने के प्रश्न पर कृषि अन्वेषण संस्था (एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) के वनस्पति विभाग ने अपनी शक्ति का प्रयोग आरम्भ किया है। उन्होंने अपना प्रयत्न अनेक प्रकार की तम्बाकुओं के प्रसंकरण से नये प्रकार की तम्बाकू पैदा करने में और विशेषकर ऐसी तम्बाकू पैदा करने में जो कि अपने रंग, स्वाद और बनावट में वर्जीनिया के समान हो, लगाया है। आय-कर की वृद्धि ने भी भारतीय तम्बाकू की खेती और उपयोग[2] को बढ़ाया है।[3]

८. पशुओं का चारा—पशुओं को खिलाने वाली फसलों की खेती का क्षेत्रफल १९०१-२ में २९,४०,००० एकड़ से १९४०-४१ में १,०४,७०,००० एकड़ हो गया। उत्पादन के मुख्य क्षेत्र पंजाब (५०,४०,००० एकड़), बम्बई (२३,७०,००० एकड़) और उत्तरप्रदेश (१६,३०,००० एकड़) है।[4] इस वृद्धि के होते हुए भी हम कह सकते हैं कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए जहाँ इतनी अधिक संख्या में पशुओं का समुचित ढंग से पालन-पोषण होना आवश्यक है, पशुओं के चारे की उत्पत्ति में लगाया हुआ भूमि का क्षेत्रफल बहुत ही नगण्य है। मोटे चारे की फसल दूध की उत्पत्ति बढ़ाने की दृष्टि से व्यर्थ है। जो फसलें बोई जाती हैं उनकी खेती सन्तोषप्रद है, पर सबसे अधिक मूल्यवान फलीदार फसलें हैं जैसे कि बरसीम (मिस्र की क्लोवर) और लूसरीन (अल्फाल्फा) घास इत्यादि। इन फसलों की महत्ता भारतीय कृषि के लिए विशेष

---

१. रिव्यू ऑफ द ट्रेड ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ८४।

२. रिव्यू ऑफ एग्रीकल्चरल आपरेशन्स इन इण्डिया देखिए (१८२८-२९), पृष्ठ ६७-७०।

३. गत वर्षों में १९४८-४९ से १९५१-५२ तक अनिर्मित तम्बाकू का आयात बराबर घटता रहा है। सिगरेटों का आयात १९४९-५० और १९५०-५१ में बहुत कम होकर १९५१-५२ में फिर बढ़ गया। १९४९-५० और १९५०-५१ के क्रमशः ११२ पौंड और १३३ पौंड सिगरेटों के आयात की तुलना में १९५१-५२ में ८९३ पौंड सिगरेटों का आयात हुआ जिनका मूल्य १०,१५,००० रुपया था। यद्यपि आयात की मात्रा अधिक थी परन्तु उसका मूल्य पिछले वर्षों की तुलना में कम था। सन् १९४९-५० और १९५०-५१ के आयात का मूल्य क्रमशः ११६४००० रु० तथा १५३०,००० रु० था। सन् १९५१-५२ के आयात मूल्य से सही तुलना कीजिए।

४. सन् १९५०-५१ में चारे की फसलों के अन्तर्गत १,११,७१,००० एकड़ भूमि थी। इसके उत्पादन के मुख्य क्षेत्र पंजाब (१९,९८,००० एकड़), उत्तरप्रदेश (१७,५६,००० एकड़) और बम्बई (४२,५६,००० एकड़) हैं।

है, क्योंकि इनमें भूमि की उर्वरता बढ़ाने की शक्ति है।[1] कृषि विभाग ने बहुत दिनों से चारे की उत्पत्ति और उसके सुरक्षित रखने के प्रश्न पर विशेष ध्यान दिया है। मिस्र की क्लोवर घास का भूमि को पुनर्जीवन देने के दृष्टिकोण से बिहार और मध्यप्रदेश में सफलतापूर्वक प्रयोग और पूसा में वरसीम की उत्पत्ति को विभाग का प्रसंशनीय कार्य कहा जा सकता है।

६. रबड़—रबड़, जिसके आजकल असंख्य प्रयोग हैं, मुख्यतः दक्षिणी भारत में (मद्रास, कुर्ग, मैसूर तथा ट्रावन्कोर-कोचीन में) पैदा किया जाता है। १६४०-४१ में रबड़ की खेती का क्षेत्रफल १३०,००० एकड़ था और कुल उत्पत्ति ३,५५,३०,००० पौण्ड थी जबकि १६३२ में उत्पत्ति केवल १८ लाख पौण्ड थी। उस समय रबड़ के व्यापार में बड़ा तीव्र अवसाद छाया हुआ था।[2] अधिकांश उत्पादित रबड़ विदेशों को भेजा जाता है। १६३६-४० में २ करोड़ १५ लाख पौण्ड रबड़ जिसका मूल्य ६४ लाख रुपया था बाहर भेजा गया था, जबकि पिछले वर्ष १ करोड़ ७२ लाख पौण्ड, जिसका मूल्य ७२ लाख रुपया था, बाहर भेजा गया गया था।[3] १६१० के पहले निर्यात कम था, क्योंकि उद्योग अपनी आरम्भिक अवस्था में था। आज भी संसार के उत्पादन में भारत का भाग बहुत कम है। जून १६३४ से रबड़ के उत्पादन और निर्यात एक अन्तर्राष्ट्रीय योजना के अनुसार नियमित है। इस योजना ने पहले की रबड़ की बिक्री की गिरी हुई स्थिति का उद्धार किया है। रबड़ के बने सामान (टायर और ट्यूब इत्यादि) के आयात का मूल्य १६३६-४० में १४८ लाख रुपया था। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्व की घटना १६३६ में रबड़ के टायर और अन्य सामान बनाने की एक बड़ी भारी फैक्ट्री की स्थापना थी। दूसरे महायुद्ध के प्रोत्साहन से रबड के सामान का स्थानीय कारखानों में निर्माण बढ़ जाने के कारण भविष्य में रबड़ के सामान के आयात के घट जाने की सम्भावना है। ब्रिटिश भारत में मुख्यत बर्मा से बहुत बड़ी मात्रा में रबड़ मँगाया भी जाता था।[4]

८. कृषि उत्पत्ति का निर्यात—भारत की मुख्य फसलों के पिछले पृष्ठों में किये गए वर्णन में उनके निर्यात के सम्बन्ध में भी कुछ बातें बताई गई हैं। अब यह आवश्यक है कि कृषि-उत्पत्ति के निर्यात के विषय पर अलग से विचार कर लिया जाय। इस प्रश्न की आलोचना करने से पहले कच्चे माल और खाद्यान्न के कुछ आँकड़े देना आवश्यक होगा। अगले पृष्ठों पर दी गई तालिकाओं में सन् १६२६ से १६४४ तक का (१) अन्न और (२) दूसरी मुख्य फसलों के निर्यात की मात्रा और उसका मूल्य दिया गया है।

---

१. एन० सी० राइट की 'रिपोर्ट ऑन द डेयरिंग इण्डस्ट्री ऑफ इण्डिया' देखिए।

२. इस समय रबड़ के अन्तर्गत १७०,००० एकड़ भूमि है और उसकी उत्पत्ति १८,००० टन है जो दुनिया की कुल रबड़ उत्पत्ति का १ प्रतिशत है।—इण्डियन ईअर बुक १६५४

३. सन् १६५२-५३ में २,०८,०४२ पौण्ड (कच्चा) रबड़ बाहर भेजा गया जिसका मूल्य ४२८,२५६ रुपये था। रबड़ के बने सामान (टायर ट्यूब आदि) के निर्यात का मूल्य १,४२,२४,८७० रु० था।

४. रबड़ और रबड़ के सामान का आयात अब भी होता है। सन् १६५२-५३ में ६० लाख रुपये के मूल्य की रबड़ और उसके सामान का आयात हुआ।

तीसरी तालिका में मुख्य फसलों के निर्यात का कुल उत्पत्ति मे प्रति सैंकड़ा अनुपात दिया गया है और चौथी में कुल निर्यात के मूल्य का प्रति सैंकड़ा अनुपात दिया गया है और मुख्य अन्नों तथा अन्य वस्तुओं की १६३६-४३ और १६४३-४४ के निर्यात-व्यापार में तुलनात्मक महत्ता दिखाई गई है।[1]

६. खाद्य पदार्थों के निर्यात पर प्रतिबन्ध[2]— यद्यपि बर्मा के भारत से पृथक् होने के पश्चात् से चावल का भारत से निर्यात बहुत कम हो गया है। गेहूँ की स्थिति (जिसका अभी हाल तक विदेश भेजे जाने वाले अन्नों में दूसरा स्थान था) का निर्यात-व्यापार में पहले ही वर्णन किया जा चुका है और इस सम्बन्ध में हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि निर्यात की मात्रा बहुत गिर गई है। इसलिए खाद्यान्न के निर्यात पर विचार करने से हमें चावल[3] के ही विषय में विशेष विचार करना होगा जिसकी महत्ता बर्मा के पृथक् हो जाने से अब बहुत घट गई है। पर इसमें सन्देह नहीं कि दूसरे महा-युद्ध के आरम्भ होने के पहले गेहूँ और चावल का आयात रोकने के लिए रक्षा के उपायों का प्रयोग आवश्यक हो गया था। क्या अन्न तथा कच्चे माल का निर्यात भारत के लिए प्रसन्न होने अथवा भयभीत होने की बात है? कुछ लोगों का मत है कि यह निर्यात बढ़ते हुए वैभव का द्योतक है। इससे यह प्रकट होता है कि देश संसार में प्रचलित मूल्य का लाभ उठा रहा है और अपने यहाँ की आवश्यकताओं को पूरा करने के पश्चात् बचत की मात्रा को विदेश भेजता है और अपने निर्यात के मूल्य के बदले में सस्ती बनी हुई ऐसी वस्तुओं का आयात करता है जिनका देश में लाभकारी ढंग से निर्माण सम्भव नहीं है। इस मत के अनुसार इस निर्यात का यह अर्थ है कि देश में इतनी मात्रा की यथार्थ में बचत होती है—जिसका अच्छी फसल में देश त्याग कर सकता है और सुर-क्षित रख लेने पर जिसका प्रयोग फसल खराब होने पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति

---

१. १६३६-४०, १६४१-४२, १६४२-४३ और १६४३-४४ में ब्रिटिश भारत से विदेश भेजे हुए कुल निर्यात का मूल्य क्रमशः २,०३,४३,५४,००० रु०; २,३७,५६,२१,००० रु०; १,८७,६०,४४,००० रु०; १,६६,८७,६८,००० रु० था।—रिव्यू ऑफ दि ट्रेड ऑफ इण्डिया १६३६-४० (पृष्ठ १३६) और १६४३-४४ (पृष्ठ ८६) देखिए।

२. सेक्शन ६ और १० में प्रगट किये हुए मत स्पष्ट रूप से विचार करने में सहायक होंगे। पर इस मत का प्रतिपादन करने के लिए सामान्य स्थिति और राज्य-निर्बाधता की आर्थिक उन्नति के प्रचलन की कल्पना करनी होगी। वर्तमान युद्ध द्वारा जनित आपदावस्था में जबकि सर्वत्र सरकारी नियम और नियंत्रण लागू है, इसका कोई स्थान नहीं है। यद्यपि राज्य-व्यवस्था द्वारा नियन्त्रण और नियमित करने के ढंग की लोगों ने कड़ी आलोचना की है परन्तु वर्तमान काल में प्रयोजनात्मक और विशद सरकारी हस्तक्षेप की उपयोगिता का सारा संसार मान करता है।

३. "यद्यपि भारतवर्ष संसार में सबसे अधिक चावल का उत्पादन करता है और गेहूँ के उत्पादन में उसको द्वितीय स्थान प्राप्त है, फिर भी उसके इन अन्नों के सम्बन्ध में निर्यात-व्यापार का कोई विशेष महत्ता नहीं है क्योंकि अधिकांश इन अन्नों का उत्पादन देश में ही काम आ जाता है।"—इण्डियन फाइनेन्स (ईस्टर्न ग्रुप नम्बर १६४०) पृष्ठ १८५। यह पहले ही बताया जा चुका है कि भारत बर्मा से बहुत बड़ी मात्रा में चावल खरीदता है। दालें, जौ, ज्वार, बाजरा और मक्का दूसरे अन्न हैं जो विदेश भेजे जाते जाते हैं, परन्तु निर्यात की कुल मात्रा बहुत थोड़ी है।

प्रथम तालिका

अन्न, दालें और आटा	मात्रा (१,००० टन) युद्ध के पहले का औसत १९०९-१० से १९१३-१४	युद्धकालीन औसत १९१४-१५ से १९१८-१९	युद्ध के बाद का औसत १९१९-२० से १९२३-२४	१९२९-३०	१९३९-४०	मूल्य (१००० रु०) युद्ध के पहले का औसत	युद्धकालीन औसत	युद्ध के बाद का औसत	१९२९-३०	१९३९-४०
धान ...	४२	३२	३५	२८	४	२७१२	२००९	३१३६	२२२०	२८७
चावल ...	२,३९८	१,६८५	१४६२	२२९८	२६२	२५६६५५	१८८८२५	२४३३६६	३१२८४२	३११०५
गेहूँ ...	१,३०८	८०७	२३७	१३	८	१३९६८६	१०३३४१	३६६६१	२१२४	१०२०
गेहूँ का आटा ...	५५	५७	५६	५१	५०	८६९९	११३२०	१५०२६	१०७१८	६८१९
दाल ...	१५९	१२९	१४१	९७	७३	१२९८१	१८८५२	२०२७८	१६३७८	९५२९
जौ ...	२२७	१९८	४०	६	...	१९३१६	२२१७३	४६५६	७२	६७२
ज्वार और बाजरा ...	४१	४१	११	१५	७	३७६०	४४१५	१७३९	२५१३	७४५
अन्य प्रकार के अन्न ...	१८१	१९२	२७	२	४	१४२९६	२३२४५	३४०३	४४९	३६०
कुल अन्न	टन ४४११	३१४१	२००९	२५१०	४०८	४५८१११	३७४१८०	३२८२६५	३४७११६	५०७३७
चाय	पौ. २६६,४९७	३२२६९१	३२११६९	३७६६३४	३५६६९५	१३०६७८	१७५४५७	२०९२४२	२६००६४	२६०७७८

प्रथम तालिका (चल रही है)

अन्न, दाल और आटा	मात्रा (१००० टन) १९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४	कीमत (रु० १०००) १९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४
धान ...	२	२८	११	....	१५५	३१४०	१४०३	......
चावल ...	२५१	३०३	२५५	२७	३३४७२	४८३४८	५२४८७	६०४१
गेहूँ ...	४५	१८६	८	३१	४९७१	२४१६२	१२१०	६९२७
गेहूँ का आटा ...	६६	८७	१४	११	९११६	१३६६९	२६८६	३२२६
दाल ...	८८	११३	३८	१६	१०६९४	१३७९५	७३९४	५२१३
जौ ...	......	१	......	...	४१	१२१	३०	१
ज्वार-बाजरा ...	२	५	६	१०	१५९	४८७	८८९	१५८७
दूसरा अन्न ...	४	३	२०	...	४०१	३६६	३१२४	८७
कुल	टन ४५८	७२६	३५२	९५	५९०८९	१०४०८८	६९३२३	१३०८२
चाय	पौ. ३४९४८०	३८१९५१	३२२९१७	४१३०९०	२७७८६१	टन ४५८	३१६३९७	३७८५८२

तालिका २

	मात्रा (१००० टन)					मूल्य (१००० रुपये)				
	युद्ध के पहले का औसत १९०९-१० से १९१३-१४	युद्धकालीन औसत १९१४-१५ से १९१८-१९	युद्ध के पश्चात् का औसत १९१९-२० से १९२३-२४	१९२९-३०	१९३९-४०	युद्ध के पहले का औसत	युद्ध-कालीन औमत	युद्ध क पश्चात् का औसत	१९२९-३०	१९३९-४०
रेशे : कपास ...	४३०	३९१	५२१	७२७	५२६	३३२७८३	३३६३१९	६४७३८९	६५०७७०	३०१०८०
जूट ...	७६४	४६४	५५४	८०७	५६८	२२२०२४	१२८०२८	१९५२७७	२७१७३८	१९७३१८
कुल रेशे ...	११९४	८५५	१०७५	१५३४	१०९४	५५४८०७	४६४३४७	८४२६६६	९२२५०८	४९८३९८
तिलहन : आवश्यक ...	१०	८	९	४	८	२०५७	२४१६	३५८८	१५६८	२०४७
कम आवश्यक : अलसी	३७९	२७०	२५१	२४८	२१९	७९८९०	४९४९४	७५७७२	५७२३७	३१७६१
मूगफली ...	२१२	११९	१९५	७१४	५४९	३५२५७	१९११७	५६१९७	१६३८८६	७१९०१
राई ...	२७३	९१	२०६	४४	२२	४८४६९	१४३०१	५०७३७	९२०८	३२७७
तिल ...	११९	३३	२८	११	४	२४८१५	६७३५	१०२७३	२७१८	७४९
रेंडी ...	११४	८९	४८	१०६	४०	१६६४३	१५७५५	११४५४	२१४९६	७११८
नारियल ...	३१	१६	७	...	...	११०४३	६०७३	२८८४	६८	३८
रुई ...	२४०	६९	१५५	५८	२	१७९९८	५०२५	१८८०५	५४८७	३३५
सरसों ...	४	३	२	३	३	१००८	९१६	९७५	७६२	६६५
Mowra ...	२९	३	८	...	...	४२५३	३०४	१२७९	६३	...
पोस्त ...	३३	५	६	...	...	६९४१	९५८	२०९७	७१	२०
अन्य प्रकार ...	९	२	८	७	४	२३२३	६४८	१३०३	११११२	१०२२
कुल	१४५३	७०८	९२३	११९५	८५१	२४३६९७	१२१७४२	२३५३६४	२६४६७६	११८९३३

तालिका २ का शेषांश

	मात्रा (१,००० टन)				मूल्य (१००० रु०)			
	१९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४	१९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४
रेशे : कपास ...	३८७	२५७	५४	५०	२३५६२५	१५९४०२	३६४२०	६३६३५
जूट ...	२४३	३१५	२४३	१७८	७८४६०	१०४१७३	९०१५७	८३२९१
कुल रेशे ...	६३०	५७२	२९७	२२८	३१४०८५	२६३५७५	१२६५७७	१४६९२६
तिलहन : आवश्यक ...	१४	१८	१३	५	३८४५	५४०६	४१२७	२५८३
कम आवश्यक : अलसी	२३८	२५६	१६१	३७	३६८७६	३९९९८	३१००८	११००७
मूँगफली ...	३३९	३०५	२५८	२४१	४०६३५	४८८४३	५१२५३	८२१८१
राई ...	३५	३४	३५	१८	४६६२	४५६२	६६२८	५७१४
तिल ...	४	९	१०	६	६९१	१४२६	२४६८	२१२५
रेंडी ...	६७	२०	२९	१४	११८७३	२७०९	५९६३	५३१३
नारियल ...	...	...	...	...	३८	४६	७९	...
राई ...	...	...	१	१	१४	२०	४९	३४५
सरसों ...	४	१	१	...	९५६	११५	३३५	१६५
Mowra ...	...	...	...	...	...	४	११	१०
पोस्त ...	...	१	...	...	६५	३२८	१२२	३
अन्य प्रकार ...	३	३	४	४	८०७	८५९	३१३३	२०४६
कुल	७०४	६४७	५१२	३२६	१००४९२	१०४३१६	१०५१७६	१११४९२

रिव्यू ऑफ द ट्रेड ऑफ इण्डिया (१९२९-३०; १९३९-४० और १९४३-४४)

तालिका ३

	युद्ध के पहले का औसत १९०९-१० से १९१३-१४	युद्धकालीन औसत १९१४-१५ से १९१८-१९	युद्ध के पश्चात् का औसत १९१९-२० से १९२३-२४	१९२७-२८	१९३०-३१	१९३६-३७	१९३९-४०	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४
चावल	९	५	५	८	७	४	१·१	१·३	१·१	०·१
गेहूँ	१४	९	३	४	२	२	०·१	१·८	०·१	०·३
चाय	९६	८९	९५	९१ (क)	९१	७७	७८·९	७६·२	५७·३	७१·९
कपास	५६	५१	६१	४६	७५	६८	५९·६	२३·१	६·४	५·३
जूट	५१	३१	४८	४९	३१	५३	३३·०	३२·२	१५·०	१४·२
अलसी	७३	६३	५९	६३	६८	७१	४६·९	७१·०	३९·२	९·७
राई और सरसो	२३	८	१९	८	४	४	२·२	३·२	३·४	२·०
तिल	२५	८	६	२	०·२	३	०·८	२·१	२·२	१·४
मूँगफली	३५	१२	१९	२४	१९	२६	१२·३	१५·०	९·०	६·३
नील	४०	४४	२७	१७	७	(ख)	(ख)	(ख)	(ख)	....

(क) .... १९२६-२७ (ख) .... अप्राप्य

तालिका ४

	१९३९-४३	१९४३-४४		१९३९-४३	१९४३-४४
कपास	१५·२६	३·७५	खली	१·००	०·०७
जूट	९·७०	४·१७	मसाला	०·५३	०·७२
अन्न, दाल और आटा	२·४९	१·१५	तम्बाकू	१·२४	०·३८
चाय	१२·८२	१८·९४	काफ़ी	०·३६	० ३५
तिलहन	५·८५	५·५८	फल और तरकारियाँ	१·१६	१·१४

के लिए कर सकता है ।[1]

दूसरे पक्ष वालों का मत है कि अन्न और कच्चा माल, जिसका निर्यात होता है, वह ऐसी वास्तविक बचत नही है जिसे हम देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद की अवशिष्ट मात्रा समझें। इसलिए यह उचित होगा कि देश के सच्चे हित के लिए इस निर्यात को कर लगाकर रोकना अथवा उस पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक होगा। इस पक्ष वालों का कहना है कि जब कि देश की जनसंख्या का अधिकांश भूख से पीड़ित हो, यहाँ के अन्न को विदेश जाने देना तथा देश के बहुमूल्य कच्चे माल का विदेशों में बेरोक खिचता जाना, जब कि देशी कारखानों के विकास के लिए उनकी बहुत बड़ी आवश्यकता है, और सन्तोष के साथ देखते रहना, महान् पातक है।

इस मतभेद के सम्बन्ध में हम एक साधारण सत्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते है जिसे प्रायः लोग भूल जाते हैं, कि माल के केवल विदेश भेज देने मात्र से ही यह निष्कर्ष निकालना, कि माल भेजने वाले देश की आवश्यकता माल भेजने के पहले पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर दी गई होगी, अनुचित है। 'वास्तविक बचत' शब्द ही यह संकेत करता है कि कोई 'अवास्तविक बचत' भी होगी। सच बात तो यह है कि जो बचत विदेश भेजी जाती है उसमे यही वैज्ञानिक विशेषता होती है। विदेश को निर्यात इसी-लिए होता है कि प्रचलित मूल्य पर देश में उसकी माँग नही है। अर्थशास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने वाला भी जानता है कि अर्थशास्त्र मे माँग का अर्थ वस्तु प्राप्त कर लेने की इच्छा मात्र ही नही है, वरन् वह इच्छा है जिसे उपभोक्ता की क्रय-शक्ति का सम्बल प्राप्त है। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका गेहूँ का निर्यात करता है तो इसका यह अर्थ नही कि प्रत्येक अमेरिकावासी व्यक्ति को जितना गेहूँ उपयोग के लिए चाहिए, प्राप्त हो चुका है। इसी प्रकार भारत मे भी अन्न के निर्यात का यह अर्थ नही समझना चाहिए कि जो अन्न विदेश भेजा जा रहा है उसकी देश में किसी को आवश्यकता नहीं है। इन दोनों देशों में अन्तर केवल इतना ही है कि अमेरिका की अपेक्षा भारत में अधिक संख्या में लोगों की अन्न की माँग का कोई प्रभाव नहीं है। यह तो क्रम का अन्तर है, प्रकार का नहीं। इसलिए पहले 'फिस्कल कमीशन' ने चावल और गेहूँ के निर्यात के सम्बन्ध में जब बड़े ज्ञानपूर्ण ढंग से यह कहा था कि 'प्रचलित मूल्य पर भारत की वास्तविक माँग पूरी हो जाती है और विदेश के लिए निर्यात करने के लिए कुछ बच रहता है',[2] तो उन्होंने एक पूर्ण रूप से सत्य बात ही कही थी। पर वह बात पूर्ण रूप से निरर्थक भी थी। 'प्रचलित मूल्य पर' चाहे वह ऊँची हो अथवा नीची, 'वास्तविक माँग' तो सदैव पूरी होती है। पर अन्न की वास्तविक माँग के पूरा होने पर भी करोड़ों व्यक्ति देश में भूखे रह सकते हैं। भारत की यही दशा है।

इस स्थिति का सुधार करने के दो उपाय हैं (जो प्रत्यक्ष रूप से परस्पर व्यावर्तक नही हैं)—पहला तो यह कि अन्न का मूल्य इतना कम कर दिया जाय कि वह निम्न क्रय-शक्ति वाले जन-साधारण की पहुँच की वस्तु हो जाय, और दूसरा उपाय

१. टी० वर्सविक (संकलित), इकानॉमिक रिसोर्सेज ऑफ द एम्पायर, पृष्ठ १४५.
२. फिस्कल कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ १५५.

है उनकी क्रय-शक्ति को इतना बढ़ा देना कि प्रचलित मूल्य पर ही वे अपनी इच्छा को 'वास्तविक माँग' बनाने में समर्थ हो सकें।

अन्न का मूल्य कम करने का एक ढंग, जिसका सुझाव दिया गया है, अन्न को विदेश भेजने पर रोक लगाना है। पर प्रश्न तो यह है कि क्या निर्यात बन्द कर देने से अथवा बहुत अधिक निर्यात-कर लगा देने से अन्न का मूल्य जितना हम चाहते है, कम हो जायगा, और यदि हो जायगा तो क्या इसकी देश के आर्थिक जीवन पर कोई हानिकारक प्रतिक्रिया होगी ?

जो लोग प्रयत्न द्वारा अन्न का मूल्य घटाए जाने के विरोधी हैं, उनका कहना है कि अन्न का निर्यात रोक देने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि लोग अन्न के स्थान पर दूसरी फसलें जैसे रुई जूट, तिलहन आदि का उत्पादन करने लगेंगे, जब तक इनकी उत्पत्ति पर भी प्रतिबन्ध न लगा दिया जायगा। इस प्रकार अन्न का मूल्य घटाने के प्रयत्न का परिणाम अन्न के उत्पादन की कमी हो जायगी, और जनसंख्या के पेट भरने के दृष्टिकोण से स्थिति पहले की अपेक्षा और अधिक खराब हो जायगी।

निर्यात के पूर्ण रूप से रोक देने पर अथवा भारी निर्यात-कर लगा देने पर अन्न की उत्पत्ति में अवश्य कमी आ जायगी, इस मत का हमें विरोध करने की आवश्यकता नही। यदि पूर्ति बहुत लचीली है तो कम उत्पत्ति के परिणामस्वरूप देश की पूर्ति पहले से घट जायगी और यदि लचीली नहीं है तो यह मान लेना भी युक्तिसंगत होगा कि यह सिद्ध करने के लिए कि कहीं देश में ही उपयोग के लिए अधिक मात्रा में अन्न न बच रहे, उसकी पूर्ति में कमी कर दी जायगी। हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि निर्यात के रोक का अवश्यम्भावी परिणाम पहले की अपेक्षा देश में कम अन्न का बच रहना होगा। बहुत से किसानों के लिए यह सम्भव न होगा कि वे अपने खेतों को, अन्न छोड़, दूसरी फसलों के खेतों में परिणत कर सकें। उसके लगानों के कम होते जाने पर भी वह उसी मात्रा में अन्न की खेती करता चलेगा। प्रत्येक व्यक्ति जिसको भारतीय किसानों का किंचित् मात्र ज्ञान है, यह समझ सकेगा कि उसके लिए अपने संकीर्ण मार्ग को, जिस पर वह वर्षों से चलता आ रहा है, छोड़कर तुरन्त परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल नवीन मार्ग का अनुसरण करना कितना कठिन है। इसलिए यह असम्भव नहीं है कि अन्न का निर्यात रोक देने पर अन्न की पूर्ति बढ़ जाय।

बिना किसी प्रतिबन्ध के अन्न के निर्यात के पक्ष में प्रायः उपस्थित किये जाने वाले तर्क से सहमत न होते हुए भी हम यह मानने को तत्पर नहीं हैं कि प्रतिबन्ध की नीति वाञ्छनीय है। हमने पहले ही इस बात का संकेत किया है कि भारत के निर्यात की मात्रा उसकी कुल उत्पत्ति का बहुत साधारण अंश है, इसलिए यदि यह पूरी मात्रा देश में ही रोक ली जाय तो इसका प्रभाव अन्न के मूल्य पर बहुत ही कम होगा। और अधिक विचारणीय बात तो यह है कि इस प्रकार जो लाभ होगा वह किसानों के माथे जायगा। फिस्कल कमीशन (१९२३) ने गेहूँ के निर्यात के रोकने के कारण किसानों की हानि का अनुमान १६ करोड़ रुपये लगाया था। दूसरी साधारण बात जिसकी ओर फिस्कल कमीशन ने संकेत किया था, यह थी कि विचाराधीन नीति

का कृषि की उन्नति पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। बढ़े हुए मूल्य का लाभ समृद्ध किसानों को अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक प्राप्त होता है, और क्योंकि इन्हीं लोगों के पास पूँजी तथा बुद्धि विशेष होती है इसलिए इन्ही से हम कृषि में उन्नति की आशा भी कर सकते है। पर गिरा हुआ मूल्य इस वर्ग की समृद्धि में ह्रास करके उनकी उन्नति के कार्य को अपनाने की योग्यता में कमी कर देता है। यद्यपि इस तर्क को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना बड़ा सरल है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि यह सारयुक्त है। अन्न को सस्ता करने का एकमात्र संतोषप्रद उपाय कृषि-कर्म को अधिक कुशल बनाने और उत्पत्ति बढ़ाने का है। जहाँ तक जनता की क्रय-शक्ति की वृद्धि का प्रश्न है, जिससे वह पर्याप्त मात्रा में अन्न खरीद सके, वह शासन-नीति का सदा ही आदर्श बनी रहेगी।

यद्यपि हम सामान्य परिस्थिति में अन्न के विदेश भेजने पर प्रतिबन्ध लगाने के पक्षपाती नही है, पर यह मानते हैं कि कभी ऐसी असामान्य परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसके कारण अस्थायी रूप से भारी निर्यात-कर लगाने की आवश्यकता पड़ जाय। हो सकता है कि देश में ही कही की फसल खराब हो जाय अथवा भारत के अन्न की, किसी विदेश में अकाल पड़ जाने के कारण, बहुत तीव्र माँग पैदा हो जाय जैसा कि दोनों ही विश्व युद्धों के समय हो गया था, और अन्न का मूल्य बढ़कर सीमा के परे चला जाय। सरकार द्वारा हस्तक्षेप करने में शासन-व्यवस्था तथा अन्य प्रकार की अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी न केवल स्थिति सुधारने के दृष्टिकोण से, वरन् जनता की ऐसे कठिनाई के समय इन उपायों को लागू करने की माँग पूरी करने के लिए भी, सरकार को ऐसा करना पड़ सकता है। यह सत्य है कि स्थानीय अन्न की कमी के कारण भारत में मूल्य बढ़ जाने पर निर्यात स्वयमेव कम हो जाय, और उतना कम होने के पहले ही एक बड़ी मात्रा में अन्न विदेशों को भेजा जा सकता है, यदि और किसी कारण से नही तो कम-से-कम उत्पादकों द्वारा व्यापारियों को दिये अथवा व्यापारियों द्वारा निष्क्रामकों को दिये गए वचनों को पूरा करने के लिए और देश में ही काम आने के हित अन्न के निर्यात को रोकने के लिए, अथवा उसके मूल्य में बहुत बड़ी वृद्धि न होने देने के लिए, सरकार को किसी भय का अनुमान होते ही तुरन्त उपाय करने पड़ेंगे न कि इस बात की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी कि स्वयमेव सुधार होने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाय।

१०. कच्चे माल के निर्यात पर प्रतिबन्ध—कच्चे माल के निर्यात के सम्बन्ध में फिर से 'वास्तविक बचत' के उचित अर्थ समझने का प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है।

कृषि से प्राप्त कारखानों के काम आने वाले अनेक प्रकार के कच्चे माल के बेरोक निर्यात के विरुद्ध कई तर्क उपस्थित किये गए है। सर्वप्रथम यह कहा जाता है कि रुई, जूट तथा तिलहन आदि व्यापारिक फसलों का मूल्य अधिक होने से ये फसलें खेती में अन्न का स्थान ले लेती हैं। और उपजाऊ भूमि इन फसलों में पैदा करने के काम में लगा दी जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि अन्न की उपज के लिए

साधारण भूमि छोड़ दी जाती है।[1] व्यापारिक फसलों द्वारा अन्न के खेतों का जो अपहरण हुआ है उसका क्षेत्रफल व्यापारिक फसलों की खेती के क्षेत्रफल से बहुत कम है।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि व्यापारिक फसलों की खेती का क्षेत्रफल धीरे-धीरे बढ़ रहा है और अन्न की खेती का क्षेत्रफल घट रहा है, पर उत्पत्ति की मात्रा के दृष्टिकोण से दोनों में महान् अन्तर है, और व्यापारिक फसलों द्वारा अन्न की फसल का स्थान ले लेने के कारण अन्न की उपज में कमी होने का निकट भविष्य में कोई भय नहीं है। हमारी समझ में तो अभी इस बात का समय नहीं आया है कि देश में अन्न के उत्पादन के हित के लिए विशेष उपायों का प्रयोग करना पड़े; विशेषकर ऐसे कठोर उपायों का जैसा कि व्यापारिक फसलों की उत्पत्ति और निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाना इत्यादि। हमें यह न भूल जाना चाहिए कि व्यापारिक फसलों से उत्पादक को विशेष लाभ मिलता है और अभी किसानों को भी जो लाभकारी जान पड़े उसकी खेती करने की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता।

कच्चे माल के बेरोक विदेश भेजे जाने में दूसरी आपत्ति यह है कि इस नीति के कारण ऐसे महत्त्वशाली कच्चे मालों का—जैसे रुई, जूट और तिलहन आदि जिनकी कारखानों में आवश्यकता है—मूल्य इतना बढ़ा दिया जायगा कि भारतीय उद्योगपतियों के लिए अपने विदेशी प्रतिद्वन्द्वियों के सामने टिकना कठिन हो जायगा। यदि इनका निर्यात रोक दिया जाय तो भारतीय उद्योगपतियों को सस्ता कच्चा माल पाने का लाभ होगा, जो लाभ विदेशी उद्योगपतियों को प्राप्त नहीं है। देश के ऐसे उद्योगों को जिनका आरम्भ ही हुआ है, सहायता देने की आवश्यकता को हम मानते हैं, पर इसके लिए कच्चे माल का कृत्रिम रूप से मूल्य घटा देने के उपाय की सफलता पर हमें सन्देह है, क्योंकि ऐसे उद्योगों की उत्पत्ति देश की कुल उत्पत्ति की तुलना में बहुत ही कम है। रक्षण-आयात-कर तथा आर्थिक सहायता द्वारा अधिक प्रभावोत्पादक ढंग से उद्योगों की मदद की जा सकती है।

तीसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि रुई और जूट आदि फसलों की निरन्तर उत्पत्ति करने से भूमि की उर्वरता का क्षय हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि तिलहन और खली का निर्यात बहुत आपत्तिजनक है। इस प्रकार भूमि का क्षय निरन्तर होता जाता है, क्योंकि जिन तत्त्वों का खेती के कारण विनाश होता है उनकी परिपूर्ति नहीं हो पाती। इस प्रकार के भूमि के क्षय का निरोध करने के लिये तिलहन के निर्यात पर रक्षक-कर आरोपित करने तथा खली, हड्डी और मछली की खादों पर भारी निर्यात-कर आरोपित करने की सम्मति दी गई है। इस अवसर पर यह भी बता देना उचित होगा कि तिलहन पर निष्क्राम्य-कर लगा देने से स्थानीय तेल पेरने के उद्योग को प्रोत्साहन मिलेगा। भूमि का क्षय हो रहा है अथवा नहीं, यह

१. के० एल० दत्त की 'रिपोर्ट ऑन द इन्क्वायरी इन टु द राइज ऑफ प्राइसेज इन इण्डिया' (१९१४) देखिए, पृष्ठ ६४-६६।

२. ऊपर दी हुई तालिकाएँ देखिए, पृष्ठ १९२-५।

विवादग्रस्त प्रश्न है ।[१] यदि यह मान भी लिया जाय कि भूमि का क्षय नहीं हो रहा है, तो भी इस बात में दो मत नही हो सकते कि जितनी खाद वर्तमान समय में खेतों मे दी जाती है, उससे अधिक का प्रयोग करने से भूमि की उर्वरता बढ़ जायगी । इस दृष्टिकोण से तिलहन और खली पर एक साधारण निष्क्राम्य-कर के आरोप की सम्मति दी जा सकती है, जिसकी आय के एक अंश को प्रचार कार्य पर खर्च करने के लिए सुरक्षित कर दिया जाय जिससे ऐसी खाद के प्रयोग में वृद्धि निश्चित हो और जिसके फलस्वरूप खाद के मूल्य में इतनी कमी की सम्भावना भी हो जायगी कि किसानों के लिए इसका खरीदना सुगम भी हो जायगा और साथ ही तिलहन के उत्पादक किसानों को भी कोई गम्भीर आर्थिक आघात न पहुँचेगा । कृषि आयोग ने भी फिस्कल कमीशन के इस मत की पुष्टि की कि तिलहन और खली के निर्यात पर रोक लगाना और न कोई कर का आरोप करना ही न्याय संगत होगा ।[२] उनका कहना था कि निष्क्राम्य-कर का भार उत्पादन पर होगा, क्योंकि भारत किसी प्रकार भी संसार में अकेला तिलहन का उत्पादक नहीं है; और इस कर से किसानो को तिलहन और खली के उपभोक्ता की हैसियत से हुए लाभ की अपेक्षा उनके उत्पादक की हैसियत से हानि अधिक होगी । आयोग के निर्णय के अनुसार भारत की तिलहन की बड़ी फसल से प्राप्त होने वाले संयुक्त नाइट्रोजन का लाभ उठाने का एकमात्र उपाय तेल पेरने के उद्योगों का देश में स्वाभाविक विकास ही है । यद्यपि तेल की भारत में माँग कम होने से और विदेशी बाजारों में यूरोपवासियों की प्रतिद्वन्द्विता से यह कठिन अवश्य है पर इस उद्योग की उन्नति की सम्भावना के दृष्टिकोण से दूसरे महायुद्ध के पश्चात् यूरोप की खरीदारी के बिलकुल बन्द हो जाने की स्थिति को विचाराधीन रखते हुए परीक्षा करना[३] युक्ति-संगत होगा ।[४]

११. कम उत्पत्ति तथा उसके कारण—यद्यपि कृषि ही देश का एकमात्र राष्ट्रीय उद्योग है, पर यह कार्य बहुत ही असन्तोषजनक ढंग से किया जाता है और इसलिए प्रति एकड़ औसत उत्पत्ति भिन्न-भिन्न फसलों की अन्य सुव्यवस्थित ढंग से कृषि करने वाले देशों की अपेक्षा बहुत कम है । निम्न तालिका में भारत की मुख्य फसलों का प्रति

---

१. इसी अध्याय का सेक्शन १२ देखिए ।

२. बोर्ड ऑफ एग्रीकल्चर, १९३९, ने और टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी के अधिकांश सदस्यों ने निष्क्राम्य-कर के आरोप की अनुमति दी थी ।

३. कृषि आयोग रिपोर्ट देखिए पैरा ८७ ।

४. सेक्शन ८,९,१० में व्यक्त विचार मुख्यतया औद्योगीकरण के वर्तमान प्रयत्नों के पूर्व की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए ।

औद्योगीकरण के प्रयत्नों के कारण हमारे विदेशी व्यापार की प्रकृति भी बदल रही है । सन् १९२९-३० में समाप्त होने वाली पंचवर्षीय अवधि में कच्चे माल का आयात मुश्किल से ९.३ प्रतिशत तथा निर्यात ४९.५ प्रतिशत था । १९५०-५१ में कच्चे माल का आयात ३५.१ प्रतिशत तथा निर्यात २०.८ प्रतिशत था ।

१९२९-३० की तुलना में तैयार माल का आयात ७२.६ प्रतिशत था जो १९५०-५१ में घटकर ४५.७ प्रतिशत रह गया । इसके विपरीत १९२९-३० में भारत के तैयार माल का निर्यात २६.६ प्रतिशत था । सन् १९५०-५१ में यह बढ़कर ५५ प्रतिशत हो गया । —अनुवादक

एकड़ औसत १९१८-१९; १९२३-२४, १९३९-४० और १९४०-४१ का[1] दिखाया गया है।[2]

फसल	१९१८-१९ (पौण्ड)	१९२३-२४ (पौण्ड)	१९३९-४० (पौण्ड)	१९४०-४१ (पौण्ड)	१९४३-४४ (पौण्ड)
चावल (साफ)	७०१	७९८	७६६	६७४	८४७
गेहूँ	७०७	६९४	७०९	६४५	६४२
गन्ना (कच्ची चीनी)	१,८९७	२,५४४	२,८६८	२,८२७	३,०९४
चाय	५६१	५२८	५४४ (१९३९)	५५७ (१९४०)	६८५
रुई (बिनौला निकाली)	७६	८७	९१	१०४	१००
जूट	१,१९५ (१९१८)	१,१६८ (१९२४)	९२८ (१९४०)	१,०२३	१,१८३
कहवा	१८३ (१९१९-२०)	१३९	१८९ (१९३८-३९)	१७४	१९२
अलसी	२६५	२७८	२८१	२६८	२४२
राई और सरसों	३५१	४१६	४१०	३९६	३८५
तिल	१७४	१९२	२३०	२३७	२२५
मूँगफली (बिना छिली)	९९७	८६७	८६०	९४६	८७३
अण्डी	—	२०७ (१९२४-२५)	२१६	२३०	२०३
रबड़	११५ (१९१९)	१२१ (१९२४)	२३४ (१९३९)	२५७ (१९४०)	२५४

१. देखिए, एस्टिमेट्स ऑफ एरिया एण्ड यील्ड ऑफ द प्रिंसिपल क्रॉप्स इन इण्डिया (१९४३-४) पृष्ठ ९-११।

२. फसलों के उपज-सम्बन्धी आधुनिक अनुमान इस प्रकार हैं—

फसल	(पाउंड में) १९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२
चावल	६८८	५९८	६३२
ईख	३०५२	२९८५	२७९३
चाय	८१५	८४२	क
कपास	८५	८०	७६
जूट	१०६२	९०८	९५९
कहवा	२४६	२६६	क
अलसी	२४४	२३५	२१०
सरसों (ख)	३७२	३२९	३५३
तिल	१९१	१८०	१७२
मूंगफली	७७०	६९२	५७९
अंडी	१९७	१६९	१६४
रबड़	२७५	३०५	(क)

(क) आंकड़े अप्राप्य हैं।

(ख) सरसों का एक प्रकार, जिसे अंग्रेजी में रेप सीड कहते हैं, भी शामिल है।

ये आँकड़े विदेशों की तुलना में बड़े ही दुःखप्रद हैं। उदाहरण के लिए १९३२-३३ में भारत में चावल की प्रति एकड़ औसत उपज १२४० पौण्ड, जापान में ३,४४४ पौण्ड और इटली में ४,५६८ पौण्ड थी। गेहूँ की प्रति एकड़ औसत उत्पत्ति भारत में ६६० पौण्ड, इटली में १३८३ पौण्ड, मिश्र में १,९१८ पौण्ड, जापान में १,७१३ पौण्ड और अमेरिका में ८१२ पौण्ड थी।[1]

भारतीय कृषि की कम उत्पत्ति को संकेत करते हुए सर० एम० विश्वेश्वरय्या लिखते हैं, "लड़ाई के पहले की (१९१४) साधारण स्थिति को आधार मानते हुए ब्रिटिश भारत की औसत उत्पत्ति, नहरों द्वारा सींची फसलों को सम्मिलित करते हुए, २५ रु० प्रति एकड़ से अधिक नही हो सकती और यह जापान में १५० रु० से कम नही हो सकती।"[2] इसी लेखक का कहना है कि जबकि भारत में प्रति किसान की आय ५९ रु० थी (१९२९ के आर्थिक अवसाद के पहले) तब स्वीडन में १०२ रु०, अमेरिका में १७५ रु० और कनाडा में २१३ रु० थी।[3]

कम उत्पत्ति का एक बहुत बड़ा कारण भारत में अनिश्चित वर्षा है। वर्षा के कम और असमान होने के अतिरिक्त अन्य कारण जैसे बाढ़, तुषार और ओले पड़ना तथा अन्य जलवायु के उपद्रव आदि भी हैं। वर्षा की कमी के एक बहुत छोटे अंश की पूर्ति कृत्रिम सिंचाई के साधनों से हो पाती है, पर अन्य आपदाओं के प्रभाव का निराकरण मानवी उपायों से सम्भव नहीं है। जंगली पशुओं, चूहों, टिड्डी-दलों और अन्य जीवों द्वारा भी बड़ी हानि पहुँचती है। प्रान्तीय कृषि विभागों ने इनसे बचने के उपायों का पता लगाने और उनका प्रचार करने का प्रयत्न किया है।

कृषि की उत्पत्ति की कमी का अन्य कारण अकुशल ढंग से खेतों का जोतना तथा किसानों के पास कम और अनुपयुक्त औज़ारों का होना भी है। यान्त्रिक शक्ति संचालित पहियों और धीरे-धीरे चलनेवाले ट्रेक्टरों के जोतने, बीज बोने के मार्ग बनाने तथा फसल काटने के लिए प्रयोग करने से ऐसी भूमि पर भी खेती की जा सकती है जो अन्यथा खेती के अयोग्य समझी जाती है। गहरी जड़ वाली घास उखाड़ी जा सकती है। यदि मशीनें काम में आने लगें तो लोग बोझ खींचने वाले जानवरों के स्थान पर दुधारू जानवर पाल सकते हैं। छोटे-छोटे ट्रेक्टरों को खींचने के लिए जानवरों का प्रयोग किया जा सकता है जैसा यूरोप के कुछ देशों में हो रहा है। उत्तरप्रदेश की सरकार ने अपने तीन भागों को, जिनमें से गंगा खदार का भाग सबसे बड़ा तथा एक चक में है, अपने ट्रेक्टर संगठन से, जो भारत में सबसे बड़ा है, कुछ वर्ष हुए खेती के काम में लाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। इस संस्था में उस समय १५० ट्रेक्टर थे। १९४८-४९ के अन्त तक इनकी संख्या बढ़ाकर ३५० कर दी गई। तब तक लगभग ३०,००० एकड़ भूमि खेती के योग्य बना ली गई और आशा की जाती है कि वर्ष के अन्त होते-होते ४०,०००

---

१. स्टेटिस्टिकल ईअर बुक ऑफ द लीग आफ नेशन्स, (१९१३-१४)।
२. रिकंस्ट्रक्टिंग इण्डिया, पृ० १७४।
३. प्लाण्ड इकानॉमी फॉर इण्डिया, पृ० ३२।

एकड़ और भूमि खेती के योग्य बना दी जायगी।[1] अनेक कारखाने मरम्मत का काम करने और मशीनों के छोटे-मोटे अतिरिक्त भागों का निर्माण करने लगेंगे। इस सम्बन्ध में जो समस्याएँ उठेंगी उनका और भूमि के अत्यधिक अन्तर्विभाजन और अपखण्डन पर जिससे खेती को बहुत नुकसान हो रहा है, आगे विचार किया जायगा।

१२. क्या भारत की भूमि का निरन्तर क्षय होता जा रहा है—ऐसा कहा जाता है कि इधर कुछ समय से भारत में प्रति एकड़ अन्न की औसत उत्पत्ति कम हो गई है और कम होती जा रही है। यदि हम यह मान भी लें कि यह ठीक है, फिर भी यह भूमि के क्षय होने का निश्चित प्रमाण नहीं माना जा सकता। यह लोगों की अन्न की कम उपजाऊ भूमि पर खेती करने और अच्छी भूमि को रुई, जूट और तिलहन आदि व्यापारिक फसलों की खेती में लगाने की प्रवृत्ति का भी परिणाम हो सकता है। भूमि के निरन्तर क्षय होने के कारण अन्न की ही प्रति एकड़ उपज में कमी नहीं हुई वरन् अन्य फसलों की उपज में भी कमी आ गई है। यह साधारण विश्वास किसी सीमा तक इसलिए भी सम्भव है कि अन्न की माँग बढ़ने से खेती का विस्तार किया गया है और कम उपजाऊ भूमि भी खेती के काम आने लगी है। इसकी वजह से प्रति एकड़ औसत उत्पत्ति भी घट गई है। इस सम्बन्ध में किसानों के निर्णय के उस युग की स्मृति से प्रभावित होने की सम्भावना है जबकि केवल उपजाऊ भूमि पर ही खेती की जाती थी। जनसंख्या के घनत्व के बढ़ जाने से भी समय-समय पर परती छोड़ दिये जाने वाले खेतों की संख्या में कमी और इसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की अनावश्यक जंगली घास की उत्पत्ति में बाहुल्य और खाद की प्राप्त मात्रा की अपेक्षा खेतों की मात्रा में आधिक्य आदि कारणों से भी भूमि की उर्वरता में कमी होना सम्भव है।[2] भूमि के अपक्षारण, भूमि पर लवणक्षार का प्रकट हो जाना, पानी लगना आदि कारणों ने देश के बहुत से भागों की उर्वरता घटाकर बड़ी हानि पहुँचाई है।

उपर्युक्त कारणों के होते हुए भी विशेषज्ञों का मत इसके विरुद्ध है कि इन दिनों भारत की भूमि की दिन-प्रतिदिन शक्ति क्षीण होती जा रही है। डॉ० क्लाउस्टन ने अपने उपपत्र में जो उन्होंने कृषि-आयोग को दिया था, कहा है कि "अधिकांश भारत की भूमि अपनी क्षीणता की चरम सीमा पर सौ वर्ष पहले ही पहुँच चुकी होगी और यदि आगे सौ वर्ष तक बिना खाद का प्रयोग किये ही उस पर खेती की जाय तो भी उसका आगे क्षय न होगा। एक औसत फसल लगभग २० पौण्ड नाइट्रोजन प्रति एकड़ लेती है और इस कमी की प्रतिवर्ष वायुमण्डल से नाइट्रोजन की प्राप्ति से तथा फसल कटने पर अवशिष्ट जड़ों के भूमि के अन्दर-ही-अन्दर गल जाने से पूर्ति हो जाती है; इसलिए अधिकांश भूमि में नाइट्रोजन की कमी नहीं हो रही है। रौथमस्टेड में, जो कि संसार का सबसे बड़ा कृषि-अन्वेषण केन्द्र है, वहाँ की भूमि पर प्रयोग करके यह बात

१. इस संस्था में १९५३-५४ में ५५२ ट्रैक्टर थे। सन् १९५१-५४ तक इन ट्रैक्टरों द्वारा १,९१,७७७ एकड़ भूमि खेती योग्य बनाई गई, यद्यपि इस अवधि का लक्ष्य २,५६,००० एकड़ भूमि को खेती योग्य बनाना था।

२. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ७७।

निश्चित रूप से सिद्ध कर दी गई थी कि बिना खाद दिये हुए यदि ४० वर्ष तक गेहूँ की किसी भूमि पर खेती निरन्तर की जाय, तब कही जाकर वह भूमि अपनी उर्वरा-शक्ति के निम्नतम स्तर पर पहुँचेगी क्योकि उसके पश्चात् उस भूमि पर उत्पत्ति प्रतिवर्ष समान बनी रही, जब कि उस पर किंचित् भी खाद का प्रयोग नही किया गया। इसलिए हम यह मान सकते है कि कुछ भूमि को छोडकर जिनमे भास्वीय (फॉस्फेट्स) की न्यूनता है, हमारी शेष प्राचीन भूमि अपनी उर्वरता के न्यूनतम स्तर पर बहुत दिनो से पहुँच चुकी है। और हम यह भी मान सकते है कि उत्पत्ति मे वृद्धि अब वर्षा, खेती के ढग तथा खाद के प्रयोग पर निर्भर है और केवल उस नवीन भूमि की उर्वरता जिसमे भास्वीय की कमी है निरन्तर कृषि में काम आने के कारण छीज रही है।" डॉ० वायलकर के मतानुसार[1] भारत की भूमि तिलहन, रुई आदि के निर्यात के कारण जो भूमि से रासायनिक तत्त्व निकल जाते है, उनकी पूर्ति नही हो पाती और इसलिए कृषि होने से निरन्तर उसका क्षय हो रहा है। उन्होने भी अपने मत का नियमन करते हुए हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि भारत मे उत्पन्न की जाने वाली अधिकाश फसले तथा पेड-पौधे और स्वयमेव उत्पन्न हो जाने वाली अनावश्यक घासें शिम्बि-कुल्य है और इसलिए वे वायुमण्डल से नाईट्रोजन प्राप्त कर लेती है।[2] के० एल० दत्त प्राप्त सभी आँकडो पर विचार कर लेने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि "भारत के किसी भी भाग की भूमि की उर्वरता में परीक्षा के समय (१८९०-१९१२) अथवा किसी अन्य लम्बी अवधि में कमी आ गई है, इस बात की पुष्टि के लिए कोई आँकडे प्राप्त नही है।[3] जो कुछ भी हो हमारे दृष्टिकोण से सबसे अधिक महत्त्व की बात भारत की भूमि की वास्तविक उर्वरता की कमी है तथा भूमि के प्रति उचित ध्यान देना और प्रर्याप्त मात्रा में खाद का प्रयोग करना ही इसका एकमात्र उपचार है। यह सोचकर सन्तुष्ट होकर बैठ जाना कि अब सन्तुलन स्थापित हो जाने के पश्चात् भूमि अपनी उर्वरता के निम्नतम स्तर पर पहुँच चुकी है और आगे अब उर्वरता में क्षय न होगा, जान-बूझकर सत्य से आँखें मोडना है, क्योकि इसका अर्थ तो यही है कि स्थिति इतनी बिगड चुकी है कि आगे और अधिक बिगडने का अवसर ही नही है। इस सम्बन्ध में कृषि आयोग ने भूमि-सम्बन्धी अन्वेषण-कार्य पर विशेष जोर डाला था और कृषि-विभाग में अन्वेषण-कर्ताओ की सख्या बढ़ाने की तथा शाकाण्विकीय भौतिक तथा जैविकीय सम्बन्धो पर विशेष रूप से अन्वेषण-कार्य करने के लिए विशेषज्ञ अधिकारियों की नियुक्ति की सिफारिश की थी।[4]

---

१. साक्ष्य लेख, खण्ड १, भाग १, पृ० ३२।
२. देखिए, दत्त, पूर्व उद्धृत, पृ० १७।
३. पूर्व उद्धृत, पृष्ठ ६८।
४. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ७८।

अध्याय ७

कृषि : भूमि और उसकी समस्याएँ

इस अध्याय में भूमि-सम्बन्धी प्रमुख समस्याओं का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जायगा : १. उपविभाजन और अपखण्डन, २. स्थायी सुधार, और ३. सिंचाई।[1]

उपविभाजन और अपखण्डन

१. अनुकूलतम जोत का विचार—भारत में कृषि की पिछड़ी हुई अवस्था और किसानों की निर्धनता के जो अनेक कारण हैं, उनमें से एक भूमि का उपविभाजन और अपखण्डन है। निर्माण-उद्योगों के समान कृषि में भी उत्पादन का एक अनुमाप (स्केल) होता है जो उत्पादक के दृष्टिकोण से सर्वोत्तम परिणाम देता है। एक निश्चित सीमा के बाद, उत्पादन के अनुमाप में कमी होने पर लागत और उपज का सम्बन्ध प्रतिकूल होता जाता है, यहाँ तक कि आर्थिक जोत बिलकुल खतम हो जाता है। दूसरी ओर, एक ऐसी भी सीमा है जिसके बाद जोत के विस्तार को बढ़ाना लाभदायक नहीं है, परन्तु प्रस्तुत विवेचन में, हम इस सम्भावना पर ध्यान न देंगे क्योंकि भारत में इसका कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है।

२. कृषि और स्वामित्व की इकाई—जब हम जोत के उपयुक्त आकार की चर्चा करते हैं, उस समय हमारा अभिप्राय कृषि की इकाई से है, न कि स्वामित्व के अन्तर्गत भूमि के विस्तार से; यद्यपि ये दोनों भारत के रैयतवारी भागों में लगभग एक ही अर्थ रखते हैं। जैसा कि मिल ने कहा है : "चूँकि भूमि का ऐसा सूक्ष्म उपविभाजन है, अतः इसका यह अर्थ नहीं कि कृषि-क्षेत्र भी इसी प्रकार विभाजित होंगे। जिस प्रकार बड़ी भू-सम्पत्ति के होते हुए भी छोटे कृषि-क्षेत्र सम्भव हैं, उसी प्रकार भू-सम्पत्ति के कम होने पर भी उचित आकार के कृषि-क्षेत्र भी सम्भव हैं। यदि पैतृक सम्पत्ति का विभाजन न हो तो कृषि-क्षेत्रों का उपविभाजन भू-स्वामी कृषकों की संख्या की वृद्धि का आवश्यक परिणाम नहीं है।" अथवा जैसा कि निकलसन ने कहा है : "बड़ी जमींदारियों का यह अर्थ कदापि नहीं है कि कृषि भी बड़े पैमाने पर ही की जायगी और भूमि के अधिकार अनेक व्यक्तियों में बँटे होने का भी अनिवार्यतः यह अभिप्राय नहीं कि कृषि छोटे पैमाने पर की जायगी। बड़ी जमींदारी छोटे-छोटे खेतों के रूप में लगान पर उठाई जा सकती है और बड़ा किसान भू-स्वामियों से कृषि के लिए बहुत भूमि

१. भू-धृति (लैण्ड टेन्योर) का विवेचन एक पृथक् अध्याय के लिए रखा गया है (अध्याय १२)।

प्राप्त कर सकता है ।"[1]

यदि किसी किसान की जोत आर्थिक कृषि के लिए बहुत छोटी है तो वह अन्य व्यक्तियों से पट्टे पर अतिरिक्त भूमि लेकर इस कमी को दूर कर सकता है ।[2] भारत में कुछ हद तक ऐसा होता है । जोत के आकार और उसके आर्थिक परिणामों से सम्बन्धित आँकड़ों की व्याख्या करते समय हमें इस बात को नही भूल जाना चाहिए । हमें संयुक्त कृषि को भी ध्यान में रखना चाहिए । बिना जाँच किये, हमें अनायास इस बात को मान लेने का कोई अधिकार नही है कि पृथक् स्वामित्व वाली भूमि का प्रत्येक टुकड़ा अलग-अलग जोता जाता है । यह बात सामान्यतया सच हो सकती है, परन्तु सदैव सच हो, यह ज़रूरी नही ।

भारत में लगभग हर हालत में भूमि का उपविभाजन अपखण्डन से सम्बन्धित है । जोत का आकार ही छोटा नही होता वरन् यह अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में एक-दूसरे से इतने अन्तर पर स्थित होते है जिसमें बड़ी असुविधा हो जाती है ।

कृषि-आयोग ने उपविभाजन और अपखण्डन की समस्या का अध्ययन निम्न-लिखित चार शीर्षकों के अन्तर्गत किया है : १. भू-स्वामियों की जोत का उपविभाजन, २. किसानों की जोतो का उपविभाजन, ३. भू-स्वामियों की जोत का अपखण्डन और ४. किसानों की जोत का अपखण्डन । भू-स्वामी शब्द का प्रयोग उन लोगों के लिए किया जाता है जिनका भूमि पर स्थायी पैतृक अधिकार है, चाहे वे ज़मीदार हों या काश्तकार अथवा पट्टेदार । 'किसान' शब्द का प्रयोग उन लोगों के लिए किया गया है, जो ज़मीन को ज़मींदार, पट्टेदार, काश्तकार अथवा स्वैच्छिक काश्तकार के रूप में जोतते हैं, परन्तु किराये के मज़दूर के रूप में नही ।[3] विषय के विवेचन की सुविधा के लिए हम इस तथ्य को मानकर चलते है कि भू-स्वामियों की जोतों का उपविभाजन और अपखण्डन कृषि-क्षेत्र के उपविभाजन और अपखण्डन में परिलक्षित होता है और इसे दूर करने के लिए जो उपाय लागू होगा वही दूसरे पर भी लागू होगा ।

३. उपविभाजन और अपखण्डन के दोष—अत्यधिक छोटी-छोटी जोत पर खेती करने में कई तरह की बरबादी होती है । साधारण किसानों के एक जोड़ी बैल और हल का भी इसमें पूरा उपयोग नहीं हो सकता । कभी-कभी खेत इतने छोटे होते हैं कि जोतते समय बैलों को घुमाना भी असम्भव हो जाता है । बैलों और किसानों का निर्वाह-व्यय वही रहता है, भू-खण्डों के छोटे-छोटे होने के कारण कम नहीं होता । हाँ, अगर ज़मीन अधिक हो तो उसी साज-सामान और खर्चे में उसे जोता जा सकता है । इसके विपरीत पैदावार अवश्य ही कम होगी । सामान्यतया एक निश्चित सीमा के बाद, जोत के आकार में जितनी कमी होती जाती है, उत्पाद के मूल्य के अनुपात में स्थायी खर्च उतना ही बढ़ता चला जाता है । जो खर्चे बदलते रहते हैं वे भी प्रायः खेत के आकार

१. 'प्रिन्सिपल्स ऑफ़ पोलिटिकल इकॉनामी', खण्ड १, पृ० १४६ ।

२. किसानों को पट्टे पर लिये गए खेतों से प्राप्त लाभ अधिकृत खेतों के लाभ की तुलना में स्पष्टतया कम होगा, क्योंकि लगान निर्धारित मालगुज़ारी से अधिक होता है ।

३. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ७८ ।

के अनुपात में ही नहीं घटते-बढ़ते। उदाहरण के लिए बाड़ा लगाने की प्रति एकड़ लागत, जितना क्षेत्र घेरना होगा, उसके हिसाब से बढ़ती जायगी। यदि भूमि का टुकड़ा बहुत ही छोटा हो तो घूमते-भटकते हुए पशुओं से बचाने के लिए बाडा लगाने पर व्यय करना ठीक नही भी जँच सकता; उचित बाड़ों से खेत की रक्षा कर सकने की अयोग्यता किसानों को कृषि की एक-सी ही पद्धति पर अमल करने के लिए बाध्य करेगी। कृषि की कोई नई पद्धति और फ़सलों के हेर-फेर का ढंग इसलिए सम्भव नही होगा कि पड़ोस के ऊपर खेत में घूमते हुए पशुओं से फसलों के नष्ट होने का भय सदा लगा रहेगा। अब बाडे लगाना मँहगा पडता है तो रखवालों को नियुक्त करना और भी मँहगा पड़ेगा। ऐसी स्थिति उत्साही किसानों को भी अवश्य ही हतोत्साहित करेगी। छोटे खेतों की संख्या बढने से दूसरी हानि उनके अन्तर्गत पड़ने वाले क्षेत्र की भारी बरबादी है। अपेक्षाकृत बहुत-अधिक मेड़ों और रास्तों की आवश्यकता होती है और इस प्रकार काफी क्षेत्र बरबाद होता है। व्यक्तिगत खेतों की संख्या जितनी ही कम होगी, कृषि के क्षेत्र मे उतना ही विस्तार होगा और उतनी ही बचत होगी। खेत में सतह के नीचे पानी बहुतायत से हो सकता है, परन्तु इससे कोई लाभ नही उठाया जा सकता, क्योंकि खेत के अत्यन्त छोटे आकार के कारण उस पर कुआँ खोदने का व्यय बिलकुल असंगत होता है। यदि खेत ४ या ५ एकड़ का है तो कुआँ खोदना उचित है, परन्तु यदि वह एक एकड़ या इससे भी कम है तो कुआँ खोदना उचित नही होगा। बीजनयन्त्र (विनो-अर्स),दाँय चलाने वाले यन्त्र (थ्रेशर) और ट्रेक्टर आदि श्रम बचाने वाले उपकरणों का प्रयोग छोटे किसान के लिए उस समय तक असम्भव है जब तक कि किसी-न-किसी रूप में उद्यम और साधनों का संगठन और एकीकरण नही हो; और यह सरल नही है। अत्यधिक छोटी जोतों से उत्पन्न दोष उस समय और भी बढ़ जाते हैं जब ये जोत छोटी होने के अलावा अपखण्डित भी होती हैं। अपखण्डन के बारे मे डॉ० एच० एच० मैन का कहना है कि "अपखण्डन में छोटी जोतों के सारे दोष हैं क्योंकि यह यन्त्र के प्रयोग तथा श्रम बचाने वाले उपायों के अपनाने में बाधक है। इसके विपरीत बड़ी जोतों के दोष भी इसमें विद्यमान हैं क्योंकि यह घनी खेती के रास्ते में भी बाधक है और यही छोटी जोत वालों को सबसे बड़ा लाभ होता है।"[1] बाडा लगाने, पड़ोसी खेतों के काँस आदि के आक्रमण से बचाने, घूमते-भटकते हुए पशुओ से बचाने और चोरी आदि की कठिनाइयाँ अत्यधिक उपविभाजन और अपखण्डन के फलस्वरूप बहुत मामूली-सी बातें होती हैं।

अपखण्डन के कुछ अपने दोष भी है। यदि क्षेत्र अपखण्डित है तो उस पर श्रम और पूँजी की लागत कही अधिक होगी बनिस्बत उसके कि पूरा क्षेत्र एक संहित-खण्ड हो। हिसाब लगाकर देखा गया है कि खेतों के बीच जितना अन्तर अधिक होगा उसमें हर ५०० मीटर की दूरी पर शारीरिक श्रम और जुताई का व्यय ५·३ प्रतिशत, खाद ढोने का व्यय २० प्रतिशत से ३५ प्रतिशत तक और फसलों के ढोने का व्यय १५ से ३२ प्रतिशत तक बढ़ जाता है। यह स्पष्ट है कि अपखण्डन के कारण सभी तरह से व्यय

१, लैण्ड एण्ड लेबर इन ए डेक्कन विलेज, खण्ड १, पृ० ४८.

बढ़ता है। यह कृषि-कार्य में बाधा डालता है और गाँव से खेत तथा एक खेत से दूसरे खेत में जाने से पशु-शक्ति, समय और श्रम की बरबादी होती है। इसके कारण किसानों का अपने खेतों पर रुकना, जो अच्छी खेती के लिए जरूरी है, असम्भव हो जाता है। बहुधा समय बचाने के लिए किसान दूसरों के खेतों के बीच से छोटा रास्ता बनाने की कोशिश करते हैं। खेतों की सीमाओं और मार्ग के अधिकारों आदि सवालों के अतिरिक्त यह भी मुकदमेबाजी और ग्रामीणों के पारस्परिक लड़ाई-झगड़े का एक कारण है। यदि किसान की सारी भूमि एक चक में हो तो वह अपने पशुओं को गाँव में ले जाने की बजाय खेत में ही रखेगा जिससे खाद की बहुत बड़ी बचत होगी। अभी तो खाद गाँव के खाद-स्थलों से खेतों को ले जाई जाती है और इस प्रकार बहुत-सी खाद व्यर्थ हो जाती है। भूमि का अत्यधिक अपखण्डन होने पर सिंचाई करना असम्भव हो जाता है, भले ही पानी सुलभ क्यों न हो। एक व्यक्ति की जोत के अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में पानी आसानी से नहीं पहुँचाया जा सकता। नालियों द्वारा पानी ले जाने में भी बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं क्योंकि इन नालियों को दूसरों के खेतों में से होकर ले जाना पड़ेगा। यह सभी जानते हैं कि पानी की नालियों और उसके वितरण की कठिनाइयों के कारण अनेक झगड़े पैदा हो जाया करते हैं।

उपविभाजन और अपखण्डन का संयुक्त परिणाम यह होता है कि कभी-कभी भूमि पर खेती बिलकुल ही नहीं की जाती। यह (अपखण्डन) साहसोद्यम को मारता है, श्रम की बड़ी बरबादी करता है, चौहद्दियों के कारण बहुत-सी भूमि बेकार हो जाती है, जोत में उतनी घनी खेती असम्भव हो जाती है जितनी अन्यथा हो सकती है। वह बाहर के किसी धनाढ्य व्यक्ति को काश्तकारों के या अच्छी कृषि-सम्पत्ति के खरीदार के रूप में आने देने में भी बाधक होता है।[1]

४. उपविभाजन और अपखण्डन का पक्ष—अपखण्डन हर दशा में अवाञ्छनीय है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। जोत के एक स्थान पर संहित न होने के मूल में ऐसे आर्थिक विचार भी हो सकते हैं जो बिलकुल ठीक और प्रत्ययकारी हों। मौसम के वैविध्य के कारण जोतों का विभिन्न प्रकार की भूमि में होना बहुत ही आवश्यक है। भारत के अनेक भागों में, विभिन्न प्रकार की भूमि पर दो या दो से अधिक प्रधान फसलें अलग-अलग पैदा की जाती हैं, ताकि वर्षा की कमी और उसका अनियमित वितरण यदि एक फसल को बरबाद कर भी दे, तो दूसरे खेतों में अनुकूल फसल पैदा हो सके। वास्तव में फसलों के हेर-फेर की विस्तृत पद्धति जो भारतीय कृषि को पश्चिमी कृषि से अलग करती है, प्रधानतया बिखरी हुई जोतों के कारण ही सम्भव हुई है।[2] विभिन्न प्रकार की फसलों के कारण किसानों को साल में अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक काम मिला रहता है, जब कि भूमि के एक स्थान पर होने से यह सम्भव नहीं होता। आर्थिक दृष्टिकोण से जोतों के अलग-अलग बिखरे हुए रखे जाने के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

---

१. पूर्व उद्धृत, पृ० १५४।

२. इण्डियन जर्नल ऑफ इकानॉमिक्स (अप्रैल १९२७), राधाकमल मुकर्जी का Fractionalization (फ्रैक्शनलाईजेशन) विखण्डन पर लेख।

उदाहरण के लिए, कोंकण से चावल के खेतो के अतिरिक्त वर्का भूमि का होना आवश्यक है और इसलिए ये दोनो साथ-ही-साथ विद्यमान होती हैं। घाटों (पश्चिमी और पूर्वी घाट की पहाड़ियों) के ऊपर विशेषकर नदियों की तरफ हर किसान के पास नदियों से लाई हुई मिट्टी वाली भूमि की पट्टी होना आवश्यक है। यह पट्टी किसानों को पशुओं के लिए चारा देती है तथा अन्य कार्यों के लिए भी लाभप्रद है। चकबन्दी की किसी भी योजना को सफल बनाने के लिए इन बातो को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

इसी तरह एक हद तक उपविभाजन को भी उचित ठहराया जा सकता है क्योंकि उससे सम्पत्ति का व्यापक वितरण होता है और भू-स्वामी कृषकों के एक विशाल वर्ग का जन्म होता है, जिसे भूमि से बड़ी ममता होती है। यह सभी स्वीकार करते है कि इस प्रकार का वर्ग आर्थिक स्थिरता का पोषक है। भारत में वर्तमान जोतों के विस्तार की योजना बनाते समय हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। अंग्रेजी नमूने की जमीदारियाँ और पूँजीवादी कृषि भारतीय परिस्थितियों के लिए अनुकूल नही है। छोटे पैमाने की कृषि और भू-स्वामी कृषकों का एक दृढ़ वर्ग ही हमारा आदर्श होना चाहिए। जब हम उपविभाजन और अपखण्डन की निन्दा करते है उस समय हमारे मन में ऐसे उदाहरण होते हैं जिनमें उनके औचित्य और लाभ की कोई गिनती नही होती और दोष असहनीय सीमा पर पहुँचे हुए होते है।

५. भारत में यह दोष किस हद तक बढ़ा हुआ है—१. भू-स्वामियों की जोतों का उपविभाजन—अब हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि भारत के लगभग सभी भागों में पाया जाने वाला यह दोष किस हद तक बढ़ा हुआ है।[१] बिहार और उड़ीसा के घने बसे हुए क्षेत्रों में काश्तकारों (टेनेन्ट) की औसत जोत आधा एकड़ से भी कम है, यद्यपि किसानों की औसत जोत ३.१ एकड़ है। बंगाल में प्रति किसान का औसत क्षेत्र मुश्किल से ३.१ एकड़ है। विशेष भूमि अधिकार-विधान (टेनेन्सी लेजिस्लेशन) से प्राप्त अधिकार तथा निजी अधिकारों के कारण किसान अपनी छोटी जोतों में चिपटा रहता है और औद्योगिक केन्द्रों पर काम ढूँढने नहीं जाता। आसाम में किसान की औसत जोत ३ एकड़ से अधिक नही है, जबकि उत्तरप्रदेश में यह केवल २.५ एकड़ ही है। पंजाब में २३९७ गाँवों की विशेष जाँच से यह ज्ञात हुआ है कि 'भू-स्वामियों' की जमीनों में से १७.९ प्रतिशत १ एकड से भी कम है और २५.५ प्रतिशत १ और ३ के बीच, १४.९ प्रतिशत ४ और ५ एकड़ के बीच हैं और १८ प्रतिशत ५ और १० एकड़ के बीच हैं। एक एकड़ से कम जमीनो के बारे में विशेष जाँच की गई, जिससे पता चला कि अधिकांश इनमें कृषि-जोते ही थी। मद्रास

१. अपखण्डन के दोषों के सम्बन्ध में जनसंख्या के प्रतिव्यक्ति आँकड़े दिये जाते हैं। यदि हम ब्रिटिश भारत में कुल कृषित क्षेत्रफल को समस्त जनसंख्या से भाग दें तो भजनफल लगभग १.४ एकड़ प्रति-व्यक्ति होगा। यह भूमि पर जनसंख्या के भार का संकेत करता है, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से यह उपविभाजन और अपखण्डन की समस्या से सम्बन्धित नहीं है। इससे यह तो स्पष्ट होगा कि बहुत से लोग भूमि पर निर्भर रहते हैं, परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि भूमि का किस हद तक अपखण्डन हुआ है।

और बम्बई में जोत का औसत क्षेत्र छोटा है और बहुत-सी जोतें २ या ३ एकड़ से भी कम हैं जिससे अच्छी खेती असम्भव हो जाती है। एक एकड़ से कम वाली जोतों का अनुपता बहुत है। बम्बई में सर चुनीलाल मेहता ने यह सिद्ध किया है कि अधिकृत क्षेत्रों की अपेक्षा जोतों का विस्तार अधिक तेजी से हो रहा है और यह प्रवृत्ति ५ एकड़ अथवा इससे कम जोनों में विशेष रूप से दिखाई पड़ रही है। डॉ० मान के अनुसार पूना ज़िले के पिम्पला सौदागर गाँव में सन् १७७१ में किसी जोत का औसत आकार ४० एकड़ के लगभग था; सन् १८१८ मे यह १७½ एकड़ हो गया; सन् १८२० के बाद यह बहुत दिन तक १४ एकड़ रहा, परन्तु १६१५ में यह घटकर ७ एकड़ हो गया। डॉ० मान कहते हैं कि यह स्पष्ट है कि गत ६०-७० वर्षों में भू-धृति (जोतों) का स्वरूप बिलकुल बदल गया है। ब्रिटिश शासन के पहले और उसके आरम्भिक दिनों में, सामान्यतया जोतें काफी बड़े आकार की थीं। आम तौर से वे ६ या १० एकड़ की होती थी। २ एकड़ या उससे कम की जोतें बहुत कम होती थीं। आजकल जोतों की संख्या लगभग दूनी हो गई है और ८१ प्रतिशत जोतें आकार में दस एकड़ से कम हैं तथा कम-से-कम ६० प्रतिशत जोतों का आकार ५ एकड़ से कम है।[1]

२. **कृषि का उपविभाजन**—कृषि का उपविभाजन और भी अधिक है, क्योंकि भू-स्वामियों की तुलना में काश्तकारों की संख्या कहीं अधिक है। जीविका के अन्य साधनों के अभाव में अधिकांश जनता कृषि को ही अपनी जीविका बनाती है। पंजाब[2] में २२.५ प्रतिशत किसान एक एकड़ अथवा इससे कम भूमि जोतते हैं, १५.४ प्रतिशत किसान १ और २.५ एकड़ के बीच भूमि जोतते हे, १७.६ प्रतिशत २.५ और ५ एकड़ के तथा २०.५ प्रतिशत किसान ५ और १० एकड़ के वीच ज़मीन में खेती करते हैं।[3] १६२१ की जनगणना के अनुसार प्रति किसान द्वारा कृषित औसत ज़मीन के आँकड़े एकड़ों में नीचे दिये गए हैं।

बम्बई	१२·२	मद्रास	४·६
पंजाब	६·२	बंगाल	३·१
मध्यप्रान्त और बरार	८·५	बिहार और उड़ीसा	३·१
		आसाम	३·१
बर्मा	५·६	युक्तप्रान्त	२·५

योजना आयोग के आँकड़ों के आधार पर विभिन्न राज्यों में जोतों का आकार तथा कुल जोतों से उनका अनुपात इस प्रकार है: (अ) ५ एकड़ से कम की जोत है; और (न) ५ एकड़ से १० एकड़ तक की जोत है।[4]

१. पूर्व उद्धृत, पृ० ४६।

२. सन् १६४६-५० में की गई कृषि-श्रम जाच (एग्रीकलचरल लेबर इन्क्वायरी) से पता चला कि मद्रास बिहार और पश्चिमी बंगाल में अधिकांश जोते २ एकड से भी कम है।

३. अन्तर्विभाजन की वर्तमान प्रवृत्ति को समझाने वाले आँकड़ों के लिए देखिए, वाडिया एण्ड मर्चेंट, 'अवर इकोनामिक प्राॅब्लम' तृतीय संस्करण, पृ० १७५-८ और 'द फैमीन इन्क्वायरी कमीशन' अन्तिम रिपोर्ट, पृ० २५३-८।

४. भूमि जोतों के सम्बन्ध में सूचना एकत्रित करने के लिए योजना-आयोग ने भूमि जोतों की गणना

		कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत	कुल जोतों का प्रतिशत
उत्तरप्रदेश	(अ)	३८·८	८१·२
	(न)	२६·१	१२·७
बम्बई	(अ)	१४·०	५२·३१
	(न)	२४·६५	२८·१८
मध्यप्रदेश	(अ)	१०·०	५१·५
	(न)	१२·०	१६·५
उड़ीसा	(अ)	३०·१	७४·२
	(न)	२२·०	१५·३
बिहार	(अ)	—	८३·३
	(न)	—	३·४
आसाम	(अ)	२६·०	६६·१
	(न)	३२·६	२२·५
मद्रास	(अ)	४१·२	८२·२
	(न)	२७·२	११·४
मैसूर	(अ)	२५·३	६६·२
	(न)	२४·०	२१·२
ट्रावनकोर कोचीन	(अ)	४४	६४·१
	(न)	१३	३·४
पैप्सू	(अ)	८·२	४५·४
	(न)	१०·७	१७·६
हिमाचल प्रदेश	(अ)	१७	६५
चम्बा जिला	(न)	११	३
कुर्ग	(अ)	३०	७६
	(न)	१३	१२

३. भू-स्वामियों की जोतों का अपखण्डन—अपखण्डन दायाधिकार नियमों के भूमि के विभाजन का अनुगामी है जिसके कारण बहुधा जोतें एक स्थान पर नहीं रहतीं। उदाहरण के लिए बम्बई प्रान्त में एक जोत में लगभग ३ या ४ खेत होते हैं। पिम्पला सौदागर गाँव में डॉ० मान ने पता लगाया कि १५६ भू-स्वामियों के पास ७२९ खेत थे जिसमें ४६३ खेत एक एकड़ से कम थे और २११ खेत चौथाई एकड़ से भी कम थे। रत्नगिरी में निजी खेतों का आकार कहीं-कहीं ०·००६२५ एकड़ या ३०$\frac{1}{4}$ वर्ग गज तक है। पंजाब में एक मील तक लम्बे और केवल कुछ गज चौड़े खेत पाये जाते हैं। ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ अपखण्डन इतना अधिक हो चुका है कि कृषि असम्भव है।

(सेन्सस ऑफ लैण्ड होल्डिंग्स) की सिफारिश की। यह गणना कुछ राज्यों के विचाराधीन है तथा कुछ राज्यों में कार्यान्वित की जा रही है।

५. **कृषि का अपखण्डन**—जोतों के अपखण्डन से कृषि का अपखण्डन अधिक गम्भीर दोष है तथा कहीं-कहीं इसकी स्थिति बहुत ही विषम है। पिम्पला सौदागर में डॉ० मान ने पता लगाया कि ६२ प्रतिशत किसानों का खेत एक एकड़ से भी कम था और जेटगाँव में ३१ प्रतिशत लोगों के पास ऐसे ही खेत थे। रामलाल भल्ला ने पता लगाया कि पंजाब के बहरामपुर गाँव में ३४.५ प्रतिशत किसान ऐसे थे जिनमें से प्रत्येक के पास ज़मीन के २५-२५ टुकड़े थे। यह स्थिति काफी व्यापक है।[1]

६. **उपविभाजन और अपखण्डन के कारण**—खेतों के अत्यधिक बिखरे और छोटे होने के अनेक कारण प्रस्तुत किये गए हैं। इन कारणों में से एक है व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति का विकास, जो संयुक्त परिवार प्रथा के तोड़ने के लिए उत्तरदायी है। पहले की भाँति संयुक्त खेती अब नहीं होती। सीमा और हदबन्दी करके बँटवारे का आग्रह और पृथक् खेती अब पहले से कहीं अधिक प्रचलित है। भारत में अंग्रेज़ी न्यायाधीशों द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत अधिकारों पर जोर दिये जाने के कारण व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति को और भी शह मिली। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनका विचार है कि हिन्दू और मुसलमानों के उत्तराधिकारी और पैतृक सम्पत्ति सम्बन्धी कानून और रिवाज़ भी उपविभाजन और अपखण्डन के मूलवर्ती कारण हैं। यह बात सरलता से समझ में आ जाती है कि क्यों परिवार की जोत का आकार पैतृक सम्पत्ति के प्रत्येक विभाजन के साथ कम होता जा रहा है। सामान्यतया उपविभाजन और अपखण्डन साथ-ही-साथ होते हैं क्योंकि प्रत्येक हिस्सेदार एक-एक खेत से सन्तुष्ट होने के बजाय, प्रत्येक भूमि में छोटे-छोटे टुकड़े लेने का आग्रह करता है।[2] इस प्रकार के बँटवारे का उद्देश्य प्रत्येक हिस्से को हर तरह से बराबर रखना है। मध्यकालीन यूरोप की अनावृत क्षेत्र-व्यवस्था (ओपन फील्ड सिस्टम) में भी यही विचार निहित था। इसके अन्तर्गत अच्छी और बुरी स्थिति वाले खेतों को समान और न्याय्य रूप से विभाजित करने के लिए, भूमि की पट्टियाँ एक-दूसरे से मिला तथा बिखरा दी जाती थीं। परन्तु भारत में समान और संगत विभाजन की इस रीति को खींचकर विषम स्थिति तक पहुँचा दिया गया है और बहुधा इसके प्रेरक समानताजन्य लाभ न होकर पारस्परिक ईर्ष्या और सन्देह होते हैं।[3]

इस दोष के लिए मुख्यतः उत्तराधिकार और पैतृक सम्पत्ति के कानून, उत्तरदायी हैं। इस स्थापना के विरुद्ध यह तर्क उपस्थित किया गया है कि ये कानून

१. कृषि आयोग रिपोर्ट देखिए, पैरा ११६-२२।

२. इस रिवाज़ का परिणाम यह होता है कि उत्तराधिकारियों की संख्या के बराबर ही प्रत्येक खेत के टुकड़े किये जाते हैं जिससे अपखण्डित जोतों की संख्या हिस्सेदारों की संख्या के बराबर हो जाती है।

३. 'जन-संख्या की विशेष वृद्धि के अभाव में पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपखण्डन के क्या कारण हैं? इसका प्रमुख कारण लगभग प्रत्येक कृषक परिवार में भाइयों की पारस्परिक घोर ईर्ष्या है। एक-दूसरे को लाभ उठाने का कोई अवसर नहीं देता। वे वृक्ष की शाखा पर स्थित मधु के छत्ते तक के हिस्से के लिए झगड़ा करते हैं। वे वृक्षों के फल और शाखाओं के लिए ही नहीं वरन उसकी छाया तक के लिए भी सिर फुटौवल करते हुए पाये जाते हैं।' १० अक्तूबर, १९२७ में छोटी-छोटी जोतों के बिल पर बम्बई विधान सभा के विवाद में एफ० जी० एच० एण्डरसन का भाषण।

सैकड़ों वर्षों से चले आ रहे हैं। परन्तु यह दोष अपेक्षाकृत नया और आधुनिक ढंग का है।[1] यह तो मानना ही पड़ेगा कि यदि ये कानून न होते तो ये बुराइयाँ इतना व्यापक और गम्भीर रूप धारण न कर पातीं जितना इन्होंने अब कर लिया है। कानूनन हर हिस्सेदार को अपना हिस्सा लेने का अधिकार है। हिस्सा बाँट लेने की इच्छा अन्य कारणों से भी हो सकती है, परन्तु इच्छा होने पर कानून ने इसका मार्ग और भी सरल कर दिया। इन कारणों में से एक कारण व्यक्तिवादी प्रवृत्ति है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। पर इस प्रवृत्ति को वास्तव में अभिव्यक्ति मिलती है उत्तराधिकार और पैतृक सम्पत्ति-सम्बन्धी कानूनों के द्वारा ही। यह कहने के बजाय कि ये कानून उपविभाजन और अपखण्डन के कारण हैं, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ये ऐसे साधन या उपकरण हैं जिनके द्वारा सतत उपविभाजन कार्यान्वित होता है। इन साधनों के प्रयोग के लिए कोई बाध्य नहीं है, परन्तु इच्छा होने पर इसका कभी भी उपयोग किया जा सकता है। यह तो सच है कि प्राचीन काल में इसके प्रयोग की इतनी आवश्यकता नहीं होती थी जितनी आज होती है, परन्तु यह सच नहीं है कि इन कानूनों की कार्यान्विति का परिणाम प्राचीन काल में उपविभाजन नहीं होता था।[2] हमें यह कहना चाहिए कि संयुक्त-परिवार प्रथा के कारण ये कानून बहुत कम प्रयोग में लाये जाते थे, परन्तु इनका प्रयोग होने पर उपविभाजन न हो, यह असम्भव था।

ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद, जनसंख्या की वृद्धि इसका दूसरा कारण बताया जाता है। जनसंख्या की वृद्धि का अर्थ उत्तराधिकारियों की वृद्धि है। परन्तु यह विभाजन का अपने-आप में कोई कारण नहीं है जब तब कि अन्य कारण उत्तराधिकारियों को संयुक्त परिवार की परिपाटी तोड़ने तथा पूर्णतः बँटवारा करवाने के लिए विवश न कर दें। जब तक पर्याप्त खाली भूमि उपलब्ध थी, जैसे पंजाब के नहर उपनिवेश में, तब तक परिवार के अतिरिक्त सदस्यों का प्रबन्ध उप-अधिकृत भूमि के खण्ड किये बिना सम्भव था।[3] पर जब समस्त कृषि-योग्य भूमि लोगों के अधिकार में चली गई तो स्थिति बदल गई और उपविभाजन से बचने का एकमात्र उपाय संयुक्त कृषि-प्रथा ही रह गई।[4]

मशीनों द्वारा बनी हुई वस्तुओं की प्रतिस्पर्धा के कारण दस्तकारी की अवनति हुई, जो अपखण्डन का एक प्रमुख कारण मानी जाती है। इस विषय में अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए, इस कारण की कार्य-विधि समझना उचित है। जैसा कि हम

१. वाडिया और जोशी, 'वेल्थ ऑफ़ इण्डिया', पृ० २४४।

२. वही।

३ यहाँ पर हम अधिकृत क्षेत्रों के छोटेपन तथा भू-स्वामियों के औसत क्षेत्रों के उपविभाजन की बात कह रहे हैं। नये-छोटे भू-अधिकारियों का प्रवेश (उदाहरणार्थ महाजनों) की पैतृक सम्पत्ति को प्रभावित किये बिना ही गाँव की जोतों की औसत कम कर सकता है। देखिए, कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ११६।

४. एण्डरसन के अनुसार संयुक्त परिवार का विलयन आयकर कानून के कार्यान्वित होने के बाद १८८६ से हुआ। छोटी जोतों के बिल पर बम्बई विधान सभा का विवाद देखिए।

पहले कह चुके हैं कि गाँव के कारीगरों के पास सामान्यतया कुछ भूमि होती थी। मशीनों की बनी वस्तुओं की प्रतियोगिता के कारण उसमें से कुछ लोगों की स्थिति तेजी से बिगड़ने लगी। पारिवारिक जोत भरण-पोषण का मुख्य साधन होने के कारण उसके स्वामियों की नज़रों में उसकी महत्ता बढ़ गई। जिन लोगों की आवश्यकताएँ कम थी, और जो उसकी पैदावार का थोडा भाग ही उपयोग करते थे, उन्हें संयुक्त कृषि-प्रणाली में उत्पादन का हिस्सेदारों की आवश्यकतानुसार विभाजन करना अनुचित लगने लगा। इस प्रकार से उत्पन्न हुई ईर्ष्या की भावना ने सम्मिलित कृषि की योजना निभाना असम्भव कर दिया और उसका परिणाम हुआ अन्तर्विभाजन। पर यह स्पष्ट है कि इस बात का जितनी भूमि पर असर पड़ा होगा, उसका क्षेत्र नही के बराबर ही रहा होगा। जहाँ तक शहरी कारीगरों का प्रश्न है, उनके पास प्रायः भूमि नही रहती। मशीनों द्वारा बनी हुई वस्तुओं से जब प्रतिस्पर्धा हुई वे अपना पेशा खो बैठे तथा भूमिहीन मजदूर हो गए। इससे भूमि पर भार बढ़ा, परन्तु भूमि के विभाजन पर इसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। यह हो सकता है कि कुछ शहरी कारीगर गाँवों में बस गए हों, जहाँ उन्होंने भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े खरीद लिये हों। ये टुकड़े आरम्भ से अनार्थिक थे या कालान्तर में दायाधिकार-नियमों के फलस्वरूप अनार्थिक हो गए। यह असम्भव प्रतीत होता है कि अपनी मूल वृत्ति के लाभप्रद न रह जाने के कारण, भूमि की शरण में जाने वाले कारीगरों के पास सामान्य अवस्था में भूमि खरीदने के लिए काफ़ी बचत या साख रही हो। और फिर यदि इस प्रकार से प्राप्त भूमि किसी बड़े भू-खण्ड का टुकड़ा न रही हो तो जहाँ तक उपविभाजन का प्रश्न है, स्थिति पहले के समान ही रहेगी। इसके विपरीत, यदि नई भूमि पर अधिकार किया गया हो तो इससे जोतों की संख्या तो बढ़ी होगी, परन्तु उपविभाजन को प्रोत्साहन नही मिला होगा। सारी स्थिति को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि दस्तकारी के ह्रास से भूमिहीन श्रमिकों की संख्या में तो अवश्य वृद्धि हुई, परन्तु जोतों के उपविभाजन और अपखण्डन को बढ़ाने की दिशा में इसका अधिक प्रभाव नही पड़ा। हाँ, यह जरूर है कि कारीगरों के काश्तकार हो जाने पर, उनकी कृषियोग्य भूमि की माँग के कारण, कृषि का उपविभाजन और अपखण्डन बढ़ गया।

अस्तु, आबादी की वृद्धि के अनुपात में एक ओर तो उद्योगों का समुचित विस्तार न होने और दूसरी ओर जोतों का आत्यन्तिक उपविभाजन और अपखण्डन, इन दोनों का कार्य-कारण सम्बन्ध जोड़ना सम्भव है। यदि गत वर्षों में जनसंख्या की वृद्धि के अनुरूप ही निर्माण-उद्योगों का विकास भी हुआ होता, तो भूमि की अतिरिक्त आबादी उनमें खप जाती। यदि परिवार का आकार इतना बढ़ जाता कि अपनी जोत पर आराम से रहना सम्भव होता तो कुछ सदस्य निश्चय ही औद्योगिक केन्द्रों को चले जाते तथा शेष सदस्य पारिवारिक जोत पर अपने श्रम का लाभ उठाते। गाँव छोड़ने वाले व्यक्तियों का भूमि पर कानूनी अधिकार बना रहता। यदि उद्योगों की नौकरी से उच्च स्तर का निर्वाह सम्भव होता तो वे प्रसन्नता से पारिवारिक भूमि से प्राप्त आय का अपना भाग घर पर रहने वाले व्यक्तियों को दे देते। दुर्भाग्यवश इस प्रकार की

उन्नति न हो पाई और जनसंख्या बढ़ती गई। यह अतिरिक्त आबादी उद्योगों में जाने के बजाय, भूमि पर ही आश्रित होती गई। संयुक्त परिवार प्रथा के शिथिल होने और अलग रहने की प्रवृत्ति के कारण, पैतृक सम्पत्ति-सम्बन्धी कानून का अधिकाधिक आश्रय लिया जाने लगा। इस प्रकार, आर्थिक कठिनाइयों के बढ़ने के कारण लोगों ने ऐसी कार्य-प्रणाली अपनाई जिसने उनके संकट को कम करने की बजाय और बढ़ा दिया। अब भूमि ही उनका एकमात्र साधन थी, अतएव हम आशा कर सकते थे कि इस कारण वे भूमि का पूर्ण उपयोग करेंगे, परन्तु अत्यधिक सावधानी और विचार-पूर्ण कार्यों के बजाय, उन्होंने भूमि को बड़ी लापरवाही से छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर नष्ट कर दिया।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि, उसके अनुरूप उद्योगों में विस्तार का न होना, संयुक्त परिवार का ह्रास तथा व्यक्तिवादिता का विकास, आदि और इनको पुष्ट करने के लिए उत्तराधिकार और पैतृक सम्पत्ति-सम्बन्धी कानून जोतों के उपविभाजन और अपखण्डन के ये ही प्रधान कारण हैं।

जिस समय कोई दोष असह्य सीमा तक पहुँच जाता है तो कुछ प्राकृतिक उपाय स्वयं क्रियाशील हो उठते हैं। उदाहरण के लिए, अत्यधिक छोटी जोत मालिक द्वारा या तो बेची जा सकती है या किराये पर दी जा सकती है। परन्तु इस प्रकार के उदाहरण सामान्यतः नहीं पाये जाते और न वे मुख्य समस्या पर कोई गहरा प्रभाव ही डालते हैं। अतः हमें यह मानना पड़ेगा कि यह समस्या अत्यन्त विषम और बद्धमूल है तथा इसी आधार पर हम इसे दूर करने के सामान्य उपायों का विवेचन करेंगे।

७. आर्थिक जोत क्या है?—गत वर्षों में भारत में इस समस्या को वैधानिक दबाव के और ऐच्छिक आधार पर हल करने का प्रयास किया गया है। चाहे हम कोई भी आधार क्यों न अपनाएँ, हमें आर्थिक जोत शब्द का अर्थ हर हालत में स्पष्ट करना पड़ेगा। इस शब्द की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। कीटिंग्ज के अनुसार आर्थिक जोत का अभिप्राय 'उस जोत से है जिससे कृषि-कार्यों का आवश्यक व्यय निकाल देने के बाद कोई व्यक्ति अपने तथा अपने परिवार के निर्वाह के लिए पर्याप्त उत्पादन कर सके।' वह आगे कहते हैं कि 'दक्षिण में एक आदर्श आर्थिक जोत एक ही स्थान पर ४० अथवा ५० एकड़ की अच्छी भूमि होगी जिस पर सिंचाई के लिए एक कुआँ तथा एक घर होगा। परिस्थितियों की विविधता के अनुसार विभिन्न भागों में अभीष्ट क्षेत्र की कियत्ता अलग-अलग होगी। सूरत जिले में एक माली ३ एकड़ के बगीचे से अपने परिवार का पालन बड़े आराम से कर सकता है जब कि दक्षिण के सूखे भागों में खराब मिट्टी वाली ३० एकड़ भूमि भी पर्याप्त नहीं होती। आदर्श आर्थिक जोत और अनार्थिक जोत में बहुत से कोटि क्रम हैं, परन्तु किसी एक भाग के लिए मानक निश्चित कर देना कठिन नहीं है।'[१] डॉ० मान के अनुसार आर्थिक जोत उसे कहते हैं जिससे एक औसत परिवार का निर्वाह सन्तोषप्रद ढंग से हो सके।[२] स्टेनले जेवन्स ने, उत्तरप्रदेश की

१. प्रोग्रेस ऑफ एग्रीकल्चर इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ० ५२-५३।

२. पूर्व उद्धृत, खण्ड २, पृ० ४३।

परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए लगभग ३० एकड़ भूमि को आदर्श जोत माना है। उनका उद्देश्य किसानों को 'युक्त' स्तर ही नहीं—'निम्नतम' का तो प्रश्न ही नहीं—वरन् रहन-सहन का 'उच्च' स्तर प्रदान करना है।

विभिन्न कारणों के आधार पर आर्थिक जोत की परिभाषा में अन्तर हो जायगा, उदाहरणार्थ, हम कुल प्रत्याप्ति को ले रहे हैं या विशुद्ध प्रत्याप्ति को, पूँजी की प्रचुरता है अथवा कमी आदि। पुनः यह कृषि-पद्धति के स्वरूप पर भी निर्भर होगी, कृषि के विस्तृत या घने होने पर, भूमि की प्रकृति पर, सिंचाई की सुविधाओं के होने-न-होने पर कौनसी फसलें उगा ली जाती है, आदि।

इतना समझ लेने के बाद हमें आर्थिक जोत शब्द को एक विशिष्ट अर्थ दे देना चाहिए। एक औसत परिवार को लेकर हम कह सकते हैं कि भूमि की वह मात्रा जो उसकी पूँजी और श्रम का सबसे अधिक लाभप्रद उपयोग करने का अवसर दे, आदर्श जोत है। इसके लिए हर प्रकार के कारणों पर ध्यान देना होगा। उदाहरणार्थ, प्राप्य श्रम और पूँजी या उसके कुछ भाग को कृषि के अतिरिक्त अन्यत्र प्रयोग करने की सम्भावना की अपेक्षा नहीं की जा सकती। श्रम और पूँजी का कृषि और अन्य वृत्तियों के बीच यह वितरण 'समसीमान्त प्रत्याप्ति' ('Equimarginal returns) के सिद्धान्त पर निर्धारित किया जायगा। यहाँ निहित उद्देश्य कृषि में लगी हुई पूँजी और श्रम की प्रत्येक इकाई के लिए अधिकतम प्रत्याप्ति उपलब्ध करना है।

पर इस सम्बन्ध में निकाले गए कुछ निष्कर्ष साधारणतः भारत की वास्तविक परिस्थितियों में सत्य सिद्ध नही किये जा सकते। खास तौर से इसलिए कि यह परिकल्पना कि कृषि और अन्य वृत्तियों के बीच श्रम—गाँव में या गाँव के बाहर—पूर्णरूप से गतिशील है, मान्य नहीं। और इसका कारण है ग्रामीण उद्योगों का अभाव तथा शहरों में निर्माण-उद्योगों की अविकसित अवस्था। जहाँ तक भारतीय परिस्थितियों का सम्बन्ध है, हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि एक औसत कृषक-परिवार में जो श्रम उपलब्ध होता है वह खेती को छोड़ किसी अन्य कार्य में निर्देशित नहीं किया जा सकता।

संख्यात्मक उदाहरण से यह विचार सरलता से समझ में आ जायगा। हम पाँच सदस्यों वाले औसत परिवार को लें और उसमें उपलब्ध 'श्रम' को ही श्रम की इकाई मान लें। इसी तरह पूँजी की इकाई एक जोड़ी बैल और हल को मान लें। ये प्राकल्पनाएँ भारत की वर्तमान परिस्थितियों से पूरी तरह मेल खाती हैं। मान लीजिए इस परिवार की जोत का आकार ५ एकड़ है, जिससे उपलब्ध पूँजी और श्रम द्वारा १५० रुपये की कुल आय हो सकती है। इसमें एक जोड़ी बैल को रखने का खर्च मान लीजिए ४० रुपये है, तथा अन्य खर्च, मान लीजिए, २० रुपये है, खर्च घटा दीजिए; अतः इस परिवार की वास्तविक आय १५० रु०—६० रु०=९० रुपये है।[1] मान लीजिए एक जोड़ी बैल और हल तथा उपलब्ध श्रम से यह परिवार २० एकड़ भूमि में अच्छी तरह से खेती कर सकता है। अब मान लीजिए उनके पास २० एकड़ जमीन है।

१. वास्तव में ये अंक केवल समझने के लिए है, परन्तु इनके स्थान पर किन्ही और अंकों को प्रतिस्थापित करना किसी तरह तर्क को प्रभावित नहीं करेगा।

नतीजा यह होगा : कुल आय = ६०० रुपये, एक हल और एक जोड़ी बल रखने का खर्च ४० रु०, अन्य खर्च ८० रु० अर्थात्, पहले से चार गुना अधिक (यद्यपि अधिक सम्भावना तो यह है कि अन्य खर्चों की वृद्धि भूमि की वृद्धि के अनुपात मे कम होगी) इस प्रकार हमारे वास्तविक माप = ६००रु० — १२० रु० = ४८० रु० है।

मान लीजिए, क, ख, ग, घ चार परिवार हैं। प्रत्येक परिवार के पास ५ एकड भूमि है जिसे वे अलग-अलग जोतते हैं। प्रत्येक परिवार ६० रु० व्यय करता है— ४० रु० बैलों पर तथा २० रु० अन्य मदों पर। और १५० रु० कुल आय तथा ९० रुपये वास्तविक आय के रूप मे पाता है। मान लीजिए, अब वे २० एकड के सम्पूर्ण क्षेत्र पर संयुक्त कृषि करने का निर्णय करते हैं। ऐसा करने पर उन्हें तीन जोड़ी बैलों की आवश्यकता नहीं रहेगी और वे इस मद मे १२० रुपये बचा लेंगे। पहले के बराबर ही श्रम लगाने पर अब ६०० रु० की कुल आय होगी जिसमें से ४० रु० बैलों के तथा ८० रु० अन्य व्ययों के लिए निकाल देने पर प्रत्येक परिवार का भाग १२० रु० होगा जबकि अलग-अलग ५ एकड़ पर खेती करने में उनका हिस्सा ९० रु० ही था। इस प्रकार प्रत्येक परिवार की आय बढ जाती है, यद्यपि अब कुल श्रम का एक चौथाई भाग ही काम करता है, क्योंकि हमारी प्राकल्पना के अनुसार एक परिवार के श्रम का पूरा लाभ उठाने के लिए २० एकड भूमि जरूरी है।

अब सवाल यह है कि जो अतिरिक्त श्रम उपलब्ध है उसका क्या हो? उसे कुछ और धन्धा मिल नही सकता, यह हम पहले ही मान चुके हैं। अतः कृषि-कार्य करने और न करने के बीच ही चुनाव करना है। इन परिस्थितियों में कुछ अतिरिक्त श्रम भूमि पर लगाया जा सकता है अगर उससे उत्पादन में कुछ वृद्धि हो, भले ही यह वृद्धि श्रम-इकाइयों की वृद्धि के अनुपात में न हो। मान लीजिए कि अतिरिक्त श्रम के प्रयोग से २०० रु० की उपज बढती है। अब स्थिति इस प्रकार है। कुल आय ८०० रु० — व्यय १२० रु० = ६८० रु० विशुद्ध आय।

हम इन्हें निम्नांकित क्रम से रख सकते हैं। 'श' श्रम की एक इकाई को व्यक्त करता है (अर्थात् एक औसत परिवार), 'प' पूँजी की एक इकाई को व्यक्त करता है, (अर्थात् एक हल और एक जोड़ी बैल)।

पहली दशा : १ श + १ प + २० एकड़; विशुद्ध आय ४८० रु०। परिवार की प्रति व्यक्ति आय $\frac{४८०}{५}$ = ९६ रु०।

दूसरी दशा : ४ श + १प + २० एकड़; विशुद्ध आय ६८० रु०। परिवार की प्रति व्यक्ति आय = $\frac{६८०}{२०}$ = ३४ रु०।

तीसरी दशा : ४ श + ४ प + २० एकड़; विशुद्ध आय ३६० रु०। परिवार की प्रति व्यक्ति आय = $\frac{३६०}{२०}$ = १८ रु०।

सर्वश्रेष्ठ परिणाम उस समय प्राप्त होगा जब श्रम और पूँजी की एक-एक इकाई २० एकड़ भूमि से संयुक्त की जाय। यही हमारी आर्थिक जोत है। ऊपर परि-भाषित आदर्श जोत की तुलना में भूमि, श्रम और पूँजी के अनुपात में अन्तर हुआ तो इसके परिणामस्वरूप जोत अनार्थिक हो जायगी, तथा उत्पादकों की प्रति व्यक्ति आय

घट जायगी। आदर्श जोत के अनुकूल अनुपात बदलने पर अनार्थिक जोत अधिकाधिक आर्थिक होती जायगी। यदि तीनों परिवारों का अतिरिक्त श्रम कृषि के अतिरिक्त किसी अन्य जीविका में लगाया जा सके तो उत्पादकों के दृष्टिकोण से पहली दशा सबसे अच्छे परिणाम देती है। यदि परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि सभी परिवारों को २० एकड़ भूमि पर ही निर्भर रहना पड़ता है तो दूसरी दशा सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि पहली दशा में वास्तविक आय केवल ४८० रु० है जबकि दूसरी दशा में यह ६८० रु० है। परन्तु इससे यह बात ग़लत नहीं हो जाती कि पहली दशा भूमि, श्रम और पूँजी का आदर्श संयोग दिखाती है। यदि श्रम की मात्रा ४ श में है तो सर्वश्रेष्ठ संयोग ४ श + ४ प + ८० एकड़ होगा, केवल २० एकड़ उपलब्ध होने के कारण दूसरी दशा को ही अपनाना चाहिए जो प्रसंगत: यह बात भी स्पष्ट करती है कि कुछ हद तक सम्मिलित कृषि-भूमि पर अत्यधिक दबाव के दोष को दूर करती है।

यह स्पष्ट ही है कि आर्थिक जोत की परिभाषा देने की उपर्युक्त विधि ऊपर दी हुई प्रचलित परिभाषाओं से कम आपत्तिजनक है। 'अच्छी खासी सुविधाएँ', 'निम्नतम स्तर' और 'उच्चतम स्तर' आदि शब्द अस्पष्ट तथा अनेकार्थी हैं। इसके विपरीत यदि हम कहें कि हमारा उद्देश्य भूमि, पूँजी और श्रम के सम्बन्ध को इस प्रकार व्यवस्थित करना है ताकि उत्पादकों को अधिकतम लाभ हो तो हम इस कठिनाई से मुक्त हो जायँगे। अधिकतम आर्थिक लाभ किसानों को रहन-सहन का उच्च स्तर बनाए रखने के योग्य भी बना सकता है तथा निम्नतम स्तर आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त हो सकता है। पहली अवस्था में प्राप्त ९६ रु० प्रति व्यक्ति की आय आरामपूर्वक रहन-सहन का अच्छा स्तर बनाए रखने के लिए पर्याप्त नहीं है, परन्तु प्राप्य अधिकतम आय वही है। यह सम्भव है कि भूमि, श्रम और पूँजी के उपयुक्ततम संयोग के परिणाम पूर्णतया सन्तोषजनक न हों। इस दशा में हमें अन्य उपायों को अपनाना पड़ेगा, जैसे उत्पादन के कुशल साधन, विपणन सुविधाएँ आदि। 'आर्थिक जोत' बनाने का उद्देश्य उचित आकार की जोत द्वारा किसानों की स्थिति सुधारना है, जहाँ तक एक तरीके से सुधारी जा सकती है और वह यह कि उसे सही आकार की जोत मिल जाय। यह किसानों के लिए नई धरा अथवा नये स्वर्ग की आशा नहीं दिलाती और न यह किसानों की समस्याओं का पूरा हल ही है। यह तो समस्या को हल करने का केवल एक रास्ता-भर है।

८. उपचार—अब हमें उपचारों को देखना चाहिए जो भारत में उपविभाजन और अपखण्डन की बुराइयों को दूर करने के लिए अपनाये या सुझाये गए हैं। सन् १९२०-२१ से पंजाब में सहकारी विभाग के तत्त्वावधान में सहकारी समितियाँ बनाकर प्रचार और प्रेरणा द्वारा बिखरी हुई जोतों की चकबन्दी के सम्बन्ध में दिलचस्प प्रयोग किये गए जिसमें अद्भुत सफलता मिली। जुलाई सन् १९४३ के अन्त तक प्रान्त में सहकारी चकबन्दी समितियों की संख्या १८०७ थी और चकबन्दी किया हुआ क्षेत्र १४.५[१] लाख एकड़ था।[२] चकबन्दी की गति नवम्बर सन् १९३६ के चकबन्दी अधिनियम

१. फैमिन इन्क्वायरी कमिशन, फाइनल रिपोर्ट, पृ० २६२।

२. १९५०-५१ में पंजाब में ३६१ सहकारी चकबन्दी समितियां थीं जिनकी सदस्य-संख्या १,८६,०५७ थी।

(कन्सॉलिडेशन ऑफ़ होल्डिंग्स एक्ट) के पास होने से और भी बढ़ गई। इस कानून के अन्तर्गत हठीअल्पसंख्यक व्यक्तियों के विरोध के बावजूद भी चकबन्दी अनिवार्य कर दी गई। चकबन्दी का प्रभाव बहुत ही लाभदायक रहा है। भूमि की उत्पादकता में वृद्धि हुई, अपखण्डन के कारण न जोती जाने वाली भूमि पर खेती होने लगी, मुकद्दमेबाजी और झगड़े कम हो गए, तथा सुधार की उत्कट अभिलाषा भी उत्पन्न हो गई है। कुछ कारणों से पंजाब इस प्रकार के सहकारी कार्यों के लिए बहुत उपयुक्त है जिसका परिणाम ऐच्छिक आधार पर चकबन्दी का होना है। पहली बात तो यह है कि भूमि और जनसंख्या के सम्बन्ध में वहाँ के गाँवों में एकरूपता है। दूसरी बात यह है कि नहर उपनिवेशों में भूमि की जुताई हाल ही में शुरू हुई है, इसलिए वहाँ चकबन्दी अधिक आसान है। तीसरी बात यह है कि हर भू-धृति की सापेक्षिक सरलता के कारण भी चकबन्दी में सुविधा रहती है।[1] अच्छी-से-अच्छी परिस्थिति होने पर भी चकबन्दी आन्दोलन की गति अवश्य ही धीमी होगी। इसकी भी कोई गारन्टी नहीं है कि भविष्य में चकबन्दी कार्य व्यर्थ न हो जायगा। एक कठिनाई यह भी है कि चक-बन्दी की लागत अधिक है और जनता इतना देने के लिए तैयार नहीं है। एक शिकायत यह भी है कि जो लोग स्थानीय रूप से शक्तिशाली या प्रभावशाली है किसी-न-किसी प्रकार सर्वोत्तम भूमि ले लेते है। इसके अतिरिक्त पंजाब का प्रयोग केवल अपखण्डन की समस्या को ही हल करता है, उसका उद्देश्य उपविभाजन रोकना नहीं है।

पंजाब द्वारा दिखाये हुए मार्ग का अनुसरण कुछ अन्य राज्यों जैसे मध्यप्रदेश (नीचे देखिए) उत्तरप्रदेश आदि ने किया है। उत्तरप्रदेश में पंजाब के नमूने पर आधारित सहकारी चकबन्दी समितियों की संरक्षता में (जिनकी संख्या १९३९-४० में १८२ थी) ७७,६७२ पक्के बीघे भूमि की चकबन्दी की गई। पुनर्विभाजन के कारण खेतों की संख्या $\frac{१}{१०}$ हिस्सा कम हो गई।[2] सन् १९३९ के चकबन्दी अधिनियम के पास होने पर इन समितियों का काम समाप्त नहीं हुआ। जैसा कि पंजाब में है सहकारी चकबन्दी और कानून के अन्तर्गत की जाने वाली चकबन्दी साथ-साथ चल सकती है।[3] मद्रास ने मामूली शुरुआत की और सन् १९३९-४० में वहाँ २२ चकबन्दी समितियाँ थी, परन्तु प्रयास असफल रहा और प्रयोग छोड़ दिया गया।[4]

लगभग ७.०७ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी सहकारी समितियों द्वारा की गई तथा चकबन्दी विभाग ने ३.५ लाख एकड़ भूमि के चक बनाए।

१. चकबन्दी के लाभों तथा उसकी कठिनाइयों के लिए देखिए 'कन्सॉलिडेशन आफ लैण्ड होल्डिंग्स इन द पंजाब, के० एम० बशीर अहमदखाँ, इण्डियन सोसाइटी ऑफ एग्रीकल्चर इकानामिक्स की पहली कान्फ्रेंस कार्यवाही (१९४०), पृ० ३८-४४।

२. उत्तर प्रदेश में १९४९-५० के अन्त में ४३८ सहकारी चकबन्दी समितियाँ थी। इनके द्वारा लगभग दो लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी हो चुकी है।

३. सन् १९३९-४० में उत्तरप्रदेश में सहकारी समितियों के कार्य पर रजिस्ट्रार की रिपोर्ट, पैरा ४४; और इण्डियन को-आपरेटिव रिव्यू में अक्तूबर-दिसम्बर (१९३९) में बी० मुकर्जी का लेख, पृ० ५१९-२९।

४ रिजर्व बैंक के १९४६-४८ के रिव्यू के अनुसार मद्रास में २२ चकबन्दी समितियाँ हैं तथा उनके द्वारा

अनुज्ञात्मक विधान को लागू करके भी देखा गया है, परन्तु इसमें कई कमियाँ रह जाती हैं। बड़ौदा ने सन् १९२० में इस तरह का कानून बनाया, परन्तु वह कभी काम में नहीं लाया गया। चकबन्दी समितियों ने हितकर कार्य किये हैं (सन् १९३८-३९ में इनकी संख्या ७९ थी)।

मध्यप्रदेश में चकबन्दी का कार्य ध्यान देने योग्य है। उस प्रान्त में पंजाब के समान सहकारी चकबन्दी समितियों के अलावा अनिवार्य चकबन्दी के लिए सन् १९-२८ में चकबन्दी अधिनियम पास किया गया। आरम्भ में यह अधिनियम केवल छत्तीस-गढ़ प्रदेश में ही लागू करने के लिए था। इस अधिनियम के अन्तर्गत गाँव के कम-से-कम आधे स्थायी भू-स्वामियों को, यदि उनके कब्जे में गाँव की कम-से-कम दो-तिहाई भूमि है, चकबन्दी की योजना में सम्मिलित होने का अधिकार दिया गया है। स्वीकृत हो जाने पर यह योजना गाँव के स्थायी भू-स्वामियों तथा उनके उत्तराधिकारियों पर लागू होगी। कानून के पास हो जाने के बाद यह कार्य २४३६ गाँवों में किया गया और ५००,००० एकड़ से अधिक भूमि की, जो हजारों छोटी-छोटी जोतों में विभक्त थी, ४ आना प्रति एकड़ के व्यय पर चकबन्दी की गई। मध्य प्रदेश की सरकार का दावा है कि चकबन्दी के अनेक लाभ हैं—उदाहरणार्थ समय और श्रम की बचत, अच्छे औजारों और फसलों का प्रवर्तन, अतिक्रमण के कारण हुए झगड़ों में कमी, कुल उत्पादन में वृद्धि, और अधिक कृषि-योग्य भूमि की प्राप्ति, आदि। यह भी कहा गया है कि चकबन्दी के अनुकूल प्रभावों को अच्छी तरह समझ लिये जाने पर अपखण्डन को दूर करने के लिए स्वस्थ एवं ऐच्छिक कदम भी उठाये जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसी प्रकार का अधिनियम १९३६ में पंजाब के लिए और १९३९ में उत्तर

चकबन्दी की हुई भूमि १४६३ एकड़ है।

इन्टरनेशनल लेबर आफिस, इण्डिया ब्रान्च न्यू दिल्ली से प्रकाशित 'रिसेन्ट-डिवेलपमेन्ट्स इन इण्डियन इकॉनामी, के अनुसार चकबन्दी सम्बन्धी आधुनिक प्रगति इस प्रकार है :

राज्य	तिथि	गाँवों की संख्या,	चकबन्दी की हुई भूमि
(१)	(२)	(३)	(४)
बम्बई	३०-४-१९५४ तक	८७८,	१२,८४,९६८ एकड़
मध्य प्रदेश	३१-९-५४ तक	३,०३३.	२६,९४,७३६"
पंजाब (प्राप्त उत्तर की तारीख)	१२-७-५४	३,३५३,	२९,५३,२०८"
		(चकबन्दी विभाग)	(चकबन्दी विभाग)
		१८३	१,५४,४०२
		(सहकारी विभाग)	(सहकारी विभाग)
उत्तर प्रदेश १९४७ तक			
(चकबन्दी कानून १९४७ के अन्तर्गत)		७००४	एकड़ ४,६४,२९१
१९५२-५३ (सहकारी समिति कानून के अन्तर्गत) समितियां		५६०	१,७१,६९९"
दिल्ली	३१-३-१९५४	१६९	१,६२,१८८,

प्रदेश[1] के लिए पास हुआ।

पंजाब के नहर उपनिवेशों में, स्वामित्व हस्तान्तरण पर रोक लगाकर और कुछ अनुदानों के मामले में केवल एक व्यक्ति को उत्तराधिकारी बनाकर उपविभाजन रोका गया है। परन्तु इससे कृषि के उपविभाजन को रोकने में कोई सफलता नहीं मिली।

बड़ौदा में, सहकारी समितियों द्वारा किये गए ऐच्छिक कार्यों के अलावा, अपखण्डन को रोकने के लिए अन्य उपाय किये गए। इसका एक उदाहरण सन् १९३३ का कृषि जोत-अपखण्डन-निरोधक (प्रिवेन्शन आफ़ फ्रेगमेन्टेशन आफ एग्रीकल्चरल होल्डिंग्स एक्ट) अधिनियम है जो पड़ोसियों और साझीदारों को समीप की भूमि के खरीदने का अधिकार देता है। अन्य उपाय भू-राजस्व संहिता (लैण्ड रेवेन्यू कोड) के अन्तर्गत भू-राजस्व अधिकारियों (रेवेन्यू आफिसरों) तथा सम्पत्ति-विभाजन अधिनियम (पार्टीशन आफ प्रापर्टी एक्ट) को लागू करने के लिए दीवानी अदालतों द्वारा किये गए कार्य हैं, जो बड़ी-बड़ी जोतों को निश्चित सीमा से आगे विभक्त नहीं होने देते। आज तक की उन्नति बहुत धीमी रही है। मुसलमानों के लिए मिश्र की प्रथा प्रस्तावित की गई है। इस प्रथा के अनुसार भूमि समस्त उत्तराधिकारियों में बाँट दी जाती है, परन्तु सबकी ओर से कृषि-कार्य के लिए वह एक ही व्यक्ति को सौंप दी जाती है अथवा सभी उत्तराधिकारियों की ओर से प्रबन्ध करने के लिए किसी न्यासधारी (ट्रस्टी) को सौंप दी जाती है। हिन्दुओं के लिए बिना विभाजन के ही पैतृक भूमि की संयुक्त खेती का समर्थन किया गया है।

जैसा कि बम्बई के अनुभव से देखा गया है केवल सरकार की ओर से अनार्थिक जोतों की स्वीकृति न देना ही पर्याप्त नहीं है। संयुक्त रिपोर्ट प्रस्तुत करने वालों ने, जिस पर बम्बई की रैय्यतवाड़ी प्रथा आधारित है, उपविभाजन की सम्भावना को पहले ही देख लिया था और वही भू-राजस्व संहिता के अनुच्छेद ९८ के समावेश के लिए उत्तरदायी थे। इस अनुच्छेद के अनुसार समय-समय पर निश्चित की हुई न्यूनतम सीमा से कम अनेक प्रकार की भूमि का कोई खतौनी नम्बर (सर्वे नम्बर) नहीं होता। भूमि के विभाजन को तथा भूमि अलग टुकड़ों में रखने को यह नहीं रोक सका। ऐसे विभाजनों को अदालतों द्वारा स्वीकार कर लिये जाने के कारण अनुच्छेद ९८ को रद्द करना पड़ा और आजकल 'अधिकारों के अभिलेख' (Records of Rights) द्वारा

---

१. पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में क्रमशः १९४८ तथा १९५३ में चकबन्दी-सम्बन्धी नये एक्ट पास किये गए हैं। अतएव पुराने एक्ट अब रद्द हो गए हैं। उत्तर प्रदेश जोतों की चकबन्दी कानून १९५३ (यू० पी० कन्सॉलिडेशन ऑफ होल्डिंग्स एक्ट १९५३) १० अप्रैल, सन् १९५४ से लागू किया गया। इसके अनुसार जहाँ जोत का अधिक भाग होगा उस क्षेत्र में चक बनाने की यथासम्भव कोशिश की जायगी। इस कानून का उद्देश्य कम-से-कम कठिनाइयों द्वारा किसानो को अधिकतम लाभ पहुँचाना है।

२. भारत के अनेक प्रान्तों में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा की गई चकबन्दी सम्बन्धी जांच की दिलचस्प समीक्षा के लिए, के० जी० अम्बेगवकर आई० सी० एस० का 'कन्सॉलिडेशन ऑफ एग्रीकल्चरल होल्डिंग्स' लेख देखिए जो (१९४०) में इण्डियन सोसाइटी ऑफ एग्रीकल्चरल इकनॉमिक्स की पहली कान्फ्रेंस में पढ़ा गया था, कार्यवाही पृ० २५,३५।

सूक्ष्मतम विभाजन को मान्यता दी जाती है।

१. सन् १९२७ का बम्बई का स्वल्प जोत-बिल (स्मॉल होल्डिंग्स बिल)—अक्तूबर १९२७ में यह बिल बम्बई विधान परिषद में माननीय सर चुन्नीलाल मेहता द्वारा पेश किया गया। बिल के प्रथम भाग में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार एक मानक-इकाई निश्चित करने की व्यवस्था की गई थी—यानी भूमि का ऐसा छोटे-से-छोटा आकार निश्चित कर देना, जिस पर अलग से खेती करके लाभ उठाया जा सकता हो। मानक इकाई से छोटे खेतों को खेत-खण्ड-मात्र घोषित कर देने की व्यवस्था की गई। बिल का उद्देश्य यह था कि पुराने खण्डों का और उपविभाजन न हो तथा और नये खण्ड न बनते जायँ और चकबन्दी को बढ़ावा मिले। दूसरे भाग का उद्देश्य अधिक लाभ के लिए वर्तमान खण्डों की चकबन्दी करना था।

बिल में कुछ हद तक अनिवार्यता भी थी। किन्तु स्टैनले जेवन्स के शब्दो मे 'यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विलक्षण समाजशास्त्रीय तथ्य है कि स्वामित्व और भूमि के प्रयोग को व्यवस्थित करने वाले कानून और रिवाज समाज की किसी अन्य विशेषता की अपेक्षा अधिक स्थायी होते है और इसलिए उन्हें कानून की अजेय शक्ति के अतिरिक्त किसी और ऊपरी कार्यवाही से बदलना बहुत कठिन है।'[1]

इस सम्बन्ध में दूसरी आलोचना यह थी कि बिल में पैतृक सम्पत्ति-सम्बन्धी और भारतीय पारिवारिक जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिषेध किया गया है। पर यह बात ध्यान देने की है कि बिल ने 'विभाजन की रीति बदलने का प्रयत्न किया था, न कि विभाजन के आधारभूत कानून को'। कुछ भी हो, आखिरकार कानून मनुष्य द्वारा ही बनाए जाते है और उनमें दोष तथा हानिकर सम्भावनाएँ पाई जाने पर बदल देना ही बुद्धिमानी है।

पर सबसे व्यापक आलोचना यह थी कि बिल के पास होने पर बहुतों की भूमि छिन जायगी और इस प्रकार एक भूमिहीन सर्वहारा वर्ग का जन्म होगा। यह अनुमान था कि किसानों की वर्तमान औसत जोत की तुलना में मानक-जोत बहुत बड़ी होगी। बिल में केवल 'फायदेमंद जोत' बनाने का विचार किया गया था, 'आर्थिक' जोत का नहीं। निम्नतम मानक-जोत की परिभाषा लाभदायक कृषि के लिए कम-से-कम अनिवार्य जोत के रूप में की गई थी, आर्थिक जोत के रूप में नही। इस प्रकार की लाभदायक जोत आर्थिक जोत से कही छोटी होगी।

यह मानकर चलें कि मानक इकाई एक उचित आकार के बराबर रखी जायगी तो नये कानून के अन्तर्गत जिन लोगों को ज़मीन पट्टे या विक्रय द्वारा छोड़नी पड़ेगी। वे वही व्यक्ति होंगे जिनकी जोतें इतनी होंगी कि सम्भवतया वे उसी के सहारे जीवित नहीं रह सकते और इस प्रकार वे सम्पूर्ण समय के लिए कृषक भी नही है। ऐसे लोगों के छोटे खेत हानिप्रद थे, उनके मालिक मुख्य जीविका पर पूरा ध्यान नहीं दे सकते थे। ऐसी परिस्थितियों में भू-स्वामी के लिए यह अच्छा होगा कि वे अपनी भूमि को लगान पर दे दे और वे भूमि से कुछ-न-कुछ लाभ प्राप्त करते हुए मालिक बने रहें और

[1] अक्तूबर १९२७ में बम्बई विधान परिषद के विवाद में सर चुनीलाल मेहता द्वारा उद्धृत।

स्वयं खेती करने में अपना समय बरबाद न करें और नुक्सान न उठाएँ।[1]

बिल के आलोचकों ने इस सम्भाव्यता पर ध्यान नहीं दिया कि यह उपविभाजन को रोकेगा और अनेक दशाओं में भूमि के हाथ से निकल जाने का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

यह बिल प्रवर-समिति (सिलेक्ट कमेटी) को भी सौंपा गया, जिसने मई १९२८ में अपनी रिपोर्ट दी और उसमें छोटे-मोटे सुधार करके उसे स्वीकार्य बना दिया। परन्तु परिषद के बाहर और भीतर तीव्र और दृढ़तापूर्वक विरोध होने पर इसे अनिश्चित काल तक के लिए स्थगित कर देना पड़ा।[2]

कृषि-आयोग ने चेतावनी दी थी कि दबाव का तत्त्व कुछ हद तक अनिवार्य हो सकता है, परन्तु इसका अर्थ यह न समझ लेना चाहिए कि हम लोगों की इच्छाओं का पूरी तरह ध्यान रखना जरूरी नहीं समझते। हमें दबाव को तो अन्तिम उपाय की तरह अलग रखना चाहिए और इसका प्रयोग बहुमत के लाभ के लिए उस समय करना चाहिए जब कि हठी अल्पमत उसमें बाधक हो। सरकार को प्रचार-कार्य करना चाहिए और कठिनाइयों को अकर्मण्यता का बहाना न बन जाने देना चाहिए। जहाँ चकबन्दी अनुज्ञात्मक कानून के रूप में लागू की गई हो वहाँ उसके पक्ष में सरकार को धीरे-धीरे कार्य करना चाहिए। कानून के अन्तर्गत विशेष क्षेत्रों को चुन लेना चाहिए और दबाव डालने वाला कोई उपाय अपनाने से पूर्व भू-स्वामियों के मत के सम्बन्ध में पूरी जाँच कर लेनी चाहिए।[3]

कृषि की आर्थिक इकाइयाँ बनाना बहुत ही महत्त्वपूर्ण और मूलभूत सुधार है। इसमें असफल होने पर, जनता की गरीबी को दूर करने के लिए अब तक जो-कुछ प्रयत्न किया गया है वह व्यर्थ हो जायगा। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, इस प्रश्न पर राजकीय कृषि आयोग तथा अन्य राज्यीय सरकारों का रुख बड़ा ही अस्थिर और कमजोर रहा है।[4] यह स्मरण रखना चाहिए कि इसका हल ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के आमूल परिवर्तन में है और इस समस्या को दूरदर्शिता और साहस से हल करने की आवश्यकता है। हाल ही के युद्ध और युद्धोत्तरकालीन अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि

१. बम्बई स्वल्प जोत बिल पर एफ० जी० एच० एण्डरसन की पुस्तिका।

२. सन् १९४७ में बम्बई प्रान्त में एक नया चकबन्दी अधिनियम (द बॉम्बे प्रिवेन्शन आफ फ्रेगमेन्टेशन एंड कन्सालिडेशन आफ होल्डिंग्स एक्ट) बनाया गया जिसमें सन् १९५३ में संशोधन हुआ है। यह अधिनियम ८ अप्रैल, १९४८ से लागू किया गया। जुलाई १९५३ तक सरकार ने १८१० गाँवों में चकबन्दी करने का नोटिस दे दिया था। ७६७ गाँवों में चकबन्दी की योजनाएँ पूरी हो गई हैं तथा २७३,५७५ जोतों की संख्या घटकर १४२,०७९ रह गई है। बम्बई की सरकार २३,००० गाँवों में से प्रति वर्ष १५०० गाँवों में चकबन्दी करके १४ वर्षों में उसे पूरा करना चाहती है।

३. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा १२७।

४. अकाल जाँच उद्योग ने भी इसी प्रकार की अस्थिरता दिखाई है। एक ओर तो वे पैतृक सम्पत्ति के कानूनों में दखल देने के विरोधी हैं, दूसरी ओर उनका विचार है कि अपखण्डन को फैलने से रोकने के लिए अधिकारों के अनियंत्रित हस्तान्तरण पर रोक लगाना आवश्यक एवं वाञ्छनीय है। केवल एक सदस्य, सर मनीलाल नानावती को अपने निश्चय पर दृढ़ विश्वास था और उन्होंने औसत दर्जे की अविभाज्य जोत बनाने की सिफ़ारिश की। अन्तिम वार्षिक रिपोर्ट पृ० २५९, ६५।

भारतीय जनता बहुत बड़ी सीमा तक कठोर वर्गीकरण और नियमन स्वीकार कर सकती है। इसलिए इसे स्वीकार करने के लिए कोई दृढ़ आधार नहीं है कि शुरू में कुछ अज्ञान और विवेकशून्य भय से जनित विरोध के बाद वे शान्त न हो जायँगे और अन्ततोगत्वा उन सुधारों का स्वागत नहीं करेंगे, जो उनके स्थायी आर्थिक कल्याण का अनिवार्य ठोस आधार बनेंगे। इस सम्बन्ध में 'पावर्टी एण्ड सोशल चेन्ज' नामक नई पुस्तिका[1] की चर्चा की जा सकती है जिसमें लेखक ने एक ऐसी पद्धति का संकेत किया है जिसके अन्तर्गत सारे गाँव की भूमि संयुक्त प्रबन्ध और कृषि के लिए ले ली जायगी, तथा भूमि के समस्त वर्तमान अधिकार और पैतृक सम्पत्ति के मान्य तथा चिर-आहृत नियम सुरक्षित रहेंगे। श्री त्रिलोकसिंह का कहना है कि उनकी योजना जनतन्त्रात्मक है और शान्तिमय परिवर्तन का मार्ग दिखाती है। इस प्रकार यह रूस की योजना से कहीं अच्छी है जिसके अधीन परम्परा से पूरी तरह नाता तोड़ और समस्त भूमिगत अधिकारों का अपाकरण करके तुरन्त ही समष्टि की सत्ता की प्रतिष्ठा करने का विधान है। लेखक का यह विश्वास है कि इन आधारों पर पुनः संगठित कृषि-व्यवस्था में गाँव आधुनिक औद्योगिक ढाँचे के आधार का काम कर सकेंगे ताकि कृषि और औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में लाभदायक समन्वय सम्भव हो सकेगा और गाँवों की जनता औद्योगीकरण में अधिक भाग ले सकेगी और इससे प्रत्यक्ष और ठोस लाभ उठा सकेगी। यह स्वीकार किया गया है कि इस योजना के अनुसार कृषि के संगठन से गाँव की अधिकांश जनता (लेखक का अनुमान १ करोड़ ५५ लाख का है) बेकार हो जायगी, परन्तु साथ ही उद्योगों का आयोजित विकास होने पर कृषि से बेरोज़गार हुई अतिरिक्त जनसंख्या बड़ी आसानी से खप जायगी। श्री त्रिलोकसिंह का कहना है कि उनकी योजना के मूल विचार पंजाब में ज़िला-अधिकारी के रूप में किये गए अनुभवों के परिणामस्वरूप ६ या ७ वर्षों में निखरे हैं। उनका यह भी कहना है कि प्रत्येक विचार के किसानों से विचार-विमर्श करके परीक्षा कर ली गई है तथा उनके कई व्यावहारिक सुझाव स्वयं ग्रामीणों के ही हैं। यह सब होते हुए भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ऐसी योजना का पर्याप्त विरोध होगा। परन्तु जब तक साहस और दृढ़ विश्वास के साथ ऐसे उपाय नहीं अपनाए जाते तब तक भारतीय कृषि सदैव अवसन्न दशा में रहेगी तथा ग्रामीण निर्धनता की समस्या हल न हो सकेगी।

स्थायी सुधार

१०. स्थायी सुधारों का अभाव और इसके परिणाम—भारतीय और पश्चिमी देशों के बीच एक मुख्य अन्तर यह है कि भारत में भूमि के स्थायी सुधारों का एकदम अभाव है। दक्षिण बम्बई की परिस्थितियों के सम्बन्ध में जो भारत के अन्य भागों पर भी न्यूनाधिक रूप से लागू होती हैं, कीटिंग का कहना है कि "पश्चिमी भागों में छोटे-छोटे स्वामियों द्वारा पहाड़ी हिस्सों में बड़े परिश्रम के साथ कृषि-योग्य पट्टियाँ बना ली गई हैं। यत्र-तत्र किसी अच्छे टुकड़े में सिंचाई के कुएँ तथा घर भी

१. लेखक त्रिलोकसिंह, १९४५।

मिलेंगे, परन्तु अधिकांश भाग में मनुष्य का कोई हाथ नहीं रहता है। खेत बिना सींचे, बिना बाढ़ और बाँध के अरक्षित पड़े रहते हैं और वे मनुष्यों या पशुओं को कोई आश्रय नहीं दे सकते।[1] सही बाड़ों के न होने से सुअरों, भटकते हुए पशुओं और चोरों को मनमानी करने का मौका मिल जाता है। मेड़ों को लेकर बहुत-से झगड़े होते हैं तथा फ़सल की रखवाली करने और पशुओं को इकट्ठा करने में बहुत श्रम करना पड़ता है। वायुवेग को कम करने वाले साधनों के अभाव में कपास जैसी फ़सलों को निर्बाध और तेजी से चलने वाली हवाओं से कुछ कम हानि नहीं होती। यद्यपि सहकारी एवं व्यक्तिगत आधार पर बाड़ें डालने का प्रयत्न किया गया है तथापि इस सम्बन्ध में अभी बहुत-कुछ करना शेष है। खेतों की मेड़बन्दी का भी एकदम अभाव है। इसका फल यह होता है कि जमीन कटने और खुरने लगती है तथा किसानों को ऐसी बहुत-सी हानियाँ पहुँचती हैं। जिन्हें रोका जा सकता है। इसके अतिरिक्त जमीन को भली प्रकार समतल नहीं बनाया जाता कि पानी का शोषण सर्वत्र एक-सा हो। इस सम्बन्ध में नालियों का भी कोई उचित प्रबन्ध नहीं है। इससे पानी एक जगह जमा हो जाता है और यदि उसके निकास के लिए कोई नाली होती भी है तो वह दूसरों की भूमि से होकर जाती है और उसका नुकसान करती है। उदाहरण के लिए जमुना के बाईं ओर हजारों एकड़ बहुमूल्य भूमि खाई-खड्डों के जाल-से बन जाने के कारण बेकार हो गई है और हजारों गाँव जो उपजाऊ भूमि से घिरे हुए थे, अब बेकार खाइयों से घिरे हुए हैं।[2] सतह की नालियों का उचित नियन्त्रण इन हानियों का निवारण कर देगा, फसलों की पैदावार बढ़ाएगा और सोतों की सतह को उठाकर कुओं को बारहों महीने चालू बनाए रखेगा।[3]

आवश्यक पैमानों पर खेतों की मेड़बन्दी और बाड़ा लगाने का प्रबन्ध किसानकी शक्ति के परे है। इस समस्या का समाधान भूमि-सुधार योजना से हो सकता है। यह भी आवश्यक है कि सरकार तकावी ऋण द्वारा किसानों की सहायता करे और विशेष रूप से प्रशिक्षित व्यक्तियों की नियुक्ति द्वारा टेक्निकल मामलों में पथ-प्रदर्शन करे। खेतों में इमारतों का अभाव भी एक गम्भीर दोष है, क्योंकि निरीक्षण-कार्य कठिन हो जाता है और मनुष्य तथा पशु दोनों के लिए अधिक समय और श्रम की बरबादी होती है; पशुओं को अच्छी तरह नहीं रखा जा सकता और मनुष्यों के साथ उन्हें गाँवों में रखना बहुत ही बुरा है। गाँव से खेतों तक ले जाने में खाद की बहुत हानि होती है। खेतों पर आवश्यक इमारत आदि की व्यवस्था करने में अभी बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं, जिन्हें दूर करने में कुछ समय लगेगा। एक कठिनाई यह है कि इमारत में रहने से किसान के जान-माल की वैसी रक्षा नहीं हो सकेगी, जैसी कि अन्य किसानों के साथ गाँव में रहने पर सम्भव है। दूसरी कठिनाई गाँव के पैतृक घर का मोह है जो उसके खेत पर रहने में बाधक है। तीसरी कठिनाई घर बदलने का व्यय है। चौथी कठिनाई किसान की जोत

१. पूर्व उद्धृत, पृ० १०७।

२. देखिए, डॉ० क्लाउस्टन का मेमोरेन्डम, कृषि आयोग रिपोर्ट, साक्ष्य खण्ड १, पृ० १२।

३. देखिए, हॉवर्ड, क्रॉप प्रोडक्शन इन इण्डिया, पृ० १४।

का छोटे-छोटे टुकड़ों में अनेक जगह बिखरा होना है। अन्तिम कठिनाई यह है कि गाँव में रहने पर किसान पंचायती कुओं से पीने के पानी की सुविधा प्राप्त कर सकता है, परन्तु खेत पर घर बनाने पर उसे निजी कुआँ खोदना पड़ेगा। पर खेतों में घर बनाकर रहने से किसानों को जो अपार लाभ हैं उन्हें देखते हुए हमें इन कठिनाइयों को अवश्य ही दूर करना चाहिए।

सिंचाई

११. आवश्यकता और महत्त्व[1]—ऐसे अनेक कारण हैं जिनसे हमारी कृषि एकान्ततः वर्षा पर निर्भर नहीं रह सकती तथा कृषक को सिंचाई-सम्बन्धी समुचित सुविधाएँ प्रदान करना ज़रूरी होता है। दक्षिणी पश्चिमी पंजाब, राजपूताना आदि बहुत से भाग हैं जहाँ वर्षा नहीं होती, इसलिए सिंचाई के कृत्रिम साधनों के बिना वहाँ खेती असम्भव है। दूसरी बात यह है कि जहाँ वर्षा की इतनी कमी नहीं है वहाँ वर्षा अनिश्चित तथा दुर्वितरित है। दक्षिण के उत्तरी पठार ऐसे ही हैं जहाँ सदैव सूखा पड़ता है। तीसरी बात यह है कि चावल और ईख जैसी फ़सलें नियमित रूप से पर्याप्त पानी चाहती हैं ज़ो कुछ अनुकूलतम स्थानों को छोड़कर अन्यन्त्र असम्भव है। चौथी बात यह है कि आबादी के दबाव के कारण घनी खेती आवश्यक हो गई है, जो दूसरी फ़सल या जाड़े की फ़सल को अनिवार्य बना देती है। इन फसलों को जाड़े की वर्षा के अभाव में कृत्रिम सिंचाई की आवश्यकता होती है। अन्तिम बात यह है कि लगभग ८० प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर है और उनकी खुशहाली सिंचाई के आवश्यक साधनों के पर्याप्त होने या न होने पर ही निर्भर है। भारत में सिंचाई के लिए विशेषतः तालाब और कुओं आदि साधनों का प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। सिंचाई के सम्बन्ध में अंग्रेज़ों की सच्ची देन नदियों के बेकार जल का उपयोग करने के लिए बनाई हुई नहरें हैं।

सिंचाई से अनेक लाभ हैं, जिसमें से मुख्य लाभ ये हैं: पैदावार की उन्नति, सूखे और संदिग्ध वर्षा वाले भागों में स्थायी और सफल कृषि का आरम्भ, अकाल और दुर्लभता से सुरक्षा, पंजाब जैसे खेतिहार प्रदेशों में रेलों को लाभ और राज्य को प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ आदि हैं।

१२. सिंचाई के साधनों का वर्गीकरण : १. सामान्य वर्गीकरण—भारत में सिंचाई के तीन प्रकार के साधन पाये जाते हैं: १. कुएँ २. तालाब और ३. नहरें। नहरें भी तीन प्रकार की हैं १. बाढ़ के जल से बनी हुई नह, २. बारह महीने चलने वाली नहरें, ३. जलाशयों से निकली हुई नहरें।[2]

(१) कुएँ—भारत में कुआँ सिंचाई का एक समर्थ साधन रहा है और हमेशा रहेगा। कुल सिंचित क्षेत्र के २५ प्रतिशत भाग की सिंचाई कुएँ से होती है, यानी १३५

१. देखिए, १९२७-३० का ट्रीऐनियल रिव्यू ऑफ़ इरीगेशन; और डी० जी० हेरिस का इरीगेशन इन इण्डिया, पृ० १-४।

२. भारत में सिंचाई के अन्य प्रयुक्त साधन बाढ़ की नदियों के पानी को थोड़े समय के लिए बाँध बनाकर रोकना तथा नदियों से ढेंकुल द्वारा सिंचाई है। देखिए, इण्डिया इन १९३०-१, पृ० २२९।

लाख एकड़ भूमि की; और इन पर १०० करोड़ रुपया पूँजी परिव्यय है। सिंचाई का यह तरीका बहुत ही उपयोगी है और नहर की सिंचाई से अच्छा है। कुआँ खोदना व्यक्तिगत कार्य है और उसके निर्माण के लिए तकावी ऋण देकर तथा इससे सुधरी हुई भूमि पर कोई अतिरिक्त-कर लगाकर सरकार भी उसे प्रोत्साहित करती है। आधुनिक ढंग के पाताल-तोड़ कुएँ और छोटे-छोटे निर्धारित प्रतिमान के बिजली-पम्पों के लगाने से कुओं की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। ये सब सुधार कृषि-विभाग के इन्जीनियरी सेक्शन द्वारा किये जा रहे हैं। कुएँ की सिंचाई की सुविधाएँ बढ़ाने के लिए सभी राज्यों में प्रचुर सम्भावनाएँ हैं। जिन स्थानों में व्यक्तिगत जोत बहुत छोटी है, वहाँ पर सहकारी समितियाँ कुआँ खोदने के लिए उत्तम अधिकरण सिद्ध हो सकती हैं। कृषि-आयोग ने किसानों द्वारा उचित फ़ीस देने पर कुओं के निर्माण के लिए टेक्निकल सम्मति, तकावी ऋण, बोरिंग का सामान और कुशल श्रम आदि सहायता सरकार की ओर से दी जाने की सिफ़ारिश की।[1] अकाल-जाँच-आयोग[2] ने यह सुझाव पेश किया कि सरकार को भूमि के नीचे के पानी के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करनी और प्रकाशित करनी चाहिए। कुआँ खोदने के बारे में ग्रामीणों को सलाह और सहायता देने के लिए विशेष अधिकारियों की नियुक्ति करनी चाहिए।[3]

(२) तालाब—प्राचीन काल से तालाब भारतीय कृषि-व्यवस्था के विशेष अंग रहे हैं। पंजाब में ये लगभग अज्ञात हैं। मद्रास में ये सबसे अधिक उन्नत हैं। यहाँ पर लगभग ३५००० से ऊपर छोटे-मोटे तालाब हैं जो २५ से ३० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करते हैं।[4] बहुत से पुराने तालाब मिट्टी से इस तरह भर गए हैं कि उनकी मरम्मत भी नहीं की जा सकती। विशेषकर ऐसे स्थानों में जहाँ पर नहरों द्वारा सिंचाई असम्भव अथवा अनुपयुक्त है, सिंचाई के पुराने साधनों को ठीक करने के लिए सरकार और जनता दोनों की ओर से अथक प्रयास किये जाने की आवश्यकता है। व्यक्तिगत सिंचाई के साधनों की उचित सुरक्षा के लिए पास किये कानूनों को सख्ती से लागू किया जाना चाहिए।

(३) नहरें—नहरें भारत में सिंचाई का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन हैं तथा विशेष रूप से सरकार ने इसको उत्साहित भी किया है। नहरों के दो भेद हो सकते हैं: एक तो वे नहरें जो जल के लिए बारहों महीने नदियों से मिलने वाले प्राकृतिक जल पर निर्भर रहती हैं और दूसरी जल के कृत्रिम भण्डार से युक्त नहरें। पहले प्रकार की नहरों का विकास खासकर हिमालय पर्वत से निकलने तथा बारहों महीने बहने वाली नदियों के क्षेत्र में हुआ है। पहाड़ों की बरफ गरमी के दिनों में एक अक्षय भण्डार का काम करती है। किसी हद तक मद्रास की भी यही दशा है जहाँ पर जाड़े की वर्षा

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २७४-२८०।

२. फ़ाइनल रिपोर्ट, पृ० ३९२।

३. सन् १९४६-४७ से केन्द्रीय भूमि-जल संगठन (सेन्ट्रल ग्राउण्ड वाटर आर्गनाईजेशन) पानी के साधनों की खोज का कार्य कर रहा है। सन् १९४९-५० तक कुँओं द्वारा सींचा हुआ कुल क्षेत्र १,२८,८१,००० एकड़ था।

४. सन् १९४९-५० में सम्पूर्ण भारत में तालाबों से सिंचित क्षेत्र ८१,७४,००० एकड़ था।

बम्बई से अधिक होती है। दूसरे प्रकार की नहरें मद्रास प्रान्त, दक्षिण, मध्यप्रदेश और बुन्देलखण्ड में पाई जाती हैं। दक्षिण भारत की नदियाँ बरसात में बड़े वेग से बहती हैं और गरमी के दिनों में सूख जाती हैं। इसलिए कृत्रिम जल-भण्डार की आवश्यकता पड़ती है।

पहले प्रकार की नहरों का विभाजन दो भागों में किया जा सकता है—(क) (बाढ़ के जल से भर जाने वाली) बरसाती नहरें और (ख) (बारहों महीने बहने वाली) बारहमासी नहरें।

(क) बरसाती नहरें बिना किसी बाँध के सीधी नदियों से ही निकाली जाती हैं। जब तक नदियों में बाढ़ न आ जाय और एक खास सतह तक पानी न पहुँच जाय तब तक इन नहरों को पानी नहीं मिलता। सिन्ध और पंजाब की भूमि की सिंचाई सतलुज और सिन्ध नदियों की इसी प्रकार की नहरों द्वारा होती है। सिन्ध में बहुत सी बरसाती नहरें हैं। प्राकृतिक बाढ़ की सतह पर निर्भर रहने के कारण और जल की सतह नीची हो जाने पर उन्हें कम जल प्राप्त होता है, यद्यपि बाढ़ के अधिक और बहुत दिनों तक रहने पर दूर-दूर तक सिंचाई होना सम्भव है। इस प्रकार सिंचाई जून से सितम्बर तक सीमित है और वर्षा के अन्तिम भाग में कुओं के बगैर सिंचाई असम्भव हो जाती है। सिन्ध नदी का सक्खर बाँध जो १९३२ में बनाया गया, विश्व में अपनी तरह का सबसे बड़ा बाँध है। सिन्ध नदी के आर-पार बाँध बनाकर यह उपर्युक्त कमियों को दूर करता है। इससे नहरों को साल-भर तक सिंचाई के लिए पर्याप्त जल मिल सकता है। इस प्रकार का काम पंजाब में भी किया जा रहा है, इसमें देर होने का कारण इस पर होने वाला भारी व्यय है।

(ख) बारहमासी नहरें—जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है बारहों महीने रहने वाली नहरें सदा बहने वाली नदियों पर बाँध बनाकर बनाई जाती हैं। नहरों के जरिये नदी के पानी को सिंचाई के क्षेत्रों में भेजा जाता है। इस प्रकार नदियों के जल की सतह घटने-बढ़ने से उन पर कोई असर नहीं होता। उत्तरप्रदेश और पंजाब की सदा बहने वाली नहरें भी इसी वर्ग में आती हैं। सिन्ध और पंजाब की बहुत सी बाढ़ वाली नहरों को बारहमासी नहरों में बदला जा रहा है।

बरसात के दिनों में वर्षा के जल को एकत्र करने के लिए घाटी के आर-पार जल-भण्डार बनाकर नहर बनाई जाती है। इस प्रकार एकत्र किया हुआ जल पड़ोस के क्षेत्रों में नहरों द्वारा भेजा जाता है। भारत में प्राचीन काल से बरसात के दिनों में जल एकत्र करने की प्रथा चली आ रही है। ऐसी नहरों का निर्माण दक्षिण, मध्य-प्रदेश और बुन्देलखण्ड में हुआ है।

२ सरकारी सिंचाई-कार्यों का वर्गीकरण—सरकारी सिंचाई-कार्यों के निर्माण के लिए किस सूत्र से पूंजी मिली, इसका निर्देश करने के लिए इनका वर्गीकरण सन् १९२१ तक इस प्रकार किया जाता था—(१) प्रतिफलात्मक (२) रक्षात्मक (३) अप्रधान।

(१) प्रतिफलात्मक निर्माण-कार्य—इन साधनों के बन जाने के १० वर्ष बाद

इनसे इतनी वास्तविक आय की आशा की जाती है कि लगाई हुई पूँजी का वार्षिक ब्याज निकल आए। इस प्रकार के कार्य अधिकतर उत्तर भारत और मद्रास में किये गए हैं। इनमें लगी हुई पूँजी सन् १९३८-३९ के अन्त तक ११४ करोड़ रुपया और वास्तविक आय ८ करोड़ ६७ लाख रुपया थी, अर्थात् ७.६१ प्रतिशत का लाभ हुआ। सरकारी सिंचाई-कार्यों के अधीन सींचे गए क्षेत्रों में सबसे अधिक बढ़ोतरी उन क्षेत्रों में हुई जहाँ सिंचाई के प्रतिफलात्मक साधन हैं। इनसे १८७८-७९ में ४५ लाख एकड़ भूमि सींची जाती थी तथा १९२९-३० में २३५,०५, ६५७ एकड़। १९३८-१९३९ में यह क्षेत्र बढ़कर २,४७,०९,१२० एकड़ हो गया।[1]

(२) सिंचाई के सुरक्षात्मक कार्य—इनसे किसी प्रत्यक्ष धन-लाभ की आशा नहीं की जाती थी, परन्तु इनका काम सन्दिग्ध या कम वर्षा वाले क्षेत्रों में अकाल से रक्षा करना था। ये कार्य अकाल में जनता की सहायता के लिए समय-समय पर किये जाने वाले खर्च को बचाते हैं। इस प्रकार के कार्यों की लागत सरकार की चालू आय से दी जाती है तथा अकाल-पीड़ितों की सहायता और बीमे के लिए अलग रखे हुए अनुदानों से पूरी की जाती है। यद्यपि इनसे प्रत्यक्षतः कोई धन-लाभ नहीं और प्रायः इनसे हानि ही होती है तथापि दीर्घकाल में ये बचत के साधन प्रमाणित होंगे, क्योंकि ये नाजुक हालत वाले क्षेत्रों को आर्थिक स्थिरता प्रदान करते हैं। सन् १९३८-३९ में इनसे सिंचित हुआ क्षेत्र २८,८४,२५९ एकड़ था और साल के अन्त में कुल निविष्ट पूँजी ३८ करोड़ ७९ लाख रुपये थी।

(३) सिंचाई के अप्रधान कार्य—इसके अन्तर्गत विविध प्रकार के कार्य थे, विशेषकर ब्रिटिश शासन के पूर्व के तालाब और कुछ छोटे-मोटे ब्रिटिश काल के कार्य आदि। पूँजी या आय का लेखा रखने या न रखने के आधार पर इनमें अन्तर किया जाता था, यद्यपि इनका अर्थ-प्रबन्धन चालू आय से ही होता था।

सन् १९२१ के बाद, यह पुराना वर्गीकरण बदल दिया गया है और अब ऋण-कोष से सार्वजनिक उपयोगिता वाले किसी भी कार्य का अर्थ-प्रबन्ध किया जा सकता है। रक्षात्मक और प्रतिफलात्मक कार्यों का वर्ग समाप्त कर दिया गया है तथा सिंचाई के सभी छोटे-बड़े कार्यों का, जिनका पूँजी-लेखा रखा जाता है, अब दो शीर्षों के अन्तर्गत वर्गीकरण कर दिया गया है। (१) प्रतिफलात्मक और (२) अप्रतिफलात्मक। एक तीसरा वर्ग भी है जिसमें ऐसे क्षेत्र आते हैं जिनके लिए कोई पूँजी-लेखा नहीं रखा जाता।

१३. विस्तार, विकास और राजस्व—सन् १९२७-२८ में सम्पूर्ण साधनों से सींचे जाने वाला समस्त क्षेत्र ४६० लाख एकड़ तथा सन् १९३९-४० में ६०० लाख एकड़ था। दोनों फ़सलों पर सींचे जाने वाले क्षेत्र को घटाकर १९२७-२८ में वास्तविक सींचा हुआ क्षेत्र ४३२ लाख एकड़ था जबकि १९३९-४० में इसका विस्तार ५५० लाख

१. सन् १९४९-५० के अन्त में कुल विनियोजित पूँजी ५१,०९,५२,६०५ रु० थी तथा वास्तविक आय ३,४३,९९,९३१, रु० थी जो विनियोजित पूँजी का ६.७३ प्रतिशत थी। इस वर्ष इन साधनों (उत्पादक साधनों, से सिंचित भूमि का क्षेत्रफल १५, ३६२,७४८ एकड़ था।

एकड़ था। इसमें नहर से सींचा जाने वाला क्षेत्र २६० लाख एकड़, तालाब से ६० लाख, कुएँ से १३० लाख तथा अन्य साधनों से सींचा जाने वाला क्षेत्र ७० लाख एकड़ था।[1] कुल सींचे हुए क्षेत्र में १६० लाख एकड़ में चावल, १३० लाख एकड़ में गेहूँ, जौ, ज्वार, बाजरा और मक्का मिलाकर ७० लाख एकड़ में, अन्य खाद्यान्न और दालें लगभग ७० लाख एकड़ में और ईख तथा अन्य फ़सलें २० लाख एकड़ क्षेत्र में फैली हुई थीं। कपास का क्षेत्रफल ४० लाख एकड़ तथा अन्य फ़सलों (अखाद्य) का क्षेत्रफल ६० लाख एकड़[2] था।[3] गत ६० वर्षों में सरकारी साधनों द्वारा सींचे हुए क्षेत्र में अधिक वृद्धि हुई है। सन् १८७८-७६ में वार्षिक सींचा हुआ क्षेत्र १०५ लाख एकड़ था जो इस शताब्दी के आरम्भ में १६२·५ लाख एकड़ और १६१६-२० में २८१ लाख एकड़ हो गया। उस वर्ष तक क्षेत्र-विस्तार के आँकड़े इससे ऊपर कभी नहीं गए थे। यह रिकार्ड १६२६-३० में तोड़ दिया गया जबकि ब्रिटिश भारत में सिंचाई के सरकारी साधनों से सींचा हुआ क्षेत्र ३१६·१ लाख एकड़ हो गया[4] और पुनः १६३७-३८ में सरकारी साधनों द्वारा हर प्रकार की सींची हुई भूमि ३२८·१ लाख एकड़ हो गई जो भारत में फसलों के कुल क्षेत्र का १२.७ प्रतिशत थी। सन् १६४१-४२ में सरकारी साधनों द्वारा सींची हुई भूमि ३४० लाख एकड़ थी जो बोये हुए क्षेत्र का १३ प्रतिशत थी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रतिफलात्मक साधनों में ही मुख्य वृद्धि हुई है जिनसे १८७८-६ में ४५ लाख एकड़ भूमि सींची गई, १६००-१ में १०५ लाख एकड़, १६२७-२८ में १६१.५ लाख एकड़, १६२६-३० में २३५·० लाख एकड़ और १६४१-४२ में २६० लाख एकड़ भूमि सींची गई।[5] प्रमुख नहरों तथा उनकी शाखाओं और सहायक नहरों की कुल लम्बाई १६३८-३६ में लगभग ७४,३४१ मील थी। १६००-१ में यह लम्बाई कुल ३६,१४२ मील थी।[6] उसी वर्ष सरकारी सिंचाई के साधनों से सींची गई भूमि की फसल का मूल्य १०६·३५ करोड़ रुपये था।[7] सन् १६४१-४२ के अन्त में प्रतिफलात्मक सिंचाई-कार्यों में लगाई हुई पूँजी १०३ करोड़ रुपये थी जो

१. सन् १६४६-५० में सिंचाई का कुल वास्तविक क्षेत्र ४८६,५२,००० एकड़ था। इसमें से १६६५१,००० एकड़ भूमि सरकारी नहरों से, २८५६,००० एकड़ निजी नहरों से, ८१७४००० एकड़ तालाबों से, १२८,८१,००० एकड़ कुओं से तथा ७७८०,००० एकड़ अन्य साधनों से सींची गई थी।

२. एग्रीकल्चरल स्टैटिस्टिक्स (ब्रिटिश इण्डिया) सन् १६३६-४०, पृ० १।

३. सन् १६४६-५० में सींचे हुए क्षेत्रफल में २३७८२,००० एकड़ चावल, ७४४३,००० एकड़ गेहूँ, ६०८८,००० एकड़ जौ, ज्वार, बाजरा और मक्का, ५०७८,००० एकड़ अन्य खाद्यान्न और दालें, ४८६६,००० एकड़ ईख तथा अन्य खाद्य फ़सलों में बँटा था। कपास का क्षेत्रफल ८६३,००० एकड़ तथा अन्य खाद्येतर फ़सलों का क्षेत्रफल ३६०५,२०० एकड़ था।

४. हैरिस देखिए, पूर्व उद्धृत पृ० ८-६; और इण्डियन ईअर बुक १६३५, पृ०३१८-२० और स्टैटिस्टिकल एब्स्ट्रैक्ट फ़ार ब्रिटिश इण्डिया (१६३८-३६), तालिका नं० १६३।

५. सन् १६४६-५० में सरकारी साधनों द्वारा सींचा हुआ क्षेत्र १८,६६७,३६३ एकड़ था। कुल क्षेत्र का यह संकोच भारत के विभाजन का परिणाम है।

६. सन् १६४६-५० में इनकी कुल लम्बाई ६४,४१७ मील थी।

७. सन् १६४६-५० में सींची हुई भूमि की फसलों का मूल्य ३०१,६६,३६,८०६ रु० था। (१६४६-५० ये आँकड़े पूर्ण नहीं हैं।)—स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रैक्ट, इण्डिया, १६५१-५२, पृ० ५४२।

१६००-१ में ४२.२ करोड़ रु० थी। वास्तविक आय १० करोड़ ६६ लाख रु० थी अर्थात् पूँजी पर १० प्रतिशत लाभ हुआ। यह परिणाम सन्तोषजनक था क्योंकि कुल पूँजी में से ३८ करोड़ ७६ लाख रु० अप्रतिफलात्मक कार्यों में लगाया गया, जिसका लाभ अधिकांशतः १ प्रतिशत से भी कम था। व्यक्तिगत सिंचाई के साधनों के लाभों में बहुत विविधता है। दक्षिण भारत के कुछ सिंचाई के साधन १ या २ प्रतिशत लाभ देते हैं जबकि पंजाब में प्रतिफलात्मक कार्यों में लगाई हुई पूँजी पर अच्छा लाभ होता है—(८.४४ प्रतिशत १६४१-४२ में) बम्बई में ८.४७ प्रतिशत, मद्रास में २.६७ प्रतिशत और उत्तर प्रदेश में ७.४४ प्रतिशत[1] लाभ मिलता है।[2] इन आँकड़ों पर विचार करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि लगाई हुई पूँजी में उन कार्यों का भी व्यंय शामिल है, जो अभी-अभी पूरे हुए हैं या अभी तक बन रहे हैं तथा आय के रूप में जिनसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। विभिन्न राज्यों में जल का प्रभार विभिन्न प्रकार से लगाया जाता है। उदाहरण के लिए मद्रास और बम्बई के कुछ भागों में सिंचित अथवा असिंचित भूमि के अनुसार मालगुज़ारी की दर निर्धारित होती है। सिंचित भूमि की मालगुज़ारी में सिंचाई का प्रभार भी शामिल रहता है। पर इन तरीकों को अपवादस्वरूप माना जा सकता है। भारत के अधिकांश भागों में सिंचाई के लिए अलग से भुगतान करना पड़ता है। वास्तविक रूप में सींची गई भूमि को नापा जाता है और पैदा हुई फसल के अनुसार प्रति एकड़ कर लगाया जाता है। हर राज्य में कर की दरों में उगाई हुई फसलों के अनुसार बहुत अन्तर रहता है और बहुधा एक ही राज्य में विभिन्न नहरों से प्राप्त जल की दरें अलग-अलग होती हैं। इस प्रकार पंजाब में[3] कर की दर ईख के लिए प्रति एकड़ ६ रु० से १२-४ रुपये तक है, चावल के लिए प्रति एकड़ ४-४

प्रान्त	सींची हुई भूमि का कुल बोई हुई भूमि से प्रतिशत	प्रान्त	कुल बोई हुई भूमि के प्रतिशत के रूप में
बंगाल	०.७६	मद्रास	२१.१८
बिहार	४.०	उड़ीसा	८.४३
बम्बई	१.६१	पंजाब	३६.५६
मध्यप्रदेश	३.०७	उत्तर प्रदेश	१६.८४
		ब्रिटिश भारत की कुल औसत	१६.२८

१. सन् १६४६-५० में प्रतिफलात्मक कार्यों की वास्तविक आय का प्रतिशत इस प्रकार था—बम्बई ६.४५, मद्रास ४.४३, उत्तर प्रदेश ८.५६। स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रेक्ट, इण्डिया १६५१-५२, पंजाब के आँकड़े उपलब्ध नहीं थे।

२. इण्डिया इन १६३३-३४, पृ० ६६; स्टेटिस्टिकल एब्सट्रेक्ट फॉर ब्रिटिश इण्डिया (१६३८-३६) तालिका नं० १६२; और इण्डियन ईअर बुक १६४७-४८ पृ० ३३४।

३. पंजाब में सिंचाई के कर अब इस प्रकार हैं : ईख ६ रु० प्रति एकड़ से ११ रु० १ आ० ६ पा० प्रति एकड़ तक, चावल ६ रु० ८ आ० प्रति एकड़ से ६ रु० ८ आ० १० पा० प्रति एकड़ तक, गेहूँ ४ रु० ४ आने प्रति एकड़ से ४ रु० ४ आ० ७ पाई प्रति एकड़ तक और ज्वार-बाजरा तथा दालों पर २ रु० ८ आ० से ३ रु० ४ आ० ५ पा० तक।—इण्डियन ईअर बुक १६५४।

रु० से ७-१२ रु० तक, गेहूँ के लिए ३-८ रु० से ५-८ रु० प्रति एकड़, कपास के लिए प्रति एकड़ ४-८ से ६-८ रु० तक और ज्वार, बाजरे और दालों के लिए प्रति एकड़ २-४ रु० से ४-८ रु० तक है।[1]

१९३८-३९ में जैसा कि ऊपर दी हुई तालिका से प्रकट है कि विभिन्न प्रान्तों की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में सिंचाई की महत्ता अलग-अलग है।[2] यह भी देखा जायगा कि इस दृष्टि से पंजाब, मद्रास, उत्तरप्रदेश और उड़ीसा अधिक उन्नत राज्य हैं। बम्बई और मध्यप्रदेश दोनों को सिंचाई की सुविधाओं की आवश्यकता है, इन राज्यों में सिंचाई का विकास बहुत कम हुआ है। हमें इन भागों में, जहाँ वर्षा की स्थिति बड़ी अनिश्चित और संदिग्ध होती है, फ़सलों को निश्चित करने के लिए सिंचाई-सम्बन्धी प्रगति और भी तेजी से करनी चाहिए।[3]

१४. सरकार की सिंचाई-नीति—ब्रिटिश सरकार को सिंचाई के बहुत से वर्तमान साधन अपने पूर्वाधिकारियों से प्राप्त हुए, जैसे उत्तर भारत की कुछ बरसाती नहरें, मद्रास प्रेज़िडेन्सी के जलाशय और तालाब आदि। ब्रिटिश काल के आरम्भ में इनकी उपेक्षा की गई, जिसके फलस्वरूप इनमें से कुछ नष्ट हो गए। परन्तु गत शताब्दी के मध्य से सरकार की नीति में परिवर्तन हुआ। सरकार ने इन पुराने कार्यों की मरम्मत करनी शुरू की। परन्तु निजी गारण्टी वाली कम्पनियों को काम सौंप देने के कारण प्रगति धीमी रही। इसके बाद सरकार ने एक नई नीति अपनाई और प्रतिफलात्मक सिंचाई-कार्यों के निर्माण के लिए आवश्यक ऋण लिये। इस नीति के अन्तर्गत पंजाब और उत्तर प्रदेश में सिंचाई के बड़े-बड़े कार्यों का निर्माण हुआ। पंजाब के नहर उपनिवेशों का संक्षिप्त वर्णन इस अध्याय के अन्त में दिया गया है।

सम्पूर्ण स्थिति को देखते हुए हम कह सकते हैं कि सिंचाई-कार्य की प्रगति बड़ी मन्द रही है। इसी बीच में सरकार की नीति में एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। सरकार ने अकाल वाले क्षेत्रों में सिंचाई के रक्षात्मक साधनों के निर्माण के सम्बन्ध में अपना दायित्व समझा जिसके फलस्वरूप दक्षिण तथा अन्य भागों में भी इस दिशा में कदम उठाये गए।[4] अधिक लागत और किसानों द्वारा पानी की अनियमित माँग के

१. इण्डियन ईअर बुक (१९४५-४६), पृ० ३२६।

२. विभिन्न राज्यों में सिंचाई की महत्ता भिन्न-भिन्न है, जैसा कि सन् १९४९-५० के लिए नीचे दी हुई तालिका से प्रकट है :

राज्य	कुल बोई हुई भूमि	सींची हुई भूमि
बंगाल	१२,९७८ एकड़	२,२१३ एकड़
बिहार	२२,६०७ ”	४,२८० ”
बम्बई	३४,४७३ ”	१,७६० ”
मध्यप्रदेश	३२,३०५ ”	१,६८६ ”
मद्रास	३५,७९६ ”	१०,०७० ”
उड़ीसा	७,४५१ ”	१,६०५ ”
पंजाब	१३,३३७ ”	५,८४६ ”
उत्तरप्रदेश	३९,७८० ”	१०,८०३ ”

३. इण्डियन ईअर बुक (१९४७-८), पृ० ३३५।

४. सन् १८७७-८ के अकाल के बाद अकाल-सहायता तथा बीमा कोष (फ़ेमीन रिलीफ़ एण्ड इन्शोरेन्स

कारण और कभी-कभी मानसून का कोप हो जाने के कारण सिंचाई के ये साधन लाभप्रद नहीं हुए। परिणाम यह हुआ कि सरकार पंजाब की नदियों से सम्बन्धित नहरों पर ही विशेष ध्यान देने लगी। गत शताब्दी के अन्त में भारत में जो अकाल पड़े और जिनमें दक्षिण भारत की बहुत बुरी हालत हुई उनके फलस्वरूप लार्ड कर्जन ने १९०१ में सिंचाई आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग का मत था कि अकाल से रक्षा करने में, रक्षात्मक सिंचाई के साधनों के साथ-ही-साथ रेलों के निर्माण ने, जिसकी सिफ़ारिश १८८० के अकाल-आयोग ने की थी, उचित योग दिया है और अब खाद्य-सम्भरण में विकास करना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार सिंचाई के लाभदायक साधनों का निर्माण के उपयुक्त क्षेत्र सिन्ध, पंजाब तथा मद्रास के कुछ भाग ही थे जिनके अकाल से पीड़ित होने का इतना डर नहीं है। उन्होंने सिफ़ारिश की कि जहाँ तक सम्भव हो इन साधनों को बढ़ाना चाहिए, क्योंकि ये सरकार के लिए लाभदायक होंगे और देश के कुल खाद्यान्न में वृद्धि करेंगे। अकाल-क्षेत्रों को बचाने के लिए उन्होंने सिंचाई के रक्षात्मक साधनों के निर्माण की सिफ़ारिश की जो प्रत्यक्षतः लाभदायक नहीं होंगे परन्तु अन्यथा अकाल-सहायता पर होने वाले बहुत बड़े व्यय को बचा देंगे। तदनन्तर सिंचाई की सरकारी नीति का आधार ये सिफ़ारिशें ही बन गईं जो सिंचाई की उपेक्षा करके रेलों पर ध्यान देने की प्राचीन नीति के प्रतिकूल थी और जिसकी आलोचना स्वर्गीय आर० सी० दत्त जैसे व्यक्तियों तक ने की थी। बहुत से नये कार्य भी आरम्भ किये गए और सिंचाई प्रतिफलात्मक तथा रक्षात्मक कार्यों पर पूँजी-परिव्यय अब पहले से दुगुना हो गया है जबकि सीचे हुए क्षेत्र में केवल ७० प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है।

सन् १९१९ के सुधारों के अन्तर्गत सिंचाई प्रान्तीय विषय हो गया तथा प्रान्तीय सरकारों को वित्त और कार्यारम्भ-सम्बन्धी अधिक अधिकार मिल गए। केवल ५० लाख से अधिक लागत वाली योजनाओं के लिए ही सेक्रेटरी ऑफ स्टेट और भारत सरकार की स्वीकृति लेना आवश्यक था। कर्ज का प्रयोग अब केवल प्रतिफलात्मक कार्यों तक ही सीमित न रह गया था और यदि अकाल-सहायता के लिए आवश्यकता न हो तो प्रान्तीय अकाल बीमा अवदान (प्राविंशियल फेमीन इन्श्योरेन्स ग्रांट) से और कार्यों के लिए भी रुपया सुलभ हो गया।

कृषि-आयोग द्वारा बम्बई सरकार ने भूमि को अकाल से बचाने के लिए प्राकृतिक साधनों की जाँच के लिए, १९२५ में एक विशेष जाँच-अधिकारी की नियुक्त की थी जिसकी कृषि-आयोग ने बड़ी सराहना की तथा अन्य प्रान्तों को अनुसरण करने की सलाह दी। ऐसे सिंचाई के साधनों को बनाने और सुरक्षित रखने के लिए सहकारी सिंचाई-समितियों की स्थापना की जानी चाहिए और उन्हें सहायता दी जानी चाहिए।

फण्ड) के लिए प्रति वर्ष १५९ लाख रुपया अलग रखने का निश्चय किया गया। १९१० में सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट ने अकाल-सहायता-कोष (फेमीन रिलीफ फण्ड) से ७५ लाख रु० के अतिरिक्त २५ लाख रु० सालाना सहायता देने की स्वीकृति दी। परन्तु पूरा एक करोड रु० १९१४-१८ के युद्ध से पहले भी कभी पूर्ण रूप से काम में नहीं लाया गया और इस कारण अनुदान में कमी करना आवश्यक हो गया। इस अनुदान का कुछ भाग रक्षात्मक कार्यों पर व्यय करने के लिए था।

सिंचाई के अप्रधान साधनों का निर्माण, सुरक्षा और सुधार अभी इतना नहीं हुआ है जितना कि वाञ्छनीय है।[1] सन् १६३७ में प्रान्तों में लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल बनने के बाद सिंचाई-सम्बन्धी कामों में द्रुत प्रगति के लक्षण दिखाई दिये।

सन् १६२२ से सिचाई सम्बन्धी कार्यो में बड़ी तेजी से प्रगति हुई। ५० करोड़ रुपये की लागत से सिचाई के महत्त्वपूर्ण साधनों का निर्माण हुआ। इससे सिंचाई अथवा अच्छी सिचाई के अन्तर्गत १२० लाख एकड़ भूमि आ गई जो सन् १६०२-३ के सीचे हुए क्षेत्र से तिगुनी थी। विशेष महत्त्व वाले प्रधान कार्य ये थे—पंजाब की सतलुज-घाटी योजना (जो १६३२-३३ के अन्त मे समाप्त हुई और जिसकी लागत उस समय तक ३३ करोड़ ३ लाख १० हज़ार रुपये थी) इससे ५०,००,००० एकड़ भूमि के सीचे जाने का अनुमान किया गया। सिन्ध मे सक्खर (लायड) बाँध और अन्य नहरों से जो १६३२ में खोली गई तथा जिन पर २४ करोड़ रुपये की लागत लगी, ५५,००,०० एकड़ भूमि सीची जायगी, यह अनुमान किया गया था। मद्रास में कावेरी जलाशय और मेट्टूर योजना (जिसका उद्घाटन अगस्त सन् १६३४ में किया गया) जिस पर ७ करोड़ ३७ लाख रुपये के खर्च का अनुमान था तथा इससे ३०,००,००० एकड़ की सिंचाई और खाद्य सम्भरण में १,५०,००० टन चावल की वृद्धि का अनुमान किया गया था। इस योजना में औद्योगिक कार्यों के लिए जल-विद्युत् का भी प्रबन्ध है। मिट्टूर के औद्योगिक केन्द्र बनाए जाने की काफी सम्भावनाएँ हैं। बम्बई में दो महत्त्वपूर्ण कार्य क्रमशः १६२५ और २६ में पूरे किये गए। पहला, भण्डारदर बाँध, जो भारत में सबसे ऊँचा (२७० फीट) है और दूसरा, भटगर के पास का लायड बाँध, जो विश्व में सबसे बड़ा है। उत्तरप्रदेश में शारदा-अवध नहर के सम्बन्ध में सन्तोषजनक प्रगति की गई है। १०,००,००० एकड़ से अधिक भूमि को सीचने के लिए सन् १६२८ के वसन्त में शारदा-नदी-सिंचाई-योजना औपचारिक रूप से कार्यान्वित की गई। मध्यप्रदेश में भी एक विस्तृत योजना बनाई गई है जिसे पूरा करने में १४ वर्ष लगेंगे। पंजाब में इमर्सन बाँध और उत्तरप्रदेश में गंगा-नलकूप योजना हाल ही में पूरे हुए प्रधान कार्य हैं। सभी राज्यों में अनेक योजनाओं की जाँच-पड़ताल की जा रही है। हैदराबाद, मैसूर और ग्वालियर आदि में हाल ही में सिचाई की महत्त्वपूर्ण योजनाएँ आरम्भ की गई है जिनमें से कुछ योजनाएँ पूरी भी हो गई हैं। ब्रिटिश राज्य के समय में सिंचाई के कार्यों ने तत्कालीन देशी राज्यों को भी प्रभावित किया था। उदाहरणार्थ पंजाब और राजपूताना में बहुत सी योजनाओं का अर्थ-प्रबन्ध देशी राज्य और प्रान्त मिलकर करते थे। सिंचाई की विचाराधीन समर्थ योजनाओं को ध्यान में रखें तथा वर्तमान योजनाओं के स्वाभाविक विस्तार की आशा रखें तो ५ करोड़ एकड़ भूमि की सिचाई किसी भी प्रकार असम्भव नहीं समझी जा सकती।[2]

कृषि-आयोग ने सिफारिश की कि सिंचाई और कृषि-विभागों में घनिष्ठतर सम्बन्ध रखे जायँ। सिंचाई-सम्बन्धी शिकायतों पर विचार करने के लिए स्थानीय

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २७६।

२. इण्डिया इन १६३४-३५, पृ० २३-२४; और इण्डियन ईयर बुक (१६४१-४२) पृ० ३५५-५६।

सलाहकार समिति (रेलवे सलाहकार समिति के समान) बनाई जाय और दिल्ली में केन्द्रीय सिंचाई-सूचना-विभाग की स्थापना की सिफारिश की।[१] केन्द्रीय राजस्व परिषद् के आवश्यक अंग के रूप में केन्द्रीय सिंचाई सूचना विभाग की स्थापना करके मई सन् १९३१ में आयोग की अन्तिम सिफारिश कार्यान्वित की गई। इसके प्रधान कार्य प्रान्तीय अधिकारियों के लिए सूचना-निकास-घर का काम करना और सम्पूर्ण भारत में सिंचाई-सम्बन्धी अनुसन्धान का समन्वय तथा प्राप्त निष्कर्षों का ज्ञापन और प्रसार करना है।[२] अप्रैल सन् १९४५ में, भारत सरकार ने 'केन्द्रीय जलमार्ग, सिंचाई तथा नौचालन-आयोग' की स्थापना की। यह वस्तु-स्थिति का पता लगाने तथा आयोजना एवं समन्वय करने वाली केन्द्रीय संस्था है। इसका कार्य इस बात की जाँच करना है कि भारतीय नदियों की क्षमता का कैसे पूरा-पूरा उपयोग किया जा सकता है। साथ ही एक से अधिक राज्य में बहने वाली नदियों के बहुध्येयी विकास में सहायता करना भी इसका कार्य है।

पंचवर्षीय योजना[३] के अन्तर्गत १६८ करोड़ रु० बहुध्येयी सिंचाई एवं शक्ति-योजनाओं के लिए २६६ करोड़ रुपये और छोटे-छोटे सिचाई के कार्यों के लिए ७७ करोड़ रुपये का प्रबन्ध है। आशा की जाती है कि सन् १९५६ तक इन योजनाओं से सींचे हुए क्षेत्र में ८५,००,००० एकड़ की वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त सिंचाई के छोटे-छोटे कार्यों से १,१०,००,००० एकड़ की सिंचाई होगी। सींचा हुआ कुल क्षेत्र ४९०,००,००० से बढ़कर ६८०,००,००० एकड़ हो जायगा। सिंचाई के साधनों से खाद्यान्न की वृद्धि का अनुमान इस प्रकार है :

कृषि के आधुनिक स्तर के आधार पर अनुमानित

१९५५-५६	१८ लाख टन
१९५६-५७	२२ ,, ,,
१९५७-५८	२५ ,, ,,
१९५८-५९	२८ ,, ,,
१९५९-६०	३१ ,, ,,
और अन्त में	४३ ,, ,,

इस समय भारत में १५३ योजनाओं पर काम हो रहा है। इनमें ६ बहुध्येयी, १०४ सिंचाई तथा ४३ विद्युत-शक्ति-योजनाएँ हैं। बहुध्येयी योजनाओं के अतिरिक्त सिंचाई की ३ बड़ी योजनाएँ हैं। पंचवर्षीय योजना का लगभग एक तिहाई व्यय नदी-घाटी योजनाओं पर ही किया जायगा। बहुध्येयी योजनाओं में भाखड़ा-नांगल योजना

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २६९-७६।

२. हाल ही में जल-मार्ग, सिंचाई तथा नौचालन आयोग को केन्द्रीय विद्युत् आयोग में मिलाकर केन्द्रीय जल एवम् शक्ति-आयोग नामक एक नई संस्था बनाई गई है। सन् १९४६-४७ से एक केन्द्रीय भूमि जल संस्था (सेन्ट्रल ग्राउन्ड वाटर आर्गनाइज़ेशन) भी काम कर रही है। सन् १९४५ के आरम्भ से खाद्य एवम् कृषि के केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में नलकूप-सम्बन्धी प्रारम्भिक खोज करने वाला डिवीजन (ट्यूब वैल एक्सप्लोरेटरी डिवीज़न) भी काम कर रहा है।

३. अगले पृष्ठ की तालिका तक की सूचनाएँ अनुवादक द्वारा दी जा रही हैं।

(पंजाब) हरीके योजना (पंजाब), दामोदर घाटी योजना (बिहार व पश्चिमी बंगाल), हीराकुड योजना (उड़ीसा) आदि मुख्य हैं।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सिंचाई-सम्बन्धी प्रगति सन्तोषजनक रही है। सन् १९५२-५३ तक प्रमुख राज्यों में सींचे हुए क्षेत्रों की वृद्धि इस प्रकार हुई है—

राज्य[1]	मार्च सन् १९५१ तक किया हुआ व्यय (लाख रु० में)	योजना के अनुसार सिंचाई के क्षेत्रों में प्रत्याशित वृद्धि (हज़ार एकड़ों में)	१९५२-५३ (हज़ार एकड़ों में)
बिहार	१२५	१८०	१४६
बम्बई	२७०	१६	२
मध्य प्रदेश	१४	१०	१०
मद्रास	१५६१	४२	७
उड़ीसा	१०२	२६३	१८२
पंजाब	१०६	१७६	२३८
उत्तर प्रदेश	५३२	५२८	५८५
मैसूर	२४५	७	८
राजस्थान	१६३	७३	५
सौराष्ट्र	२९२	२०	११

१५. सिंचाई बनाम रेलें—इस विवाद के विषय में कुछ शब्द कहना उचित होगा। विशेषकर गत शताब्दी के अन्त में यह समस्या बहुत ही गम्भीर और महत्त्वपूर्ण हो गई थी। श्री आर० सी० दत्त ने, जिन्होंने इसमें मुख्य भाग लिया, सिद्ध किया कि किस प्रकार सन् १९०२ तक सरकार ने रेलों पर ३७० करोड़ रुपया खर्च किया जब कि सिंचाई पर केवल ३८ करोड़ रुपया खर्च किया गया था। यह असमानता वर्तमान शताब्दी के अन्त तक रेलों से होने वाली आर्थिक हानि तथा गत शताब्दी के अन्त के अकालों की बहुलता को ध्यान में रखने पर और भी आपत्तिजनक प्रतीत होती थी। श्री दत्त ने यह तर्क उपस्थित किया कि इंगलैंड में पूँजीपतियों, सटोरियों और निर्माण-कर्ताओं ने गारन्टी प्रथा के अनुसार रेलों के निर्माण की शीघ्रता के लिए सरकार पर अनुचित दबाव डाला। सैनिक बातों ने तथा अकाल-पीड़ित क्षेत्रों की सहायता के प्रति उत्तरदायित्व की बढ़ती हुई भावना ने सरकार की नीति को प्रभावित किया। यह पहले कहा जा चुका है कि सिंचाई के रक्षात्मक कार्यों से कोई लाभ नहीं हो रहा था तथा उनकी प्रगति धीमी थी। आगे भी, सरकारी नीति के आलोचकों ने यह दोषारोपण किया कि रेल-निर्माण की अनुचित शीघ्रता ने देशी उद्योगों के ह्रास द्वारा कृषि पर दबाव बढ़ा दिया और रेलों द्वारा अकालों की गम्भीरता और तज्जन्य क्षति को कम करने के उद्देश्य को अंशतः असफल कर दिया। तत्पश्चात् कई कारणों से इस विवाद का महत्त्व कम होता गया। अब रेलों का कार्य लाभप्रद होने के कारण करदाता पर विशेष

१. ये सब आँकड़े प्रान्तीय सिंचाई योजनाओं के हैं। अतः स्पष्ट है कि सिंचाई के सम्बन्ध में भारतीय सरकार जागरूक है तथा देश की कृषि को हर प्रकार से उन्नत बनाने के लिए देश-व्यापी कदम उठाए जा रहे हैं।—अनुवादक

भार नहीं पड़ता और इसलिए उनके विस्तार के प्रति उसका विरोध कम हो गया है। सन् १६०१ में सिंचाई-आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप सरकार की सिंचाई नीति अधिकाधिक उदार होती गई। सच तो यह है कि ऐसे बहुत से काम आरम्भ कर दिये गए, जिनके बारे में सिंचाई-आयोग ने सोचा भी न था।

जहाँ तक इस विवाद-ग्रस्त प्रश्न की अच्छाइयों-बुराइयों का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि रेलों और सिंचाई में किसका कितना महत्व है, यह विवादास्पद हो सकता है परन्तु इसमे सन्देह नहीं किया जा सकता कि वे एक-दूसरे के पूरक और पोषक हैं, विरोधी नहीं।[1] यह स्पष्ट ही है कि सिंचाई द्वारा अतिरिक्त खाद्यान्न की प्राप्ति तो हो सकती है, परन्तु देश में उसका उचित वितरण रेलों द्वारा ही हो सकता है। यह सत्य है कि गत शताब्दी के अन्त में सरकारी सिंचाई-नीति उतनी प्रगतिशील नहीं थी जितनी कि आज है। और अब भी यदि हम तुरन्त लाभ के विचार को छोड़ दें, तो सिंचाई के विस्तार के लिए बहुत सम्भावनाएँ हैं। यह बात विशेषकर बम्बई पर लागू होती है जहाँ चार प्रतिशत से भी कम क्षेत्र की सिंचाई होती है तथा शेष भूमि मानसून पर निर्भर है। जहाँ तक सम्पूर्ण भारत का सम्बन्ध है, स्थिति बड़ी विषादमय और विकल्पग्रस्त है। उन भागों में जहाँ सिंचाई अत्यधिक लाभदायक है—उदाहरणार्थ उत्तर भारत में—कृषि की अस्थिरता और अकाल की सम्भावनाएँ बहुत कम हैं। प्रायद्वीपीय भाग में, विशेष-कर बम्बई प्रान्त में, जहाँ बरसात का कोई ठिकाना नहीं रहता, सिंचाई प्रत्यक्ष रूप से लाभदायक नहीं है। हमें यह याद रखना चाहिए कि लाभ और हानि का वाणिज्यिक दृष्टिकोण अनुपयुक्त है, इस प्रश्न को बृहत्तर दृष्टिकोण से देखना चाहिए। किसी सिंचाई-योजना के औचित्य का अनुमान लगाने के लिए उससे प्राप्त आय को ही नहीं देखना चाहिए वरन् उस अतिरिक्त अप्रत्यक्ष आय को भी देखना चाहिए जो उसके परिणामस्वरूप जनसंख्या की समृद्धि के रूप में प्राप्त होती है।[1]

१६. भूमि पर पानी और नमक का जमाव—इन दोनों का नहरों की सिंचाई से विशेष सम्बन्ध है। अतीत में इनसे बचने के लिए कोई प्रभावपूर्ण प्रयत्न नहीं किये गए, जिसका परिणाम यह हुआ कि कभी-कभी सिंचाई से मिट्टी की उर्वरता कम हो गई। उदाहरण के लिए पंजाब तथा बम्बई में पृथ्वी के नीचे के पानी के ऊपर आने तथा सतह पर नमक छोड़ जाने से बहुत सी भूमि कृषि के लिए बेकार हो गई।[2]

नहरों से सींचे जाने वाले क्षेत्र में किसानों द्वारा अधिक मात्रा में जल बर-बाद करना ही पानी के जमाव तथा नमक छा जाने का एक ऐसा कारण है जिसे सभी स्वीकार करते हैं, परन्तु जैसा कि कृषि-आयोग ने कहा है इसका कारण एकान्ततः यही नहीं है कि सरकार ने किसान के लिए जो पानी सुलभ किया है उसे कम खर्च करने के बारे में उसे किसी तरह की प्रेरणा नहीं होती। पानी मिलने की अनिश्चि-

१. फैनान इन्क्वायरी कमीशन रिपोर्ट, पृ० ३६१। देखिए, गाडगिल 'इकानामिक इफेक्ट आफ इरीगेशन' (गोखले इन्स्टीट्यूट ऑफ पालिटिक्स एण्ड इकनामिक्स, प्रकाशन नं० १७) सिंचाई योजना के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष लाभों के अनुमान के लिए।

२. बृजनारायण, इण्डियन इकानामिक लाइफ, पृ० ३८३; और हावर्ड, पूर्व उद्धृत, पृ० ४५.

तता के कारण भी कम बरबादी नहीं होती। जल की किफ़ायत के लिए कृषि-आयोग ने पंजाब तथा अन्यत्र पानी को घनफल के हिसाब से बेचने का इरादा करने से पूर्व कुछ और जाँच-पड़ताल तथा प्रयोग करने की सलाह दी। इस प्रकार की जाँच-पड़ताल और प्रयोग सिंचाई-आयोग की सिफारिश पर किये गए थे।[1]

नहर वाले हिस्सों में उचित नालियों का अभाव केवल कृषि के दृष्टिकोण से ही बाधक नहीं, परन्तु इसने स्वास्थ्यप्रद भागों को भी मलेरिया से पीड़ित बना दिया है, इसलिए नहरों की सिंचाई केवल इन्जीनियर का ही काम नहीं है वरन् भू-भौतिकविद्, कृषि-रसायनविद्, और औषधी एवं स्वास्थ्य-विशेषज्ञों का भी काम है। कृषि आयोग की यह सिफारिश थी कि भविष्य में पानी के बहाव का सावधानी से सर्वेक्षण किया जाना भी नई सिंचाई-योजनाओं का आवश्यक अंग हो तथा पानी के निकास के नक्शे भी तैयार किये जायँ।

१७. पंजाब के नहर-उपनिवेश[2]—पंजाब के नहर-उपनिवेशों के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहकर हम सिंचाई के सम्बन्ध में अपना विवेचन समाप्त कर सकते हैं। इन उपनिवेशों का हमारी सिंचाई के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। पंजाब में सिंचाई की समस्याएँ, अन्य प्रान्तों की समस्याओं से भिन्न थीं। सिंचाई आरम्भ होने से पहले गत शताब्दी के नौवें दशाब्द में, आजकल चनाब, झेलम और बारी-दोआब से सींचा हुआ क्षेत्र वर्षा की कमी और अनिश्चितता के कारण रेगिस्तान था। अतएव 'सिंचाई की सुविधाओं के साथ इन नये क्षेत्रों में बस्तियाँ बसाना आवश्यक था। (हैरिस)। बसने वालों के आने से पहले जल-मार्ग बनाये गए। प्रत्येक उपनिवेश में बड़े और छोटे वर्गों और आयातों में भूमि बाँट दी गई तथा सामूहिक रूप से चरागाह के लिए गाँव के पास ही भूमि रखी गई। उपनिवेशवासियों को केवल घर बनाना और भूमि को तोड़ना पड़ा। औपनिवेशिक गाँवों को ढंग से बसाया गया और सफाई आदि की दृष्टि से ये अन्य गाँवों से अच्छे हैं। भू-राजस्व अधिकारियों ने प्रान्त के घने बसे हुए जिलों से पुश्तैनी जमींदारों और मौरूसी काश्तकारों को कृषक अनुदान (पैज़ेन्ट ग्रान्ट) के लिए, जिसके अन्तर्गत अधिकांश भूमि दी गई है, बड़ी सावधानी से चुना। सामान्य बन्धनों से बँधे हुए इस प्रकार के समूहों को उपनिवेशों में इकाई के रूप में पृथक् ग्राम-समाज बनाने के लिए भेजा गया। अनुदान की शर्तें विभिन्न उपनिवेशों में भिन्न-भिन्न थी। सामान्यतया प्रत्येक किसान को दिया गया क्षेत्र औसतन १½ से २ वर्ग तक या ४० से ५० एकड़ तक है। बहुत से पुराने उपनिवेशों में परीक्षण-काल के समाप्त होने पर बिना कर के अथवा बहुत थोड़ी रकम चुकाने के बाद जोतों में अपरिवर्तनीय मौरूसी अधिकार दे दिये गए, परन्तु बाद की संशोधित कार्य-प्रणाली के अनुसार 'कुछ वर्षों की पहली अवधि के समाप्त होने पर मौरूसी अधिकार दिये गए। दूसरी अवधि के बाद काश्तकारों को स्वामित्व हस्तांतरण योग्य भूमि को कम मूल्य पर खरीदने का अवसर भी दिया गया जिसे वे सरल किश्तों में चुका सकते थे।' उन पुश्तैनी बड़े ज़मीं-

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २७७।

२. देखिए, हैरिस, पूर्व उद्धृत, पृ० ४८-५६; और डार्लिंग, पंजाब पैज़ेण्ट, अध्याय ७।

दारों तथा उच्च परिष्ठा वाले व्यक्तियो को जो कृषि और सिचाई के अच्छे तरीकों का प्रयोग करना चाहते थे, अधिक अनुदान दिये गए। सैनिक एवं नागरिक सरकारी सेवाओं के उपलक्ष मे भी अनुदान दिये जाते थे। नये गाँवो मे उपनिवेश-वासियो के बसने के बाद संचार के विकसित साधनों, पक्की सड़कों, रेलों तथा शहरों और बाज़ारों के उद्भव से उपनिवेशों का विकास हुआ। इस प्रकार जो भूमि किसी समय वृक्षविहीन, जलविहीन और बेकार थी, अब मनुष्यों के हितकारी कार्यो से इन विकासमान उपनिवेशों मे बदल गई है। इन उपनिवेशों की समृद्धि का मूल कारण भू-स्वामी कृषक हैं जिनके पास वहाँ की लगभग ८० प्रतिशत भूमि है। तीन प्रधान उपनिवेशो—लायलपुर, शाहपुर और माण्टगोमरी—मे सिचाई करने वाली नहरों से सरकार ने भी ३० प्रतिशत से अधिक वास्तविक लाभ प्राप्त किया और सन् १९३८-३९ के अन्त तक प्रतिफलात्मक कार्यो मे लगाई गई ३४ करोड़ ५३ लाख रुपये की पूँजी पर १४·९९ प्रतिशत का लाभ प्राप्त किया। किसानों को इससे भी अधिक लाभ हुआ। मूल्य कम हो जाने के बावजूद भी, उसी वर्ष प्रान्त मे नहरों से सीची जाने वाली फ़सल का मूल्य ४०·३१ करोड़ रुपया था। एम० एल० डार्लिंग ने ठीक ही कहा है कि 'उपनिवेशों ने पंजाब में एक अद्वितीय समृद्धि-काल ला दिया है।[1]

---

१. द पंजाब पैज़ेएट इन प्रासपैरिटी एण्ड डेट, पृ० ११४।

अध्याय ८

कृषि : श्रम, उपस्कर और संगठन

१. मानव-अंग : उसकी असन्तोषजनक प्रकृति—अन्य सभी बातो की अपेक्षा कृषि की सफलता सबसे अधिक हल चलाने के लिए उत्तरदायी कृषको के गुणो पर निर्भर है। कृषि की वर्तमान परिस्थिति को समझने के लिए कृषको के गुण-दोष का मूल्याकन परमावश्यक है। जैसी स्थिति आज है उसके अनुसार तो यह मानना पडेगा कि भारतीय कृषक यूरोपीय तथा अमेरिकी किसान की तुलना मे शारीरिक श्रम करने की क्षमता, बुद्धिमत्ता तथा साहस के दृष्टिकोण से निम्नकोटि का है। परन्तु उसकी अक्षमता न तो जन्मजात ही है और न उसके स्वभाव का मूलाधार ही और इसलिए उपचार-योग्य है। वह अनेक कठिनाइयो के भार से दबा हुआ है। प्रशसा की बात तो यह है कि इतना सब होते हुए भी उसका लोप नही हुआ है और वह अस्तित्व के सघर्ष मे आज भी डटा हुआ है।[१]

भारतीय कृषक के पिछडे होने का सबसे बडा कारण वह हृदयविदारक स्थिति है जिसमे वह कृषि-कार्य करता है। इस मत की पुष्टि इस बात से होती है कि उन भागो मे जहाँ वर्षा निश्चित है और जहाँ सिचाई के साधन प्राप्त है तथा उसे विश्वास रहता है कि उसे अपने प्रयत्न का फल अवश्य प्राप्त होकर रहेगा किसान सजग है और बडी तत्परता से कार्यारूढ रहता है तथा उद्यमी है। जहाँ पर स्थिति प्रतिकूल है वहाँ किसानो का आलसी, निराशावादी और लापरवाह होना तथा दारुण-दरिद्रता मे पडा रहना अस्वाभाविक नही। डॉ० वायलकर ने, जो कि राजकीय कृषि समिति (रायल एग्रीकल्चरल सोसायटी) के सलाहकार रसायनज्ञ थे तथा जिन्हे १८८९ मे भारतीय कृषि-कर्म के बारे मे आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सम्मति देने के लिए भेजा गया था, भारतीय कृषक की 'कठोर और अथक परिश्रम और साधनो के ढूँढ लेने की प्रवृत्ति' से युक्त सावधानतापूर्ण कृषि की भूरि-भूरि प्रशसा की है। ऐसे महान् वैज्ञानिको की सम्मति का, जो प्रामाणिक और मान्य है, हमे सम्मान करना

---

१. 'भारत के विभिन्न भागों की विविधता को देखते हुए यद्यपि विभिन्न प्रकार के कृषकों के विषय में सामान्य कथन अनुचित होगा फिर भी उन सबमें एक निहित समानता दृष्टिगोचर होती है। सर्वत्र वही सादा जीवन, प्राकृतिक अनिश्चितता से सघर्ष (कुछ भागों को छोडकर), वही साधारण खेलो और गाने से प्रेम, वही धार्मिक पृष्ठभूमि, वही पारस्परिक सहानुभूति और वही ऋणग्रस्तता विद्यमान है।'—डब्ल्यू बर्न्स, सन्स ऑफ द सायल' पृष्ठ ७।

चाहिए और इसमें कोई सन्देह नही रहना चाहिए कि यदि स्थिति अनुकूल हो तो भारतीय कृषि उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच सकती है। पर ऐसे प्रशंसात्मक शब्दों का जो दूसरे पक्ष के आत्यन्तिक विचारों को संतुलित करने के दृष्टिकोण से व्यक्त किये गए हैं, उनके सन्दर्भ से अलग करके अपनी कुशलता पर सन्तुष्ट होकर हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ रहना नितान्त अनुचित होगा। यदि सामान्य भारतीय कृषक इतना कुशल और उद्यमी होता जैसा डॉ० वायलकर के प्रशंसात्मक शब्द सुनकर कोई अनजान व्यक्ति समझेगा, तो भारत की वर्तमान ग्राम्य समस्या कही अधिक सरल होती। कृषकों के वास्तविक दोषों को समझना, चाहे वे किसी कारण से क्यों न हों, तथा प्रत्यक्षतः व्यापक अर्थ में शिक्षा द्वारा और अप्रत्यक्षतः उनकी बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन लाकर उनके निराकरण के उपायों को ढूँढ निकालना अत्यन्त आवश्यक है। यह तो हमें मानना पड़ेगा कि भारतीय कृषक मे मौलिकता तथा सूझ-बूझ और साहसोद्यम की कमी है और सामान्य रूप से वह परम्परागत प्रणाली का भक्त है, जिनमे से अनेक अपव्यय और अवैज्ञानिकता की पोषक हैं। उसका जीवन अन्ध-विश्वासों और पूर्वग्रहों से आक्रान्त है जो उसकी आर्थिक उन्नति में बाधक है। उसकी निश्चेष्टता, उदासीनता और संकीर्णता उसकी स्थिति के सुधार के मार्ग मे बहुत बड़े रोड़े हैं। रहन-सहन के अपने गन्दे और अस्वच्छ ढंग के कारण वह अपने ऊपर बहुत सी ऐसी शारीरिक विपत्तियों को निमन्त्रित करता है जो बचाई जा सकती है। परिणामतः उसकी प्राण-शक्ति का ह्रास होता है। लगातार शारीरिक परिश्रम करने मे वह असमर्थ हो जाता है तथा जीवन के प्रति उसकी दृष्टि अवसादपूर्ण हो जाती है। वह अज्ञात, अदूरदर्शी और असावधान है। इन सब अवगुणों के कारण कोई भी उसकी दुर्बलता का लाभ उठा सकता है। व्यर्थ की मुकदमेबाजी मे अपनी शक्ति और धन के खर्च करने की उसकी आदत है और वह अपने धन को अपनी कुशलता की वृद्धि के लिए खर्च करने अथवा अधिक धनोत्पत्ति करने वाले कार्यो पर लगाने की अपेक्षा आभूषणादि के बनवाने में खर्च करने के लिए अधिक तत्पर रहता है। विवाहादि संस्कारों में वह प्रायः अपनी शक्ति से कहीं अधिक खर्च करता है और जान-बूझकर महाजन के चंगुल में फँसता है, जिससे उसका उद्धार शायद ही फिर कभी होता हो। उसे इस सत्य पर कम विश्वास है कि परमात्मा मानवी साधनों द्वारा ही रक्षा करवाता है; उसका तो यह प्रगाढ़ विश्वास है कि परमात्मा अथवा कोई अन्य बाह्य शक्ति ही विपदाओं से उसकी रक्षा करेगी। अब अपनी आपदाओं को दूर करने के लिए उसे अपने बाहुबल का भरोसा नही; भाग्य या देव पर उसका दोष डालकर वह अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है।

जिनको भारत की ग्राम्य स्थिति का ज्ञान है, वे जानते है कि ये वास्तविक दोष है और इनके निराकरण का प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि यह उक्ति कि 'वातावरण का सुधार कीजिए, कृषक स्वयं सुधर जायगा' ठीक ही है, पर इससे अधिक अच्छी उक्ति यह होगी कि कृषक और उसका वातावरण दोनों का एक साथ सुधार कीजिए जिससे वे एक-दूसरे की उन्नति मे सहायक हो सकें।

२. ग्राम्य शिक्षा की व्यापक योजना—कृषकों की मनोवैज्ञानिक विचारधारा तथा उनकी व्यक्तिगत और सामाजिक आदतों को बदलने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें शिक्षित बना दिया जाय। यह तो सर्वविदित है कि जब तक अशिक्षा और अज्ञान का साम्राज्य रहेगा, और केवल ८% ही लोग[1] लिख-पढ़ सकेंगे, ग्राम-सुधार की सारी बातें व्यर्थ हैं। व्यापक साक्षरता तथा ग्राम्य शिक्षा की उपयुक्त प्रणाली के अभाव ही उन अधिकांश दोषों के लिए उत्तरदायी हैं जिनका हम निराकरण करना चाहते हैं। अशिक्षा ऋणग्रस्तता की वृद्धि करती है, अदूरदर्शिता और फिजूलखर्ची को प्रोत्साहन देती है, कृषि-प्रणाली की उन्नति में बाधक है और उसका सबसे भयानक दोष तो जनता की उस जागृति में बाधा उपस्थित करना है जिसके बिना कोई भी सुधार स्थायी रूप नहीं ले सकता। ग्राम-सुधार की समस्या का निराकरण उस समय तक नही हो सकता जब तक किसान स्वयं अपनी उन्नति नहीं चाहेगा और उसके लिए चिन्तित और प्रयत्नशील न होगा। ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का पुनस्संगठन अत्यन्त आवश्यक है। पाठ्य-पुस्तकों की रचना तथा कार्यक्रम बनाने में शिक्षा-विभाग को अन्य ऐसे विभागों की सम्मति को ध्यान में रखना चाहिए जिनका गाँव वालों से सीधा सम्पर्क रहता है। गाँव के स्कूलों में ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जो गाँव वालों के हृदय में कृषि और ग्राम्य जीवन के प्रति प्रेम और रुचि उत्पन्न कर सके ताकि लोग उसके विरुद्ध यह न कह सकें कि यह शिक्षा तो ग्रामवासियों के पैतृक व्यवसाय के प्रति अरुचि उत्पन्न करती है और उन्हें इतना सुकुमार बना देती है कि वे कृषि-कार्य के अयोग्य हो जाते हैं। शिक्षा-प्रणाली के इस दोष के प्रति १९३७ की एबट और वुड जाँच कमेटी ने और बाद में वर्धा एजुकेशन कान्फ्रेन्स (१९३७) द्वारा नियुक्त की गई ज़ाकिर हुसेन कमेटी ने तथा बम्बई सरकार द्वारा १९३८ में नियुक्त की हुई व्यावसायिक शिक्षा-कमेटी ने भी विशेष ध्यान आकृष्ट किया था। अब तो यह सभी मानते हैं कि प्रारम्भिक स्कूलों में बालकों की शिक्षा पुस्तकों की अपेक्षा बच्चों की स्वाभाविक रुचियों और कार्यों के अनुरूप और उन्हीं पर आधारित होनी चाहिए।[2]

ज़ाकिर हुसेन कमेटी ने महात्मा गांधी के इस मूल विचार को स्वीकार किया था कि 'सुव्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली वह है जिसमें शिक्षा प्रदान करने का माध्यम कोई उपयोगी हस्त-कला हो और वही स्कूलों में दी जाने वाली हर प्रकार की शिक्षा का मूलाधार होना चाहिए।'[3] किसी उद्देश्य-विशेष से किये गए कार्यों के द्वारा बच्चों को शिक्षा देने का सिद्धान्त आगे चलकर उन्हें उपयोगी कार्यों में प्रवृत्त करता है, और गाँव की स्थिति और आवश्यकता की दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त है।[4]

केवल अक्षर-मात्र के ज्ञान का झूठा महत्त्व देने की प्रवृत्ति को, जो साक्षरों के मन में अपने को अन्य अशिक्षित भाई-बन्धुओं से भिन्न वर्ग का समझने की भावना को

---

१ ग्रामीण साक्षरता, सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार, १२ प्रतिशत है।

२. ए० एबट एण्ड एस० एच० वुड, रिपोर्ट ऑन जनरल एण्ड वोकेशनल एजूकेशन, पैरा ९८।

३. रिपोर्ट ऑफ द ज़ाकिर हुसेन कमेटी, सेक्शन १।

४. रिपोर्ट ऑन वोकेशनल ट्रेनिंग इन प्राइमरी एण्ड सेकण्डरी स्कूल्स (बम्बई), पैरा २४।

बढ़ावे और जो उनके मन में हल के स्थान पर कलम चलाने की आकांक्षा को दीप्त करे सबके लिए शिक्षा अनिवार्य बनाकर तथा व्यावसायिक और हस्त-कला की शिक्षा द्वारा श्रम-गरिमा की भावना जगाकर, नष्ट कर देना चाहिए। शिक्षा का लाभ स्त्री तथा पुरुष दोनों को ही प्राप्त होना चाहिए। स्त्री-शिक्षकों की पर्याप्त संख्या की प्रतीक्षा में स्त्रियों की शिक्षा के विकास को रोके रहने की आवश्यकता नहीं है। बच्चों को स्थायी रूप से शिक्षित बनाने के लिए स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार आवश्यक है। ग्राम्य शिक्षा की किसी सम्पूर्ण योजना के मुख्य अंग, पौधों और जीवों के स्वभाव का अध्ययन, स्कूल के उद्यान और खेतों का अध्ययन, ऐसी पाठ्य-पुस्तकों का अध्ययन जो ग्राम्य विषयों का वर्णन करती हों, हस्त-कला, स्थानीय सहायक उद्योगों के आधार पर शिक्षा, बालचर (बाय स्काउट) प्रशिक्षण तथा शारीरिक स्वास्थ्य की शिक्षा और तात्कालिक उपचार की शिक्षा आदि होने चाहिएँ।

किसानों की सर्वतोमुखी क्षमता को पूर्णतः विकसित करने के लिए तथा ऐसी व्यवस्था करने के लिए कि वर्तमान पीढ़ी के लोग कृषि-विकास के आधुनिक साधनों का पूर्ण लाभ उठा सकें, वयस्कों की शिक्षा की समुचित योजना का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। युवकों के स्कूल छोड़ देने के कुछ ही काल बाद पढ़ा-लिखा सब-कुछ भूलकर फिर निरक्षर हो जाने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए भी वयस्क-शिक्षा की योजना आवश्यक है। इस शिक्षा की योजना में स्त्रियों को भी सम्मिलित करना अत्यन्त आवश्यक होगा जिससे कि वे प्रगति-चक्र में बाधक न सिद्ध हों। शक्तिशाली और कुशल प्रजातन्त्र के विकास के लिए भी वयस्कों की शिक्षा को मुख्य स्थान मिलना चाहिए। बम्बई वयस्क शिक्षा कमेटी ने भी कहा था कि "वयस्क शिक्षा का देश की शिक्षा-व्यवस्था में एक सम्मानित स्थान होना चाहिए जो राज्य द्वारा ही संचालित होनी चाहिए।" सरकार को वयस्क शिक्षा में पूर्ण सहयोग देना चाहिए, विशेषकर साक्षरता तथा मनोरञ्जन की योजनाओं में आर्थिक सहायता द्वारा।

वयस्कों को शिक्षित बनाने के लिए विशिष्ट उपायों से काम लेना आवश्यक है जिसमें रात के स्कूल, निरन्तर लगने वाली कक्षाएँ, पुस्तकालय और वाचनालय, सिनेमा, बिजली के प्रकाश द्वारा चित्रों का प्रदर्शन तथा प्रदर्शन करने वाली रेल आदि सम्मिलित होनी चाहिए। शिक्षा-प्रसार में सिनेमा का बहुत बड़ा उपयोग है। यह बात रेडियो पर भी लागू है।[1] सिनेमा द्वारा ग्रामवासियों के मन में नई-नई आवश्यकताएँ तथा कार्य करने की प्रेरणाएँ जगाई जा सकती हैं जो देहातियों के बुद्धि-विकास के साधन के रूप में लिखे अथवा कहे हुए शब्दों की अपेक्षा सिनेमा कहीं अधिक प्रभावशाली हैं। अधिकांशतः वयस्क-शिक्षा नियमित स्कूलों की औपचारिक शिक्षा के बजाय ऐसे ही साधनों पर आधारित होनी चाहिए।

गाँव में रहने वाले वयस्कों की शिक्षा का पहला कदम यह होना चाहिए कि उन्हें अपने मन की बद्धमूल निराशा और उदासीनता पर विजय पाने में सहायता मिले

१. अब तो ऑल इण्डिया रेडियो स्टेशनों से ग्रामवासियों के लिए निरन्तर देहाती प्रोग्राम प्रसारित किये जाने लगे हैं।

तथा जीवन के प्रति उनमें रुचि उत्पन्न हो। इसलिए यह आवश्यक है कि वयस्क शिक्षा आन्दोलन को ग्राम-पुनरुद्धार की योजनाओं से सम्बद्ध कर दिया जाय।[1]

३. किसानों की शारीरिक अक्षमता : उसके कारण और उपचार—हमारे अधिकांश गाँव मलेरिया, प्लेग, महामारी, आँव, क्षय, कालाज़ार, हुकवर्म आदि भयंकर रोगों तथा साधारण चर्म और कुष्ट रोगों आदि से आक्रान्त हैं। ये किसानों की अक्षमता के प्रधान कारण हैं। बीमारियाँ किसी समुदाय की आर्थिक शक्ति का, हृष्ट-पुष्ट और शक्तिवान् लोगों को मारकर और काम करने वालों की संख्या न काम करने वालों से अधिक बढ़ाकर, विनाश कर सकती है। दूसरे, यदि ये बीमारों का प्राण नही लेतीं तो उन्हें अशक्त कर देती है और इस प्रकार श्रमिकों की संख्या ही में कमी नहीं वरन् श्रम की शक्ति में भी कमी कर देती हैं। तीसरे, ये बीमारियाँ प्रायः जब कृषि-कार्य जोरों पर चल रहा होता है, उस समय श्रमिकों को श्रम करने के अयोग्य बना देती हैं। और अन्त में ये लोगों को आलसी, निरुत्साही और भाग्यवादी बना देती हैं। सर्वसाधारण में स्वास्थ्य और स्वच्छता का आन्दोलन होना चाहिए ताकि ये बीमारियाँ दूर हों और लोगों में स्वास्थ्य के प्रति विचारपूर्ण सक्रिय जागरूकता उत्पन्न हो और उनके मन के पूर्वग्रह छूटें जिनमें से कुछ तो धर्म के साथ जुड़े होने के कारण बड़े ही भयावह होते हैं।

स्वास्थ्य प्रचार विभाग, शिशु-सप्ताह, रेडक्रास, जच्चा-बच्चा संघ तथा सहकारी औषधालय आदि संस्थाओं को गाँव के स्वास्थ्य तथा स्वच्छता के सम्बन्ध में बहुत सेवाएँ करनी हैं। सींचे जाने वाले भागों में तथा तथा दलदलों में पानी के बहाव का उचित प्रबन्ध, पीने के लिए शुद्ध जल और गाँव में घरों के निर्माण की उचित व्यवस्था आदि अत्यन्त आवश्यक बातें हैं। मलेरिया से, जो कि 'हमारा सबसे बड़ा रुग्णता-दण्ड' है, बचाव के आन्दोलन में विशेष सफलता तभी सम्भव है जब कि जनता सरकारी सहायता के साथ-साथ स्वयं भी पूरे उत्साह और ऊर्जा के साथ प्रयत्न करे। कुनैन का अधिक विस्तृत रूप से वितरण होना चाहिए। इसका उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार को अपने ऊपर लेना चाहिए और सिनकोना की खेती का निरन्तर विस्तार करके कुनैन को सस्ता करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

गाँवों में चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित करता है। देशी चिकित्सा-प्रणाली की सफलता की उचित ढंग से जाँच करनी चाहिए और मँहगी अंग्रेजी दवाओं के स्थान पर प्रभावोत्पादक देशी जड़ी-बूटियों के प्रयोग को प्रोत्साहित करना चाहिए।[2] कुछ वर्ष पहले बम्बई सरकार ने गाँवों में चिकित्सा की

---

१. रिपोर्ट ऑफ़ द एडल्ट एजुकेशन कमेटी (बम्बई) १९३८, पृ० ४-५।

२. राष्ट्रीय आयोजन कमेटी (नेशनल प्लानिंग कमेटी) तथा सन् १९४६ में हुई स्वास्थ्य मंत्रियों की कान्फ्रेन्स की सिफारिशों के आधार पर चिकित्सा-सम्बन्धी देशी पद्धतियों की शिक्षा और खोज की उपलब्ध सुविधाओं को जाँच के लिए दिसम्बर सन् १९४६ में श्री आर० एन० चोपड़ा की अध्यक्षता में एक कमेटी की नियुक्ति की गई थी। इस कमेटी की रिपोर्ट पर विचार किया जा चुका है तथा वैद्य और हकीमों की शिक्षा के पुनर्गठन का प्रयत्न किया जा रहा है। सरकार की स्वीकृति से अगस्त २४, १९५३

सुविधाएँ बढ़ाने के ध्येय से ग्राम-सहायक-योजना (विलेज एड स्कीम) की स्थापना की, जिसके अन्तर्गत प्रदेश के कुछ ज़िलों में प्रारम्भिक स्कूलों के शिक्षकों को जिले के सिविल अस्पताल में थोड़े दिनों की चिकित्सा-सम्बन्धी शिक्षा दी गई और एक-एक दवाइयों का बक्स देकर उन्हें गाँव वापस भेजा गया। वे साधारण बीमारियों का उपचार करते थे, तात्कालिक उपचार करते थे और भयानक बीमारियों से पीड़ित लोगों को पड़ोस के अस्पतालों में भेज देते थे। इधर कुछ दिनों से सरकार गाँवों में चिकित्सा-कार्य करने वालों को कुछ आर्थिक सहायता भी देने लगी है।

गाँवों की सफाई की समस्या से सम्बन्धित गाँव वालों के रहने के लिए सुन्दर स्वच्छ घरों की समस्या है। यह सोचना, कि आवास की समस्या शहरों तक ही सीमित है, ग़लत है। यद्यपि शहरों की अपेक्षा गाँवों में बहुत अधिक स्थान है, पर वहाँ के घर प्रायः मिट्टी के कमजोर ढाँचे ही होते हैं जिनकी छतें घास-फूस की होती हैं और जिनमें केवल एक दरवाजा होता है और कदाचित् ही कोई खिड़की होती हो। ये घर प्रायः अंधेरे, मच्छरों, चूहों तथा अन्य हानिकारक जीवों और कीड़ों के निवास-स्थान होते हैं। बहुधा मनुष्य और पशु एक ही कमरे में रहते हैं और एक-दूसरे की निकली हुई दूषित वायु की साँस लेते हैं, जो दोनों ही के लिए हानिकारक है। इन गाँवों के छोटे गन्दे अंधेरे घरों को गिरवाकर उनके स्थान पर स्वच्छ और सुन्दर घरों का निर्माण करवाने के लिए बहुत बड़े प्रयत्न की आवश्यकता है। गाँवों में सहकारी आवासन-समितियाँ खुलवानी चाहिएँ जिन्हें सरकार से आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता मिले। सरकार केवल सीधे ऋण द्वारा ही समितियों की सहायता न करे वरन् कर्ज़ देने वाली विशेष आर्थिक संस्थाओं को उनके ऋणों की अदायगी तथा ब्याज की गारन्टी द्वारा भी सहायता कर सकती है।

४. भोर कमेटी रिपोर्ट—यहाँ पर १९४३ की भोर कमेटी के अन्तर्गत नियुक्त स्वास्थ्य सर्वेक्षण और विकास कमेटी (हेल्थ सर्वे एण्ड डिवेलपमेण्ट कमेटी) की रिपोर्ट का सारांश देना उपयुक्त होगा।

सुधार की जो योजना कमेटी ने सामने रखी वह दो भागों में विभाजित की जा सकती है : (१) व्यापक दीर्घकालीन योजना तथा (२) अल्पकालीन योजना।

प्रशासन के सम्बन्ध में यह प्रस्ताव किया गया था कि (१) केन्द्र में एक स्वास्थ्य-मन्त्रालय हो जिसके अधीन एक केन्द्रीय परिनियत स्वास्थ्य परिषद् (सेन्ट्रल स्टेच्युटरी बोर्ड ऑफ हेल्थ) हो; (२) प्रत्येक राज्य में भी स्वास्थ्य मन्त्रालय हो; और (३) स्थानीय क्षेत्र-स्वास्थ्य-प्रशासन की स्थापना हो।

केन्द्रीय परिनियत स्वास्थ्य परिषद् (सेन्ट्रल स्टेच्युटरी बोर्ड ऑफ हेल्थ) की स्थापना, जिसके सदस्य केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के स्वास्थ्य-मन्त्री है, इस उद्देश्य से की गई है कि उनके हितों में किसी प्रकार संघर्ष न होने पावे और वे निरन्तर एक-दूसरे से परामर्श करते रहें। यह आशा की जाती है कि केन्द्रीय सरकार, जिसके पास

से देशी चिकित्सा पद्धति का प्रस्तावित केन्द्रीय अनुसंधान संस्थान, जामनगर के गुलाब कुँअरना आयुर्वैदिक विद्यालय के सहयोग में काम करने लगा है।

प्रचुर धन तथा विशेषज्ञ हैं, सहायक अनुदान तथा प्राविधिक सहायता प्रदान करेगी। रोग-चिकित्सा, दन्त-चिकित्सा तथा परिचर्या-सम्बन्धी विशेषज्ञों की तीन स्थायी समितियों की स्थापना तीन स्तरों पर—केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय—होनी चाहिए। केन्द्रीय स्वास्थ्य-मण्डलों (हैल्थबोर्ड) के ही समान विधान और कार्य वाली स्वास्थ्य परिषदों की राज्यीय स्थापना राज्यों में भी होनी चाहिए। प्रान्तीय और केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालयों को स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रबन्ध का एक निम्नतम आदर्श निश्चित करना तथा पूरा करवाना चाहिए और अपने-अपने अधीन स्वास्थ्य पदाधिकारियों का पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। केन्द्रीय सरकार को संक्रामक रोगों के अन्तर्राज्यीय विस्तार को रोकने का हर प्रकार से प्रयास करना चाहिए और अन्तर्राज्यीय व्यापार में अन्न तथा औषधियों की शुद्धता का समुचित स्तर बनाये रखना चाहिए। केन्द्र में एक प्रधान स्वास्थ्य-सेवा-संचालक (डायरेक्टर जनरल ऑफ़ हेल्थ सर्विसिज़) तथा राज्य में एक स्वास्थ्य-सेवा-संचालक (डायरेक्टर ऑफ़ हेल्थ सर्विसिज़) स्वास्थ्य-मन्त्रालय का प्रौद्योगिक सलाहकार होना चाहिए। स्थानीय क्षेत्रों में वर्तमान समय के अनेक पदाधिकारियों के स्थान पर केवल एक स्वास्थ्य-पदाधिकारी होना चाहिए—जिला स्वास्थ्य मण्डल। सभी बड़ी नगरपालिकाओं को, जिनमें जनसंख्या २००,००० या इससे अधिक है, अपना स्वतन्त्र स्वास्थ्य-विभाग बनाना और कायम रखना चाहिए। प्रत्येक नगरपालिका के लिए सरकारी सहायता की रकम छोड़कर बाकी आय का ३०% जिला स्वास्थ्य मण्डल को देना कानून से अनिवार्य कर देना चाहिए। इसी प्रकार प्रत्येक जिला मण्डल अथवा पंचायत को भी अपनी सम्पूर्ण आय का १२½ प्रतिशत से कम नहीं देना चाहिए।

(१) **दीर्घकालीन योजना**—जिलों की जनसंख्या १,००,००० से ५०,००,००० तक पाई जाती है, इसलिए वर्तमान योजना को प्रस्तुत करते समय प्रत्येक जिले की जनसंख्या ३०,००,००० के लगभग मान ली गई है। जिले की स्वास्थ्य-व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे छोटी प्रारम्भिक इकाई सामान्यतः दस से बीस हजार व्यक्तियों के निवास-स्थान के क्षेत्र के बराबर ही होगी। १५ से २५ तक की गिनती की प्रारम्भिक इकाइयाँ मिलाकर एक माध्यमिक इकाई बनाएँगी और इस प्रकार की ३ या ५ माध्यमिक इकाइयों को मिलाकर जिले की एक स्वास्थ्य इकाई बनेगी। प्रारम्भिक, माध्यमिक और जिले की इकाइयों के केन्द्रों पर एक स्वास्थ्य-केन्द्र खोला जायगा जहाँ से भिन्न-भिन्न प्रकार की स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्यवाहियाँ प्रत्येक क्षेत्र में की जायँगी। जिला स्वास्थ्य-केन्द्र में सामान्य और विशेष अस्पताल होंगे जिनमें लगभग २५०० रोगियों के भरती करने का प्रबन्ध होगा और रोगों की आधुनिक ढंग पर ही तथा उपचार-सम्बन्धी छानबीन के लिए आवश्यक उपकरण तथा प्रयोगशाला की व्यवस्था भी होगी। इसी प्रकार माध्यमिक स्वास्थ्य-केन्द्र में भी लगभग ६५० रोगियों के भरती करने का प्रबन्ध होगा तथा सभी उपस्कर समुचित मात्रा में उपलब्ध होंगे। प्रारम्भिक स्वास्थ्य-केन्द्र के अस्पताल में केवल ७५ रोगियों के लिए स्थान होगा। जिला स्वास्थ्य-केन्द्र समस्त जिले के ऊपर देख-रेख तथा नियन्त्रण रखेगा। इसी प्रकार माध्यमिक स्वास्थ्य-केन्द्र प्रारम्भिक

स्वास्थ्य-केन्द्रों पर नियन्त्रण रखेंगे और प्रारम्भिक स्वास्थ्य-केन्द्र उस समस्त क्षेत्र पर नियन्त्रण रखेंगे जो उनके अधीन है। इस प्रकार चिकित्सालयों में रोगियों के ठहरने का अनुपात जनसंख्या के अनुपात से ५ ६७ प्रति १००० व्यक्ति हो जायगा जब कि पहले यही अनुपात केवल ०.२४ प्रति १००० था। एक जिले में प्रायः १५० प्रारम्भिक इकाइयाँ होंगी जिनमें से प्रत्येक में ६ डॉक्टर (आधी संख्या स्त्री डाक्टरनी) २६ नर्सें, ६ दाइयाँ और १८ अन्य कर्मचारी जैसे समाज सेवक तथा सफाई-निरीक्षक (सेनेटरी इन्स्पेक्टर्स) होंगे। प्रत्येक माध्यमिक इकाई से सम्बन्धित ३० प्रारम्भिक इकाइयाँ होंगी जो संस्था को अधिक गम्भीर प्रकृति की सुविधाएँ प्रदान करेंगी। प्रत्येक जिला-स्वास्थ्य-केन्द्र के अन्तर्गत ५ माध्यमिक इकाइयाँ होंगी। आशा है यह विकास-कार्य ४० वर्ष के भीतर सम्पन्न हो जायगा।

(२) **अल्पकालीन योजनाएँ**—वर्तमान स्वास्थ्य-सेवा को सहयोग देने के लिए, न कि उनका स्थान लेने के लिए, इन अल्पकालीन योजनाओं का प्रस्ताव किया गया है। समस्त राज्य में विस्तृत आरोग्यकारी और एहतियाती स्वास्थ्य सुविधाओं के समस्त प्रसार का प्रस्ताव भी किया गया है। इससे प्रत्येक जिले में (क) ज़िले की स्वास्थ्य इकाई में सम्मिलित अनेक प्रारम्भिक और माध्यमिक इकाइयाँ होंगी और (ख) जच्चा और बच्चा के विशेष उपचार के लिए, स्कूल जाने वाले बच्चों और उद्योगों में काम करने वालों की सेवा के लिए, और भारत में प्रचलित अधिक भयंकर बीमारियों के उपचार करने के लिए विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त हो सकेंगी। ऐसी स्वास्थ्य-सेवाओं की भी सिफ़ारिश की गई है कि जो व्यक्तिगत नहीं हैं और जिनका सम्बन्ध गाँव तथा नगरों के बसाने की योजनाओं तथा पानी के बहाव और अन्य साधारण सफाई से सम्बन्ध रखने वाली योजनाओं से है। डाक्टरों, नर्सों तथा अन्य वर्ग के स्वास्थ्य सम्बन्धी कर्मचारियों को नये-नये आविष्कारों की शिक्षा देने के लिए भी विशेष सुझाव रखे गए हैं। राज्य-व्यापी स्वास्थ्य-व्यवस्था दीर्घकालीन योजना के ही मार्ग पर की जायगी, अन्तर केवल इतना होगा कि यह उतनी विशद न होगी। प्रत्येक प्रारम्भिक इकाई से यह आशा की जायगी कि वह पहले दस वर्षों में ४०,००० व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करे। प्रारम्भिक स्वास्थ्य केन्द्र में एक छोटा-सा अस्पताल होगा, उसमें दो पलंग प्रसवों के लिए और दो आरम्भिक रोगियों की परिचर्या के लिए होंगे। आरम्भ में माध्यमिक स्वास्थ्य-केन्द्रों में २०० रोगियों का स्थान होना चाहिए जिसको कि दस वर्ष में धीरे-धीरे बढ़ाकर ५०० पलंग वाले अस्पताल में परिणत कर दिया जायगा। तब तक के लिए जिला स्वास्थ्य-केन्द्र की व्यवस्था को स्थगित कर देना चाहिए। गाँवों में उपचार सम्बन्धी सुविधाओं का विस्तार करने के लिए आरम्भ में ३० रोगियों के स्थान वाला अस्पताल खुलवाना चाहिए, जो कि चार प्रारिम्भक इकाइयों की आवश्यकता पूरी करेगा। पहले दस वर्ष बीतने पर उनकी संख्या दूनी कर दी जायगी ताकि दो-दो प्रारम्भिक इकाइयों के बीच एक अस्पताल अवश्य हो जाय।

हर प्रान्त के प्रत्येक जिले में आरम्भ से ही जिला स्वास्थ्य-व्यवस्था की स्थापना आवश्यक होगी। इस व्यवस्था की शुरुआत पाँच प्रारम्भिक इकाइयों और एक माध्य-

मिक इकाई से होनी चाहिए और दस वर्ष के अन्त तक धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़कर २५ प्रारम्भिक और २ माध्यमिक इकाइयाँ हो जानी चाहिएँ।

(३) व्यावसायिक शिक्षा—पहले दस वर्षों में प्रतिवर्ष ४००० से ४५०० डाक्टरों को शिक्षा देने का ध्येय होना चाहिए। यह संख्या वर्तमान समय में शिक्षा पाकर बाहर निकलने वाले डाक्टरों की संख्या से लगभग दूनी है। ग्रेजुएट हो जाने के पश्चात् जो लोग जन-सेवा के कार्य में लगना चाहें उन्हें कम-से-कम १००० रु० प्रति-वर्ष आय का निश्चित आश्वासन होना चाहिए। एक अखिल भारतीय चिकित्सा शिक्षा-संस्था होनी चाहिए जहाँ से निरन्तर सर्वोत्तम शिक्षक मिलते रहें। नर्सों की आवश्यकता तो डाक्टरों से भी बढ़कर है। वर्तमान समय में सारे भारतवर्ष में केवल ७००० रजिस्टर की हुई नर्सें हैं और अल्पकालीन योजना के अन्तर्गत लगभग ८०,००० नर्सें होनी चाहिएँ। प्रत्येक छात्रा-नर्स को ६० रु० मासिक छात्र-वृत्ति दी जानी चाहिए। इस रकम का एक अंश धीरे-धीरे उनसे बाद में वापस भी लिया जा सकता है।

५. गाँव और नगरों में घनिष्ठतर सम्पर्क की आवश्यकता—गाँव वासियों का सुधार करने में सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि उनके मन में जमे हुए भ्रमपूर्ण निष्क्रियता तथा दारिद्र्यजनक विचार निकाल दिये जायँ और और उनके स्थान पर साहस और प्रेरणादायी विचार जागृत कर दिए जायँ। इसलिए उन सभी बातों का जो बाहरी संसार से गाँव का सम्पर्क बढ़ाने वाली तथा नगरों के प्रगतिशील वातावरण से प्रभावित करने वाली हैं, हमे स्वागत करना चाहिए। पुराने जमाने की तरह गाँव आज नगरों से अलग नहीं हैं, फिर भी अभी सस्ते और सुगम परिवहन-साधनों के विकास के लिए नई सड़कों और रेलों की बड़ी आवश्यकता है। सभ्यता के विकास के एक साधन के रूप में डाकखानों का भी यहाँ वर्णन करना असंगत न होगा। लोगों के जीवन को डाकखाने किस सीमा तक प्रभावित कर सकते हैं, यह साक्षरता के प्रसार पर निर्भर है। डाक की सुविधाएँ स्वयं ही लोगों में साक्षर होने की इच्छा जागृत करती हैं और जो लोग साक्षर हो गए हैं उनकी साक्षरता बनाए रखने में सहायता देती हैं। डाकखानों के माध्यम से शिक्षा और मनोरंजन के दृष्टिकोण से तैयार किये गए दिलचस्प और सुरुचिपूर्ण बुलेटिनों द्वारा भी प्रचार का काम किया जा सकता है। डाकखाने की बचत-बैंक सुविधा से लोगों में मितव्ययिता की आदत पड़ती है और नकदी-सर्टिफिकेट के प्रचलन ने तो गाँव वालों की छोटी मात्रा की बचत का उचित आर्थिक उपयोग भी सम्भव कर दिया है। एक साधारण लाभ डाकखानों से यह भी है कि उनके द्वारा बीज तथा सस्ती कुनैन गाँव वालों मे आसानी से बाँटी जा सकती है। बेतार तथा रेडियो कार्य-क्रम गाँव वालों का बहुत मनोरंजन कर सकते हैं और उनके जीवन में आशातीत परिवर्तन पैदा कर सकते है।[१]

---

१. सन् १९४६ से ग्रामीण विकास सम्बन्धी प्रयोग सेवाग्राम (मध्यप्रदेश), बम्बई के सर्वोदय केन्द्र, मद्रास की फिरका विकास योजना तथा उत्तरप्रदेश में इटावा और गोरखपुर की अग्रगामी योजनाओं में किये गए हैं। इनकी सफलता के कारण ही योजना आयोग ने सामूहिक विकास योजना प्रारम्भ की है। इसके ऊपर ९० करोड़ रुपया खर्च करने की व्यवस्था की गई है। कालान्तर में राष्ट्रीय प्रसार-सेवा सारे

६. कृषि-मजदूर—भारतीय कृषि में वैयक्तिक तत्त्व का उपर्युक्त वर्णन मुख्यतः उस किसान के दृष्टिकोण से ही किया गया है जो स्वयं भूमि का स्वामी है और कृषि-कार्य करता है। विवेचन की पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय कृषि-व्यवस्था में खेती में लगाये जाने वाले मज़दूरों तथा जमीदारों के योग के विषय मे भी दो शब्द कह दिये जायँ। जहाँ तक किराये के मजदूरो का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि उनकी स्थिति असन्तोषजनक है। खेती में काम करने वाले मजदूरों मे से कुछ तो भूमिहीन मजदूर हैं। ऐसे मजदूरो का वर्ग यद्यपि छोटा ही है पर इसके विस्तृत होने की प्रवृत्ति दिखलाई पडती है। ऐसे भी मजदूर हैं जिनके पास कुछ खेतों के टुकडे हैं। ये खेत इतने छोटे है कि उनके स्वामियों को दूसरे लोगो के खेतों पर जीविका के लिए मजदूरी करनी पड़ती है। दोनों प्रकार के मजदूर बड़े मँहगे, अकुशल और

देश मे फैल जायगी और ग्रामोन्नति के कार्य में इससे सहयोग मिलेगा।

प्रारम्भ में २ अक्टूबर १९५२ को ५५ सामूहिक विकास योजनाएँ प्रारम्भ की गईं। प्रत्येक योजना के अन्तर्गत लगभग ३०० गाव होंगे जिनकी आबादी लगभग २ लाख होगी। इन गांवो का क्षेत्रफल ४५०-५०० वर्गमील होगा तथा खेती-योग्य भूमि १५०,००० एकड होगी। प्रत्येक योजना-क्षेत्र तीन विकास-समूहों में बांट दिया जाता है। पांच गांवो का एक समूह ग्राम-सेवक का सेवा-क्षेत्र होता है।

सामूहिक विकास योजना का उद्देश्य (१) हर प्रकार से कृषि-उत्पादन में वृद्धि करना, (२) गाँव वालो की बेकारी की समस्या को हल करना, (३) गाँव में संचार के साधनो की उन्नति करना, (४) प्रारम्भिक शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा आमोद-प्रमोद का प्रबन्ध, (५) घरों का सुधार, और (६) देशी हस्त-कला और छोटे पैमाने के उद्योगो का विकास करना है। वास्तव में सामूहिक विकास योजना का उद्देश्य ग्राम निवासियों के दृष्टिकोण को बदलना तथा उनमें रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने की इच्छा तथा दृढ निश्चय पैदा करना है, क्योंकि अन्ततोगत्वा ग्रामोन्नति ग्राम-निवासियो पर ही निर्भर है। सरकार अधिक-से-अधिक पथ-प्रदर्शन तथा विकास में सहायता ही कर सकती है।

२ अक्टूबर १९५३ से प्रारम्भ की गई राष्ट्रीय प्रसार-सेवा ग्रामोन्नति की दिशा में एक महत्त्व-पूर्ण कदम है। इसका प्रधान उद्देश्य कृषि की आधुनिक विधियों को किसानों तक पहुँचाना तथा उनके दृष्टिकोण को बदलना है। दस वर्ष में यह सम्पूर्ण देश में फैल जायगी।

सन् १९५१-५६ के बीच देश के लगभग एक चौथाई भाग या १२०० विकास-समूहो में विकास योजनाएँ फैल जायँगी। इनमें से लगभग ३०० समूह सामूहिक विकास-योजना के अन्तर्गत होंगे तथा शेष राष्ट्रीय प्रसार-सेवा के अन्तर्गत। राष्ट्रीय प्रसार-सेवा के अन्तर्गत १९५३-५४ में १८० समूह दूसरे वर्ष २७० समूह तथा योजना के अन्तिम वर्ष में ४०० समूहों को लेने की व्यवस्था है। इनमें से लगभग ४०० समूह सामूहिक योजनाओं की तरह गहन उन्नति के लिए चुन लिए जायँगे।

इन विकास-योजनाओं को कार्यान्वित करने का अधिकाश उत्तरदायित्व राज्यीय सरकारों पर है। राज्य में एक राज्य-विकास कमेटी होती है जिसमें मुख्य मंत्री, योजना मंत्री आदि सम्मिलित होते है। राज्य का विकास कमिश्नर (डिवेलपमेंट कमिश्नर) इस कमेटी का मंत्री होता है। जिले मे जिलाधीश की अध्यक्षता में एक जिला योजना कमेटी होती है जिसका मंत्री योजना अधिकारी (प्लानिंग आफीसर) होता है। जिले के उप विभागो में डिप्टीकलक्टरों को काम में सहायता देने के लिए विशेष सहायक नियुक्त कर दिये गए है ताकि वे योजना का कार्य देख सके।

ग्रामीण स्तर पर पंचायते भी विकास-कार्य में सहायता कर रही है। गाँवों की विकास मण्डल आदि संस्थाएँ भी इसी उद्देश्य से संगठित की गई है ताकि गांव वालो का दृष्टिकोण बदले और वे उन्नत अवस्था को प्राप्त हों।

अविश्वसनीय हैं। प्रवासन की वर्तमान सुविधाओं तथा रेलवे और सार्वजनिक निर्माण-कार्य, व्यापार तथा अन्य उद्योगों द्वारा मज़दूरों की अधिकाधिक माँग के कारण मज़दूरों की स्थिति विशेष रूप से दृढ़ हो गई है। इसके अतिरिक्त प्लेग और इनफ्लुएञ्जा आदि बीमारियों के कारण अधिक मौतें हो जाने से भी अस्थायी रूप से मजदूरों की संख्या में कमी पैदा हो सकती है। अन्त में यह भी प्रवृत्ति देखी गई है कि छोटे-छोटे भू-भागों के स्वामी कृषक अपनी आर्थिक स्थिति के तनिक भी अच्छी हो जाने पर स्वयं खेतों में काम करना छोड़ देते हैं और किराये के मज़दूरों पर निर्भर हो जाते हैं। इन कारणों ने मज़दूरों को अधिक परिश्रम के लिए प्रोत्साहित करने के स्थान पर उनकी मज़दूरी बढ़ा दी है। दुःख तो इस बात का है कि मज़दूरी बढ़ जाने पर मज़दूर अपने रहन-रहन का स्तर और कार्य-क्षमता बढ़ाने के बजाय कम काम करना पसन्द करता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मज़दूरों की कठिनाइयाँ भी वही हैं, जिनका वर्णन किसानों के सम्बन्ध में ऊपर किया जा चुका है। इसलिए वे उपाय जो गाँवों को पुनरुज्जीवित करने के लिए किये जायंगे, इनके लिए भी निस्सन्देह ही लाभदायक सिद्ध होंगे।

७. जमींदार और गाँव की अर्थ-व्यवस्था में उसका स्थान—सबसे बड़ी कठिनाई जो भारतीय कृषि को आक्रान्त किये हुए है, बुद्धिमानों और उद्यमी साहसियों का सहयोग तथा पूँजी का अभाव है जिसकी कृषि में सबसे अधिक आवश्यकता है। जीवन की आधुनिक सुख-सुविधाएँ—जैसे शिक्षा, सफ़ाई, पूर्णतया विकसित संचार-साधन—प्रायः नगरों का ही एकाधिकार हो गई हैं, यद्यपि इन सुविधाओं के लिए अधिकांश धन गाँवों से ही प्राप्त होता है। नगरों के बड़े-बड़े आकर्षणों और व्यापक उन्नति-अवसरों ने बहुत बड़ी संख्या में गाँव के बुद्धिमानों तथा साहसी व्यक्तियों को नगर में आ जाने की प्रेरणा दी है तथा गाँवों में जो स्थान रिक्त कर दिया है उसकी पूर्ति सरल कार्य नही है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि नगर के शिक्षित व्यक्तियों ने तथा जमींदारों ने अभी तक गाँव की समस्याओं को ठीक से अध्ययन करने तथा समझने और उनकी आवश्यकताएँ पूरी करके का प्रयत्न नहीं किया है। इन लोगों के ज्ञान, साधनों और साहस का योग गाँवों की उन्नति के लिए नहीं मिल पाया है। इस देश में नगर में रहने वालों की कृषि के प्रति अनभिज्ञता 'ऐसी वास्तविक, गहन और व्यापक है कि उनके प्रति सम्मान की दृष्टि से ही देखना पड़ता है।'[१] बैकवेल, बेट्स और 'टर्निप टाउनशैण्ड' जैसे महान् जमींदारों का नेतृत्व—१८वीं सदी के इंगलैण्ड की कृषि जिनकी ऋणी है—भारतीय कृषि को प्राप्त नहीं हो सका। बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त का प्रवर्तन करने वालों को यह आशा थी कि उससे बड़े-बड़े जमींदारों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो जायगा जो कि अपनी जमींदारी में रहेंगे और उनका व्यक्तिगत प्रभाव तथा

१. एच० कलवर्ट की 'वेल्थ एण्ड वेलफेयर ऑफ़ द पंजाब' पुस्तक के आमुख के पृष्ठ १ में उद्धृत ए० कार्वर के कथन से लिया गया। उपर्युक्त बातें इंगलैण्ड की स्थिति के सम्बन्ध में हैं, पर वे भारत के सम्बन्ध में भी उतनी ही लागू हैं। राधाकमल मुकर्जी का 'लैण्ड प्राब्लम्स ऑफ़ इण्डिया' पृष्ठ १२३ और १९३-९४ भी देखिए।

उनकी आर्थिक सहायता किसानों के लिए बहुत ही लाभकारी होगी। दुर्भाग्यवश यह आशा पूरी नहीं हो पाई। कुछ को छोड़कर अधिकांश जमींदारों ने अपनी जमींदारी की अपेक्षा दूरस्थ बड़े-बड़े नगरों में जाकर बसना अधिक पसन्द किया और उनका अपनी जमींदारी से सम्बन्ध केवल मालगुजारी वसूल करने तक ही सीमित रह गया। जमींदारों का काम काश्तकारों से प्रचलित नियमों के अन्तर्गत अधिकाधिक मालगुजारी वसूलना हो गया। उनका काम मालगुजारी खींचने वाले एक चूषण-पम्प के समान ही रह गया। बंगाल में ही नहीं वरन् सारे देश में जहाँ-कहीं जमींदार वर्ग है, उनमें ज़मीदारी से दूर रहने की प्रथा प्रायः प्रचलित हो गई है। जमीदारों के ज़मींदारी से अनुपस्थित रहने के विषय में कार्वर का कथन है कि "युद्ध, बीमारी तथा अकाल के बाद यदि सबसे अधिक हानिकारक काई बात गाँव-निवासियों के लिए हो सकती है तो वह ज़मीदारों का अपनी ज़मींदारी में न रहना है।"[1] यह बुराई उन भागों में, जहाँ ज़मींदारी है, बड़ा भयंकर रूप धारण कर लेती है, यद्यपि रैयतवाड़ी क्षेत्रों में भी इसका पूर्ण अभाव नहीं है। ज़मींदारों के व्यवहार को देखकर यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक भूमि की उन्नति से सम्बन्ध है, ज़मींदारों का वर्ग उसके प्रति राज्य से भी अधिक निस्संग तथा बाह्य अभिकरण के समान है। राज्य ने तो ऐसे आवश्यक कार्यों का भार अपने ऊपर ले रखा है, जैसे सिंचाई की सुविधाएँ देना, सड़कें तथा रेल बनवाना, कृषि-सम्बन्धी शिक्षा देना और तकावी ऋण बाँटना इत्यादि, पर जमींदार वास्तव में भूमि की उन्नति के लिए कुछ भी नहीं करता। कृषि की उन्नति के लिए यह सबसे अधिक आवश्यक बात है कि उसे ज़मींदार-वर्ग का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो। इससे अत्यधिक मालगुज़ारी वसूलना बन्द हो जायगा और ज़मींदार और किसान के बीच निजी सम्बन्ध स्थापित हो जायगा जिससे उन्नति तीव्रतर गति से होगी और दोनों का लाभ होगा। बड़े-बड़े ज़मींदारों के पास उन्नति के कम-से-कम दो साधन मौजूद हैं—पहला पूँजी और दूसरी बुद्धि। यदि उनमें वस्तुओं की सापेक्षिक उपयोगिता की नई धारणाएँ और जगा दी जायँ और वे यह समझने लगें कि नगरों में रहकर समय नष्ट करने की अपेक्षा गाँवों में रहने तथा गाँवों के पुनरुत्थान में सहयोग देने से अधिक सुख तथा लाभ है, तो हमें कृषि-सुधारों के लिए सर्वसाधारण की जागृति की प्रतीक्षा न करनी पड़ेगी जिसकी गति बहुत मन्द है। ज़मींदार सुधारों में अनेक ढंग से सहयोग दे सकते हैं। वे अपने घर पर फार्म खोल सकते हैं, पशुओं की नस्ल अच्छी करने के उद्देश्य से अभिजात पशु रख सकते हैं, अच्छा बीज पैदा कर सकते हैं और अधिक अच्छे औजारों का प्रयोग आरम्भ करा सकते हैं और अन्त में गाँव वालों को प्रगतिशील विचारों से अवगत करा सकते हैं। उनको स्वयं गाँव में रहकर शिक्षा तथा स्वच्छता-सम्बन्धी सुधारों द्वारा गाँवों को अधिक आकर्षक बनाने में सहायता देनी चाहिए।

८. भूमि-स्वामित्व के सहवर्ती कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व—यह बात सदा से मान्य रही है कि भूमि-स्वामित्व के साथ कुछ कर्तव्य और उत्तरदायित्व जुड़े हुए हैं। सिद्धान्त के आधार पर हमारे मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनी

१. टी० एन० कार्वर 'प्रिंसिपल ऑफ रूरल इकानॉमिक्स', पृष्ठ ३७७।

(जायण्ट स्टॉक कम्पनी) के हिस्सेदार की स्थिति, जो कि बिना प्रबन्ध में भाग लिये हुए केवल अपना लाभांश प्राप्त करके सन्तुष्ट रहता है, किस प्रकार किसी ज़मींदार से भिन्न है, जो कि उसी प्रकार मालगुजारी लेकर सन्तुष्ट रहता है और कुछ नहीं करता ? इसके उत्तर में पहली बात तो यह है कि यदि कम्पनी का हिस्सेदार प्रबन्ध में भाग लेता तो बहुत ही अच्छा होता; उसका प्रबन्ध में भाग न लेना ही कुप्रबन्ध का कारण और अनेक सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों के विनाश का कारण हुआ है। यह स्मरण रहे कि एक औसत हिस्सेदार के पास न तो इतनी बुद्धि ही होती है और न इतना अवकाश ही, कि वह अपनी कम्पनी के संचालन में समझदारी से सक्रिय भाग ले सके। फिर, वह अनेक हिस्सेदारों में से एक है, उसके व्यक्तिगत विचारों पर कम्पनी की स्थिति के अच्छे और बुरे होने का बहुत कम उत्तरदायित्व होता है। कोई हिस्सेदार कम्पनी के प्रबन्ध में सक्रिय रूप से सहायता नहीं देता इसलिए उस कम्पनी का प्रबन्ध करने वाला कोई भी नहीं है, ऐसी बात नहीं है। सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों की प्रबन्ध-कुशलता उस चरम सीमा पर पहुँच गई है कि हिस्सेदारों की उदासीनता के होते हुए भी उसका बहुत कुशल ढंग से नेतृत्व और संचालन हो सकता है। जहाँ तक मज़दूरों और अन्य कर्मचारियों का सम्बन्ध है, हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उनकी स्थिति किसानों की स्थिति से बहुत अच्छी है क्योंकि वे एक हो सकते हैं और अपनी माँगों को पूरा करवाने के लिए मज़दूर-संघ जैसी संस्थाओं की स्थापना कर सकते हैं। अन्त में, जैसा कि लार्ड केन्स ने कहा था 'आधुनिक जायण्ट स्टाक संस्थाओं की प्रवृत्ति, आज जब कि वे इतनी पुरानी और इतनी विस्तृत हो गई हैं, व्यक्तिगत संस्था के स्थान पर एक सार्वजनिक सामाजिक संस्था का रूप धारण कर लेने की हो गई है। ऐसी व्यवसाय-संस्थाओं की सामान्य स्थिरता तथा ख्याति का अधिक महत्त्व माना जाता है, लाभांश का स्थान तो गौण माना जाता है।'[1] ऐसी परिस्थिति में जनता की आलोचना से बचने के लिए मज़दूरों तथा उपभोक्ताओं के हित का ध्यान विशेष रूप से रखा जाता है। उपर्युक्त सभी बातों में भूमि की स्थिति सर्वथा भिन्न है, और यह मत कि सम्पत्ति चाहे जिस प्रकार की हो एक न्यास (ट्रस्ट) है, जिसकी व्यवस्था समाज द्वारा होनी चाहिए, अन्य प्रकार की सम्पत्ति की अपेक्षा भूमि के सम्बन्ध में अधिक लागू होता दिखाई पड़ता है। भारतीय जनता की वर्तमान असहाय अवस्था में तो इस विचार को प्रधानता देना तथा जमीदारों को ग्रामोन्नति के कार्यों के लिए एक बहुत ही प्रभावशाली तथा लाभदायक माध्यम बनाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। किसानों में जागृति फैलने के साथ-साथ यह समस्या आज पहले की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हो गई है। बहुत से राज्यों ने तो किसानों की जमींदारों से रक्षा करने के उद्देश्य से अनेक कानून या तो लागू कर दिये हैं अथवा लागू करने का इरादा कर लिया है। यदि जमींदार समय की माँग को न समझेंगे और उसके अनुसार न चलेंगे तो उनके लिए केवल पैतृक सम्पत्ति होने के नाते भूमि पर अपना अधिकार जमाए रखना और उसे न्यायोचित सिद्ध

१. लार्ड केन्स कृत 'द एण्ड ऑफ लेज़े फ़ेयर' पृष्ठ ४२-४३।

करना कठिन होगा।[1]

प्रविधि तथा उपस्कर

६. प्रविधि : कृषि की विधियाँ—भारतीय किसान प्रायः विस्तृत खेती की प्रणाली का अनुसरण करता है जो कि उसकी औसत जोत की छोटाई देखते हुए अनुपयुक्त है। इसी का परिणाम है कि उत्पादन जितना होना चाहिए उससे बहुत कम होता है। इस सम्बन्ध में भारतीय स्थिति का जापान की स्थिति से अन्तर बताते हुए सर एम० विश्वेश्वरय्या लिखते हैं कि "यद्यपि जापान खाद्यान्न की दृष्टि से पूर्णतया आत्मनिर्भर नहीं है फिर भी वह १७० लाख एकड़ भूमि पर ५६० लाख की आबादी का सामान्यतः भरण-पोषण करता है, अर्थात् प्रति व्यक्ति ⅓ एकड़ भूमि पर, जब कि भारत में प्रति व्यक्ति ⅚ एकड़ भूमि पड़ती है।" जापान में बड़ी कुशलता के साथ धनी खेती की प्रणाली पर करीब-करीब बाग लगाने की तरह ही खेती की जाती है और इसी प्रकार की धनी खेती अपनाने से भारतीय किसान का भी कल्याण हो सकता है। ऐसा करने में अन्य बातों के अतिरिक्त स्थायी उन्नति के साधनों, जैसे सिंचाई आदि, पर अधिक व्यय की आवश्यकता होगी और होशियारी के साथ बीजों का चुनाव करके अधिक लाभदायक ढंग से फसलों का हेरफेर करके तथा पर्याप्त मात्रा में खेतों में खाद देकर कृषि-कार्य को अधिक दक्षता से करना होगा। स्थायी उन्नति के साधनों और सिंचाई की सुविधाओं के विषय में तो पहले ही बताया जा चुका है। जहाँ तक खेती के कार्य में दक्षता का प्रश्न है यद्यपि कहीं-कहीं किसानों की दक्षता बहुत ही ऊँचे स्तर की दृष्टिगोचर होती है, परन्तु अधिकांश भागों में अभी भूमि के तैयार करने, बोने, गोड़ने, निराने, पौधों के बीच अन्तर डालने तथा फसल काटने के ढंगों में उन्नति करने की बहुत गुंजायश है। शुद्ध और अच्छी जाति के बीजों की बहुत बड़ी महत्ता है, पर प्रायः या तो किसान बीजों के चुनाव में काफी सावधान नही रहते अथवा इसकी महता जानते हुए भी अच्छे बीज प्राप्त नहीं कर पाते। बहुत सी बीज-समितियाँ और बीज बाँटने वाले फार्म हैं, पर इनकी संख्या देश के हर भाग में किसानों को पर्याप्त मात्रा में अच्छे बीज दे सकने के लिए कई गुणा अधिक करनी होगी। कृषि आयोग ने कृषि-निर्देशक (डाइरेक्टर ऑफ एग्रीकल्चर) के अधीन सहायक कृषि-संचालक की देखरेख में एक बीज बाँटने तथा बीजों की परीक्षा करने की अलग संस्था स्थापित करने की सम्मति दी थी।[2] फसलों के हेरफेर के कौशल में पहले की अपेक्षा निश्चित रूप से उन्नति हो गई है। तुरन्त लाभ प्राप्त कर लेने की आकांक्षा के कारण बहुत से स्थानों पर गेहूँ और रुई आदि की फसलों पर ही सारे प्रयत्न केन्द्रित कर दिए जाते हैं। यह अस्वस्थ मनोवृत्ति है और इससे अंत में हानि ही होती है। इसका दुष्परिणाम निस्सन्देह किसान का फसलों के विचारपूर्ण हेरफेर की आवश्यकता की ओर ध्यान आकृष्ट करेगा ही, पर प्रचार द्वारा भी इस दिशा में कुछ किया जा सकता है। इधर कुछ दिनों से

---

१. यह सेक्शन केवल उन्ही लोगों के लिए लागू समझना चाहिए जहाँ जमीदारी प्रथा का उन्मूलन अभी तक नही हो सका है।—अनुवादक

२. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा १०३।

रबी की फसल में मूँगफली की फसल का हेरफेर किया जा रहा है और इस फसल से तुरन्त लाभ प्राप्त कर लेने की सुविधा ने इसमें योग भी दिया है। फसलों में हेरफेर की नियमित प्रणाली में ढोरों के लिए चारा पैदा करने वाली फसलों को स्थान देने की सम्भावना पर, विशेष रूप से ढोरों के चारे की वर्तमान कठिनाई को ध्यान में रखते हुए, विचार करना आवश्यक होगा।

हमारे देश में कृषि के काम में आने वाले उपकरणों का विकास करने की बहुत आवश्यकता है। खेतों में काम करने के लिए पानी खींचने, आटा पीसने, तेल और गन्ना पेरने के लिए बैलों के स्थान पर अब यान्त्रिक शक्ति का प्रयोग होना चाहिए।

१०. खाद[1]—खाद तथा खेती की उर्वरा-शक्ति बढ़ाने वाली वस्तुओं का प्रयोग भूमि का उत्पादन बढ़ाने का बहुत बड़ा उपाय है, विशेषकर आज की परिस्थिति में जब इतने अधिक लोगों के पालन-पोषण का भार भूमि पर आ गया है। यदि, भूमि में पर्याप्त मात्रा मे खाद नही पड़ी है तो इसके लिए सदैव किसान ही दोषी नहीं है। यदि सिचाई के साधन अप्राप्य है तो सूखी भूमि को खाद देना बिलकुल बेकार है। यह भी सम्भव है कि जैसी खाद किसी भूमि-विशेष को चाहिए वैसी खाद प्रर्याप्त मात्रा में न मिल सके, या उसका मूल्य इतना अधिक हो कि उसका खरीदना साधारण किसान की शक्ति के बाहर हो। यह सब होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि भूमि को उचित खाद देने की तथा खाद के सुरक्षित रखने की समस्या के प्रति इस देश में बहुत उदासीनता दिखाई गई है। भारतीयों की हानिकारक आदतों में से एक गोबर को जलाने की आदत भी है। इसको रोकना परमावश्यक है, और यदि यह कहा जाय की कृषि-क्षेत्र के गोबर को बिना जलाए काम नही चल सकता[2] तो इसके लिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार जलाने के लिए अन्य प्रकार के ईंधन ढूँढ़ निकाले जायँ। गाँव के आस-पास बेकार पड़े हुए मैदानों में ईधन की जगह काम आने वाले पेड़ लगवाने चाहिएँ और यथासम्भव गाँव के निकट वन-विभाग तथा स्थानीय संस्थाओं द्वारा ईंधन-भण्डार स्थापित किये जाने चाहिएँ। ईधन की सप्लाई बढ़ाने के लिए जंगल लगवाने तथा उसके लिए सस्ते रेलभाड़े की सम्भावना पर पूरी तरह विचार होना चाहिए। पशुओं का मूत्र यों ही बहकर बेकार हो जाने दिया जाता है और विष्ठा को खाद की तरह प्रयोग करने की अभी भी लोगों में बड़ी अरुचि है यद्यपि धीरे-धीरे यह कम हो रही है। भारतीय किसान को चीनी तथा जापानी किसान से कम्पोस्ट खाद बनाने के सम्बन्ध में बहुत कुछ सीखना है। चीन में कोई भी ऐसा स्थूल पदार्थ नहीं जो अन्त में खाद के रूप में भूमि की भेंट न कर दिया जाता हो।

---

१. कृषि-आयोग रिपोर्ट, पैरा ८०-९५ देखिए; तथा एग्रीकल्चर एण्ड एनीमल हस्बेण्ड्री इन इण्डिया (१९३५-३६), इण्डिया इन १९३४-३५, पृ० १०-११ भी देखिए।

२. गाय के गोबर का ईंधन की तरह प्रयोग केवल इसीलिए होता है कि कोई दूसरा ईंधन प्राप्त नहीं है। कभी-कभी यह बात बडे अविचार और अरुचि के कारण भी होती है। उदाहरण के लिए पंजाब में यह विश्वास है कि बिना कण्डों पर दूध गरम किये हुए घी नही निकाला जा सकता। (देखिए, एफ० एल० ब्रेन कृत, रिमेंकिग ऑफ विलेज इण्डिया, पृ० ६।)

गाँव के कूड़े-करकट, ईख की खोइया, जलकुम्भी और गाँव में पाई जाने वाली अन्य वस्तुओं से किस प्रकार कम्पोस्ट खाद बनाई जा सकती है, इसकी छानबीन करनी चाहिए। इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासी छोटी-छोटी खाइयाँ खोदकर उनका शौचालय के रूप में प्रयोग करने लगें और गाँव के कूड़े-करकट आदि को भी उन गड्ढों में फेंका करें, जिससे गाँव की सफाई भी रहे और साथ ही खाद का सुरक्षण भी। विष्ठा तथा हरी पत्तियाँ तथा बटोरकर फेंके हुए कूड़े-करकट का यदि पूरा-पूरा प्रयोग खेती के लिए खाद के रूप में करना अभीष्ट है तो अनेक नगरों में प्रचलित पानी के बहाव के वर्तमान ढंग को पूर्णतया बदल देना होगा जिससे इस प्रकार की सभी खाद बनाने योग्य वस्तु बहकर नदी अथवा समुद्र की राह लेती है। कोयले के साथ मिलाकर विष्ठा का पाउडर के रूप में किसानों को खाद की तरह प्रयोग करने के लिए प्राप्त होना सबसे कम अप्रिय ढंग हो सकता है। इस सम्बन्ध में नासिक में जो ढंग अपनाया गया है उस पर अन्य नगरपालिकाएँ भी सोचें-विचारें तो उनका श्रम सार्थक हो सकता है। फसलों के हेरफेर में संयुक्त नाइट्रोजन की प्राप्ति के लिए शिम्बिकुल्य फसलों का महत्त्व भारतीय किसान को हमेशा से ज्ञात रहा है। कृषि-विभाग को इस बात की खोज करनी चाहिए कि किस प्रकार शिम्बिकुल्य फसलों का प्रयोग भूमि की उर्वरता बढ़ाने के लिए किया जा सकता है। हरे पत्तों वाली खाद के विषय में भी खोज आवश्यक है। हड्डी की खाद, मछली की खाद तथा वधशाला के कूड़े-करकट के प्रयोग के बारे में भी परीक्षा होनी चाहिए। वास्तव में भूमि की उर्वरता बढ़ाने वाली सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान होना चाहिए ताकि किसानों को उनके प्रयोग के सम्बन्ध में निश्चित सलाह दी जा सके। कार्बनिक तथा अकार्बनिक खाद किसानों को सस्ते दामों में मिल सके, इस बात का प्रयत्न होना आवश्यक है।

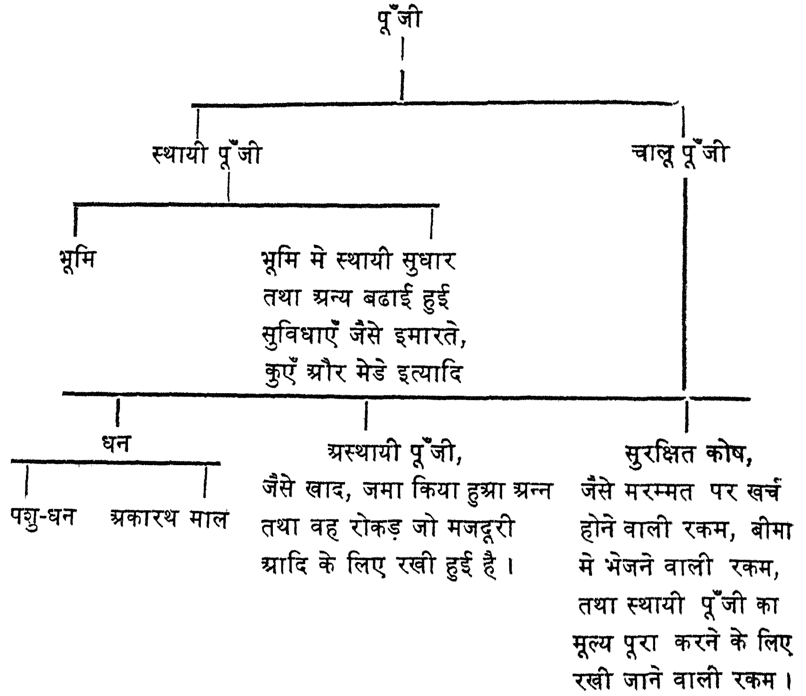
नहरों तथा अन्य साधनों द्वारा सींचे जाने वाले भागों में अमोनियम सल्फ़ेट, अस्थि-चूर्ण, मछली और खली आदि की खाद का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। इसके लिए हमें कृषि-विभाग के प्रचार-कार्य का कृतज्ञ होना चाहिए। यह निश्चय किया गया कि सिन्दरी में प्रतिवर्ष ३,५०,००० टन अमोनियम सल्फेट खाद तैयार करने वाला कारखाना खोला जाय। यह आशा की गई थी कि सन् १६५० के अन्त तक यह कारखाना पूरा उत्पादन करने लगेगा।[1]

उपस्कर

कीटिंग महोदय का निम्न वर्गीकरण भिन्न-भिन्न साज-सामान का विवरण देता है जो एक किसान के पास होना चाहिए :

---

१. सिंदरी के कारखाने से ७ फरवरी १६५२ से अमोनियम सल्फेट के बोरे बाहर जाने लगे हैं। दैनिक औसत उत्पादन १००० टन है।



कीटिंग का कथन है कि "अगर किसी व्यक्ति के व्यवसाय को सुदृढ़ रूप से चलाना है और भूमि से अधिक-से-अधिक लाभ लेना है तो ऊपर बताई हुई प्रत्येक प्रकार की पूँजी का चाहे जैसे भी हो, होना आवश्यक है; और प्रत्येक प्रकार की पूँजी को ठीक-ठीक समझने पर ही हिसाब ठीक ढंग से रखा जा सकता है तथा लाभ और हानि के वास्तविक सूत्रों को समझा जा सकता।"[१]

११. औज़ार[२]—भारतीय किसान आज भी अधिकतर प्राचीन सादे औज़ारों का प्रयोग करता है। ये औजार बहुत सस्ते, हल्के एक स्थान से दूसरे स्थान तक सरलता से ले जाने योग्य, सुगमता से बनाए जाने तथा बिगड़ने पर सुधारे जाने योग्य और खींचने वाले बैलों की शक्ति के अनुरूप हैं, परन्तु अधिक उत्पादन तो उन्नत औज़ारों के प्रयोग पर निर्भर है। लोहे के हल तथा गन्ना पेरने की चर्खी, छोटे-छोटे पानी खीचने वाले पम्प, पानी चढ़ाने वाली मशीन का प्रयोग किसी सीमा तक आरम्भ हुआ है पर इस दिशा मे अभी बहुत-कुछ करना बाकी है। अन्य अच्छे औज़ार, जिनका वितरण किया गया है कुदाल, फावड़े, बीज बोने के चोगे या नली और चारा काटने की मशीनें इत्यादि हैं। अमेरिकी कृषि की अधिकाधिक यन्त्रों के प्रयोग की रीति भारत के लिए अनुपयुक्त है, क्योकि यहाँ के किसानों के पास छोटे-छोटे भूमि के टुकड़े ही हैं। परन्तु ये कठिनाइयाँ सहकारी खेती तथा संयुक्त खेती प्रथा द्वारा बहुत-कुछ मिटाई जा सकती

१. रूरल इकानॉमी इन द बाम्बे डेकन, पृष्ठ १०३-४।
२. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा १०७-१० देखें।

हैं। बम्बई राज्य के दक्षिणी भागों में गहरी जड़ों वाली हारीची घास को उखाड़ने के लिए ट्रैक्टरों का प्रयोग किया जा रहा है। खेती के औज़ारों का अपने हाथों या पशुओं के द्वारा प्रयोग किया जाता है; उनके सुधार की भी बहुत आवश्यकता है। बड़ी संख्या में सभी किसानों द्वारा नये ढंग के औज़ारों के प्रयोग के लिए बहुत व्यापक और गहरे प्रचार की आवश्यकता है, क्योंकि किसी एक किसान द्वारा उनके प्रयोग करने में सबसे बड़ी बाधा उसकी हँसी उड़ाए जाने की तथा झक्की कहलाने की प्रथा है। विकसित औज़ारों के प्रयोग का प्रचार बढ़ाने का कार्य कृषि विभागों, कृषि-संस्थाओं तथा सहकारी समितियों के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत है। यह अत्यन्त वाञ्छनीय होगा कि ये सब संस्थाएँ मिलकर समन्वित रूप से कार्य करें। कृषि-विभागों को नये विकसित औज़ार सस्ते दामों पर देने की सम्भावना पर—जैसे उन औज़ारों के लकड़ी वाले हिस्सों को अधिक मात्रा में बनवाकर—विशेष रूप से विचार करना चाहिए। जिन औज़ारों का प्रयोग हो रहा है उनमें सुधार करने का ध्येय हमारे सामने होना चाहिए, न कि नये औजारों के आविष्कार का। अनावश्यक ढंग से औज़ारों की संख्या बढ़ाने से किसान भ्रान्ति में पड़ सकता है और उसके मन में कृषि-विभाग की सलाह के प्रति सन्देह उत्पन्न हो सकता है। रेल के अधिकारियों को भी कृषि-सम्बन्धी औज़ारों और मशीनों के किराये में छूट देने के प्रश्न पर अत्यधिक सहानुभूति से विचार करना चाहिए। कृषि-विभाग ने एक लाभकारी कदम उठाया है और वह है किसानों को सलाह देने के लिए और मशीनें—खास तौर से सिंचाई के यन्त्रादि—लगाने का प्रबन्ध करने के लिए कृषि-इंजीनियरों की नियुक्ति है। सस्ते और पाश्चात्य देशों की तुलना में सादे औज़ारों के बनाने के प्रति भी ध्यान दिया जा रहा है। नये औजारों से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि उन औज़ारों का देश में ही निर्माण हो और इस बात का आश्वासन हो कि उनके मरम्मत आदि के लिए उनके अतिरिक्त हिस्से भी यहीं प्राप्त हो सकेंगे। कृषि-आयोग ने यह सम्मति दी थी कि यदि लोहे और इस्पात पर लगाये हुए संरक्षण-कर के कारण भारत में लोहे से सामान बनाने में बाधा पड़ती है तो जो लोहा या इस्पात कृषि-सम्बन्धी औजारों और मशीनों के निर्माण के लिए विदेशों से मँगाया जाय उस पर छूट दे दी जाय। यदि इस ओर विशेष गम्भीरता से प्रयत्न किया जाय—जिसमें राज्य की ओर से देशी कार-खानों को आर्थिक सहायता भी सम्मिलित होगी—तो इन औजारों के लिए विदेशों पर निर्भरता बहुत-कुछ कम हो जायगी या उसका अन्त हो सकता है।[1]

१२. पशुधन[2]—भारतीय कृषकों के पशुधन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग उनके ढोर हैं। "उनके बिना किसान के खेत जोते नहीं जा सकते। उनके खत्ती और खलिहान खाली पड़े रहते हैं, और खाने-पीने का मजा अधूरा रह जाता है, क्योंकि शाकाहारी देश में घी, दूध

१. १९३८ की उद्योग-मन्त्रियों की दिल्ली कॉन्फ्रेन्स ने औजारों के देश में बनाये जाने पर बहुत जोर दिया था।

२. देखिए, एग्रीकल्चर एण्ड एनीमल हस्बैण्डरी इन इण्डिया (१९३५-३६), पृ० २४२-५४, तथा एनुअल रिपोर्ट ऑफ द डिपार्टमेण्ट ऑफ एग्रीकल्चर, बम्बई (१९३९-४०), पैरा ५०-६१।

और मक्खन न मिलने से अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है ?"[1] भारत में हल प्रायः सर्वत्र बैलों ही द्वारा चलाए जाते हैं और पानी खींचने का भी काम उन्हीं के द्वारा चलता है। उन्हीं से खाद—जिसका कि खेतों में प्रयोग होता है—प्राप्त होती है। बैलगाड़ी हाँकना भी—और गाँवों में यही एक सहायक धन्धा है—इन्ही पर निर्भर है। भार-वहन करने के लिए स्वस्थ और बलिष्ठ पशुओं की आवश्यकता है। व्यवस्थित डेरी उद्योग के विकास के लिए, जिसे लोग भारत के गाँव वासियों के लिए बहुत ही लाभदायक सहायक उद्योग समझते है, पशुओं के सुधार की बड़ी आवश्यकता है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि भारत जसे शाकाहारी देश के लिए, जहाँ दूध ही एक ऐसा सुलभ पदार्थ है जो लोगों के भोजन को स्वास्थ्यप्रद बना सकता है, दूध का प्राचुर्य अनिवार्य है। स्वस्थ और प्रचुर पशु-धन की भारत को कितनी अधिक आवश्यकता है, इस बात के महत्त्व को समझते हुए भी इस सम्बन्ध में अभी बहुत-कुछ करना बाकी है।[1] यद्यपि देश में पशुओं की संख्या आवश्यकता से अधिक है पर प्रायः वे इतने निर्बल और भूखे रहते हैं कि देश में पशु-शक्ति की बहुत बड़ी कमी आ गई है। प्रति १०० एकड़ जोती-बोई भूमि के पीछे ६७ पशु रहते हैं। जोती जाने वाली भूमि के स्वरूप, कूप द्वारा सिंचाई की सीमितता, झाड़ी और जंगलों के क्षेत्र का विस्तार, गाँव की जनसंख्या तथा खेतों का क्षेत्रफल आदि प्रतिकूल बातों को ध्यान में रखकर भी यदि अन्तर्राज्यीय पशुओं के वितरण पर विचार करें तो हम देखेंगे कि वह अत्यन्त विषम है। साधारण औसत का विचार करते हुए कृषि आयोग ने यह कहा था कि भारतीय पशु चाहे जितने दृष्टिकोणों से हीन हों पर संख्या में तो वे बढ़े-चढ़े ही हैं। देश के विस्तार के दृष्टिकोण से हालैण्ड में सबसे अधिक पशु हैं फिर भी उनकी संख्या प्रति १०० एकड़ खेती की भूमि पर ३८ ही है। मिश्र देश में भी, जहाँ पर खेती की परिस्थितियाँ हालैण्ड की अपेक्षा भारत के भू-भागों में पाई जाने वाली परिस्थितियों से अधिक समानता रखती हैं, प्रति १०० एकड़ २५ पशु पाये जाते हैं।[3]

कृषि-आयोग के मतानुसार भारत में पशुओं की संख्या एक दुरन्त-चक्र का-सा आभास देती है। "किसी जिले के पशुओं की संख्या बैलों की माँग द्वारा नियमित होती

१. डार्लिङ्ग, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ ३०।

२. सन् १९१९-२० में सबसे पहली पंचवर्षीय पशुगणना ब्रिटिश भारत में की गई थी। जनवरी १९३५ में की गई चौथी पंचवर्षीय गणना की रिपोर्ट से यह प्रकट हुआ कि उस समय ब्रिटिश भारत में १५,३७,४५,००० गाय बैल थे। इस बार १९३० की गणना से करीब ५० लाख पशु संख्या में अधिक थे। इनमें से बहुत से आर्थिक दृष्टि से बेकार है। इसके बाद की पंचवर्षीय गणना १९३९-४० में हुई जिसमें पशुओं की संख्या १४,७४,२४,००० बताई गई, पर यह संख्या बहुत से राज्यों और रियासतों के इस गणना में भाग न लेने के कारण अपूर्ण ही मानी जायगी। देखने से सन् १९४० की गणना के अनुसार पशु-संख्या में कमी लगती है जिसका कारण सन् १९३० में बाद के कृषि की पैदावार के मूल्य में कमी को बताया जाता है—फैमीन इन्क्वायरी कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ १७६-७७; इण्डियन ईयर बुक (१९४१-४२) पृष्ठ ३३० भी देखिए।

सन् १९५१ की पशु-गणना के अनुसार भारत में पशुओं की संख्या १५,५०,९९,००० थी।

३. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा १८८।

हैं। अच्छे पशुओं के पालन-पोषण की दशा जितनी ही बुरी दिखाई पड़े उतनी ही अधिक संख्या में पशु पाले जाने की प्रवृत्ति होती हैं। गौओं में सन्तानोत्पत्ति की योग्यता घट जाती है और उनके बछड़े नाटे कद के हो जाते हैं जिनसे किसान असन्तुष्ट रहता है, और काम आने लायक बैलों की प्राप्ति की आशा से अधिकाधिक बच्चे पैदा करवाता है। ज्यों-ज्यों पशुओं की संख्या बढ़ती जाती है अथवा यों कहिए कि खेतों का विस्तार बढ़ते-बढ़ते अच्छे घास के मैदानों का अतिक्रमण करने लगता है। चारे की कमी के कारण गौएँ और अधिक दुर्बल होती जाती हैं और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति सामने आ जाती है कि दूसरे राज्यों से बैल अथवा भैंसे खेती के काम के लिए मँगाए जाते हैं जैसा कि बंगाल में होता है।"[1]

१३. चारे की समस्या—भारत में पशुओं से केवल अधिक काम ही नहीं लिया जाता इसके साथ ही उनको भरपेट भोजन भी नहीं दिया जाता। यूरोप में पशु के लिए भोजन जुटाने का उत्तरदायित्व पशु के स्वामी का ही होता है। भारत में ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो कदाचित् ही कोई किसान अपने पशुओं को स्वस्थ रखने का प्रयास करता दिखाई पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह प्रयास समय-समय पर अनावृष्टि होने से तथा चारे का अकाल पड़ने से बड़ा कठिन हो जाता है। दिसम्बर से जुलाई तक भारत के अधिकांश भागों में चारे की कमी रहती है। पशुओं की दशा मार्च और जून के बीच बहुत बुरी हो जाती है जबकि वे सूखे खेतों में तिनके चरते हुए दिखाई पड़ते हैं और अधिकांश पशु वर्षा होते-होते हड्डी की ठठरी-मात्र रह जाते हैं। जैसे ही वर्षा आरम्भ हो जाती है और हरी घास अंकुरित होने लगती है, वे खूब खाना आरम्भ कर देते हैं, और उसके परिणामस्वरूप तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। कीटिंग का यह कथन कि भारतवासियों के लिए चारे की उचित खेती, उसकी सुरक्षा तथा उसके आर्थिक प्रयोग का पाठ सीखना सबसे महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में अनाज-उत्पादन से अधिक महत्त्व की समस्या चारे के उत्पादन की है, क्योंकि चारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने बड़े आकार और कम मूल्य के कारण आसानी से नहीं ले जाया जा सकता। विस्तृत हरे घास के मैदान वाला पुराना युग अब नहीं रहा और न अब उसके फिर से आने की आशा ही की जा सकती है, क्योंकि अब कृषि का बहुत अधिक विस्तार हो गया है। वर्तमान घास के मैदानों का क्षेत्रफल तो नहीं बढ़ाया जा सकता परन्तु यह सम्भव है कि उस जमीन की उत्पादकता बढ़ाई जाय जिसमें अभी घास उगती है। यदि वन-विभाग पशुओं के चरने की तथा चारे की अधिक सुविधा प्रदान करके कुछ अधिक सहानुभूति दिखाए तो स्थिति कुछ सुधारी जा सकती है। चारे का अकाल पड़ने पर जंगल से चारा प्राप्त कर सकने की सम्भावना की अच्छी तरह जाँच होनी चाहिए तथा चरने की सुविधा की अपेक्षा घास काट लेने की अनुमति देना अधिक उपयोगी समझना चाहिए। गाँव में सबके काम आने वाला चारे का मैदान एक तो बहुत छोटा होता है, दूसरे गाँववालों की लापरवाही के कारण तरह-तरह के निरर्थक पेड़-पौधों और झाड़ियों के उग आने से उसका क्षेत्रफल और भी कम होता जाता है। हमारे

१. वही, पैरा १६८।

विचार से तो सभी चरागाहों का अधिक-से-अधिक अच्छा उपयोग किया जाना चाहिए तथा उनमें खाद डालकर, बीज बोकर तथा चराई और खाद के आवर्तन से उनकी उपयोगिता बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। हरे चारे की इतनी अधिक कमी को देखकर यह आवश्यक लगता है कि मिश्रित कृषि की सम्भावनाओं पर और विचार किया जाय। अब यह परमावश्यक हो गया है कि लोग इस बात की महत्ता को समझें कि मिश्री क्लोवर घास तथा शिम्बिकुल्य आदि चारे की फसलों की भी खेती की जानी चाहिए तथा घास के मैदानों को कायम रखना चाहिए। घास को सुखाकर सुरक्षित रखने अथवा हरी घास को ही संहरितालयों (सायलों) में सुरक्षित रखने की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। यह प्रयत्न होना चाहिए कि चारे का एक तृण भी व्यर्थ न जाय। इसके लिए चारा काटने की उपयुक्त मशीनों का प्रयोग होना चाहिए। सरकार को चाहिए कि पशुओं को बहुत अच्छे ढंग से रखने तथा चारे को सुरक्षित रूप से रखने की आदत को इनाम देकर, मालगुजारी से छूट देकर या किसी और ढंग से प्रोत्साहन दे। चारे के आर्थिक प्रयोग में बेकार पशुओं की संख्या की कमी निहित है। लोग बहुत बडी संख्या मे लंगड़ी-लूली तथा लाती हुई गायें आधा पेट खिलाकर पाले रहते हैं। पाश्चात्य देशों में तो भोजन के लिए उनका वध कर दिया जाता है। भारत में ऐसे पशुओं के माँस की माँग बहुत ही कम है और बेकाम पशुओं के मारने के विरुद्ध किसान तथा सर्वसाधारण की भावना प्रबल है। किसान उनको मारता तो नही पर उनको भूखा रखने में उसे कोई आपत्ति नही है। इस सम्बन्ध में किसान के विचारों का सार यह है कि "तुम उन्हें मार नहीं सकते, पर उनको जिन्दा रखने के लिए प्रयत्न करने की भी आवश्यकता नहीं।" यदि इस सम्बन्ध में भारतीय किसान पाश्चात्य किसानों की ही तरह सोचने लगता तो यह उसके तथा उन पशुओं के लिए, जो ऐसी दुर्दशा में जीवित रखे जाते है, बड़े हित की बात होती। परन्तु लोगों का यह विचार इतना गहरा है कि हमें सुधार के लिए अभी बहुत दिन प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। दूसरा ढंग चारे के अभाव को दूर करने का युग्म-उद्देश्य वाले पशुओं के प्रजनन का विकास करना है जिसके कारण भैसें दूध देने के लिए आवश्यक हो जायँगी।[1]

१४. पशु-अभिजनन—भारतवर्ष में प्राचीन युग में सर्वत्र पशुओं की नस्ल सुधारने वाले व्यक्ति पाये जाते थे, जिनका व्यवसाय ही यह था। परन्तु अब खेती के विस्तार के कारण चरने की सुविधा अप्राप्य हो जाने से उनकी संख्या बहुत कम हो गई है और अब पशु पालने के साथ-साथ पशु-अभिजनन उसका आवश्यक अंग न होकर केवल संयोग की बात रह गई है। जनता में जिस ढंग पर प्रायः पशुओं का अभिजनन और पालन-पोषण हो रहा है उससे पशुओं की दशा उत्तरोत्तर गिरती जा रही है, जिसकी रोक के लिए यह आवश्यक है कि हमें निरन्तर पर्याप्त संख्या मे अच्छे साँड़ों (वृषों) की उपलब्धि होती रहे। बैलों के नस्ल-सुधार के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें अनिवार्य रूप से बधिया

१. कृषि आयोग ने इस सम्बन्ध में चेतावनी दी थी कि भारत में साधारण प्रजनन की कठिनाइयों के कारण द्वि-उद्देश्य वाले प्रजनन के प्रयत्न में साधारण प्रजनन का कही विनाश न हो जाय (रिपोर्ट, पैरा १६७)।

कर दिया जाय। पशु-चिकित्सा विभाग ने इधर कुछ दिनों से इस महत्त्वपूर्ण कार्य का आरम्भ ऐसे ढंग से कर दिया है जिससे लोगों की धार्मिक भावना को किसी प्रकार का आघात नही पहुँचता।[1] उत्कृष्ट अभिजनन तथा संकरण के लिए पशुओं को अलग बन्द रखने की आवश्यकता है। गुजरात में पशुओं की हालत अच्छी है। इसके विपरीत दक्षिण देश में आधे और चौथाई डीलडौल के पशु उल्टी ही स्थिति प्रदर्शित करते है। इस अन्तर का कारण यह है कि गुजरात मे पशुओं को अलग बन्द रखने की रीति है। कुछ स्थानों में सहकारी अभिजनन समितियाँ स्थापित की गई है पर कुछ अधिकारियों का मत है कि इस प्रकार के कार्य में व्यक्तिगत रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है और इसलिए यह काम सहकारी समिति की सहायता से नहीं हो सकता। केन्द्रीय और प्रादेशिक कृषि-मन्त्री पशु-अभिजनन की समस्या पर विशेष रूप से ध्यान दे रहे है ताकि कुछ ही समय में दूध देने वाले और भार वहन करने वाले दोनों प्रकार के उत्कृष्ट पशुओ की संख्या बढ़ जाय। केन्द्रीय और राज्यीय फार्मो में अभिजनन का कार्य किया जा रहा है (मद्रास मे होसुर के ढोर-फार्म तथा पंजाब में हिसार के ढोर-फार्म का नाम विशेष उल्लेखनीय है) ताकि उत्कृष्ट अभिजनन और उत्तम चारे की प्राप्ति तथा देशी और यूरोपीय अभिजात वृषों के संकरण के कारण अधिक दूध की उपलब्धि हो सके।[2] कृषि-अनुसन्धान-संस्थान (एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) में जो कि १९३८ में पूसा से नई दिल्ली ले आया गया है, इन ढंगों को अपनाने से शुद्ध साहीवाल नस्ल की गायों का दूध बहुत अधिक बढ़ गया है, और जो प्रयोग वहाँ पर किये जा रहे है, आशा है उनके परिणामस्वरूप सहीवाल-आयर शायर नस्ल के पशु उत्पन्न होंगे जो भारतीय परिस्थितियों को सहने की कड़ी क्षमता में पूरे उतरेंगे। बड़े-बड़े जमीदारों की अरुचि इस दिशा में प्रगति की बाधक है, इसलिए इस कठिनाई पर बड़े-बड़े पदधिकारियों की सहायता से विजय पानी चाहिए, क्योंकि वे प्राय जमींदारो पर प्रभाव डाल सकते है। जमीदारों के लड़कों को यदि अधिक प्रयोगात्मक और वैज्ञानिक शिक्षा दी जाय तो यह आशा की जा सकती है कि गाँव के आर्थिक जीवन के प्रति जमीदारों की उदासीनता मिट जायगी।[3]

---

१. बम्बई के १९३३ के 'लाइव स्टॉक इम्प्रूवमेंट ऐक्ट' ने यह सुविधा दे रखी है कि गावो में नाटे बैलों को अनिवार्य रूप से स्थानीय संस्थाओ के कहने पर वधिया कर दिया जाय। १९४० में यह कानून ७७ गाँवों में लागू किया गया था। ऐसा कहा जाता है कि गाव वालों के सहयोग से इस कानून का बड़ा सन्तोषजनक प्रयोग गाँव के पशुओं के स्तर को बढाने में हुआ है।—बम्बई की कृषि-विभाग की वार्षिक रिपोर्ट (१९३९-४०), पैरा ५४।

२. देखिए, इण्डिया इन १९३४-५, पृष्ठ १७।

३. पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत पशुओ के सुधार और उन्नति के लिए अनेक व्यवस्थाएँ की गई है। इनके अन्तर्गत 'आधार-ग्राम' योजना (की विलेज स्कीम), गोसदन की स्थापना तथा पशु-चिकित्सालयों का खोलना आदि है।

आधार-ग्राम योजना के अन्तर्गत सारे देश मे इस प्रकार के कुछ केन्द्र खोले जायेंगे। प्रत्येक केन्द्र में ३-४ ग्राम सम्मिलित होगे। इन केन्द्रों में अभिजनन केवल श्रेष्ठ जाति के सांड़ो तक ही सीमित रहेगा तथा अन्य सांड या तो हटा दिये जायेंगे या नपुंसक कर दिये जायेंगे। सांड़ो की संख्या कम करने के

१५. पशु-चिकित्सा विभाग—पशुओं की बीमारियों से बहुत अधिक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हानि होती है। पशुओं की मृत्यु से होने वाला घाटा गाँव वालों के कर्ज में दबे रहने का एक बहुत बड़ा कारण है। जीवित बचे रहने वाले पशुओं की अशक्तता और भी अधिक गम्भीर विचारणीय समस्या है। पशुओं के जीवन की अनिश्चितता किसानों को आवश्यकता से अधिक पशु पालने के लिए विवश करती है जिन्हें वह भरपेट चारा तक नहीं खिला सकता, इसलिए पशुओं की उत्कृष्टता की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। जमींदारों के मन में पशु-अभिजनन के कार्यों के प्रति अरुचि होने का यह भी एक कारण है।[1] अब हमें पशुओं की भयानक मृत्यु-संख्या और बीमारी कम करने के लिए किये जाने वाले पशु-चिकित्सा-विभाग के कार्यों पर दृष्टिपात कर लेना चाहिए। पशु-चिकित्सालय तथा अन्य चिकित्सालयों में जितने पशुओं की चिकित्सा होती है तथा इधर-उधर घूमने वाले जितने पशुओं का डाक्टरों द्वारा उपचार किया जाता है, उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इससे यह प्रकट होता है कि जनता चिकित्सा-विभाग की इस आवश्यक सेवा का मूल्य समझने लगी है।[2] पशु-चिकित्सा-विभाग की रोगाक्रान्त क्षेत्रों में पशुओं को अनिवार्य रूप से सीरा और वेक्सीन का टीका लगाकर संक्रामक रोगों से निर्भय कर देने वाली सेवा कम महत्त्व की बात नहीं है। यहाँ पर भी किसानों की टीका लगवाना नापसन्द करने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम हो रही है, क्योंकि अब उनकी समझ में इस उपचार की उपयोगिता आ गई है। मद्रास में पशु-महामारी (रिण्डरपेस्ट) को रोकने का प्रयत्न किया गया है। इस बीमारी का भारतवासियों को सबसे अधिक भय है। उसी राज्य में ज़िलाधीश द्वारा नामांकित गांवों में सीरम का टीका लगाने की बात कानून द्वारा वैध मान ली गई है। चूँकि यह बीमारी सर्वत्र फैल जाती है इसलिए बीमार पशुओं को अलग करके रखना भी असम्भव है; और स्वस्थ पशुओं को बीमारी लग जाने पर मरवा डालने की बात तो हिन्दुओं में सोची भी नहीं जा सकती। इसलिए बीमारी के उद्गम के विनाश करने की अपेक्षा पशुओं को ही बीमारी से बचाने का प्रयत्न करना चाहिए। टीका लगवाना अनिवार्य कर देना

लिए कृत्रिम गर्भाधान का प्रयोग भी किया जा रहा है। योजना की अवधि में ६०० आधार-ग्राम योजना तथा १५० कृत्रिम-गर्भाधान केन्द्र खोले जायँगे। सन् १९५३-५४ के अन्त तक ३४५ आधार ग्राम तथा ११२ कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र स्थापित किये गए।

गोसदनों की स्थापना का उद्देश्य वृद्ध तथा अनुत्पादक पशुओं को अलग करना है। योजना के अन्तर्गत १६० गोसदनों की स्थापना की व्यवस्था है जिसमें १८ गोसदनों की स्वीकृति १९५२-५३ में दी जा चुकी है जिसमें से केवल १० गोसदन १९५३-५४ के अन्त तक स्थापित हुए। सन् १९५३ में केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित गोसंवर्धन की केन्द्रीय-परिषद् की रजिस्ट्री की गई।

लखनऊ में सन् १९५१ में खाद्य और कृषि संस्था (एफ० ए० ओ०) के सम्मेलन में भी, जिसमें १३ देशों ने भाग लिया था, राज्य सरकारों द्वारा अन्वेषण-केन्द्र तथा प्रयोग के लिए पशुओं के आयात आदि की सिफारिशें की थी ताकि पशुओं में सुधार हो। उनका विचार था कि प्रत्येक देश को अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार ही पशु रखने चाहिएँ।

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २३६।

२. एग्रीकल्चर एण्ड ऐनीमल हस्बैण्डी इन इण्डिया (१९३५-३६), पृष्ठ २४८-९।

तो वर्तमान समय में अनुपयुक्त होगा। इसलिए कृषि विभाग ने रिण्डरपेस्ट महामारी के नियंत्रण के लिए टीका लगाने की 'सीरम एलोन' प्रणाली की तुलना में 'सीरम साइ-मल्टेनिअस' प्रणाली को प्रयोग में लाने की सम्मति दी है।[1] निरोधक टीके के लिए कोई फीस लेने की आवश्यकता न होनी चाहिए। भारत में पशु-चिकित्सा की सुविधाएँ बहुत ही कम हैं, इसलिए कृषि-आयोग ने हर ज़िले में छोटे-छोटे दवाखानों के साथ केन्द्रीय पशु-चिकित्सालय खोलने की सिफारिश की थी, जो ज़िले के अन्दर गाँवों में अपना काम करे। इन दवाखानों में काम करने वालों की संख्या बढ़ाकर उन्हें गाँवों में दौरा करने का काम भी देना चाहिए। पशु-चिकित्सा सम्बन्धी सभी ग्रेड के पदाधिकारियों की संख्या में वृद्धि होनी आवश्यक है। मुक्तेश्वर इन्स्टीट्यूट[2] में पशु-चिकित्सा सम्बन्धी शोध केन्द्रित होना चाहिए।[3]

१६. सुरक्षित पूँजी[4]—यदि भारतीय कृषि को सुदृढ़ व्यापारिक नियमों के अनुसार व्यवस्थित करना है तो अन्य उद्योगों की तरह उसकी भविष्य की आवश्यकताओं का प्रबन्ध तथा बीमा और देय-शोधन-कोष की स्थापना करना आवश्यक है। यह तो सर्वविदित है—विशेषकर ऐसे भागों में जहाँ पर वर्षा अनिश्चित है, जैसे बम्बई (दक्षिण)—कि कृषि में नियमित रूप से अच्छी, साधारण और खराब फसलों के वर्ष आवर्तन में आया करते हैं। अकाल जैसी बिपदाओं का सामना करने का उचित प्रबन्ध न होने के कारण इनसे जनित कठिनाई व दुर्दशा और भी अधिक हो जाती है। इसी प्रकार अनुत्पादक कर्जों को अदा करने की भी कोई नियमबद्ध प्रणाली नहीं है और न औजारों तथा खेत में किये हुए स्थायी सुधारों को पूरा करने का ही कोई ढंग दिखाई पड़ता है।

---

१. पदाधिकारियों का विश्वास है कि नियमित रूप से काम करने से अब ऐसी स्थिति आ गई है कि यदि आवश्यकतानुकूल संख्या में काम करने वाले व्यक्ति मिल जायँ तो पशुओं की महामारी रोग की रोकथाम अपेक्षाकृत बहुत कम खर्चे में ही की जा सकती है।

२. कृषि आयोग की रिपोर्ट, पैरा २३७।

३ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत पशु-चिकित्सालयो की संख्या इस प्रकार बढ़ाने की व्यवस्था है ताकि १९५५-५६ में उनकी संख्या बढ़कर २६४० हो जाय। योजना की प्रगति सम्बन्धी रिपोर्ट (१९५३-५४) के अनुसार निम्न राज्यों में जो नये पशु-चिकित्सालय खोले गए उनकी संख्या नीचे दिखाई गई है—

हैदराबाद	५२
पैप्सू	२५
विन्ध्यप्रदेश	१८
हिमाचलप्रदेश	७
मध्यप्रदेश	४७
उड़ीसा	१०
बिहार	१४
कुल	१७३

राजस्थान और मध्यभारत में कोई नये चिकित्सालय नही खोले गए, यद्यपि वहाँ उनकी बहुत आवश्यकता है। बम्बई और आसाम में भी कोई नये चिकित्सालय नही खोले गए। शेष राज्यों से इस सम्बन्ध में सूचना प्राप्त नहीं है।

४. देखिए, कीटिंग, पृष्ठ १४१-४५।

यदि इन आवश्यकताओं के लिए कोई देय-शोधन-कोष का प्रबन्ध किया गया हो तो उस धन को बेकार अथवा रोकड़ में रखने की आवश्यकता नहीं है। उसका प्रयोग पशु-अभिजनन अथवा ईंधन के लिए पेड़ लगवाने में कर लेना उचित होगा जहाँ से आवश्यकता पड़ने पर रुपया तुरन्त वापस किया जा सके।

भारत में कृषि-बीमा की जड़ें अभी गहरी नहीं उतर पाई हैं। पर यह तो मानी हुई बात है कि भविष्य में चारे के प्रबन्ध के लिए, कृषि-क्षेत्र-भवन के निर्माण के लिए, फसलों तथा पशुओं के हित में इनका बीमा करा लेना एक अत्यन्त आवश्यक पूर्वोपाय है। पशुओं और चारे के सम्बन्ध में बीमा अत्यन्त आवश्यक है। खलिहान में बहुधा आग लग जाने तथा पशुओं के मर जाने के कारण आवर्ती हानियाँ बेहद होती हैं। सहकारिता के आधार पर पशु-बीमा का आरम्भ हाल ही में हुआ है। बीमा और देय-शोधन-कोष का नियमित रूप से प्रबन्ध न हो सकने पर, जिसके किसानों द्वारा अपनाये जाने के लिए बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, दूसरी सर्वोत्तम योजना किसानों को अपनी जोत पर इमारत बनाने के लिए प्रोत्साहित करना होगा, "ताकि वह अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए उस स्थान उपस्थित रह सके, अकाल से पशुओं की रक्षा के लिए चारा सुरक्षित रख सके, यदि कभी कोई संक्रामक रोग फैल जाय तो अपने पशुओं को उसी में रखकर बीमार पशुओं से दूर रख सके और एक सिंचाई के लिए कुआँ बनवा सके जिसके प्रयोग से वह अनावृष्टि-काल में अपने को बेकारी से बचा सके।"[1]

संगठन

१७. ग्रामीण उद्योगों की महत्ता—कृषि को व्यवस्थित करने की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि किसी और उद्योग को, पर भारतीय कृषि आन्तरिक और बाह्य संगठन के दृष्टिकोण से बड़ी दुरवस्था में है। आन्तरिक संगठन की कुछ समस्याओं, जैसे आर्थिक जोत, स्थायी सुधार आदि पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। दूसरा बड़ा दोष सहायक उद्योगों का अभाव है।

कृषि-कर्म के ऋतु पर निर्भर होने के कारण बहुत अधिक मात्रा में कृषि-श्रम व्यर्थ हो जाता है। उन भागों को छोड़कर जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ प्राप्त हैं और जहाँ पर किसान के लिए यह सम्भव है कि वह 'हर महीने में कुछ-न-कुछ बो और काट ले अथवा निराई और सिंचाई में व्यस्त रहे', अन्यत्र साधारणतया किसान को पूरे वर्ष-भर काम करने का अवसर नही होता है। यह अवकाश-काल कितना होता है इस बारे में भिन्न-भिन्न अनुमान लगाये गए हैं जो प्रतिवर्ष १५० दिन से लगाकर २७० दिन तक के हैं। श्री ई० एच० एच० ऐडी ने, जो कि उत्तरप्रदेश के जनगणना अधिकारी थे, अपनी १९२१ की रिपोर्ट में लिखा कि "इस देश की अधिकांश जनता खेतिहर है और यहाँ खेती करने का अर्थ प्रतिवर्ष दो फसलें बोने और काट लेने से है। इंगलैंड में प्रचलित मिश्रित कृषि जैसी कोई चीज यहाँ देखने को नहीं मिलती। इस प्रकार के कृषि-कर्म में थोड़े-थोड़े दिन के लिए बड़े कठिन परिश्रम की आवश्यकता होती है—प्रायः दो बार बोना और दो बार काटना तथा वर्षा काल में कभी-कभी निराना और शीतकाल

१. देखिए, कीटिंग, पृ० १४५।

में तीन बार सिंचाई करना—और वर्ष में शेष समय हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना ही भारतीय किसानों का कार्यक्रम है। संदिग्ध वर्षा वाले भागों में सम्पूर्ण ऋतु-भर अथवा पूरे वर्ष-भर भी वे बेकार रह सकते हैं। यह काल प्रायः आलस्य में ही बिता दिये जाते हैं।" डॉ० स्लेटर के अनुसार सारे दक्षिण के भू-भागों को ध्यान में रखते हुए किसानों के लिए जो काम का काल नियत समझा जाता है उसका केवल ५/१२वाँ भाग ही वास्तविक रूप से काम का समय है। श्री जे० सी० जैक अपनी पुस्तक 'इकनामिक लाइफ ऑफ ए बंगाल डिस्ट्रिक्ट' में लिखते है : "जब किसान की भूमि पटसन की खेती के योग्य नहीं होती तो उनका कार्य-क्रम केवल तीन महीने कठिन परिश्रम करना और नौ महीने निरुद्यम बैठे रहना है; परन्तु यदि वह पटसन और धान दोनों की खेती करता है तो ६ सप्ताह का कार्य जुलाई और अगस्त के महीने में और बढ़ जाता है।" कीटिंग के मत से बम्बई (दक्षिण) के किसानों के लिए प्रतिवर्ष १८० से लेकर १६० दिन का कार्य रहता है; और कल्वर्ट महाशय की गणना के अनुसार पंजाब के एक औसत किसान का कार्य पूरे १५० दिन के परिश्रम से अधिक नहीं है। राजकीय कृषि आयोग (रायल एग्रीकल्चर कमीशन) ने बताया था कि अवकाश की यह अवधि स्थानीय कृषि-स्थिति के अन्तर के कारण सब जगह अलग-अलग है। पर यह बात साधारणतया सब पर लागू मानी जा सकती है कि अधिकांश किसानों को एक वर्ष में कम-से-कम दो से लगाकर चार महीने तक का अवकाश रहता ही है (पैरा ४८८)। उत्तरप्रदेश की बैंकिंग जाँच समिति ने अनुमान लगाया था कि सारे राज्य मे किसानों के पास २०० दिन से अधिक का काम नहीं होता (पैरा ३६१)।

सहायक उद्योग के अभाव में भारतीय किसान खाली समय को मनोविनोद, विवाहादि और मुकदमेबाजी करने का समय समझता है। कभी-कभी वह शहर की फैक्ट्रियों में अथवा सरकारी निर्माण-कार्यो में अस्थायी रूप से काम करने लगता है या अन्य गाँवों में मज़दूरी करने चला जाता है या अपनी गाड़ी किराये पर चलाने लगता है। गाड़ी चलाने वाले काम में उसे आजकल मोटर की बढ़ती हुई प्रतियोगिता का ध्यान रखना पड़ता है। कृषि के दृष्टिकोण से इनमें से कोई भी काम उपयुक्त नहीं है। जापान में रेशम के कीड़े पालना एक बड़े महत्त्व का सहायक ग्रामीण उद्योग है। इसी प्रकार फ्रान्स, जर्मनी और इटली आदि सभी देशों के अपने सहायक उद्योग-धन्धे हैं। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य देशों में खेती के संयुक्त और विभिन्न ढंग के होने से किसान को निरन्तर काम में व्यस्त रहना पड़ता है। खाली समय में डेरी-फ़ार्मिङ्ग, सूअर और कुक्कुटादि-पालन गाँव के मुख्य धन्धे हैं। भारतवर्ष में काम के अभाव की इस समस्या का निराकरण मुख्यतः घनी खेती तथा कृषि को अनेकरूपता प्रदान करने में है। यह भी सत्य है कि जितना अभी हो रहा है उससे कहीं अधिक किसानों के अवकाश के समय के लिए पुराने धन्धों के विस्तार तथा नये और उपयुक्त सहायक उद्योग-धन्धों की स्थापना करके किया जा सकता है। समस्या तो यह है कि भारत के किसानों को ऐसे उपयुक्त कार्य बताये जायँ जिन्हें वे अवकाश के समय अपने परिवार के साथ बिना

खेती के कार्य में बाधा डाले कर सकें और अपनी आय बढ़ा सकें।[1] इस प्रश्न की ओर दिसम्बर सन् १९३४ में अखिल भारतीय औद्योगिक संस्था (ऑल इण्डिया इन्डस्ट्रीज़ ऐसोसिएशन) की स्थापना तथा ग्राम पुनरुद्धार केन्द्रों की समाज-सेवा संस्थाओं के खुलने से विशेष ध्यान आकृष्ट हुआ है। गाँव सुधार आन्दोलन (अध्याय ११ देखिए) और ग्राम-उद्योगों के पुनर्जीवित करने में सरकार की विशेष रुचि ने भी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की इस अत्यन्त आवश्यक समस्या की ओर लोगों का ध्यान केन्द्रित किया है।

१८. डेरी-फ़ार्मिङ्ग आदि—डेरी-फ़ार्म चलाना भारत का एक सहायक उद्योग हो सकता है और यदि सफलतापूर्वक इसकी सथापना हो जाय तो यह केवल ग्रामीण जनता की आर्थिक उन्नति[2] ही नहीं वरन् पर्याप्त मात्रा में शुद्ध दूध की उपलब्धि की समस्या को भी हल कर सकता है। दूध की समस्या तो शहरों में बड़ी दारुण है जहाँ पर ऐसे हानिकारक द्रव्य दूध में मिला दिये जाते हैं जैसे बोरिक-एसिड, फ़ार्मेलिन इत्यादि। इतना ही नहीं दूध भी बहुत निकृष्ट तथा संसार के सभी देशों से मँहगा भी है। डेरियाँ खोलने के जो प्रयत्न अब तक किये गए, वे सभी असफल रहे हैं। इनकी असफलता का सबसे पहला कारण है देशी गायों की कम दूध देने की शक्ति, (जो उनके जीवन की कठिन परिस्थितियों के कारण और भी घट गई है) और दूसरा कारण है उनकी कानून द्वारा सुरक्षा का और सरकारी प्रोत्साहन का अभाव। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि दूध तथा दूध की बनी चीजें ही टायफ़ायड तथा डिफ्थीरिया आदि भयंकर बीमारियों के कीटाणु फैलाने का सबसे सरल माध्यम हैं, यह आवश्यक है कि वैज्ञानिक ढंग पर उत्पादन को आर्थिक दृष्टि से सफल बनाया जाय ताकि जनता को अच्छा दूध निश्चित रूप से प्राप्त होता रहे। नगरों के आसपास के गाँवों के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि वे पर्याप्त मात्रा में विश्वसनीय दूध उचित मूल्य पर दे सकें। जो गाँव नगरों से दूर हैं वहाँ के लोग दूध से मलाई, मक्खन, घी, खोया आदि बनाकर नगरों को भेज सकते हैं। यदि उचित ढंग से डेरियों का संचालन किया गया तो पशुओं की किस्म पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होगी जिससे उनकी दूध देने की शक्ति पर्याप्त हो। अधिक मात्रा में दूध देने वाले पशुओं की नस्ल वैज्ञानिक ढंग से बढ़ाना और सुधारना अत्यन्त आवश्यक है और साथ-ही-साथ ऐसे पशुओं की नस्ल को न बढ़ने देना भी आवश्यक है जो पीढ़ियों से भूखे तथा मिली-जुली जातियों की सन्तान हैं।[3] अतएव किसानों के लिए सबसे उत्तम सहायक उद्योग-धन्धा पशु-पालन होगा, जो कि अवकाश के समय उन्हें काम देगा तथा हर ऋतु में आय का एक साधन बन सकेगा। भूमि की उर्वराशक्ति बनाए रखने के लिए उससे खाद की भी प्राप्ति होगी। इस मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं जैसे गाँव के घरों में पशुओं तथा मनुष्यों का एक ही कोठरी में इकट्ठे रहना इत्यादि। ऐसी स्थिति में पशुओं पर विशेष ध्यान देना असम्भव है।

---

१. भारत के विभिन्न राज्यों में खेती के सहायक उद्योगों की सम्भावनाओ के विशद वर्णन के लिए प्रान्तीय बैंकिंग जांच कमेटी तथा केन्द्रीय बैंकिग जांच कमेटी की रिपोर्टों को देखिए (पैरा २९९)।

२. डेरी फार्मों की उत्पत्ति का वार्षिक मूल्य ८०० करोड़ रुपये से अधिक अनुमान किया जाता है।

३. देखिए, कृषि आयोग रिपोर्ट के साक्ष्य का विवरण, खण्ड १, भाग १, पृष्ठ ३३८-४१

व्यापारिक ध्येय से पशु-पालन उद्योग को सफलतापूर्वक चलाने के लिए बिखरे हुए खेतों तथा घने बसे गाँवों वाली वर्तमान स्थिति में परिवर्तन लाना अत्यन्त आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त पशुओं के चरने तथा चारे की पूर्ति के विषय में अन्य बहुत सी कठिनाइयों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है जिनका समाधान होना आवश्यक है ताकि अन्न के उत्पादन और पशु-पालन-उद्योग के बीच अब की अपेक्षा अधिक सन्तुलन सम्भव हो सके।[1]

डेरीफ़ार्मिङ्ग और पशु-अभिजनन के अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य घरेलू और कुटीर उद्योग धन्धों का भी उल्लेख किया जा सकता है : मुर्गे पालना, फलों का उत्पादन करना, मछली मारना, बेचने के लिए फूल और तरकारियाँ पैदा करना, गुड़ बनाना, हाथ से धान का छिलका उतारना, रेशम के कीड़े पालना, लाख पैदा करना, शहद की मक्खी पालना, चमड़ा कमाना, साबुन बनाना, चटाई बुनना, बाँस तथा बेंत की उपयोगी वस्तुएँ बनाना, रस्सी बँटना, कुम्हार का काम करना, बुनाई करना, बीड़ी बनाना, खिलौने बनाना, शीशे की चूड़ियाँ बनाना, कृषि सम्बन्धी औज़ार बनाना तथा लोहार का काम करना, लकड़ी का काम करना, बेल-बूटे काढ़ना, कागज बनाना और पेस्ट्री तथा मिठाइयाँ बनाना इत्यादि।[2]

यह तो सर्वविदित है कि सभी उद्योग धन्धे भारत में सभी जगह नहीं शुरू किए जा सकते। इस बात को पूर्ण रूप से समझने के लिए कि कौनसा उद्योग-धन्धा कहाँ के लिए उपयुक्त है, अनेक बार विभिन्न प्रदेशों की छान-बीन करनी पड़ेगी।[3] प्रत्येक जिले और गाँव की परिस्थिति का विचारपूर्ण अध्ययन करना होगा और उसके अनुसार वहाँ के लिए उद्योग निश्चित करना होगा। उदाहरण के लिए कुक्कुटादि का पालना उन्हीं भागों में उपयुक्त होगा जहाँ के लोगों के मन में इस उद्योग के विरुद्ध कड़ी धार्मिक भावना न हो। कुछ इसी प्रकार के विचारों के कारण गुजरात में, जहाँ के लोगों के विचारों पर जैन धर्म का बहुत प्रभाव है, शहद की मक्खी पालने का व्यवसाय नहीं अपनाया जा सकता। कुक्कुटादि पालने और तरकारियाँ पैदा करने वाले उद्योगों के आरम्भ के लिए ऐसे गाँव उपयुक्त होंगे जिनके आस-पास ऐसे नगर हों जहाँ इन वस्तुओं की खपत हो सके। रेशम के कीड़ों के पालने का उद्योग एक विशेष ऊँचाई पर स्थित गाँवों में ही सम्भव है, जहाँ की जलवायु इसके लिए विशेष रूप से उपयुक्त हो। फिर इस उद्योग को कृत्रिम रेशम के बढ़ते हुए आयात के कारण कठोर प्रतियोगिता का सामना भी करना पड़ रहा है।

१. डॉ० राइट की रिपोर्ट ऑन डेयरिंग इन्डस्ट्री ऑफ इण्डिया देखिए।

२. ग्रामीण उद्योगों के अधिक अध्ययन के लिए ग्रामीण उद्योग संस्था की वार्षिक रिपोर्ट देखिए। बम्बई राज्य के सहायक कुटीर उद्योग की चित्रावली के लिए बॉम्बे इकनामिक एन्ड इन्डस्ट्रियल सर्वे कमेटी की रिपोर्ट देखिए (१९३८-४०), खण्ड १, पैरा १४।

३. सर एम० विश्वेश्वरय्या का कथन है कि जापान ही की तरह भारतवर्ष के राज्यों तथा रियासतों के कुछ जिलों को मुख्यतः खेती करने वाले तथा अन्य को मुख्यतः उद्योगों पर निर्भर रहने वाले वर्गों में विभाजित करने का प्रयत्न करना चाहिए और लोगों को सहायता तथा प्रोत्साहन देना चाहिए कि वे अपने जिलों के मान्य व्यवसाय को ही अपनाए—(प्लान्ड इकानॉमी फॉर इण्डिया, पृष्ठ ३९)।

अकाल जाँच आयोग (फैमिन इन्क्वाइरी कमीशन)[1] ने अन्य उपायों के साथ-ही-साथ इस बात की भी सम्मति दी थी कि गाँव के निर्माण कार्य तथा शस्य-उद्योगों की उन्नति की जाय। शस्य-उद्योगों से तात्पर्य उन उद्योगों से है जो कुटीर उद्योग तो नहीं कहे जा सकते पर ऐसे उद्योग कहे जा सकते हैं जिनकी उन्नति के लिए गाँव का वातावरण विशेष रूप से उपयुक्त है। गाँवों में ऐसे कारखाने खोले जा सकते हैं जो बेचने के लिए कृषि-उत्पाद को सजाएँ और सवारें। ऐसे कारखानों को चलाने में बड़े-बड़े भू-स्वामियों और छोटे-छोटे भूभागों के स्वामियों की प्रतिनिधि सहकारी समितियों से सहायता ली जा सकती है।

जिस समय कृषि-कार्य बन्द हों, उस समय लोगों को काम देने के लिए गाँवों में सुधार-सम्बन्धी निर्माण-कार्य आरम्भ किये जा सकते हैं। उनकी सफलता के लिए निम्न बातें अत्यन्त आवश्यक हैं: (१) प्रत्येक गाँव तथा गाँव के समूह के लिए एक पंचायत की स्थापना, जिसे कर लगाकर धन एकत्रित करने का अधिकार हो; (२) गाँवों के सुधार कार्यो पर होने वाले व्यय के लिए सरकारी सहायक-अनुदान प्रणाली की स्थापना; तथा (३) पंचायतों द्वारा किये गए ऐसे सुधारों की देख-रेख का अधिकार सरकार, जिला-मण्डल तथा स्थानीय मण्डल के पदाधिकारियों को हो।

१६. खद्दर की आर्थिक महत्ता—हाथ से सूत कातने के विषय का विस्तृत विवेचन इसकी वास्तविक महत्ता के कारण ही आवश्यक नही बल्कि इसलिए भी अनिवार्य है कि चर्खे और इसकी शक्ति के विषय में घोर मतभेद रहा है। चर्खे के पक्षपातियों का यह विश्वास है कि हाथ से सूत कातने का काम ही एकमात्र ऐसा सहायक उद्योग है जो वर्तमान परिस्थिति में गाँव की जनता के लिए सम्भव और उपयुक्त है, तथा वर्तमान बेकार पड़ी रहने वाली जन-शक्ति को तुरन्त काम में लाने का सबसे सरल साधन है। चर्खे के प्रवर्तक महात्मा गांधी ने इसके लाभ निम्न बताए थे।[2]

(१) यह तुरन्त आरम्भ किया जा सकता है, क्योंकि (क) इसके लिए न तो किसी पूँजी की आवश्यकता है और न मँहगी मशीनों की; इस उद्योग के लिए कच्चा माल तथा काम में आने वाले औजार गाँव में ही मिल सकते हैं; (ख) इस कार्य के करने के लिए बेचारे अनभिज्ञ तथा दरिद्र भारतीय किसानों के पास जितनी बुद्धि तथा दक्षता है उससे अधिक की आवश्यकता नहीं है; (ग) इसके करने में इतने कम शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता है कि लड़के और वृद्ध सभी अपने बूते के अनुसार कमाकर परिवार की आय में वृद्धि कर सकते हैं और इस उद्योग के आरम्भ करने के लिए नये सिरे से कोई तैयारी नहीं करनी है क्योंकि लोगों में सूत कातने का चलन बहुत पुराना है। (२) यह स्थायी और सर्वव्यापी उद्योग है, क्योंकि अन्न के बाद वस्त्र ही एक ऐसी वस्तु है जिसकी माँग सदैव अपरिमित मात्रा में काम करने वाले के द्वार पर ही बनी रहती है जिससे दरिद्र किसानों के लिए यह स्थायी रूप से एक नियमित आय का निश्चित साधन है। (३) इसका सम्बन्ध मानसून हवाओं से नहीं है इसलिए अकाल के

१. फाइनल रिपोर्ट, पृष्ठ ३०९-११।
२. देखिए, आर० बी० ग्रेग, 'इकानामिक्स ऑफ खद्दर' पृ० १७०-२।

समय भी यह चलाया जा सकता है। (४) इस कार्य में लोगों की सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं से किंचित मात्र भी विरोध की सम्भावना नहीं है। (५) अकाल का सामना करने के लिए यह एक सुलभ और समर्थ साधन है। (६) यह कार्य किसान की कुटिया में ही किया जा सकता है, इसलिए आर्थिक कठिनाई के कारण परिवार का विघटन रोका जा सकता है। (७) मृतप्राय ग्राम-समुदाय को यह पुनर्जीवित करके उससे लाभ प्राप्त करा सकता है। (८) यह जुलाहों तथा किसानों दोनों के लिए समान रूप से एक दृढ़ आर्थिक आधार प्रस्तुत करता है, क्योंकि इससे ही करघा उद्योग को—जो ८० से लगाकर १०० लाख लोगों की जीविका का साधन है और जो भारत की वस्त्र की माँग का एक तिहाई अंश पूरा करता है—दृढ़ता और स्थायित्व प्राप्त होता है। (९) इसके पुनर्जीवन से अनेक ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहन मिलेगा जो आवश्यक तथा सहायक ग्राम-उद्योगों में से हैं और इस प्रकार विनाश के गर्त में पड़े हुए गाँवों का उद्धार करेगा। (१०) यही भारत के करोड़ों व्यक्तियों के बीच धन के समान वितरण का साधन बन सकता है (११) यह अकेले ही बेकारी की समस्या सुलझाने में कारगर हो सकता है। यही नहीं कि किसानों की अवकाश के समय की बेकारी दूर कर सकता है, पर ऐसे शिक्षित बेकार नवयुवकों को भी, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर नौकरी ढूँढते हुए घूमते रहते हैं, काम दे सकता है। इस कार्य की महत्ता के दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि देश के सभी विचारवान् व्यक्ति मिलकर इस आन्दोलन का संचालन तथा पथ-प्रदर्शन करें।[1]

सी० राजगोपालाचारी ने अपने ज्ञापक में जो उन्होंने राजकीय कृषि आयोग (एग्रीकल्चर रायल कमीशन) को भेजा था, चर्खे के विषय में लिखा है: "यदि हम गाँव के लोगों के सीमित ज्ञान और कुशलता तथा उन बातों पर ध्यान दें जो अवकाश के समय के धन्धे के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं—जैसे कि उस धन्धे का सरल, सुगम और जब जी चाहे बन्द कर देने अथवा आरम्भ कर लेने योग्य होना, ताकि मुख्य उद्योग में वह कोई बाधा न डाले—तो हाथ से सूत कातने का ही काम, अकेला ऐसा धन्धा हो सकता है जिसमें गाँव की जनता के अवकाश के समय का सदुपयोग किया जा सकता है।" इसी प्रकार श्री एस० वी० पुन्ताम्बेकर तथा एन० एस० वर्धाचारी ने हाथ से सूत कातने और बुनने के विषय पर लिखे हुए अपने सुन्दर लेख में यह मत प्रकट किया है कि चर्खे का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है; और यदि समुचित ढंग से इसके लिए विकेन्द्रीय व्यवस्था कर दी जाय तो यह वर्तमान मिलों के उत्पादन में सहयोग प्रदान करके सारी जनसंख्या के लिए पर्याप्त मात्रा में कपड़े की आवश्यकता भी पूरी कर सकता है।

१. १९२३ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के तत्त्वावधान में अखिल भारतीय स्पिनर्स एसोसिएशन की अपने उत्पादन-केन्द्रों तथा बिक्री-भण्डारों के द्वारा खद्दर की उत्पत्ति तथा बिक्री की व्यवस्था करने तथा तत्सम्बन्धी व्यय पूरा करने के लिए स्थापना हुई थी। १९४१-४२ में यद्यपि इस संघ की कुल पूँजी ५० लाख रुपये से अधिक नहीं थी जबकि उसी वर्ष वस्त्र बनाने वाली मिलों में ५० करोड़ रुपया लगा हुआ था फिर भी कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की आधी संख्या इसमें लगी हुई थी।—नानावती और अन्जारिया कृत 'द इण्डियन रूरल प्रॉब्लम', पृ० २४९ देखिए।

खद्दर के बड़े-से-बड़े पक्षपाती भी यह मानते है कि इसमें दो बड़ी कठिनाइयाँ हैं—(१) महीन सूत के वस्त्रों के प्रति लोगों की रुचि तथा (२) हाथ के कते-बुने कपड़ों का मिल के कपड़ों, विशेषकर विदेशों से मँगाये हुए कपड़ों, की अपेक्षा अधिक मूल्य। दूसरी कठिनाई अधिक बड़ी है और यह सलाह दी जाती है कि राज्य की ओर से आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए ताकि उत्पादन बढ़े और मूल्य में कमी सम्भव हो सके। इस आर्थिक सहायता की आवश्यकता थोड़े दिन तक के लिए आवश्यक होगी, जब तक कि जनता की आर्थिक स्थिति नहीं सुधरती और जब तक कि प्रति वर्ष बचत करते-करते उनकी क्रय-शक्ति नहीं बढ़ जाती। सरकारी सहायता के अन्य तरीके ये हैं: ऋण देना, उत्पादन और वितरण में सुविधाएँ देना, रेलादि के भाड़े में कमी कर देना और चुंगी आदि करों के सम्बन्ध में छूट देना आदि। हम इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि निर्धन लोगों की क्रय-शक्ति में वृद्धि होने पर, यद्यपि यह भी अपने-आप में आसान बात नहीं—वे मिल के सस्ते कपड़ों की अपेक्षा खद्दर खरीदेंगे। जब तक कि खद्दर के दाम मिल के कपड़े के बराबर या उससे कम नहीं हो जाते, आर्थिक सहायता के रूप में स्थायी रूप से कृत्रिम सहारा देना पड़ेगा जिसका भार साधारण करदाता पर पड़ेगा। कुटीर उद्योगों के सर्वेक्षण के लिए मद्रास सरकार द्वारा नियुक्त विशेष पदाधिकारी ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट में राज्य के खद्दर आन्दोलन की परिसीमाओं पर जोर देते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि लोगों की वार्षिक बचत इतनी नहीं है कि वे उसके कारण हाथ से सूत कातना आरम्भ कर दें। ये कठिनाइयाँ वास्तविक हैं और लागत के प्रश्न को थोड़ी देर के लिए भूल भी जायँ तो खद्दर से 'अधिक ठंडे और आकर्षक वस्त्रों के प्रति, जिनका खरीदना केवल बहुत निर्धन लोगों को छोड़ सबकी शक्ति में है, विशेष अनुराग का मिटा देना सहज नहीं है।' जब तक कि किसानों के लिए कोई अन्य आय देने वाला अतिरिक्त धन्धा नहीं ढूँढ निकाला जाता, हाथ से सूत कातना ही एक ऐसा धन्धा है जो वर्ष के अन्त तक किसानों के आय-व्ययक (बजट) को सन्तुलित कर सकने का अवसर दे सकता है। चर्खे की बात तो यह है कि जब तक कोई अन्य साधन न हो चर्खा कातना खाली बैठे रहने से अधिक अच्छा है। परन्तु अधिक आय देने वाले सहायक उद्योगों की खोज करनी चाहिए जो किसानों को पर्याप्त आर्थिक सहायता पहुँचा सके।

२०. कुछ अन्य ग्राम-उद्योग—गाँव वालों की बेकारी दूर करने का दूसरा तरीका गाँवों में कृषि-उत्पाद को उपयोग तथा निर्यात के योग्य बनाने से सम्बन्धित उद्योगों, जैसे कपास से बिनौले निकालना, धान कूटना, चीनी तैयार करना, तेल निकालना और हड्डी की खाद बनाना इत्यादि, की स्थापना में सहयोग देना है। इन उद्योगों की व्यवस्था जहाँ तक सम्भव हो सके सहकारिता के आधार पर होनी चाहिए। इनका नगरों में केन्द्रित होना ठीक नहीं है; बल्कि ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि अधिक-से-अधिक क्षेत्र और संख्या में गाँव वालों को काम मिल सके। सस्ती विद्युत्-शक्ति की प्राप्ति ऐसे कृषि-सम्बन्धित उद्योगों के विकास के लिए बहुत बड़ी सुविधा होती। भविष्य में पंजाब और बम्बई में पनबिजली के कारखानों की स्थापना की शीघ्र ही आशा

दिखाई पड़ती है जिससे गाँवों में सस्ती विद्युत्-शक्ति वितरित की जा सकेगी। सफलता के लिए उपयुक्त तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। कम-से-कम प्रारम्भिक काल में राज्य-सहायता की भी आवश्यकता होगी। कृषि-आयोग ने व्यक्तिगत कारखानों में कृषि-विभाग के इंजीनियरी सेक्शनो की सहायता से कृषि-सम्बन्धी औजारों में निर्माण की सलाह दी थी। इससे यातायात के वर्तमान भारी खर्चे में बहुत कमी हो जायगी और स्थानीय मूल्य घटकर किसानों की शक्ति के अनुकूल हो जायगा। यदि कागज बनाने में बाँस का प्रयोग किया जाने लगे तो जंगलों की सीमाओं पर रहने वालों को बहुत काम मिल सकता है। फलों से अचार, चटनी, मुरब्बे बनाने तथा उनको सुखाने और डिब्बों में बन्द करके बेचने के उद्योग में बहुत से किसान लग सकते हैं, जिससे उनको बहुत लाभ हो सकता है।

२१. कृषि उत्पाद का सदोष विपणन[1]—जब तक भारतीय किसान अपने ही निर्वाह के लिए कृषि करता था और उसे प्राचीन ग्राम-व्यवस्था की संरक्षा प्राप्त थी, तब तक गाँव में किसी अन्य प्रकार की व्यवस्था या संगठन की आवश्यकता नही थी पर अब परिस्थिति पूर्णतया बदल गई है। कृषि के वाणिज्यीकरण तथा व्यापक प्रतियोगिता वाले बाजारों की स्थापना से आज दृढ़तर व्यवस्था आवश्यक हो गई है, और प्राचीन व्यवस्था इतनी निष्प्राण हो गई है कि उसका कोई प्रयोजन नही रह गया है और इस प्रकार ग्रामवासी इस नई परिस्थिति का सामना करने के लिए बिना किसी संरक्षा अथवा पथ-निर्देश के छोड़ दिया गया है। कृषि आयोग ने भी कहा था कि, 'उसके हितों को आर्थिक परिस्थितियों की तरंगों के मुक्त प्रवाह में बिना सहारे छोड़ दिया गया है और इससे उन्होंने घाटा सहा है। इसका कारण यह है कि अपने उत्पाद के वितरण-कर्ता और उपभोक्ताओं के अनुपात में वह एक अत्यन्त नगण्य इकाई है और इधर वे तो प्रतिवर्ष अधिकाधिक व्यवस्थित और दृढ़ता से संगठित होते जा रहे हैं'।[2]

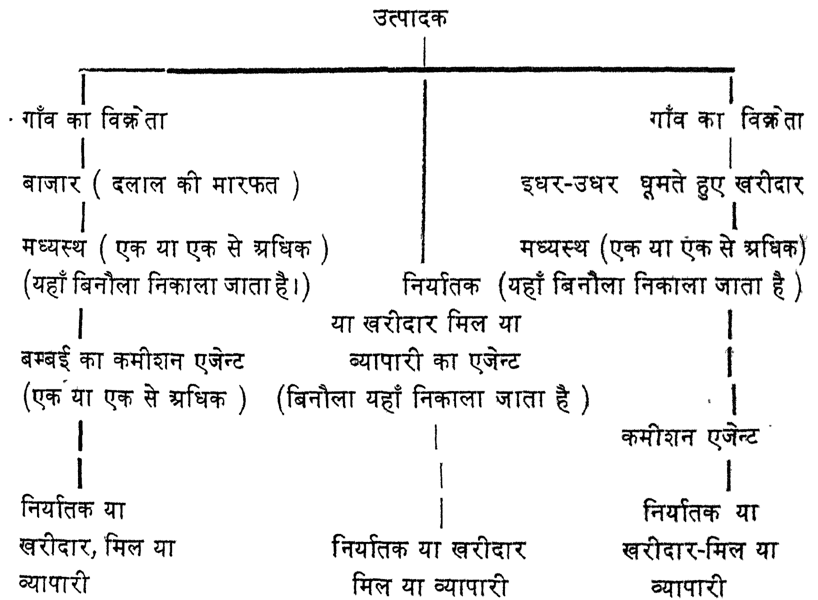
यह एक सामान्य अनुभव है कि संसार में सभी जगह कच्चे माल के उत्पादक के भाग में संसार की अच्छी वस्तुओं का उचित अंश नही पड़ता। भारत में तो विशेष रूप से आजकल यही स्थिति है, जहाँ खेती छोटे-छोटे भू-खण्डों पर किसी विशेष सुरक्षा संस्था की सहायता के बिना ही की जाती है। सामान्यत: भारतीय किसान महाजन पर निर्भर रहता है जिसके हाथों बहुधा पहले से ही उनकी फसल गिरवी रखी रहती है। महाजनों के अतिरिक्त अनेक व्यवसायी क्रेता-विक्रेता और मध्यस्थ होते हैं जो भिन्न-भिन्न स्थलों पर जमे रहते है और अपने पोषण के लिए किसान को एक बहुत सुखद साधन बनाए रहते हैं। एक दूसरी कठिनाई सड़कों, पुलों और सहायक रेलों के अभाव की है, जिसकी वजह से किसान सीधे-सीधे उपभोक्ताओं तथा थोक व्यापारियों से सौदा नहीं कर पाता। किसानों की अन्य कठिनाइयाँ निम्न है: शिक्षा का अभाव,

---

१; कृषि उत्पत्ति के विक्रय के विषय में विशद विवरण के लिए एस० जी० बेरी द्वारा लिखित 'कृषि-उत्पाद का विपणन' शीर्षक अध्याय 'कोआपरेशन इन इण्डिया', जिसको एच० एल० काजी ने सम्पादित किया है, में पृष्ठ ३४०-६५ पर देखिए।

२. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३२०।

उचित नियमित बाज़ारों का अभाव तथा किसानों के बीच एकता का अभाव, नाप-जोख के बाँटों की विविधता, अनधिकृत रूप से बाज़ारों में बट्टा काटा जाना, माल की भण्डारण सुविधाओं की कमी, कृषि-उत्पाद के किसी मानक का अभाव, कोटिक्रम का अभाव, पैकिंग की सुविधाओं का अभाव तथा बाजार की सूचनाओं के लिए किसी नियमित प्रणाली का प्रचलित न होना इत्यादि।[1] यदि इन परिस्थितियों में किसान को अपने माल का उचित मूल्य नहीं मिलता तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पूँजी की सदा से ही कमी होने के कारण, साहूकार की माँग पूरी करने के लिए और सरकारी मालगुजारी अदा करने के लिए किसान को अपना माल ऐसे अवसर पर बेचना पड़ता है जबकि प्रत्येक व्यक्ति अपना माल बेचता है और बाजार माल से पटा रहता है। मुख्य-मुख्य वस्तुओं के निर्यात में मध्यस्थों की एक लम्बी श्रृंखला है। बड़े-बड़े फर्म किसानों से पहले से ही सौदा तय किये रहते हैं और अपनी खरीदारी पक्की करने के लिए उसे रुपया भी पेशगी दे देते है। भारत की केन्द्रीय कपास कमेटी (इण्डियन सेन्ट्रल काटन कमेटी) की ओर से कृषि आयोग को दिये गए ज्ञापक से उपभोक्ता और किसान के बीच मध्यस्थों की बहुलता का एक उदाहरण हम यहाँ दे रहे हैं।[2]



१. बिक्री के ढंग तथा बाजार में प्रचलित अवैध तरीकों और बट्टों के काटने के विषय की विशेष जानकारी के लिए १९३७ की 'रिपोर्ट आन द मार्केटिंग ऑफ व्हीट इन इण्डिया' के पैरा १४८-१६२ पढ़िए। इस रिपोर्ट ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि प्रति एक रुपये में से जो कि उपभोक्ता गेहूँ के मूल्य में देता है, उत्पादक को केवल साढे नौ आने ही मिलते हैं। एक हाल की रिपोर्ट के अनुसार (१९४१) जो कि चावल की बिक्री के विषय में दी गई है, किसान को प्रति रुपया केवल सवा आठ आने-भर प्राप्त होता है।

२. कृषि आयोग रिपोर्ट, साक्ष्य टिप्पणी, खण्ड २, भाग २, पृष्ठ २१।

इस ज्ञापक में आगे कहा गया है कि यह विविधता नाना प्रकार की हो सकती है और इस तरह मध्यस्थों की संख्या बहुत बड़ी हो सकती है। यदि हम आत्यन्तिक उदाहरणों को छोड़ भी दें तो भी यह प्रत्यक्ष ही है कि किसान और उपभोक्ता के बीच दलाल बहुत अधिक संख्या में होते हैं जैसे किसानों का स्थानीय प्रतिनिधि, मुफस्सिल में खरीदारों का प्रतिनिधि, मुफस्सिल के खरीदार तथा अन्य फुटकर खरीदने वाले। जैसा श्री वी० एल० मेहता ने अपने ज्ञापक में बताया है, सहकारिता की प्रणाली के प्रयोग से इन दलालों और मध्यस्थों को दूर किया जा सकता है। उदाहरणार्थ एक सहकारी समिति स्थानीय एजेन्ट और मुफस्सिल के खरीदार के एजेन्ट को हटा सकती है और सीधे-सीधे मुफस्सिल के खरीदारों से दौरा कर सकती है। इतना ही नहीं, यदि उपभोक्ता-समितियाँ भी कुशलतापूर्वक केन्द्र में काम कर रही हैं तो सब मध्यस्थों को हटाया जा सकता है और इसके उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों ही को बहुत लाभ होगा।[1] किसानों को उत्पाद का पूरा मूल्य दिलाने के लिए सहकारिता ही एकमात्र संतोषप्रद साधन है। कभी-कभी किसान सीधे उपभोक्ता से ही सौदा करता है, पर क्योंकि प्रत्येक किसान व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही निर्णय करता है इसलिए उत्पाद को दूरस्थित बाज़ारों में ले जाने तथा थोड़ा-थोड़ा बेचने में बहुत अधिक समय और शक्ति का खर्च होता है।

२२. सहकारी विक्रय—इधर थोड़े ही दिनों से कृषि विभाग तथा सहकारी विभाग की समझ में यह बात आई है कि गाँव की आर्थिक उन्नति और समृद्धि की पहली शर्त गाँव के उत्पाद की उचित ढंग से बिक्री ही है और सहकारी ढंग से बिक्री के आन्दोलन में इधर भारत में कुछ उन्नति हुई है। संयुक्त धान बिक्री सहकारी समितियाँ बनाकर बर्मा ने इस दिशा में मार्ग-प्रदर्शन किया है। परन्तु सबसे अधिक आशापूर्ण उन्नति रुई की बिक्री के सम्बन्ध में बम्बई में हुई है। सहकारी रुई बेचने वाली समितियाँ बम्बई मध्यप्रदेश, मद्रास और पंजाब में आरम्भ कर दी गई हैं। इस आन्दोलन ने बम्बई में सबसे अधिक सफलता प्राप्त की है जहाँ पर चार मुख्य क्षेत्रों में रुई विक्रय-समितियाँ स्थापित हुई हैं : (i) धारवाड़ और बेलगाम, (ii) बीजापुर, (iii) सूरत, भडोंच और कैरा, और (iv) खानदेश। इनमें प्रथम और तृतीय क्षेत्र की समितियाँ सबसे अधिक महत्त्वशाली हैं। इन समितियों की ख्याति कपास की उत्कृष्टता बढ़ाने वाली तथा उत्पादकों को अधिक मूल्य दिलाने वाली समितियों के रूप में हो गई है। अन्य अनेक प्रकार की संस्थाओं के सम्बन्ध में भी प्रयीग किये जा रहे हैं, जैसे (i) ऐसी समितियाँ जो सदस्यों के उत्पाद को एकत्रित करके उनसे बिनौले निकलवाती हैं और बिनौले निकाली हुई रुई की गाँठें बनवाकर बेचती हैं; (ii) ऐसी समितियाँ जो कोटिक्रम-बद्ध कपास का समय-समय पर नीलाम करती हैं और बिक्री व्यक्तिगत हिसाब में करती हैं; (iii) सहकारी कमीशन दुकानें जो रुई बेचने वालों को अपना माल सुरक्षित रखने की सुविधा देती हैं जिससे उन्हें किसी ऐसे दिन अपना माल बेचने के लिए बाध्य न होना पड़े जब कि मूल्य उनकी दृष्टि से कम है। ऐसी समितियों के सम्बन्ध में पंजाब में प्रयोग

१. वही, खण्ड २, पार्ट २, पृ० ११०।

किया जा रहा है; (iv) सहकारी ढंग से कपास के बिनौले निकालकर प्रत्येक सदस्य की रुई को बीज यूनियन द्वारा बेचा जाना। ऐसे संघों की व्यवस्था मुख्यतः शुद्ध बीजों के उत्पादन के लिए हुई है और रुई बेचने के वास्तविक प्रश्न को सुलझाने के लिए ये कुछ कर रहे हैं, ऐसा तो शायद ही कहा जा सकता है। पहले ढंग की समितियाँ ही केवल ऐसी हैं जिन्होंने छोटे-छोटे मध्यस्थों को पूर्णतया दूर करने का गम्भीर प्रयत्न किया है और इन्हें सूरत जिले में सफलता भी प्राप्त हुई है जहाँ पर हाल ही में रुई विक्रय समितियों ने एक होकर बिक्री यूनियन का रूप धारण कर लिया है और जिसने सदस्यों द्वारा आरम्भ की हुई बिनौले निकालने की फैक्ट्री को अपने अधिकार में कर लिया है। संघ का दूसरा कर्त्तव्य समिति की रुई का बीमा करा लेना है जिससे उन्हें प्रीमियम पर कमीशन मिलती है और यही उनकी आय का मुख्य साधन है। इस दूसरे प्रकार के संघ धारवाड़ जिले में प्रचलित हैं। गदाग और हुबली उनके प्रधान केन्द्र हैं।

रुई की बिक्री के सम्बन्ध में इतनी उन्नति होते हुए भी हम न तो यही कह सकते हैं कि सहकारी बिक्री-समितियों का विकास तेज़ी से हुआ है, और न यह कह सकते हैं कि वह इन गम्भीर दोषों से मुक्त रहा है, जैसे कुशल प्राविधिक सलाह और निर्देशन की कमी, बाजार की स्थिति तथा प्रवृत्तियों के विशेष ध्यान आदि और उचित व्यापारिक व्यवस्था करने की योग्यता का अभाव, सदस्यों पर नियन्त्रण का अभाव (जिनको वैध रूप मे अपनी रुई समितियों की ही मार्फत बेचने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता), अपर्याप्त पूँजी (जो उत्पादकों को तुरन्त पेशगी रुपया देने में बाधा-स्वरूप है), भण्डारण-सुविधा का अभाव, आन्तरिक और बाह्य बाज़ारों की स्थिति से अनभिज्ञता और विक्रय-समितियों का अलग-अलग होना इत्यादि। स्वार्थरत व्यापारियों के विरोध के अतिरिक्त प्रशिक्षित कर्मचारी-वर्ग के अभाव के कारण भी सहकारी विक्रय-समितियों की व्यवस्था में बाधा पड़ती है। इन सब दोषों को दूर करके इस आन्दोलन का कुशल प्रबन्ध विशेषज्ञों की देख-रेख में होना चाहिए ताकि शक्तिशाली स्वार्थी दलालों, अदात्यों और मध्यस्थों का सफलता से विरोध किया जा सके।[1] भारत के रिज़र्व बैंक को राज्यीय सहकारी बैंकों द्वारा सहकारी विक्रय-समितियों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए। (अध्याय १० देखिये।)

सहकारी विक्रय के सिद्धान्त का प्रयोग कृषि के अन्य उत्पादों पर भी किया गया है, जैसे गुड़, तम्बाकू, लाल मिर्च, धान, आलू तथा सुपारी आदि। बम्बई प्रान्त के नहर क्षेत्रों में गुड़ की बिक्री का बहुत ही कुशल प्रबन्ध है। दुर्भाग्य से बंगाल में जो प्रयोग पटसन और धान की बिक्री के लिए सहकारिता के सिद्धान्तों पर किये गए उन्हें सफलता नही मिल पाई है। इधर हाल में धान, गन्ना और मछलियों की बिक्री के लिए समितियों की व्यवस्था की गई है। मद्रास में अनेक विक्रय-समितियाँ हैं, पर वे बहुत छोटा सौदा करती है और उन्होंने कोई विशेष उन्नति भी नहीं की है।[2] जैसा

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, साक्षी पत्रक खण्ड, भाग २, पृष्ठ २२-३१।

२. मद्रास राज्यीय सहकारी विक्रय समिति भी है जिसका आरम्भ १९३६ में अन्य विक्रय-समितियों के

कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, बम्बई राज्य में बिक्री-आन्दोलन ने जड़ पकड़ ली है, विशेषकर गुजरात और बम्बई कर्नाटक में, जहाँ पर रुई की खेती करने वालों को रुई की विक्रय-समितियों से बहुत लाभ हुआ है। उत्तरप्रदेश में भी सहकारी बिक्री ने बहुत उन्नति की है जहाँ पर गन्ना बेचने की सहकारी समितियाँ निरन्तर अपना महत्त्व बढ़ाती जा रही हैं। घी की बिक्री समितियों ने भी उल्लेखनीय उन्नति की है। सन् १९३९-४० में आलू, फल और अन्न के उत्पादन और विक्रय की एक योजना आरम्भ की गई थी और इन वस्तुओं के विक्रय के लिए समितियाँ स्थापित की गई थीं। बिहार में भी गन्ना पैदा करने वालों की समितियाँ बनाई जा रही हैं। अन्य राज्यों में सहकारी विक्रय-समितियों ने बहुत कम उन्नति की है। राज्यीय तथा भारतीय सरकार द्वारा स्थापित विक्रय की नई व्यवस्था (सेक्शन २४-२५ देखिए) से यह आशा की जाती है कि वह भारत में कृषि-उत्पाद के सहकारी विपणन में प्रोत्साहन देगी।

२३. विपणन-व्यवस्था में कुछ सुधार—वर्तमान उद्योगों के लिए यह आवश्यक है कि प्रति वर्ष उनका माल एक-सा हो और सदा दिखाये हुए नमूने के ही अनुरूप रहे; और जब तक ये शर्तें पूरी न होंगी दूर स्थित ग्राहकों के लिए अधिक मात्रा में संतोषप्रद विपणन नहीं हो सकता और न प्रारम्भिक उत्पादक को ही पूर्ण लाभ प्राप्त हो सकता है। अभी तो इसमें अनेक गड़बड़ें पाई जाती हैं जैसे मिश्रण कर देना तथा भिगोकर नम कर देना आदि। यही नहीं कि ये कुत्सित कार्य उत्पादकों के ही यहाँ होते हों, दलालों और व्यापारियों के गोदामों में भी यही होता है। इन कुप्रथाओं को रोकने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता महसूस की गई है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं भारतीय केन्द्रीय कपास समिति (इण्डियन सेण्ट्रल काटन कमेटी) के कहने पर काटन ट्रान्सपोर्ट एक्ट तथा काटन जिनिंग एण्ड प्रेसिंग फैक्ट्रीज एक्ट सन् १९२३ और १९२५ में क्रम से पास किये गए थे। पहले नियम के अन्तर्गत (जो कि अब बम्बई, मद्रास तथा बडौदा राजपीपला और इन्दौर आदि के कपास पैदा करने वाले मुख्य क्षेत्रों में लागू है) राज्यीय सरकारों को अधिकार है कि वे कपास की खेती करने वाले विशेष भागों को सुरक्षित घोषित कर दें और इन क्षेत्रों के बाहर से बिना लाइसेन्स रुई के आयात को रोक दें। इस नियम का ध्येय अच्छी रुई में मिलाने के लिए बाहर से निकृष्ट रुई के आयात पर रोक लगाना है, जिसने भारत की अनेक प्रकार की प्रमुख रुई की ख्याति को विनष्ट कर दिया है। काटन जिनिंग और प्रेसिंग फैक्ट्रीज एक्ट के अन्तर्गत जो कि पहले नियम का एक उपप्रमेय ही है, बिनौला निकालने और रुई दबाने के कारखानों पर नियंत्रण रखने का अधिकार दिया गया है तथा दबाई हुई रुई की गाँठों पर दबाने का चिन्ह-विशेष क्रमांक छापने का भी अधिकार दिया गया है ताकि गाँठों के मूल स्थान का सरलता से पता लगाया जा सके। तीसरा रुई से सम्बन्धित नियम १९२७ का बाम्बे काटन मार्केट एक्ट था जो यद्यपि बरार के (दि बरार काटन एण्ड ग्रेन मार्केट्स लॉ ऑफ १८९७) नियम का प्रतिरूप था फिर भी कुछ अंशों में

कार्यों का सामञ्जस्य करने के ध्येय से हुआ था। यह समिति वास्तव में राज्य की शीर्ष समिति नहीं है जैसा कि प्रायः राज्यीय शब्द से समझा जाता है।

उससे आगे था। इसके अन्तर्गत रुई के उन खुले बाजारों को अधिसूचित करने का अधिकार था जहाँ पर खुली हुई रुई की बिक्री होती थी जिसे उत्पादक 'मार्केट कमेटी' द्वारा बनाए नियमों तथा उपनियमों के अनुसार लाकर बेच सकते थे। इस कमेटी में रुई के उत्पादकों का भी प्रतिनिधित्व था। यह अधिनियम १९३९ के बाम्बे एग्रीकल्चर प्रोडच्स मार्केट एक्ट के पास हो जाने पर रद्द कर दिया गया। नियमित बाजारों की स्थापना के दृष्टिकोण से अनेक अधिनियम हैदराबाद (१९३०), मद्रास (१९३३),[1] मध्यप्रदेश (१९३५), पंजाब (१९३९)[2], और मैसूर (१९३९) में पास कर दिये गए। प्रतिनिधि विपणन समिति द्वारा शासित नियमित बाजारों की सहायता से जो बाजार में सौदे करने वाले लाइसेन्सदार दलालों पर नियंत्रण रखती है उत्पादक अवैध कटौती, झूठे बाटों और अनुचित तथा कम मूल्य से उसकी रक्षा के निमित्त बनाये गए नियमों के कारण उचित लाभ पर सौदा कर सकता है। दूसरा लाभ यह है कि ऐसी संस्थाओं के द्वारा किसान बड़े खरीदारों से सम्पर्क स्थापित कर लेता है। यह सम्पर्क खुले बाज़ारों में बेचने से अधिक सम्भव है।

इतने अधिक व्यापारिक महत्त्व की फसल रुई के सम्बन्ध में विपणन-व्यवस्था के विकास की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक ही है। अन्य फसलों के सम्बन्ध में भी यह सिद्धान्त लागू किया जाना वाञ्छनीय है। वर्तमान विक्रय-व्यवस्था में एक गम्भीर दोष इस बात की अज्ञानता है कि बाजार में बेचने के लिए क्या-क्या करना चाहिए, जैसे माल का एकत्रित करना, सुरक्षित रखना, एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना, तरह-तरह के उपायों का प्रयोग और प्रत्येक स्थिति में मूल्यों का विश्लेषण कर सकना, इत्यादि। (देखिए सेक्शन २६ आगे।) यह बाजारों में बेचने की स्थिति के सुधार के विचार से किसी सन्तोषप्रद नीति के विकास के लिए आवश्यक है। इण्डियन सेन्ट्रल काटन कमेटी ने किसानों की रुई की बिक्री तथा व्यय के सम्बन्ध में कुछ जाँच-पड़ताल की है और उनकी रिपोर्ट में बहुत-सी बहुमूल्य सूचनाएँ हैं।[3] कृषि आयोग ने, बाजारों में किस प्रकार बिक्री होती है, उसकी जाँच-पड़ताल करने पर तथा उनमें काम करने वालों की शिक्षा पर बहुत जोर दिया था। उन्होंने प्रत्येक राज्य में कृषि-विभाग के अधीन एक विशेषज्ञ विपणन अधिकारी के नियुक्त किये जाने की सिफारिश भी की थी।[4] अनेक राज्यीय बैंकिंग जाँच कमेटियों ने (हैदराबाद राज्य को सम्मिलित करते हुए) भी अपने-अपने राज्य के बाज़ारों में विपणन की स्थितियों पर विशेष ध्यान दिया था, और उनकी रिपोर्टों से भारत के विभिन्न भागों में विपणन-सम्बन्धी समस्याओं का पता चलता है और यह भी मालूम होता है कि प्रत्येक राज्य में विक्रय की स्थिति में कितनी भिन्नता है तथा प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में एक ही राज्य में विपणन की स्थिति में कितना

---

१. १९३६ में मद्रास एक्ट XIX, और १९४० के मद्रास एक्ट III द्वारा संशोधित।

२. पंजाब एक्ट अक्टूबर १९४१ से लागू हुआ।

३. एट इनवैस्टीगेशन्स इन टू द फाइनैंस एण्ड मार्केटिंग ऑफ कल्टिवेटर्स कॉटन, जनरल रिपोर्ट और पृथक् रिपोर्टें भी देखें (सेन्ट्रल कॉटन कमिटी)।

४. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३४७-८।

अन्तर है।[1]

२४. नई विपणन-व्यवस्था—यद्यपि राज्यीय सरकारों ने कृषि आयोग की वह सिफारिश मान ली थी जो उन्होंने कृषि-विभाग के अधीन एक विशेषज्ञ विपणन-अधिकारी की नियुक्ति तथा बाजारों की जाँच-पड़ताल करने के सम्बन्ध में दी थी, पर आर्थिक कठिनाई के कारण राज्यीय सरकारें इस ओर कोई विशेष उन्नति न कर सकीं। भारत सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँची कि सम्पूर्ण भारत के दृष्टिकोण से इस समस्या के अध्ययन पर केन्द्रीय आय से ऐसी आर्थिक कठिनाई के समय में भी धन व्यय करना न्यायसंगत होगा, क्योंकि सुधरी हुई स्थिति में कृषि उत्पाद की बिक्री से देश की सामान्य आर्थिक स्थिति की उन्नति में विशेष सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त प्रतिद्वन्द्वी देशों में वैज्ञानिक और आर्थिक उन्नति के परिणामस्वरूप जो वैदेशिक प्रतियोगिता बढ़ गई थी उससे भारत की रक्षा करने के लिए भी यह आवश्यक था। इसलिए प्रान्तीय सरकारों तथा इम्पीरियल (भारतीय) का कौन्सिल ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च की सलाह से भारत सरकार ने इस ओर पहला कदम १९३४ के अप्रैल में ए० एम० लिविंगस्टन महाशय को, जो ब्रिटेन के कृषि-मन्त्रालय के बिक्री विभाग के बड़े अधिकारी थे, अनुसंधान परिषद् का कृषि-विपणन सलाहकार नियुक्त करके उठाया गया। १९३४ के प्रान्तीय आर्थिक सम्मेलन ने भी कृषि उत्पादन की बिक्री की समस्या पर विचार किया था और सब इस बात पर सहमत थे कि कृषि उत्पादन (अनाज तथा पशुओं से प्राप्त वस्तुओं) की विपणन-सुविधाओं के विकास के लिए बड़े मनोयोग से प्रयत्न होना चाहिए, क्योंकि इससे आर्थिक स्थिति के सुधार की बड़ी आशा की जा सकती है। सम्मेलन ने निम्न प्रकार से कार्य में प्रवृत्त होने की सिफारिश की : भारतीय वस्तुओं का बाह्य बाजारों में प्रचार करके तथा तत्सम्बन्धी सूचनाएँ देकर, मुख्य उत्पादों को कोटिक्रमबद्ध कर तथा एकत्रित करके, नाशवान् वस्तुओं के लिए विशेष बाजारों की व्यवस्था करके, भारतीय उत्पादकों को भारत तथा विदेशों के उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं के विषय में सूचनाएँ देकर, माँग के अनुरूप और उत्कृष्टता के आधार पर वस्तुओं के उत्पादन की योजनाएँ बनाकर, नियमित बाजारों की स्थापना तथा उनको विकसित करके, बाजारों की जाँच-पड़ताल करके ताकि समस्त भारत के लिए एक ही प्रकार की योजना बने, और सुसंगठित 'अगाऊसौदा' बाजारों की स्थापना करके तथा वस्तु-विनिमय शालाओं तथा भाण्डागारों की उचित व्यवस्था करके। भारत सरकार ने ५ मई सन् १९३४ के अपने एक प्रस्ताव में बाजारों में बिक्री सम्बन्धी अपनी नई नीति की रूपरेखा बनाई थी जो सम्मेलन की सिफारिशों के आधार पर बनाई गई थी और भारतीय रियासतों और प्रान्तों के सहयोग से जिसका अनुसरण अनिवार्य कर दिया गया था। इस कार्य के लिए केन्द्रीय और प्रान्तीय पदाधिकारियों की नियुक्ति की गई।[2] केन्द्रीय

१. कृषि उत्पाद के विपणन के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिङ्ग जाँच समिति के सुझावों की रिपोर्ट के २८४-६ और २८९ पैरा देखें।

२. नई नीति कृषि के सम्बन्ध में बनाये गए शाही कृषि आयोग के अनुसरण में चली जिसकी केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने पुष्टि की थी।

पदाधिकारियों में कृषि-विपणन सलाहकार, तीन प्रवर विपणन-अधिकारी (सीनियर मार्केटिंग अफसर) तीन अवर विपणन-अधिकारी (जूनियर मार्केटिंग अफसर), ग्रेड बनाने तथा माल की पैकिंग करने के प्रयोग करने वाले केन्द्र पर काम करने के लिए एक सुपरवाइजिंग अफसर और बारह सहायक विपणन अधिकारी थे। राज्यों में विपणन सम्बन्धी अफसरों में एक मुख्य विपणन अधिकारी और अन्य सहायक विपणन अधिकारी थे। इस सम्बन्ध में राज्य का व्यय जो प्रतिवर्ष २ लाख रुपये होता था केन्द्रीय सरकार द्वारा पाँच वर्ष तक वहन किया गया। इनके अतिरिक्त ६२ मार्केटिंग अफसरों की नियुक्ति समस्त भारत में काम करने के लिए हुई और २२६ अफसरों की नियुक्ति छोटी-छोटी भारतीय रियासतों में और अन्य शासन इकाइयों मे काम करने के लिए की गई।

केन्द्रीय विपणन-संगठन के अधिकारियों ने जो कार्य प्रान्तीय अधिकारियों के सहयोग से किया उसे ३ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: (१) अन्वेषण सम्बन्धी, (२) विकास सम्बन्धी, और (३) कोटिक्रम (ग्रेडो) के स्तर नियत करने से सम्बन्धित अन्वेषण सम्बन्धी कार्यो में अनेकों वस्तुओं की बिक्री सम्बन्धी जाँच-पड़ताल सम्मिलित थी जिसमें अधिक महत्त्व की वस्तुओं के प्रति विशेष ध्यान दिया गया था, जैसे अन्न, तिलहन, तम्बाकू, रेशेवाली फसलें, फल, डेरी-उत्पाद, तथा पशु-धन इत्यादि। कुछ सामान्य हित के प्रश्नों पर, जैसे नियमित बाजार, यातायात की समस्याएँ और वस्तुओं के सुरक्षित रखने की सुविधाओं आदि पर, भी विचार किया गया था। बाजारों की जाँच-पड़ताल में वस्तुओं की केवल प्रान्त में ही बिक्री के सम्बन्ध में नहीं वरन् अन्तर्प्रान्तीय तथा विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में भी विशद विवरण दिया गया था, ताकि समस्त भारत की वर्तमान स्थिति का चित्र सामने आ सके और भविष्य के विकास की एकरूप योजना बनाई जा सके। बाजार जाँच-पड़ताल की रिपोर्टों ने आवश्यक और व्यावहारिक सुधारों के प्रस्ताव सामने रखे थे। इन जाँच-पड़तालों के कार्य में केन्द्रीय और प्रान्तीय अधिकारियों ने बराबर सहयोग दिया, पर जाँच की योजना बनाने, आँकड़ों को एकत्रित करने और परिणाम निकालने का कार्य मुख्यत: केन्द्रीय अधिकारियों के हिस्से में पड़ा था। विकास-कार्य में, जो स्पष्टत: ही विपणन-सर्वेक्षण के परिणामों पर हीं निर्भर हो सकता है, उपभोक्ताओं की आवश्यकता से उत्पादकों और विक्रेताओं को अवगत रखने के लिए की गई सिफारिशों के प्रदर्शन, बताये हुए कोटिक्रमों (ग्रेडों) के स्तरों को तथा माल को बाहर भेजने के लिए पैकिंग करने के ढंगों को सर्वप्रिय बनाने आदि के कार्य सम्मिलित थे। प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में उन्नति के कार्य बाजार के प्रान्तीय अधिकारियों को करने थे। कोटिक्रमों (ग्रेडों) के स्तर बनाने का कार्य प्राविधिक है और वस्तुओं के रासायनिक और भौतिक गुणों से सम्बन्धित है, जैसे तिलहन, अन्न, फलादि और वास्तविक परिस्थितियों में कोटिक्रम बनाने की प्रविधि तथा उपस्कर की परीक्षा से सम्बन्धित है।

२४. विपणन-संगठन द्वारा किये गए कार्य—यद्यपि यह विपणन-संगठन अपेक्षाकृत थोड़े ही दिनों से कार्य कर रहा है फिर भी बहुत-सा काम पूरा हो गया है। १९४० के

अन्त तक २९ बाजारों की जाँच-पड़ताल राज्यों और रियासतों में या तो पूरी हो गई थी या होने वाली थी। उत्पादकों, वितरकों, थोक विक्रेताओं, निर्माताओं, रेल के अधिकारियों तथा अन्य ऐसे लोगों के सहयोग से जिनका पण्य के उत्पादन और वितरण से सम्बन्ध था, अन्वेषण का कार्य करने में वस्तुओं की उत्कृष्टता तथा उनके मूल्य पर विशेष ध्यान दिया गया है। सबसे पहले जाँच चावल, गेहूँ, अलसी, मूँगफली, तम्बाकू, कहवा, फलादि, दूध, अण्डे पशु तथा उनकी खाल और चमड़े के सम्बन्ध में आरम्भ किया गया था और बाजारों तथा मेलों और सहकारी सिद्धान्त पर बिक्री के सम्बन्ध में भी जाँच की गई थी। अब तक १३ अखिल भारत विपणन सर्वेक्षण रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें से पहली रिपोर्ट जो १९३७ में भारत में गेहूँ के विपणन के सम्बन्ध में छपी थी, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस देश में गेहूँ के विपणन का पूरा विवरण इसमें दिया गया है और ऐसी सूचनाएँ हैं जो गेहूँ के व्यापार से सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए बहुमूल्य हैं।[1]

१९३७ के शुरू में ही विपणन-सर्वेक्षण के प्रारम्भिक परिणामों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए गम्भीर प्रयत्न किये गए। बहुत सी बातें जिनका इस प्रकार पता लगा, पुस्तक रूप में एकत्रित कर ली गई ताकि उनका प्रयोग अनाज के व्यापारियों तथा तिलहन, घी, दूध तथा डेरी-उत्पाद के व्यापारियो और उत्पादकों के साथ विचार-विमर्श करने में किया जाय। इसके साथ-ही-साथ प्रारम्भिक जाँच-पड़ताल से यह भी पता लगता है कि मिली हुई तथा सन्देहास्पद उत्कृष्टता वाली वस्तुओं के बेचने का आम रिवाज है, जो उत्पाद से लाभ प्राप्त करने में बाधक है। इससे यह बात स्वयं-सिद्ध है कि कृषि उत्पाद के अधिक अच्छे कोटिक्रम बनने चाहिएँ ताकि व्यापार करने के लिए वस्तु की उत्कृष्टता पर निर्भर एक सर्वमान्य आधार प्राप्त हो और जिससे उत्पादक और उपभोक्ता दोनों को ही लाभ हो। इस ध्येय से ही केन्द्रीय धारा सभा ने १९३७ की फरवरी में कृषि उत्पाद अधिनियम (जिसमें ग्रेड बनाना तथा बिक्री करना सम्मिलित था) पास किया जिसमें अनुसूचित कृषि-उत्पाद की क़िस्म का निर्देश करने के लिए उनके विभिन्न कोटिक्रमों (ग्रेडों) के नाम रखने की अनुमति दी गई थी तथा उत्कृष्टता के स्तर को निश्चित करने और कोटिक्रमों के नाम-चिह्नों को व्यक्त करने का अधिकार दिया गया था। इस एक्ट के अन्तर्गत बने उपनियमों से कृषि-विपणन सलाहकार को यह अधिकार प्राप्त था कि ऐसे व्यक्तियों को जो अपने उत्पाद के कोटिक्रम बनाने तथा उसके चिह्न नियत करने के लिए तत्पर हों यह अधिकार प्रदान करने वाला प्रमाणपत्र दे दे। सम्बन्धित लोगों का व्यवहारतः पथ-प्रदर्शन करने के लिए केन्द्रीय बाजार पदाधिकारियों ने २५ प्रयोगात्मक केन्द्रों में उत्पाद

---

१ बाजारों की जाँच-पडताल के अतिरिक्त, जो केन्द्रीय सरकार के पदाधिकारियों और विभिन्न प्रान्तों तथा रियासतों के द्वारा नियुक्त बाजार के अफसरों द्वारा की गई थी, अनेक परिनियत अखिल भारतीय केन्द्रीय पण्य-समितियाँ (जो कि लाख, पटसन, चीनी, कहवा और रुई के लिए नियुक्त की गई थीं) के अपने निजी विपणन-कर्मचारी थे, जो कि केन्द्रीय और स्थानीय विपणन अफसरों के सहयोग से अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करते थे।

का ग्रेड बनाना तथा चिह्न लगाना आरम्भ किया। १९४० में ४०० केन्द्रों में बड़े पैमाने पर अण्डे, घी, मक्खन, चावल, ताजे फल, तम्बाकू, रुई इत्यादि वस्तुओं के प्रामाणिक कोटिक्रम (ग्रेड) बनाये गए और वे नामांकित की गई। केवल १९४० में ही १०२ लाख रुपये मूल्य की ऐगमार्क वस्तुएँ बेची गई जबकि १९३९ में केवल ६१ लाख रुपये की ही बेची गई थी।[1] अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी इन केन्द्रों को जो सफलता मिली है, उससे यह स्पष्ट है कि लोगों में कोटिक्रम में वर्गीकृत वस्तुओं की माँग है, विशेष रूप से नाशवान वस्तुओं की, जैसे अण्डे तथा फलादि[2] के उत्पादकों को ग्रेड बनाने से ऐसी बहुत सी वस्तुओं से कही अधिक लाभ भी होगा। प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों ने इन ग्रेड बनाने वाले केन्द्रों की स्थापना में सहायता दी है। अपनी-अपनी सरकारों की सहायता के आधार पर उन लोगों ने इस दिशा में तीव्रगति से उन्नति की है। प्राथमिक उत्पादकों के हित की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि कोई विशेष प्रबन्ध किया जाय क्योंकि १९४१ के विपणन (मार्केटिंग) अफसरों के सम्मेलन में यह बात मालूम हुई थी कि बाजार में बिकी हुई कोटिक्रम में वर्गीकृत वस्तुओं के केवल १८ प्रतिशत मूल्य की वस्तुएँ ही उत्पादकों के द्वारा बेची गई थी, बाकी मध्यस्थों द्वारा बेची गई।.

भारतवर्ष-भर में फैले हुए अनेक व्यापार-संघों की सहायता से संक्षिप्त मानक शब्दों के बनाने में (गेहूँ, अलसी और मूँगफली के लिए) पर्याप्त प्रगति की गई है।

अन्त में ऑल इण्डिया रेडियो दिल्ली स्टेशन से अंग्रेजी और अन्य भारतीय भाषाओं में गेहूँ, अलसी, चावल आदि के मूल्य, उनकी राशि तथा उनके एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाये जाने के विषय मे साप्ताहिक प्रसार द्वारा तथा हापुड़ बाजार के बन्दी के भाव की सूचना के विषय में प्रतिदिन के प्रसार द्वारा बाजारों की खबरें देने वाले विभाग (मार्केट न्यूज़ सर्विस) का प्रबन्ध किया गया। इसी ढंग के प्रयत्न प्रान्तीय मार्केटिंग अफसरों द्वारा भी बाजारों के सूचना-विभाग के विकास करने के लिए किये

---

१. भारत में कृषि विपणन के सम्बन्धी १९४० की वार्षिक रिपोर्ट, पृष्ठ ३।

२ एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस (ग्रेडिंग एण्ड मार्केटिंग) एक्ट १९३७ में पास हुआ था। यह फलों, फल से बनी वस्तुओं, शाकों, अण्डों, डेरी की वस्तुओं, तम्बाकू, कहवा, चावल, बूरा, गेहूँ, आटा, गुड़, तिलहन, वनस्पति तेल, कपास, लाख, सन, ऑवला, चमड़ा और खाल, ऊन आदि पर लागू है। हाल ही में इस सूची में लकड़ी, सुअर के कड़े बाल, बिरोजा, तारपीन व सुपारी भी शामिल कर लिये गए है। सन् १९४८ से १९५२ तक कोटिक्रम बद्ध वस्तुओं का मूल्य नीचे दिया जा रहा है :

वर्ष	मूल्य
१९४८	११·९ करोड़ रुपया
१९४९	१२·३ ,, ,,
१९५०	१४·० ,, ,,
१९५१	१३·० ,, ,,
१९५२	१८·० ,, ,,

निर्यात के लिए कृषि-उत्पाद के अनिवार्य कोटि-क्रमबन्धन के नियम को योजना आयोग ने भी स्वीकार किया है। योजना आयोग की सिफारिश थी कि क्रमबन्धन (ग्रेडिंग) १९५१-५२ से आरम्भ होकर पॉच वर्षों में हो जाना चाहिए।

गए। उदाहरण के लिए बम्बई सरकार ने १९४१ से मूल्य जाँच विभाग की स्थापना रेवेन्यू विभाग के द्वारा की है। बम्बई सरकार द्वारा आयोजित बिक्री के अधिक अच्छे ढंग सहकारी बिक्री समितियों के विकास, नियमित बाजारों की स्थापना और ऐगमार्क योजना के अन्तर्गत उत्पाद को प्रामाणिक बनाने के प्रयत्नों में जिनका ध्येय उत्पादन को सुधारना है, परिलक्षित होते हैं। बम्बई में १९४१ में एक प्रान्तीय सहकारी विपणन समिति की रजिस्ट्री हुई थी। यह समिति सारे देश के लिए आदर्श थी और यह आशा की जाती थी कि अन्य प्रान्तों से भी इस समिति को कार्य मिलेगा।

कृषि-उत्पाद के विपणन के भावी विकास के प्रश्न पर सन् १९४१ में दिल्ली में कृषि-मन्त्रियों के सम्मेलन में विचार किया गया था। इन लोगों ने विभागीय जाँच-पड़ताल की गति कम करके विकास के कार्यों को तीव्रतर करने की सलाह दी और वर्तमान बाजारों की व्यवस्था में जो अभाव रह गए थे उनको पूरा करने के लिए अनेक बहुमूल्य सुझाव दिए।

अनेक भारतीय रियासतों ने भी कृषि-विपणन के विकास के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि गाँव के अभ्युदय का मूलाधार यही है।

२६. भाण्डागारों तथा मापों और बाटों के मानकीकरण की आवश्यकता—विपणन-व्यवस्था की उन्नति में दूसरी आवश्यकता उपयुक्त भाण्डागारों की सुविधा और उत्पादकों को भाण्डागार प्रमाण-पत्र देने की है जिसके आधार पर वे सहकारी बैंक अथवा अन्य बैंकों से रुपया उधार पा सकें। इससे उत्पादक अपने माल को अच्छे मूल्य चढ़ने तक रोके रह सकेगा। इस सम्बन्ध में हम अमेरिका के लाइसेन्सदार भाण्डागारों और मिश्र की रुई के आधार पर छोटे उत्पादकों को ऋण देने की प्रथा की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। विभिन्न बैंकिंग जाँच-कमेटियों ने अपनी रिपोर्टों में भारतीय परिस्थितियों में इन दोनों योजनाओं की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है और भाण्डागारों को लाइसेन्स देने के लिए कानून बनाने तथा उनका नियन्त्रण करने के सम्बन्ध में विविध मत प्रकट किये है। उदाहरण के लिए पंजाब की जाँच-कमेटी ने यह मत प्रकट किया कि ऐसे भाण्डागारों की अभी आवश्यकता नहीं है पर कुछ समय बाद उनकी आवश्यकता पड़ेगी।[1] इसके विपरीत बम्बई की कमेटी ने आरम्भ में कुछ प्रमुख केन्द्रों में लाइसेन्सदार भाण्डागारों की स्थापना की सिफारिश की।[2] इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-कमेटी ने अनेक उपयोगी सिफारिशें कीं। व्यक्तिगत एजेंसियों के भाण्डागारों के निर्माण के लिए पूँजी और लाइसेन्स देने के प्रश्न पर उनका सुझाव था कि यह कार्य प्रान्तीय सरकारों द्वारा किया जाना चाहिए तथा इनके कार्यों को कृषि अनुसन्धान राजकीय (अब भारतीय) परिषद् (इम्पीरियल कौन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च) द्वारा संयोजित किया जाय। रेलवे भाण्डागार स्थापित करने के प्रश्न को रेलवे बोर्ड को अपने हाथ में लेना चाहिए तथा इस सम्बन्ध में चुने हुए केन्द्रों में प्रयोग करना चाहिए। उन केन्द्रों जहाँ अच्छे बाजार हैं, गोदाम बनाने के लिए प्रान्तीय

१. पंजाब बैंकिंग जांच कमेटी रिपोर्ट, पैरा ९२।
२. रिपोर्ट ऑफ द बाम्बे बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा १५१।

सरकारों को कम सूद पर दीर्घकालीन ऋण देना चाहिए ।[1] यह प्रसन्नता की बात है कि बम्बई और मद्रास की सरकारों ने बहुध्येयी तथा विपणन समितियों को ऐसा ऋण देना आरम्भ कर दिया है। साधारणतया विश्वास किया जाता है कि भारत में मिश्री कपास योजना (ईजिप्शियन कॉटन स्कीम) को अपनाने का समय अभी नहीं आया है। अभी मिस्र में ही इस योजना की उपयोगिता पूर्णतया प्रमाणित नहीं हुई है। साथ ही वर्तमान परिस्थितियों में छोटे-मोटे किसान का मूल्य बढ़ने की आशा में उत्पाद को रखे रहने के लिए प्रोत्साहित करना वाञ्छनीय नहीं है ।[2]

एक अन्य अति आवश्यक सुधार बाटों और मापों के मानकीकरण का है। इस पर कृषि-आयोग, विभिन्न राज्यीय बैंकिग जाँच समितियों तथा केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति ने बहुत जोर दिया है। इस सम्बन्ध में सेन्ट्रल प्रॉविन्सेज वेट्स एण्ड मेज़र्स ऑफ केपीसिटीज एक्ट (१९२८) की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है, जो बाटों और मापों की इकाइयो को निर्धारित करता है तथा सरकार के विभिन्न क्षेत्रों को अधिसूचित करके मानकीकरण का अधिकार देता है। इसी प्रकार का अधिनियम बम्बई में १९३५ से लागू हुआ। मन्त्रियों के विपणन-सम्मेलन की सिफारिश के अनुसार १९३९ में केन्द्रीय विधान सभा ने स्टेण्डर्डस ऑफ वेट बिल पास किया। इस कानून के अन्तर्गत आवश्यक नियमों और प्रामाणिक बाटों को जारी करने से पूर्व ही इसे मद्रास, बंगाल, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में स्थानीय रूप से कार्यान्वित कर दिया गया है।[3] मीट्रिक प्रणाली का प्रारम्भ एक स्पष्ट सुधार है, परन्तु दुर्भाग्य से इस प्रस्ताव को जनता के लोकप्रिय नेताओं का समर्थन प्राप्त नही हुआ है।

अन्त में क्रेता और विक्रेता दोनों के हित की दृष्टि से देश-भर में उचित रूप से नियमित और पुराने तरीकों पर चलाये जाने वाले अगाऊ सौदा बाजारों का विकास करने की सम्भावना और वांछनीयता पर विचार करना भी आवश्यक है ताकि उत्पाद के मूल्य के सम्बन्ध में आश्वस्त हुआ जा सके[4] और बाजार-भाव के चढ़ाव-उतार की जोखम कम हो जाय।[5]

---

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ द सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा २७९-८२ ।

२. देखिए, रिपोर्ट ऑफ द पंजाब बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा ९३, तथा सेन्ट्रल प्राविन्सेज एण्ड बरार बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा १०८५ ।

३. एनुएल रिपोर्ट्स ऑफ द एग्रीकल्चरल मार्केटिङ्ग एडवाइजर (१९४०), पृ० ३ और (१९४१) पृ० ६ ।

४. अनियमित बाजारों के काम में मुख्य कठिनाई बाजार कमेटियों पर कृषकों के उचित प्रतिनिधियों का अभाव है। साधारणतया कृषकों के प्रतिनिधि थोड़े से प्रलोभन मिलने पर उनके हितों का सौदा कर बैठते हैं। इस विषय के अधिकारी विद्वान् डॉ० शिरनामे का विचार है कि कुछ समय तक हमें जनतन्त्रवाद के नियम को त्याग देना चाहिए और बाजारो को एक प्रभावपूर्ण प्रशासन द्वारा नियमित करना चाहिए। (देखिए, पृ० २५८, प्रोसीडिंग्ज ऑफ द फोर्थ कान्फ्रेन्स, (दिसम्बर १९४३) ऑफ द इण्डियन सोसायटी ऑफ एग्रीकल्चरल इकनामिक्स)।

५. अनियमित बाजारों का उद्देश्य किसानों को उनके उत्पाद का उचित मूल्य दिलाना है तथा उसे अनधिकृत कटौतियों एवम् असुविधाओं से बचाना है। इन बाजारो का प्रबन्ध एक कमेटी के हाथ में होता है जिसमें उत्पादक, उपभोक्ता तथा मध्यस्थ होते हैं। सन् १९५०-५१ में २८३ अनियमित बाजार थे जिनकी

नियमों व भाण्डागारों की देख-भाल करने व निगम के प्रशासन के निरीक्षण का काम भी यह भली प्रकार कर सकता है।

दूसरे विभाग का सम्बन्ध मुख्य रूप से सहायता व पुनर्वास से होगा और यह राजकीय ऋणों व अनुदानों जैसे कार्यों के लिए आवश्यक वित्त की व्यवस्था करेगा।

अध्याय १०

भारत में सहकारी आन्दोलन

१. सहकारिता का अर्थ—निम्नलिखित उद्धरण सहकारिता की मुख्य विशेषताएँ स्पष्ट करने में सहायक हैं :

"अति संक्षेप में सहकारिता का सिद्धान्त यह है कि कोई विविक्त और शक्तिहीन व्यक्ति दूसरों के योग एवं नैतिक विकास तथा पारस्परिक सहयोग से अपनी सामर्थ्य के अनुसार ऐसे भौतिक लाभ अथवा सुख प्राप्त कर सके जो धनाढ्यों या सशक्त लोगों को उपलब्ध हैं और अपने सहज गुणों का पूर्ण रूप से विस्तार कर सके। शक्तियों के सहयोग से भौतिक उन्नति होती है; सम्मिलित कार्य से आत्म-विश्वास बढ़ता है, एवं इन शक्तियों की एक-दूसरी पर प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जीवन के उच्च और समुन्नत स्तर की वास्तविक सिद्धि की आशा की जाती है जिसमें 'अधिक अच्छा व्यापार होगा, सुव्यवस्थित कृषि होगी तथा समृद्ध जीवन होगा।' "[१]

"संगठित व्यक्तियों के किसी भी समुदाय के सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्मिलित प्रयास को सहयोग कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, फुटबाल की टीम, डाकुओं का गिरोह अथवा लाभेच्छुक कम्पनियों के साझीदारों को लिया जा सकता है। इतिहास की एक शताब्दी ने अंग्रेजी के बड़े अक्षर 'C' से आरम्भ होने वाले 'Co-operation' (सहकारिता) शब्द को एक विशिष्ट अर्थ प्रदान किया है। यह शब्द सच्चे साधनों से एक सामान्य आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों के संगठन का द्योतक है। सहकारिता के अनेक रूपों में यह भी आवश्यक है कि व्यक्तियों को एक-दूसरे के बारे में प्रत्यक्ष ज्ञान हो।"[२]

"सहकारिता का पारिभाषिक अर्थ उत्पादन और वितरण में प्रतिस्पर्धा का परित्याग तथा सभी प्रकार के मध्यस्थों की ज़रूरत ख़तम कर देना है।"[३]

"सहकारिता का प्रारम्भ पारस्परिक सहयोग में इस उद्देश्य से होता है कि उसका पर्यवसान सामान्य समर्थता में हो।"[४]

"यह आर्थिक संगठन का एक विशिष्ट रूप है जिसमें लोग सुनिश्चित व्याव-

१. मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा २।
२. सी० एफ० स्ट्रिकलैण्ड, कोआपरेशन इन इण्डिया (तीसरा संस्करण, १९३८) पृ० १५।
३. सैलिगमैन, प्रिन्सिपल्स ऑफ़ इकनामिक्स, पृ० ५५१।
४. एच० मिरिक, फेडरल फार्म लोन सिस्टम, पृ० १८।

सायिक नियमों के अनुसार निश्चित व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए मिलकर काम करते हैं। सहकारिता का आधार व्यापार और नीतिशास्त्र का वह सम्बन्ध है जो हमारी वर्तमान औद्योगिक प्रणाली की आवश्यक व्यावसायिक ईमानदारी से श्रेष्ठ-तर है।"[1]

अतएव प्रकट है कि किसी भी सहकारी समिति में—(१) सामान्य आर्थिक लाभ के लिए लोगों का सम्मिलन पूर्णतया ऐच्छिक होता है। (२) नैतिक दृष्टिकोण पर भौतिक दृष्टिकोण के बराबर ही बल दिया जाता है। (३) सहकारी प्रयास के शिक्षणात्मक प्रभाव को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

सहकारिता का क्षेत्र—सिद्धान्त रूप में ही सही—अर्थशास्त्र के क्षेत्र के समान ही व्यापक है। व्यवहार रूप में, धन के उत्पादन के लिए उद्योग के क्षेत्र में इसका प्रयोग अब तक सीमित रहा है; यद्यपि छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों की सहायता सहकारी-संगठन से हो सकती है, जैसे करघे की बुनाई जिसमें अधिक पूँजी, सूझ-बूझ और विशेष व्यापारिक कौशल आदि आवश्यक नहीं है। आधुनिक बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों में, जो मँहगे और जटिल यन्त्रों, कुशल व्यापार-प्रबन्ध और अनुशासन की अपेक्षा रखते हैं, सहकारिता व्यवहार-रूप में कम सफल हुई है' क्रय अथवा धन के उपभोग और साख के क्षेत्र में इसे काफ़ी सफलता मिली है।

२. जर्मनी में सहकारिता—भारत में कृषि और ग़ैर-कृषि वाली उधार समितियाँ क्रमशः रेफेज़न तथा शुल्ज़-डिलिट्स की प्रणालियों पर आधारित हैं, जिनका विकास जर्मनी में गत शताब्दी के मध्य में हुआ था। अतः उनमें से प्रत्येक के प्रमुख सिद्धान्तों का विवरण हम यहाँ दे सकते हैं।

(१) समुचित रूप से संगठित रेफेजन समिति के बारे में निम्नलिखित आवश्यक बातों पर साधारणतया ज्यादा ज़ोर दिया जाता है: (क) कार्यक्षेत्र का सीमित होना। (ख) हिस्सों का न होना अथवा बहुत कम मूल्य वाले हिस्से (जिससे लाभांश की प्राप्ति पर शक्तियाँ केन्द्रित न हों और गरीब-से-गरीब लोग सदस्य बन सकें)। (ग) असीमित दायित्व, ताकि अधिक साख तथा पारस्परिक निरीक्षण निश्चित हो।[2] (घ) जहाँ तक सम्भव हो ऋण केवल प्रतिफलात्मक कार्यों के लिए तथा सदस्यों को ही दिया जाय। (ङ) किश्तों द्वारा चुकता करने की सुविधाओं के साथ अपेक्षाकृत दीर्घकाल के लिए उधार की व्यवस्था हो। (च) स्थायी सुरक्षित कोष हो जिसका हस्तान्तरण न किया जा सके। (छ) मुनाफाखोरी और लाभांशबाज़ी न हो और लाभों को सुरक्षित कोष में जमा कराया जाय। (ज) अवैतनिक प्रशासन तथा जनतन्त्रा-त्मक प्रबन्ध। और (झ) सदस्यों की भौतिक तथा नैतिक प्रगति को प्रोत्साहन मिले।

(२) निम्नलिखित बातें शुल्ज़-डिलिट्स को रेफ़ेजन प्रणाली से पृथक् करती हैं: (क) कार्य का बृहत्तर क्षेत्र, (ख) हिस्सा-पूँजी का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व, (ग) सीमित उत्तरदायित्व, (घ) अल्पकालीन उधार, (ङ) अपेक्षाकृत थोड़ा सुरक्षित कोष

१. एल० एस० गॉर्डन और सी० ओ'ब्रियेन, कोआपरेशन इन डेन्मार्क।

२. आगे सेक्शन १० (३) देखिए।

जिसमें लाभ का कुछ भाग ही दिया जाता है, (च) लाभ का अधिक स्वतन्त्र वितरण, (छ) सवेतन प्रशासन ताकि प्रबन्ध कुशलता से चलाया जाने का निश्चय रहे, (ज) नैतिक परिणामों की अपेक्षा समिति के व्यावसायिक पहलू पर ज्यादा जोर दिया जाता है।

जनता के दोनों वर्गों की—जिनके लिए ये अभिप्रेत हैं—विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त होने के कारण ये दोनों प्रकार आवश्यक हैं। इसका अधिक विवेचन हम आगे चलकर भारत में स्थापित उधार-समितियों का सर्वेक्षण करते समय करेंगे।

दुनिया के पूर्वी तथा पश्चिमी देशों में सहकारी आन्दोलन बहुत ही व्यापक हो गया है और हाल ही में उद्देश्य तथा प्रवृत्तियों के देखे उसने अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर लिया है। पूँजीवाद के दोषों के निराकरण के सम्बन्ध में समाजवाद तथा अन्य सुझाई हुई व्यवस्थाओं की तुलना में सहकारिता का यह दावा है कि वह व्यक्तिगत स्वार्थ को अक्षुण्ण बनाए रखकर भी उसे सामूहिक प्रयास के आधार पर एक उच्च-स्तर पर संगठित करती है। इस प्रकार वह पूँजीवाद और समाजवाद का स्वर्णिम माध्यम बनने का भी दावा करती है।

३. सहकारिता तथा भारत में इसके उपयोग—भारत में हम लोगों के लिए सहकारिता का एक विशेष सन्देश है। हमारे देश की जनसंख्या का अधिक भाग छोटे-छोटे किसानों और कारीगरों का है। देश के वर्धमान नगरों में भी सहकारी सिद्धान्तों पर अमल करके लाभ उठाया जा सकता है। उदाहरणार्थ समुचित घरों की व्यवस्था अथवा मजदूरों तथा मध्यवर्ग के लिए समुचित दरों पर बढ़िया किस्म की आवश्यकीय घरेलू वस्तुओं के सम्भरण को ले सकते हैं। यद्यपि पाश्चात्य ढंग की सहकारिता के कुछ रूप हमारे लिए नये हो सकते हैं परन्तु तत्त्व और सिद्धान्त रूप में वे किसी भी प्रकार हमारे देश के लिए नये या अपरिचित नहीं हैं, क्योंकि यहाँ की कई विशिष्ट संस्थाओं—वर्ण-व्यवस्था, संयुक्त परिवार आदि—का मूलाधार सहकारिता ही है। मद्रास की 'निधियों' जैसे संगठनों में भी हम इसी सिद्धान्त को क्रियाशील पाते हैं।

४. सहकारी उधार समिति अधिनियम, १९०४—सर्वप्रथम फ्रेडरिक निकलसन नामक मद्रासी नागरिक द्वारा ग्रामीणों के ऋण को दूर करने तथा उन्हें ऋण देने के लिए सहकारिता का विचार प्रस्तुत किया गया। वे मद्रास सरकार द्वारा भूमि-बैंकों के प्रारम्भ करने की सम्भावना की जाँच करने के लिए नियुक्त किये गए थे। १८९७ में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध रिपोर्ट में उन्होंने सहकारी उधार समितियों के प्रवर्त्तन की जोरदार सिफारिश की। उन्होंने कहा कि भारतवर्ष जैसे देश में किसानों को सदैव उनकी आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता देने का एकमात्र सन्तोषजनक साधन सहकारी उधार समितियाँ ही हो सकती हैं। इस रिपोर्ट पर कोई कार्यवाही नहीं की गई। सहकारी उधार समितियों को स्थापित करने के लिए उत्तरप्रदेश में मि० डूपरने तथा पंजाब और बंगाल में अन्य ज़िला अधिकारियों द्वारा जहाँ-तहाँ असंगठित और व्यक्तिगत प्रयत्न किये गए। १९०१ में लार्ड कर्जन ने सर एडवर्ड लॉ की प्रधानता में एक शक्ति-शाली समिति की स्थापना की, जिसकी सिफारिशों के परिणामस्वरूप १९०४ का

सहकारी उधार समिति अधिनियम बनाया गया। इस कानून में केवल उधार-समितियों की स्थापना की ही व्यवस्था की गई थी तथा गैर उधार वाली सहकारिता के समस्त रूपों को भविष्य के लिए स्थगित कर दिया गया। यह नीति जान-बूझकर अपनाई गई क्योंकि उनका खयाल था कि अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई जाति में उत्पादन तथा वितरण व्यापार के प्रबन्ध की कठिनाइयाँ प्रगति के रास्ते में बाधक हो सकती थीं। अपने सरल संगठन एवं प्रबन्ध से युक्त उधार समितियाँ सहकारिता के सिद्धान्तों को सीखने और अभ्यास करने का सुगम स्थल थीं और इसलिए उन पर विशेष ध्यान दिया गया।[1] शहरी उधार समितियों की अपेक्षा ग्रामीण उधार-समितियों पर विशेष बल दिया गया क्योंकि वे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक थी।

अब हम अधिनियम के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर विचार करेंगे। दस वयस्कों का कोई भी समुदाय रजिस्ट्री के लिए प्रार्थना-पत्र देकर अपनी सहकारी समिति बना सकता है। शुरू के प्रार्थी तथा भविष्य में होने वाले अन्य सदस्य एक ही गाँव या जाति अथवा एक ही नगर के होने चाहिएँ। उधार समितियों के ग्रामीण या शहरी होने की कसौटी उनके सदस्यों की संख्या थी—सदस्य संख्या के ४/५ भाग का क्रमशः कृषक अथवा गैर-कृषक होना। ग्रामीण समितियों में असीमित उत्तरदायित्व का ही नियम था, परन्तु शहरी समितियों के लिए यह विषय समिति की इच्छा पर निर्भर था। ग्रामीण समिति अपने सारे लाभ को अ-हस्तान्तरणीय सुरक्षित कोष में जमा करती थी, जब तक कि किसी विशेष कारणवश स्थानीय सरकार द्वारा कोई आदेश न दिया जाय। नगरों की समितियाँ अपने लाभ का एक चौथाई हिस्सा ही अपने सुरक्षित कोष में जमा करती थीं। जिन स्थानों पर हिस्सों से पूँजी एकत्रित की जाती थी, वहाँ उनके परिमाण की कुछ सीमा निर्धारित कर दी गई थी। कोई भी सदस्य कुल हिस्सों के १/५ भाग से अधिक नहीं रख सकता था। एक अकेले सदस्य के हिस्से की कीमत १००० रुपये से अधिक नही हो सकती थी और न उसे एक से अधिक वोट देने का अधिकार होता था। समिति अपनी आवश्यक चालू पूँजी, प्रवेश शुल्क, हिस्सों तथा सदस्यों द्वारा जमा किये हुए धन और बाहर से लिये हुए ऋण से एकत्रित करती थी और इस प्रकार से एकत्रित किये हुए धन को केवल सदस्यों में ही बाँट सकती थी। एक समिति का दूसरी समिति से रुपया उधार लेना रजिस्ट्रार की स्वीकृति के अधीन था। आन्दोलन के संगठन और नियन्त्रण की देख-रेख के लिए सभी राज्यों में रजिस्ट्रारों की नियुक्ति की जाती थी। सरकार ने उनके लिए कुछ अधिकार सुरक्षित रखे थे। उदाहरण के लिए (१) अनिवार्य निरीक्षण तथा लेखा-परीक्षण, (२) आवश्यकता पड़ने पर रजिस्ट्रार द्वारा समिति का अनिवार्य विघटन—परन्तु इसके विरुद्ध प्रान्तीय सरकार से अपील की जा सकती थी, (३) नियम बनाने के व्यापक अधिकार।

आन्दोलन को साधारणतया सरकार के सहयोग, सहानुभूति तथा पथ-प्रदर्शन का आश्वासन प्राप्त था। उपर्युक्त व्यवस्था के लिए सरकार ने सरलता तथा लचीलापन, इन दो प्रधान तत्त्वों को ध्यान में रखा था—सरलता, किसानों के समझ के

---

१. देखिए, मेक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ८।

वाहर की बड़ी-बडी स्कीमों को दूर रखने के लिए रखी गई तथा लचीलापन अधिनियम में निर्धारित कुछ मोटे-मोटे नियमों के अनुकूल रहते हुए प्रत्येक प्रान्त मे आन्दोलन को उसकी आवश्यकतानुसार पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर देने के लिए। इस अधिनियम के अधीन रजिस्ट्री की हुई समितियों को उत्साहित करने के लिए सरकार ने उन्हें अनेक अधिकार और छूटें दे रखी थी।[1] उदाहरणार्थ, हम आय कर, मुद्रांक कर (स्टैम्प डयूटी) और रजिस्ट्री शुल्क से छूट, नैगम निकाय जैसी सुविधाओं का दिया जाना, मालगुज़ारी के बाद सदस्य से ऋण वसूल करने के लिए उसके अन्य साहूकारों की तुलना मे समिति की प्रथमता, सरकार द्वारा हिसाब की निःशुल्क जाँच आदि को ले सकते हैं। सरकार ने समितियो को प्रथम तीन वर्षो के लिए बिना ब्याज रुपया उधार देने का वचन दिया। मगर शर्त यह थी कि उधार की रकम दो हजार रुपये से अधिक न होगी और साथ ही समितियों द्वारा स्वतन्त्र रूप से इकट्ठे किये हुए धन के बराबर ही ऋण दिया जा सकेगा।

४. सन् १९०४ से १९१२ तक की प्रगति का दिग्दर्शन—प्रान्तीय सरकारों ने रजिस्ट्रारों के पथ-प्रदर्शन में सहकारिता की नई योजनाओं को क्रियात्मक रूप देने में बिलकुल देर नही की। प्रत्येक राज्य मे नये सिद्धान्तो ने जड़ पकड़ ली तथा आन्दोलन ने अद्भुत प्रगति की, जैसा कि हमें नीचे दी हुई तालिका से ज्ञात होगा।

वर्ष	समितियो की संख्या	प्राथमिक समितियों के सदस्यों की संख्या	चालू पूँजी रु०
१९०६-७	८४३	९०,८४४	२३,७१,६८३ रु०
१९०७-८	१,३५७	१४९,१६०	४४,१४,०८६ „
१९०८-९	१,९६३	१८०,३३८	८२,३२,२२५ „
१९०९-१०	३,४२८	२२४,३९७	१,२४,६८,३१२ „
१९१०-११	५,३२१	३०५,०५८	२,०३,०५,८०० „
१९११-१२	८,१७७	४०३,३१८	३,३५,७४,१९२ „

आन्दोलन को समारम्भकर्ताओं (प्रोमोटर्स) की आशा से कहीं अधिक सफलता मिली—कम-से-कम नई खोली जाने वाली समितियों की संख्या के बारे में तो यह बात बिलकुल सच है। विशेषकर दो दिशाओं में १९०४ के अधिनियम में परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित की गई समितियों ने वितरण और उधार से इतर उद्देश्यों वाली सहकारी समितियों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था, जिनके लिए तब तक कोई वैधानिक सुरक्षा नही दी गई थी। उसी समय पूँजी के निर्बाध सम्भरण और निरीक्षण की सुचारुतर प्रणाली की ज़रूरत के कारण विभिन्न केन्द्रीय अधिकरण बने, जिन्हें बाद में चलकर संघों तथा केन्द्रीय बैंकों के नाम से अभिहित किया गया, जिनका काम प्राथमिक सहकारी उधार-समितियों को

१. सन् १९०४ के कानून से संलग्न सर डेन्जिल इबटसन द्वारा व्याख्यात्मक लेख देखिए।

धन देना तथा उन पर नियन्त्रण रखना था। सन् १९०४ के अधिनियम में इनकी भी स्वीकृति नही थी।[1] इसके अतिरिक्त इन प्राथमिक समितियों का ग्रामीण और शहरी समितियों में विभाजन अवैज्ञानिक और असुविधाजनक था। अन्त में असीमित उत्तर-दायित्व वाली ग्रामीण समितियों में लाभ बाँटने की मनाही एक कठिनाई का कारण थी, विशेषतया मद्रास और पंजाब आदि प्रान्तों मे जहाँ हिस्से की पूँजी बहुत महत्त्व-पूर्ण हो गई थी। सम्पूर्ण स्थिति की परीक्षा के उपरान्त भारत सरकार ने सन् १९०४ के अधिनियम की इन कमियों को दूर करने के लिए एकदम नया विधान बनाने का निश्चय किया।

६. सहकारी समिति अधिनियम, १९१२—सन् १९१२ के अधिनियम ने सहकारिता के उधार से इतर रूपों—क्रय, विक्रय, उत्पादन, बीमा तथा गृह-निर्माण आदि—को स्वीकृति प्रदान की। इस अधिनियम ने प्राथमिक सहकारी समितियों से भिन्न तीन प्रकार की केन्द्रीय समितियों को भी स्वीकृति प्रदान की: (१) पारस्परिक नियन्त्रण और लेखा-परीक्षण के लिए प्राथमिक समितियों के संघ। (२) केन्द्रीय बैंक, जिनकी सदस्यता अंशतः व्यक्तियों और अंशतः समितियों से निर्मित होगी। (३) प्रान्तीय बैंक—जिनके सदस्य व्यक्ति होंगे।

सम्बद्ध राज्यीय सरकारों के साधारण अथवा विशेष आदेशानुसार बर्मा, पंजाब, मद्रास आदि राज्यों में हिस्से की पूँजी के महत्त्व के कारण, हिस्सों पर लाभांश घोषित करने की आज्ञा दी गई। सारी समितियों को स्पष्ट आदेश दिया गया कि वे अपने लाभ का चतुर्थांश सुरक्षित कोष में जमा करने के बाद शेष लाभ का कुछ भाग जो लाभ के १०% से अधिक न हो, शिक्षा अथवा दान सम्बन्धी कार्यों के लिए रख ले। नये अधिनियम द्वारा ग्रामीण और शहरी समितियों के विभेद को सीमित और असीमित दायित्व वाली समितियों का रूप देकर अधिक वैज्ञानिक आधार दे दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार उन समितियों का दायित्व सीमित रहेगा, जिनकी सदस्य रजि-स्टर्ड समितियाँ हैं और वे समितियाँ असीमित दायित्व वाली होंगी जिनका उद्देश्य केवल अपने सदस्यों के लिए उधार की व्यवस्था करना है और जिनके अधिकांश सदस्य कृषक हैं। अन्य दशाओं में उनका रूप ऐच्छिक होगा।

७. १९१२ के अधिनियम के बाद आन्दोलन की प्रगति—इस नये अधिनियम का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि सहकारी आन्दोलन को नई गति और प्रेरणा मिली। नीचे दिये गए विवरण से स्पष्ट है कि समितियों और उनके सदस्यों की संख्या तथा चालू पूँजी की मात्रा बराबर बढ़ती गई। सन् १९१४-१८ के प्रथम विश्व-युद्ध के बाद आर्थिक संकट या मन्दी आने तक आन्दोलन का विस्तार तेजी से हुआ। इसके बाद समितियों की कठिनाइयों के कारण विभिन्न राज्यो द्वारा अपनाई गई दृढ़ीकरण तथा शुद्धीकरण की नीति ने विकास की प्रगति को शिथिल कर दिया।[2]

---

१. देखिए, मेक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ५।

२. रिव्यू ऑफ द कोऑपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०) पृ० ४, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित।

	समितियो की संख्या (हजारों मे)	सदस्यों की संख्या (लाखो मे)	चालू पूँजी (करोड रुपयों में)
५ वर्ष का औसत १६१०-११ से १६१४-१५ तक	१२	५.५	५.४८
५ वर्ष का औसत १६१५-१६ से १६१६-२० तक	२८	११.३	१५.१८
५ वर्ष का औसत १६२०-२१ से १६२४-२५ तक	५८	२१.५	३६.३६
५ वर्ष का औसत १६२५-२६ से १६२६-३० तक	६४	३६.६	७४.८६
५ वर्ष का औसत १६३०-३१ से १६३४-३५ तक	१,०६	४३.२	६४.६१
१६३७-३८	१,११	४८.५	१०३.०२
१६३८-३६	१,२२	५३.७	१०६.५६
१६३६-४०	१,३७	६०.८	१०७.१०

आन्दोलन की प्रगति विभिन्न राज्यों में असमान है और उनकी पहुँच जनसंख्या के एक छोटे हिस्से तक ही हुई है। सहकारिता की प्रगति रैयतवारी प्रान्तों में बडी तेजी से हुई, क्योंकि इन प्रान्तों मे किसान को अपनी ज़मीन को रहन रखने का अधिकार था और इस प्रकार वह ठोस ज़मानत दे सकता था। ज़मीदारी-प्रथा वाले प्रान्तों में वह केवल निजी ज़मानत ही दे सकता था।

उत्पन्न की हुई वस्तुओं के विक्रय, पशु-बीमा, दूध-सम्भरण, सूत, सिल्क और खाद का क्रय तथा खेती के औज़ारों और सामान्य आवश्यक वस्तुओं का फुटकर विक्रय करने वाली नये प्रकार की अनेक सहकारी समितियाँ खोली गईं। उनमें से अनेक तेजी से उन्नति की ओर दिखाई पड़ने लगी। केन्द्रीय समितियों की संख्या भी बड़ी तेजी से बढने लगी और प्रकट रूप से आन्दोलन में जनता का विश्वास तेजी से दृढ़ होता जा रहा था। सन् १६१४ में भारत सरकार ने पूरी स्थिति पर पुनः विचार किया और अनुभव द्वारा प्राप्त किये हुए व्यावहारिक ज्ञान का सामान्यतः समावेश करते हुए एक व्यापक प्रस्ताव जारी किया। आन्दोलन में लगाई हुई पूँजी दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी, प्राथमिक सहकारी समितियों से ऊपर के स्तर पर आर्थिक प्रबन्ध जटिल हो रहा था तथा निरीक्षण एव लेखा-परीक्षण सम्बन्धी नियमों का स्पष्टीकरण भी आवश्यक हो रहा था। अतः आन्दोलन को और आगे बढाने के लिए उसके पोषण और प्रोत्साहन का उत्तरदायित्व स्वीकार करने से पूर्व सरकार यह निश्चय कर लेना चाहती थी कि आन्दोलन एक सुदृढ आर्थिक आधार पर बढ रहा है।[1] इन परिस्थितियों में प्रश्न के इस पहलू की जाँच करने और रिपोर्ट देने के लिए सन् १६१४ में मेक्लेगन समिति

१. देखिए, मेक्लेगन कमिटी रिपोर्ट, पैरा ६।

की नियुक्ति हुई। सन् १९१५ में इस समिति की महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट छप जाने के बाद आन्दोलन ने प्रगति के तीसरे अवस्थान में प्रवेश किया। प्रथम और द्वितीय अवस्थानों का द्योतन क्रमश: १९०४ और १९११ के अधिनियम करते हैं जिसमें भावी उन्नति के लिए व्यापक रचनात्मक प्रस्ताव दिये गए। आन्दोलन को गैर-सरकारी सहयोग भी काफ़ी मात्रा में मिला तथा ग्रामीण उधार के अतिरिक्त अन्य दिशाओं में भी उसने पर्याप्त उन्नति की। १९१९ के सुधार अधिनियम (रिफार्म्स एक्ट, १९१९) के अन्तर्गत सहकारिता राज्यीय विषय बन गया और उसका दायित्व मन्त्रिमण्डल के किसी सदस्य को दे दिया गया। इसे आन्दोलन के विकास का चौथा अवस्थान कहा जा सकता है। सुधार अधिनियम के अनन्तर प्रारम्भ में बहुत से राज्यों ने अपनी स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल सहकारी आन्दोलन को आगे बढ़ाया। बम्बई ने १९२५ में एक अलग सहकारी-समिति-अधिनियम बनाकर अन्य प्रान्तों का पथ-प्रदर्शन किया। यद्यपि बम्बई अधिनियम मुख्यत: १९१२ के अधिनियम के स्वरूप पर ही आधारित था, परन्तु नीचे लिखी बातों में वह सन् १९१२ के अधिनियम से आगे बढ़ा हुआ है।

(१) उद्देश्य, अर्थ तथा कार्य-प्रणालियों के अनुसार विभिन्न समितियों का स्पष्ट वर्गीकरण। (२) समिति के ऋण से किसी सदस्य द्वारा उगाई गई फसलों पर समिति को प्रथम अधिकार देना। (३) रद्द की हुई समितियों के अपाकरण की कार्य-विधि में सुधार। (४) विवाचकों (पंचों) के निर्णय द्वारा तुरन्त ही वसूलयावी करने के अधिकारों का विस्तार। (५) निर्दिष्ट अपराधों के लिए सज़ा की व्यवस्था।[1] बम्बई द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण अन्य प्रान्तों, जैसे मद्रास (१९३२), बिहार और उड़ीसा (१९३५), कुर्ग (१९३७) और बंगाल (१९४१) ने भी किया। जिन प्रान्तों ने नया अधिनियम नहीं बनाया—उदाहरणार्थ उत्तरप्रदेश—वहाँ सन् १९१२ का अधिनियम ही संशोधित रूप में लागू है।

यद्यपि सन् १९२१ से भारतवर्ष में समितियों की संख्या में काफ़ी वृद्धि हुई, परन्तु बाद में—विशेषकर चौथी दशाब्दी के सहकारी आर्थिक संकट के पश्चात्, समितियों के तेजी से विस्तार के बजाय तत्कालीन समितियों की स्थिति सुधारने तथा उनके पुनर्निर्माण और पुनःसंगठन की दिशा में अधिक प्रयत्न किये गए। सहकारिता के हाल के इतिहास को, रिज़र्व बैंक में कृषि-उधार विभाग की स्थापना, (आगे सेक्शन २२ देखिए) अनेक प्रान्तों के ग्राम-सुधार आन्दोलन और सन् १९३७ में भारत के ८ राज्यों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के बनने आदि महत्त्वपूर्ण घटनाओं ने प्रभावित किया है।

८. सन् १९३९-४५ के विश्वयुद्ध के समय सहकारिता आन्दोलन—सन् १९३९ के विश्वयुद्ध के प्रारम्भ में सहकारिता आन्दोलन एक नये सन्तुलन और प्रगति के नये आधार की खोज में प्रयत्नशील था। निश्चित समय पर न चुकाये हुए ऋणों के अपाकरण की तथा सहकारी आन्दोलन को सशक्त बनाने की प्रारम्भिक आशाएँ पूरी नहीं हो सकीं, जिसका कारण चीजों के भावों, विशेष रूप से कृषि-उत्पाद के भावों, की अनिश्चित गति थी। युद्ध ने ऐसे सूत्रों का मिलना भी दुष्कर बना दिया जहाँ से

१. देखिए, डी० जी० खाण्डेकर, द बॉम्बे कोआपरेटिव सोसाइटीज़ एक्ट, १९२५, पृ० ३।

हर समय सस्ते ब्याज पर दीर्घकालिक ऋरण मिल सके। इसके अतिरिक्त युद्ध के प्रारम्भ में सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों के साथ ही सहकारी बैंकों को जमा पूँजी लौटाने की कठिनाई का सामना करना पड़ा। मई-जून सन् १९४० में उन्हें पुनः इस कठिनाई का अनुभव हुआ। शीघ्र ही लोगों में फिर विश्वास की भावना आ गई। युद्ध के अन्य उल्लेखनीय प्रभाव ये थे कि कुछ प्रान्तों में मुनाफाखोरी से बचने के लिए उपभोक्ता-भण्डारों की स्थापना को प्रोत्साहन मिला तथा उत्पादकों को ऊँचे मूल्यों का लाभ देने के लिए सहकारी विक्रय को प्रेरणा मिली। इसके अतिरिक्त युद्ध ने अनेक छोटे-छोटे उद्योगों, जैसे हाथ के करघे पर ऊनी और सूती कपड़े की बुनाई,[1] को प्रोत्साहित किया। यह स्वाभाविक ही था कि सहकारी विभागों ने सरकार से प्राप्त अनुदानों की सहायता से छोटे उद्योगों की उन्नति में खूब दिलचस्पी ली तथा उन्हें परामर्श और पथ-प्रदर्शन द्वारा उत्साहित किया।[2]

१२ सितम्बर, सन् १९४४ को भारत सरकार ने प्रो० डी० आर० गाडगिल की[3] अध्यक्षता में कृषि-वित्त उप-समिति की नियुक्ति की। इसका कार्य ऋरण कम करने के उपायों तथा अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋरण पर उचित नियन्त्रण के तरीकों पर रिपोर्ट प्रस्तुत करना था। १८ जनवरी, सन् १९४५ को रजिस्ट्रारों के चौदहवें सम्मेलन की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने श्री आ० जी० सरैया की अध्यक्षता में सहकारी आयोजन समिति की नियुक्ति की। इसका कार्य सहकारी आन्दोलन के विकास के लिए एक योजना तैयार करना था। इस समिति ने व्यापक सिफारिशें पेश कीं। उनके अनुसार प्राथमिक ऋरण-समितियों के बजाय बहुध्येयी समितियों का संगठन अधिक वाञ्छनीय और आवश्यक था। पुनः प्राप्त भूमि भूमिहीन मजदूरों तथा पूर्व-सैनिकों के लिए सुरक्षित रखी जाय और उन्हें सहकारी कृषि-समिति में संगठित किया जाय। प्रत्येक ज़िले में कम-से-कम दो सहकारी-कृषि-समितियों की स्थापना की सिफारिश की गई। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों पर, उदाहरणार्थ कृषि-उत्पत्ति की सहकारी बिक्री, दूध के सम्भरण, शहरी साख आदि पर भी विस्तृत सुझाव दिये गए।

मई सन् १९४७ में गाडगिल कमेटी (कृषि-वित्त-उपसमिति) तथा सरैया-कमेटी (सहकारी आयोजन समिति) की सिफारिशों पर रजिस्ट्रारों के पन्द्रहवें सम्मेलन में विचार किया गया। इस सम्मेलन में रजिस्ट्रारों के सम्मेलन और अखिल भारतीय सहकारी संस्था द्वारा आयोजित सम्मेलन—दोनों सम्मेलनों को एक कर देने के विषय पर भी विचार किया। सन् १९४९ में दोनों सम्मेलन एक कर दिये गए। इससे आन्दोलन में सरकारी तथा गैर-सरकारी सहयोगियों के मध्य सम्पर्क और सहयोग की वृद्धि हुई। रजिस्ट्रारों के इस पन्द्रहवें सम्मेलन के कुछ दिन बाद ही देश स्वतन्त्र हुआ और

१. देखिए, अध्याय १३, तथा खण्ड २, अध्याय २।

२. रिव्यू ऑफ द को-आपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ० २-३, सिक्स्थ रिपोर्ट ऑफ द बाम्बे प्रॉविन्शल को-आपरेटिव लैण्ड मॉर्गेज बैंक (१९४१) तथा द इण्डियन को-आपरेटिव रिव्यू, जनवरी-मार्च १९४० में वी० एल० मेहता का लेख।

३. इस पैरे से लेकर पृष्ठ ३३५ सेक्शन ९ के ऊपर तक का अंश अनुवादक द्वारा जोड़ा गया है।

विभाजित भी। इस घटना ने आन्दोलन के समक्ष अनेक नई समस्याएँ उत्पन्न कर दीं और कुछ समय के लिए उसकी गति अवरुद्ध हो गई; परन्तु शीघ्र ही आन्दोलन नवीन समस्याओं के हल में व्यस्त हो गया और सामान्य प्रगति फिर से होने लगी।

विभाजन के बाद सहकारिता आन्दोलन—विभाजन के पश्चात् सहकारिता-आन्दोलन को अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं ने प्रभावित किया। लाखों व्यक्तियों की पुनर्वास की समस्या के निदान का भार सहकारिता आन्दोलन पर भी पड़ा। भारत सरकार के पुनर्वास मन्त्रिमण्डल ने विस्थापित व्यक्तियों की सहकारी समितियों द्वारा पुनर्स्थापना की सम्भावनाओं की जाँच करने के लिए एक समिति (कमेटी) नियुक्ति की जिसने समितियों के प्रकार तथा उन्हें दी जाने वाली आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में सितम्बर सन् १९४८ में अपनी रिपोर्ट दी। जिन राज्यों के सामने यह समस्या थी, उन्होंने इस उद्देश्य से विभिन्न प्रकार की समितियों का संगठन किया। पंजाब राज्य में जहाँ यह समस्या अधिक विषम थी, सहकारिता का प्रयोग लगभग नहीं के बराबर किया गया। सम्भवतया इसे सहकारिता की सामर्थ्य से परे समझकर ही यह काम एक अलग विभाग को सौंप दिया गया। कुछ अन्य राज्यों में जैसे बम्बई, मध्यप्रदेश, दिल्ली आदि में इस दिशा में ठोस कदम उठाये गए। सन् १९४९-५० के अन्त में बम्बई राज्य में विभिन्न प्रकार की १२४ सहकारी समितियाँ विस्थापित व्यक्तियों की सहायता के लिए काम कर रही थीं। उनकी सदस्य-संख्या तथा चालू पूँजी क्रमशः २४९६ तथा ३.२६ लाख रुपये थी। वहाँ की राज्यीय सरकार का आदेश है कि सरकार की ओर से विस्थापित व्यक्तियों के कैम्पों में किया जाने वाला कार्य सहकारी समितियों को सौंप दिया जाय। मध्यप्रदेश में १९४९-५० में तीन सहकारी कृषि-समितियाँ, ४ गृह-निर्माण समितियाँ; ३ उद्योग समितियाँ तथा दो सहकारी भण्डार विस्थापित व्यक्तियों के लिए काम कर रहे थे। दिल्ली प्रान्त की सरकार ने विस्थापित व्यक्तियों के मध्य सहकारी-समितियों के संगठन के लिए सन् १९४८-४९ में विशेष कर्मचारियों की नियुक्ति की। उनका ध्येय ऐसी ५०० समितियों का संगठन था, परन्तु कुछ कठिनाइयों के कारण वे उसे पूरा नहीं कर सके। सन् १९४९-५० के अन्त में वहाँ इस प्रकार की ३४८ समितियाँ काम कर रही थी।

युद्ध के अनन्तर सभी देशों में, सेना से निकाले हुए व्यक्तियों की पुनर्स्थापना का प्रश्न समान रूप से उठा। इस कार्य के लिए भारत में युद्धोत्तर सैनिक-सेवा पुनर्निर्माण कोष [1] से आवश्यक धन प्राप्त हुआ। कुछ राज्यों ने इस समस्या को सुलझाने के लिए सहकारी समितियों का संगठन किया। इन समितियों ने साधारणतया सहकारी उद्योग-शालाओं (कारखानों) का रूप लिया। अन्य प्रकार की समितियों का भी संगठन हुआ है जिनमें उपनिवेशन समितियाँ मुख्य हैं। मद्रास में ऐसे व्यक्तियों के लिए १० उपनिवेशन समितियाँ थीं, जिन्होंने ५, ३०० एकड़ भूमि को सन् १९४९-५० के अन्त तक कृषि योग्य बना लिया था।

खाद्य-उत्पत्ति बढ़ाने में भी सहकारिता ने काफी हाथ बटाया। खाद्य और कृषि-

१. पोस्ट वार सर्विसिज़ रिकन्स्ट्रक्शन फ़एड।

सम्बन्धी औजारों के वितरण का काम सहकारी-समितियों को सौंपा गया। सदस्यों को सस्ती दर पर रुपया उधार देकर तथा तेल से चलने वाले इन्जनों की स्थापना करके, उन्होंने विस्तृत और घनी, दोनों प्रकार की कृषि को प्रोत्साहित किया।

अनेक राज्यों में बहुध्येयी सहकारी-समितियों का विकास पूर्णता से हुआ। प्राथमिक समितियों के संगठन में यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। सरैया समिति ने सिफारिश की थी कि दस वर्ष के अन्दर ५०% गाँव और ३०% जनसंख्या बहुध्येयी समितियों के अन्तर्गत आ जानी चाहिए। सन् १९४८-५० में मद्रास और बम्बई ने क्रमशः ६१% तथा ५३% गाँवों में बहुध्येयी सहकारी समितियाँ संगठित कर ली थीं। उत्तर-प्रदेश में सन् १९४७ मे प्रारम्भ की गई विकास-संयोजन योजना[1] के अन्तर्गत इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। सन् १९४९-५० में वहाँ २२,७८६ बहुध्येयी समितियाँ काम कर रही थी।

सहकारिता आन्दोलन की सन् १९४९-५० तक की प्रगति निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट है :[2]

वर्ष	समितियों की संख्या (हजारों में)	सदस्य सख्या (लाखों में)	चालू पूँजी (करोड़ों रुपयों में)
१९०६-१०	१.९३	१.६२	०.६८
१९११-१५	११.७९	५.४८	५.४८
१९१६-२०	२८.४८	११.२९	१५.१८
१९२१-२५	५७.७१	२१.५५	३६.३६
१९२६-३०	९३.९४	३६.८९	७४.८९
१९३१-३५	१०५.७१	४३.२२	९४.६१
१९३६-४०	११६.९६	५०.७७	१०४.६८
१९४१-४५	१४९.८९	७२.१८	१२४.३५
१९४५-४६	१७२.१७	९१.६३	१६४.००
१९४६-४७	१३९.१४	९१.०१	१५६.०१
१९४७-४८	१४९.७७	१०१.१७	१७१.०६
१९४८-४९	१६३.८८	१२७.०७	२१९.४९
१९४९-५०	१७३.०९	१२५.६१	२३३.१०

उपर्युक्त आँकड़ों के आधार पर हम सहकारी आन्दोलन को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) प्रारम्भ से लेकर सन् १९४७ तक का समय, जब देश का विभाजन हुआ तथा (२) विभाजन के बाद का समय। विभाजन के बाद प्रारम्भ में आन्दोलन की अवनति अवश्य हुई, परन्तु बाद में इतनी अच्छी प्रगति हुई कि १९४९-५० के आँकड़े अविभाजित भारत से भी अधिक हो गए। सन् १९४५-४६ के आँकड़ों की तुलना सन् १९४९-५० के आँकड़ों से कीजिए। सन् १९४५-४६ की तुलना में सन् १९४९-५० में समितियों की संख्या, सदस्य-संख्या तथा चालू पूँजी में क्रमशः ५%, ३७% तथा ४२%

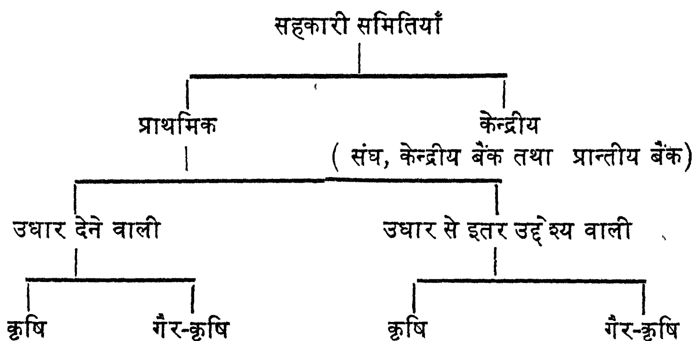
१. डेवलपमेंट कोआर्डिनेशन प्लान।

२. रिव्यू ऑफ द को-आपरेटिव मूवमेण्ट इन इण्डिया (१९४९-५०)।

की वृद्धि हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभाजन के पश्चात् सहकारी आन्दोलन ने विभिन्न क्षेत्रों में पदार्पण किया। वह अब केवल उधार-सहकारिता तक ही सीमित नहीं है। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि देश में उधार-सहकारिता की प्रधानता खत्म हो गई है। सन् १९४९-५० में भी १६९.६६ हज़ार प्रारम्भिक समितियों में १२४.०६ हज़ार उधार-समितियाँ थीं, अर्थात् कुल समितियों में से ७३.१% साख समितियाँ थीं। उधार-सहकारिता देश की कृषि-परिस्थितियों के कारण अवश्य ही प्रधान रहेगी, परन्तु इससे सहकारिता की कार्य-परिधि के विस्तार में कोई बाधा नहीं पड़ती। हमारा विश्वास है कि भविष्य में सहकारिता आन्दोलन की कार्य-परिधि विस्तृत ही होती जायगी।

९. सहकारी समितियों का वर्गीकरण—अब हम सहकारी आन्दोलन के प्रधान तत्त्वों का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे। सहकारी समितियों के निम्न वर्गीकरण से भारत में निर्मित सहकारिता के जटिल स्वरूप का कुछ आभास मिल सकता है :



समितियों के मुख्य वर्गों की सापेक्षिक महत्ता का कुछ अनुमान निम्न तालिका से किया जा सकता है[1] :

प्रकार	समितियों की संख्या		सदस्यों की संख्या	
	३० जून		३० जून	
	१९१६	१९५१	१९१६	१९५१
१. राज्य बैंक	५	१५	३,५५५	२०,६६६
२. केन्द्रीय बैंक	२३९	५०५	४४,७८८	२०७,४८२
३. कृषि-समितियाँ	१७,७२९	१४९,२७७	७१७,०००	८,५१९,०००
४. गैर-कृषि समितियाँ	१,०१९	२८,३२८	१४८,०००	४,९८१,०००
कुल योग	१८,९९२	१७८,१२५	९१३,३४३	१३,७२८,१४८

रोम की अन्तर्राष्ट्रीय कृषि संस्था (इण्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ एग्रीकल्चर एट रोम) के सुझाव पर प्रान्तों में सरकारी तौर पर सहकारी समितियों का विभाजन इस आधार पर है : (१) उधार, (२) क्रय या क्रय और विक्रय, (३) उत्पादन, (४)

१. बैंकिंग एण्ड मॉनिटरी स्टैटिस्टिक्स ऑफ़ इण्डिया, पृ० ३८६। (रिज़र्व बैंक द्वारा प्रकाशित, १९५४)

उत्पादन और विक्रय, (५) बीमा तथा (६) अन्य ।

नीचे दिये हुए आँकड़े विभिन्न प्रकार की (१) कृषि तथा (२) गैर-कृषि समितियों की सन् १९५२ तक की प्रगति का कुछ आभास कराते हैं ।[1]

उधार	क्रय तथा क्रय-विक्रय	उत्पादन	उत्पादन और विक्रय	अन्य	कुल योग	सदस्यों की संख्या (हजारों में)
		कृषि समितियाँ				
१,१५,४६२	१०,४८२	११,९६१	५,९२९	५,२०३	१,४९,०३७	८,५०७
		गैर-कृषि समितियाँ				
७,८०७	८,३४५	८३६	६,४१५	४,८३७	२८,२४०	४,९७७

इस तालिका से स्पष्ट है कि उधार-समितियों का, विशेषतः कृषि-उधार समितियों का, प्राधान्य है और उनके मुक़ाबले में दूसरे प्रकार की समितियों का विकास बहुत ही नगण्य है, हालांकि इस दिशा में स्थिति धीरे-धीरे सुधरती जा रही है । यह वर्गीकरण कुछ दोषपूर्ण है, क्योंकि इस पर आधारित विवरण कुछ महत्त्वपूर्ण दिशाओं में भारतीय सहकारिता के सच्चे विकास का सही अनुमान नहीं देता । उदाहरणार्थ भारत में बहुत सी उधार समितियों ने उधार देने के अपने मुख्य कार्य के अलावा क्रय, विक्रय, उत्पादन अथवा इनमें से दो या तीन कार्यों को एक साथ करने का प्रयत्न भी किया है ।

१०. प्राथमिक कृषि-उधार समितियाँ—अब हम कुल समितियों के अधिकांश भाग का प्रतिनिधित्व करने वाली ग्रामीण उधार-समितियों पर विशेष ज़ोर देते हुए सहकारी समितियों के विभिन्न प्रकारों के विवेचन करेंगे । एक ठेठ प्राथमिक कृषि-उधार समिति से आरम्भ करके हम यह अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :

(१) आकार—प्रस्तावित ग्रामीण उधार समिति की रजिस्ट्री के लिए कोई भी दस व्यक्ति प्रार्थना-पत्र दे सकते हैं । अच्छा तो यह होगा कि समिति के सदस्यों की संख्या सौ से अधिक किसी हालत में न हो, क्योंकि सदस्यों की संख्या बढ़ने के साथ प्रबन्ध और निरीक्षण की क्षमता घट जाती है और सदस्यों को प्रशिक्षण भी उतने अच्छे ढंग से नहीं मिल पाता ।

(२) कार्य-क्षेत्र—रेफेज़न का नियम यह है कि जहाँ तक सम्भव हो एक गाँव के लिए एक ही समिति होनी चाहिए । साधारणतया ऐसा होता भी है । यह सदस्यों में पारस्परिक ज्ञान तथा नियन्त्रण बनाए रखने के लिए आवश्यक है । विचारणीय बात यह है कि मद्रास की सहकारिता समिति (मद्रास कमेटी आन को-आपरेशन) ने छोटी-छोटी समितियों के समेकन और उनके पुनर्संगठन का समर्थन किया है ताकि उनका कार्य-क्षेत्र बढ़ाया जा सके । उदाहरण के लिए ३ से ५ मील तक के घेरे में आने वाले क्षेत्र उसकी

१. वही ।

हद में आ जायँ। यह योजना समितियों को आर्थिक इकाइयों में परिणत करेगी तथा सहकारी आन्दोलन को उचित समय में विशाल ग्रामीण क्षेत्रों में फैलने योग्य बनाएगी।[1] बम्बई में बहुध्येयी समितियाँ गाँवों के एक समूह के लिए संगठित की जा रही हैं (देखिए, आगे सेक्शन १३)। कार्य-क्षेत्र के विस्तार का सीमित दायित्व के पक्ष में दिये गए सुझाव से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसका विवेचन नीचे (३) में किया गया है।

(३) दायित्व—जब तक सरकार द्वारा छूट न मिल जाय, तब तक दायित्व असीमित होता है। जैसा कि मैक्लेगन कमेटी ने कहा है, असीमित दायित्व का अर्थ अंशदायी असीमित दायित्व है, अर्थात् दोषी होने पर, जब समिति ऋणदाताओं के प्रति अपना वादा पूरा नहीं कर पाती है तो हिस्सों की पूर्ण अदायगी के बाद प्रत्येक सदस्य से व्यक्तिशः देय-अंश निश्चित कर उसे वसूल किया जाता है। ऋणदाता किसी एक सदस्य पर अलग से प्रत्यक्ष कार्यवाही नहीं कर सकता।[2] इसके समर्थकों का कथन है कि असीमित दायित्व से दो लाभ हैं: असीमित दायित्व पारस्परिक नियन्त्रण और निरीक्षण को प्रोत्साहन देकर सदस्यों के ऊपर शिक्षणात्मक प्रभाव डालता है तथा बाहर के ऋणदाताओं में विश्वास उत्पन्न कर समिति की साख बढ़ाता है। आधुनिक मत सीमित दायित्व के पक्ष में बदल रहा है। उदाहरणार्थ सन् १९३९-४० में मद्रास की सहकारिता-समिति ने यह विचार प्रकट किया कि असीमित दायित्व की उपयोगिता समाप्त हो गई है और उन्होंने बहुमत से पुनर्संगठित समितियों के लिए सीमित दायित्व की सिफारिश की। समिति ने कहा है कि हाल के अपाकरण (liquidations) में असीमित दायित्व उन सदस्यों के लिए कठोर सिद्ध हुआ है जिन्होंने न तो कोई ऋण लिया था और न जिनकी कोई और देनदारी थी। उसने आन्दोलन को बदनाम किया है एवं ऋण चुकाने योग्य उच्चवर्ग के किसानों को दूर रखा है तथा इसके विषय में पारस्परिक चौकसी और नियन्त्रण की आधारभूत धारणा आधुनिक ग्राम्य जीवन के बारे में सत्य नहीं।[3] फिर भी इस समय अधिकांश विचारक असीमित दायित्व का ही पक्ष लेते हैं। उनका कहना है कि वह सहकारिता का अति आवश्यक और मूलवर्ती सिद्धान्त है। उसका आकस्मिक परिवर्तन ऋणदाताओं के विश्वास को हिला देगा और आन्दोलन में पूँजी के निवेश पर असर डालेगा। इसके विपरीत, जैसा कि डॉ० बी० वी० एन० नायडू का कथन है, सीमित दायित्व के आधार पर काम करने वाली शहरी सहकारी समितियाँ भी सहकारी ही हैं तब क्यों न इस नियम को उन बृहत्तर (बहुध्येयी) ग्रामीण समितियों के लिए भी अपनाया जाय जिनका संगठन प्रस्तावित है।[1]

(४) प्रबन्ध—प्रबन्ध अवैतनिक और जनतन्त्रीय होता है। यह काम दो मण्डलों को सौंपा जाता है: (१) सारे सदस्यों की एक साधारण सभा और (२) साधारण सभा

१. रिपोर्ट आफ द कमेटी आन कोआपरेशन इन मद्रास, पृष्ठ १५४।
२. मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ४७।
३. रिपोर्ट ऑफ द कमेटी ऑन को-आपरेशन इन मद्रास, पैरा १९५।
४. १९४१ के २४वें राज्यीय सहकारी कान्फ्रेन्स, मद्रास, के सभापति पद से डॉ० बी० वी० एन० नायडू का भाषण देखिए; आगे सेक्शन १३ भी देखिए।

की वार्षिक बैठक में उसके सदस्यों में से ही चुने हुए ५ से ९ व्यक्तियों तक की एक प्रबन्ध-समिति। साधारण सभा प्रबन्ध समिति के सदस्यों का चुनाव, वैतनिक मन्त्री की नियुक्ति (जो सदस्य नहीं होगा), प्रबन्ध-समिति द्वारा प्रस्तुत वार्षिक चिट्ठे की स्वीकृति, रजिस्ट्रार और लेखा-परीक्षणों के आदेशों और रिपोर्टों पर विचार, आवश्यकता पड़ने पर सदस्यों का बहिष्कार, समिति तथा व्यक्तिगत सदस्यों के उधार की सीमा का निर्धारण और समितियों के उपनियमों का सुधार करती है। प्रबन्ध समिति सहकारी समिति की दैनिक कार्यवाही और शासन-कार्य के लिए उत्तरदायी है। यह नये सदस्यों को भरती करने के साथ सदस्यों द्वारा दिये गए ऋण के प्रार्थना-पत्रों पर कार्यवाही करती है; सदस्यों से शेष ऋणों को वसूल करने के साथ उन पर निरीक्षण करती है। यह समिति के लिए पूँजी एकत्र करती और मन्त्री के हिसाब-किताब की जाँच भी करती है।

(५) चालू पूँजी—इसके साधन दो हो सकते हैं : आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक साधन का निर्माण, सदस्यों के प्रवेश शुल्क, निक्षेप, हिस्सा पूँजी तथा समिति के सुरक्षित कोष की अतिरिक्त सम्पत्ति से होता है। प्रवेश शुल्क प्रारम्भिक खर्चे को पूरा करने के लिए आवश्यक है। सदस्यता के विशेषाधिकार त्याग से ही मिलते हैं, यह भली प्रकार समझाने का कार्य भी इससे पूरा होता है। पंजाब मद्रास और उत्तरप्रदेश के सिवाय अन्य स्थानों में हिस्सा पूँजी का कोई महत्त्व नहीं है। हाल ही में, बम्बई राज्य में (विशेषकर नहर वाले क्षेत्रों में) किश्तों द्वारा हिस्सा लेने की प्रणाली का प्रारम्भ किया गया है। यह स्तुत्य है, क्योंकि इससे एक तो दूसरी 'रक्षा-पंक्ति' तैयार होती है और साथ ही 'सदस्यों के असीमित दायित्व का कुछ आधार मिल जाता है।' साधारणतया इसका समर्थन इस आधार पर होता है कि यह यथेष्ठ और स्थायी पूँजी की शीघ्र प्राप्ति के लिए सहकारी संस्थाओं की सहायता करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति सबसे अच्छी तरह ऋण लेने और देने की दरों के यथासम्भव विस्तृत अन्तर से निर्मित सुरक्षित कोष से होती है, परन्तु यह अन्तर वित्तीय आत्म-निर्भरता प्राप्त करने और उधार देने की सस्ती व्यवस्था के अनुरूप होना चाहिए। साधारणतया भारत में ब्याज की दर बहुत ऊँची है, इसलिए उधार लेने और देने पर ब्याज की दरों में ऐसा अन्तर सम्भव है। ब्याज की बहुत नीची दर को भी निरुत्साहित करना चाहिए, क्योंकि यह ऋण लेने वालों को पुनः उधार लेने का प्रलोभन दे सकती है। उपर्युक्त प्रान्तों में ग्रामीण उधार-समितियों के सदस्यों ने हिस्सा पूँजी के लिए अपनी अधिमान्यता (Preference) प्रकट की है, ताकि उनकी अपनी पूँजी हो सके। यदि हिस्सों (शेअर्स) का नतीजा निर्धनों को सदस्य होने से रोकना तथा साधारण सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों की तरह लाभांशबाजी को जन्म देना नहीं तो इसके विरोध की कोई आवश्यकता नहीं है। सच तो यह है कि पूँजी के लिए बाहरी एजेन्सियों पर निर्भरता कम करने के लिए हिस्सों का होना आवश्यक है। ग्रामीण उधार समिति की आवश्यक पूँजी एकत्रित करने का सबसे अच्छा साधन स्थानीय निक्षेप (जमा) है, क्योंकि इससे ग्रामीणों में किफ़ायतसारी की आदत पैदा होती है तथा सुरक्षित द्रव्य बढ़ता रहता है और समिति के प्रबन्ध में अपने निक्षेपों पर स्वयं चौकसी करने वाले

उपयोगी व्यक्तियों की दिलचस्पी बढ़ती है।[1] जर्मनी की रेफेज़न समितियों की तुलना में जो अपनी आवश्यक पूँजी मुख्यतया स्थानीय निक्षेपों से प्राप्त करती हैं, भारत की ग्रामीण उधार समितियों द्वारा एकत्रित निक्षेप उनकी कुल चालू पूँजी का एक छोटा-सा अंश है। इस प्रकार के निक्षेपों को बढ़ाने के लिए चारों ओर प्रयत्न किये जा रहे हैं। बम्बई राज्य के अतिरिक्त, जहाँ पर सदस्यों का निक्षेप चालू पूँजी का $\frac{1}{2}$ भाग है, अन्य स्थानों में बहुत कम सफलता मिली है। बैंकों में जमा करने की आदत की प्रधानतया ग्रामीण क्षेत्रों में अभी शुरुआत ही हुई है। वाणिज्य और उधार दिये हुए रुपये पर निक्षेपों की तुलना में अधिक ब्याज मिलता है। देश के समुन्नत भागों में ज़मीन अथवा सोना-चाँदी खरीदने की प्रवृत्ति अब भी विद्यमान है। वर्तमान ग्रामीण उधार समितियों में हर वर्ग के लोग नहीं हैं, वे अधिकांशतः निर्धनों से ही बनी हैं। धनी व्यक्ति इनसे दूर हैं और वे साहूकारों का काम करते हैं। जनता की औसत आय बहुत थोड़ी है, अतः बचत बिलकुल नहीं हो पाती है। जब तक कि निक्षेप में पर्याप्त वृद्धि नहीं होगी, सहकारिता अपने इस उद्देश्य में अवश्य ही असफल रहेगी। अनिवार्य निक्षेप की प्रणाली ठीक नहीं है। मितव्ययिता किश्तों में अदा किये जाने वाले हिस्सों को प्रारम्भ करने से अच्छी तरह प्रोत्साहित की जा सकती है।

अब हम पूँजी के बाह्य साधनों पर विचार करेंगे। यह (बाह्य) पूँजी अन्य समितियों, सरकार और मुख्यतया वित्तीय संस्थाओं, जैसे केन्द्रीय तथा राज्यीय सहकारी बैंकों के, जो हर राज्य में बहुत ही आवश्यक हैं, निक्षेप और ऋण से प्राप्त होती है। सरकार ने दान की नीति का परित्याग कर बड़ी बुद्धिमानी की। साथ ही अपने द्वारा दिये जाने वाले ऋण की मात्रा बहुत थोड़ी कर दी है। जब हम सहकारी वित्त के प्रश्न का विवेचन करेंगे, तो केन्द्रीय वित्तीय समितियों के बारे में कुछ और कहेंगे। यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि आज ग्रामीण उधार-समितियाँ अधिकांशतः बाह्य ऋणों, हिस्सों और निक्षेपों पर आधारित हैं, जो कुल चालू पूँजी का एक अंश ही होते हैं।

निम्नलिखित आँकड़े जून सन् १९५१ में भारत-संघ की समस्त सहकारी समितियों की चालू पूँजी की संघटना पर प्रकाश डालते हैं।[2]

पूँजी तथा संचय	**रुपया (हजारों में)**
हिस्सा पूँजी (परिदत्त)	४१,०२,९३
सुरक्षित तथा अन्य कोष	३२,००,६२
निम्नांकित से प्राप्त ऋण और निक्षेप	
व्यक्ति तथा अन्य	९७,०७,१९
समितियाँ	१६,९६,७३
केन्द्रीय तथा राज्य बैंक	४३,०२,५६
सरकार	८,३६,६४

१. मैक्लेगन कमेटी की रिपोर्ट, पैरा ४८।
२. बैंकिंग एण्ड मानीटरी स्टैटिस्टिक्स ऑफ इण्डिया, (१९५४), पृ० ३८४।

रिजर्व बैंक		३,१५,००
	कुल जोड़	२५४,६५,६२

(६) ऋण का उद्देश्य—सदस्यों को ऋण केवल तीन ही उद्देश्यों से दिया जाता है। ये उद्देश्य हैं प्रतिफलात्मक कार्य, अप्रतिफलात्मक कार्य और पूर्व ऋण से मुक्ति। प्रतिफलात्मक ऋण तीन प्रकार का होता है: (१) चालू, कृषि-कार्यो के लिए; (२) सरकारी करों को चुकाने के लिए अल्पकालीन ऋण और (३) भूमि की स्थायी उन्नति लिए दीर्घकालीन ऋण। उत्सवों जैसे अप्रतिफलात्मक कार्यों के लिए ऋण देना सिद्धान्ततः उचित नही है, परन्तु किसानों को महाजनों के पञ्जे से बचाने के लिए वे आवश्यक हो जाते हैं।[१] उत्सवादि के सम्बन्ध मे मितव्ययिता सिखाने के लिए इन ऋणों को अत्यावश्यक कार्यो के लिए ही दिया जाना चाहिए और इनकी मात्रा भी सीमित कर देनी चाहिए। पूर्व ऋणों की मुक्ति के सम्बन्ध में आदर्श नीति यह होनी चाहिए कि सदस्य केवल समिति का ही देनदार रहे तथा इस प्रकार के अन्य सम्बन्धों से मुक्त हो जाय। ऋणों से एकदम पूर्ण मुक्ति अव्यावहारिक तथा अवाञ्छनीय है। यह अव्यावहारिक तो इसलिए है, क्योंकि इसके लिए सदस्यों को ऋण देने के लिए आवश्यक धन के अतिरिक्त बहुत बड़ी मात्रा में धन एकत्रित करना होगा जो कि असम्भव है; अवाञ्छनीय इसलिए है कि हमें सदैव घोर ऋण में फँसे रहने वाले व्यक्ति की, जैसा कि भारत का एक सामान्य किसान होता है, मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को भी ध्यान में रखना चाहिए। ऋण के भार से एक ही बार पूर्णतया मुक्ति जैसी आश्चर्यजनक करामात यदि सम्भव भी हो, यह किसानों को नैतिक पतन की ओर ले जायगी, जब तक कि फिजूल और अनाप-शनाप खर्चों को रोकने के लिए दृढ़ कदम न उठाये जायँ। बैंकों के दृष्टिकोण से दीर्घकालीन और अल्पकालीन ऋण का संयोग अवाञ्छनीय है। निपुण सहकारी विशेषज्ञों के अनुसार साधारण ग्रामीण उधार-समिति को दीर्घकालीन उधार नही देना चाहिए, क्योंकि ये भूमि-बन्धक बैंक के अन्तर्गत है (आगे सेक्शन २८ देखे)। सदस्यों के पुराने ऋण को समाप्त करने के लिए भूतकाल में ग्रामीण समितियों द्वारा किया गया प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुआ है।

(७) ऋणों की अदायगी—ऋण चुकता करने के समय के सम्बन्ध में साधारण नियम यह है कि कृषि-वित्त को, खेती के फसल-चक्र का अनुसरण करना चाहिए, जो अच्छे, बुरे एवं सामान्य फसलों की औसत हो। दूसरे शब्दों में, ऋण की अदायगी प्रतिफलात्मक कार्यों से प्राप्त धन द्वारा की जानी चाहिए जिनके लिए ऋण दिया गया था। अप्रतिफलात्मक कार्यों के ऋण को ऋणकर्ता की स्थिति के अनुसार

१. बम्बई और मद्रास में साधारण साख का ऐसा विवरण सोचा गया है जो किसानो के विवाह आदि अनुत्पादक कार्यो सहित लगभग उनकी हर आवश्यकता को ध्यान में रखकर अग्रिम ऋतु से पहले ही सदस्यों की साख निर्धारित करता है तथा उचित समय पर उनके लिए रुपयों का प्रबन्ध करता है। इस प्रणाली का केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने समर्थन किया है (रिपोर्ट पैरा १७४)। अनुत्पादक उद्देश्यों के लिए ऋण लेने को हतोत्साहित किया जा रहा है और इसकी प्रवृत्ति कम होती जा रही है। बम्बई राज्य मे सहकारी समितियों के कार्य की वार्षिक रिपोर्ट (१९३९-४०), पैरा १६।

व्यवस्थित करना चाहिए, ताकि वह मितव्ययिता के अभ्यास से ऋण को किश्तों द्वारा चुकाने के लिए अपनी आय से पर्याप्त धन बचा सके। उचित समय में आसानी से मामूली किश्तों द्वारा चुकाई जा सकने वाली रकम से अधिक ऋण नहीं देना चाहिए। सामयिक अदायगी का अनवरत प्रयत्न ही आदर्श होना चाहिए और इस विषय में कोई ढील नहीं की जानी चाहिए। अत्यावश्यक तथा वास्तविक कठिनाई के समय में ही अदायगी को भविष्य के लिए स्थगित करना चाहिए। ऋण की अदायगी की मियाद बराबर बढ़ाना और उसकी झूठी अदायगी को कोई प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए, क्योंकि इससे समिति की हित-हानि होती है। सदस्यों द्वारा ऋण की शीघ्र अदायगी सहकारी उधार-समितियों की सफलता की कसौटी ठीक ही मानी गई है। इस कसौटी के अनुसार हम कह सकते हैं कि भारत में साख-समितियों को कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई है। प्रान्तीय बैंकिंग जाँच समितियाँ, रिजर्व बैंक की कृषि उधार-सम्बन्धी रिपोर्ट, १९४१ में रिजर्व बैंक द्वारा सहकारी आन्दोलन की समीक्षा आदि ने ठीक समय पर चुकता न किये हुए ऋण के स्वरूप और उसके बुरे प्रभावों पर विशेष बल दिया है। गत वर्षों में ठीक समय पर चुकता न किये हुए ऋणों में भयावह वृद्धि हुई है। कृषि-मूल्यों की भारी कमी तथा व्यापारिक मन्दी ने उधार लेने वाले कृषक की ऋण चुकाने की शक्ति को कम कर दिया और इससे स्थिति बहुत शोचनीय हो गई। ठीक समय पर अदा न किये हुए ऋणों का बहुत बड़ी मात्रा में संचयन तथा समितियों की सम्पत्ति-सम्बन्धी रुकावट ने, समितियों के व्यवसाय को बन्द-सा कर दिया तथा देश के अधिकांश भागों में आन्दोलन को शक्तिहीन कर दिया—विशेषकर बरार, बिहार, उड़ीसा और बंगाल में, जहाँ पर सहकारी आन्दोलन नष्टप्राय ही हो गया। (देखिये सेक्शन २६)[१]। समयानुसार अदायगी को निश्चित करने में हर प्रकार की सावधानी बरतनी चाहिए। उदाहरणार्थ, प्रत्येक सदस्य के लिए सामान्य उधार निश्चित करना, प्रार्थियों में से ऋणकर्ताओं का सावधानी से चुनाव, सहकारी ऋण देते समय उसके उद्देश्य तथा ऋणकर्ताओं की अदायगी की सामर्थ्य की उचित जाँच,

१. बिना अदा किये हुए ऋण और उनके कुप्रभाव आज भी विद्यमान हैं। सन् १९४६-४८ और १९४८-५० के समीक्षण में रिजर्व बैंक ने इस चिन्तनीय स्थिति की ओर फिर से ध्यान आकर्षित किया है। यद्यपि ऋणों की वापसी की स्थिति सन्तोषजनक है, परन्तु न अदा किये हुए ऋणों की वृद्धि ने उसे भी दूषित कर दिया है। निम्न आँकड़े वर्तमान स्थिति स्पष्ट करते हैं :

वर्ष	अदा न किये हुए ऋण (रुपया लाखों में)
१९४६-४७	३७८·८३
१९४७-४८	३९३·२३
१९४८-४९	४५५·८०
१९४९-५०	५३५·७२

कुछ राज्यों में परिस्थिति बहुत ही गम्भीर है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी बंगाल में सन् १९४६-४७ में कुल ऋणों का ६४% बिना अदा किया हुआ था। (आँकड़े रिजर्व बैंक के १९४६-४८ और १९४८-५० के समीक्षण से लिये गए हैं।)

तथा अन्य सदस्यों द्वारा उधार लेने वाले सदस्यों के निरीक्षण को ले सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सारे सदस्यों के लिए ऋण की अदायगी का एक ही समय नियत किया जाय। प्रत्येक ऋणकर्ता की आवश्यकताओं के अनुसार अदायगी की अवधि निश्चित करनी चाहिए।[1]

(८) ज़मानत—ईमानदारी और चारित्र्य ही आदर्श सहकारी ज़मानत है। 'ईमानदारी को पूँजी स्वीकार किया जाना चाहिए।' व्यवहार में उधार लेने वाले सदस्यों से ऋण के साथ ही चल और अचल सम्पत्ति की ज़मानत लेकर—यद्यपि ऐसी ज़मानत सहकारिता के सिद्धान्तों के विरुद्ध है—तथा अन्य व्यक्तियों से इस सम्बन्ध में ज़मानत लेकर बुरे ऋणों को कम किया जा सकता है तथा समिति की साख बढ़ाई जा सकती है। यदि ज़मानत के रूप में कोई मूर्तवस्तु न ली जाय तो ऋणकर्ताओं द्वारा महाजनों के यहाँ बन्धक रख दिये जाने का भय बना रहेगा। अतः कुछ सीमा तक इसे रखना ही पड़ेगा। कानून के अन्तर्गत बन्धक की ज़मानत की इजाज़त है और किसी भी समिति अथवा समितिवर्ग के लिए, इसे आवश्यकतानुसार बदलने का अधिकार प्रान्तीय सरकारों को दिया गया है। प्रत्येक दशा में, व्यक्तिगत ज़मानत मुख्य होनी चाहिए, परन्तु मूर्तवस्तु आदि की ज़मानत के लिए भी ज़ोर देना चाहिए।

(९) लाभ का विवरण—यदि ग्रामीण उधार-समितियों में हिस्सा पूँजी नहीं है तो साधारण व्यापारिक अर्थ में वितरण के लिए कोई लाभ नहीं होता। सारे लाभ को सुरक्षित कोष में जमा किया जाता है। १९१२ के कानून में निर्धारित दो दशाओं में अपवाद सम्भव है, अर्थात् लाभ का कुछ भाग शिक्षा एवं दान के लिए व्यय किया जा सकता है तथा जहाँ पर हिस्सो पूँजी है, वहाँ सीमित लाभांश का वितरण किया जा सकता है। इन व्ययों का विशेष लाभ आन्दोलन में दिलचस्पी पैदा करना है। एक सहकारी समिति को किसी भी दशा में लाभांश को ही साध्य बना लेने वाली संस्था नहीं बनने देना चाहिए।

(१०) विवाचन (Arbitration)—समितियों और उसके सदस्यों के झगड़े को निपटाने, समय को बचाने, समिति के कोष और शक्ति को बचाने तथा समितियों को साधारण दीवानी कचहरी के विधानों से मुक्त करने और मुकदमेबाज़ी से बचाने के लिए विवाचन की व्यवस्था बहुत ही आवश्यक है। बम्बई तथा कुछ अन्य राज्यों में इस प्रकार की सुविधा है।

(११) तुरन्त फैसले के अधिकार—अवशेष ऋणों की पुनर्प्राप्ति के लिए समितियों को संहित (summary) अधिकार देना आपत्तिजनक है, क्योंकि यह सहकारी सिद्धान्तों के घोर प्रतिकूल है। दीवानी अदालत द्वारा पुनर्प्राप्ति के साधारण उपायों के अतिरिक्त, नैतिक प्रभाव और सम्मिलित दायित्व ही ऋणों की पुनर्प्राप्ति के एकमात्र साधन होने चाहिएँ। उपर्युक्त अधिकारों की स्वीकृति पारस्परिक चौकसी और निरीक्षण की हानि कर शिथिलता को जन्म देती है।

---

१. देखिए मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ६३; वी० एल० मेहता, स्टडीज इन कोआपरेटिव फाइनेन्स, पृ० ८४-६; तथा रिपोर्ट ऑफ द सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा १७०।

(१२) विघटन—समितियों के विघटन अधिकार को बहुत कम प्रयोग में लाना वाञ्छनीय है। समिति की लाभदायक कार्यनिधि की जीवन-आशा न होने पर तथा समूचे सहकारी आन्दोलन को कलंकित करने पर समिति को समाप्त करने के लिए यह अधिकार आवश्यक है।[1] कानून ने समिति के मामलों में जाँच करने के बाद इस अधिकार को लागू करने के लिए रजिस्ट्रार को आदेश प्रदान किया है।

सहकारी समितियों के लाभ, उनकी सीमाएँ तथा दोष और उन्हें दूर करने के उपाय आदि का अध्ययन इस अध्याय में आगे होगा (सेक्शन २६-२७)

११. कृषीतर उधार-समितियाँ—कृषीतर उधार-समितियों के सम्बन्ध में मैक्लेगन कमेटी ने कहा था : "बढ़ते हुए मूल्य, अपर्याप्त और गन्दी गृह-व्यवस्था, प्रायः समयानुसार न दी हुई मज़दूरी, शिक्षा के विस्तार के साथ रहन-सहन के उच्च स्तर की अभिलाषा के साथ-साथ औद्योगिक बाधाएँ अवश्य ही बढ़ेंगी। हम लोगों का विचार है कि सहकारी समितियों की तरह की कोई भी संस्था या संगठन, जो इन बाधाओं को दूर कर सके, सहायता देने योग्य है।"[2] सहकारी समितियों द्वारा रुपये की विशेष समय पर अत्यधिक माँग केन्द्रीय बैंकों द्वारा पूँजी के लाभदायक प्रयोग में बाधक है। प्रारम्भ में ग्रामीण उधार-समितियों के संगठन पर ही अधिक ध्यान दिया गया था। फिर भी शुल्ज-डिलिट्स के प्रकार की कृषीतर उधार-समितियों ने भी सारे राज्यों में कुछ-न-कुछ प्रगति की है। यह बात मैक्लेगन कमेटी की इस सिफारिश के अनुरूप है कि कृषि उधार-समितियों को पहले जितना महत्त्व न दिया जाय। अब हम निम्नलिखित मुख्य गैर उधार समितियों का अध्ययन करेंगे।

(१) जन-बैंक—मध्यम वर्ग को लाभ पहुँचाने वाले लुजैटी किस्म की शहरी उधार समितियाँ भारत में सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों की कमी दूर करने और बैंक-सम्बन्धी सिद्धान्त और व्यवहार के लिए शिक्षणात्मक क्षेत्र प्रदान करने का उपयोगी काम करती है, यद्यपि प्रायः वे सच्चे सहकारी सिद्धान्त के अनुकूल नहीं हैं। बम्बई और मद्रास में जहाँ कि लगभग हर मुख्य शहर को बैंकों की सेवा प्राप्त है, शहरी बैंक प्रणाली भली प्रकार विकसित है। बम्बई में उनकी क्रियाओं का संयोजन सहकारी बैंक संस्था (कोआपरेटिव बैंक्स एसोसिएशन) करती है जिसने शहरी बैंक प्रणाली के विकास में बहुमूल्य योग दिया है। यह संस्था संयुक्त पुनर्संगठन की रिपोर्ट (जाइन्ट रिआर्गनाइज़ेशन रिपोर्ट) के आधार पर १९३९-४० में केन्द्रीय और राज्यीय बैंकों द्वारा बनाई गई। बम्बई सहकारी समिति के रजिस्ट्रार ने शहरी उधार समितियों

---

१. समितियों की असफलता के अनेक कारण हैं और इनमें उचित निरीक्षण का अभाव, अन्धाधुन्ध ऋण, उधार लेने वालों की मनमानी, अदा करने में अनियमितता, उधार कुछेक व्यक्तियों तक ही सीमित रहना, समिति के सदस्यों की अयोग्यता और बेईमानी, सदस्यों का दोषपूर्ण चुनाव, समिति के कार्य-क्षेत्र का फैलाव, पुराने ऋणों का छिपाव, दोषपूर्ण विधान, आंतरिक भेदभाव, रुपये अथवा सदस्य-संख्या की कमी, किसी एक सदस्य का व्यापक प्रभाव और समिति के काम में सदस्यों की अरुचि आदि सम्मिलित हैं। (मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ८६)। सैण्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट और रिव्यू ऑफ़ द को-आपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया, (१९३९-४०) पृष्ठ १,७ और ८ देखें।

२. मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा १५।

का विवरण देते हुए अपनी १९२६-२७ की वार्षिक रिपोर्ट में कहा, "नगरों के जीवन पर शहरी और जन-बैंक जो प्रभाव डाल रहे हैं, उसको बढ़ा-चढ़ाकर कहना कठिन है। जहाँ पर जनसंख्या और उद्योग कम है, उन क्षेत्रों में स्थानीय व्यापार का विकास किया जा रहा है। छोटे-छोटे कारीगरों और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करने वाले नागरिकों को अधिकोषण (बैंकिंग) की आदत पड़ती जा रही है।[1] लगभग हर प्रमुख नगर में प्रत्येक जाति और पेशे के प्रभावशाली व्यक्ति, जनता के एक सेवा-कार्य की तरह सहकारी कार्यों के इस अंश को अपना रहे हैं।" गुजरात की शहरी उधार समितियों ने आन्तरिक लेखा-परीक्षण के लिए एक निरीक्षण-संघ बनाया है।[2]

(२) मितव्ययिता और जीवन-बीमा समितियाँ—शहरी सहकारी समितियों की प्रमुख किस्मों में से मितव्ययिता समिति एक है, जिसका उद्देश्य, लोगों से २ या ३ साल के लिए हर महीने में नियमित बचत को एकत्र कर और अधिक-से-अधिक लाभ के लिए उसका निवेश कर, मितव्ययिता बढ़ाना है। बहुत-सी समितियों में ऋण भी दिया जाता है। पंजाब में इस प्रकार की समितियाँ १००० से अधिक हैं, जिनके अधिकांश सदस्य स्कूलों के अध्यापक हैं। मद्रास और कुछ हद तक बम्बई ने भी इस दिशा में प्रगति की है।

गत वर्षों में जीवन बीमा समितियाँ बम्बई, बंगाल और मद्रास में स्थापित की गई हैं। बम्बई सहकारी जीवन बीमा समिति १९३० में खोली गई। इसने अच्छी प्रगति की है और हाल ही में अपने ग्रामीण विभाग में प्रारम्भिक सहकारी समितियों के सदस्यों के हितार्थ, एक विशेष योजना को चालू किया है। मद्रास की दक्षिण भारतीय सहकारी जीवन बीमा समिति ने भी प्रशंसनीय प्रगति की है।

(३) बड़े-बड़े कारखानों और सरकारी विभागों के कर्मचारियों की समितियाँ—इन समितियों का उद्देश्य (इन्हें वेतन पाने वालों की समितियाँ भी कहते हैं) प्रधानतया बचत और मितव्ययिता को ही उत्साहित करना है, पूर्व-ऋणों से मुक्ति नहीं। बंगाल, बम्बई और कुछ हद तक मद्रास में अपूर्व उन्नति करने वाली इन समितियों की सफलता, वेतन-पत्रों के द्वारा लेनदारी की पुनर्प्राप्ति की सुविधाओं और विभागीय अध्यक्षों की दिलचस्पी के कारण है। इस प्रकार की समितियों को पक्षपात और सरकार पर निर्भरता के दोषों से बचाना चाहिए।

(४) जातीय समितियाँ—साम्प्रदायिक आधारों पर बनी हुई ये साख समितियाँ सशक्त जातीय भावनाओं के कारण सहकारी प्रयासों को सहायता देती हैं। पर इस भावना को व्यापक राष्ट्रीय भावना के हित में निरुत्साहित किया जाना चाहिए। पिछड़ी हुई जातियों के आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी उद्धार के लिए ये समितियाँ कुछ सीमा तक लाभप्रद हैं।

१. १९२८-२९ की बम्बई की वार्षिक रिपोर्ट चैकों के प्रयोग को प्रचलित करने के लिए इसके प्रशंसात्मक कार्य का संकेत करती है (पैरा ८०)। बंगाल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट, पैरा २८३ भी देखिए।

२. भारत में शहरी बैंकों के शिक्षणात्मक अध्ययन के लिए जनवरी १९३६ की इण्डियन कोआपरेटिव रिव्यू देखिए।

(५) कारीगरों की समितियाँ—(आगे सेक्शन १५ भी देखिए) ये समितियाँ भी विधान और व्यापार में कृषि साख समितियों के समान हैं। इनका कार्यक्षेत्र छोटा है, एक ही पेशे के लोग सदस्य हो सकते हैं, हिस्सा पूँजी थोड़ी है, और केन्द्रीय संस्थाओं तथा अन्य साधनों से रुपया उधार प्राप्त होता है। यद्यपि कानूनी दृष्टिकोण से दायित्व ऐच्छिक है, परन्तु ऐसी दशा में असीमित दायित्व आवश्यक है। इनमें से प्रमुख संस्थाएँ जुलाहों की हैं। हाथ करघे की बुनाई का उद्योग बहुत महत्त्वपूर्ण कुटीर उद्योग है। इसे सरकारी सहायता और सहकारी संगठन की आवश्यकता है। बम्बई राज्य ने इस दिशा में काफी सफलता प्राप्त की है। इन समितियों को दी गई सीधी सरकारी सहायता पूर्णतया न्याय है। अन्य छोटे कारीगरों के लिए भी कुछ उधार समितियाँ खोली गई हैं, जैसे टोकरी बनाने वालों, मोचियों, लुहारों और बढ़इयों के लिये संगठित समितियाँ। इन समितियों की प्रगति नहीं के बराबर है। आशा है कि भारत में सहकारिता छोटे उद्योगों के पुनरुत्थान को प्रभावित करेगी। सचमुच छोटे-छोटे कारीगर भी छोटे-छोटे किसानों के समान ऋण तथा अन्य आवश्यकताओं के सम्बन्ध में कठिनाइयों का सामना करते हैं। अतः दोनों प्रकार के छोटे उद्योग-धन्धों का एक साथ संगठन अत्यन्त आवश्यक है।

(६) फैक्ट्री मजदूरों की समितियाँ—बम्बई और कलकत्ता जैसे नगरों में फैक्ट्री मजदूरों के लिए उधार-समितियों की आवश्यकता है। उनकी आर्थिक और सामाजिक अवस्था बड़ी असन्तोषजनक है। वे कम मजदूरी, घरों की बुरी अवस्था, रहन-सहन का ऊँचा व्यय, दलालों द्वारा शोषण, अज्ञान, निरक्षरता, भारी ऋण और मद्यपान आदि दुर्गुणों से बुरी तरह ग्रस्त हैं। मजदूरों को सहकारी समितियों में संगठित करके इन परिस्थितियों में सुधार किया जा सकता है। जनहित प्रेरित मालिकों ने इन समितियों को सहायता दी है। मितव्ययिता और कम ब्याज पर उधार देने के अतिरिक्त ये समितियाँ अनेक सामाजिक और शिक्षणात्मक कार्यों की केन्द्र बनी हुई हैं, जो मजदूरों की क्षमता बढ़ाने में अनुकूल प्रभाव डालती हैं। फैक्ट्री-मजदूरों में सहकारिता की शीघ्र उन्नति में उनकी निरक्षरता तथा देशान्तर-गमन की आदतें बाधक हैं।

ग़ैर-उधार सहकारी आन्दोलन

१२. कुछ सामान्य प्रश्न—अनेक प्रकार की ग़ैर-उधार समितियों के अध्ययन के पहले हम लोग इस विषय के सम्बन्ध में कुछ सामान्य प्रश्नों का संक्षेप में विवेचन करेंगे।

(१) गैर-उधार सहकारी आन्दोलन का आधुनिक विकास—"सहकारी समितियों के कार्यों के वे रूप जो इंगलैंड में बहुत लोकप्रिय और सफल हुए हैं, क्रय, उत्पत्ति और वितरण से सम्बन्धित हैं। अधिकांश यूरोपीय देशों में इस प्रकार के काम उधार समितियों के अच्छी तरह स्थापित हो जाने तक प्रारम्भ नहीं किये गए। भारत में सहकारिता विकास यूरोप के अनुसरण पर ही हुआ है।[१] गैर-उधार सहकारिता आन्दोलन के प्रारम्भ होने के बाद ही सहकारिता की माँग, जनता द्वारा सहकारी सिद्धान्तों की प्रशंसा का प्रतीक थी; साथ ही वह देश की सन्तुलित आर्थिक

१. मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ८।

उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक थी। १९१२ के कानून ने गैर-उधार समितियों को मान्यता देकर इस माँग को पूरा करने का प्रयत्न किया। साखविहीन आन्दोलन की प्रगति हर राज्य में एक-सी नहीं हुई। ग्रामीण उधार पर विशेष बल देने की नीति अब भी कमजोर नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त गैर-उधार सहकारिता में उधार-सहकारिता की अपेक्षा अधिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती है। फिर भी ग़ैर-उधार समितियों की महत्ता कुछ अंशों तक स्वीकार की जा रही है। इसकी पुष्टि अनेक उद्देश्यों के लिए समितियों की स्थापना से होती है। कृषि और कृषीतर दोनों क्षेत्रों में क्रय-विक्रय, उत्पादन, जीवन बीमा और गृह-निर्माण समितियों का संगठन इसका प्रमाण है। कृषि के सारे अवस्थानों का समावेश करते हुए सहकारी सिद्धान्त के अनुसार कृषि केन्द्र संगठन का आन्दोलन भविष्य के लिए अनेक आशाओं से पूर्ण है। सहकारी उधार समितियों के लाभ की पूर्ण प्राप्ति तभी होती है जबकि डेन्मार्क की भाँति ग़ैर-उधार-कार्यों के लिए सहकारी संगठन द्वारा दूसरे क्षेत्रों से भी दलालों का लोप कर दिया जाय।

(२) गैर उधार-समितियों के रूप—ग़ैर उधार समितियों को कृषि और कृषीतर दो प्रकार की समितियों में बाँट सकते हैं। प्रत्येक प्रकार कई उपविभागों में विभाजित हो सकता है, जैसे कच्चे मालों और औज़ारों को खरीदने वाली समिति, उत्पाद के विक्रय की समिति, उत्पादन, वितरण, उपभोग, जीवन-बीमा और निर्माण आदि की समितियाँ।

(३) दायित्व—१९१२ के कानून के अनुसार ग़ैर-उधार समितियों के लिए सीमित दायित्व का प्रश्न ऐच्छिक है। दायित्व की प्रगति समितियों की आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार बदलती है। उदाहरणार्थ, कृषक ग़ैर-उधार समितियाँ सामान्यतया सीमित दायित्व पसन्द करेंगी, क्योंकि यह सम्भव है कि उनके सदस्यों ने, यदि वे उधार समिति के भी सदस्य हैं, वहाँ असीमित दायित्व स्वीकार कर लिया हो। दूसरी ओर डेरी और जुलाहों की समितियों के लिए शायद असीमित दायित्व अधिक उपर्युक्त है, क्योंकि उनकी बाह्य पूँजी की आवश्यकता बहुत अधिक होती है।[1]

(४) गैर-सदस्यों से लेन-देन—सहकारी सिद्धान्तों के अनुसार इस प्रकार का लेन-देन उचित नहीं। कारीगरों की जीवन बीमा समितियों और गृह निर्माण समितियों का लेन-देन सदस्यों तक ही सीमित रहता है। क्रय और विक्रय समितियों में ग़ैर सदस्यों से व्यवहार का प्रश्न उठता है। अगर इसकी आज्ञा दे दी जाय, तो सदस्यता बढ़ेगी नहीं, साधारण व्यापारिक मुनाफाखोरी शुरु हो जायगी और व्यक्तिगत व्यापारियों के साथ अनुचित प्रतियोगिता की शिकायत होगी, क्योंकि कानून के अन्दर सहकारी समितियों को विशेष अधिकार और छूट प्राप्त हैं जिनसे व्यक्तिगत व्यापारी वंचित हैं। कुछ दशाओं में, ऐसे लेन-देन की—विशेषकर प्रचार कार्य के लिए—आज्ञा दी जा सकती है। इससे समिति केवल लाभ और मितव्ययिता से अपने कार्यों का प्रबन्ध

१. देखिए, वी० एल० मेहता और वी० सुबैया, कोआपरेशन इन इण्डिया, पृष्ठ ११६।

करने योग्य हो जाती है। साथ ही वह गैर सदस्यों को अपनी उपयोगिता दिखाने योग्य भी हो जाती है ताकि वे लोग भी सम्मिलित हो जायँ।

१३. एकध्येयी बनाम बहुध्येयी समिति[1]—एक और अनेक ध्येय वाली समितियों के प्रश्न पर बहुत विवाद हुआ है। इस देश में भी डेन्मार्क की तरह प्रत्येक ध्येय (उद्देश्य) के लिए एक समिति का समर्थन कुछ दिन पहले तक किया गया है, और एक प्रकार से यह योजना आदर्श और व्यावहारिक भी प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में मुख्य व्यावहारिक आपत्ति प्रत्येक गाँव में समितियों के प्रबन्ध के लिए उपयुक्त व्यक्तियों का अभाव है। इसके अतिरिक्त भारतीय किसान एजेन्सियों की अधिकता नहीं पसन्द करते, क्योंकि क्रय-विक्रय अथवा साख जैसे कामों के लिए वे साहूकारों से ही लेन-देन करने के अभ्यस्त हैं। सहकारी साख से अधिकतम लाभ पाने के लिए यह आवश्यक है कि इसे क्रय और विक्रय से भी जोड़ दिया जाय तथा इन दोनों में उचित सम्बन्ध स्थापित हो जाय। गत वर्षों में विशेषज्ञों ने बहुध्येयी समितियों की स्थापना का पक्ष लिया है। कृषिक सहकारी उधार समिति के प्रधान उद्देश्य सदस्यों को धन के मूल्य और प्रयोग की शिक्षा तथा उनके नियमित उधार की व्यवस्था करना है। व्यवहार में इन उद्देश्यों की प्राप्ति, सम्भरण और विक्रय से उधार का नाता तोड़ देने पर कठिन हो जाती है।

यद्यपि भारत में उचित कारणों से सहकारिता आन्दोलन छोटी और सरल उधार-समितियों से प्रारम्भ हुआ, परन्तु आजकल सामान्य और प्रचलित विचार यह है कि कृषिक उधार-आन्दोलन से प्रयत्नों के अनुरूप फल प्राप्त नहीं हुए। इसलिए अब प्राथमिक समिति का आधार विस्तृत करना सम्भव और वाञ्छनीय है। दूसरे शब्दों में ग्रामीण समितियों को अपने सदस्यों की अधिक-से-अधिक आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिए। गत वर्षों में भारत के रिज़र्व बैंक के कृषिक उधार-विभाग ने इसका ज़ोरदार समर्थन किया है। १९३७ ई० में रिज़र्व बैंक द्वारा प्रकाशित 'ग्रामीण बैंकों के बुलेटिन' ने सारे किसानों के जीवन को सहकारिता की परिधि में लाने के लिए प्राथमिक सहकारी उधार-समितियों के सहकारी सिद्धान्तों के अनुसार, पुनर्निर्माण का समर्थन किया है, जो कि सारे सहकारी आन्दोलन की धुरी है। सितम्बर १९३७ ई० में सरकारी प्रस्ताव की आज्ञानुसार एक जाँच के फलस्वरूप, श्री वी० एल० मेहता तथा रजिस्ट्रार द्वारा बम्बई सरकार को दी गई एँक सम्मिलित रिपोर्ट में बहुध्येयी समितियों के स्थापित करने की नीति का समर्थन किया गया। बम्बई में बाजार की सुविधाओं से युक्त प्रत्येक तालुका के कुछ उचित केन्द्रों में सीमित दायित्व के आधार पर ऐसी समितियाँ संगठित की गई। कार्यालय (रजिस्ट्री किये हुए) से लगभग पाँच मील के घेरे में इन समितियों का कार्यक्षेत्र फैला होता है। उत्तरप्रदेश ने सीमित दायित्व के आधार पर बहुध्येयी समितियों के संगठन के लिए एक साहसपूर्ण प्रयोग किया है, और राज्य में १००० से अधिक ग्रामीण बैंक हैं। मद्रास सहकारी समिति ने भी बहुध्येयी समिति के आधार

१. देखिए, कोआपरेटिव विलेज बैंक्स, (बुलेटिन नं० २, पैरा २३--२४) कृषि साख की स्टेट्यूटरी रिपोर्ट, (रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया) पैरा १८।

पर ग्रामीण उधार-समितियों के पुनर्संगठन का पक्ष लिया है।[1] रजिस्ट्रार कान्फ्रेंस (१९३९) ने, जो नई योजना के बारे में संदिग्ध थी, सिफारिश की कि राज्य बहुध्येयी समितियों की स्थापना करें तथा उनके परिणामों को देखें। इस प्रकार बहुध्येयी समिति का विचार दिन-प्रतिदिन मान्य होता जा रहा है।[2] कृषि की सामान्य आवश्यकताओं के लिए ऐसी समितियाँ बीज, खाद, कृषि-कार्यों, जैसे बैल खरीदना आदि, के लिए उनकी एक हद तक उधार भी देंगी। वे उनकी तथा अन्य समितियों के सदस्यों के पण्य उत्पाद इत्यादि को बेचने वाली एजेन्सी का भी काम करेंगी। जैसे-जैसे बहुध्येयी समितियों का विकास होता जाय वैसे ही उन्हें ग्रामीण क्षेत्रों में उपभोक्ता समिति का भी काम करना चाहिए।

बहुध्येयी समिति के पक्ष में निम्न बातें कही जाती है : अधिक निष्ठा, सदस्यों की सतत अभिरुचि, नियमित उधार, वैतनिक कर्मचारियों द्वारा किया हुआ कुशल और मितव्ययितापूर्ण प्रबन्ध, व्यक्तियों और साधनों की मितव्ययिता, गाँवों को सहयोग द्वारा आर्थिक एवं सामजिक सुधार के लिए काम करने का अवसर आदि। रिज़र्व बैंक के कृषि उधार-विभाग द्वारा अनुमोदित आधारों पर बहुध्येयी समितियाँ अपने आपको एक तालुका में काम करने वाले संघ (यूनियन) से सम्बन्ध कर लें तो वे और सशक्त हो जायँगी (आगे सेक्शन १८ देखिए)। ऐसा संघ प्रारम्भिक बहुध्येयी समितियों के विभिन्न कार्यों में अभिरुचि रखेगा। इसके विपरीत बहुध्येयी समितियों में कुछ दोष भी हैं। आर्थिक उत्तरदायित्व के साथ कार्यों की अधिकता से यह भय रहता है कि एक विषय की

---

१. रिपोर्ट, पैरा १९०।

२. हाल में ही इस इस विचार को और अधिक मान्यता मिली है। सन् १९३९-४० के सहकारी आन्दोलन के सर्वेक्षण में रिजर्व बैंक ने उधार-समितियो के कार्यो के विस्तार और बहुध्येयी समितियो के संगठन पर बल दिया था। सहकारी आयोजन कमेटी ने १९४६ में बहुध्येयी-समितियों के संगठन का पुन: समर्थन किया और उनका लक्ष्य १० वर्ष के भीतर ५० प्रतिशत गाँव तथा ३० प्रतिशत जनसंख्या में फैल जाना निश्चित किया। द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने के बाद बहुध्येयी समितियों में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। कुछ राज्यों ने इस काम के लिए योजनाएँ अपनाईं। उत्तरप्रदेश (१९४७), आसाम (१९४८), मैसूर (१९४९) और बिहार (१९४८-४९) ने बहुध्येयी समितियों के संगठन के लिए सुविचारित योजनाओं को कार्यान्वित किया। उत्तरप्रदेश में बहुध्येयी समितियों के संगठन में स्तुत्य विकास १९४७ के विकास-समन्वय-आयोजन (डिवेलपमेण्ट कोआर्डिनेशन प्लान) के प्रारम्भ होने के बाद हुआ। संक्षेप में इस योजना के अन्तर्गत १२-१५ गाँवों के विकास-समूहों का संगठन किया जाता है। प्रत्येक गाँव में एक बहुध्येयी समिति होती है और प्रत्येक समूह में एक संघ (यूनियन) होता है। १९४८-४९ में २१००० गांवो में १३०० समूह संगठित किये गए। इन गाँवों में काम करने वाली उधार समितियों को बहुध्येयी समितियों में परिवर्तित किया गया। उत्तरप्रदेश में कुल २२७८६ बहुध्येयी समितियाँ काम कर रही हैं, जिनके सदस्य ७.३५ लाख और चालू पूँजी २.८६ लाख रुपया है। बम्बई कृषिक उधार-संगठन कमेटी (१९४७) (एग्रीकल्चरल क्रेडिट आर्गनाइजेशन कमेटी) की सिफारिशों के अनुसार बहुध्येयी समितियों के संगठन और वर्तमान उधार समितियों को बहुध्येयी समितियों में बदलने की नीति अपनाई गई। १९४८-५० के बीच बम्बई में २१६१ बहुध्येयी समितियाँ थीं। १९४९-५० के अन्त तक मद्रास में बहुध्येयी समितियाँ ६१.२८ प्रतिशत गाँवो में और १६.१० प्रतिशत जनसंख्या में फैल चुकी थी। अब बहुध्येयी समितियों के संगठन के विचार ने लगभग सारे राज्यों में जड़ पकड़ ली है। —अनुवादक

असफलता दूसरे विषयों को भी प्रभावित करेगी। सामान्य शर्तों पर साख और निक्षेप को प्राप्त करने के लिए आवश्यक तथा सदस्यों के प्रभावपूर्ण पारस्परिक निरीक्षण को लाने वाला असीमित दायित्व, समिति के उधार देने से इतर कार्यों के लिए आसानी से प्रयोग में नहीं आ सकता है।[1] जैसा कहा जा चुका है कि बम्बई, मद्रास और उत्तरप्रदेश में बहुध्येयी समितियाँ सीमित दायित्व के आधार पर संगठित की जा रही हैं। आजकल साधारण उधार समितियों के प्रबन्ध के लिए कुशल व्यक्ति नहीं मिलते तो बड़ी-बड़ी बहुध्येयी समितियों को चलाने के लिए योग्य व्यक्तियों का मिलना भी सन्देहास्पद है। अन्त में, बहुमुखी समिति, जो ग्राम-समूहों में काम करती है, सहकारिता की सफलता के लिए आवश्यक घनिष्ठ पारस्परिक ज्ञान का विश्वास नहीं दिलाती।[2] ये कठिनाइयाँ वास्तविक है और इन्हें यों ही भुलाया नहीं जा सकता। भारत की वर्तमान ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था में बहुमुखी समिति को काम करने का अवसर दिया जाना चाहिए। डेन्मार्क के अतिरिक्त अन्य देशों का अनुभव बहुमुखी समिति के विचार का समर्थन करता है। बावेरिया, सेक्सोनी, बेल्जियम और आस्ट्रिया आदि देशों में साख-समिति अथवा स्थानीय बैंक, उधार देने के अतिरिक्त और बहुत से काम भी करते हैं। जापान में ग्रामीण सहकारिता का अत्यन्त आश्चर्यजनक गुण यह है कि एक ही समिति में आम-तौर से उधार, क्रय-विक्रय आदि कार्य सम्मिलित रहते हैं। बहुमुखी समितियाँ हर प्रकार की ग्रामीण साख-समितियों का स्थान लेने के लिए नहीं हैं, वरन् पूरक बनने के लिए है।

१४. ऋण-इतर कृषि-आन्दोलन—अब हम भारत में साख-इतर आन्दोलन की प्रगति का विवेचन कृषि और ग़ैर-कृषि दो शाखाओं के अन्तर्गत करेंगे। साख-इतर कृषि-आन्दोलन की बड़ी आवश्यकता है। डेन्मार्क का उदाहरण यह प्रकट करता है कि किसानों के देश में कृषि तभी उन्नति कर सकती है, जब इसके सारे कार्यों को सह-कारिता के आधार पर संगठित किया जाय तथा दलालों को समाप्त कर दिया जाय ताकि सारा लाभ किसानों को ही मिले। उचित मूल्य पर औज़ार, मशीन, खाद तथा अच्छे किस्म के बीजों को प्राप्त करने के लिए सहकारी समितियों की आवश्यकता है। इस कार्य तथा सहकारी विक्रय के लिए कुछ सहकारी समितियाँ खोली जा चुकी हैं।[3] यह बहुत बड़ा काम है और अब तक इसकी प्रगति शिथिल रही है। सहकारी सम्भरण ने छोटे पैमाने के व्यापार के रूप में अच्छी प्रगति नहीं की तथा इसके अच्छे प्रबन्ध और पर्यवेक्षण के लिए पर्याप्त कर्मचारियों का अभाव है।

सहकारी बीमा का सिद्धान्त अभी तक पशुओं तक ही सीमित है। खेतों में बनी हुई इमारतों, फसलों तथा पशुओं के चारे आदि का बीमा नही किया जाता। १९२९ में बर्मा सहकारिता कमेटी (कमेटी ऑफ कोआपरेशन इन बर्मा १९२९) के

---

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३७५।

२. जनवरी-मार्च १९३८ के इण्डियन कोआपरेटिव रिव्यू में के० सी० रामकृष्णन द्वारा लिखित 'बहुध्येयी समिति' वाला लेख देखिए।

३. कृषि-उत्पादन के बाजार के लिए संगठित सहकारी विक्रय समितियों का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। अध्याय ८, सेक्शन २२ देखिए।

अनुसार बर्मा में ऐसी समितियों की दशा साधारणतया शोचनीय थी। गाँवों का सामाजिक विघटन, रिण्डरपेस्ट जैसी पशुओं की भयंकर महामारी, प्रबन्ध एवं वित्त-कार्य में कठिनाई आदि इसकी सफलता में बाधक हैं। हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि कृषि में सहकारी बीमा का विस्तार और विकास हो। पशुओं की नस्ल में सुधार तथा बीमा द्वारा अकाल के समय चारे का प्रबन्ध करने के लिए पशु-प्रजनन समितियों की भी चर्चा की जा सकती है। इन समितियों ने सामान्यतया अच्छी प्रगति नहीं की है, यद्यपि उन्हें पंजाब में थोड़ी सी सफलता प्राप्त हुई है। वैज्ञानिक रीति से पशु-प्रजनन कार्य में पड़ने वाली बाधाओं का संकेत हम लोग कर चुके हैं (अध्याय ८ सेक्शन १३-१४ देखिए)। विनाशक रोगों और जंगली सूअरों के आक्रमण से फ़सलों को बचाने के लिए बम्बई के दक्षिणी प्रदेश में कुछ मेंड़बन्दी और फ़सल-सुरक्षा समितियाँ प्रारम्भ की गई हैं। बहुत थोड़ी संख्या में सहकारी सिंचाई समितियाँ भी संगठित की गई हैं। ये समितियाँ सूखे भागों में जहाँ पर नहर की सिंचाई महँगी या असम्भव है, पानी के प्रश्न को हल करती हैं। बंगाल और मद्रास के कुछ जिलों में इन्हें उल्लेख्य सफलता प्राप्त हुई है। बम्बई राज्य में आजकल नौ भूमि-सुधार समितियाँ काम कर रही हैं।

सहकारी कार्यों का दूसरा महत्त्वपूर्ण उदाहरण जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है (अध्याय ७, सेक्शन ८), पंजाब के कुछ गाँवों में किया गया चकबन्दी का काम है। सहकारी फ़ार्म कृषि में कुछ भी काम नहीं किया गया है। यह स्पष्ट है कि जब तक खेत छोटे और बिखरे हैं, कृषि-कार्यों में सुधार के लिए इटली की तरह सम्मिलित खेती अपेक्षित है।

उपभोक्ता आन्दोलन, जिसने इंगलैण्ड में बहुत प्रगति की है, भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में उन्नति नहीं कर सका। किसानों की घरेलू आवश्यकताएँ थोड़ी हैं तथा स्थानीय उत्पादन अथवा गाँव के बाज़ारों से उनकी माँग पूरी हो सकती है। उनके रहन-सहन का स्तर इतना निम्न है कि यदि प्रबन्ध-सम्बन्धी कठिनाइयों को भुला भी दिया जाय तो भी वितरण-सहकारिता का कोई स्थान नहीं है। इस सम्बन्ध में हमारी आशा कृषकों की सामान्य प्रगति और उनके रहन-सहन के स्तर के सुधार पर ही अवलम्बित है। विशेषकर नगरों में उचित दर पर शुद्ध दूध देने वाली डेरी समितियों के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। देश में इस प्रकार की बहुत कम समितियाँ हैं, यद्यपि ऐसी समितियों की बहुत अधिक आवश्यकता है।

भारतीय कृषि में सहकारी आन्दोलन अभी अपनी शैशवावस्था में है और ऋण-इतर कृषि सहकारिता को अभी बहुत लाभदायक कार्य पूरे करने हैं। इस प्रकार की सहकारिता ने डेन्मार्क तथा कुछ अन्य यूरोपीय देशों में किसानों को इतना सबल बना दिया है कि वे पूँजीवादी किसानों की बराबरी कर सकते हैं।[1] जैसा कि डॉ० क्लाउस्टन का कहना है, "बम्बई में रुई-विक्रय-समितियों, बंगाल की सिंचाई और दुग्ध समितियों, मध्यप्रदेश की सहकारी बीज और डेरी-समितियों तथा पंजाब

१. एच० डी० इरविन, द मेकिंग ऑफ रूरल यूरोप, पृष्ठ १९५ देखिए।

की चकबन्दी, नहरों की रेत साफ करने वाली तथा कृषि-उत्पादन को बेचने वाली समितियों के कार्यों को देखकर ऐसी आशा की जा सकती है कि आवश्यक संगठन-कर्ता प्राप्त होने पर सहकारिता कृषकों को उनके श्रम का पूर्ण लाभ दिलाने में वैसा ही काम करेगी जैसे उसने किसानों को सस्ती पूंजी देने में किया है।"[1] इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सरकार को यथेष्ट सहायता देनी चाहिए। इसके लिए वांछनीय सुधार यह है कि सहकारी विभाग और कृषि एवं पशु-चिकित्सा-विभाग का सम्बन्ध और अधिक घनिष्ठ होना चाहिए। सचमुच, सहकारी समितियाँ कृषि एवं पशु-चिकित्सा विभाग के प्रचार-कार्य के लिए श्रेष्ठ एजेन्सी बनने की क्षमता रखती हैं। ऋण-इतर सहकारिता के विकास से ही विशेषज्ञों की शिक्षा जनता तक पहुँचाई जा सकती है जिन लोगों तक किसी सरकारी संस्था द्वारा व्यक्तिगत पहुँच कभी हो ही नहीं सकती।[2] ज़िला ग्रामोत्थान समिति (डिस्ट्रिक्ट विलेज अपलिफ्ट कमेटी), तालुका विकास संस्थाओं (तालुका डिवेलपमेन्ट एसोसिएशन्स), प्रान्तीय ग्रामीण विकास परिषद (प्राविंशल रूरल डिवेलपमेन्ट बोर्ड) के संगठन द्वारा इस दिशा में बम्बई में आन्दोलन किया गया (अध्याय ११ भी देखिए)। ये संस्थाएँ खेती की अच्छी विधि, पशुओं और मुर्गियों के नसल-सुधार के कार्य को प्रारम्भ करने के लिए प्रचार कर रही हैं। इनमें से अनेक ग्रामोत्थान आन्दोलन में भाग ले रही हैं। हाल में कुछ उत्तम फ़ार्म-कृषि-समितियाँ (बैटर फार्मिङ्ग सोसाइटीज) स्थापित की गई हैं। यह सुझाव दिया गया है कि सीमित क्षेत्र में काम करने वाली कृषि-सुधार समितियाँ, कृषि तथा अन्य सुधारों के सम्बन्ध में तालुका-विकास संस्था से अच्छा काम कर सकती हैं, क्योंकि तालुका-विकास संस्था पूरे तालुके में काम करती है। कृषि-सुधार समितियाँ मद्रास और पंजाब में भी पाई जाती हैं। इस सम्बन्ध में रहन-सहन सुधार-समितियाँ (बैटर लिविंग सोसाइटीज) की चर्चा की जा सकती है। उत्तरप्रदेश और पंजाब में ग्रामीण पुनर्निर्माण योजना (रूरल रिकन्स्ट्रक्शन प्रोग्राम) के अन्तर्गत इनके संरक्षण में अच्छा काम किया गया है। सर्व-प्रथम ये समितियाँ पंजाब में विकसित हुई और इनका ध्यान मुख्यतः विवाह और अन्य उत्सवों के व्यय को कम करने पर ही केन्द्रित रहा। इन समितियों की सहायता से सड़कों का सुधार हुआ, सार्वजनिक कुएँ खोदे गए, तालाब साफ किये गए, चिकित्सालय और स्कूल खोले गए। उत्सवों के व्यय को कम करने का प्रचार, सफाई में उन्नति, अच्छे बीज का वितरण, जुताई की अच्छी विधियों का प्रारम्भ तथा पशुओं की नस्ल में भी सुधार किया गया। रहन-सहन सुधार समितियों ने बंगाल में भी कुछ प्रगति की है।

१४. ऋण-इतर गैर कृषि समितियाँ—यद्यपि इस आन्दोलन में अभी पर्याप्त-शक्ति नहीं है, फिर भी कुछ राज्यों में थोड़ी-बहुत उन्नति हुई है। मैक्लेगन कमेटी के अनुसार, जुलाहों के लिए सूत और टोकरी बनाने वालों के लिए बेंत, बढ़इयों के लिए लकड़ी, अनेक उद्योगों के लिए (विशेषकर अच्छे प्रकार के) औज़ार आदि खरीदने के लिए सफल प्रयास किया गया है। सूत, सिल्क के कपड़े, दरी और फर्नीचर के

१. रिव्यू ऑफ एग्रीकल्चरल आपरेशन्स इन इण्डिया (१९२६-२७)।
२. एग्रीकल्चरल कमीशन रिपोर्ट, पैरा ३८६।

उत्पादन और विक्रय के लिए भी प्रयत्न किया गया है। गृह-निर्माण समितियाँ भी सग ठित की गई है। अत्यन्त साधारण आवश्यकीय वस्तुओं के क्रय-विक्रय का कार्य अनेक सहकारी भण्डार कर रहे है।[1] अब हम विभिन्न प्रकार की ऋण-इतर गैर कृषि समितियों का विवेचन करेंगे।

(१) क्रय और विक्रय के लिए कारीगरों की समितियाँ—कुटीर उद्योगों की आर्थिक उन्नति के लिए किसानों की तरह ही कारीगरों के विषय में, उधार ही नही बल्कि अन्य आवश्यकताएँ, जैसे कच्चा माल खरीदना, तैयार माल की बिक्री आदि को सहकारी आधार पर संगठित करना चाहिए। करघा उद्योग को सहकारी आधार पर अच्छी प्रकार संगठित किया जा सकता है। इससे कच्चे माल की थोक खरीद, अच्छे प्रकार के करघों और अन्य औजारों के प्रयोग तथा सीधे उपभोक्ताओं को कपड़े की बिक्री आदि उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकती है। अनेक स्थानों पर की गई सहकारी औद्योगिक प्रदर्शनियाँ इस प्रकार की सहकारी उत्पत्ति की विभिन्नता और विस्तार का परिचय देती है। बम्बई में सहकारी बुनाई की महत्ता को सरकार ने भी स्वीकार कर लिया है। इसलिए सहकारी विभाग के निरीक्षण मे कुछ बुनाई के स्कूल भी चलाये जा रहे हैं। सन् १९३५ में करघा उद्योग को बढ़ाने के लिए प्रान्त के प्रमुख केन्द्रों में जिला औद्योगिक सहकारी संस्थाओं (डिस्ट्रिक्ट इन्डस्ट्रियल कोआपरेटिव एसोसिएशन्स) की स्थापना की गई। इनका कार्य उचित दर पर कच्चा माल देना, आंशिक अदायगी पर जुलाहों से करघो से बने कपड़े को बाहर भेजने की शर्त पर प्रेषण-लेखा के आधार पर स्वीकार करना तथा करघों के माल को तुरन्त खरीदना और बेचना था। बाजार में बिक्री की नई योजना उद्योगों के सचालक तथा सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार के सम्मिलित बोर्ड द्वारा नियन्त्रित है। अन्य राज्यों मे भी करघे के माल के बाजार के प्रबन्ध के लिए आशाजनक योजनाएँ बनाई गईं।[2] अन्य कारीगरों, जैसे मोची, सुनार, बेंत का काम करने वाले, लकड़ी का सामान (फर्नीचर) बनाने वाले, ठठेरे आदि के विषय में भी कुछ उन्नति की गई है। जैसा कहा जा चुका है, कि १९३९-४५ के युद्ध ने कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिया। विभिन्न प्रान्तों में इन उद्योगों को सहकारी आधार पर विकसित करने के लिए कुछ प्रयास किये जा रहे हैं।

(२) अकुशल मजदूरों की समितियाँ—मद्रास के बहुत से ज़िलों में अकुशल मज़दूरों की सहकारी समितियाँ पाई जाती हैं। ये समितियाँ मिट्टी खोदने तथा सड़क मरम्मत करने का ठेका लेती हैं, जिनमें अकुशल मजदूरों की आवश्यकता होती है। इसमें बहुत से छोटे किसान भी सम्मिलित रहते हैं जो इस प्रकार अपनी कृषि-आय को बढ़ा लेते हैं। बुरा प्रबन्ध और ठेकेदारों का विरोध आदि कठिनाइयों का इन्हें सामना करना पड़ता है। अन्य समितियाँ भी हैं जो संयुक्त रूप से सड़क बनाने का कार्य करती हैं।[3]

१. मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा १०।

२. द्वितीय खण्ड, अध्याय २, सेक्शन ६४ देखिए।

३. एग्रीकल्चरल कमीशन रिपोर्ट, साक्ष्य विवरण, खण्ड ३, मद्रास रजिस्ट्रार की गवाही और १९२७-२८ की उनकी वार्षिक रिपोर्ट, पैरा ८२ देखिए।

(३) शहरी उपभोक्ता समितियाँ—ग्रामीण क्षेत्रों में इस आन्दोलन के पिछड़े रहने का संकेत ऊपर किया जा चुका है। शहरी क्षेत्रो में इनकी स्थिति कुछ ही अच्छी है। मद्रास और उत्तरप्रदेश मे थोड़े से सहकारी भण्डार खोले गए हैं। मद्रास की ट्रिप्लीकेन शहरी-सहकारी समिति, इन भण्डारो मे सबसे अधिक सफल मानी जाती है। उत्तरप्रदेश और बम्बई मे छात्रावासों से सम्बन्धित कुछ भण्डारो का प्रबन्ध बड़ी सफलता से किया जा रहा है। रेलवे भण्डार भी कुछ सफल सिद्ध हुए हैं।[1] पश्चिमी देशों, विशेषकर इंगलैण्ड की तुलना मे, भारत के उपभोक्ता आन्दोलन की प्रगति नही के बराबर है। अनेक समितियों की असफलता के प्रधान कारण सदस्यों की निष्ठा, अच्छा व्यापारिक प्रबन्ध तथा उचित पर्यवेक्षण का अभाव आदि हैं। एक अन्य कठिनाई फुटकर और थोक दामो का अल्प अन्तर है जो उपभोक्ताओं को पर्याप्त रूप से आकर्षित नही करता। इसके अतिरिक्त बाह्य स्पर्धा का सामना करने की अक्षमता, अधिकांश जनता मे नियत सामयिक आय का अभाव, तथा कही-कही नक़द बिक्री और केवल सदस्यों से ही सम्बन्ध रखने के सच्चे सहकारी सिद्धान्तों का परित्याग आदि अन्य कारण हैं। इसमे कोई सन्देह नही कि वितरण भण्डारों की आवश्यकता शहरो के मध्यम तथा श्रमिक वर्गों के हितों के लिए अत्यावश्यक है, परन्तु इस दृष्टिकोण से उपभोक्ता आन्दोलन भारत के सहकारी संगठन का सबसे दुर्बल अंग है। जब तक जनता मे व्यवस्थित और योजनाबद्ध व्यय की आदत नही आती तथा वे खरीदी हुई वस्तुओं के गुणो के बारे मे उचित निर्णय करने मे भी असमर्थ हैं, तब तक भण्डार आन्दोलन उन्नति नही कर सकता। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण, जब खाद्य सामग्री तथा अन्य पदार्थो का मूल्य बढ गया, तथा फुटकर व्यापार में मुनाफाखोरी फैलने लगी, तो उपभोक्ता-सहकारिता को अधिक प्रोत्साहन, विशेषकर मद्रास मे, मिला।

१६. गृह-निर्माण समितियाँ—इंगलैण्ड में औद्योगिक नगरों की गन्दी बस्तियों के प्रश्न को हल करने तथा अच्छी गृह-व्यवस्था के लिए किये गए विभिन्न प्रयत्नों में सहकारी गृह-निर्माण समितियों का स्थान प्रमुख है। इंगलैण्ड मे उनकी सफलता से भारत भी उनकी ओर आकर्षित हुआ। बम्बई तथा अन्य शहरी क्षेत्रों में हमारे सामने ऐसी ही समस्या है। गाँवों के लिए सुन्दर गृह-व्यवस्था बनाने के विशाल प्रश्न का तो कहना ही क्या है, मद्रास, मैसूर और हाल में बम्बई के कुछ नगरों में भी, सहकारी गृह-निर्माण का प्रारम्भ किया जा चुका है। बम्बई सरकार ने विभिन्न गृह-निर्माण समितियों को आर्थिक सहायता दी है। बम्बई नगर में, बम्बई सहकारी गृह-निर्माण

१. उपभोक्ता सहकारिता के क्षेत्र में मद्रास और बम्बई ने ही कुछ उन्नति की थी, परन्तु अब अन्य राज्यों ने भी इस क्षेत्र में काफी सफलता प्राप्त कर ली है। देश में उपभोक्ता समितियो की स्थिति में हर तरह से विकास हुआ है। सन् १९४९-५० के अन्त में ८९४९ समितियां थी, जिनकी सदस्य-संख्या २१.५५ लाख थी। उनका निजी कोष (फण्ड) ४४९.४१ लाख रुपया था। उस वर्ष (वार्षिक) विक्रय और क्रय की रकम क्रमशः ७०४५.४१ और ६७४४.८० लाख रुपया था। प्रारम्भिक भण्डारो की वृद्धि गत वर्षो में भारत के उपभोक्ता आन्दोलन की विशेषता रही है, परन्तु थोक भण्डारों के बारे में यह बात नही कही जा सकती। मद्रास के अतिरिक्त अन्य राज्यो में थोक-भण्डार प्रमुख नही थे।

संस्था (बॉम्बे को-आपरेटिव हाउसिंग एसोसिएशन) के संरक्षण में, विशेषकर मध्यम वर्ग के हित के लिए बहुत सी गृह-निर्माण समितियों का संगठन किया गया है। सन् १९४९-५० में बम्बई राज्य में ७६९ समितियाँ थीं जिनकी सदस्य-संख्या ३७,११७ और चालू पूँजी लगभग ५·६ करोड़ रुपये थी। मद्रास में सन् १९४९-५० के अन्त में २८० गृह-निर्माण समितियाँ थीं, जिनकी सदस्य संख्या २५,९३३ थी तथा १५८·१७ लाख रुपया सरकारी ऋण था।

गृह समितियों के दो मुख्य प्रकारों में अन्तर किया जा सकता है: (१) पहली वे समितियाँ हैं जो सामूहिक रूप से भूमि खरीदती हैं, तथा सदस्यों को कच्चे माल की खरीद, टेक्नीकल सलाह, क्रय और यदि सम्भव हुआ तो बन्धक पर ऋण देकर उन्हें निजी मकान बनाने में सहायता करती हैं। (२) दूसरे प्रकार की समितियाँ वे हैं, जो अपनी एक बड़ी इमारत अथवा अनेक इमारतें बनाती हैं और उसमें रहने वाले सदस्यों से, दीर्घकाल में निर्माण एवं मरम्मत की लागत को पूरा करने के लिए किराया लेती हैं। भारत में दोनों प्रकार की समितियाँ पाई जाती हैं।

१७. केन्द्रीय समितियाँ; सहकारी वित्त—अब तक हमने प्रारम्भिक समितियों के अनेक प्रकारों का विवेचन किया है। अब केवल उच्चतर स्तर के सहकारी संगठन के विषय में कुछ कहना शेष है, जिनका कार्य विभिन्न प्रकार की प्रारम्भिक समितियों का निरीक्षण और संगठन तथा आर्थिक सहायता देना है। आन्दोलन के इस पहलू को हम तीन प्रकार की केन्द्रीय समितियों से—संघ (यूनियन) केन्द्रीय बैंक तथा राज्यीय बैंक से—अध्ययन कर सकते हैं।

१८. संघ—भारत में लगभग सारे राज्यों में केन्द्रीय सहकारी एजेन्सियाँ हैं जिनके निरीक्षण का क्षेत्र एक जिले से कहीं छोटा है। ये संघ निम्न प्रकार के हो सकते हैं: (१) गारण्टी देने वाले संघ (यूनियन), जैसे पहले बर्मा और बम्बई में थे। (२) पर्यवेक्षक संघ (सुपरवाइज़िंग यूनियन) जैसे बम्बई और मद्रास में हैं। (३) बैंक-व्यवहार संघ, जैसे पंजाब में हैं। एक दिये हुए क्षेत्र में कई समितियों के संधान (फेडरेशन) को संघ (यूनियन) कहते हैं। प्रबन्ध की बागडोर संघ-कमेटी के हाथ में रहती है। यह कमेटी अनेक सदस्य समितियों के प्रतिनिधियों से बनती है। यह एक वैतनिक मन्त्री तथा एक उपसमिति नियुक्त करती है जिनका कार्य सदस्य समितियों के कार्यों की जाँच तथा उनकी कार्य-विधि का निर्देश करना है। जहाँ पर संघ एक गारन्टी संघ भी होता है वहाँ यह कमेटी (संघ-कमेटी) सदस्य समितियों के कुल बाह्य ऋणों को निश्चित करती है जिसके लिए यह केन्द्रीय बैंक से सिफारिश करने के लिए तैयार रहती है। कुछ दशाओं में यह केन्द्रीय बैंकों को सदस्य समितियों के ऋणों के सम्बन्ध में कुछ सीमा तक गारन्टी भी देती है। सोचा यह गया था कि संघ सदस्य-समितियों के कार्यों के पर्यवेक्षण में लाभप्रद होने के साथ ही केन्द्रीय वित्तीय संस्थाओं और प्रारम्भिक समितियों के बीच एक कड़ी भी बन जायँगे, यद्यपि वे स्वयं वित्तदायी संस्थाएँ नहीं होंगे। जहाँ पर प्रारम्भिक समितियाँ और केन्द्रीय बैंक हैं वहाँ गारन्टी संघ की स्थापना के लिए मैक्लेगन कमेटी ने जोरदार सिफारिश की थी। उनका विचार था कि जहाँ

पर केवल प्रान्तीय बैंक ही प्रत्यक्ष रूप से प्रारम्भिक समितियों से व्यवहार करते हैं, वहाँ पर इन संघों का होना बहुत ही आवश्यक है। बर्मा की तरह की गारन्टी यूनियनें बम्बई में असफल रही। अंशतः इसका कारण यह था कि गारन्टी केवल नाममात्र की होती थी और धनाभाव के कारण कोई योग्य पर्यवेक्षक नहीं रखा जा सकता था। समिति का काम प्रायः अनियमित और अयोग्य था। इसलिए मद्रास की तरह के केवल निरीक्षक संघ को ही उत्साहित करने का निश्चय किया गया है, जो विस्तृत क्षेत्र में फैले हों तथा कुशल निरीक्षण के लिए जिनकी आर्थिक स्थिति दृढ़ हो।

सन् १९३४ की निरीक्षण कमेटी की सिफारिशों के आधार पर संघों की कार्य-प्रणाली को उचित और कुशल बनाने के लिए बम्बई सरकार ने सन् १९३६ में नई योजना प्रारम्भ की, जिसके अन्तर्गत निरीक्षण के लिए जिला परिषदों की स्थापना तथा केवल योग्य पर्यवेक्षकों की नियुक्ति पर बल दिया। उपनियम के अन्तर्गत इन परिषदों को विस्तृत अधिकार दिया गया है। इनमें से सबसे प्रमुख अधिकार सम्बन्धित समिति के प्रबन्ध कमेटी को स्थगित करना है। इनसे यह भी आशा की जाती है कि वे सहकारी कृषि-संगठन में दृढ़ता लाने वाली शक्ति का भी काम करेंगी।[1] केन्द्रीय बैंकों द्वारा नियुक्त किये गए निरीक्षक (इन्सपेक्टर) भी निरीक्षण कार्य में सहायता करते हैं।

प्रत्येक कमेटी और आयोग ने अच्छे निरीक्षण की आवश्यकता को स्वीकार किया है, परन्तु इस काम के लिए सबसे उपयुक्त एजेन्सी के सम्बन्ध में एक-से कदम नहीं उठाये गए हैं। विभिन्न राज्यों ने विभिन्न प्रकार की निरीक्षण पद्धतियों को अपनाया है। साधारणतया निरीक्षण का कार्य या तो सहकारी विभाग के जरिए सरकार द्वारा किया जाता है, अथवा विशेष प्रकार की सहकारी निरीक्षक संस्थाओं द्वारा किया जाता है, जैसा कि बम्बई, मद्रास, पंजाब और मध्यप्रदेश में होता है, या दोनों प्रकार से किया जाता है। सामान्यतया इसका प्रबन्ध स्थानीय पर्यवेक्षक संघों, जिला पर्यवेक्षक परिषदों या संघों, प्रदेशीय अथवा प्रान्तीय सहकारी संस्थाओं और केन्द्रीय बैंकों अथवा इनके संघों से किया जाता है। बम्बई और मद्रास में विभागीय अधि-कारियों द्वारा विशेष प्रकार की समितियाँ, जैसे ऋण-इतर और परिगणित जातियों के निरीक्षण के लिए विशेष प्रबन्ध किया गया है।

निरीक्षण प्रणाली कहीं भी पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं है। अनेक राज्यों में अति अल्प निरीक्षण का ही प्रबन्ध है और बहुत से राज्यों में वित्तीय एजेन्सियों के अधि-कारियों द्वारा किये हुए निरीक्षण से इसका संघात होता है।[2] बम्बई में निरीक्षण करने वाली विभिन्न एजेन्सियों के संयोग की ओर विभाग प्रयत्नशील है।

१९३७ में रिज़र्व बैंक के कृषि-ऋण विभाग ने कोदिनार (बड़ौदा स्टेट)[3] के बैंक-व्यवहार संघ पर रिपोर्ट प्रस्तुत की और अन्यत्र प्रयोग करने के विषय में सुझाव पेश किये। इस प्रकार का बैंक-व्यवहार संघ वित्त के अतिरिक्त, निरीक्षण-संघ का काम

---

१. निरीक्षण समिति की रिपोर्ट (१९३४) और रजिस्ट्रार की वार्षिक रिपोर्ट (१९३६-३७), पैरा ४०।

२. रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया (१९३९-४०) पृ० ७१-३।

३. नानावती और अंजारिया, देखिए: (द इण्डियन रूरल प्रॉब्लम) पृ० ४०६-१० और कोदिनार बैंकिंग

अपने हाथ में ले लेगा। जो निरीक्षण संघ सन्तोषजनक काम कर रहे हैं तथा जिनसे काफ़ी संख्या में प्रारम्भिक समितियाँ सम्बन्धित है, उन्हें बैंक-व्यवहार संघ में परिवर्तित करने योग्य समझा जा सकता है, यदि आवश्यकता पड़ने पर यह बैंक-व्यवहार संघ राज्यीय बैंक की सहायता से अपने साधनों की पूर्ति कर सकता है।[1] सहकारी क्षेत्रों में इस सुझाव को विशेष पसन्द नहीं किया गया है, क्योंकि इससे मितव्ययी और कुशल कार्य सम्भव नहीं होगा। यह भी हो सकता है कि उसे इतना विश्वास प्राप्त न हो कि वह पर्याप्त निक्षेपों को आकर्षित कर सके।

१९. केन्द्रीय सहकारी बैंक—सामान्यत: केन्द्रीय सहकारी बैंक भारत जैसे देश के लिए आवश्यक उच्चतर वित्तीय एजेन्सियाँ है, क्योंकि भारत में प्रारम्भिक समितियों द्वारा पूँजी स्थानीय रूप से एकत्रित की जाती है तथा उसकी पूर्ति बाहर से और सुदूर द्रव्य-बाजारों से करनी पड़ती है। इसलिए केन्द्रीय अथवा राज्य बैंकों, जैसे उच्चतर संघों या वित्तीय संस्थाओं की स्थापना की आवश्यकता होती है। ये बैंक क्रमशः प्रारम्भिक समितियों को दूरस्थ नगरों से सम्बन्धित करेंगे, जिनसे प्रारम्भिक समितियों को चालू पूँजी मिल सके। इस प्रकार की विशेष सहकारी वित्तीय प्रणाली आवश्यक है। एक तो ग्रामीण वित्त को दीर्घकालीन पूँजी की अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है और दूसरे सम्मिलित पूँजी वाले बैंक, जो अपना व्यापार कुछ प्रमुख नगरों में ही चलाते हैं, दूरस्थ ग्रामीण समितियों को जिनके बारे में वे कुछ नहीं जानते, कृषि-उत्पादन के लिए आवश्यक अर्थ उपलब्ध कराने के हेतु दीर्घकालीन ऋण नही दे सकते, भले ही वे ऋण देने में समर्थ क्यों न हों। वित्तीय वितरक पद्धति की आधारभूत भावना यह है कि समिति के साधन उन हजारों कृषकों के लिए सुलभ बनाए जायँ, जिन्हें उनकी आवश्यकता है।

जो प्रारम्भिक समितियाँ इनके अन्तर्गत होती हैं उनकी चालू पूँजी की कमी और अधिकता के सन्तुलन-केन्द्र का काम भी ये केन्द्रीय बैंक करते हैं। प्रारम्भिक समितियों के लिए आवश्यक पूँजी को यह एकत्र करते हैं और प्रत्यक्ष रूप से अथवा जहाँ पर गारन्टी यूनियन है वहाँ उनके द्वारा, प्रारम्भिक समितियों को उधार देते हैं। कई राज्यों में केन्द्रीय बैंक समितियों के निरीक्षण और संगठन का काम भी कर सकते हैं, विशेषकर उस समय जब कि वे समितियाँ इसकी हिस्सेदार हों। केन्द्रीय बैंक मुख्यत: एक वित्तीय एजेन्सी है। सम्बन्धित समितियों के वित्तीय प्रबन्ध के अलावा, केन्द्रीय बैंक अन्य काम भी करते हैं जैसे, विभिन्न प्रकार के निक्षेपों को स्वीकार करना, बिल, चेक, हुण्डी, डिविडेण्ड वारन्ट और रेलवे सम्बन्धी कार्य करना, ड्राफ्ट और हुण्डी को जारी करना, बहुमूल्य पदार्थों को सुरक्षा में रखना और प्रतिभूतियों (सीक्योरिटी) का क्रय-विक्रय आदि।[2] इसका कार्य-क्षेत्र कुछ राज्यों, जैसे बंगाल, बिहार, उड़ीसा और पंजाब में एक तालुका अथवा तहसील से लेकर, अन्य राज्यों में जैसे बम्बई, मद्रास और मध्यप्रदेश में एक

संघ के संगठन पर नानवती की रिपोर्ट।

२. एग्रीकल्चर क्रेडिट डिपार्टमेन्ट (रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया) बुलेटिन नं० १।

३. रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ० ११।

जिले अथवा बहुत से तालुकों में फैला होता है। अत्यन्त छोटे क्षेत्र में प्रबन्ध-व्यय अनावश्यक रूप से अधिक होता है और अत्यन्त बड़े क्षेत्र में पर्यवेक्षण का कार्य कुशल नहीं होता। प्रत्येक दशा में हमें बीच के मार्ग को अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

केन्द्रीय बैंक अपनी संरचना के अनुसार मिश्रित और शुद्ध दो प्रकार के होते हैं। मिश्रित केन्द्रीय बैंक समितियों और व्यक्तियों से मिलकर बनते हैं, और ये बैंक हिस्सा, पूँजी और प्रबन्ध-परिषद् के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में समिति को ही विशेष सुविधाएँ देते हैं। इस प्रकार के बैंक संघीय बैंकों के आदर्श को प्राप्त करने के लिए स्वीकार किये जा सकते हैं अर्थात् ऐसे केन्द्रीय बैंक के लिए जिसकी सदस्यता केवल समितियों तक सीमित हो। मिश्रित केन्द्रीय बैंक धनी व्यापारियों और मध्यम-वर्ग के सदस्यों की राय और सहायता को प्राप्त करते हैं, तथा केवल समितियों के हितों की रक्षा करते हैं और वे एक शुद्ध केन्द्रीय बैंक में बदले जा सकते हैं जिसमें व्यक्तिगत सदस्यता का लोप हो जायगा। मिश्रित प्रकार की बैंक भारत की वर्तमान परिस्थितियों में उपयुक्ततम हैं तथा सभी राज्यों में उनका प्रचार है। आदर्श संघीय बैंक यद्यपि सिद्धान्ततः श्रेष्ठ हैं, परन्तु उनकी कुछ कमियाँ हैं। उदाहरणार्थ, आवश्यक व्यापारिक योग्यता के लिए वे आत्म-निर्भर नहीं होते, और न वे मध्यम वर्ग को ही आकर्षित कर सकते हैं, और इस प्रकार प्रारम्भिक समितियों के लिए आवश्यक धन भी उन्हें नहीं मिल पाता। कुछ राज्यों में, जैसे बंगाल और पंजाब में शुद्ध संघीय केन्द्रीय बैंकों की संख्या बढ़ रही है, जिन्हें बैंकिंग संघ (यूनियन) कहते हैं।

भारतीय संघ में राज्य-बैंकों सहित कुल ५२० केन्द्रीय बैंक थे, और उनके सदस्य (१९५१ में) २२८, १४८ थे। चालू पूँजी का मुख्य भाग हिस्सा पूँजी (लगभग ७ प्रतिशत) था। व्यक्तियों एवं समितियों से प्राप्त निक्षेप (लगभग ६८.५ प्रतिशत) भी चालू पूँजी का अधिकांश भाग थे। केन्द्रीय और प्रान्तीय बैंकों के ऋण १५ प्रतिशत तथा सुरक्षित एवं अन्य कोष ८.५ प्रतिशत थे। सन् १९५१ में केन्द्रीय बैंकों की चालू पूँजी ५६.३८ करोड़ रुपये थी।

चालू पूँजी का ८४ प्रतिशत भाग (ऋण और निक्षेप आदि विभिन्न साधनों से) उधार लिया हुआ है। केन्द्रीय बैंकों के निक्षेपों के दायित्व के विचार से केवल पर्याप्त (सुरक्षित) नकद रखना ही आवश्यक नहीं है,[1] वरन् पर्याप्त दीर्घकालीन निक्षेपों को आकर्षित करना भी आवश्यक है अन्य लोगों के समान सुरक्षित नकदी रखने पर मैक्लेगन कमेटी ने भी विशेष बल दिया था।[1] १९३७ में भारत के रिज़र्व बैंक के कृषि-ऋण

---

१. यद्यपि अधिकृत कोष का अनुपात चालू पूँजी के साथ असन्तोषजनक नहीं मालूम होता, फिर भी सुरक्षित कोष के निर्माण के दृष्टिकोण से कुछ केन्द्रीय बैंकों की वास्तविक स्थिति इतनी सन्तोषजनक नहीं है। कभी-कभी सुरक्षित कोष, बुरे ऋणों के लिए उचित व्यवस्था के बिना ही बनाए जाते हैं और इस प्रकार परीक्षा करने पर यह कुछ अंश तक कल्पित भी हो सकते हैं।—रिव्यू ऑफ़ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया (१९३९-४०) पृष्ठ ११।

१. मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा १८। मेहता, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ १३२ और स्टेट्युटरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट (रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया), पैरा २२।

विभाग ने अपनी संवैध रिपोर्ट तथा प्रन्तीय सहकारी बैंकों को जारी किये हुए परिपत्र में इसी बात पर बल दिया है (आगे सेक्शन २३ देखिए)। केन्द्रीय बैंकों को प्रारम्भीय समितियों को दिये हुए ऋणों को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि निक्षेपों की यथासमय अदायगी का निश्चय बना रहे। केन्दीय बैंकों के उधार लिये हुए धन का (उधार कोष) लगभग ९० प्रतिशत ऋण के रूप में दे दिया जाता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंकों के पास 'तरल' साधन बहुत निचले स्तर पर रहते हैं। समय पर चुकता न किया हुआ या कालातीत ऋण केन्द्रीय बैंकों की अप्राप्त राशि का बहुत बड़ा अंश है। अधिकतर असाध्य ऋण केन्द्रीय बैंक के निजी कोष से बढ़ सकते हैं। सामान्यतः बम्बई, मद्रास, और पंजाब आदि राज्यों में केन्द्रीय बैंकों की सापेक्षिक अवस्था सुदृढ़ है, परन्तु कुछ अन्य राज्यों में, विशेषकर बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और बरार में इनकी अवस्था शोचनीय है। लगभग १० वर्ष इन राज्यों में अनेक केन्द्रीय बैंकों को निक्षेपों की वापसी की असमर्थता के कारण अपना काम बन्द करना पड़ा। केन्द्रीय बैंकों के फेल हो जाने के कारण इन राज्यों में समितियों को असावधानी से अत्यधिक ऋण देना, अयोग्य निरीक्षण, कार्य-व्यापार में बंक-व्यवहार के नियमों का उल्लंघन और प्रारम्भिक समितियों का दोषपूर्ण संगठन आदि थे।[१]

बैंक के कार्यों में लचक लाने के लिए नकद साख और सहकारी कागजों के भुनाने की सुविधाओं का होना आवश्यक है। पुराने होने के कारण, बहुत से केन्द्रीय बैंकों के पास इतने साधन हैं कि वे बाह्य वित्तीय सहायता से मुक्त हो सकें, परन्तु वे अपनी साख-व्यवस्था राज्यीय बैंकों से ही बनाये रखते हैं, क्योंकि इन राज्यीय बैंकों पर वे संकट-काल में भरोसा रखते हैं। अब हम राज्यीय सहकारी बैंकों की प्रवृत्ति और उपयोगिता पर विचार करेंगे।

२०. राज्यीय सहकारी बैंक—सहकारी समितियों की बढ़ती हुई संख्या के सम्बन्ध में अपने कार्यों को उचित रूप से पूरा करने, उन्हें संयोजित और नियन्त्रित करने, निकास-गृह के रूप में चालू पूँजी की अधिकता और कमी को सन्तुलित करने तथा राज्य के वित्तीय केन्द्र की तरह काम करने के लिए केन्द्रीय बैंकों को राज्यीय शीर्ष बैंक की सहायता की आवश्यकता होती है।

उपरोक्त नकद और सहकारी कागज भुनाने की सुविधाएँ भी ये बैंक केन्द्रीय बैंकों को प्रदान करते हैं। इस विषय में सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों पर भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे विशेष प्रतिभूति को स्वीकार नहीं कर सकते। राज्यीय बैंक एक ओर सामान्य द्रव्य-बाजार और सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों के बीच, और दूसरी ओर प्रारम्भिक ग्रामीण समितियों के बीच एक लाभदायक कड़ी हैं। इस सम्बन्ध में बंगाल की एक रोचक प्रणाली का हवाला दिया जा सकता है। इसके अनुसार कृषि को शिथिल ऋतु में राज्यीय बैंकों में जमा किया हुआ अतिरिक्त सहकारी द्रव्य सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों के द्वारा व्यापार और वाणिज्य के लिए उपलब्ध हो जाता है, जो दोनों

---

१. रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृष्ठ ११-१२। केन्द्रीय बैंकों के पुनर्निर्माण के लिए सुझाये और अपनाये गए उपायों के लिए, सेक्शन २६-२७ देखिए।

ही पक्षों के लिए लाभदायक है। राज्यीय बैंकों को गृह-समिति, विक्रय-संघ, भूमि-बन्धक बैंक जैसी विशेष समितियों को छोड़कर, अन्य समितियों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए, बल्कि केन्द्रीय बैंकों के लिए सन्तुलन-केन्द्रों और वित्तीय एजेन्सियों के रूप में अपनी स्थिति को सशक्त और पुष्ट करना चाहिए।[1] इस सम्बन्ध में एक-सी विधि नहीं है। कुछ राज्यों में शीर्ष बैंक प्रारम्भिक समितियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते और कुछ अन्य राज्यों में (बिहार, उड़ीसा, बम्बई और मैसूर), उन क्षेत्रों में वे अब भी प्रारम्भिक समितियों का आर्थिक प्रबन्ध करते हैं, जहाँ केन्द्रीय बैंक नहीं हैं। बम्बई में राज्यीय बैंक की ३१ शाखाएँ हैं जो उन जिलों अथवा उनके भागों में फैली हुई हैं जहाँ किसी-न-किसी कारण से कोई स्थानीय बैंक नहीं हैं।

राज्यीय बैंकों का विधान विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग है। बम्बई, मद्रास, मध्यप्रदेश व बरार, बिहार और आसाम में व्यक्ति एवं समिति दोनों ही स दस्य हो सकते हैं। संचालक-परिषद् विभिन्न प्रकार की समितियों और व्यक्तिगत सदस्यों के प्रतिनिधियों से बनती हैं। आजकल आवश्यक व्यापारिक ज्ञान और राज्यीय द्रव्य-बाजार से निक्षेप पाने के लिए व्यक्तियों को सम्मिलित करना आवश्यक है। पंजाब और बंगाल में सदस्यता केवल समितियों के ही लिए खुली है और संचालक-परिषद् के सदस्य केवल सम्बन्धित केन्द्रीय बैंक, बैंकिंग-संघ तथा अन्य समितियों के प्रतिनिधि ही हो सकते हैं। बंगाल में रजिस्ट्रार गैर-सदस्यों में से ३ संचालकों को नियुक्त करता है।

राज्यीय शीर्ष बैंक १४ राज्यों में लगभग इन्हीं आधारों पर स्थापित किये जा चुके हैं। ये राज्य मद्रास, बम्बई, पश्चिमी बंगाल, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, पंजाब, बिहार, उड़ीसा, आसाम, मैसूर, हैदराबाद अजमेर, कुर्ग और विन्ध्यप्रदेश हैं। इनमें से बम्बई राज्यीय बैंक केन्द्रीय बैंक के रूप में १९११ में स्थापित किया गया और सर्वसम्मति से योग्यतम माना जाता है। उसका कार्य-व्यापार अनेक प्रकार का है। आर्थिक प्रबन्ध, प्रचार अथवा निरीक्षण आदि सहकारी विकास का कोई ऐसा रूप नहीं है जिसमें यह हाथ न बँटाता हो। प्रारम्भ से ही बैंक ने उपयोगी कार्य किये हैं तथा सहकारिता की परम्परा में इसका स्थान अद्वितीय है।

राज्यीय बैंक का निजी कोष चालू पूँजी के १२ प्रतिशत के लगभग है और उधार लिया हुआ कोष (समितियों, केन्द्रीय बैंकों, व्यक्तियों, अन्य साधनों से निक्षेप तथा सरकार से ऋण) चालू पूँजी का ८८ प्रतिशत है। असाध्य ऋणों के लिए हमेशा पर्याप्त प्रबन्ध नहीं किया गया है, और इसलिए वास्तविक बची अतिरिक्त परिसम्पत्ति उतनी नहीं है जितनी सुरक्षित कोष के आँकड़ों में दीखती है। सम्पूर्ण स्थिति को ध्यान में रखते हुए राज्यीय बैंकों की आर्थिक अवस्था केन्द्रीय बैंकों से कहीं अच्छी है, यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी हैं। राज्यीय बैंकों का कार्यारम्भ और उदाहरण ही सहकारिता आन्दोलन में बैंकिंग के सिद्धान्तों के अधिकाधिक प्रयोग के लिए उत्तरदायी है। नकद सुरक्षित कोष, नकद ऋण जैसी सुविधाएँ, राज्यीय बैंकों द्वारा पहली बार

१. रिपोर्ट ऑफ द सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, देखिए पैरा १५६।

भुनाये हुए सहकारी विपत्रों को पुनः भुनाने आदि के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकों पर लागू विचार यहाँ के लिए भी उचित है। राज्यीय और केन्द्रीय बैंकों के पुनर्संगठन के लिए रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपने कृषि-साख की संवैध रिपोर्ट में जो सुझाव पेश किये है, वे बाद में दिये गए हैं (देखिए सेक्शन २७)।

२१. क्या अखिल भारतीय सहकारी बैंक आवश्यक है ?—मैक्लेगन कमेटी ने सिफारिश की थी कि उपर्युक्त प्रकार की वित्तदायी एजेन्सियों के अतिरिक्त अखिल भारतीय सहकारी बैंक स्थापित किया जाय, जो राज्यीय बैंकों को पुनः भुनाने की सुविधा दे सके ताकि उनकी अर्थ-व्यवस्था में लोच आ जाय जिस लचीलेपन के बिना आन्दोलन का स्थायित्व और विकास कठिन हो जायगा।[1]

मैक्लेगन कमेटी की रिपोर्ट के बाद, अखिल भारतीय बैंक की आवश्यकता अथवा वाञ्छनीयता के बारे में विचार बदल गए हैं। इस वर्तमान स्थिति के नये तत्त्व ये हैं कि राज्यीय बैंकों के पास भारी रकम बेकार पड़ी रहती है, तथा अनेक बैंक १९-१५ की कमेटी द्वारा प्रस्तावित स्तर से कहीं अधिक 'तरल' साधन रखते हैं। इम्पीरियल बैंक तथा अन्य बैंकों से आर्थिक सहायता का आश्वासन, सहकारिता का राज्यीय विषय होना, अखिल भारतीय बैंक जैसे बाह्य अधिकारियों से स्वतन्त्र होकर राज्यों की अपने अनुकूल विकास करने की प्रवृत्ति, तथा विभिन्न राज्यीय बैंकों में पारस्परिक लेन-देन की स्वस्थ और ऐच्छिक प्रणाली का प्रारम्भ, जिसमें भारतीय राज्यीय बैंक संस्था भी मदद देती है, आदि बातें भी हैं। अब रिज़र्व बैंक की स्थापना हो चुकी है, इसलिए राज्यीय बैंकों के लिए किसी शीर्ष बैंक की आवश्यकता नही रही, क्योंकि राज्यीय बैंकों को पुनः भुनाने और ऋण की सुविधाएँ रिज़र्व बैंक से प्राप्त हो जाती हैं। अतएव वर्तमान प्रणाली के लिए किसी शीर्ष बैंक की आवश्यकता नहीं है। (सेक्शन २२-२३ देखिए)।

२२. रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया और सहकारी कृषि-वित्त का सम्बन्ध—१ अप्रैल १९३५ को रिज़र्व बैंक के उद्घाटन के बाद[2] उससे कृषि की वित्तीय सहायता के सम्बन्ध में बड़ी आशाएँ की जाने लगीं।[3] बैंक को कृषि विपत्र (बिल) और रुक्कों ('प्रामिसरी नोट को) जिन पर किसी अनुसूचित बैंक या राज्यीय सहकारी बैंक के हस्ताक्षर हों, तथा जो कृषि-कार्यों को वित्त प्रदान करने के उद्देश्य से बनाये गए हों और जिनकी समयावधि ९ महीने की हो, उन्हें खरीदने, बेचने और पुनः भुनाने की इजाज़त है। व्यापारिक विपत्र के सम्बन्ध में केवल ३ महीने की ही समयावधि है। चूँकि कृषि-वित्त का चक्र व्यापारिक वित्त-चक्र से बड़ा होता है, इसलिए यह कृषि के लिए एक प्रकार की रियायत है। वे भूमि-बन्धक बैंक, जिन्हें राज्यीय सहकारी बैंक घोषित कर दिया गया है तथा अन्य राज्यीय सहकारी बैंकों को ९० दिन के लिए

१. रिपोर्ट, पैरा २१९-२९।

२. रिज़र्व बैंक का विवेचन, द्वितीय खण्ड, अध्याय ११ में किया गया है।

३. रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट (१९३४) के (२) बी, (४) ए, सी और डी और सेक्शन १७ देखिए। रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित कृषि साख की संवैध रिपोर्ट, पैरा ३७ भी देखिए।

उधार अथवा अग्रिम देने का अधिकार भी रिज़र्व बैंक को दिया गया है। इनके द्वारा रिज़र्व बैंक केन्द्रीय बैंकों और प्रारम्भिक भूमि-बन्धक बैंकों को सरकारी पत्र या स्वीकृत भूमि-बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों की, जो न्यासी प्रतिभूतियों के समकक्ष और सरलता से बिकने योग्य हैं, ज़मानत पर ऋण दे सकते हैं। रिज़र्व बैंक ९० दिन के लिए निम्न-लिखित ज़मानतों पर राज्यीय सहकारी बैंकों को अग्रिम दे सकता है : (१) कृषि-कार्यों के आर्थिक प्रबन्ध के लिए केन्द्रीय सहकारी बैंकों के रुक्कों पर, (२) स्वीकृत सहकारी विक्रय-समितियों या भाण्डागार समितियों के रुक्कों पर, जो फसलों की बिक्री के लिए बनाये गए हों और जिन पर राज्यीय गोदाम की रसीद या उसमें सहकारी बैंक के हस्ताक्षर हों, तथा (३) उधार और जमा से अधिक रुपया निकालने की स्वीकृति बन्धक रखी हुई वस्तुओं के आधार पर तथा राज्यीय सहकारी बैंक द्वारा विक्रय या भाण्डागार समितियों को दिये हुए नक़द साख या अधिकर्षण के होने पर राज्यीय सहकारी बैंकों के रुक्कों पर।

इसका कार्य सन् १९३५ में रिज़र्व बैंक के कृषि ऋण-विभाग की स्थापना, कृषि-ऋण से सम्बन्धित सभी प्रश्नों का अध्ययन करना, सरकार और सहकारी बैंकों को योग्य सलाह देना तथा कृषि-उधार के सम्बन्ध में राज्यीय बैंकों अथवा अन्य संगठनों के कार्यों को संयोजित करना है। कानून के अनुसार कृषि ऋण-विभाग ने दिसम्बर सन् १९३७ में सरकार के समक्ष कृषि उधार पर एक रिपोर्ट पेश की। कृषि ऋण-विभाग ने निम्न विषयों पर चार रोचक और शिक्षणात्मक बुलेटिन प्रकाशित किये— (१) कोदिनार का बैंकिंग संघ (१९३७); (२) सहकारी ग्रामीण बैंक (१९३७); (३) बर्मा में सहकारिता आन्दोलन का वर्तमान विकास (१९३८); और (४) पंजाब में सहकारिता (पंजाब १९३९)। सन् १९४१ में रिज़र्व बैंक ने सुधारों का निर्देश करते हुए तथा संवैध रिपोर्ट को पूर्ण करने के लिए प्राप्त सफलता तथा वर्तमान प्रवृत्तियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन 'रिव्यू ऑफ द को-ऑपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया'[1] में बड़े रोचक और सरल ढंग से छापा।[2]

२३. सहकारी बैंकों के सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक का कार्य—कृषि-ऋण की रिपोर्ट (१९३७) में रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंकों की वित्तीय सहायता से सम्बन्धित अधिनियम की धाराओं और उनके प्रति अपना रुख स्पष्ट किया है। आम विचार यह है कि रिज़र्व बैंक को कृषि का वित्त-प्रबन्ध अपने हाथ में लेना चाहिए। भारत जैसे देश में कृषि-कार्य अशिक्षित और छोटे-छोटे किसानों द्वारा किया जाता है। यह कार्य असंगठित है एवं जोखिमों से भरा है। इस बात को ध्यान में रखते हुए, बैंकिंग के पुराने सिद्धान्तों के अनुसार, केन्द्रीय बैंकों के लिए न तो यह वाञ्छनीय है और न सम्भव ही कि वे प्रत्यक्ष रूप से अल्प अथवा दीर्घ काल के लिए कृषि का अर्थ-प्रबन्धन कर सकें। कृषि-

१. अब तक रिजर्व बैंक इस प्रकार के चार 'रिव्यू' छाप चुका है। अन्तिम रिव्यू १९४८-५० का है। अब १९५०-५२ का पाँचवाँ रिव्यू भी छप गया है।

२. अन्य बातों के लिए 'फंक्शन्स एण्ड वर्किंग ऑफ द रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया', देखिए (१९४१ में रिज़र्व बैंक द्वारा प्रकाशित) अध्याय ६, पृष्ठ ६६-७९।

वित्त के सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक के निर्णय प्राचीन विचारों से ही प्रभावित रहे हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि संवैध रिपोर्ट में कहा गया है कि प्रमुख बैंकों के निक्षेपों के आधार पर उनके नकद कोष और 'तरल' साधन रिज़र्व बैंक को सौंपे हुए हैं। यही उसकी चालू पूँजी का सबसे बड़ा भाग है। इस प्रबन्ध में मूल विचार यह है कि इन साधनों की सारी निधि संकट-काल में प्राप्त हो सके। ऐसे व्यापारों में धन नहीं लगाया जा सकता जिन्हें अनुसूचित बैंक स्वयं नहीं कर सकते। इस प्रकार यह बैंक व्यवहारियों का बैंक है। इसलिए यह किसानों को सीधे ऋण नहीं दे सकता और किसी भी ऋण-एजेन्सी की सामान्य वित्त की पूर्ति नहीं कर सकता। इन समितियों को अपने व्यापार के लिए रिज़र्व बैंक पर भरोसा नहीं करना चाहिए। रिजर्व बैंक का सही कार्य ऐसी वित्त-सम्बन्धी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है जिनमें निवेश करने वालों के लिए और ऋण चाहने वालों के लिए पर्याप्त सुविधाएँ हों। जिस समय देश की व्यापारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए व्यापारिक ऋण का भण्डार अपर्याप्त होता है, केवल उसी समय रिजर्व बैंक उधार देने का काम करता है। सहकारी बैंकों के विषय में भी इन्हीं आधार-भूत सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिए। व्यापारिक बैंकों के समान इन बैंकों को भी अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए तथा सामान्य वित्त को निक्षेपों से प्राप्त करना चाहिए। उन्हें आन्दोलन के शीर्ष बैंक की तरह रिजर्व बैंक से इसकी आशा नहीं करनी चाहिए। आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता और औचित्य पर परिस्थिति के अनु-सार रिजर्व बैंक को निर्णय करना चाहिए। अधिक-से-अधिक रिज़र्व बैंक प्रान्तीय बैंकों के कोष की अस्थायी कमी को दूर कर सकता है। रिजर्व बैंक सहकारी बैंकों को नकद-उधार की सुविधा के अनुदान के लिए अभी प्रस्तुत नहीं है, क्योंकि सरकारी प्रतिभूतियों के प्रति उनको अग्रिम देने के लिए कानून में धारा है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सहकारी वित्त को लचकदार बनाने और सहकारी बैंक की दर को कम करने के लिए प्रान्तीय सहकारी बैंकों को नकद साख की सुविधाओं का मिलना आवश्यक है।

समय-समय पर रिज़र्व बैंक बैंकिंग के नियमों को बताने के लिए सहकारी बैंकों को परिपत्र और आदेश जारी करता है। उदाहरण के लिए मई, सन् १६३८ और जून, सन् १६३६ में रिज़र्व बैंक ने प्रान्तीय सहकारी बैंकों को सलाह दी कि वे अन्य बैंकों के साथ नकदी और सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में 'तरल' साधन बनाए रखें, जो उनकी देनदारी का लगभग ४० प्रतिशत हो तथा अपने-आपको अल्पकालीन ऋणों तक ही सीमित रखें। रिज़र्व बैंक से वित्तीय सुविधा प्राप्त करने के लिए एक शर्त यह है कि राज्यीय बैंकों को रिज़र्व बैंक में नकद रुपया जमा रखना चाहिए, जिसकी राशि ऐसे बैंक की त्वरित देनदारी (डिमाण्ड लाइबिलिटी) के २½ प्रतिशत और समयावधि देनदारी (टाइम लाइबिलिटी) के एक प्रतिशत से कम न हो और इस सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक को विवरण प्रस्तुत करना चाहिए।[1] १६३८ के बाद केवल दो राज्यीय बैंकों ने सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर रिज़र्व बैंक से थोड़ी राशि के अग्रिम लिए हैं। उनके साधन पर्याप्त थे, परन्तु उन्होंने रिजर्व बैंक का आश्रय इसलिए लिया ताकि वे प्रतिभूतियों को

१. फंक्शन्स एण्ड वर्किंग ऑफ द रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, पृ० ७० ।

बेचने से बच जायँ और निम्नतम दर पर उधार ले सकें।

कृषिक वित्त और औद्योगिक वित्त में बहुत अन्तर है और भारत की विशेष परिस्थितियों के कारण इनका हल और भी कठिन हो जाता है। निवेशित धन को 'तरल' रखने और खतरों को दूर करने की रिज़र्व बैंक की चिन्ता स्वाभाविक ही है। कृषि के अल्प, मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इंगलैण्ड, अमेरिका और आस्ट्रेलिया के ढंग पर एक विशेष ऋण-व्यवस्था की स्थापना से इस कठिनाई को दूर करने का एक मार्ग ढूँढ़ा जा सकता है।[1] रिज़र्व बैंक के लिए वर्तमान सहकारी एजेन्सियों द्वारा कृषि के साथ आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करना और कृषि ऋण-विभाग[2] को विस्तृत करना सम्भव है। देशी बैंकों को रिज़र्व बैंक के दायरे के अन्दर लाने के लिए शीघ्र ही कदम उठाना चाहिए, क्योंकि इससे कृषिकों को बैंक द्वारा दी हुई सहायता बहुत बढ़ जायगी।[3]

२४. सहकारिता आन्दोलन और सरकार का सम्बन्ध—सरकार का कर्तव्य है कि अनुचित हस्तक्षेप किये बिना वह सहकारी आन्दोलन के प्रति एक मित्र, विचारक और पथ-प्रदर्शक का काम करे, जोकि सामाजिक पुनरुत्थान का शक्तिशाली साधन बन सकता है। भारत में जनसाधारण के अज्ञान, राज्य-हस्तक्षेप करने की प्राचीन परिपाटी तथा ग्रामीण ऋण की समस्या तुरन्त हल करने की आवश्यकता के कारण सरकार ने ठीक ही सहकारी आन्दोलन के रूप में पहला कदम उठाया है। वे अनावश्यक रूप से आर्थिक सहायता देने की नीति से दूर रहे हैं, क्योंकि फ्रान्स का अनुभव यह प्रकट करता है कि यह लाभ की अपेक्षा अधिक हानिकारक है। हम लोग देख चुके हैं कि राज्य ने सहकारी संस्थाओं को कुछ आर्थिक और न्यायिक छूट तथा नई समितियों को सीमित आर्थिक सहायता दे रखी है। बम्बई में सरकार ने बम्बई की राज्यीय सहकारी बैंक द्वारा जारी किये हुए ऋण-पत्रों पर २० लाख की रकम तक ४ प्रतिशत ब्याज की गारन्टी दी है। इस छूट के कारण बैंक कृषि-वित्त के लिए अत्यावश्यक दीर्घकालीन पूँजी उचित दर पर एकत्रित कर लेता है। इसके लिए उसे सरकारी कोष की

---

१. दीर्घकालीन ऋण और भूमिबन्धक बैंकों के प्रति रिजर्व बैंक के व्यवहार के प्रश्न का विवेचन इस अध्याय में आगे किया गया है। सेक्शन २८-२९, ३१ देखिए।

२. दिसम्बर ३०, सन् १९५३ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (अमेन्डमेन्ट एण्ड मिसलेनियस प्रॉविजन्स) एक्ट पास किया गया। इस कानून ने 'फसलो' (क्रॉप्स) 'कृषि कार्य' (एग्रिकल्चरल आपेरशन्स) और 'फसलों का विपणन' (मार्केटिंग ऑफ क्रॉप्स) आदि शब्दों के अर्थ को विस्तृत कर दिया है। इन शब्दों का प्रयोग कानून की धारा १७ (२) (बी) में हुआ है; अर्थ के विस्तृत हो जाने से वस्तुओं की उत्पत्ति, उनके विपणन तथा विधायन के लिए भी धन मिल सकेगा। विधायन के लिए धन उसी दशा में दिया जायगा जब विपणन के पूर्व यह अत्यावश्यक हो, उदाहरण के लिए चावल की भूसी अलग करना, कपास को दबाना आदि। इस कानून के अन्तर्गत सहकारी राज्यीय बैंको को अनुग्रह मिलने का भी विधान है ताकि वे स्वीकृत कुटीर उद्योग-धन्धो और छोटे पैमाने के उद्योगो की आर्थिक सहायता कर सकें। परन्तु रिजर्व बैंक द्वारा अनुग्रह की शर्त यह होगी कि इस कार्य के लिए दिये हुए ऋणों के मूल धन और ब्याज की गारन्टी राज्यीय सरकारें दें।—अनुवादक

३. इस प्रश्न का पूर्ण विवेचन द्वितीय खंड के ११वें अध्याय सेक्शन ४-५ में किया गया है।

सहायता नही लेनी पड़ती। बैंक के व्यापार के सुरक्षित गुण के कारण सरकार द्वारा गारन्टी पूरी करने की सम्भावना नहीं रहती। हाल मे ही बम्बई और मद्रास की सरकार ने राज्यीय सहकारी भूमि-बन्धक बैंक द्वारा जारी किये हुए ऋण-पत्रों की इसी प्रकार की सहायता दी है।[१] बम्बई सरकार ने सहकारी एजेन्सियों के द्वारा स्थायी भूमि-सुधार के लिए तकावी बाँटने की नीति को अपनाया है। चकबन्दी, प्रौढ़-शिक्षा, सिचाई आदि जैसे सहकारिता के विशिष्ट रूपों को अधिक सहायता देना प्रान्तों के लिए एक उचित नीनि होगी। हम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कृषि-ऋण-विभाग की स्थापना और सहकारी आन्दोलन में इसकी अभिरुचि की चर्चा पहले ही कर चुके हैं।[२] सन् १९३५ में केन्द्रीय सरकार द्वारा ग्राम सुधार के १ करोड़ रुपये के कुल अनुदान में १५ लाख रुपया, रिजर्व बैंक के कृषि ऋण-विभाग के खुलने पर श्री एम० एल० (अब सर मैल्कम) डालिंग आई० सी० एस० की रिपोर्ट के अनुसार सहकारी आन्दोलन के सुधार और विस्तार-कार्य के लिए निर्दिष्ट था। प्रशिक्षण के लिए केन्द्रीय सरकार आर्थिक सहायता के अलावा, राज्यीय सरकारों ने सहकारी शिक्षा देने वाली वर्तमान संस्थाओं के अनुदानों को बढ़ा दिया। यहाँ यह बता देना अनुचित न होगा कि बम्बई सरकार ने विभागीय अधिकारियों, केन्द्रीय और शहरी बैंकों के कर्मचारियों और ग्रामीण विकास-अधिकारियों की ट्रेनिंग के लिए सहकारी ट्रेनिंग योजनाएँ चालू की हैं।[३] पंजाब में विभागीय अधिकारियों की ट्रेनिंग पर विशेष ध्यान दिया जाता है और यह कार्य विशेष शैक्षणिक अधिकारियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। मद्रास सहकारिता कमेटी (मद्रास कमेटी ऑन को-आपरेशन) ने अपनी रिपोर्ट (पैरा ३७९) में शहरी और केन्द्रीय बैंकों के बड़े-बड़े पदों तथा सहकारी विभाग में नौकरी चाहने वालों के लिए एक सहकारी विद्यालय प्रारम्भ करने की सिफारिश की, जिसका संगठन और प्रबन्ध सरकार द्वारा होगा।

आन्दोलन के नियन्त्रण और पथ-प्रदर्शन के सम्बन्ध में सरकार की नीति दृढ़ रही है। उदाहरण के लिए रजिस्ट्रार के कुछ कर्तव्यों को जिला अधिकारियों को हस्तान्तरित करने की माँग को न मानने में सरकार का मैक्लेगन कमेटी से सहमत होना ठीक ही था। इस कमेटी ने अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप की निन्दा की और लिखा कि कलेक्टर जैसे अधिकारियों की सही स्थिति तो यही होगी कि वे समुचित सहानुभूति और जानकारी के साथ हितैषियों की तरह आन्दोलन की सहायता करें। उन्हें प्रबन्ध में कोई घनिष्ठ सम्बन्ध या कोई प्रत्यक्ष वित्तीय उत्तरदायित्व नहीं लेना चाहिए। सहकारी विभाग और सहकारिता आन्दोलन का सम्बन्ध एक अपवाद है। प्रारम्भिक नीति तो यह थी कि आन्दोलन पर विभाग का अधिकार तेजी से कम होता जाय तथा समितियों के आत्म-निर्भर तथा व्यक्तिगत उद्यम के स्वावलम्बी

१. आगे सेक्शन ३१ देखिए।

२. सेक्शन २२-२३ देखिए।

३. एनुअल रिपोर्ट ऑन द वर्किंग ऑफ कोआपरेटिव सोसाइटीज़ इन द प्राविन्स ऑफ बाम्बे (१९३९-४०), पैरा १२०।

होने पर रजिस्ट्रार केवल रजिस्ट्री करने वाला अधिकारी रह जाय, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह नीति उचित रूप से कार्यान्वित नहीं की जा सकी। रजिस्ट्रार की स्थिति का महत्त्व प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और उसके कामों में शुष्कता के दूर होने के चिन्ह भी नहीं है। इस प्रतिगामी नीति को मैक्लेगन समिति ने मानो अपनी अनुमति प्रदान की। उनके अनुसार भारत में सहकारिता का सतत विकास उच्च वैतनिक और योग्य रजिस्ट्रारों के अभाव मे सोचा ही नही जा सकता। यह आम धारणा है कि कुछ अयोग्यता रहने पर भी व्यक्तिगत उद्यम को उत्साहित करने तथा आन्दोलन को यथासम्भव गैर-सरकारी और आत्मनिर्भर बनाने की नीति होनी चाहिए। १९२१ में मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड के सुधार के बाद, आन्दोलन को स्वतन्त्र करने की प्रवृत्ति देखी गई, परन्तु सन् १९३० की आर्थिक मन्दी के बाद प्रतिक्रिया हुई और अब आन्दोलन को विभाग के अधिकाधिक नियन्त्रण में लाने की प्रवृत्ति है। आन्दोलन को गैर-सरकारी रूप देने का एक उपाय यह है कि गैर-सरकारी संस्थाओं, जैसे बम्बई राज्यीय सहकारी संस्थान (इन्स्टीट्यूट) अथवा मद्रास सहकारी संघ को सहायता देनी चाहिए। इस संस्थाओं को समितियों के पर्यवेक्षण, संगठन और लेखा-परीक्षण के लिए रजिस्ट्रार के कुछ अधिकार भी देने चाहिएँ। कान्फ्रेन्स, कर्मचारियों और सामान्य जनता के लिए ट्रेनिंग की व्यवस्था, पत्रिका-प्रकाशन तथा गाँवों के पुनर्निर्माण आदि कार्यो द्वारा प्रचार-कार्य के लिए उन्हें उत्साहित करना चाहिए। आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता, गैर-सरकारी-संघ और केन्द्रीय एजेन्सियों द्वारा पर्यवेक्षण और नियन्त्रण के लिए निजी अधिकारियों को रखना है, जिनके अभाव अथवा अपर्याप्त होने पर सरकारी हस्तक्षेप स्वाभाविक रूप से आवश्यक हो जाता है। समितियों के कार्य पर नियन्त्रण और जन-विश्वास के लिए समय-समय पर सरकारी लेखा-परीक्षण किया जा सकता है। निस्सन्देह सरकारी पथ-प्रदर्शन और नियन्त्रण आवश्यक है और निकट भविष्य में यह बराबर रहेगा।[1] विभाग के संवैध कर्तव्यों को पूरा करने के लिए विभाग में सरकारी अधिकारियों की वृद्धि तथा उनकी उच्च शिक्षा, अच्छी ट्रेनिंग और ऊँचे वेतन के पक्ष में कहना बिलकुल अनुचित नहीं है। "यह कहना उपयुक्त होगा कि कठिन कर्तव्यों को दृष्टि में रखते हुए रजिस्ट्रार का व्यक्तित्व अत्यधिक महत्त्व का विषय है तथा इस पद के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को रखना चाहिए।"[2] परन्तु परिस्थितियों के अनुसार आन्दोलन से सम्बन्धित सरकारी एवं गैर-सरकारी सभी व्यक्तियों को उसे यथाशीघ्र स्वचालित, स्वनिर्भर तथा जनतन्त्रात्मक बनाने के लिए कठोर परिश्रम करना चाहिए।

१. तुलना कीजिए, सी० आर० फे, कोआपरेशन ऐट होम एण्ड एब्रॉड, खण्ड २, पृ० ३९। 'यह पुराना विचार कि सरकार सहकारी समितियो को प्रारम्भ करके अपना हाथ खीच सकती है, मै समझता हूँ, झूठ है। उचित नीति चाहती है कि सरकार को सावधानी से प्रवेश करना चाहिए और सदस्यो को आत्मसाहाय्य के अनु रूप ही प्रगतिशील सहायता देनी चाहिए।

२. रजिस्ट्रार की योग्यताओ के सुन्दर विवेचन और उनके कार्यो की प्रकृति के लिए देखिए, कृषि-आयोग रिपोर्ट, पैरा ३७५ तथा स्ट्रिकलैंड, रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल कोआपरेशन इन पेलेस्टाइन, पैरा २६-९।

२५. सहकारी संस्थान आदि—बम्बई के सहकारी समिति अधिनियम (१९२५) ने (बाम्बे प्राविन्शल को-आपरेटिव इन्स्टीट्यूट) बम्बई राज्यीय सहकारी संस्थान को मान्यता प्रदान की, जो गैर-सरकारी सभापतित्व में, राज्यीय सहकारी कान्फ्रेन्सों और राज्य के सहकारी कामों को सम्पादित करती है। प्रशिक्षण-कार्य और सहकारी साहित्य के प्रकाशन के लिए इस संस्थान को राज्यीय सरकार से अनुदान मिलता है। राज्यीय सहकारी यूनियन सहकारी समितियों का अन्तिम संघ है। इसकी कानूनी अधिष्ठा है तथा इसे लेखा-परीक्षण का कार्य सौंपा गया है। इसके विपरीत उपर्युक्त संस्थान मुख्यतः सहकारी शिक्षा देने का माध्यम है। इस कार्य में वे सरकार के साथ भाग लेती हैं। यद्यपि संस्थान प्रचार-कार्य के लिए लाभप्रद काम कर रहा है, तथापि समस्याओं के क्रमबद्ध अध्ययन और आन्दोलन के विशिष्ट पहलुओं पर विशेष ज्ञान और सलाह देने के अतिरिक्त उद्देश्यों को वह अभी पूरा नही कर सका है। सन् १९३८ में बम्बई सरकार ने संस्थान के पुनर्सगठन के लिए एक योजना बनाई जिसके अन्तर्गत उसके विधान का संशोधन होगा और उसका मुख्य कार्य सहकारी समितियों के सदस्यों और सहकारी आन्दोलन के कार्यकर्ताओं को शिक्षा देना होगा। साथ ही इसकी सदस्यता जिला पर्यवेक्षण परिषद् (डिस्ट्रिक्ट सुपरिविजन बोर्ड) और अन्य सहकारी समितियों के संघों को प्राप्य होगी। आन्दोलन को प्रभावित करने वाले अनेक विषयों पर गैर-सरकारी विचारों का संकलन करना भी इसका कार्य है।

१ अक्टूबर, सन् १९२९ को (ऑल इण्डिया कोआपरेटिव इस्टिट्यूट्स एसोसिएशन) अखिल भारतीय सहकारी संस्था-संघ की स्थापना से गैर सरकारी एजेन्सियों की उन्नति के सम्बन्ध में एक अच्छा विकास हुआ है। सितम्बर सन् १९२९ में बम्बई में, अखिल भारतीय सहकारी संस्थान-संघ की कान्फ्रेंस में सर्वसम्मति से इसका निर्माण हुआ। इसका प्रधान उद्देश्य समस्त सरकारी प्रश्नों पर सदस्य संस्थाओं को और सहायता देना तथा उनके द्वारा सहकारिता की उन्नति और विस्तार करना है। जनवरी सन् १९३५ से उपयुक्त संघ ने एक त्रैमासिक पत्रिका 'इण्डियन कोआपरेटिव रिव्यू' का प्रकाशन आरम्भ किया। यह समस्त भारत में सहकारी आन्दोलन का सामाजिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है।

एक दूसरा अखिल भारतीय सहकारी बैंक संगठन (इण्डियन प्राविंशल को-आपरेटिव बैंक्स असोसिएशन) भारतीय राज्यीय सहकारी बैंक एसोसिएशन है जिसका उद्देश्य विशेषकर वित्त, शासन और विधान द्वारा सामान्य हितों की वृद्धि करना है।

२६. भारत में सहकारी आन्दोलन का आलोचनात्मक मूल्यांकन—भारत में सहकारी आन्दोलन ने उन सारी आर्थिक और सामाजिक बुराइयों, जिनसे भारत आज पीड़ित है, को दूर करने में सफलता नहीं पाई है। इसके विपरीत, वह नितान्त निष्प्रयोजन भी नही है। सर्वप्रथम सहकारी समितियों द्वारा सुलभ सस्ते उधार के कारण, किसान और कारीगर वर्ग ने लगभग १ करोड़ रुपये की बचत की। यह आशा करना अनुचित न होगा कि निकट भविष्य में ये आँकड़े कई गुना हो जायँगे, विशेषकर उस समय जब दीर्घकालीन उधार देने वालों के सहकारी संगठन का जन्म हो जायगा। सहकारिता

ने महाजन की नैतिक पतन करने वाली भयावह रूप से सरल ऋण-पद्धति के स्थान पर ऐसी व्यवस्था की है कि ऋण नियन्त्रित और सीमित रहते हैं। अनेक स्थानों पर सहकारिता ने महाजनों की प्रबल स्थिति को नष्ट कर दिया है और उन्हें ब्याज की दर कम करने के लिए विवश कर दिया है। ऋण-मुक्ति के विषय में यद्यपि बहुत कुछ करना शेष है और यह सत्य भी है कि सहकारिता अकेले ही किसानों को ऋण के भार से मुक्त करने में असमर्थ होगी, परन्तु फिर भी सहकारी आधार पर भूमि-बन्धक बैंकों की स्थापना से कुछ-न-कुछ सफलता अवश्य हुई है।[1] सामूहिक जीवन का प्राचीन रूप, जो कृषक को शोषित होने से बचाता था, के स्थान पर सहकारिता किसानों की घर के बाहर और भीतर रक्षा करने के लिए सामूहिक जीवन का नया रूप है।[2] सहकारिता की उन्नति के साथ, बैंक-व्यवहार की आदत धीरे-धीरे, परन्तु तत्परता से ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में बढ़ रही है। बेकार पड़ी हुई सम्पत्ति अब धीरे-धीरे उपयोगी कार्यों में प्रयुक्त हो रही है। कृषि, जो भारत का प्रधान उद्योग है, सहकारिता से कई प्रकार से लाभान्वित हुई है। सहकारिता ने कृषि-विभाग के काम, जैसे सुधारे हुए बीज और पशु, सस्ती खादों, और औज़ारों को लोकप्रिय बनाने और सामान्यता 'सुचारु कृषि, सुचारु व्यापार और सुचारु रहन-सहन' के आदर्श की प्राप्ति में, काफी सहायता की है। सहकारिता और कृषि के आपसी विकास के सच्चे और सजीव सम्बन्ध में बड़ी सम्भावनाएँ हैं।[3] ग्रामीण सफाई और ग्रामीण क्षेत्रों में उचित औषधि की सुविधा के विधान के सम्बन्ध में सहकारिता ने महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया है। साथ ही सहकारी आन्दोलन ने देश के कुछ भागों में ग्रामीण क्षेत्रों से जनसंख्या के कम होने की प्रवृत्ति का विरोध किया है।

विशेषकर कृषि-इतर कार्यों के लिए खोली गई समितियाँ यद्यपि छोटे पैमाने पर हैं, फिर भी अपने क्षेत्र में लाभदायक काम कर रही हैं। मिल-मजदूरों, दलित जातियों और हर प्रकार के कर्मचारियों की दशा, सहकारिता के प्रभाव से सुधर रही है। कुटीर-उद्योगों, विशेषकर हाथ-करघा उद्योग को सहकारिता का सहयोग प्राप्त है।[4]

विस्तृत अर्थ में, सहकारिता से बौद्धिक और नैतिक लाभ भी हैं जिनका महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं है। जहाँ कहीं भी सहकारी समितियाँ प्रारम्भ की गई हैं उनसे ऐसे लाभ हुए हैं। "नैतिक उन्नति की स्पष्ट साक्षी देना कठिन है, क्योंकि नैतिक उन्नति के चिह्न तथ्यों के रूप में नहीं गिनाए जा सकते। परन्तु इस पर भी आन्दोलन को निकटता से देखने-समझने वाले इन नैतिक प्रभावों को जान सकते हैं। मुक़दमेबाजी, फिज़ूलखर्ची, शराब और जुएबाजी सब-के-सब दोष अच्छे सहकारी समाज

१. आगे सेक्शन ३० देखिए।

२. डार्लिंग, पंजाब पेज़ैन्ट्स, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ २४८ देखिए।

३. देखिए, भारत सरकार का सहकारिता पर प्रस्ताव १७ जून १९१४, पैरा ७।

४. आन्दोलन के ग्रामीण और शहरी, इन दो पहलुओं में शहरी आन्दोलन की उन्नति अधिक सन्तोषजनक है। कार्य, व्यापार, प्रबन्ध की कुशलता तथा सदस्यों की संख्या आदि सभी दृष्टिकोणों से इसका कार्य अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषप्रद है।—रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया, १९३९-४०, पृ० ८०।

में कम हो रहे है और उनका स्थान, उद्योग, आत्मविश्वास, स्पष्ट व्यवहार, शिक्षा और निर्णायक समिति, मितव्ययिता, आत्म-साहाय्य और पारस्परिक सहायता आदि ने ले लिया है" (एम० एल० डार्लिग)। आन्दोलन ने किन्ही बातों में शिक्षा के लिए अत्यन्त रुचि पैदा कर दी है और वृद्ध लोग भी इससे लाभ उठाने के लिए तत्पर दिखाई देते हैं। इसने नैतिकता के सामान्य स्तर और गुण को भी सुधारा है और ग्रामीण जनता में 'एक सब के लिए और सब एक के लिए' की भावना का विकास किया है। संक्षेप में सहकारिता आन्दोलन गाँवों के पुराने संघटित जीवन के पुनरुत्थान और उसकी शक्ति को पुनः लाने के लिए एक सशक्त साधन है।

हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि नैतिक, शैक्षणिक और पूर्णतया आर्थिक आदि सभी लाभ बहुत छोटे पैमाने पर प्राप्त हुए है। उदाहरण के लिए कृषि-इतर सहकारिता के क्षेत्र में बहुत काफी काम करना है और सफलता प्राप्त करनी है। कृषि सहकारिता भी व्यवहारतः ऋण देने तक ही सीमित है और यहाँ भी, जैसा कि सर एम० विश्वेश्वरैया ने व्यंग्यपूर्वक कहा है, "जो कुछ किया गया है वह सतह खरोंचने के बराबर है।"[1] जहाँ सामान्य वर्षा होती है सहकारिता वही उन्नत हो पाई है। अनिश्चित वर्षा वाले भागों में कालातीत ऋण और अदायगी की असफलता साधारण बात है। केन्द्रीय बैंक-व्यवहार जाँच समिति ने निर्देश किया है कि कुछ राज्यों में सहकारिता संगठनों द्वारा दिया गया ऋण किसानों के लिए बहुत मँहगा है और यह आवश्यक है कि ब्याज की वर्तमान दरों में कमी करने के लिए कदम उठाए जायँ।

स्पष्टतया यह भी आवश्यक है कि आन्दोलन की वास्तविक कार्य-प्रणाली के विभिन्न दुर्गुणों को दूर करने के लिए उन्हें स्वीकार करना चाहिए। इन दोषों में असमय अदायगी, झूठी अदायगी, कालातीत ऋण, सदोष लेखा-परीक्षण, अयोग्य नियन्त्रण, बेनामी ऋण, सम्बन्धियों के प्रति पक्षपात, शिथिल कार्यवाही, सख्ती, टालमटोल करना और सहकारी वित्त का अपर्याप्त होना आदि हैं।[2] सदस्यों को सहकारिता के सही नियमों की शिक्षा देने वाला अधिकारी-वर्ग कभी-कभी स्वयं ही अज्ञानी, कम ट्रेनिंग पाया हुआ तथा कार्य के अयोग्य होता है। प्रायः सभी साधारण सदस्यों के अहित में प्रबन्ध-समितियाँ और सभापति सारे अधिकार हड़प लेते है। "पदाधिकारी और आन्दोलन के नेता बहुधा सदस्यों के दोषों और दुर्व्यवहारों के प्रति अनुचित शिष्टाचार और नैतिक शक्ति का अभाव" दिखाते हैं और गम्भीर

---

१. पूर्व उद्धृत, पृ० १८५। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति का भी यही मत था कि सहकारी आन्दोलन द्वारा कृषकों को दी हुई साख-सुविधाएँ उनकी आवश्यकताओं के अनुपात में बहुत थोड़ी थीं। रिपोर्ट, पैरा १६६।

२. भारत में सहकारिता आन्दोलन की विभिन्न कमियों के विस्तृत अध्ययन के लिए, रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट, फंक्शन्स एण्ड वर्किंग ऑफ रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया और रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१६३६-४०), रिपोर्ट ऑफ द कमेटी ऑन को आपरेशन इन मद्रास (१६३६-४०), इण्डियन जनरल ऑफ इकनामिक्स में प्रकाशित २५वें इण्डियन इकनॉमिक्स कान्फ्रेन्स में ग्रामीण सहकारिता पर पढ़े गए लेख, कान्फ्रेन्स नम्बर १६४१, ई० एम० हाऊ 'द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया, पृष्ठ २२६-४० देखिए।

अनियमितताओं को, इस आशा में झेलते हैं कि कोई सरकारी अधिकारी आकर सब ठीक कर देगा। कालातीत ऋणों की पुनर्प्राप्ति के लिए वैधानिक उपायों एवं सख्त कार्यवाही के प्रति व्यक्तिगत अप्रियता होने के भय से वे बड़ी अनिच्छा दिखाते हैं। हाल में कालातीत ऋण में बहुत वृद्धि हुई है और यह आन्दोलन के लिए अत्यधिक शोचनीय बात है। ऋणों का अत्यधिक उदारतापूर्वक दिया जाना, अनुत्पादक ऋण और उनकी पुनर्प्राप्ति में ढिलाई, कालातीत ऋणों के प्रधान कारण हैं, जो हर जगह बहुत बड़ी मात्रा में हैं और जो यथार्थ में दीर्घकालीन ऋण हो गए हैं।

बहुत से सदस्यों का यह विश्वास है कि सहकारिता आन्दोलन केवल राज्य द्वारा प्रबन्धित है और समिति से जो रुपया उधार लिया जाता है, वह सरकार का है। सहकारिता के उद्देश्यों को सदस्यों द्वारा उचित ढंग से न समझे जाने के कारण वे इसके प्रति उदासीन हो जाते हैं, जो आन्दोलन के लिए घातक है। समितियों को महाजनों के स्थान पर एक दूसरी सस्ती व्यवस्था समझकर समिति के बारे में उनकी धारणा स्वार्थमय होती है। और इस प्रकार वे आन्दोलन के साथ अपने को पूर्णतया नहीं मिला पाते, जो इसकी सफलता के लिए आवश्यक है।

जैसा कि हमने देखा है भारत में सहकारिता का प्रारम्भ सरकार द्वारा हुआ है न कि जनता द्वारा। परन्तु अब भी आन्दोलन की बागडोर का सरकारी हाथों में होना बहुत बड़ा दोष है, क्योंकि सहकारिता का सार अपनी सहायता अपने आप करना है। ये सिद्धान्त तथा जीवित रहने की इच्छा, आन्तरिक प्रेरणा से प्राप्त होनी चाहिए, किसी बाह्य साधन से नहीं।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, १९२९ में मूल्य ह्रास होने पर आन्दोलन को गहरा धक्का लगा। यद्यपि मूल्य ह्रास, आन्दोलन की कठिनाइयों का प्रधान कारण था तथापि यह भी स्पष्ट हो गया कि आन्दोलन में स्वतः कुछ बुराइयाँ हैं जो आन्दोलन के विस्तार-काल में नहीं देखी जा सकीं, परन्तु मूल्य ह्रास के संकट के समय में प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो गईं। कुछ राज्यों में जिनमें बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, बंगाल भी हैं, संकट आया। आर्थिक संकट के कारण बहुत से अप्रिय समंजन करने पड़े। परन्तु उससे यह लाभ भी हुआ कि हमारा ध्यान आन्दोलन की कठिनाइयों पर केन्द्रित हो गया। तदनन्तर आन्दोलन स्वस्थ अन्तरावलोकन और आत्मालोचन करता रहा है। आश्चर्यजनक सफलताओं को छोड़कर ठोस परिणामों की प्राप्ति की अधिकाधिक चेष्टा की जाने लगी है। सर्वत्र अधिकारियों का मूल-मन्त्र विस्तार के स्थान पर 'एकीकरण' और 'शुद्धिकरण' हो गया है। फेरीवालों की तरह चिल्ला-चिल्लाकर इस आन्दोलन को बढ़ावा नहीं दिया जा रहा, बल्कि इसका स्थान दोषों को दूर करने के लिए उन्हें ढूँढ़ निकालने की एक सच्ची भावना ने ले लिया। मध्यप्रदेश व बरार, बिहार, उड़ीसा, बम्बई और मद्रास में जाँच का कार्य प्रारम्भ किया गया है। रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित प्रारम्भिक और संवैध कृषि-ऋण की रिपोर्ट, बैंक द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएँ और रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेण्ट इन इण्डिया (१९४१) आदि ने सहकारी आन्दोलन को फिर से आलोचनात्मक दृष्टि से देखा है। इन जाँचों

के परिणामस्वरूप,सहकारी आन्दोलन के लिए पुनर्संगठन की योजना मध्यप्रदेश, बंगाल और बिहार में बनाई गई है, तथा सभी राज्यों में विभिन्न उपायों से समितियों के पुन-र्निर्माण और उनको पुनः शक्ति प्रदान करने के लिए क़दम उठाए जा रहे हैं जिनमें से कुछ की चर्चा अगले खण्ड में की गई है। यह सब बिलकुल ठीक है, क्योंकि आन्दोलन की बुराइयों की अवहेलना करना, उसकी हत्या करना है। उनका सामना निष्कपटता से और हल दृढ़ता से करना चाहिए। आशाओं के अनुरूप फल न प्राप्त होने के कारण आन्दोलन के कार्यकर्ताओं को निराश न होना चाहिए। उन्हें सहकारिता के संदेश में विश्वास रखना चाहिए। जिसने अन्यत्र चमत्कार कर दिये हैं उस सहकारिता को इस देश में भी सफल बनाने के लिए पहले से भी अधिक परिश्रम से कार्य करना चाहिए, क्योंकि, जैसा कि कृषि-आयोग ने कहा है, "यदि सहकारिता असफल होती है तो ग्रामीण भारत की सबसे बड़ी आशा निष्फल हो जायगी।"[१]

२७. सहकारिता आन्दोलन का नवीकरण—संवैध रिपोर्ट में कृषि-ऋण विभाग द्वारा दिये हुए मुख्य सुझाव और तदनुसार आन्दोलन के शुद्धीकरण और पुनर्संगठन के लिए किये गए प्रयत्नों का विवरण देकर हम सहकारी आन्दोलन के इतिहास को समाप्त कर सकते हैं।[२] विभिन्न राज्यों में ग्रामीण ऋण-मुक्ति (रूरल डेट रिलीफ) सम्बन्धी कानून बन जाने के कारण व्यक्तिगत ऋण-व्यवस्था कम हो गई है और इसलिए इस प्रकार के सुधार की आवश्यकता और भी अधिक हो गई है।

(१) सहकारी समितियों के कालातीत और दीर्घकालीन ऋणों को अल्प-कालीन ऋणों से अलग औ उचित स्थान पर रखना चाहिए। उद्देश्य-प्राप्ति के लिए कालातीत ऋण को इतना कम कर देना चाहिए ताकि उनसे २० वर्ष की अवधि में खेती में हुए लाभ से ही छुटकारा मिल जाय। यह कार्य अंशतः सुरक्षित एवं अन्य कोषों द्वारा ऋणों के अपलेखन तथा अंशतः सदस्यों की परिसम्पत्ति के कुछ भाग को बेचकर ऋण वसूल करने से हो सकता है। शेष ऋण को भूमि-बंधक बैंक जैसी विशेष एजेन्सियों को सौंप देना चाहिए। भविष्य में आर्थिक सहायता न देने तथा समितियों के अपकरण की नीति अपनाने की तुलना में उपर्युक्त प्रणाली कम आपत्तिजनक है।

पुनर्निर्माण की सामान्य कार्य-प्रणाली यह थी कि समितियों के देय की परीक्षा की जाय और उन्हें ऋणी व्यक्तियों की देय-क्षमता के अनुरूप कम कर दिया जाय तथा यह राशि कुछ वर्षों में किश्तों से अदा की जाय। समितियों के शेष सदस्यों को कृषि तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए वस्तुरूप में पुनः आर्थिक सहायता देना पुनर्संगठन की नीति का मुख्य भाग था। बहुधा राज्यीय सरकारें राज्यीय बैंकों द्वारा भी सहायता पहुँचाती थीं। वर्तमान ग्रामीण समितियाँ कृषि-कार्यों के लिए तुरन्त ऋण देने में अस-

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३७१, 'भूतकाल की असफलताओं के बावजूद भी आन्दोलन वित्त सम्बन्धी संकुचित कार्य को पूरा करने के अतिरिक्त ग्रामीण भारत के पुनर्निर्माण के साधन के रूप में विकसित किया जा सकता है।'—सर मनीलाल बी० नानावती द्वारा रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०) का प्राक्कथन।

२. रिव्यू ऑफ़ द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ०, १५-३५।

मर्थ थीं, इसलिए सामयिक कृषि-कार्यों में किसानों की सहायता करने के लिए बंगाल, और बरार में बहुत अधिक संख्या में फसलों के लिए ऋण देने वाली समितियाँ संगठित की गई। इन राज्यों में, जहाँ स्थिति अत्यन्त खराब है, केन्द्रीय बैंकों की परिसम्पत्ति और देनदारी को ठीक करने और उनके कार्यों को पुनर्संगठित करने के लिए उन्हें फिर से निर्मित किया जा रहा है।

(२) ऋण लेने और देने की दरों में पर्याप्त अन्तर द्वारा सुदृढ़ सुरक्षित कोष बनाने के लिए सहकारी समितियों को राय दी गई। इससे समितियाँ प्रतिकूल काल में अपनी कठिनाइयों तथा हानियों का सामना करने में समर्थ हो जायँगी, क्योंकि इस समय सदस्य अपने ऋण नहीं चुका सकते। यह कार्य निस्सन्देह सहकारी समितियों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करेगा। परन्तु इस आलोचना के सत्य को भी नहीं भुला देना चाहिए कि इस प्रस्ताव को अपनाने से ब्याज की दरें इतनी ऊँची हो जायँगी कि कृषक उन्हें दे ही न सकेंगे। इसमें ऋणों को कृषि व्ययों तक ही सीमित रखना चाहिए।

(३) औजारों और पशुओं के क्रय जैसे उद्देश्यों के लिए मध्यम ऋण की पूर्ति-सम्बन्धी सीमित अग्रिम भी सम्मिलित होगा। अन्य कार्यों के लिए, जो उत्पादक तो नहीं हैं परन्तु अत्यन्त आवश्यक हैं, कम-से-कम ऋण देना चाहिए जो कृषक की देय-क्षमता से अधिक न हो। इस कार्य के लिए एक से अधिक साधनों से उधार लेने के लिए उन्हें रोकना चाहिए तथा उनका कुल देय धन भूमि के औसत मूल्य या मालगुजारी के आधार पर सीमित होना चाहिए।

(४) प्रारम्भिक समितियों को, जो सम्पूर्ण सहकारी आन्दोलन की मूल हैं, ग्रामीण बैंकों पर प्रकाशित रिज़र्व बैंक के बुलेटिन में प्रस्तावित आधारों पर पुनर्संगठित करना चाहिए। इसे बहुमुखी समितियों की तरह काम करना चाहिए और किसानों के सम्पूर्ण जीवन को अपने क्षेत्र के अन्दर ले आना चाहिए। इसे हिस्सा और सुरक्षित कोष से निजी कोष बनाने चाहिएँ और मितव्ययिता तथा बुद्धिमानी का पाठ पढ़ाकर सदस्यों से निक्षेप प्राप्त करना चाहिए। हम इस सिफारिश के आधार पर किये गए कार्यों और कुछ राज्यों में बहुमुखी समिति की स्थापना का संकेत कर चुके हैं। (ऊपर सेक्शन १३ देखिए।)

(५) प्रारम्भिक समितियों को छोटे-छोटे बैंक-व्यवहार संघ बनाने चाहिएँ, (जैसे बड़ौदा राज्य के कोदिनार में है), जो अपने हाथ में वित्त, पर्यवेक्षण और शिक्षा के कार्यों को ले लेंगे और जिनके लिए आजकल बहुत सी एजेन्सियाँ काम कर रही हैं। एजेन्सियों की अधिकता से शक्ति का ह्रास होता है। (ऊपर सेक्शन १७ देखिए।)

(६) सहकारी विपणन का विकास नीचे से करना चाहिए। इस उद्देश्य के विचार से प्रारम्भिक समितियों को उनके सदस्यों द्वारा एकत्रित कृषि-उत्पत्ति के संयुक्त विपणन के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। उन्हें बड़ी केन्द्रीय विक्रय-समितियों से सम्बन्धित करना चाहिए। हम बम्बई राज्य में नई विपणन-योजना का हवाला पहले ही दे चुके हैं।

(७) वर्तमान केन्द्रीय और राज्यीय बैंकों को पुनः संगठित करना चाहिए। यदि

केन्द्रीय बैंकों को बनाए रखना हो, तब भी बड़े केन्द्रीय बैंकों को बैंक-व्यवहार संघों में विभक्त कर देना चाहिए। केन्द्रीय बैंकों को अपनी सदस्य-समितियों के कार्य में अधिक रुचि लेनी चाहिए। सदस्यों के नैतिक और भौतिक स्तर को ऊँचा करने के लिए केन्द्रीय बैंकों को समितियों के कार्यों का पथ-प्रदर्शन, पर्यवेक्षण, सदस्यों को सहकारी सिद्धान्तों की शिक्षा देने में सहयोग तथा सामान्यत: सहकारिता की कार्य-प्रणाली के सुधार में सहायता देनी चाहिए। सम्पूर्ण राज्य में आन्दोलन के पथ-प्रदर्शन और संचालन के कार्य में राज्यीय बैंकों को कहीं अधिक भाग लेना चाहिए। दोनों प्रकार के बैंकों को निक्षेपों की वापसी के लिए पर्याप्त तरल साधन (सुरक्षित कोष) रखना चाहिए तथा अपनी वास्तविक स्थिति प्रकट करने के लिए विवरण-पत्र में कालातीत ऋणों को दिखाने का प्रबन्ध अवश्य करना चाहिए। सहकारी बैंकों को उत्तम श्रेणी के व्यापारिक बैंकों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए और अपने व्यापार के पुनर्संगठन में उनसे राय लेनी चाहिए तथा बैंकिंग व्यवसाय के व्यक्तियों को भी परिषद में स्थान देना चाहिए। उन्हें अपने अधिकारी-वर्ग की समुचित ट्रेनिंग का भी प्रबन्ध करना चाहिए।

(८) सहकारी अधिकारियों को बैंकिंग के सिद्धान्त और व्यवहार, ग्रामीण अर्थशास्त्र तथा सहकारिता के नियमों की विशेष ट्रेनिंग का प्रबन्ध करना चाहिए। रजिस्ट्रार की ट्रेनिंग को विशेष महत्त्व देना चाहिए, क्योंकि वह सम्पूर्ण आन्दोलन का आधार है।

भूमि-बन्धक बैंक

२८. भूमि-बन्धक बैंकों की आवश्यकता—किसानों की ऋणों से स्थायी मुक्ति के लिए दीर्घकालीन ऋण आवश्यक हैं। छोटे और बड़े सभी किसानों को मँहगे, परन्तु लाभदायक सुधार करने के लिए उनकी आवश्यकता होती है। सहकारी समितियाँ इनमें से कोई भी आवश्यकता पूरी नहीं कर सकतीं और उनसे किसानों की अल्प और मध्यमकालीन ऋण की आवश्यकताओं को पूरा करने की ही आशा की जा सकती है। वे दीर्घकालीन ऋण नहीं दे सकती हैं, यद्यपि किसान को अनेक कार्यों के लिए इनकी आवश्यकता होती है। रेफेजन प्रकार के ग्रामीण बैंकों का उद्देश्य बड़े ज़मींदारों की आवश्यकता को पूरा करना नहीं है जो महाजनों के शिकार सरलता से हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त साधारण व्यापारिक बैंक और महाजन अपनी पूँजी को लम्बे समय के लिए नहीं दे सकते और न ऋण लेने वालों की आय अथवा बचत से थोड़े-थोड़े में अपने ऋण की पूर्ति कर सकते हैं। इसलिए विशेष प्रकार की ऋण-संस्था की आवश्यकता पड़ती है जिसे हम भूमि-बन्धक बैंक कहते हैं। इन बैंकों का उद्देश्य केवल महाजनों को हराना ही नहीं है वरन् राज्य-ऋणों की असन्तोषजनक पद्धति को भी दूर करना है। साथ ही इसका कार्य ब्याज की दर को कम करके उत्पादक सुधारों को किसानों की पहुँच के अन्दर लाना है।[1]

२९. भूमि-बन्धक बैंकों के तीन प्रकार—भूमिबन्धक बैंक सहकारी, गैर-सहकारी और अर्द्ध सहकारी हो सकते हैं। जहाँ तक किसानों और छोटे-छोटे काश्तकारों की मुक्ति का

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ द सेण्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा ३८१-८४।

सम्बन्ध है, सदस्यों द्वारा बन्धक रखी हुई सम्पत्ति की गारण्टी और पारस्परिक सहयोग पर आधारित सहकारी प्रकार का बैंक अत्यन्त उपयोगी है। भारत में प्रचलित बैंक अधिकतर अर्द्ध-सहकारी प्रकार के है। यद्यपि सभी भूमि-बन्धक बैंकों में सिद्धान्त रूप से सहकारिता के तत्त्व विद्यमान हैं, परन्तु वे अधिकतर ऋणकर्ताओं की सीमित दायित्व वाली संस्थाएँ ही समझे जाते हैं, जिनके कुछ सदस्य गैर-ऋणकर्ता भी होते हैं। गैर-ऋण-कर्ताओं की सदस्यता प्रारम्भिक पूँजी तथा योग्य प्रबन्ध के लिए आवश्यक व्यापारिक कुशलता और संगठन की प्राप्ति के लिए होती है। इसके अतिरिक्त भूमि का मूल्यांकन सरकार द्वारा नियुक्त किये गए अधिकारियों द्वारा किया जाता है और ऋण रजिस्ट्रार की पूर्व अनुमति से दिया जाता है। रिजर्व बैंक ने सहकारी गुणों से युक्त संस्थाओं पर अत्यधिक विश्वास करने के खतरों पर बल दिया है। इनके संचालक-वर्ग और प्रबन्ध में भावी ऋणकर्ताओं का ही प्रतिनिधित्व होता है और उधार देने वालों को अपर्याप्त सुरक्षा अर्पित की जाती है। बम्बई और अन्य राज्यों में अर्ध-सहकारी भूमिबन्धक बैंकों की स्थापना की जा रही है (आगे सेक्शन ३० और ३२ देखिए)। ये बैंक रिज़र्व बैंक द्वारा संकेत किये हुए खतरों को दूर करने में बहुत ही सफल होंगे। बड़े-बड़े जमींदारों को आर्थिक सहायता देने के लिए गैर-सहकारी अथवा व्यापारिक भूमि-बन्धक बैंक अधिक उपयुक्त हैं।[1]

३०. भारत में भूमिबन्धक बैंकों का इतिहास[2]—सन् १८६३ में लन्दन में लैण्ड मार्गेज बैंक ऑफ इण्डिया लिमिटेड नाम की कम्पनी की रजिस्ट्री हुई, जिसका उपनाम 'क्रेडिट फोंशिर इन्डीन' था। यह फ्रेंच क्रेडिट फोंशिर के प्रतिरूप पर आधारित थी। इस बैंक ने बीस वर्ष तक खूब उन्नति की, परन्तु उसके बाद इसकी दशा गिरने लगी। इसके प्रधान कारण चाय उद्योग के लिए अग्रिम देना (जिसका दाम उस समय गिर रहा था), सम्पूर्ण देश में स्थायी बन्दोबस्त का न होना, बंगाल में जमींदारों को उधार देने वाले ऋण-कार्यालयों जैसे प्रतिद्वन्द्वियों का प्रकट होना, आदि हैं। १८८३ में सर विलियम वेडरबर्न द्वारा प्रस्तावित पूना जिले के लिए भूमि-बैंक की असफल योजना का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। सर फ्रेडरिक निकलसन (१८९५) का विचार था कि भूमि-बैंक मद्रास प्रेसीडेन्सी के किसानों के लिए न तो उचित है और न आवश्यक ही। सर दिनशा वाचा मिश्र की तरह के भूमि-बैंकों के जोरदार समर्थक थे, जिसे वे ऋण के प्रश्न को हल करने का एकमात्र उपाय मानते थे। १९१९ में तत्कालीन वित्त सदस्य सर जेम्स मेस्टन ने उन भूमिबैंकों का पक्ष लिया जो मुख्यतः बुद्धिमान जमींदारों, स्थानीय

१. रिपोर्ट ऑफ द सेंट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा १९८-९ और प्रिलिमिनरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट (रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया), पैरा १७।

२. भूमि-बन्धक बैंक के प्रारम्भिक इतिहास के लिए १९२८ के इण्डियन इकनामिक कान्फ्रेंस (लखनऊ) में पढ़ा गया भूमिबन्धक बैंक पर जे० सी० सिनहा का लेख देखिए। वर्तमान स्थिति के लिए, केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति की रिपोर्ट, पैरा २०४-१०; तथा इण्डियन कोआपरेटिव रिव्यू में अनेक प्रान्तों में भूमिबन्धक बैंकों के कार्यों पर दिये गए नोट देखिए। (जुलाई-सितम्बर १९३७) पृष्ठ, ४९८-५०१ देखिए; (अप्रैल-जून १९४१), पृष्ठ २९५-३०३; और रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ० ३६-४०।

साहसी व्यक्तियों द्वारा प्रारम्भ किये गए थे और अपना कार्य स्थानीय निरीक्षण और बुद्धिमान जमींदारों की देख-रेख में करते थे। उन्होंने यह भी कहा कि इस प्रकार का कोई भी बड़े पैमाने का कार्य करना सरकार के लिए उचित न था। प्रारम्भ की अधिकांश योजनाओं में किसानों को उनकी सम्पत्ति की जमानत पर, ऋण देने का विचार नहीं किया गया था, क्योंकि वे अधिकतर बड़े जमींदारों के लिए बने थे। इसके बाद से विचारों में परिवर्तन हो गया और अब ऐसे बैंकों की स्थापना को सरकारी और गैर सरकारी समर्थन प्राप्त है। १६२६ में बम्बई रजिस्ट्रार कान्फ्रेंस ने भी इसे अपनाया।

इस विषय में पंजाब को पथ-प्रदर्शन करने का गौरव प्राप्त है। वहाँ १६२० में झंग नामक स्थान पर पहला भूमि-बन्धक बैंक स्थापित किया गया। मूल्य-ह्रास प्रारम्भ होने से पूर्व ऐसे बैंकों की संख्या १२ हो गई। ये बैंक सफलता से बहुत दूर थे और दुर्भाग्य की बात यह है कि यह आन्दोलन पंजाब में अब बिलकुल उन्नति नहीं कर रहा। किसी नये बैंक की स्थापना नहीं की जा रही है और बहुत कम ऋण दिये जा रहे हैं। पुराने बैंकों की संख्या घटकर १० रह गई है। लैण्ड एलिनेशन एक्ट, मूल्य-ह्रास के साथ भूमि के मूल्य की कमी और भूमि-हस्तान्तरण अधिनियम इसकी असफलता के मुख्य कारण हैं। इसकी असफलता के लिए अवैतनिक कर्मचारियों और संचालकों की, जो स्वयं बड़े ऋणकर्ता थे, गलतियाँ भी उत्तरदायी हैं।[1] ऋणों की पूर्ति पर ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है और इन बैंकों के पुनर्गठन का प्रश्न भी सरकार के विचाराधीन है।

इस क्षेत्र में मद्रास पंजाब के बाद आया, परन्तु उससे कहीं अधिक अच्छा काम किया (देखिए, सेक्शन ३२)। बंगाल, उत्तरप्रदेश और आसाम ने इस प्रकार के बैंकों के उद्घाटन के लिए कदम उठाए हैं। बम्बई ने अमेरिका की राष्ट्रीय कृषि ऋण-संस्था (नेशनल फार्म लोन एसोसिएशन) के आदर्श पर राज्य के चुने हुए ज़िलों में इस प्रकार के १६ बैंक (सन् १६५१ तक) स्थापित किये हैं।[2] मध्यप्रदेश की सरकार ने इस प्रकार के २५ (१६५१) सहकारी भूमिबन्धक बैंकों की स्थापना की और ५० लाख तक उनकी पूँजी और ब्याज की गारन्टी भी दी। मद्रास ने इस दिशा में उल्लेख्य काम किया है। इस राज्य में १२६ (सन् १६५१ तक) भूमिबन्धक बैंक हैं (आगे सेक्शन ३२ देखिये)। पश्चिमी बंगाल और उत्तरप्रदेश में प्रगति धीमी रही है। प्रत्येक राज्य में क्रमशः ३ और ६ भूमिबन्धक बैंक हैं (सन् १६५१)। बंगाल में भूमिबन्धक बन्ध-पत्रों की कार्यवाही के सम्बन्ध में सदस्यों की अनिच्छा भी एक कठिनाई है। भूमि का विभाजन और ब्याज की ऊँची दर अन्य कठिनाइयाँ हैं। आसाम में दो और उड़ीसा में एक भूमिबन्धक बैंक है (सन् १६५१)। मैसूर, बड़ौदा और कोचीन जैसे अन्य भागों में भी ऐसे बैंक स्थापित किये गए हैं। जर्मनी में (लैण्डशेफ्टेन) भूमिबन्धक बैंकों की

१. रिव्यू आफ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया (१६३६-४०), पृष्ठ ३६।

२. बम्बई सरकार ने एक आज्ञा जारी की है कि जब तक वर्तमान भूमिबन्धक बैंकों की स्थिति में सुधार नहीं हो जाता तब तक नये भूमिबन्धक बैंकों की रजिस्ट्री न की जाय।

सफलता का, यहाँ के भूमिबन्धक बैंकों की स्थापना के आन्दोलन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वहाँ की तरह के बकों की स्थापना के प्रश्न का अध्ययन भारत में भी हुआ है। इस प्रश्न का अध्ययन विशेषकर कृषि आयोग, राज्यीय और केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समितियों ने किया।

गत वर्षों में, विशेषकर मूल्य-ह्रास के बाद, भूमिबन्धक बैंक के विस्तार के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल हो गई। प्रथम, ग्रामीण क्षेत्रों में महाजन अपने ऋणों के बदले में, नकद रुपया मिलने का विश्वास हो जाने पर, कम रकम लेने के लिए भी तैयार हो गए। इसलिए अब ये बैंक ऋण कम करने की योजना को कार्यान्वित करके ऋण देय धन कम कर सकते थे। द्वितीय, द्रव्य बाजार में उचित प्रतिभूति के आधार पर सस्ते दर पर पर्याप्त रुपया उपलब्ध था।[1] सितम्बर १६३६ में युद्ध के प्रारम्भ होने से इस स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा। भूमिबन्धक बैंक के ऋणपत्र को पहले की तरह ही जनता नहीं लेती थी, क्योंकि वे दीर्घकाल के लिए अपने धन को फँसाने में हिचकते थे। रुपये के लेन-देन की दर को अपरिवर्तित रखने की भी कुछ प्रवृत्ति थी। सन् १६१४-१८ के विश्व-युद्ध की तरह द्वितीय विश्व-युद्ध ने ब्याज की ऊँची दर और द्रव्य बाजार में मँहगी परिस्थितियों को नहीं उत्पन्न किया। मूल्य-ह्रास (१६२६) के बाद भूमिबन्धक बैंक को संगठित करने के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल हो गई।

इन बैंकों के संगठन में सावधानी की आवश्यकता है। उन्हें अत्यन्त सावधानी के साथ की हुई प्रारम्भिक जाँच के पश्चात् ही स्थापित करना चाहिए, तथा उनका विधान और कार्य-प्रणाली यथासम्भव सरल होनी चाहिए। प्रबन्ध-कुशल और समय-पाबन्द होना चाहिए। बुरे बैंकों की गलतियाँ अच्छे बैंकों को बदनाम कर सकती हैं। ऐसा होने पर ऋण-पत्रों से जनता का विश्वास उठ जायगा। ऐसे ऋण न देने चाहिएँ जिससे ऋणकर्ताओं को लाभ न हो।

३१. भूमिबन्धक बैंकों को राज्य की सहायता—भारत में भूमिबन्धक बैंकों की सफलता के लिए राज्य की सहायता पर बल देने की आवश्यकता नहीं है। मूलधन और ब्याज दोनों की अदायगी की गारन्टी, बन्धक में रखे गए भूमि के बन्ध-पत्रों अथवा ऋणपत्रों की सरकार द्वारा आंशिक खरीद, बन्ध-पत्रों की न्यासी-प्रतिभूति[2] घोषित कर, बन्धक रखने वाले बैंकों को विशेष सुविधा और अधिकार देकर, जैसे जर्मनी में सहकारी समितियों की तरह इन बैंकों को भी रियायत और व्यय को पूरा करने के लिए आर्थिक सहायता आदि के रूप में राज्य द्वारा मदद दी जा सकती है।[3] इस प्रकार की राज्य सहायता न मिलने पर, भूमिबैंक बाजार में अपने बन्ध-पत्रों को उचित मूल्य पर बेचने और मामूली ब्याज की दर देने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। यद्यपि रिज़र्व बैंक ने भूमि-बन्धक बैंकों के विकास की इस अवस्था में बान्ड और ऋण-पत्रों को खरीदने की

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ़ द बाम्बे लैण्ड मार्गेज कमेटी, पैरा ११-१३।

२. १६३४ के इण्डियन ट्रस्ट एक्ट के सुधार ने निक्षेप प्रतिभूतियो की सूची में भूमि-बन्धक बैंक द्वारा लिखे गए ऋण-पत्रों के समावेश के लिए प्रस्ताव पेश किया।

३. कुछ राज्यीय सरकारों द्वारा भूमि-बन्धक बैंकों को दी गई सहायता के लिए नीचे सेक्शन ३२ देखिए।

अनिच्छा प्रकट की है, परन्तु उसने ऋण-पत्र जारी रखने तथा उनसे मुक्ति पाने के लिए कोष के निर्माण के सम्बन्ध में बहुमूल्य राय दी है।[१]

३२. बम्बई और मद्रास की योजनाएँ—बम्बई और मद्रास, जहाँ भूमिबन्धक बैंकों के कार्य का सबसे अधिक विकास हुआ है, के भूमिबन्धक बैंकों के अध्ययन से हमें इन बैंकों के विधान, वित्त और प्रबन्ध का सामान्य ज्ञान हो जायगा।

(१) मद्रास योजना—भारत में भूमिबन्धक बैंकों के कार्य का प्रारम्भ मद्रास में सन् १९२९ में केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक की स्थापना से हुआ। इस बैंक की स्थापना १९२४-२५ में मद्रास सरकार द्वारा स्वीकृत भूमिबन्धक बैंकों की एक विशेष योजना के अन्तर्गत हुई थी। इसकी स्थापना का उद्देश्य उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत प्रारम्भिक बैंकों का संयोजन तथा ऋणपत्रों को जारी करना था।[२] इस योजना के अन्तर्गत सरकार ने २½ लाख रुपये के लगभग आधे ऋण-पत्रों को इस शर्त पर स्वीकार किया कि इतनी ही राशि के ऋण-पत्र जनता भी ले। ऋणपत्रों और निक्षेप के अतिरिक्त (जो कम-से-कम ३ साल के लिए हो) चालू पूँजी का एक भाग हिस्सा पूँजी भी था। इन हिस्सों का मूल्य कम रखा गया ताकि छोटे किसान भी बैक के सदस्य हो सकें। ये बैंक लाभदायक पानी वाले क्षेत्रों में ही बनाये गए।

बैंक के प्रधान कार्यालय से ६ या ७ मील के ही अन्दर के गाँवों के समूह तक कार्यक्षेत्र को सीमित रखना वांछनीय समझा गया ताकि पारस्परिक ज्ञान सम्भव हो और बैंकों की रहन में दी जाने वाली भूमि का मूल्यांकन और पहचान व्यावसायिक विशेषज्ञों के बिना भी आसानी से की जा सके। १९२९ तक इस प्रकार के २० बैक खुल गए। इनमें से केवल ८ बैंकों ने ही ऋणपत्र जारी किये। सरकार की सहायता के बावजूद इन बैंकों ने बहुत कम उन्नति की, जिसका प्रधान कारण जनता को ऋणपत्र बेचने की अयोग्यता थी। सहकारिता की टाउनसेण्ड कमेटी (१९२७-२८) ने (टाउनसेण्ड कमेटी आन को-आपरेशन)उनकी परीक्षा की और कहा कि केन्द्रीय भूमिबैंक के बिना यह सन्तोषजनक उन्नति नहीं कर सकती थी। इस केन्द्रीय बैंक के सदस्य व्यक्ति और प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंक हों तथा इन बैंकों का कार्य प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक को हस्तान्तरित किये हुए बन्धकों के मूल्य पर अस्थायी प्रभार के रूप में ऋणपत्र जारी करना था। इसके अनुसार दिसम्बर सन् १९२९ में मद्रास में केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक स्थापित किया गया, जिसका कार्य मद्रास योजना के गम्भीर दोष—असंयोजित और बिखरे हुए छोटे-छोटे भूमिबन्धक बैंक, जो बाजार में आपस में प्रतिस्पर्धा करते थे—को दूर करना था। मद्रास सरकार ने बैंकों को सुविधाएँ दे रखी हैं, जैसे बैंक द्वारा जारी किये गए सारे ऋणपत्रों पर पहले ५ वर्ष के लिए ५० लाख की सीमा तक ६ प्रतिशत ब्याज की गारन्टी। यह सीमा बाद में बढ़ा दी गई और अब ३१० लाख है। प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंकों का निरीक्षण करने के लिए दो डिप्टी रजिस्ट्रार और प्रारम्भिक बैंकों

१. कृषि ऋण के सम्बन्ध में आरम्भिक रिपोर्ट, पैरा २१।

२. विकास-विभाग के मन्त्री को मद्रास रजिस्ट्रार द्वारा पेश की हुई प्रारूप योजना देखिए, १ जून १९२४।

की ओर से जाँच की सहायता के लिए १० उप-डिप्टीरजिस्ट्रारों की सेवाएँ और कार्य-व्यय के लिए २५००० रुपये की आर्थिक सहायता आदि की सुविधा भी, मद्रास सरकार ने दी, जो प्रारम्भ में ३ वर्ष के ही लिए थी। उनके हितों की रक्षा के लिए परिषद् में सरकार का प्रतिनिधित्व रजिस्ट्रार तथा उसके द्वारा नियुक्त और सरकार द्वारा स्वीकृत प्रतिनिधि भी करता था। रजिस्ट्रार ऋणपत्र के मालिकों के हितों का न्यासधारी भी था। केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक की संचालक परिषद में, प्रमुख सहयोगियों के अतिरिक्त प्रेसीडेन्सी के बड़े-बड़े व्यापारी-वर्ग के नेता भी सम्मिलित थे। बैंक के ऋणपत्रों के सम्बन्ध में निवेश करने वाली जनता ने पर्याप्त रुचि दिखाई। ३० जून, १९४० तक बैंक ने २.६४ करोड़ रुपये तक के ऋणपत्र जारी किये जिसमें से उसी दिन केवल १·९५ करोड़ रुपये अप्राप्य रहे। ३० जून, १९४१ को २.४३ करोड़ के ऋणपत्र परिचलन में थे।

१९३१-३२ के क्रियाहीन वर्षों को छोड़कर, जो बड़ी आर्थिक कठिनाई के दिन थे, बैंक बहुत सफल रहा। जून सन् १९५१ के अन्त तक केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक से १२९ प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंक सम्बन्धित थे। ऋणपत्रों की माँग इतनी अधिक थी कि युद्ध के पहले वे ३ प्रतिशत की दर पर जारी किये जा सके। द्रव्य बाजार में युद्ध-जनित परिवर्तनों के बाद ऋणपत्रों पर ब्याज की दर ½ प्रतिशत और बढ़ा दी गई। आजकल प्रारम्भिक बैंकों की उधार देने की दर ४½ प्रतिशत है और अन्तिम उधार लेने वाले व्यक्ति को ऋण ५½ प्रतिशत पर मिलते हैं। सन् १९४९-५० में राज्य के १२६ प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंकों ने ७५·८७ लाख रुपये उधार दिये। मद्रास के सहकारी भूमिबन्धक बैंक अधिनियम (१९३४) ने केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक द्वारा जारी किये हुए ऋणपत्रों के मूलधन और ब्याज की गारन्टी देने का अधिकार स्थानीय सरकार को दिया। बैंकों को भी भुगतान न करने वाले व्यक्तियों से ऋण वसूल करने का अधिकार दिया गया तथा इन बैंकों की सफलता में बाधक कानूनी रुकावटों को दूर किया गया।

इस प्रकार मद्रास ने भूमिबन्धक बैंकों के नवीन क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त की और अन्य राज्यों के लिए आदर्श बन गया।

(२) बम्बई-योजना—सितम्बर सन् १९२६ में बम्बई सरकार ने तत्कालीन रजिस्ट्रार श्री जे० ए० मदन, आई० सी० एस० द्वारा तैयार की हुई प्रारूप योजना को स्वीकार किया। प्रयोग के लिए सरकार ने धारवाड़, भड़ौच, पूर्वीखानदेश (पचोरा) जिलों में (अमेरिका की राष्ट्रीय कृषि-ऋण संस्थाओं के आधार पर) तीन भूमिबन्धक बैंकों की रजिस्ट्री स्वीकार की। इनका अस्थायी आर्थिक प्रबन्ध बम्बई के प्रान्तीय सहकारी बैंक को सौंपा गया और सरकार ने २ लाख के ४ प्रतिशत ब्याज वाले ऋणपत्रों को खरीदना स्वीकार किया। प्रान्तीय बैंक ने अपने नये कर्तव्यों के पालन के लिए भूमिबन्धक विभाग की अलग स्थापना की।

भड़ौंच ज़िले का प्रयोग बहुत सफल रहा, यद्यपि बम्बई भूमिबन्धक बैंक कमेटी द्वारा, इनके कार्य की जाँच से इनके कुछ दोष प्रगट हुए। उदाहरणार्थ पचोरा और धारवाड़ के बैंकों ने ऋणकर्ताओं की देय-क्षमता का गलत अनुमान किया था। परन्तु, जैसा कि बम्बई भूमिबन्धक कमेटी ने कहा है, ये कठिनाइयाँ ऐसी नहीं हैं जिनको दूर न

किया जा सके। इसलिए कमेटी ने राज्य के विभिन्न ज़िलों में भूमिबन्धक बैंकों के विस्तार पर जोर दिया और एक परिष्कृत योजना बनाई। इस योजना में (अमेरिका के संघीय भूमि बैंक के अनुरूप) ऋणपत्र जारी करने के लिए केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक की स्थापना का प्रबन्ध था। बम्बई राज्यीय सहकारी बैंक जो जनता से अल्पकालीन निक्षेप प्राप्त करता है और अल्पकालीन ऋण देने के लिए, प्रारम्भिक समितियों और ज़िला केन्द्रीय सहकारी बैंक के लिए शीर्ष बैंक का काम करता है, प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंकों के अर्थ-प्रबन्धन के लिए नितान्त अनुपयुक्त है। इसके अतिरिक्त भूमिबन्धक बैंक एक विशेष प्रकार का व्यापार करता है जिसके लिए विशेषज्ञ अधिकारी अपेक्षित हैं।[1]

१६३५ में बम्बई सरकार ने भूमिबन्धक कमेटी की सिफारिशों को कार्यान्वित किया और १ अप्रैल सन् १६३५ के बाद बहुत से भूमिबन्धक बैंकों की रजिस्ट्री भी की गई। इनका कार्यक्षेत्र उन्हीं स्थानों तक सीमित था जो अकाल और मंहगाई से कम प्रभावित थे और जहाँ सहकारिता आन्दोलन ने प्रशंसनीय उन्नति की थी। उसी समय नये केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक को बनाने के लिए कदम उठाये गए। इसलिए बम्बई सहकारी समिति अधिनियम के अन्तर्गत बम्बई के प्रान्तीय सहकारी भूमिबन्धक बैंक की ७ दिसम्बर, १६३५ में रजिस्ट्री की गई, जिसके प्रथम सभापति स्वर्गीय सर लालूभाई सामलदास थे।

इस नये शीर्ष बैंक का मुख्य कार्य ऋणपत्र जारी करके, शीर्ष बैंक से सम्बन्धित प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंकों का अर्थ-प्रबन्धन, कार्य का निरीक्षण करना, उनको राय और सहायता देना था। सन् १६३५ के आय-व्ययक काल में बम्बई राज्यीय विधान-सभा ने एक प्रस्ताव पास किया और सरकार को यह अधिकार दिया कि वह ५० लाख रुपये तक के बैंक द्वारा जारी किये ऋणपत्रों के ब्याज और मूलधन, दोनों की गारन्टी दे। ३० जून, सन् १६३८ में पहली बार बैंक ने ३½ प्रतिशत वाले २० लाख के ऋणपत्र जारी किए और सन् १६३६-४० में दूसरी बार ३½ प्रतिशत ब्याज के ऋणपत्र जारी किये गए।[2] ऋणपत्र के प्रत्येक पृथक् प्रचलन से प्राप्त राशि की पूर्ति के लिए कोष का प्रबन्ध किया गया। सरकार द्वारा नियुक्त न्यासधारी के जरिये ऋण-पत्र के मालिकों के प्रति बैंक के कर्तव्यों के निर्वाह का आश्वासन रहता है। इन ऋण-पत्रों को न्यासी-प्रतिभूतियाँ घोषित कर दिया गया है, जो निवेश करने वाली बीमा-कम्पनियों, बैंकों और व्यक्तियों के लिए धन-निवेश का लोकप्रिय तरीक़ा है।

प्रान्तीय भूमिबन्धक बैंक प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंक के ज़रिये किसानों को उनकी भूमि की ज़मानत पर ऋण देते हैं। प्रारम्भिक बैंकों को किसानों की देय-

---

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ द बाम्बे लैंड मार्गेज कमेटी, पैरा २१। दीर्घकालीन भूमिबन्धक वित्त की पूर्ति के लिए राज्यीय सहकारी बैंक की अवांछनीयता है, द इण्डियन प्राविंशल कोआपरेटिव बैंक्स नामक शिक्षणात्मक लेख में भली प्रकार समझाई गई है—द इन्डियन कोआपरेटिव रिव्यू, अप्रैल सन् १६४१।

२. बम्बई राज्यीय सहकारी भूमिबन्धक बैंक लिमिटेड, तारीख ६ सितम्बर, १६४१ के संचालकों की छठी रिपोर्ट देखिये।

क्षमता, आय तथा भूमि के अधिकार की जाँच करनी पड़ती है। प्रारम्भिक बैंकों की संचालक-परिषद की सिफारिश पर केवल सदस्यों को ऋण दिया जाता है। व्यक्तिगत सदस्यों के ऋण की १०,००० रु० अधिकतम सीमा है। इस अधिकतम ऋण के अन्दर, कोई अकेला सदस्य बैंक में अपने परिदत्त हिस्सा-पूँजी के २० गुणा से अधिक अथवा रहन में रखी हुई ऋण सम्पत्ति के आधे मूल्य से अधिक ऋण नहीं ले सकता। २० वर्ष से अधिक समय के लिए कोई ऋण नहीं दिया जाता। राज्यीय बैंकों से प्रारम्भिक बैंकों के ऋण और प्रारम्भिक बैंकों से सदस्यों के ऋण के लिए रजिस्ट्रार की स्वीकृति आवश्यक है। बैंक के ऋणों की ब्याज-दर प्रान्तीय भूमिबन्धक बैंक की ब्याज-दर (४½%) से १½ प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती। प्रारम्भिक बैंकों के सदस्य इस प्रकार ६ प्रतिशत पर उधार ले सकते हैं। यह दर महाजनों द्वारा किसानों से ली गई दरों से कहीं कम है। ऋणकर्ताओं के वर्तमान देयधन कम करने में इससे बहुत सहायता मिलनी चाहिए। ऋण की अदायगी मूलधन के समान वार्षिक किश्तों द्वारा तथा समय-समय पर ऋण के ब्याज को देकर की जा सकती है, अथवा मूलधन और ब्याज को सम्मिलित करती हुई समान वार्षिक किश्तों द्वारा दी जा सकती है। प्रारम्भिक बैंकों द्वारा लिये गए भूमिबन्धक शीर्ष भूमिबन्धक बैंकों से लिये ऋणों की जमानत के रूप में उनके नाम कर दिये जाते थे। इस प्रकार ऋण देने वाले बैंकों के लिए काफी ज़मानत थी।

पहले तो अधिकतर ऋण पुराने ऋणों को चुकाने के लिए दिये जाते थे। जब तक ऋण-मुक्ति, किसानों की महत्त्वपूर्ण तत्कालीन आवश्यकता रहती है, व्यापार की यह विशेषता अवश्य ही रहेगी। बैंक, व्यक्तिगत समाधान-समितियों के द्वारा, महाजनों की ऋण-सम्बन्धी परेशानी का लाभ उठाकर चुकाये जाने वाले ऋणों में कमी करने के लिए, महाजनों और ऋणदाताओं से बातचीत करता है। सन् १९४९-५० के अन्त में कुल अप्राप्त राशि ३९·७७ लाख रुपये तथा कालातीत ऋण ०·३३ लाख रुपये था।

राज्यीय सहकारी भूमिबंधक बैंक द्वारा जारी किये गए ऋणपत्रों के मूलधन और ब्याज दोनों की गारन्टी के रूप में पर्याप्त सहायता के अलावा, बम्बई सरकार ने निम्न-लिखित छूटें भी दी हैं: (क) (१) मुद्रांक शुल्क, (२) रजिस्ट्री फीस, और (३) बैंक के लाभ और हिस्से-पूँजी के लाभांश पर आय-कर से अन्य समितियों के समान ही छूट और (ख) प्रथम ३ वर्षों में बैंक के घाटे को पूरा करने के लिए सहायता दी जायगी, जो पहले वर्ष में अधिक-से-अधिक १०,००० रुपये और तीसरे वर्ष में ६,००० रुपये होगी। उपर्युक्त सहायता के अतिरिक्त, ५००० रु० प्रतिवर्ष की आर्थिक सहायता भी दी जाती है। इस सहायता का उद्देश्य यह है कि बैंक सरकार द्वारा दिये हुए भूमि-मूल्यांकन-अधिकारियों के व्यय को अंशतः पूरा कर सके। इन बैंकों के सही कार्य का आश्वासन देने के लिए और इसके हितों की रक्षा करने के लिए शीर्ष बैंकों की परि-षद में सरकार का प्रतिनिधित्व रजिस्ट्रार करता है, और प्रारम्भिक बैंकों की परिषद में रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त व्यक्ति करता है। यह सब छूट मद्रास राज्य के आधार पर ही की गई है।

राज्यीय भूमिबंधक बैंक की सदस्यता प्रारम्भिक भूमिबंधक बैंक, सहकारी समितियों और व्यक्तियों को प्राप्त है। यद्यपि यह मिश्रित सदस्यता सच्चे सहकारी सिद्धान्तों के विपरीत है, तथापि व्यक्तियों की सदस्यता वांछनीय है क्योंकि उनकी उपस्थिति, निवेश करने वाली जनता का बैंक में विश्वास बढ़ा देगी और व्यापारिक सिद्धान्तों का पूर्ण पालन निश्चित हो जायगा। लाभांश प्राप्ति की इच्छा उपनियमों द्वारा रोका गई है जिनके अनुसार वास्तविक लाभ का २५ प्रतिशत सुरक्षित कोष में जमा कर दिया जाता है तथा हिस्सों पर लाभांश ६¼ प्रतिशत तक सीमित कर दिया जाता है। शीर्ष बैंकों के संचालकों की परिषद में, प्रारम्भिक बैंकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने के लिए उन्हें ५ संचालकों के (१५ में से) क्षेत्र चुनने का अधिकार है, जिन्हें ५ निर्वाचीन-क्षेत्रों में प्रत्येक क्षेत्र के बैंक-समूह द्वारा चुना जाता है।

प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंक की सदस्यता केवल ऋणकर्ताओं तक ही सीमित नहीं हैं। ग़ैर ऋणकर्ताओं को हिस्सेदारों की संचालक परिषद में पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया है। प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंक के उपनियमों के अनुसार प्रथम तीन साल के लिए रजिस्ट्रार संचालक परिषद को नियुक्त कर सकता है।[1]

३३. भूमिबन्धक बैंकों के कार्य[2]—जून सन् १९५१ में भारत में भूमिबन्धक बैंकों के कार्य का प्रदर्शन निम्नलिखित आँकड़ों से प्रकट है।

बैंक और समितियों की संख्या	२८६
सदस्यों की संख्या	२,१५,०००
चालू पूँजी	(हज़ार रुपयों में)
परिदत्त पूँजी	५२५०
सुरक्षित कोष	११६५
अन्य कोष	४५५
व्यक्तियों तथा अन्य साधनों से लिया हुआ ऋण	५४३
बैंक और समितियों से लिया हुआ ऋण	५७,६४९
ऋणपत्र	८५९
ऋण दिया गया	१२९०२
लाभ	२७६

३४. भूमिबन्धक बैंकों की परिसीमाएँ—ग्रामीण ऋण के सूक्ष्म और कठिन प्रश्नों के विवेचन में सावधानी की बड़ी आवश्यकता है। बुरे ऋण और अवशिष्ट ऋण से बचने के लिए बहुत सावधानी की आवश्यकता है। 'जहाँ पर प्रारम्भिक बैंक सावधान है, वहाँ पर राज्यीय बैंक को उनसे दूना सावधान रहना चाहिए क्योंकि वह समस्त संगठन का वित्तीय आधार है।'

१. बम्बई राज्यीय सहकारी भूमिबन्धक बैंक लिमिटेड और प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंक के उपनियम देखिए।

२. बैंकिंग एण्ड मॉनिटरी स्टेटिस्टिक्स ऑफ इण्डिया, पृ० ५०४।

भूमिबन्धक बैंकों की आवश्यक सीमाओं को हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। प्रथम यह स्पष्ट है कि वे सम्पूर्ण कृषि-ऋण को स्वयं नहीं ले सकते। ऋणों की अधिकतम सीमा तथा उन पर लगाये हुए प्रतिबन्ध, जो अत्यावश्यक हैं, ज़मानत के लिए भूमि का होना तथा ऋणकर्ताओं का सावधानी से चुनाव आदि के कारण यह असम्भव है। द्वितीय, भूमिबन्धक बैंक ऋण के भार को अपने ऊपर लेकर और ब्याज की दर घटाकर ही कम कर सकते हैं। वे उसे एकदम नहीं हटा सकते।[1] चतुर किसान ही छोटी-छोटी किश्तों में ऋणों की समाप्ति की सुविधाओं से लाभ उठाएँगे। जब तक वह हर दिशा में मितव्ययिता नहीं अपनाता, विशेषकर उत्सवों के व्ययों के लिए अनुत्पादक ऋणों का त्याग नहीं करता और अपनी आय बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करता, तब तक उसके पुराने ऋणों की समाप्ति का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। किसानों की अर्जन-शक्ति को बढ़ाने के लिए सर्वांगीण आर्थिक योजना अथवा ग्रामीण पुनर्निर्माण आवश्यक है।

भूमिबन्धक बैंकों द्वारा अपने सदस्यों के पुराने ऋणों की समाप्ति मात्र पर ध्यान देने के खतरे की ओर भी रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया ने संकेत किया है।[2] भूमि की ज़मानत पर दिये हुए दीर्घकालीन ऋणों का प्रधान उद्देश्य भूमि और कृषि की उन्नति तथा कृषि की उत्तम प्रणाली का प्रारम्भ होना चाहिए। इन बैंकों को अन्य कार्य की अपेक्षा भूमि और कृषि की उन्नति के लिए अधिक ऋण देने की, कृषि-विभाग के सहयोग से राय ठीक ही दी गई है। यह एक अच्छी योजना है जिसमें वे व्यक्ति, जिनका ऋण भूमिबन्धक बैंक द्वारा चुकाया जाता है, एक अच्छी प्रारम्भिक कृषि-ऋण-समिति के साथ परीक्षणकाल बिताते हैं। भूमिबन्धक बैंकों से ऋण मिलने के बाद भी, उन्हें बहुमुखी समिति का सदस्य बना रहना चाहिए ताकि उनके कार्यों का उचित निरीक्षण हो सके और किश्तें नियमित रूप से अदा की जा सकें। भूमिबन्धक बैंकों में भी कालातीत ऋणों की प्रवृत्ति के कारण इस प्रकार का प्रबन्ध और भी आवश्यक है। अन्त में हम कह सकते हैं कि भूमि-बन्धक बैंक को आर्थिक सुधार में काम करने वाली अन्य एजेन्सियों से निकट का सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए और ग्रामीण पुनर्निर्माण आन्दोलन का एक भाग बन जाना चाहिए।

३५. व्यापारिक भूमिबन्धक बैंक—केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति और रिज़र्व बैंक के कृषि ऋण-विभाग ने देश के विभिन्न प्रकार के कृषकों की भलाई के लिए सुसंगठित व्यापारिक भूमिबन्धक बैंकों की स्थापना की सिफारिश की, क्योंकि सहकारी ऋण-व्यवस्था से इनकी आवश्यकता पूरी नहीं होती। राज्यीय सरकार ऐसी बैंकों की प्रार-

---

१. यह आश्चर्यजनक है कि ऋण-समाधान तथा भूमिबन्धक ऋण एक-दूसरे के पूरक होने के बजाय प्रतिस्पर्धी हो रहे हैं, तथा अनेक राज्यों में भूमिबन्धक बैंको की प्रगति में ऋण मुक्ति कानून बाधा डाल रहा है। अवश्य ही ऐसा न होना चाहिए। द इण्डिया कोआपरेटिव रिव्यू (अप्रेल-जून, १९४१) पृष्ठ २१९-१७। देखिए, सेक्शन ३२ (२) और अध्याय ९ में सेक्शन १०।

२. कृषि ऋण की संवैध रिपोर्ट, पैरा २७-३०; और रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ० ३८-३९।

म्भिक पूँजी के कर तथा ऋणपत्रों पर ब्याज की गारन्टी देकर सहायता कर सकती है। उन राज्यों में जहाँ स्थायी बन्दोबस्त है, इस प्रकार के भूमिबन्धक बैंकों की आवश्यकता विशेष रूप से प्रतीत होती है। ऐसे बैंकों को जमीदारों की ऋण-मुक्ति के लिए प्रयत्नशील और दीर्घकालीन आवश्यकताओं का अर्थप्रबन्धक होना चाहिए।[२]

२. देखिए, रिपोर्ट ऑफ द सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा २३३-३४; और रिज़र्व बैंक की प्रिलिमिनरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट, पैरा १९।

अध्याय ११

राज्य और कृषि का सम्बन्ध

१. कृषि विभागों का विकास—पहली बार सन् १८६६ के उड़ीसा दुर्भिक्ष के सम्बन्ध में, एक विशेष सरकारी विभाग द्वारा कृषि-सुधार करने के प्रस्ताव पर विवाद हुआ। कालान्तर में लार्ड मेयो की सरकार द्वारा यह प्रश्न हाथ में लिया गया; किन्तु दुर्भिक्ष आयोग (१८८०) की सिफारिशों के फलस्वरूप और लंकाशायर के कपास-उद्योग की, जिसका हित भारत में लम्बे रेशे के कपास की वृद्धि में था, माँगों के फलस्वरूप १८८४ में विभिन्न राज्यों में सञ्चालकों (डाइरेक्टर) उप-सञ्चालकों (डिप्टी डाइरेक्टर), अधीक्षकों (सुपरिन्टेण्डेन्ट) और ओवरसीयरों के मातहत कृषि-विभाग स्थापित किये गए। प्रारम्भ में कृषि की जाँच, दुर्भिक्ष सहायता और भूमि-सुधार को हाथ में लेने का विचार था, किन्तु आँकड़े-सम्बन्धी थोड़े से कार्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सका। दुर्भाग्यवश, विभागों पर ऐसा काम लाद दिया गया जो उनसे सम्बन्धित न था। उदाहरण के लिए भूमि का लेखा रखना और उसकी जाँच-पड़ताल तथा रजिस्ट्री आदि। अनुदानों की कमी के कारण भी उनके काम में बाधा पहुँची। हम पहले सन् १८८६ में डाक्टर वॉयलकर के आगमन की चर्चा कर चुके हैं।[1] उनके मतानुसार भारतीय कृषि उतनी प्रारम्भिक या पिछड़ी अवस्था में नहीं थी जितनी कि प्रायः कही जाती थी। आधुनिक कृषि-पद्धति को पर्याप्त साधन उपलब्ध न थे। उन्होंने कृषि-शिक्षा के महत्त्व और सुधार पर बल दिया। १८९२ में भारत सरकार के कृषि रसायन शास्त्रज्ञ की नियुक्ति हुई। इस बीच एक अमेरिकन दर्शक एच० फिप्स और सर डेविड सॉसून के दानों से विभाग की आर्थिक स्थिति कुछ सुधर गई। सन् १९०१ में राजकीय (इम्पीरियल) और राज्यीय सरकारों को परामर्श देने के लिए एक (इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ एग्रीकल्चर) कृषि-महानिरीक्षक की नियुक्ति हुई। इस प्रकार पहली बार राजकीय कृषि-विभाग को एक कृषि-विशेषज्ञ की सेवाएँ प्राप्त हुई। सन् १९१२ में यह पद समाप्त कर दिया गया और इसके कार्य पूसा की कृषि-अनुसन्धान-संस्थान (एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) के संचालक को, जो १९२९ तक भारत सरकार के कृषि-परामर्शदाता भी रहे, सौंप दिये गए। उच्च प्रशिक्षण तथा विशिष्ट अल्पकालीन व्यावहारिक शिक्षा के लिए एक कॉलेज के साथ पूसा-संस्थान की स्थापना सन् १९०३ में की गई। लार्ड कर्जन के अथक उत्साह के फलस्वरूप १९०५ में विभागों का संगठन काफी

१. पीछे, पृ० २४१।

सुधर गया और अतिरिक्त कार्य-भार, जिससे वे अब तक बोझिल थे, हलका हो गया। उन्हें कृषि-सम्बन्धी प्रयोग, अनुसन्धान, प्रदर्शन और प्रशिक्षण के विकास के लिए काफी धन भी मिला। १९०८ में पूना के कृषि कॉलेज की नींव पड़ी तथा पूना के विज्ञान कॉलेज से सम्बद्ध कृषि-कक्षाओं की भीड़ को कम करने के लिए एक खोज संस्थान भी खोला गया। पीछे आने वाले वर्षों में कानपुर, नागपुर, लायलपुर, कोयम्बटूर और इधर हाल में बापाटला में विज्ञान कॉलेजों की स्थापना हुई।

हाल में, कृषि-यन्त्रों से—विशेषतया सिंचाई के लिए—प्रयोग के प्रसार के परिणामस्वरूप, किसानों को सलाह देने और मशीनों के स्थापन और सुचारु संचालन के लिए, कृषि इंजीनियरों की नियुक्ति हुई। अन्त में, राज्यीय विभागों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में लाने के दृष्टिकोण से—ताकि वे अपनी वार्षिक बैठकों में कार्यक्रमों पर विवाद करके भारतीय सरकार को सुझाव पेश कर सकें—अखिल भारतीय कृषि-परिषद् (ऑल इण्डिया बोर्ड ऑफ एग्रीकल्चर) की स्थापना हुई। १९१९ के सुधार के अनुसार राज्यीय विभागों पर भारत सरकार का केन्द्रीय नियन्त्रण काफी ढीला कर दिया गया और १९१९ से कृषि राज्यीय सरकारों के नियन्त्रण में है। अब केन्द्रीय कृषि मन्त्रिमण्डल अखिल भारतीय महत्त्व की समस्याओं से ही सम्बन्ध रखता है और निम्न संस्थाओं की देख-रेख करता है : (१) कृषि अनुसन्धान-संस्था, (एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) जो सितम्बर १९३६ में पूसा से नई दिल्ली स्थानान्तरित कर दी गई। (२) भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसन्धान संस्थान, (इण्डियन वेटेरिनरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट) मुक्तेश्वर, (३) बंगलौर और विलिंगटन की पशु-पालन और दूध की अनुसन्धान संस्थाएँ, (४) भारतीय पशु-सुधार (उत्पादन) फार्म, (५) आनन्द की मक्खनशाला, (६) भारतीय गन्ना उत्पादन केन्द्र, कोयम्बटूर, (७) चीनी-ब्यूरो, जो प्रारम्भ में पूसा में था तथा १९३१ में एक शकर विशेषज्ञ की अध्यक्षता में कानपुर स्थानान्तरित कर दिया गया।[१] भारत सरकार के कृषि परामर्शदाता के—जो पहले इन संस्थाओं के प्रशासकीय

---

१. वर्तमान समय में खाद्य और कृषि मन्त्रि-मण्डल की देख-रेख में कतिपय अनुसन्धान-प्रयोगशालाएँ भी हैं :

(१) इन्डियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूसा, नई दिल्ली।
(२) सेन्ट्रल पोटेटो रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना।
(३) सेन्ट्रल राइस रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कटक।
(४) रिसर्च लेबोरेटरी, सेन्ट्रल पामगुड़ ट्रेनिंग स्कूल, कदालोर (मद्रास)।
(५) फारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट एण्ड कालिज, देहरादून।
(६) शुगरकेन ब्रीडिंग स्टेशन, कोयम्बटूर।
(७) इण्डियन वेटेरिनरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इज़्ज़तनगर-मुक्तेश्वर।
(८) इण्डियन डेरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बंगलोर।
(९) सेन्ट्रल वेजीटेबल ब्रीडिंग स्टेशन, कुलू, कांगड़ा।
(१०) सेन्ट्रल मेरीन फिशरीज़ रिसर्च स्टेशन, मंजयम।
(११) सेन्ट्रल इनलैण्ड फिशरीज़ रिसर्च स्टेशन, मनीरामपुर, (२४ परगना)।
(१२) डीप सी फिशिंग स्टेशन, बैम्बई।

नियन्त्रण के लिए भी उत्तरदायी थे—परामर्श-कार्य भारतीय कृषि-अनुसन्धान-परिषद् (इण्डियन काउन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च) के सदस्यों को स्थानान्तरित कर दिये गए। यह परिषद् जुलाई सन् १९२९ में राजकीय कृषि आयोग[१] की सिफारिशों के आधार पर स्थापित की गई थी। उसी आयोग की सिफारिश पर भारतीय कृषि-अनुसन्धान संस्थान (इण्डियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) और भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसन्धान संस्थान, मुक्तेश्वर, के लिए अलग-अलग सञ्चालकों की नियुक्ति की गई। अक्तूबर १९२९ में भारत सरकार के कृषि-परामर्शदाता का पद समाप्त कर दिया गया। साम्राज्यिक (अब भारतीय) कृषि-अनुसन्धान परिषद् ने उन सब कृषि-सम्बन्धी प्रकाशनों का दायित्व सँभाल लिया है जो पहले कृषि-परामर्शदाता और पूसा अनुसन्धान संस्थान[२] (पूसा रिसर्च इन्स्टीट्यूट) से सम्पादित होते थे। सन् १९३४ में भारत-सरकार के कृषि विपणन परामर्शदाता (एग्रीकल्चरल मार्केटिंग एडवाइजर) के, जो भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् के केन्द्रीय विपणन-विभाग का अध्यक्ष भी होता है, पद-निर्माण की ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं।

कृषि-विभागों के कार्य की पूर्ति और सहयोग के लिए कतिपय अन्य संस्थाओं की सृष्टि की गई है। विभिन्न राज्यों में कृषि-संस्थाएँ इसका एक उदाहरण हैं। इधर कुछ वर्षों से बहुत से राज्यों में राज्यीय ग्राम-विकास या ग्रामोद्धार परिषदों की स्थापना से ग्राम-विकास एवं ग्राम-सुधार कार्यों को संयोजित करने का प्रयास किया गया है। इन परिषदों में ग्राम-सुधार से सम्बन्धित विभागों, जैसे कृषि, सहकारी, सिंचाई, उद्योग, वन, शिक्षा, जन-स्वास्थ्य आदि के अध्यक्ष तथा अन्य गैर-सरकारी व्यक्ति भी सम्मिलित होंगे। कृषि-विभाग के कार्य को आगे बढ़ाने में सहकारी विभाग तथा गैर-सरकारी व्यक्तियों, दोनों के प्रयोग का सर्वोत्तम उदाहरण बम्बई और पंजाब राज्यों ने प्रस्तुत किया है। इन राज्यों में ग्राम-सुधार-कार्य सहकारी संस्थाओं के रजिस्ट्रार को, जो बम्बई में ग्राम-सुधार-संचालक भी कहा जाता है—सौंपा गया है (आगे सेक्शन ७ देखिए)। इसके अतिरिक्त बम्बई के कुछ तालुकों में तालुका-विकास संस्थाएँ भी हैं।

२. कृषि विभागों के कार्य—राज्यीय कृषि-विभाग, कृषि-क्षेत्रों तथा प्रयोगशालाओं में प्रयोग और अनुसंधान तथा नये तरीकों और नये औज़ारों को अपनाने के लिए प्रचार करते हैं। इनके अन्य कार्य नवीन तथा कृत्रिम खादों का उपयोग, सुधारी हुई फसलों के शुद्ध बीजों का उत्पादन, संरक्षण और वितरण हैं। सरकारी कृषि-क्षेत्र (फार्म) या किसानों के खेतों पर प्रदर्शन भी किये जाते हैं।

भारत की प्रधान फसलों के सर्वेक्षण के सम्बन्ध में—विशेषतया गेहूँ, गन्ने, मूँगफली, कपास, तम्बाकू और चारे की फसलों के सम्बन्ध में—हम कृषि-विभाग द्वारा किये गए लाभदायक कार्य पहले ही बता चुके हैं। जूट, चावल तथा आलू आदि कुछ अन्य

---

१. आगे सेक्शन १० देखिए।

२. अनुसन्धान परिषद् (रिसर्च काउन्सिल) तीन पत्रिकाएँ छापती है : द इण्डियन जरनल ऑफ वेटेरिनरी साइन्स एण्ड एनीमल हस्बेंडरी, द इण्डियन जरनल ऑफ एग्रीकल्चरल साइन्स, और एग्रीकल्चर एण्ड लाइव स्टॉक इन इण्डिया।

फसलें है जिन पर विभाग ध्यान दे रहा है। उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर निम्न तालिका ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों में विभिन्न प्रकार की सुधरी फसलों का क्षेत्रफल एकड़ों में प्रस्तुत करती है।[1]

फसल	१६२८-२६	१६३५-३६	१६३७-३८
कपास	३६,६३,६६१	५०,५६,६३२	५६,७१,५५६
गेहूँ	४१,२६,६०५	६६,७०,८५५	६६,३०,०६८
चावल	६,७६,६१३	३६,६६,०६७	३७,५८,६४७
जूट	११,४३,६६५	११,२१,०१६	१७,८१,०६६
गन्ना	४,६६,८६०	३२,४४,३३६	२८,५५,३७६
अन्यफसले[2]	१४,६४,५२८	२१,१८,४२४	२६,७६,०४१
कुल योग	१,२१,७५,८६२	२,२१,८३,६,६३	२,३६,७६,०६३

यह तालिका प्रकट करती है कि १६२८-२६ की तुलना में सुधरी फसलों का क्षेत्रफल १६३७-३८ में प्रायः दुगुना हो गया। इससे देश की कृषि की फसलों का उत्पादन काफी बढ़ गया। जो कुछ वृद्धि हुई है, वह सराहनीय तो है परन्तु पर्याप्त नही है। यद्यपि गेहूँ, कपास और जूट की स्थिति सन्तोषजनक है, किन्तु जब हम इस बात पर विचार करते है कि धान के ७३० लाख एकड़ क्षेत्र में से सिर्फ ४० लाख एकड़ (६ प्रतिशत) में ही उत्तम और अधिक उत्पत्ति वाली जाति के धान बोए जाते है तो हमें ज्ञात होता है कि अभी क्या करना शेष है।[3] भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के तत्त्वावधान में किये जाने वाले धान और गन्ने-सम्बन्धी अन्वेषणो के परिणामस्वरूप इन फसलों के सुधार की हुई खेती के क्षेत्र में पर्याप्त वृद्धि हुई है। भारतीय कृषि-अनुसंधान-परिषद् की परामर्श-परिषद् ने अपनी मार्च, १६४२ की बैठक में आगामी तीन वर्षों में १० लाख एकड़ भूमि को सुधरी जाति के चावल उत्पादन क्षेत्र के अन्तर्गत लाने का प्रस्ताव स्वीकार किया। यह प्रस्ताव चावल के लिए भारत की बर्मा पर निर्भरता को क्रमशः

१. रिव्यू ऑफ एग्रिकल्चरल ऑपरेशन्स इन इंडिया (१६२८-२६), पृ० १४; एग्रिकल्चर एण्ड एनिमल हसबेंडरी इन इण्डिया (१६३७-३८), पृ० १५; १६२८ और १६३५-३६ के आंकड़ों में बर्मा के आँकड़े भी सम्मिलित है।

२. इसमें मूँगफली (४१७,४४२), चना (८३,७६२), ज्वार-बाजरा (३४७,२००), आलू (२०,६६६), इत्यादि शामिल है।

३. अच्छे बीजों का प्रयोग उत्पत्ति की वृद्धि में बहुत मदद करता है। वर्तमान समय में राज्य-योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अच्छे बीजों के वितरण के लिए ६.३ करोड़ रुपया खर्च करना निश्चित किया गया है। १६५३-५४ तक २.५८ करोड़ रुपये खर्च किये जा चुके है। 'अधिक अन्न उपजाओ' कोष में से १.५ करोड़ रुपये की केन्द्रीय सहायता भी इसी उद्देश्य के लिए दी गई थी। योजना के अन्तर्गत लगभग सभी राज्यों में अच्छे बीज के वितरण का कार्यक्रम है, परन्तु यह कार्यक्रम सभी राज्यों में सुसंगठित नहीं है। सन् १६५३-५४ के (मार्च १६५४ तक) ६ महीनों में विभिन्न राज्यों में अच्छे बीजों की निम्न मात्रा का वितरण हुआ है :

बम्बई	मध्यप्रदेश	मद्रास	उत्तरप्रदेश	हैदराबाद	राजस्थान	पैप्सू	
३,३२०	५,२८५	१,६२१	२५,७३१	६,१५५	१,२२५	१,४८६	(मात्रा टनों में)

समाप्त करने की (जनता की) माँग और विपणन सर्वेक्षण द्वारा प्रकट तथ्यों को दृष्टि में रखकर स्वीकृत किया गया था। तुलनात्मक दृष्टि से कपास की संतोषजनक स्थिति केन्द्रीय-कपास-समिति के कार्यों का परिणाम है। केन्द्रीय-कपास-समिति का अपना अलग कोष है। इससे अन्य फसलों के सुधार के लिए भी समितियों के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होती है।[1] कृषि-आयोग ने जूट के लिए ऐसी समिति की आवश्यकता पर जोर दिया था और इसकी स्थापना सन् १९३६ में हुई। अखिल-भारतीय-फसल-आयोजना सम्मेलन (१९३४) ने विशेष संस्थाओं द्वारा गेहूँ और धान जैसी अन्य प्रधान फसलों के स्थायी और क्रमबद्ध अध्ययन की सिफारिश की। यह सुझाव सरकार द्वारा मान लिया गया। एक बहुत पुरानी शिकायत यह थी कि कृषि-विभाग अपनी सुधारक शक्तियों को निर्यात की फसलों पर केन्द्रित करता है तथा ज्वार, बाजरा, फल और तरकारी की फसलों पर अपेक्षाकृत कम ध्यान देता है, यद्यपि ये फसलें भी कृषकों के लाभ और जनता की खाद्य आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय कृषि-अनुसंधान-परिषद् अब अपना ध्यान इनमें से कुछ के उत्पादन, जैसे फलों के उत्पादन, पर केन्द्रित कर रही है। उदाहरणार्थ, बम्बई राज्य में परिषद् ने भारत के प्रधान फलों के संग्रह और परिवहन की परिस्थितियों के अनुसंधान के लिए धन दिया है।

३. सुधरे औजारों और नवीन पद्धतियों का प्रदर्शन—फसल-सम्बन्धी आर्थिक कार्यों के अतिरिक्त विभागों के तत्त्वावधान में कृषि-रसायन-शास्त्र, कृषि-शाकाण्विकी (एग्रीकल्चरल बेक्टीरियोलॉजी), पौधों की रोग-विद्या (प्लाण्ट पेथोलॉजी), कवक शास्त्र (माइकोलॉजी) और कीट-विद्या (एण्टोमोलॉजी) की आधारभूत समस्याओं पर खोज और अनुसंधान-कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है। इनमें भूमि को चूने की आवश्यकता, क्षारीय भूमि के पुनरुद्धार, भूमि की नमी को कायम रखना, सूखी खेती, नाइट्रोजन का निर्धारण, कृत्रिम प्रक्षेत्र खाद का निर्माण, भूमि की खादों में नाइट्रोजन पहुँचाना, देश में पाए जाने वाले फॉस्फेट के प्राकृतिक साधनों का उपयोग, घी में मिलावट की खोज, गन्ने की बीमारियों (जिन्हें अंग्रेजी में मोज़ेक डिज़ीजिस कहते हैं) और खाद्यान्नों को नुकसान पहुँचाने वाले कीड़ो का नियन्त्रण, इत्यादि के नाम गिनाए जा सकते हैं।

पाश्चात्य देशों में कृषि-सम्बन्धी प्रदर्शनों का उपयोग और शैक्षणिक महत्त्व

---

१. कृषि-वस्तुओं के विपणन और उत्पादन के लिए कतिपय केन्द्रीय कमेटियाँ स्थापित की गई हैं; जैसे,
इण्डियन सेन्ट्रल कॉटन कमेटी, बम्बई।
इण्डियन सेन्ट्रल जूट कमेटी, कलकत्ता।
इण्डियन सेन्ट्रल टोबेको कमेटी, मद्रास।
इण्डियन सेन्ट्रल आयल-सीड्स कमेटी, नई दिल्ली।
इण्डियन सेन्ट्रल कोकोनट कमेटी, अर्नाकुलम्।
इण्डियन सेन्ट्रल शुगरकेन कमेटी, नई दिल्ली।
इण्डियन सेन्ट्रल एरीकानट (सुपारी) कमेटी, कालीकट।
इण्डियन सेन्ट्रल लैक (लाख) सैस कमेटी, रांची।
ऑल इण्डिया कैटल शो कमेटी, करनाल।—अनुवादक

पूर्णरूप से आँका जा चुका है और उन पर व्यय की जाने वाली विशाल धन-राशि को पूँजी लगाने का एक उत्तम मार्ग समझा जाता है। भारत में अब निश्चित अवधि के उपरान्त किये जाने वाले प्रदर्शनो का महत्त्व समझा जाने लगा है। पूना में किया गया बम्बई प्रेसिडेन्सी कृषि-प्रदर्शन (१९२६) एशिया में उस समय तक किये गए प्रदर्शनों में सबसे बड़ा था। इन महान् प्रदर्शनों को यथा सम्भव जल्दी-जल्दी करना चाहिए, परन्तु इनके अतिरिक्त जिलों और तालुकों के लिए भी छोटे-छोटे प्रदर्शनों का संगठन अवश्य करना चाहिए, ताकि स्थानीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप विभिन्नताओं का ज्ञान हो सके और प्रदर्शनों से प्राप्त शिक्षा देश के कोने-कोने में पहुँचाई जा सके।

इस प्रकार कृषि-विभाग विभिन्न दिशाओं में उपयोगी काम करते हुए अनुभव और ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं; फिर भी सुधारों की प्रगति बहुत धीमी रही है। यह अंशतः सरकारी कामों में बहुत ज्यादा कागज़ी कार्यवाही का परिणाम है। अन्य विभागों की अपेक्षा कृषि-विभाग को इस प्रकार की शिथिलता का शीघ्र परित्याग करना चाहिए। धीमी प्रगति के अपेक्षाकृत मुख्य कारण किसानों के पास पूँजी की कमी, सिचाई की अपर्याप्त सुविधाएँ और जनता की रूढ़िवादिता तथा अज्ञान हैं। इनके अतिरिक्त कृषि-विभागों को दिया गया अपर्याप्त धन भी एक कारण है। १९३९-४० में केन्द्रीय और राज्यीय कृषि-विभागों का कुल व्यय ३ करोड़ से भी कम था। यह २१४ करोड़ के सम्पूर्ण व्यय की तुलना में बहुत कम है, जिसका अभिप्राय यह है कि देश के सबसे प्रधान उद्योग पर देश की आय का नगण्य प्रतिशत ख़र्च किया जाता है। अमेरिका और जापान जैसे देशों में कृषि-सुधार पर किये गए उदार व्ययों की तुलना से इस सम्बन्ध मे हमारे देश के व्यय की विपरीतता अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। १९३९ में युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व आय-व्ययक की स्थिति में सुधार, वायसराय लिनलिथगो तथा (१९३९ में त्यागपत्र देने से पहले) राज्यों को कांग्रेस सरकार के कृषि-मन्त्रियों द्वारा कृषि-सम्बन्धी विषयों में प्रदर्शित किये गए उत्साह तथा युद्ध-जनित नवीन कृषि-समस्याओं की कठिनाई और खाद्यान्नों की कमी ने कृषि-विभागों में नवीन तथा अभूतपूर्व स्फूर्ति और क्रियाशीलता उत्पन्न कर दी।

४. राज्य-सहायता की दूसरी मदें—राज्य-सहायता की अन्य मदों का संक्षिप्त पुनरावलोकन इस प्रकार किया जा सकता है :

(१) भूमि सम्बन्धी नीति—इस सम्बन्ध में निम्न विशेषताएँ दृष्टव्य हैं—कृषकों के भूमिगत अधिकारों की सुरक्षा तथा विशेष अधिनियमों द्वारा जमींदारी और इधर हाल मे अन्य क्षेत्रों के कृषकों की सुरक्षा (देखिए अध्याय १२)। सरकार द्वारा किसानों को दिये गए अन्य विशेषाधिकारों में हस्तान्तरण की स्वतन्त्रता का नाम लिया जा सकता है। यह सुविधा, जैसा हम देख चुके है केवल वरदान ही नही सिद्ध हुई, अतएव एक विशेष कानून द्वारा इस पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। भू-राजस्व-नीति की समीक्षा एक अन्य अध्याय में की जायगी। सरकार द्वारा सिचाई के साधनों के निर्माण

तथा किसानों को अपनी भूमि में स्वयं स्थायी सुधार करने के लिए तकावी[1] के रूप में दी गई सरकारी सहायता का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं।

(२) शुल्क—शुल्क के प्रयोग के एक पहलू—खाद्यान्न, कच्चे माल तथा खाद पर निर्यात-कर के प्रभाव—पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं और इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रस्तावों का भारतीय कृषि-समृद्धि पर प्रभाव पर्याप्त रूप से स्पष्ट किया जा चुका है। आस्ट्रेलिया के गेहूँ की प्रतिस्पर्धा के कारण १९३९-४५ के पूर्व आयात-कर का प्रश्न किंचित् महत्त्वपूर्ण हो उठा। सन् १९३१ का गेहूँ आयात-कर कानून गेहूँ के उत्पादकों को सहायता देने के लिए था तथा बाद के वर्षों में इसे पुनः लागू किया गया। भारतीय चीनी उद्योग का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसकी समीक्षा पहले ही जा चुकी है। तटकर मण्डल की सिफारिशों पर सन् १९३२ में चीनी पर लगाया गया संरक्षण-आयात-कर परिष्कृत चीनी-उद्योग के राष्ट्रीय महत्त्व को देखते हुए न्यायोचित है। चावल के भारतीय उत्पादकों को भी सस्ते टूटे चावल की आयात की प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए १९३५ में आयात-कर लगाना पड़ा। वर्तमान खाद्याभाव ने समस्या का रूप ही परिवर्तित कर दिया है; कम करने के विपरीत आज भारत किसी भी मूल्य पर खाद्यान्नों का आयात करने के लिए इच्छुक है।[2]

वित्त-सम्भार सहकारिता और विपणन के क्षेत्र में सरकार द्वारा किये गए कार्यों का विस्तृत विवेचन पिछले अध्यायों में हो चुका है।

४. कृषि-शिक्षा—कृषि-कुशलता से सम्बन्धित ग्रामीण शिक्षा को निर्धारित करने वाले सिद्धान्तों की ओर संकेत किया जा चुका है। अब केवल राज्य द्वारा संचालित शिक्षण-तन्त्र का विवरण देना शेष है।[3]

---

१. स्वतन्त्रता के बाद तकावी के रूप में दी जाने वाली रकम काफी बढ़ गई है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश के आँकड़े देखिए :

	१९४७-४८	१९५०-५१	१९५१-५२	१९५२-५३ (लाख रुपयों में)
उत्तरप्रदेश	८२.७८	२९८.३७	३८९.९३	४८०.९७।
मध्यप्रदेश	११९.४०	२२५.०४	२४०.०६	२८७.०९

तकावी के दोषों की चर्चा अध्याय ९ में की जा चुकी है। कुछ राज्यों में, जैसे मध्यप्रदेश में, इसके दोषों को दूर करने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं जिनकी चर्चा अध्याय ९ की पाद-टिप्पणियों में की जा चुकी है।—अनुवादक

२. यह कथन कुछ वर्ष पूर्व की परिस्थितियों के सम्बन्ध में है अन्यथा वर्तमान समय में खाद्यान्न का आयात घट रहा है तथा आयात पर निर्भरता भी समाप्तप्राय है। नीचे दिये हुए आंकड़े इस प्रवृत्ति को स्पष्ट कर रहे हैं :

वर्ष	आयात की मात्रा (दस लाख टन में)	आयात में कमी (दस लाख टन में)
१९५१	४.७	...
१९५२	३.९	०.८
१९५३	२.०	१.९

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उत्पादन की वृद्धि के परिणामस्वरूप यह सम्भव हुआ है। भारत की वर्तमान खाद्य-नीति खाद्य-पदार्थों के सम्बन्ध में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने की है।—अनुवादक

३. भारत में प्रचलित ग्रामीण शिक्षा के विस्तृत विवरण के लिए कृषि आयोग रिपोर्ट, साक्ष्य विवरण, खण्ड १, पृ० ११४-१८ देखिए। भारत सरकार के शिक्षण कमिश्नर जे० ए० रिचे का स्मृतिपत्र; रिपोर्ट, अध्याय १५, एग्रीकल्चर एण्ड एनिमल हसबैंडरी इन इंडिया (१९३७-३८), पृ० २४२-५३।

(१) कृषि-कॉलेज—इस समय विभिन्न राज्यों के निम्न स्थानों—पूना, कोयम्बटूर, कानपुर, नागपुर, बपाटला और लायलपुर—में ६ कालेज स्थापित हैं।[१] निकट भविष्य में देश के विभिन्न भागों में और कॉलेजों के खुलने की सम्भावना है। ये कॉलेज, कृषि-विभागों के लिए अधिकारियों के प्रशिक्षण तथा उन व्यक्तियों को, जो मालिक या एजेण्ट के रूप में कृषि-कार्य कर रहे हैं या करने के इच्छुक हैं, आधुनिक पद्धतियों की शिक्षा देने के उद्देश्य से स्थापित किये गए हैं। इसके अलावा वे अपने राज्यों के कृषि-सम्बन्धी वैज्ञानिक अनुसन्धान-केन्द्र भी हैं। स्नातक-पत्र (डिग्री) के सम्पूर्ण पाठ्य-क्रम के अतिरिक्त इन कॉलेजों में एक या दो साल के उपाधि-पत्र (डिप्लोमा) के पाठ्य-क्रम भी हैं। ये पाठ्य-क्रम अधिकतर कृषि करने वालों ही के लिए हैं, लेकिन साथ ही, सहायक कृषि-नौकरियों की भरती के लिए उपयुक्त भी हैं। कृषि-सम्बन्धी स्नातकोत्तर प्रशिक्षण का प्रबन्ध भारतीय कृषि-अनुसंधान विद्यालय (इण्डियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) नई दिल्ली में है।

(२) कृषि मिडल स्कूल—कृषि के व्यावसायिक मिडल स्कूल किसानों के लड़कों के विशेष प्रशिक्षण के निमित्त हैं। ये वास्तव में औद्योगिक या शिल्प पाठशालाएँ हैं जिनमें कृषि-सम्बन्धी व्यावहारिक शिक्षा देने के लिए, साधारण शिक्षा प्राप्त करने के बाद, तेरह साल की अवस्था से अधिक के विद्यार्थी भरती किये जाते हैं। शिक्षा स्थानीय भारतीय भाषाओं के माध्यम से दी जाती है। यद्यपि इनका उद्देश्य विद्यार्थियों को पुनः अपनी खेती पर भेज देने का है ताकि वे प्रशिक्षण का उपयोग अच्छी खेती के लिए कर सकें, किन्तु आशंका है कि इस उद्देश्य की पूर्ति साधारणतया नहीं हो रही है। अन्य शिकायतें भी हैं कि किसान अपने बच्चों को स्कूलों में भरती कराने में उत्साह प्रदर्शित नहीं करते तथा शिक्षा-पद्धति काफी खरचीली है। साथ ही यह शिक्षा-पद्धति का प्राकृतिक विकास न होकर कृत्रिम विकास-सा लगता है, यद्यपि बम्बई सरकार का दावा है कि वहाँ ये स्कूल सफल हुए हैं।

(३) सामान्य पाठ्य-क्रम में एक विषय के रूप में कृषि का स्थान—कृषि सम्बन्धी व्यावहारिक शिक्षा किसी भी प्रारम्भिक पाठशाला में नहीं दी जाती। ये साधारण प्रकृति-अध्ययन ही से सन्तुष्ट रहते हैं जो कि ग्राम्य जीवन में रुचि उत्पन्न करने में सहायक होता है। कृषि तथा ग्राम्य जीवन में रुझान उत्पन्न करने वाली पाठशालाओं का महत्त्व शिक्षा-पद्धति को ग्रामीण जीवन की आवश्यकताओं से सम्बद्ध करने वाले उपायों के रूप में अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा है। पंजाब और उत्तरप्रदेश में तो अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए निश्चित कदम उठाये गए हैं। इसी प्रकार हाल ही में बम्बई की पाठशालाओं में कृषि-सम्बन्धी कक्षाओं का प्रारम्भ किया गया। कहा जाता है कि शिक्षा के उपरान्त अधिकांश विद्यार्थियों ने अपने गाँवों में कृषि प्रारम्भ की है। इसके अलावा इन पाठशालाओं का प्रसार-कार्य प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी के कारण भी बाधित हो रहा है।

अन्य राज्यों की तरह कृषि-मिडल स्कूल खोलने के बजाय पंजाब ने वर्ना-

१. १९५४ में कृषि सम्बन्धी उच्चतर अध्ययन के लिए १३ से अधिक विद्यालय हैं।—अनुवादक

क्युलर मिडल स्कूलों में ही कृषि की व्यावहारिक शिक्षा देना प्रारम्भ किया है। यह इस बात को ध्यान में रखकर किया गया है कि अध्ययन में कृषि विषय लेने वाले विद्यार्थी यदि आगे पढ़ना चाहें तो उनकी हानि न हो। कृषि-शिक्षा देने वाली पाठशालाओं के साथ कृषि-फार्म (क्षेत्र) भी जुड़े होते हैं। इसमें काफी सफलता प्राप्त हुई है और सम्पूर्ण पद्धति शीघ्र ही अन्य राज्यों द्वारा अपनाई जाने वाली है। कृषि-आयोग ने, असमानुपातिक व्यय के आधार पर बम्बई की पाठशालाओं के प्रति काफी विरोध प्रकट किया तथा मिडल स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा को ग्रामीण वातावरण से सम्बन्धित करने की समस्या के हल के रूप में पंजाब के स्कूलों को बहुत पसन्द किया। उन्होंने आशा प्रकट की कि ये पाठशालाएँ गाँवों में सच्चे केन्द्रों का रूप ग्रहण करेंगी। जहाँ तक हाईस्कूलों का प्रश्न है, आयोग ने पाठ्यक्रम में कृषि सम्बन्धी उच्चतर अध्ययन रखने का सुझाव पेश किया। १९३९-४० में बम्बई के सितारा, बीजापुर, गोधरा के तीन हाई-स्कूलों में कृषि-कक्षाएँ प्रारम्भ की गईं। कृषकों के लाभ के लिए कृषि के विभिन्न पहलुओं, जैसे, मुर्गीपालन, उद्यानविद्या आदि से सम्बन्धित विशेष प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध किया जाता है, जो राज्य में अधिकाधिक लोकप्रिय सिद्ध हो रहा है।[1]

शिक्षा को वर्धा-योजना के अनुरूप बनाने से देश की कृषि-शिक्षा पर भी महत्त्व-पूर्ण प्रभाव पड़ने की सम्भावना है (दे० पीछे अध्याय ८, सेक्शन २)।

ऊपर दिये गए विवरण से स्पष्ट है कि यद्यपि सरकार ने देश के कृषि-सुधार में कुछ काम किया है, परन्तु अभी वह और कर सकती है। शिक्षित वर्ग ने अभी पूरी तौर से कृषि के महत्त्व की सराहना नहीं की है। अभी तक समाज-सेवकों ने भी अपना ध्यान विशेष रूप से नगरों और उनकी समस्याओं पर ही केन्द्रित किया है। कुछ संस्थाओं, जैसे 'सर्वेंट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' द्वारा पिछड़े ग्राम-क्षेत्रों में प्रारम्भ किये गए कार्य काफी आशाप्रद हैं। किन्तु इन्हें और बड़े पैमाने पर संचालित करने की आवश्यकता है। स्थायित्व तथा निरन्तरता के दृष्टिकोण से वैयक्तिक प्रयत्नों की अपेक्षा सुसंगठित समितियों द्वारा किये गए प्रयत्न अधिक सराहनीय हैं।[2] कृषि-विद्यालयों को छोड़कर प्रायः सभी विश्वविद्यालयों ने कृषि-अर्थशास्त्र के अध्ययन की उपेक्षा की है। जैसा कि कृषि-आयोग ने संकेत किया था, दो दिशाओं में विश्वविद्यालय अपने को लाभकारी सिद्ध कर सकते हैं : प्रथम, औद्योगिक विषयों, जैसे सामाजिक दशाओं के आर्थिक सर्वेक्षण के सम्बन्ध में और दूसरे, ग्रामीण जन-समूह में नेतृत्व और सेवा की भावना जगाने में।[3]

६. ग्रामोद्धार : गुड़गाँव का प्रयोग—कृषि-आयोग ने ठीक ही कहा है कि जब तक किसान में स्वयं अपने रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने की भावना तथा सुविचारित अधिनियमों, सुशासन, और विज्ञान द्वारा प्राप्त अवसरों से लाभ उठाने की मानसिक और शारीरिक क्षमता न हो तब तक कृषि में कोई महत्त्वपूर्ण सुधार सम्भव नहीं। कृषि को समृद्ध बनाने वाले साधनों में सबसे महत्त्वपूर्ण किसान का मानसिक

१. कृषि-विभाग, बम्बई की वार्षिक रिपर्ट (१९३९-४०), पैरा ७५-६।
२. कृषि आयोग की रिपोर्ट, पैरा, ४२५।
३. वही, पैरा ४२६।

दृष्टिकोण है। गाँवों की दशा को सुधारने के लिए सुविचारित और संयुक्त प्रयत्नों द्वारा ही उच्चतर जीवन-स्तर की माँग को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसको प्रारम्भ करने की जिम्मेदारी सरकार पर है। आवश्यकता इस बात की है कि वे विभाग, जिनके कामों का ग्रामीणों के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, संगठित रूप से लगातार प्रयत्न करें।[1] इसमें जन-साधारण की सहानुभूति, रुचि एवं क्रियात्मक सहायता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। जो लोग ग्रामीणों के जीवन का नेतृत्व कर रहे हैं उनको अपनी पूरी शक्ति इस पहलू पर लगानी चाहिए कि कैसे वे सम्मिलित प्रयत्नों से ग्रामीणों को अधिक-से-अधिक सुविधा पहुँचा सकते हैं। गाँव तथा उसके आसपास की परिस्थितियाँ सुधारने के लिए मिल-जुलकर काम करने की पुरातन परम्परा को फिर से जीवित करने के लिए सुलझे हुए नेतृत्व की आवश्यकता है। ऐसा करने का एक तरीका यह भी है कि गाँवों में काम करने वाले हज़ारों पटवारी और पटेल जैसे पदाधिकारियों को ग्राम-सुधार के आदर्शों से अनुप्राणित कर दिया जाय। एक दूसरा तरीका एफ० एल० ब्रेन द्वारा पंजाब के गुड़गाँव जिले में प्रारम्भ की गई ग्राम-पथ-प्रदर्शकों की योजना है। इसमें निहित अभिप्राय यह है कि ग्रामीणों को चकित करने वाली विभिन्न एजेन्सियों के स्थान पर एक निश्चित विश्वसनीय व्यक्ति मिल जायगा जिससे वे सहायता की आशा कर सकते हैं। वह एक माध्यम का भी कार्य करेगा जिसके द्वारा विभिन्न विभागों के विशेषज्ञों के परामर्श गाँववालों तक सरलता से पहुँच सकें।

किन्तु निष्क्रिय होने से बचाने के लिए ग्राम-पथ-प्रदर्शकों को सदैव नये विचारों से प्रेरणा देने और उनके कार्यों की प्रशंसा तथा प्रोत्साहन की आवश्यकता होगी। इसीलिए गुड़गाँव-ग्रामोद्धार-योजना में "एक केन्द्रीय प्रेरक-शक्ति प्रदान करने की कोशिश की गई ताकि सामुदायिक-भावना का विकास एवं उत्साह-संवर्धन हो सके तथा गाँवों में काम करने वालों को योजना सफल बनाने के लिए उपयुक्त सामग्री मिल सके।"

अपने "रस्टिकर लॉक्विटर" में श्री (अब सर माल्कम) डार्लिंग ने गुड़गाँव योजना में मि० ब्रेन द्वारा किये गए कार्य की सहानुभूतिपूर्ण शब्दों में कठोर आलोचना की।[2] गुड़गाँव का प्रयोग इस अर्थ में नया था कि "तब तक भारत के किसी हिस्से में इतने विस्तृत क्षेत्र और इतने गहन रूप से ग्राम-सुधार का न तो प्रचार किया गया था और न ग्राम-सुधार के संयोग में अधिकारियों के प्रभाव का इतना उपयोग किया गया था।" ऐसा विश्वास था कि यह अन्यत्र होने वाले इस प्रकार के प्रयत्नों के लिए नमूने का काम करेगा। किन्तु दुर्भाग्यवश, योजना अपने प्रवर्तक की आशाओं के अनुसार फल-फूल न सकी। असफलता का प्रधान कारण यह था कि छोटे-मोटे सभी पहलुओं पर पूरा विचार किये बिना ही एक अनिच्छुक और विनम्र ग्रामीण समाज पर यह योजना लाद दी गई;

१. वही, पैरा ४२३, मि० ब्रेन ने गुड़गांव के प्रयोग और ग्रामोद्धार के तरीके का वर्णन अपनी निम्न पुस्तकों में किया है : विलेज अपलिफ्ट इन इण्डिया (१९२७), रिमेकिंग ऑफ विलेज इण्डिया (१९२९), सॉक्रेट्स इन एन इन्डियन विलेज (१९२९), सॉक्रेट्स परसिस्ट्स इन इन्डिया (१९३२) और बैटर विलेजिज (तृतीय संस्करण, १९४५)।

२. डार्लिंग, रस्टीकस लॉक्विटर, पृ० १२१-८, १५५-९ डी०। स्पेन्सर हैच की 'अप फ्रॉम पॉवर्टी, अध्याय १ और पैस्सिम भी देखें।

ग्राम-पथ-प्रदर्शकों का चुनाव शीघ्रता से किया गया तथा उनका प्रशिक्षण और उनका निरीक्षण भी अपर्याप्त था। अपनी अल्प-वयस्कता और अज्ञानता के कारण भी वे गाँवों में न तो उचित आदर ही पा सके और न प्रभाव ही स्थापित कर सके। हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि स्थानीय परिस्थितियों की विभिन्नताओं पर भी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया। बात यह थी कि मि० ब्रेन शीघ्रतापूर्वक कोई बड़ा फल प्राप्त करना चाहते थे। अपने डिप्टी कमिश्नर पद की अल्पकालावधि में ही वे गाँवों की युगों की गन्दगी को सदा के लिए दूर करना चाहते थे तथा जिले और दुनिया को कुछ पूरा किया हुआ काम दिखाने के लिए तत्पर थे। परिणाम यह हुआ कि जिन गाँवों में सुधार लागू किये गए उनकी परिस्थितियों का केवल ऊपरी और अधूरा अध्ययन ही संभव हो सका। योजना की आंशिक असफलता का कारण यह भी था कि प्रचार अत्यधिक किन्तु अनियमित था और वास्तविक शिक्षा कम दी जा सकी।

गुड़गाव के प्रयोग से निम्न परिणामों की पुष्टि हुई : (१) किसी प्रकार के परिवर्तन करने के पूर्व यह देखना होगा कि वे कहाँ तक व्यावहारिक एवं उपयोगी हैं। जिन आधारों पर उनका विरोध किया जा सकता है, उन पर भी अच्छी तरह निष्पक्ष रूप से विचार कर लेना चाहिए। (२) वैयक्तिक प्रयत्नों से गाँवों के सुधार की समस्या नहीं हल हो सकती। दीर्घावधि तक स्थायी नीति का अनुसरण करने के लिए स्थायी संगठन आवश्यक हैं। इससे हर प्रकार के विचारों को सुनने का अवसर मिलेगा और अनुचित जल्दबाजी भी न होगी। इस सम्बन्ध में उत्तरप्रदेश के रायबरेली जिले के ग्रामीण क्षेत्र का, जहाँ ग्रामोद्धार के लिए गाँव और जिला समितियाँ बनाई गई हैं, उदाहरण काफी शिक्षाप्रद है। मनुष्यों द्वारा बनाई गई किसी भी निर्माण-योजना में गलतियाँ होना अवश्यम्भावी है (सेक्शन ७ भी देखिए)। किन्तु उत्साही व्यक्तियों की अपेक्षा संस्थाओं से कम गलतियां होंगी। (३) छिपे या खुले रूप में बल-प्रयोग की अपेक्षा जहाँ तक संभव हो शिक्षा एवं प्रोत्साहन से काम लेना चाहिए। लेकिन इतना ध्यान रखना चाहिए कि कभी-कभी अल्पसंख्यक दुराग्रहियों के विरोध को दूर करने के लिए बल-प्रयोग आवश्यक भी हो सकता है। (४) ब्रेन द्वारा अपनाये गए तरीकों की डार्लिंग द्वारा की गई आलोचना मूलतः उचित है। लेकिन इससे साधारण पाठक के मन में यह विचार उठ सकता है कि इस समय केवल शिक्षा देने का ही प्रयत्न सफलतापूर्वक किया जाय और बाकी बातों के लिए गाँव को अपने-आप पर छोड़ देना चाहिए। किन्तु इस कथन में निर्विरोध करने देने के सिद्धान्त की प्रमुखता दिखलाई देती है। भारतीय ग्राम-सुधार का प्रश्न इतना अनिवार्य है कि इस प्रकार के निष्क्रिय तरीकों से लाभ न होगा। यदि उचित मात्रा और समय में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रगति करने की इच्छा है तो एक निश्चित और सुनियोजित कार्यक्रम का आग्रहपूर्वक अनुसरण करना होगा।

७. ग्राम-सुधार की आधुनिक योजनाएँ—पिछले कुछ वर्षों से ग्रामोद्धार में पर्याप्त उत्साह दिखाया जा रहा है। १९३५-३६ में ग्रामों की आर्थिक और विकास-योजनाओं पर व्यय करने के लिए सरकार ने १ करोड़ के अनुदान को विभिन्न राज्यों में वितरित किया। इससे योजना को पहली बार निश्चित प्रोत्साहन मिला। विभिन्न राज्यों में

किये गए ग्रामोन्नति कार्यों का उद्देश्य गाँवों के संचार-साधन, सफाई, आमोद-प्रमोद, औषधि सहायता, ग्रामोद्योग तथा अन्य कृषि-सम्बन्धी सुधार करना है (राज्यों में लोकप्रिय मन्त्रिमण्डलों की स्थापना से इसे बहुत प्रोत्साहन मिला)। कुछ चुने हुए क्षेत्रों में ठोस कार्य के लिए ग्राम-पुनर्निर्माण-केन्द्रों का संगठन किया गया है। इनमें से कुछ ने जनता को सामाजिक एवं नैतिक सुधार और गाँवों को उन्नति की दिशा में अग्रसर करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है तथा ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामोद्धार का पथ-प्रदर्शन किया है। शिक्षा-संस्थाओं और सहकारी संगठनों और मानव-प्रेमियों द्वारा भी काफी लाभप्रद कार्य हुआ है। गैर-सरकारी और सरकारी व्यक्तियों के संयोग से निर्मित ग्राम-विकास या ग्रामोद्धार परिषदों द्वारा ग्राम-विकास के कार्य को समन्वित (संयोजित) करने की बात हम पहले कह आए हैं। कुछ क्षेत्रों में ग्राम-विकास अफसरों की नियुक्ति हुई है।[1]

ग्रामोद्धार संगठन और पुनर्निर्माण के कार्य को स्पष्ट करने के लिए बम्बई राज्य में की गई दो योजनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। पहली योजना सर फ्रेडरिक साइक्स ने अपने राज्यपाल-काल के अन्तिम वर्ष (१९३३) में प्रारम्भ की। ग्रामोद्धार का एक कार्यक्रम जारी किया गया, जिसमें इस बात का निर्देश किया गया कि किन आधारों पर सरकारी तथा गैर-सरकारी व्यक्तियों का यह संगठन राज्य के विभिन्न कमिश्नरियों, जिलों और तालुकों में स्थापित किया जायगा।[2] विभिन्न विभाग और एजेन्सियाँ एक संगठन में संयुक्त की जाने वाली थीं, ताकि उनमें नवीन प्राण-शक्ति का संचार किया जा सके। बम्बई की इस नवीन योजना को कार्यान्वित करने के लिए मुख्य संस्था 'जिला ग्रामोद्धार समिति' थी, जिसका सभापति जिलाधीश और उप-सभापति स्थानीय जिला-बोर्ड का अध्यक्ष था। विभिन्न विभागों के पुराने स्थानीय अधिकारियों और प्रमुख ग़ैर-सरकारी व्यक्तियों को भी समिति में स्थान दिया गया। समिति का कार्य ग्राम-सुधार की विभिन्न शाखाओं, जैसे शिक्षा, कृषि, गृह-निर्माण, कुटीर उद्योग, स्वास्थ्य, मुकदमेबाजी और कर्ज इत्यादि के कामों को संयोजित और नियन्त्रित करना था। यद्यपि यह योजना केन्द्रीय प्रदेश (सेन्ट्रल डिवीजन) में काफी सफल हुई, किन्तु पूरे समय तक काम करने वाले ग्राम-विकास अधिकारी और समुचित धन के अभाव में इनके काम में काफी बाधा पहुँची।

फरवरी, सन् १९३९ में वित्त-मंत्री श्री ए० वी० लाथे ने अपने आय-व्यय (बजट) भाषण में ग्राम-विकास एवं पुनर्निर्माण की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की। सहकारी विभाग के गाँव की समस्याओं के निकट सम्बन्ध को ध्यान में रखकर बम्बई-सरकार ने नव-निर्मित ग्राम-विकास विभाग को सहकारी विभाग से जोड़ देने का निश्चय किया और इसे सहकारी-समितियों के रजिस्ट्रार के अन्तर्गत रखा, जिसे ग्राम-विकास संचालक भी कहा जाता था। विभिन्न विभागों के काम को संयोजित करने के विचार से सम्बन्धित विभागों के क्षेत्र-कर्मचारियों (फील्ड स्टाफ) का

१. रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेण्ट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ० ८६-८७।

२. बाद में वह एक सरकारी पुस्तक 'मैन्युअल ऑफ विलेज इम्प्रूवमेण्ट' के रूप में प्रकाशित हुई।

संयुक्त सरकारी और ग्राम-विकास-विभाग में तबादला कर दिया। लेकिन बाद के अनुभव पर सरकार ने फिर दोनों विभागों को पृथक्-पृथक् कर दिया। अब दोनों विभागों का संयोजन जिलाधीश करता है, जो अधीनस्थ ग्राम-विकास के अधिकारियों के नियन्त्रण के लिए उत्तरदायी है। ग्राम-विकास योजना में प्रचार-कार्य करने वाला जिले का कर्मचारी वर्ग राजस्व, कृषि और सहकारी विभाग में बाँट दिया गया। कृषि-विभाग के विशेषज्ञ अधिकारियों का पुनः उनके विभाग में तबादला कर दिया गया। लेकिन विपणन अधिकारी-वर्ग प्रधान विपणन अधिकारी, चार सहायक विपणन अधिकारी, दस विपणन-निरीक्षक, जिनकी नियुक्ति 'कृषि-उत्पत्ति-विपणन अधिनियम (एग्रीकल्चर प्रोड्यूस मार्केट्स एक्ट) १६३६ के अन्तर्गत नये नियमित बाजारों को सुचारु रूप से चलाने के विचार से की गई थी, सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार के अन्तर्गत ही रहे। यद्यपि उसे अब भी सहकारी समितियों का रजिस्ट्रार और ग्राम-विकास-संचालक कहा जाता है, किन्तु १६४१ के पुनर्संगठित योजना के अनुसार वह अब ग्राम-विकास के लिए उत्तरदायी नहीं है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, ग्राम-विकास के लिए उच्च राजस्व अधिकारी उत्तरदायी हैं। ग्राम-सुधार कार्य के विभिन्न विभागों के संयोजन का कार्य काफी सफल कहा जा सकता है। वन, पुलिस और आबकारी विभाग ने भी इसमें रुचि प्रदर्शित की है।

१६३६ से निर्मित ग्राम-विकास परिषदों द्वारा ग्राम-विकास-विभाग का काम हो रहा हे। इन परिषदों के संशोधित विधान के अनुसार इनका अध्यक्ष ज़िलाधीश होता है तथा विभिन्न विभागों के अधिकारी पदेन सदस्य होते है। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा नामज़द किये हुए या जिला ग्राम-विकास-परिषद के नियमों के अन्तर्गत निर्वाचित और बहुत से सदस्य होते है। प्रबन्ध-कार्य एक कार्यकारिणी समिति के सुपुर्द है जिसका अध्यक्ष जिलाधीश होता है। अपने-अपने क्षेत्रों में सुधार-कार्य करने के लिए बहुत से जिलों में तालुका और ग्राम-सुधार-समितियाँ होती हैं।[1]

ग्राम-सुधार-विभाग को राज्यीय ग्राम-सुधार परिषद से सहायता मिलती है, जिसमें १६४१ के पुनर्गठन के अनुसार कुछ पदेन सदस्य (जैसे ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित सरकारी विभागों के अध्यक्ष) होते हैं तथा कुछ विभिन्न संस्थाओं, जैसे जिला ग्राम-सुधार-परिषद और सहकारी संगठनों द्वारा चुने गए और कुछ सरकार द्वारा नामज़द होते हैं। ग्राम-सुधार का अधिकारी परामर्शदाता परिषद का सभापति होता है। उसका काम सरकार को ग्राम-सुधार से सम्बन्धित विषयों के सैद्धान्तिक और नीति सम्बन्धी पहलुओं पर सलाह देना है।

प्रचार-कार्य के लिए उचित प्रशिक्षण के बाद गाँवों में ग्राम-सहायक नियुक्त हो रहे हैं ताकि वे गाँवों की बहु-उद्देश्यीय समितियों और पंचायतों के सचिव का काम सँभाल सकें। उचित प्रशिक्षण के लिए राज्य में पाँच केन्द्रों की स्थापना की गई है।

ग्राम-सुधार विभाग ने विविध विषयों से सम्वन्धित अपने विभिन्न कार्यो की रिपोर्ट १६४०-४१ में दी। जैसे भूमि-कटान (erosion) को रोकना, शुष्क-कृषि पद्धति

१. एनुअल एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ द रूरल डिवेलपमेंट डिपार्टमेंट, बम्बई (१६४०-४१), पृ० १-५।

प्रसार, सुधरे औजारों और तरीकों का उपयोग, सुधरे बीजों का वितरण, हानिकारक कीड़ों-मकौड़ों का नियन्त्रण, फसलों की बीमारियाँ, फलों की खेती, पशुओं और मुर्गियो का सुधार, बाजार और विक्रय, प्रदर्शन, सिंचाई की सुविधा और पानी की पूर्ति, अच्छे संचार-साधन, औषधियों द्वारा सहायता, सफाई और शिक्षा—जिसमें शारीरिक प्रशिक्षण और गाँवों के पुस्तकालय भी शामिल हैं—तथा प्रदर्शन और कक्षाएँ। गाँवों में दौरा करने के लिए तीन कमिश्नरियों में तीन गाड़ियाँ भी रखी गईं। हर एक पड़ाव पर छोटे-छोटे प्रदर्शनों का प्रबन्ध किया गया। स्वास्थ्य तथा सफाई की बातें भी बताई गईं।[1]

अन्य राज्यों में भी इसी प्रकार ग्राम-सुधार-कार्य में रुचि प्रदर्शित की जा रही है। उदाहरण के लिए पंजाब, उत्तरप्रदेश-मध्यप्रदेश, मद्रास और बंगाल[2] पंजाब में ग्राम-सुधार की देख-रेख करने के लिए एक ग्राम-सुधार कमिश्नर भी है। विभिन्न राज्यों में ग्राम-पंचायतों की भी स्थापना हो रही है। मैसूर और बड़ौदा में इस काम को आगे बढ़ाने का कुछ प्रयत्न किया गया है। १९३४ के राज्यीय आर्थिक सम्मेलन से ग्राम-सुधार को प्रेरणा मिली। किन्तु जैसा पहले संकेत कर चुके है, सबसे अधिक प्रेरणा उस समय मिली जब भारत सरकार ने १९३५ के आय-व्ययक से गाँवों के आर्थिक विकास और सुधार के लिए १ करोड़ रुपया अलग रख दिया। दूसरे वर्ष जब केन्द्रीय सरकार का अनुदान फिर मिला तो ग्राम-सुधार को एक नवीन स्फूर्ति प्राप्त हुई—विशेषकर स्वास्थ्य सफाई और कृषि के क्षेत्र में। किन्तु केन्द्रीय अनुदानों से ग्राम-सुधार योजनाओं को सफल बनाने के लिए आवश्यक धन के अल्पांश की ही पूर्ति होती है; सम्बन्धित राज्यों को और धन देना चाहिए। जैसा पहले कहा जा चुका है बम्बई राज्य इस विषय में अन्य राज्यों का नेतृत्व कर रहा है और ऐसी आशा है कि निकट भविष्य में महत्त्व-पूर्ण परिणाम सामने आएँगे।[3]

---

१. वही, पृष्ठ, ३७।

२. स्ट्रिकलैण्ड, रूरल वैलफेयर इन इण्डिया, (१९३६); और रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमैण्ट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृष्ठ ८५-८।

३. वर्तमान समय में योजना आयोग ने ग्रामीण आयोजन, भूमि-सुधार और भूमि प्रबन्ध के लिए पंचायतों की सिफारिश की। ग्रामीण विकास और आयोजन के माध्यम के रूप में पंचायतों को लगभग सभी राज्यों ने स्वीकार कर लिया है। लगभग सभी राज्यो में पंचायत-सम्बन्धी कानून बन गए है। पंचायत कानून के अनुसार तीन प्रकार की पंचायतें बताई जा सकती हैं :

क. वे पंचायत कानून, जिनके अन्तर्गत पंचायतों को नगरपालिकाओ के-से कार्य तथा कुछ न्यायिक अधिकार सौंपे गए है;

ख. वे पंचायत कानून जिनमें पंचायतों के ऐच्छिक कार्यों में आर्थिक और विकास कार्य भी सम्मिलित हैं;

ग. वे पंचायत कानून (जैसे, आसाम और सौराष्ट्र) जिनमें आर्थिक और विकास-कार्यों को पंचायतों के अन्य कार्यों के समकक्ष रखा गया है।

इस प्रकार आधुनिक समय में पंचायत ग्राम-विकास का माध्यम है। इन पंचायतों ने विभिन्न राज्यों में तालाब, कुएँ, नहरों और सडकों की मरम्मत, नई सडकें खोलना, गाँव में पानी के निकास को ठीक करना, पुस्तकालय खोलना आदि अनेक काम किये हैं। इनमें इन्हें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई है। पंचायतों की मुख्य कठिनाइयाँ धनाभाव तथा गाँव वालों की उदासीनता है। यदि गाँव वाले इसमें रुचि रखें तो प्रगति अधिक तीव्र हो सकती है।

८. राजकीय-कृषि-आयोग—अप्रैल सन् १९२६ में नियुक्त कृषि-आयोग ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था की विशेष रूप से जाँच करने के लिए नियुक्त पहला आयोग था। इसकी सिफारिशें (१९२८ में इसकी विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित हुई) ग्रामीण हितों के अनेक पहलुओं को स्पर्श करती हैं। उनका वर्णन हम यथास्थान कर आए हैं। आयोग के परिश्रमों से कृषि में फिर से रुचि जाग उठी और उसके महत्त्व की ओर लोगों का ध्यान गया। यह भी लाभ हुआ कि इसने विभिन्न राज्यों में गाँवों की समस्याओं को सुलझाने के लिए किये गए उपचार एक जगह एकत्र कर दिये। इससे पहले राज्य बिना एक-दूसरे की सलाह-सहायता और अनुभव से लाभ उठाए, अपने-अपने अलग रास्तों पर चल रहे थे। रिपोर्ट ने उनके अन्दर एक-दूसरे से सीखने और सहयोग करने की भावना उत्पन्न कर दी।

आयोग की इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने की गति स्पष्टतः बहुत धीमी रही है। आने वाले अनेक वर्षों तक सरकार और जनता के समस्त साधनों को धैर्यपूर्वक प्रयोग में लाना होगा, तभी ग्रामीण भारत अन्धकार की गहन छाया से निकलकर दिन के जगमग प्रकाश में समृद्धिशील तथा मुस्कराता हुआ दिखाई देगा।

९. रिपोर्ट पर सरकार की कार्यवाही : शिमला सम्मेलन—राज्य प्रतिनिधियों (कृषि मन्त्री, कृषि संचालक, सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार आदि) का एक कृषि-सम्मेलन अक्टूबर १९२८ में शिमला में हुआ। उसमें आयोग की विशेष सिफारिशों पर विचार किया गया और विभिन्न राज्यों द्वारा किये गए कार्य का निर्धारण हुआ। आयोग के सुझावों के आर्थिक पक्ष पर, जिसके कारण उनका एक साथ और तुरन्त कार्य-रूप में परिणत होना असम्भव हो रहा था, काफी ज़ोर दिया गया। आयोग की रिपोर्ट ग्राम-पुनर्निर्माण और कृषि-संवर्धन के आधार के रूप में स्वीकार कर ली गई। यह सोचा गया कि जैसे-जैसे परिस्थितियाँ अनुकूल होंगी उन्हें कार्य-रूप में परिणत किया जायगा।[1] केन्द्रीय सरकार द्वारा एक साम्राज्यिक अनुसन्धान परिषद् की

गाँव वालो में अपने सुधार के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए ही सामूहिक विकास केन्द्र तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा केन्द्र खोले गए हैं। सामूहिक विकास केन्द्र सर्वांगीण उन्नति के लिए कोई क्षेत्र चुन लेते हैं और आशा यह की जाती है कि इस क्षेत्र के उन्नतिशील तरीकों का अनुसरण अन्य ग्रामवासी भी करेंगे। इस प्रकार भारतीय ग्राम्य-जीवन सुधरता चला जायगा। सुधार का काम एकदम छोड़ देने से जो कुछ भी किया जाता है, वह व्यर्थ हो जाता है। इसी ध्येय से १९५३ से राष्ट्रीय प्रसार सेवा का सूत्रपात किया गया ताकि सुधार कार्य की निरन्तरता बनी रहे।

ग्राम सुधार के लिए प्रत्येक राज्य में एक विकास-समिति (डिवेलपमेन्ट कमेटी) होती है। इस समिति का अध्यक्ष मुख्य मन्त्री होता है तथा मन्त्री, विकास-आयुक्त (डिवेलपमेन्ट कमिश्नर) होता है। जिले में भी जिला विकास समिति या जिला आयोजन-समिति होती है, जिसका अध्यक्ष जिलाधीश तथा मन्त्री आयोजन अधिकारी (प्लानिंग अफसर) होता है। यह समिति जिले के विकास के लिए उत्तरदायी होती है। इस प्रकार ग्रामीण विकास के लिए बराबर प्रयत्न हो रहा है। एक दृष्टिकोण से सिंचाई और विद्युत् की बड़ी योजनाएँ भी ग्रामोन्नति का उपाय ही हैं, क्योंकि इनसे ग्रामीणों के रहन-सहन के स्तर को उच्च बनाने में काफी सहायता मिलेगी। (राष्ट्रीय प्रसार सेवा और सामूहिक विकास योजना के लिए, अध्याय ८ की पादटिप्पणियाँ भी देखिए)। —अनुवादक

१. हम पहले ही कृषि आयोग द्वारा की गई सिफारिशो की व्याख्या कर चुके हैं और उन पर किये गए

स्थापना और अर्थ-प्रबन्ध की सिफारिश सामान्य अर्थ में स्वीकार कर ली गई ।[1]

१०. भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद्—कृषि आयोग ने ठीक ही कहा है कि देश की खेती का समस्त प्रगति का आधार प्रयोग है। "प्रदर्शन और प्रचार के लिए चाहे कितना भी कार्य-कुशल संगठन क्यों न हो, किन्तु यदि वह अनुसन्धान की पुष्ट आधार-शिलाओं पर आधारित नहीं है तो वह बालू के महल के समान अस्थिर है।" १६२६ में एक अखिल भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद् का निर्माण हुआ और १८६० के समिति-रजिस्ट्रेशन-अधिनियम (रजिस्ट्रेशन ऑफ सोसाइटीज़ एक्ट) के अनुसार उसकी रजिस्ट्री भी हो गई। इससे उसे पर्याप्त आर्थिक आत्म-निर्भरता प्राप्त हो गई। इसका प्रधान काम सारे भारत में कृषि-अनुसन्धान-कार्य को बढ़ाना और उसे संचालित और संयोजित करना है। राज्यीय तथा केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल अनुसन्धान-सम्बन्धी विषयों में पथ-प्रदर्शन के लिए इसका सहारा लेते हैं। उनके द्वारा बनाये गए अनुसंधान कार्यक्रम इसकी स्वीकृति के लिए रखे जाते हैं। कृषि और पशु-चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञान के लिए यह एक निकास-गृह का काम करती है तथा भारत के अनुसन्धान-कार्य के सम्बन्ध में भारत के तथा अन्य देशों के बीच एक कड़ी है। इसे अनुसन्धान करने वालों के प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध करना पड़ता है।[2] यह केन्द्रीय संस्था दो भागों में विभाजित है। पहला प्रशासविक समिति है, जिसका सभापति कृषि-मन्त्री होता है। इसमें राज्यों के कृषि-मन्त्री केन्द्रीय विधान सभा के तीन प्रतिनिधि, वाणिज्यिक हित के दो प्रतिनिधि, परामर्शदायी परिषद् द्वारा चुने हुए दो सदस्य तथा एक स्थायी उपसभापति, जो कि समिति का प्रधान प्रशासकीय अधिकारी होता है, भी सम्मिलित हैं। दूसरा अंग परामर्शदायी परिषद है, जिसका कार्य वैज्ञानिक अनुसन्धानों से सम्बद्ध प्रस्तावों की जाँच करना है। इसका प्रधान प्रशासकीय अधिकारी परिषद् का आधार होता है। इसके सदस्यों में दो स्थायी (पूरे समय काम करने वाले) अधिकारी, एक कृषि-विभाग का, दूसरा पशु-चिकित्सा का, और बहुत-से निर्वाचित एवं मनोनीत (नामज़द) सदस्य—कृषि और पशु-विभाग के प्रधान, विश्वविद्यालयों, भारतीय केन्द्रीय कपास-समिति तथा सरकारी सभाओं के प्रतिनिधि है। गवर्नर-जनरल (गवर्नर-जनरल इन कौन्सिल) को आवश्यकता पड़ने पर परामर्शदात्री तथा शासकीय अंग के लिए अतिरिक्त सदस्यों को मनोनीत या नामज़द करने का अधिकार था। जून १६२६ में कुछ प्रारम्भिक विषयों को तय करने के लिए परिषद् की बैठक हुई और रजिस्ट्रेशन अधिनियम के अनुसार इसकी रजिस्ट्री भी हो गई। परामर्शदात्री परिषद की बैठक साल में दो बार होती है। वैसे तो इसकी कार्यवाही साल भर चलती रहती है, परन्तु इसके कार्य विशेष समितियों द्वारा सम्पादित होते हैं। इस समय भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद् की निम्नलिखित स्थायी समितियाँ काम कर रही हैं—चीनी समिति, चावल समिति, कृत्रिम खाद समिति,

केन्द्रीय और राज्यीय सरकारों के कामों को देख चुके हैं (देखिए अध्याय ८, सेक्शन २४-२५)। आयोग की अन्य सिफारिशों की कृषि से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं की जांच करते समय व्याख्या की गई है।

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पृ० ३-४।

२. मैमोरेण्डम ऑफ़ ऐसोसिएशन ऑफ़ द इम्पीरियल कौंसिल (सोसाइटी) ऑफ़ एग्रीकल्चरल रिसर्च।

टिड्डी समिति, भूमि-विज्ञान समिति, शुष्क-कृषि संयोजन समिति, तेल पेरने के उद्योग से सम्बन्धित समिति, भारतीय कृषि अनुसन्धान और केन्द्रीय कपास की संयुक्त समिति पशुओं के पोषक चारा-सम्बन्धी समिति, डेरी समिति, पशु-प्रजनन समिति, केन्द्रीय चारा और चराई समिति।[1] परामर्श-परिषद् प्रान्तीय सरकारों, विश्वविद्यालयों, गैर-सरकारी संस्थाओं का अनुसन्धान योजनाओं का पुनरावलोकन करके यह निश्चित करती है कि इनमें से किस पर काम किया जाय, प्रत्येक समस्या का कैसे हल किया जाय तथा भारत के किस भाग में उस समस्या पर विशेष कार्य सरलता से किया जा सकता है। मार्च सन् १९४२ से परिषद् ने अपनी कार्य-पद्धति में कतिपय परिवर्तन करने का निश्चय किया। विभिन्न राज्यों के विचारों के निकास-गृह का काम करने के अतिरिक्त यह एक बुद्धि-न्यासी संस्था का भी काम करती है। अब यह स्वयं ही योजनाओं का प्रारम्भ और अनुसन्धान-कार्य का संयोजन करती है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इसने पहली बार फार्म-प्रदर्शनों से आगे बढ़कर कुछ राज्यों में थोड़े-से गाँव चुने और अनुसन्धानों से प्राप्त परिणामों को, विशेषज्ञों की देख-रेख में, स्वयं किसानों से उनके खेतों में लागू कराके परिणामों की परीक्षा करने का अवसर दिया। परामर्श-परिषद् के निर्णय प्रशासकीय अंग की स्वीकृति तथा पूरी परिषद् के विचारों के अधीन रहते हैं। समिति का धन प्रशासक अंग के नियन्त्रण में होता है। शिमला स्थित प्रमुख केन्द्र नये भारतीय कृषि ब्यूरो से संलग्न कर दिया गया है ताकि ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों के अनुसन्धानों को उनके विषय की नवीनतम खोजों के सम्पर्क में रखा जा सके। भारतीय-सभा (इण्डियन सोसाइटी) अर्थात् भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद् ब्यूरो को चलाने के लिए थोड़ा-सा धन देती है तथा उसके नियंत्रक अंग में एक प्रतिनिधि भी होता है। प्रशासक अंग ने अनुसन्धान और हवाले के लिए दिल्ली में एक पुस्तकालय भी खोला है।

परिषद् में पूरे समय तक काम करने वाले प्रमुख अधिकारियों में, उप-सभापति (प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी), सचिव, भारतीय सरकार के कृषि-आयुक्त, कृषि विपणन परामर्शदाता, भारत सरकार के पशु-पालन आयुक्त, कानपुर के चीनी प्रौद्योगिकी (टेक्नालोजी) संस्थान (इंस्टीट्यूट ऑफ शुगर टेक्नालोजी) के संचालक तथा सांख्यिकीवेत्ता (स्टेटिस्टीशियन) इत्यादि प्रमुख हैं।

भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद् जिन समस्याओं पर ध्यान दे रही है उनमें चावल, चीनी प्रौद्योगिकी, गन्ना उत्पादन, फल और शुष्क-कृषि अनुसन्धान, कृषि विपणन, टिड्डी अनुसन्धान, आलू का उत्पादन तथा पशुपालन मुख्य हैं। विश्वविद्यालय के अध्यापक वर्ग को कृषि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान को बढ़ाने के लिए या किसी दूसरे अनुसन्धान के कृषि पहलू का विकास करने के लिए विश्वविद्यालयों को अनुदान दिया जाता है।

भारत-सरकार ने परिषद् के प्रथम ६ वर्षों में कृषि-सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए एक करोड़ से अधिक रुपये दिए। अनुसन्धान-परिषद् को प्रशासकीय अंग के आय-

१. देखिए, एग्रीकल्चरल एण्ड एनिमल हस्बैंडरी इन इण्डिया (१९३७-८), पृ० ८।

व्ययक अनुदान के अतिरिक्त सामान्य अनुसन्धान-कार्य के लिए ५० लाख रु०, विक्रय-केन्द्र और राज्यो मे विक्रय-योजना के लिए २५ लाख रुपये, चीनी-सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए २० लाख रु०, नवीन डेरी अनुसन्धान-सस्थान के लिए ६ लाख रु०, कुल मिला-कर १०१ लाख रुपये दिए। इसके अतिरिक्त सरकार कानपुर के चीनी प्रौद्योगिक संस्थान को पांच वर्षो तक प्रतिवर्ष १४ लाख रुपए देती रही।

भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिपद् की आर्थिक दशा को सुदृढ करने के लिए तथा कृषि के अनुसन्धान-कार्य को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए और अधिक धन की (जो कि भारत सरकार की आर्थिक दशा के उतार-चढाव से अप्रभावित हो) आवश्यकता समझी गई। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृपि-उत्पन्न उन वस्तुओं पर जिन पर पहले कर नही लगता था, ½% निर्यात-कर या उपकर लगा दिया गया (गेहूँ, चावल, फल, मछली, चमडे और बीजों को छोड़कर)। इसकी व्यवस्था कृषि उत्पादन उपकर अधिनियम १९४०[1] (एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस सेस एक्ट) के द्वारा की गई। इतना ध्यान रखना होगा कि परिषद् के कार्यालय, गन्ना-अनुसन्धान और कृषि-विक्रय-सम्बन्धी संगठनो का व्यय केन्द्रीय आय से सम्भाला जायगा।

कृषि-आयोग की सिफारिशों के अनुसार राज्यो मे अनुसन्धान समितियों का निर्माण हुआ। ये भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् के सहयोग मे काम करती है तथा अनुदान के लिए प्रेषित प्रार्थना-पत्रों पर विचार करके अनुसन्धान परिषद् को रिपोर्ट देती है। ये समितियाँ राज्यो मे अनुसन्धान-कार्य को अग्रसर करने मे काफी सफल सिद्ध हुई हैं। अनुसन्धान-परिषद् ने वे उद्देश्य अच्छी तरह पूरे किये जिनको ध्यान मे रखकर इसका निर्माण किया गया था। राज्यीय रिपोर्टो से स्पष्ट प्रकट होता है कि परिषद के अनुदानों ने अनुसन्धान-कार्य को जारी रखने मे पर्याप्त सहायता पहुँचाई। यही नही बल्कि आर्थिक कठिनाइयो के समय राज्यीय प्रयत्नों में योग देकर कमी को पूरा भी किया और अनुसन्धान-कार्य को आगे भी बढाया। यह ठीक है कि अर्थाभाव के कारण यह राजकीय आयोग की सब आशाएँ पूरी न कर सकी।[2]

११. रसेल-राइट जाँच—सन् १९३६-३७ में राजकीय-आयोग की सिफारशों के अनुसार भारतीय कृषि-अनुसंधान परिषद द्वारा किये हुए कामों की सामयिक जाँच करने तथा भविष्य के लिए सुझाव पेश करने के विचार से इंगलैण्ड से दो विशेषज्ञ निमन्त्रित किये गए। इस काम के लिए चुने गए विशेषज्ञ थे रॉथामस्टेड प्रयोग-केन्द्र के संचालक सर जॉन रसेल और हन्नाह डेरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट स्कॉटलैण्ड के संचा-

१. रिव्यू ऑफ द ट्रेड आफ इण्डिया (१९३९-४०), पृ० १०५।

२. सन् १९५१ में भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद का पूर्णतया पुनर्संगठन किया गया ताकि वह अपने दायित्वों को—विशेषकर प्रसार-कार्य में—भली प्रकार पूरा कर सके। सन् १९५२-५३ में परिषद ने लग-भग ३०० योजनाएँ प्रारम्भ की। ४० लाख रुपये नई योजनाओ तथा कुछ पुरानी योजनाओं के प्रसार के लिए निश्चित कर दिये गए। एक महत्त्वपूर्ण योजना जापानी ढंग पर चावल की खेती करना था, जिसका प्रयोग बम्बई राज्य मे किया गया। अब परिषद ने विभिन्न राज्यों के सरकारी फार्मो पर जापानी ढंग की उपयोगिता की परीक्षा करने का प्रबन्ध किया है। गेहूँ, ज्वार, बाजरा आदि के सुधार के लिए भी परिषद प्रयत्नशील है।

लक डॉ० एन० सी० राइट। इनकी रिपोर्टों में अनुसंधान करने वालों और किसानों के बीच की खाई को भरने की पर्याप्त सामग्री है। अन्य सिफ़ारिशें निम्न समस्याओं के हल से सम्बन्धित हैं : हानिकारक कीड़ों को दूर करने के उपाय, शुष्क कृषि-अनुसंधान योजनाएँ, नकद बिकाऊ फसलों का कुशलक्रेताओं और उपभोक्ताओं के सहयोग से उत्पादन, खाद्य फसलों पर आहार-विशेषज्ञों की सहायता से काम करने की आवश्यकता, भूमि की सुरक्षा करने वाली समितियों का निर्माण, फसलों का संरक्षण करने वाली समितियों का निर्माण—जो कि फसल आयोजन सम्मेलन (क्रॉप प्लानिंग कमेटी) के सुझावों के अनुसार फसलों के उगाने-काटने का प्रबन्ध कर सकें—कीड़ों-मकोड़ों और अन्य हानिकारक घासों के नियन्त्रण का प्रबन्ध करना, पशुओं और डेरी से सम्बन्धित विषयों की शिक्षा, अनुसन्धान तथा सलाह इत्यादि सेवाओं का प्रबन्ध। उन गवेषणाओं को फलवती बनाने के लिए जो कि प्रयोगात्मक स्थिति तक पहुँचकर रुक जाती है, यह सिफारिश की गई कि भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद् को और अधिक आर्थिक सहायता दी जाय। जैसा पहले देख चुके हैं, १९४० के कृषि-उत्पादन उपकर अधिनियम ने परिषद के हाथ मे अधिक धन दिया।[1]

१२. अधिक खाद्य-उत्पादन और आयोजित विकास—१९३९-४५ के युद्धकाल में बर्मा से चावल का आयात रुक जाने, सुरक्षा की बढ़ती हुई माँग, सैनिकों की माँग, यातायात के साधनों की अव्यवस्था के कारण उत्पन्न बाजारों की हलचल तथा चावल और गेहूँ का ह्रासमान उत्पादन, इन सबके सामूहिक प्रभाव ने खाद्यान्नों में भारी कमी और मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि कर दी। युद्ध से उत्पन्न भीषण खाद्य-संकट के अतिरिक्त हमें यह स्वीकार करना होगा कि खाद्यान्न में समानुपातिक वृद्धि के अभाव में जनसंख्या बड़ी तीव्र गति से बढ़ रही थी। अतएव इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि समस्त देश के लिए सहकारिता के आधार पर आयोजित कृषि-उत्पादन को हाथ में लिया जाय तथा एक सुविचारित कृषि-नीति को अपनाया जाय। खाद्याभाव को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने छोटे रेशों की कपास के उत्पादकों की अन्य फसलों, विशेषकर खाद्यान्नों को उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहन देने के लिए एक कोष स्थापित किया है।

ऐसा कहा जाता है कि भारत सरकार द्वारा संचालित 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन ने ७,५०,००० टन अधिक खाद्यान्न उत्पन्न किया। १९४५-४६ में इस आन्दोलन के खर्च के लिए २ करोड़ कर्ज और १.७ करोड़ अनुदान दिया गया। इसी योजना के अन्तर्गत ७,००० 'नल-कूप' बनाये गए, ३,००० तालाबों की खुदाई की गई तथा ४,००० और छोटे-मोटे सिंचाई के काम हाथ में लिये गए। शिक्षा, कृषि, खाद्य, सड़क, रेल और उड्डयन आदि से सम्बन्धित अखिल भारतीय योजनाएँ बनाई गई हैं और केन्द्रीय टैक्नीकल शक्ति परिषद (सेण्ट्रल टेक्निकल पॉवर बोर्ड) केन्द्रीय जलपथ, सिंचाई और नौगमन आयोग इत्यादि की स्थापना विकास के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को सुलझाने के लिए हुई है।

१. विशेष विवरण के लिए देखिए, एग्रीकल्चर एण्ड एनीमल हस्बेण्डरी इन इण्डिया (१९३७-३८), पृ० १

अध्याय १२

भू-धृति (पट्टेदारी) तथा भू-राजस्व

१. भारत में भू-राजस्व का ऐतिहासिक सर्वेक्षण[1]—अति प्राचीन काल से भारत में राज्य किसानों से भूमि की उपज का कुछ अंश लेता रहा है। मनु ने अपने नियमों में खलिहान में पडी सम्पूर्ण उत्पत्ति का $\frac{1}{6}$ भाग राज्य का अंश बताया है। युद्ध आदि अन्य संकटकालीन स्थितियों में राज्य का यह अंश $\frac{1}{4}$ तक हो सकता था। समाज की प्रारम्भिक अवस्था मे खलिहान में पड़ी सम्पूर्ण उपज का कुछ भाग राज्य-अंश के रूप में लेने की विधि के अनेक लाभ थे। खेत से काटकर एकत्रित की गई उपज में से ही राज्य का अंश राजा के अधिकारी के सम्मुख निकाल लिया जाता था। स्पष्ट है कि इस प्रकार उत्पत्ति के परिमाण के हिसाब से ही राज्य के भाग में स्वतः ही परिवर्तन हो जाते थे और राज्य द्वारा माफी अथवा छूट देने के लिए किसी विस्तृत प्रणाली की आवश्यकता न थी। साथ ही इस प्रणाली के अवगुण भी प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। जनसंख्या की वृद्धि तथा कृषि-कार्य में विस्तार के साथ उपज के अंश के रूप में भू-राजस्व वसूल करना अत्यधिक कठिन होता गया। जब तक कि बहुत अधिक संख्या में निरीक्षण हेतु अफसर न नियुक्त किये जाते, जिनका मुख्य कार्य उपज में से राज्य के अंश के बटवारे का निरीक्षण होता, तब तक इस बात की पूर्ण सम्भावना थी कि किसान कुछ उपज छिपाकर रख लेते अथवा अन्न लेकर भाग जाते अथवा राज्य की ओर से मालगुजारी वसूल करने वाले स्थानीय कर्मचारी-गण स्वयं अपने लिए ही उपज के कुछ अंश को अलग रखने का प्रयत्न करते, और इस प्रकार राज्य तथा किसान दोनों को हानि उठानी पड़ती। यही नही, उस स्थिति में इस बात की भी सम्भावना थी कि उपज खेत में पड़ी खराब होती रहती, यदि राज्य के अफसर उपज के बँटवारे के निरीक्षण हेतु खेत पर पहुँचने में किसी कारण देर से आते। ऐसी ही अनेक असुविधाओं एवं हानियों के कारण भू-राजस्व (मालगुज़ारी) वसूल करने की किसी अन्य प्रणाली को अपनाने के लिए राज्य को बाध्य होना पड़ा। उदाहरणार्थ, कभी-कभी फसल कटने और तब उपज का वास्तविक परिमाण जाने बिना ही खेत में खड़ी फसल से ही उपज के परिमाण का अनुमान लगा लिया जाता था और राज्य का अंश निश्चित कर दिया जाता था।

१. विशेष विवरण के लिए देखिए, बंगाल भू-राजस्व आयोग की रिपोर्ट (१९४०), खण्ड १, पैरा १३-४०, खण्ड

२, डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी द्वारा लिखित 'भारतीय भूमि-व्यवस्था' पर टिप्पणी।

बाद मे फसल कट जाने के पश्चात् उपज का परिमाण पहले लगाए अनुमान के बराबर भी हो सकता था और नही भी हो सकता था। वसूली की ऐसी और इसी प्रकार की अन्य विधियों के अपनाने के कारण ही धीरे-धीरे मालगुजारी, उपज की बजाय मुद्रा के रूप मे दी जाने लगी। बाद मे मुस्लिम राज्यों के शीघ्र विस्तार ने उपज मे मालगुजारी वसूल करने की पुरानी प्रणाली को उचित एवं सुविधाजनक रीति से कार्य न करने योग्य बना दिया और मालगुजारी अधिकाधिक मुद्रा के रूप मे ही वसूल की जाने लगी।[1]

तैमूर द्वारा की गई व्यवस्था राज्य के अंश को उपज से मुद्रा मे परिवर्तित करने का प्रथम विधिवत् प्रयास है। उसके पश्चात् दूसरा प्रयास शेरशाह ने सन् १५४० से १५४५ के बीच मे किया, किन्तु उसका राज्य-काल थोडा होने के कारण उसके प्रयत्न सफल न हो सके। इस दिशा मे तीसरा और सबसे अधिक प्रसिद्ध बन्दोबस्त अकबर के राज्य-काल मे उसके योग्य वित्त-मन्त्री टोडरमल द्वारा किया गया। सरकार की मालगुजारी निश्चित करने के पूर्व सम्पूर्ण भूमि की विभिन्नताओं का विस्तृत एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परीक्षण किया जाना प्राथमिक कार्य समझा गया, जिससे प्रत्येक भूमि की कर देने की क्षमता का अनुमान लगाया जा सके। समस्त भूमि को बडी सावधानी से नापा गया और उपजाऊपन के विचार से उसे चार भागो में विभाजित किया गया। राज्य का अश, सम्पूर्ण उपज का ⅓ भाग निश्चित किया गया। किसान को यह विकल्प दिया गया कि वह अपनी इच्छानुसार राज्य का अंश चाहे तो नकद मुद्रा मे दे। उपज का मूल्य जानने के लिए यह विधि रखी गई कि इस व्यवस्था से पूर्व के १९ वर्षों के अन्न के औसत भाव से उपज का मूल्य आँका जायगा। बन्दोबस्त की अवधि ९ वर्ष रखी गई।

इस प्रकार मुगल राजाओं ने हिन्दू राजाओं की अति प्राचीन लगान वसूल करने की प्रणालियों में कोई सैद्धान्तिक परिवर्तन नही किया। उन्होंने अब तक की हिन्दू-शासन की मालगुजारी वसूल करने की प्रचलित, किन्तु अलिखित, रीति को एक सम्बद्ध व्यवस्था का रूप दिया। इसके अतिरिक्त उनको इस बात का भी श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होने राज्य के आर्थिक साधनों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकने के उद्देश्य से मालगुजारी-सम्बन्धी खाते एवं अन्य कागजातो को क्रमानुसार रखे जाने की व्यवस्था का प्रारम्भ किया। दक्षिण में मुख्य रूप से अहमदनगर के मलिक अम्बर के सरक्षण में मालगुजारी वसूल करने की प्रणाली निश्चित करने के सम्बन्ध मे ऐसी ही उन्नति हुई। इसने मालगुजारी की दरे निश्चित की जिन्हे स्वतःरूप (ain) दरे कहा गया। उसने सम्पूर्ण उपज के मुद्रा-मूल्य के ⅓ भाग को मालगुजारी निश्चित किया। मराठों ने इन दरो को अपनी व्यवस्था का आधार बनाया। उन्होंने इस दर को 'कमल' की संज्ञा दी, जिसका अर्थ था कि यह सबसे उत्तम भूमि द्वारा देय (मालगुजारी की) अधिकतम दर है। अधिकाश स्थितियों में मालगुजारी का निर्धारण स्थायी रूप से नही किया गया था, किन्तु संयोग से दक्षिण में मालगुजारी वसूल करने की 'मीरास-

१. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ५३।

व्यवस्था [1] स्थायी थी; पट्टेदारी स्थायी तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाली होती थी। उसे एक निश्चित मालगुजारी देनी पड़ती थी, चाहे वह अपनी भूमि में खेती करे अथवा न करे।[2] कुछ दशाओं में अनेक उपकर लगाकर निश्चित मालगुजारी मे और वृद्धि कर दी गई। सम्पूर्ण भारत में जहाँ-जहाँ केन्द्रीय सरकार का प्रभुत्व क्षीण हो गया था, वही मालगुजारी में इस प्रकार की वृद्धि पाई जाने लगी। नियमानुसार निर्धारित मालगुजारी में जो अतिरिक्त उपकर लगाकर वृद्धि की गई, उस वृद्धि का अनुपात सर जॉन शोर की गणना के अनुसार, जैसा कि बंगाल में हुआ, ३३ से ५० प्रतिशत तक था।[3]

मालगुज़ारी और पट्टेदारी के इतिहास की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता राजस्व-कृषि का प्रारम्भ है, जो अनेक राज्यों में स्थानींय भू-धृति के विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। इस प्रकार की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार के ख़ज़ाने में नियमित रूप से आय का प्रवाह बनाए रखने के लिए थी। क्योंकि मुग़ल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में केन्द्रीय सरकार सुदूर राज्यों के सरकारी भू-राजस्व कर्मचारियों पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखने में असमर्थ होती जा रही थी, सन् १७१३ से १७१९ तक शाहंशाह फ़र्रुख़शियर के राज्य-काल में यह पद्धति बंगाल में काफी प्रचलित हो गई। इसके अन्तर्गत (मालगुजारी जमा करने वाला) राजस्व-कृषक अपनी फसल के सम्पूर्ण संग्रह का १/१० भाग सरकार को दे देता था तथा शेष अपने प्रतिफल अथवा वेतन के रूप में रख लेता था। किन्तु धीरे-धीरे यह पद्धति मर्यादा का त्याग करती गई और कुछ समय पश्चात् भ्रष्टाचार की ऐसी अवस्था आ गई जब एक परगना अथवा ज़िले की मालगुज़ारी वसूल करने का अधिकार जनता में नीलाम द्वारा बेचा जाने लगा। जो सबमे ऊँची बोली बोलता था, उसी को यह अधिकार प्रदान किया जाता था। यह व्यक्ति उपरोक्त रीति के अनुसार निश्चित मालगुज़ारी की सम्पूर्ण रक़म एक साथ सरकारी ख़ज़ाने में जमा करने के लिए उत्तरदायी था तथा उस रक़म के अतिरिक्त जो कुछ भी वह संग्रह करता उसे अपने पास रख सकता था। व्यवहार में मालगुज़ारी जमा करने वाले कृषक खेतिहर किसानों से यथासम्भव अधिक धन लेते थे तथा सरकार को यथासम्भव कम धन देते थे। कुछ स्थितियों में मुग़ल शासकों द्वारा युद्धों में अधीन किये गए हिन्दू सेनापतियों और शासकों को शाही आज्ञा-पत्र के अन्तर्गत मालगुज़ारी वसूल करके जमा करने वाला कृषक बना दिया गया। यद्यपि प्रारम्भ में मालगुज़ारी जमा करने वाले कृषक वंश-परम्परागत न होकर सरकारी अफसरों के निरीक्षण के अधीन होते थे, किन्तु जैसे-जैसे केन्द्रीय प्रभुता के नियन्त्रण में ढिलाई हुई, यह कार्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त होने लगा। तत्कालीन राजनीतिक अव्यवस्था के कारण इन मालगुज़ारी जमा करने वाले

---

१. मराठा राज्य में एक सुनिश्चित भू-धृति होती थी जिसे 'उपरी' कहते थे। 'उपरी' सरकार की इच्छानुसार एक काश्तकार होता था जो प्रतिवर्ष अपनी इच्छानुसार खेती करने के उद्देश्य से जितनी अधिक भूमि चाहे ले सकता था, किन्तु उसकी मालगुजारी सरकार जब चाहे बढ़ा भी सकती थी। उसकी मालगुजारी फसल के आधार पर निर्धारित की जाती थी।

२. कीटिङ्ग, 'रूरल इकनामी इन द बॉम्बे डैकन', पृष्ठ ३।

३ 'टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट देखिए।

कृषकों ने अपनी स्थिति शनैः-शनैः काफी पुष्ट एवं ठोस बना ली। ऐसे मालगुज़ारी जमा करने वाले कृषक ने अपने अधिकार के अन्तर्गत अतिरिक्त अन्य बेकार पड़े क्षेत्रफल पर भी खेती करके तथा बाद में समीप के छोटे-छोटे पड़ोसी खेतिहर किसानों की भूमि का उचित-अनुचित प्रकार से क्रय करके उस भूमि पर स्वयं अपना अधिकार दिखलाने की चेष्टा की। इस प्रकार धीरे-धीरे लार्ड कार्नवालिस के समय तक इन कृषकों ने अपनी स्थिति इतनी मज़बूत कर ली कि इनमें तथा भूमि के विधिवत् स्वामियों में कोई अन्तर ही न रह गया। श्री रॉबर्ट्स ने अपनी 'हिस्टॉरीकल ज्योग्रेफी ऑफ इण्डिया' नामक पुस्तक में इनका वर्णन करते हुए लिखा है कि 'ज़मींदारी,[1] जो मौलिक रूप से वंश-परम्परागत मालगुज़ारी वसूल करने का ठेका लेने वाली एजेन्सी थी, अब भू-स्वामी की मल्कीयत के सदृश हो गई थी।' मुग़ल राज्य के अन्तिम दिनों में शासन-प्रबन्ध में आम दुर्व्यवस्था के आ जाने के कारण तथा सरकार की स्थायी आर्थिक कठिनाइयों के कारण मालगुज़ारी जमा करने वाले कृषकों की स्थिति उत्तरोत्तर दृढ़ होती गई, क्योंकि सरकार के समक्ष केवल ये ही ऐसे साधन थे जिन पर वह तत्काल धन-सम्बन्धी आवश्यकताओं के हेतु निर्भर रह सकती थी। भूमि की मालगुज़ारी-सम्बन्धी सरकारी कर्मचारियों का शासन-प्रबन्ध लगभग समाप्त हो चुका था और मालगुज़ारी जमा करने वाले इन कृषकों के कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध एवं नियन्त्रण नहीं था। देश की शासन-व्यवस्था इतनी अधिक पतित हो चुकी थी कि सरकार में न तो इतनी शक्ति ही सन्निहित रह गई थी और न उसकी इच्छा ही रही कि वह इनके द्वारा खेतिहर किसानों पर होने वाले अत्यन्त कठोर, क्रूर, निर्दय तरीकों से की जाने वाली लूट को समाप्त करे।

मालगुज़ारी जमा करने वाली पद्धति पहले मुग़ल साम्राज्य तक और मुख्य रूप से बंगाल राज्य तक ही सीमित रही, किन्तु उपरोक्त कारणों से शीघ्र ही देश के अन्य भागों में भी इसी पद्धति का चलन होने लगा। यहाँ तक कि मराठों ने भी, जिनकी लगान वसूली सम्बन्धी व्यवस्था १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नाना फड़नवीस के शासन-काल में एक स्वर से अपूर्व रूप से निपुण एवं निष्पक्ष मानी जाती थी, नाना फड़नवीस की मृत्यु के कुछ ही पश्चात् अपने अन्तिम पेशवा के अयोग्य शासन में इसी पद्धति को अपना लिया। यहाँ इस बात को जान लेना चाहिए कि यद्यपि यह पद्धति धीरे-धीरे विस्तृत क्षेत्र में फैलने लगी तथापि इसका प्रभाव सब स्थानों पर एक-सा नहीं पड़ा। उत्तरी भारत में, जहाँ बहुत पहले ही यह प्रचलित की गई और जहाँ केन्द्रीय सत्ता की प्रभुता शीघ्र ही क्षीण होने लगी, इस पद्धति का प्रभाव पूर्ण एवं स्थायी हुआ जैसा कि बंगाल के ज़मींदारी अधिकारों के विकास से प्रतीत होता है। अन्य स्थानों में, जैसा कि दक्षिण में हुआ, इस पद्धति के कोई स्थायी प्रभाव न रह सके। केवल कोंकण के सुदूर ज़िलों में खोट लोगों को, जो पहले मालगुज़ारी जमा करने वाले कृषक थे, ज़मींदारी के

१. समस्त मालगुज़ारी जमा करने वाले कृषक—उनके उद्गम के विषय में किसी प्रकार का विचार किये बिना ही—ज़मींदार और कभी-कभी ताल्लुकेदार कहलाते हैं। ज़मींदारी एवं ताल्लुकेदारी स्वयं निश्चित रूप से भूमि-सम्बन्धी स्वामित्व के किसी प्रकार के अधिकारों की प्रतीक न थी।

अधिकार मिल गए। उपरोक्त प्रभावों के मध्यवर्ती प्रभाव उत्तरप्रदेश में हुए जहाँ मालगुज़ारी जमा करने वाले कृषक केवल कुछ भू-स्वामियों जैसे अधिकार प्राप्त करने में सफल हुए। लगभग ऐसा ही पंजाब में भी हुआ। इस प्रकार मालगुज़ारी जमा करने वाली कृषि-प्रथा (राजस्व-कृषि) तथा लगान-वसूली से सम्बन्धित सामान्य दुर्व्यवस्था का मुख्य परिणाम यह हुआ कि भू-धृति एवं भू-अधिकार सम्बन्धी व्यवस्था निरन्तर जटिल एवं पेचीदा होती गई तथा अकबर के दिनों में जिस प्रकार भूमि का नियमित सर्वेक्षण और मालगुज़ारी का निर्धारण होता था, उन सब कार्य-कलापों का अन्त होने लगा। इन सबके परिणामस्वरूप लगान वसूली-सम्बन्धी किसी भी विवेकयुक्त योजना के अभाव में नये ब्रिटिश शासकों को बड़ी कठिनाई का अनुभव करना पड़ा। अतः यह स्वाभाविक ही था कि उनके द्वारा प्रारम्भिक अवस्था में ग़लतियाँ की जातीं और विभिन्न राज्यों के लिए पूर्णरूप से सन्तोषजनक व्यवस्था बनाने में काफ़ी समय लगता।

२. भू-धृति के तीन प्रकार[१]—भू-धृति के विषय में जानने के लिए स्वाभाविक रुचि होने के अतिरिक्त इनका उचित रीति से ज्ञान होना इस दृष्टि से भी आवश्यक है कि इनके पर्याप्त रूप में बोधगम्य होने के अभाव में भारत के विभिन्न राज्यों में प्रचलित सरकारी मालगुजारी-सम्बन्धी व्यवस्था सम्भवतः समझ में न आएगी। उदाहरणार्थ, भू-धृति अर्थात् भूमि जिस रीति से एक व्यक्ति के पास है, यह निश्चित करती है कि कौन व्यक्ति अथवा कई व्यक्ति मिलकर उस भूमि की मालगुजारी देने के लिए उत्तरदायी होंगे। इनका भूमि में क्या हित होगा तथा इनके क्या अधिकार होंगे तथा मालगुजारी निर्धारण करने के हेतु क्या इकाई तथा क्या विधि अपनाई जायगी।

'भारत में भू-धृति के सभी रूप-प्रकार मिलते हैं। यहाँ ऐसी बहुत बड़ी-बड़ी मल्कीयतें हैं, जिनमें हज़ारों काश्तकार हैं और ऐसी भी जमीनें हैं जो आकार में एक एकड़ से भी कम हैं, परन्तु फिर भी इन ज़मीनों को स्पष्टतः अलग-अलग कुछ श्रेणियों में क्रमबद्ध करना सम्भव है।'[२] भारत में भू-धृति के निम्नलिखित तीन मुख्य प्रकार हैं: (१) विभिन्न रूपों में ज़मींदारी प्रथा जिसमें एक व्यक्ति या अधिक-से-अधिक कुछ व्यक्तियों के सम्मिलित स्वामित्व में भूमि रहती है, जो संयुक्त रूप से सम्पूर्ण मल्कीयत की मालगुजारी की एक निश्चित रकम देने के उत्तरदायी होते हैं। ऐसा बंगाल में है। (२) उपर्युक्त प्रकार की कुछ छोटी मल्कीयतें हैं, परन्तु इनमें कुछ विशिष्ट लक्षण हैं। ये गाँव की मल्कीयतें हैं जो गाँव में बराबर का हिस्सा बँटाने वाले समुदायों के अधिकार में होती हैं। इन समुदायों के सदस्य एक सम्मिलित एवं व्यक्तिगत रूप से सरकारी मालगुज़ारी जमा करने के लिए उत्तरदायी होते हैं। यहाँ हमें 'सामूहिक जमींदार' या 'आदर्श जमींदार' से काम पड़ता है। (३) यद्यपि भूमि व्यक्तिगत एवं स्वतन्त्र अधिकारों में रहे तथापि गाँव की दृष्टि से

१. इस अध्याय के विवरणात्मक भाग के लिए हम श्री बी० एच० बैडेन पोवेल द्वारा लिखित 'लेन्ड सिस्टम्स आफ ब्रिटिश इण्डिया' तथा 'लेन्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया' पुस्तकों के लिए उनके कृतज्ञ हैं।

२. 'इन्डिया इन १९३०-१', पृ० १९९।

उसका एकत्रीकरण रहे और प्रत्येक भू-स्वामी अलग-अलग मालगुजारी जमा करने के लिए उत्तरदायी हो। इन तीन प्रकार की भू-धृति को क्रमानुसार (१) जमीदारी प्रथा, (२) संयुक्त-ग्राम अथवा महलवारी प्रथा, तथा (३) रैयतवारी प्रथा कहते हैं।[1]

३. गाँवों के संगठन के दो प्रमुख रूप[2]—अब हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम भारत के गाँवों का भेद उनके आन्तरिक संगठन की दृष्टि से समझ लें। इसका अध्ययन इस दृष्टि से आवश्यक है कि भू-धृति की प्रकृति पर इसका बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है और उसके द्वारा मालगुजारी निर्धारण का स्वरूप भी अतिशय प्रभावित होता है। भारत में मुख्यतः दो प्रकार के गाँव हैं: (१) रैयतवारी अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वामित्व तथा (२) जमींदारी अथवा संयुक्त गाँव। इसमें दूसरा रूप पुनः अनेक छोटे-छोटे मनोरंजक भेदों में विभाजित है।[3]

(१) रैयतवारी गाँव—रैयतवारी गाँव का आन्तरिक संगठन अपेक्षाकृत सरल होता है। भूमि विभिन्न स्वामियों के अधिकार में व्यक्तिगत रूप से होती है और वे स्वतन्त्र रूप से उस पर खेती करते हैं। इनमे से प्रत्येक स्वामी या तो भूमि सम्बन्धी अधिकार वंश-परम्परा से प्राप्त करता है, अपने अधिकार की भूमि का क्रय करता है अथवा जंगल कटवाकर इस भूमि को साफ करके उस पर कृषि करता है। स्वतन्त्र रूप से भूमि के स्वामी कृषक तथा उनके अधिकार में खेती की जाने वाली भूमि का समूहमात्र ही रैयतवारी गाँव कहलाता है। ऐसे गाँव की बेकार भूमि सरकार की सम्पत्ति होती है, यद्यपि गाँव वाले अपने जानवर चराने, लकड़ी काटने आदि उद्देश्यों के हेतु इस भूमि का उपयोग कर सकते हैं। खेतीबारी के हेतु प्रत्येक जमीन की मालगुजारी अलग-अलग निर्धारित की जाती है तथा मालगुजारी जमा करने का उत्तरदायित्व वैयक्तिक होता है। गाँव के निवासी गाँव के साधारण सरकारी कर्मचारियों के अधीन होते हैं तथा गाँव के शिल्पकारों एवं परिचारकों की सेवाओं का सामूहिक रूप से उपभोग कर सकने के अतिरिक्त उनमें परस्पर और कोई सम्पर्क नहीं होता। इस सबसे यह निश्चित होता है कि रैयतवारी गाँव में जमीदारी गाँव की अपेक्षा गाँव के मुखिया अथवा पटेल तथा साधारण रूप से गाँव के सरकारी कर्मचारियों

---

१. अकाल जाँच आयोग ने भारत की प्रमुख भू-धृति व्यवस्थाओं को निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटा था—(१) ऐसी मल्कीयतें जिनका बन्दोबस्त स्थायी रूप से किया जा चुका है, (२) ऐसी मल्कीयतें जिनका बन्दोबस्त अस्थायी रूप से हुआ है, और (३) रैयतवारी व्यवस्था। तीसरी व्यवस्था के अन्तर्गत लगान भूमि के अलग-अलग टुकड़ों के अनुसार निश्चित किया जाता है और उसके वास्तविक अधिकारी, जिनका कि उक्त भूमि पर स्थायी एवं वंशपरम्परागत अधिकार माना जाता है, मालगुजारी जमा करने के लिए उत्तरदायी होते हैं। पहली तथा दूसरी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत मल्कीयत एक इकाई मानी जाती है और उसका स्वामी, उसका वास्तविक अधिकारी नहीं, सरकारी मालगुजारी जमा करने के लिए उत्तरदायी होता है।—'अकाल जाँच आयोग, अन्तिम रिपोर्ट', पृ० २५१)।

२. भारत में गाँव की उत्पत्ति एवं उनके भेद से सम्बन्धित मनोरंजक किन्तु विवादग्रस्त प्रश्न के लिए बडेन पावेल की 'लेन्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया' नामक पुस्तक के, पृष्ठ ८८-९० देखिए।

३. बेडेन पावेल की 'लेन्ड सिस्टम्स ऑफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड १, अध्याय ४, देखिए।

का प्रभुत्व अधिक रहता है। इस प्रकार के गाँव सम्पूर्ण मद्रास, बम्बई, बरार तथा मध्य भारत में है तथा मध्य प्रदेश में मालगुजारी एवं बंगाल में जमींदारी व्यवस्था के पूर्व इन राज्यों में भी थे।

(२) जमींदारी अथवा संयुक्त गाँव—इस स्वरूप के अन्तर्गत गाँव एक इकाई के रूप में माना जाता है जिसका स्वामित्व एक व्यक्ति-विशेष अथवा एक साथ हिस्सा बँटाने वाले व्यक्तियों के एक समुदाय मे निहित रहता है। यह व्यक्ति अथवा यह समुदाय जमींदार कहलाता है, जो या तो वंश-परम्परागत यह अधिकार प्राप्त करता है अथवा यह दिखलाता है कि उन्होंने स्वयं जमींदारी अधिकार प्राप्त किये। यदि जमीदारी अधिकार किसी समुदाय में निहित रहते है तो पहली स्थिति में उस समुदाय के सदस्यों को यह दिखलाना पड़ता है कि उनके परिवारों के पूर्वज सम्मिलित थे और तभी से वंश-परम्परागत वे जमींदारी अधिकार प्राप्त किये हुए है। जमीदार, चाहे वह व्यक्ति के रूप में हो अथवा समुदाय के रूप में, का महत्त्व इस बात में होता है कि वह अन्य खेतिहर किसानों की अपेक्षा उच्च जाति का है, एवं उनसे श्रेष्ठ पदवी धारण किये हुए है। कभी-कभी यह भी होता है कि समुदाय के हिस्से बँटाने वाले सदस्य स्वयं अपनी जमींदारी में खेती करें। गाँव में बेकार पड़ी भूमि गाँव की समस्त जातियों की सामूहिक सम्पत्ति होती है, अतः यह खेतिहर काश्तकारों को लगान पर ही दी जा सकती है और इस प्रकार जो लगान आए उसे सब आपस में विभाजित कर सकते है। यदि वे चाहें तो उसका बँटवारा भी कर सकते हैं, अथवा सरकार से अनुमति प्राप्त किये बिना ही उस पर खेती भी कर सकते है। सम्पूर्ण जमीदारी के लिए मालगुजारी की एक रकम निर्धारित की जाती है जिसको जमा करने के लिए जमींदारी में हिस्सा बँटाने वाले सब सदस्य सम्मिलित रूप से तथा अलग-अलग भी उत्तरदायी होते हैं। सरकार की आज्ञा से यदि कोई हिस्सेदार चाहे तो वह संयुक्त उत्तरदायित्व से छुटकारा प्राप्त कर सकता है और व्यक्तिगत रूप से अपने द्वारा देय मालगुजारी का हिस्सा अलग करा सकता है। गाँव के सामूहिक कार्य मौलिक रूप से प्रारम्भ में पंचायतों, प्रतिनिधि-संस्थाओं—जिनके सदस्य प्रमुख जमींदार परिवार होते थे—द्वारा सम्पादित किये जाते थे। वस्तुतः गाँव का कोई एक व्यक्ति मुखिया के रूप में नहीं होता है, फिर भी किसी एक व्यक्ति को नम्बरदार के रूप में कार्य करने के लिए चुना जा सकता है जो सरकार से व्यवहार करते समय मुख्य रूप से लगान-सम्बन्धी मामलों के तय करने में गाँव का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार के गाँवों का मुख्य रूप से पंजाब में बहुत विकास हुआ। रैयतवारी गाँव हिन्दू शासन के अनुरूप हिन्दू विचारों से मिलता-जुलता है, यह गाँव मुसलमानी विचारों से अधिक प्रभावित होता है। यह प्रथा मध्य पंजाब के जाट, गूजर एवं अन्य जातियों के बीच तथा दूसरे भागों में विजेता आर्य-वर्ग एवं अन्य नायकों एवं सुप्रतिष्ठित तेजस्वी कुलीन पुरुषों के वंशों में पाई जाती है।

४. ज़मींदारी अथवा संयुक्त गाँव का संगठन और प्रकार—ऐसे गाँवों में ज़मींदारी के हिस्सेदार आपस में भूमि, उसकी उपज तथा उससे सम्बन्धित लाभ किन सिद्धान्तों पर

विभाजित करते हैं, इस आधार पर हम इन गाँवों के तीन भद कर सकते हैं: (१) सर्व-प्रथम, कुछ वंश-परम्परा के गाँव होते हैं। इनमें जमींदारी में हिस्सा बँटाने वाले हिस्से-दारों में से प्रत्येक का हिस्सा उसके पूर्वजों अथवा उसके वंश के हिस्से के अनुसार निर्धारित होता है तथा वर्तमान हिस्सेदार वंशावली के अनुसार जितना अंश पाने का अधिकारी होता है, ज़मींदारी में उसे उतना ही हिस्सा दे दिया जाता है। वंश-परम्परा-गत गाँव के निम्नलिखित रूप हो सकते हैं: (क) ऐसे गाँव जिनका स्वामित्व संयुक्त हिन्दू-परिवार के सदृश अविभाजित ही रहता है और समस्त हिस्सेदारों का उस पर संयुक्त रूप से स्वामित्व रहता है। (ख) ऐसे गाँव जिनका स्वामित्व वंश की पट्टेदारी के अनुसार अविभाजित रहता है, (ग) ऐसे गाँव जिनका विभाजन आंशिक रूप से ही पट्टेदारी के अनुसार किया हुआ रहता है। (२) दूसरी प्रकार के गाँव वंश परम्परा-गत नहीं होते, वरन् उनमें भाईचारा[1] के सिद्धान्त के अनुसार हिस्से बाँटने के हेतु कतिपय विशेष रीतियाँ प्रचलित होती हैं। यह भाईचारे के सिद्धान्त निम्न हैं: (क) कृत्रिम रूप से भूमि के अनेक टुकड़े करके बराबर-बराबर भूमि बाँट लेना, (ख) हल के आधार पर हिस्से बाँट लेना। इसमें हलों की संख्या पर स्वामित्व के अनुसार भूमि बाँटी जाती है। (ग) कृषि-हेतु आने वाले सिंचाई के पानी में, जिसका जितना हिस्सा होता है, उनके अनुसार भूमि का बाँटा जाना; अथवा (घ) कुओं में हिस्सों के अनुसार भूमि का बाँटा जाना। फिर भी इनमें से समस्त स्थितियों में समस्त बँटे हुए अंश संयुक्त स्वामित्व के अन्तर्गत ही माने जाते हैं। (३) तीसरे प्रकार के गाँवों में हिस्से बाँटने के लिए कोई विशिष्ट नियम नहीं होता, वरन् जिसके अधिकार में जो भूमि यथार्थ में रहती है, वही उसकी मानी जाती है।

वंश-परम्परागत गाँवों में सिद्धान्ततः मल्कीयत में जिसका जितना अंश होता है, लगभग उसी के अनुपात में मालगुजारी का हिस्सा बाँट दिया जाता है, किन्तु ऐसे गाँवों में जो वंश परम्परागत वाले गाँव नहीं होते वहाँ भाईचारे अथवा यथार्थ स्वामित्व के अनुसार जो जितनी भूमि का वास्तविक स्वामी होता है उसको उसी के अनुपात में मालगुजारी देनी पड़ती है।

ज़मींदारी अथवा संयुक्त-गाँव जिन तीन विभिन्न रीतियों से बने, उन्हीं के अनु-सार हिस्से बाँटने की उपरोक्त तीन विधियाँ प्रचलन में आई। ये तीन रीतियाँ निम्न हैं: (१) गाँव की ज़मींदारी में हिस्सा बँटाने वाले सब हिस्सेदार किसी एक पूर्वज के वंशज हों जो उस गाँव का स्वामी रहा हो। गाँव पर यह स्वामित्व उस पूर्वज ने उस गाँव को बसाकर प्राप्त किया हो अथवा उसे जागीरदार बनाकर वह गाँव जागीर के रूप में दिया गया हो अथवा वह मालगुजारी जमा करने वाला कृषक रहा हो अथवा वह पहले राज्य करने वाला सरदार रहा हो किन्तु बाद में उसे जमींदार बना दिया गया हो, जैसा कि उत्तरप्रदेश में किया गया। (२) ये सब हिस्सेदार कुछ ऐसे परिवारों के भी वंशज हो सकते हैं, जो कभी सम्मिलित रूप से इस गाँव में आ गए हों

१. भाईचारा शब्द के सरकारी प्रयोग के अनुसार इसके अन्तर्गत वे समस्त गांव आते हैं जो वंश-परम्परा-गत नहीं होते।

अथवा जो युद्ध करने वाली जाति के वंशज रहे हों और जिन्होंने अपने यहाँ की प्रचलित रीति के अनुसार उस गाँव के क्षेत्रफल का विभाजन कर लिया हो, अथवा (३) वे सामूहिक रूप से नई बस्ती बनाने वालों में से रहे हों, जो अनेक परिस्थितियों के कारण वहाँ संयुक्त-पूँजी के आधार पर खेती करने लगे हों।

यह यहाँ बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाँव के ज़मीदारों के ऊपर कभी-कभी बृहत्तर भू-स्वामी भी होते हैं, जैसे अवध और आगरा में ताल्लुकेदार, जो कई गाँवों के जमींदार-समुदायों के स्वामी माने जाते हैं। इनकी कार्य-पद्धति के भी वे ही सिद्धान्त होते है जो स्वतन्त्र गाँव के ज़मींदार-समुदाय के होते हों। इन बृहत्तर भू-स्वामियों के अधिकारों की उत्पत्ति भी गाँव के स्वतन्त्र ज़मींदार-समुदाय की ही भाँति हुई।

५. एक से अधिक गाँवों की मल्कीयतें सम्मिलित करने वाली जमींदारियाँ—कुछ ज़मींदारियाँ जागीर एक गाँव से अधिक क्षेत्रफल की, प्रायः एक पूरे परगने अथवा ज़िले तक की होती हैं, यद्यपि ऐसी स्थिति में भी उक्त जागीर के अंगभूत गाँव अपना सम्पूर्ण महत्त्व नहीं खो देते। ऐसी बड़ी-बड़ी जागीरों की उत्पत्ति भी किन्हीं विशिष्ट कारणों से नही हुई वरन् गाँव की जागीरों की भाँति ही हुई। इनका वर्तमान ज़मींदार पहले के किसी राजा अथवा नायक का, अथवा मालगुजारी जमा करने वाले कृषक का अथवा भूमि-सम्बन्धी राज्य-पदाधिकारी का अथवा किसी जागीर इत्यादि को पाने वाले जागीरदार अथवा अन्य किसी प्रकार के इनामदार का वंशज हो सकता है। ऐसी बड़ी-बड़ी मल्कीयतों वाले ज़मींदार बंगाल में बहुत हैं। ये अवध और आगरा में भी हैं, जहाँ इन्हें ताल्लुकेदार कहा जाता है। पंजाब में ये अपवादस्वरूप ही दीख पड़ते हैं। मध्यप्रदेश में एक विशिष्ट वर्ग के ज़मींदार पाये जाते हैं जिन्हें मालगुज़ार कहते हैं। ये इस प्रदेश के बहुत बड़े भाग में पाये जाते हैं, किन्तु ये बंगाल के ज़मीदारों जैसे नहीं होते। बम्बई में जमींदारी-जागीरों के विभिन्न रूप देख पड़ते हैं। जागीरदार और इनामदार वर्ग के अतिरिक्त वहाँ इस श्रेणी के अन्तर्गत गुजरात के ताल्लुकेदार और दक्षिण के पश्चिमी किनारे के 'खोट' गिने जाते हैं। मद्रास में, मुख्य रूप से उत्तरी भाग में, बंगाल की तरह के कुछ बहुत बड़े-बड़े जमींदार हैं।

भारत में भू-धृति (स्वामित्व-सम्बन्धी) के सर्वेक्षण से इसके असाधारण रूप से जटिल एवं अनेक प्रकार के स्वरूप दृष्टिगत होते हैं जो अनेक ऐतिहासिक कारणों, जैसे आक्रमण एवं युद्ध, जातियों द्वारा अन्य कबीलों पर विजय, स्थानीय विजय, राज-परिवारों के उत्थान एवं पतन आदि से विकसित हुए। जंगल साफ करने के प्रथम अधिकार, जो प्रारम्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण था, में विजय, जागीरदारी, स्वाभाविक श्रेष्ठता आदि के कारण भी जोड़ दिये गए।

६. उप-स्वामित्व एवं आसामियों के अधिकार—जिस प्रकार विजय, जागीरदारी अथवा मालगुजारी जमा करने वाले कृषकों के कारण जमींदारों के ऊपर बड़े सामन्तों के अधिकार उत्पन्न हो सकते हैं, उसी प्रकार स्वामित्व के प्रारम्भिक ज़मींदारी के अधिकार उप-स्वामित्व वाले अधिकारों में पतित हो सकते हैं। कुछ स्थितियों में भूमि

के पूर्व स्वामी बड़े जागीरदार के अधीन अपनी विशेषाधिकार वाली स्थिति को अक्षुण्ण बनाये हुए थे तथा जिस प्रकार बृहत्तर भू-स्वामी के अधिकार माने जाते थे उसी प्रकार उससे निम्न श्रेणियों के स्वामियों को भी स्वीकार किया जाता था। भूमिगत अधिकारों में जो गड़बड़ी थी—विशेषरूप से विभिन्न जमीदारी अधिकारों की विभिन्न श्रेणियो के कारण—उसके कारण उपरोक्त अधिकारों का स्वीकार किया जाना बड़ा कठिन हो गया।

रैयतवारी क्षेत्रों में यह प्रश्न अपेक्षाकृत सरल था, क्योंकि वहाँ अधिकारों की अत्यधिक वृद्धि नही हुई। अधिकतर किसान ही जमीदार होते थे। जहाँ किसान से वैतनिक कार्य कराया जाता था, वहाँ निस्सन्देह ही वे अपने स्वामी के साथ हुए सामान्य समझौते के अन्तर्गत कार्य करते थे और इस प्रकार उनकी कोई वैधानिक मान्यता नही होती थी। केवल कुछ ही स्थितियों में सामन्तों जैसे जमीदारी अधिकार हो सकते थे जिनके लिए भूमि के वास्तविक स्वामी को केवल कुछ निश्चित लगान देना पड़ता था। जमींदारी प्रदेशों में तथा संयुक्त गाँवों वाली जागीरों में अनेक मध्यवर्गीय श्रेणियों की स्थापना के कारण स्थिति बहुत पेचीदा हो गई थी। बैडेन-पावेल ने निम्न तालिका में यह दिखलाया है कि सर्वोच्च शिखर पर सम्पूर्ण मालगुजारी-सम्बन्धी एवं भूमि के प्रत्यक्ष स्वामित्व-सम्बन्धी सरकार के अधिकारों तथा सबसे नीचे खेतिहर आसामी के अधिकारों के बीच—जहाँ कही उसके भूमि सम्बन्धी स्थायी अधिकार हैं—कितने विभिन्न हित कार्य करते हैं।[1]

केवल एक हित	दो हित	तीन हित	चार हित	
१. केवल राज्य ही भूमि का स्वामी होता है।	१. राज्य २. किसान अथवा कब्ज़ेदार जिसके अधिकार निश्चित होते थे। (यह आसामी नही होता था जैसे कि मद्रास, बम्बई, बरार इत्यादि में हैं।)	१. राज्य २. जमींदार, ताल्लुकेदार, अथवा संयुक्त गाँव समुदाय ३. वास्तविक कृषि करने वाला भूमि का अधिकारी, हिस्सेदार इत्यादि।	१. राज्य २.जमींदार ३. अधीनस्थ-स्वामी अथवा भूमिगत अधिकार-पत्र प्राप्त कृषक, ४. रैयत अथवा वास्तविक किसान	१. राज्य २. सामन्त अथवा बड़े जागीरदार जैसे अधिकार-प्राप्त जमीदार ३. भूमि का वास्तविक स्वामी अथवा जमींदार (साधारणतः, गाँव समुदाय) ४. वास्तविक कृषि-कार्य करने वाला भूमि का अधिकारी, व्यक्ति विशेष, हिस्सेदार आदि

१. बैडेन-पॉवेल द्वारा लिखित 'लेन्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया' नामक पुस्तक का

१. अधीनस्थ उप-स्वामित्व के अधिकार—अधीनस्थ उप-स्वामित्व का मुख्य लक्षण यह होता है कि इसमें अपने अधिकार की भूमि का स्वामी, उस भूमि के समस्त अधिकार रखता है, किन्तु समस्त संपत्ति के लाभ अथवा उसके प्रबन्ध में उसका कोई हाथ नहीं होता। इस प्रकार के उदाहरण बङ्गाल में पाए जाते हैं, जहाँ कतिपय भूमि-सम्बन्धी पट्टों के स्वामियों को निश्चित रकम का भुगतान करने पर स्वाधिकार-युक्त स्थायी वंशपरम्परागत तथा हस्तान्तरित किये जाने योग्य भूमि-सम्बन्धी अधिकार प्रदान किये जाते हैं। इसका कारण यह था कि ये ज़मींदारी वर्ग के प्रभुत्व के होते हुए भी अपने विशेष अधिकार सुरक्षित रखने में सफल हो सके थे। किन्तु उनकी वास्तविक स्थिति की परिभाषा देने में कठिनाई अनुभव करने के कारण सन् १८८५ के विधान के अन्तर्गत यह नियम अपनाया गया कि वे सब भू-स्वामी जो ज़मींदारों से नीचे होंगे तथा जिन्हें सौ बीघा भूमि के स्वामित्व के अधिकार प्राप्त होंगे, उन्हें भू-धृति युक्त कहा जायगा।

इस प्रकार का दूसरा आधुनिक उदाहरण पट्टेदार-वर्ग द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, जिनको स्थायी रूप से प्रबन्ध करने के हेतु उन ज़मींदारों द्वारा पट्टे दिये गए जो अपनी जमींदारी के बहुत बड़ी होने के कारण मालगुजारी देने का दायित्व, आंशिक रूप से अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित करना चाहते थे। इन पट्टेदारों ने अपने खेतिहर आसामी बनाए जिन्हें 'दीरपट्टेदार' कहा जाता था। इन्हें भी इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे तथा उसी के अनुरूप उनका मालगुजारी जमा करने का दायित्व था। ऐसे अधिकार सन् १८१९ के बंगाल नियमन (बंगाल रेग्युलेशन) द्वारा स्वीकृत किये गए।

अधीनस्थ (उप) स्वामित्व वाले ज़मींदारों का एक दूसरा वर्ग उन स्थितियों में पाया जाता है जहाँ स्वामित्व के अधिकार वाले वर्तमान ज़मींदार पहले जमींदारों के ऊपर हो गए हों। कुछ परिवार केवल सरकार को मालगुजारी देकर तथा अपने से उच्च जमींदार को अपने अधीनस्थ भूमि का किसी प्रकार का लगान न देकर भी अपनी स्थिति को बनाए रख सकते हैं। मध्यप्रदेश में उत्तर भारत जैसी नीति के पालन से कृत्रिम रूप से मालगुजारों की उत्पत्ति के कारण प्रत्येक गाँव के लिए मालगुजारी जमा करने का दायित्व एक जमींदार पर निश्चित करना—चाहे यह मौलिक रूप से रैयतवारी की ही भाँति रहा हो—आवश्यक हो गया। इससे अधीनस्थ (उप) स्वामित्व के अधिकारों को भी स्वीकार करना पड़ा। अन्ततः, अवध में कभी-कभी सम्पूर्ण गाँव की संस्थाएँ स्वतन्त्र प्रबन्ध के अधिकार को सुरक्षित रख सकतीं थीं। यदि वे अपने ऊपर के बड़े जागीरदार जैसे अधिकार-प्राप्त ताल्लुकेदार को लगान की निश्चित रकम का

पृष्ठ १२९ देखिए। इसकी तुलना निम्न से कीजिए: बङ्गाल बैंकिंग जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट के पैरा १७ के अन्तर्गत लिखा है कि "बाकरगंज की एक जागीर में भूमि के स्वामी एवं खेतिहर आसामी के बीच लगभग ३० मध्यस्थ अधिकारी हैं।" भू-राजस्व आयोग बंगाल ने अपनी रिपोर्ट के प्रथम भाग के पैरा ७७ में लिखा है कि "बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इस वचन पर कि मालगुजारी के निर्धारण में कभी परिवर्तन न किया जायगा, के पश्चात् भी ज़मीदारों के लाभ में सामान्य वृद्धि रहने के कारण अधीनस्थ छोटे-छोटे जमींदार बनते गए जिनकी संख्या प्रारम्भ के ज़मीदारों से भी अधिक थी।"

भुगतान कर देती थीं। उनके उपस्वामित्व के अधिकार इस प्रकार स्वीकृत किए जाते है कि यद्यपि सरकार का मुख्य बन्दोबस्त ताल्लुकदार के साथ होता है तथापि उनके एवं ताल्लुकेदार के मध्य का उप-बन्दोबस्त भी स्वीकार किया जाता है जिसके अन्तर्गत उनके द्वारा ताल्लुकेदार को दिया जाने वाला लगान निश्चित कर दिया जाता है।

(२) आसामियों (काश्तकारों) के अधिकार[1]—अब हम खेतिहर आसामियों के अधिकारों के सम्बन्ध में अध्ययन करेंगे, किन्तु ऐसे आसामियों के विषय में, जो कुछ विशेषाधिकार रखते हैं तथा केवल साधारण संविदा किसान नही है। पहले हम इस सम्बन्ध में सब राज्यों में विद्यमान कुछ सामान्य लक्षणों का अध्ययन करेंगे, जो राज्यों में सन् १९३७ में स्वायत्त शासन की स्थापना के बाद काश्तकारी विधान बनने के पूर्व मौजूद थे। यहां इनका सूक्ष्म विवरण नहीं दिया जायगा। वे ही लक्षण, जिनके कारण ज़मींदारों एवं उनके ऊपर बड़े जागीरदारों के अधिकार आधारित थे, काश्तकारों के विभिन्न वर्ग बनने के भी कारण है। आजकल वैयक्तिक अथवा संयुक्त ज़मींदारी मल्कीयतों में जो काश्तकार हैं, वे पहले इससे उच्च अवस्था में रहे होंगे। ज़मींदारों एवं बड़े जागीरदारों के अधिकारों की अधिकाधिक पूर्णता तथा उनके पास सुविधाओं अथवा समय की अधिकता के अनुसार निम्नतम-वर्ग सामाजिक परिष्ठा में अधिकाधिक गिरता चला जायगा। इस प्रकार ज़मींदारों का जितना प्रभुत्व रहेगा, उसी के अनुसार काश्तकारों के अधिकार कम अथवा अधिक हो जायँगे। खेतिहर काश्तकारों के अधिकारों की परिभाषा देने एवं उनको स्वीकृति प्रदान करने में ब्रिटिश शासन को दो कठिनाइयों का अनुभव हुआ था। प्रथम यह कि सब स्थितियों में इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिल रहा था कि ये काश्तकार पहले कभी उच्च अवस्था में थे। दूसरी कठिनाई यह थी कि स्वामित्व की पहली स्थिति के आधार पर स्वीकृत किये जा सकने योग्य काश्तकारों के अतिरिक्त कुछ ऐसे काश्तकार भी थे, जो एक प्रकार से कुछ विशेषाधिकार भी रखते थे, क्योंकि उन्हें ज़मींदार संविदा पर लाये थे, किन्तु ऐसे समय में, जब काश्तकार अत्यावश्क थे, एवं उनको निकालना या बेदखल करना सम्भव न था। परिणामस्वरूप स्वाभाविक एवं कृत्रिम काश्तकारों में भेद करना आवश्यक समझा गया। स्वाभाविक काश्तकार वे थे जिनके पक्ष में निश्चित एवं प्रामाणिक तथ्य प्राप्त किये जा सकते थे, तथा कृत्रिम काश्तकार वे होते थे जो अपने काश्तकारी के अधिकारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते थे। कृत्रिम काश्तकारों के लिए बंगाल, आगरा तथा थोड़े समय के लिए मध्यप्रदेश में १२ वर्षीय नियम अपनाये गए। बंगाल तथा आगरा में सन् १८५९ के काश्तकारी विधान (कानून) के अन्तर्गत उसे काश्तकार माना गया, यदि उसने एक ही भूमि पर निरन्तर बारह वर्ष तक खेती की हो। ज़मींदारों ने इस विधान के लागू होने के प्रभाव से बचने के लिए ऐसा करना प्रारम्भ कर दिया कि कोई काश्तकार एक ही भूमि को लगातार बारह वर्ष तक जोत ही न सके और इस प्रकार उसके लिए मौरूसी काश्तकार बनना

---

१. बैडेन पॉवेल, 'लैण्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया', अध्याय ७, भाग ५; तथा टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ६०।

असम्भव हो जाय। अत. बंगाल मे सन् १८८५ में इस विधान मे संशोधन किया गया। अब यह किया गया कि एक काश्तकार को मौरूसी काश्तकार बनने के लिए एक ही भूमि को निरन्तर १२ वर्ष तक जोतना आवश्यक नही रह गया, वरन् उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि वह एक ही गॉव मे बारह वर्ष तक लगातार खेती करे। सन् १९२८ के काश्तकारी कानून के अन्तर्गत हस्तान्तरण शुल्क देकर काश्तकारी की भूमि का हस्तान्तरित किया जाना भी वैध कर दिया गया और जमीदार को पूर्व क्रयाधिकार प्रदान किया गया अर्थात् उसे सबसे पहले क्रय करने का अधिकार दिया गया। इससे छोटे किसानो के अधिकार काफी सुदृढ हो गए तथा रक्षा की दृष्टि से उन्हें तीन श्रेणियो मे विभाजित किया गया।[1]

आगरा मे बगाल के सन् १८८५ के संशोधन की भाँति विधान मे संशोधन नही किया गया, किन्तु सन् १९०१ के विधान के अन्तर्गत कतिपय नियन्त्रण लगाये गए, जिनका उद्देश्य यह था कि जमीदार विधान के नियमों को क्रियान्वित होने से रोक न सके।[2] सन् १९०१ के विधान को सन् १९२१ के अवध लगान विधान के आधार पर १९२६ मे सशोधित किया गया अर्थात् गैर मौरुसी काश्तकारों को जीवन-पर्यन्त की भू-धृति का प्रतिपादन किया गया तथा इसके बदले मे जमीदारों के सीर (निजी-खेती) के क्षेत्रफल-सम्बन्धी अधिकार काफी विस्तृत किये गए। कानूनी काश्तकारों के उत्तराधिकारी पॉच वर्ष तक काश्तकारी की भूमि पर अधिकार रख सकते थे। इस प्रकार से सीर की भूमि अत्यधिक बढाई गई। उत्तर प्रदेश के १९३९ के काश्तकारी विधान के अन्तर्गत काश्तकारों के हित में सीर की भूमि को नियन्त्रित करने की चेष्टा की गई। (नीचे सेक्शन ९ (२) देखिए)। अवध में खेतीबारी की भूमि के काश्तकारों के अधिकारों को पहले सन् १८८६ के विधान के अन्तर्गत सीमित किया गया। यह उन काश्तकारों को सम्बन्ध में किया गया जो एक बार स्वामित्व के अधिकार प्राप्त करके उन्हें खो बैठे थे, परन्तु बाद में उन काश्तकारो पर भी लागू कर दिया गया जिनके स्वामित्व के अधिकार विक्रय अथवा कुर्की के द्वारा हस्तान्तरित किये जा चुके थे।

मौरुसी काश्तकार के अधिकार पंजाब में केवल उन्ही काश्तकारों द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं जिनके हक़ किन्ही ऐतिहासिक प्रमाणों पर आधारित हों। वहाँ केवल समय बीत जाने में ही मौरुसी काश्तकार के अधिकार प्राप्त नही किये जा सकते। पंजाब के सन् १८८७ के विधान के अन्तर्गत एक मौरुसी काश्तकार वह होता है जिसने दो पीढ़ियों से केवल सरकारी मालगुजारी ही दी हो तथा भूमि के स्वामी को न तो कोई लगान दिया हो और न इसके लिए कोई सेवा ही अर्पित की हो।

मध्य प्रदेश में भी पहले बारह-साला नियम लागू होता था, किन्तु बाद में इसे छोड़ दिया गया और यह कर दिया गया कि वार्षिक लगान का अढाई गुणा जमा करके मौरूसी काश्तकार के अधिकार खरीदे जा सकते थे। सन् १९२० में फिर एक नया

---

१. लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल, रिपोर्ट, खण्ड १, पैरा ७१।

२. आगरा व अवध में लगान सम्बन्धी कानून के विशेष विवरण के लिए 'रिपोर्ट आफ द यूनाइटिड प्राविन्सेज बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी', पैरा ३२७-८ देखिए।

नियम बनाया गया जिसके अन्तर्गत दो प्रकार के मौरूसी काश्तकार माने गए तथा दोनों ही कतिपय अवस्थाओं में अपने अधिकार हस्तान्तरित कर सकते थे।

मद्रास की जमीदारी जागीरों मे प्रत्येक रैयत, जिसके पास रैयती भूमि थी, अर्थात् ऐसी भूमि जो घर का फार्म, अथवा स्वामी की सीर की भूमि नहीं थी, सन् १६०८ के जागीरी भूमि-विधान (एस्टेट्स लेण्ड एक्ट) (जो सन् १८८५ के बंगाल के विधान के अनुरूप ही बनाया गया था) के अन्तर्गत मौरूसी काश्तकार के अधिकार स्थायी रूप से रखने लगा। साथ ही ऐसे किसान को भी मौरूसी काश्तकार के अधिकार स्थायी रूप से मिल गए जिन्हे जमीदार द्वारा रैयती भूमि दी गई हो। इस प्रकार ऐसे रैयत के अधिकार रैयतवारी प्रदेशो के मौरूसी काश्तकारों के सदृश ही कर दिये गए।

बम्बई में खोटों से सम्बन्धित सन् १८८० के विशेष विधान के अन्तर्गत पुराने रहने वाले आसामियों के अधिकारो की उसी प्रकार रक्षा की गई जिस प्रकार अन्यत्र मौरूसी काश्तकारों के अधिकार सुरक्षित किये गए। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की भू-धृति भी है, जैसे ताल्लुकेदारी भू-धृति आदि, जिन्हें सन् १८६२ के विशेष विधान के अन्तर्गत पृथक् रूप से रखा गया है।

७. मौरूसी काश्तकारों के अतिरिक्त अन्य काश्तकार—हमने अभी तक इतना अधिक ध्यान मौरूसी काश्तकारों की ही ओर रखा है क्योकि ज़मीदारी प्रदेशों में ये ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार वाले काश्तकार होते हैं। किन्तु यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना अत्यावश्यक है कि इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी काश्तकार थे जिनकी स्थिति मौरूसी काश्तकारों से उच्च अथवा निम्न थी। उदाहरणार्थ, हम बंगाल के उच्च श्रेणी के काश्तकारों को ले सकते है जिन्हें भूमि पर अधिकार-सम्बन्धी पट्टे प्राप्त रहते हैं जिनके विषय में ऊपर लिखा जा चुका है तथा किसान, जो निश्चित दर पर मालगुजारी देते हैं तथा जिन्हें न तो बेदखल ही किया जा सकता है और न उनके लगान में ही वृद्धि की जा सकती है। इसी प्रकार बनारस के स्थायी पट्टों वाले ज़िलों में निश्चित दर पर मालगुज़ारी देने वाले कुछ काश्तकार है। मध्यप्रदेश में स्वतन्त्र मौरूसी काश्तकार होते हैं जिनके विषय में प्रथम पट्टे के अनुसार ही यह कहा जा सकता है कि उनकी स्थिति अपूर्व रूप से सुदृढ़ है। इन्हें व्यवहार में किन्ही भी कारणों से हटाया नहीं जा सकता है। वे स्वाधिकार युक्त मालगुजारी देते हैं जो कि मालगुजारी की व्यवस्था करने वाले पदाधिकारी द्वारा व्यवस्था-काल तक के लिए निश्चित रहती है। इसके विपरीत कुछ निम्न श्रेणी के भी काश्तकार होते हैं जिनकी तुलना रैयतवारी प्रदेशों के इच्छानुसार काश्तकारों से की जा सकती है, किन्तु ये इन इच्छानुसार काश्तकारों की अपेक्षा अधिक रक्षा प्राप्त किये हुए रहते है।

८. मौरूसी विशेषाधिकारों के सामान्य लक्षण—अब हम संक्षेप में मौरूसी काश्तकारों की, जिस प्रकार से रक्षा की जाती है उसका अध्ययन करेगे। (१) लगान में वृद्धि करने की सीमा रकम तथा समय दोनों ही तरह से नियमित है, अर्थात् लगान की वृद्धि एक निश्चित रकम तक तथा एक निश्चित अवधि बीत जाने के पश्चात् की जा सकती है। लगान में वृद्धि केवल समझौते के द्वारा अथवा विशेष कारण होने पर अदालत की डिग्री

द्वारा ही हो सकती है। अदालत केवल इन्हीं स्थितियों में लगान में वृद्धि स्वीकार करती है जैसे किसी भूमि का लगान समीप की भूमि की अपेक्षा कम हो अथवा मूल्यों की वृद्धि अथवा भूमि के स्वामी के उद्यम के कारण भूमि की उर्वरता में वृद्धि हो गई हो, अथवा नदी इत्यादि के कारण भूमि की उर्वरता बढ़ गई हो। काश्तकार उपज में स्थायी कमी आ जाने के कारण अथवा कीमतों में स्थायी कमी आ जाने के कारण लगान कम कराने के लिए अदालत में मुकदमा दायर कर सकता है। मध्यप्रदेश में बन्दोबस्त अधिकारी (अफसर) द्वारा लगान निश्चित किया जाता है, जैसा कि पूर्णतया मौरूसी काश्तकारों के साथ होता है, परन्तु यह बन्दोबस्त की सम्पूर्ण अवधि के लिए नहीं होता, वरन् हर दस वर्ष के उपरान्त इसमें संशोधन किया जा सकता है। मद्रास में लगान एक बार में साढ़े बारह प्रतिशत से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता। (२) कुछ ऐसे भी नियम हैं जिनके अन्तर्गत कतिपय स्थितियों को छोड़कर मौरूसी काश्तकार को चाहे जब बेदखल करने से बचाया गया है। इस प्रकार के नियम लगान में वृद्धि न होने देने वाले नियमों के पूरक हैं। उपरोक्त दोनों प्रकार के नियम एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं। (३) मौरूसी काश्तकारी का अधिकार वंश-परम्परागत चलता आता है। इस अधिकार को किसी दूसरे को भी हस्तान्तरित किया जा सकता है तथा कुछ शर्तों पर इसे परिवार के बाहर भी हस्तान्तरित किया जा सकता है। (४) लगान से सम्बन्धित कुर्की के कुछ नियम हैं जिनमें पशु, यन्त्र बीज आदि को कुर्की से छूट दी गई है। यही नहीं, प्रत्येक स्थिति में भूमि खाली कराने के लिए उचित सूचना की आवश्यकता होती है तथा लगान की रकम किश्तों में अदा की जा सकती है। (५) किसी बुरे वर्ष में यदि सरकार जमीदारों को मालगुजारी की रकम में कुछ परिहार और बिलम्बन प्रदान करे तो ये छूट जमींदारों द्वारा काश्तकारों को भी दी जाय। (६) अन्ततः कुछ सीमा तक लगान में वृद्धि हुए बिना भूमि में उन्नति करने का अधिकार भी रक्षित है तथा यदि अधिक लगान वसूल करना हो तो उसके एवज में मुआवजा दिया जाना चाहिए।

संक्षेप में, इन नियमों का उद्देश्य काश्तकारों को न्यायोचित लगान, भू-धृति की अवधि की निश्चितता तथा हस्तान्तरण की स्वतन्त्रता प्रदान करना था, जैसा कि आयर्लैण्ड के भूमि-सम्बन्धी विधान में है। काश्तकारों को मौरूसी अधिकारों के प्रदान करने में उनकी स्थिति रैयतवारी व्यवस्था के अन्तर्गत स्वामित्व-प्राप्त काश्तकारों के समान हो जाती है।

६. ज़मींदारी प्रान्तों में काश्तकारी कानून-सम्बन्धी नये प्रयत्न—१ अप्रैल सन् १९३७ को राज्यों में स्वायत्त-शासन की स्थापना एवं आठ राज्यों में कांग्रेस दल द्वारा सरकार का कार्य-भार सँभालने के उपरान्त ज़मींदारी प्रथा के प्रति लोगों का विरोध और कठोर हो गया। फलस्वरूप लगभग प्रत्येक राज्य में काश्तकारी-सम्बन्धी नियमों में सुधार करने के कुछ उपाय किये गए। नीचे संक्षेप में इन्हीं उपायों का विवरण दिया जा रहा है :

(१) बिहार—जैसे ही बिहार में कांग्रेस सरकार ने राज्य का शासन सँभाला

१. अकाल जाँच आयोग, पृष्ठ २५२-३।

उसने खेतिहर किसानों के कष्ट को दूर करने के लिए ऐसे अधिकार एवं ऐसी छूट देने के सम्बन्ध में कानून बनाने के हेतु कार्य प्रारम्भ किया, जिससे ज़मींदारों की शक्ति और प्रतिष्ठा प्रत्यक्ष रूप से कम होती थी। ज़मींदार भी इतने विचारशील एवं बुद्धिमान थे कि उन्होंने समय के रुख़ को पहचाना और समझौता करने के लिए उद्यत हो गए। सन् १९३८ के बिहार काश्तकारी अधिनियम (टेनेन्सी एक्ट) के मुख्य लक्षण निम्नलिखित थे : लगान में कमी करके उसे सन् १९११ के स्तर पर ले आना; लगान की वस्तु-रूप में वसूली समाप्त करना; पन्द्रह वर्ष तक लगान की वृद्धि से छूट दिलवाना; लगान के बकाया रह जाने पर ज़मींदार के क्षति पाने के स्वत्व को समाप्त करना; ऐसी बकाया मालगुज़ारी की रकम पर ब्याज की दर को केवल ६¼ प्रतिशत करना; ऐसे काश्तकारों को, जिन्होंने किसी गाँव में निरन्तर बारह वर्ष से किसी भूमि पर अधिकार कर रखा है—वंश-परम्परागत अधिकार प्रदान करना तथा उनमें कुआँ खोदने, मकान बनवाने, पेड़ लगवाने आदि के अधिकारों को सम्मिलित करना। यही नहीं, बेदखली से उनकी रक्षा करना तथा ऐसी व्यवस्था करना कि उन्हें बेदखल केवल उसी स्थिति में किया जा सके जबकि भूमि खेती योग्य न रह गई हो। इस कानून के बाद जमींदार को मौरूसी काश्तकारों से केवल लगान वसूल करने का अधिकार रह गया। प्रान्त में गैर-मौरूसी काश्तकारों की संख्या लगभग नहीं के बराबर है।

(२) उत्तरप्रदेश—राज्य में भू-धृति की समस्या की जाँच करने के उद्देश्य से जो समिति नियुक्त की गई थी उसकी खोजों के आधार पर आगरा और अवध के काश्तकारी कानून को पुष्ट तथा उसमें आवश्यक संशोधन करते हुए कांग्रेस सरकार ने दो वर्षों के प्रयत्न के पश्चात् दिसम्बर सन् १९३९ में संयुक्त प्रान्त काश्तकारी अधिनियम बनाया। इस विधान का सबसे महत्त्वपूर्ण नियम वह है जिसके अन्तर्गत केवल कुछ ऐसे काश्तकारों को छोड़कर, जो मौरूसी काश्तकारों के अधिकारों का उपभोग नहीं कर रहे हैं, शेष समस्त काश्तकारों को पैतृक अधिकार प्रदान किया गया है। वंश-परम्परागत या पैतृक अधिकार-प्राप्त काश्तकारों को सीर भूमि (घर की खेती) वाले काश्तकारों से भी अत्यधिक आश्चर्यजनक अधिकार प्राप्त हुए हैं, जिन्हें वर्तमान अधिनियम के अन्तर्गत कोई काश्तकारी अधिकार प्राप्त नहीं थे (ग़ैर-मौरूसी काश्त के सम्बन्ध में)। यह कानून सीर के अधिकारों को सौ रुपये से अधिक मालगुजारी न देने वाले छोटे भू-अधिकारियों तक तथा बड़े भू-अधिकारियों के लिए सीर की जमीन पचास एकड़ तक सीमित करता है। लगान की वर्तमान दरें कुछ समय तक लागू रहेंगी, किन्तु पाँच वर्षों के भीतर ही इन्हें घटाकर सन् १८९६ से १९०५ के बीच की दरों के स्तर पर ले आने की व्यवस्था है। एक बार निश्चित कर दिए जाने पर लगान की दरों में साधारणतः बीस वर्ष तक कोई परिवर्तन किया जाना संभव न था। प्राकृतिक विपदाओं के समय लगान का परिहार तथा निलम्बन हो सकता था तथा आर्थिक संकटों और मूल्यों के गिरने के समय लगान पुनः निश्चित किया जाता था। निरन्तर काफ़ी समय तक मालगुजारी न जमा करने पर ही किसी काश्तकार को बेदखल किया जा सकता था। लगान की

बकाया रकम पर ६¼ प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर वसूल की जा सकती थी।

(३) बङ्गाल—सन् १९३८ का बङ्गाल का काश्तकारी अधिनियम भी काश्तकारों को कुछ सुविधाएँ प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत काश्तकारों मे अवैधानिक वसूली नहीं होगी तथा उपकर नहीं लगाए जा सकेंगे, अब तक जमींदारों के लिए पूर्वक्रय के जो अधिकार सुरक्षित थे, वे भी समाप्त कर दिये गए। उनके बजाय ये अधिकार हिस्सेदार काश्तकारों को दिये गए। जमीदार को हस्तान्तरण शुल्क (सलामी) दिया जाना तथा प्रमाणपत्रों के द्वारा लगान वसूल किया जाना भी समाप्त कर दिया गया। काश्तकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह बीस वर्ष के अन्दर कछार की भूमि को केवल चार वर्ष का लगान देकर प्राप्त कर सकता है। इनके नीचे वाले किसान को मौरूसी किसान जैसे अधिकार दिये गए तथा लगान की बकाया रकम पर वसूल की जाने वाली ब्याज की दर को घटाकर केवल ६¼ प्रतिशत कर दिया गया। नये विधान के अन्तर्गत दस वर्ष तक लगान में वृद्धि करने की सुविधा प्रदान करने वाले सब नियमों का लागू होना समाप्त कर दिया गया।[1] बङ्गाल सरकार के अनुसार काश्तकारों के प्रमुख कष्टों को दूर करने की दिशा में यह अधिनियम प्रथम प्रयास था। अतः एक आयोग की नियुक्ति की गई जिसका कार्य बङ्गाल में स्थायी बन्दोबस्त के संदर्भ में तात्कालिक भू-राजस्व व्यवस्था की सामान्य जाँच करना था। (आगे सेक्शन ३२ देखिए।)

(४) मध्यप्रदेश—राज्य के तत्कालीन भूमिगत अधिकारों एवं भू-राजस्व व्यवस्था को पुष्ट करने के उद्देश्य से सरकार ने जिस भू-राजस्व समिति की नियुक्ति की थी, उसकी सिफारिशों के आधार पर मध्यप्रदेश की कांग्रेस सरकार सन् १९३९ में मध्यप्रदेश काश्तकारी बिल (सेण्ट्रल प्राविन्सेज़ टेनेन्सी बिल) को अधिनियम का रूप में समर्थ हुई।

१०. रैयतवारी राज्यों में काश्तकारी—यहाँ साधारणतः खेतिहर काश्तकार तथा सरकार के मध्य किसी जमींदार अथवा मध्यस्थ-वर्ग की कृत्रिम उत्पत्ति अपेक्षाकृत कम हुई है, अतः उत्तरी भारत के बन्दोबस्त की तुलना में यहाँ अधीनस्थ काश्तकारों के अधिकारों एवं उनके विभिन्न वर्गों को स्वीकृत किये जाने की उतनी अधिक आवश्यकता का अनुभव नहीं किया गया है जैसा कि हम पहले देख चुके हैं। रैयतवारी राज्यों में भी कुछ जमींदारी जागीरें हैं। मद्रास के जमींदार अथवा बम्बई के खोट और ताल्लुकेदार ऐसे ही हैं तथा अधिकांश स्थितियों में, जैसा कि हमने अभी देखा, ये विशेष काश्तकारी विधान के अन्तर्गत हैं। मद्रास, बम्बई अथवा अन्य किसी राज्य के, जहाँ रैयतवारी व्यवस्था मुख्य रूप से प्रचलन में है, जहाँ तक साधारण प्रसंविदायुक्त किसानों का सम्बन्ध है, अभी तक लगान में इच्छानुसार वृद्धि करने अथवा उन्हें चाहे जब बेदखल करने से उनकी रक्षा करने का कोई विशेष विधान न था; केवल एक साधारण काश्तकारी अधिनियम प्रचलन में था जिसके अन्तर्गत यदि दोनों पक्षों में कुछ समझौता हो चुका हो तो उसे क्रियान्वित किया जा सकता था पर यदि कोई समझौता न हुआ हो तो स्थानीय व्यवहृत रीतियों के अनुसार ही कार्य किया जायगा। किन्तु काश्तकारों की

१. लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल, रिपोर्ट, खण्ड १, पैरा ६८।

संख्या में वृद्धि होने, कृषि की अधोगति होने तथा ग्रामीण समुदाय के छिन्न-भिन्न होने के कारण, आसामियों में भूमि के लिए अत्यधिक स्पर्धा होने के कारण तथा इससे लगान की दरों में वृद्धि होने के कारण रैयतवारी प्रदेशों में भी जमींदारी राज्यों की भाँति काश्तकारी विधान की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा।

११. सन् १६३६ का बम्बई का काश्तकारी अधिनियम (द बॉम्बे टेनेन्सी एक्ट)—बम्बई का काश्तकारी अधिनियम अक्तूबर सन् १६३६ में पास किया गया। अप्रैल सन् १६४० में इस पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति प्रदान की गई तथा सन् १६४१ में राज्य के कुछ चुने हुए भागों में यह व्यवहार में लाया गया।[1]

काश्तकारी विधेयक के उद्देश्य एवं इसे प्रस्तुत करने के कारणों को बताते हुए जो कुछ कहा गया उससे यह प्रतीत होता था कि सन् १८७६ के बम्बई भूमि लगान-सम्बन्धी नियम तथा सन् १८८० का खोटी-बन्दोबस्त का अधिनियम जिनके अन्तर्गत राज्य में जमींदार एवं काश्तकार के मध्य के सम्बन्धों की व्यवस्था की गई थी, वे कुछ स्थितियों में पूर्णतः असन्तोषजनक पाये गए।[2] अनेक काश्तकार ऐसे थे जो कई पीढ़ियों से एक ही भूमि के अधिकारी होते चले आ रहे थे, किन्तु उनको उस भूमि से सम्बन्धित स्थायी अधिकार प्रदान नहीं किये गए थे तथा अब भी वे गैर-मौरूसी काश्तकार ही बने हुए थे जिनकी काश्तकारी जमींदार की इच्छानुसार कभी भी हटाई जा सकती थी। इस कारण उन्हें भूमि में सुधार करने की कभी प्रेरणा ही नहीं होती थी, क्योंकि ऐसा करने पर लगान में वृद्धि हो जाने की संभावना रहती थी। यहाँ तक कि स्थानीय रीतियाँ, स्थायी काश्तकारों पर भी महसूल लगा देने की अथवा जबरदस्ती अथवा कम पारिश्रमिक देकर मजदूरी करा लेने की अनुमति प्रदान करती थीं। बड़े भू-पतियों के आसामी, चाहे वे खालसा गाँव के हों और चाहे हस्तान्तरित गाँव के, इन अवगुणों के विशेष रूप से शिकार होते थे। अतः यह काश्तकारी विधान ऐसे ज़मींदारों के काश्तकारों की विशेष रूप से रक्षा करता है।

इस अधिनियम के अन्तर्गत रक्षित काश्तकारों के एक नये वर्ग की रचना की गई। १ जनवरी, सन् १६३८ से ही ६ वर्ष पहले से जो काश्तकार भूमि पर अधिकार किये हुए थे, तथा ऐसी भूमि पर इस अवधि में वे स्वयं खेती करते थे, बेदखली से उनकी रक्षा की गई। ऐसे काश्तकार भी, जिन्हें १ अप्रैल सन् १६३७ के पश्चात् बेदखल किया गया था, कुछ परिस्थितियों में रक्षित काश्तकार माने गए। भू-धृति की यह सुरक्षा कुछ शर्तों पर आधारित है। यदि ज़मींदार स्वयं किसी भूमि पर खेती करना चाहे अथवा उसे कृषि के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य-हेतु प्रयुक्त करना चाहे, अथवा कोई काश्तकार लगान अदा न कर सके, अथवा बुरे या हानिकारक ढंग से काश्तकारी की जाय अथवा

---

१. अप्रैल, सन् १६४१ में बम्बई सरकार द्वारा एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गई जिसमें यह कहा गया कि इस विधान की पेचीदी प्रकृति, इसके द्वारा शासन सम्बन्धी जटिल समस्याओं के उत्पन्न किये जाने, एवं राज्य के आर्थिक ढाँचे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये जाने के कारण इसे पहले राज्य के कुछ चुने हुए भागों में ही व्यवहार में लाना उचित होगा।

२. बम्बई सरकार का गजट, दिनांक २६ अगस्त, सन् १६३८, पृ० ४६७-५११ देखिए।

कोई काश्तकार भूमि को स्वयं न जोते तथा किसी अन्य को लगान पर उठा दे, तो इन स्थितियों में काश्तकार को उपरोक्त रक्षा प्राप्त न हो सकेगी। यदि एक रक्षित काश्तकार को बेदखल किया जाय तो वह मुआवज़ा पाने का अधिकारी हो जाता है। जिसने भूमि में कोई सुधार किये हैं ऐसे काश्तकार की काश्तकारी कुछ शर्तों के साथ उसके वंशजों को हस्तान्तरित हो जाती है, किन्तु वह अपने काश्तकारी के अधिकारों को कहीं रहन नहीं रख सकता है, अथवा किसी अन्य प्रकार से उनको हस्तान्तरित नहीं कर सकता और न अदालत के द्वारा उनको ज़बरदस्ती छीना जा सकता है, न उनकी कुर्की कराई जा सकती है और न उनका विक्रय ही कराया जा सकता है। स्थानीय प्रचलित रीति अथवा ज़मींदार के साथ हुए समझौते के अभाव में अधिनियम के अन्तर्गत रक्षित काश्तकार द्वारा दिये जाने वाले उचित लगान को निश्चित करने की विधि भी दी हुई है। उचित लगान निर्दिष्ट वैधानिक रीति के अनुसार मामलतदार द्वारा निश्चित किया जाता है तथा उसके निर्णय के विरुद्ध प्रथम श्रेणी के अधीनस्थ न्यायाधीश के यहाँ अपील की जा सकती है।

अधिनियम के अन्तर्गत समस्त वर्ग के काश्तकारों को कुछ सुविधाएँ दी गई हैं। उदाहरणार्थ, ज़मींदार द्वारा वैधानिक लगान के अतिरिक्त न्याय-विरुद्ध किसी महसूल, लगान, टैक्स, तथा सेवा आदि लेने का निषेध है। इन निषिद्ध कार्यों के लिए भारी जुर्माने की व्यवस्था है। कुछ क्षेत्रों के लिए सरकार काश्तकारों द्वारा देय लगान की उच्चतम सीमा निर्धारित कर सकती है। जब कभी सरकार ज़मींदारों को मालगुज़ारी के सम्बन्ध में परिहार अथवा निलम्बन प्रदान करती है तो यह आवश्यक है कि ज़मींदार भी काश्तकारों को इसी प्रकार की सुविधाएँ दे। यह नियम फ़सल के भाग के रूप में दिये जाने वाले लगानों के सम्बन्ध में लागू नहीं होता।

सब काश्तकार अपनी भूमि पर अपने ही द्वारा उत्पन्न की हुई उपज तथा अपने द्वारा लगाए पेड़ तथा उनकी लकड़ी प्राप्त करने के अधिकारी हैं। उनकी काश्तकारी के समाप्त होने पर वे ऐसे पेड़ों के हेतु उचित मुआवज़ा भी पाने के अधिकारी हैं। कुछ स्थितियों में काश्तकारी की समाप्ति पर कुछ सहायता प्रदान की गई है।

अधिनियम की ३३वीं धारा के अन्तर्गत कृषि सम्बन्धी कोई भी पट्टा दस वर्ष से कम की अवधि के लिए नहीं किया जा सकता ताकि काश्तकार अपनी भूमि में सुधार करने के लिए प्रोत्साहित हों और अपने परिश्रम के बदले उचित लाभ प्राप्त कर सकें।

इसके अतिरिक्त काश्तकारों की रक्षा बम्बई विधान परिषद द्वारा अक्तूबर सन् १९४६ में पास किये गए विधेयक के द्वारा की गई है।

१२. बन्दोबस्त क्या है ?—भू-धृति का प्रारम्भिक अध्ययन कर लेने के उपरान्त अब हम इस स्थिति पर आ गए हैं कि मालगुज़ारी के बन्दोबस्त का निरूपण करें। पारिभाषिक अर्थ में मालगुज़ारी के बन्दोबस्त में निम्नलिखित बातों को निश्चित किया जाता है: (१) राज्य उत्पादन के कौनसे अंश अथवा कितने वार्षिक लगान (मालगुज़ारी) का अधिकारी है; (२) कौन व्यक्ति अथवा कौन-कौन व्यक्ति राज्य का अंश जमा करने के लिए उत्तरदायी हैं; तथा (३) व्यक्तियों के भूमि से सम्बन्धित जो-जो अधिकार हैं,

उनका लेखा रखना। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है तीसरा प्रश्न ज़मींदारी प्रदेशों में, चाहे वह वैयक्तिक हो अथवा संयुक्त, विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वहाँ भूमिगत अधिकारों में क्रमिक वृद्धि होती है तथा भूमि में कुछ हित होते हैं जिन्हें स्वीकार करना पड़ता है।

१३. बन्दोबस्त के आवश्यक तत्त्व[१]—भू-राजस्व अथवा मालगुज़ारी के बन्दोबस्त की तीन मुख्य दशाएँ हैं—(१) क्षेत्रफल एवं स्वामित्व सम्बन्धी (कैडेस्ट्रॉल)[२] लेखों का तैयार करना, (२) मालगुज़ारी का निर्धारण और (३) निर्धारित मालगुज़ारी की वसूली।

(१) क्षेत्रफल एवं स्वामित्व लेखे—इन लेखों, जिनके अन्तर्गत गाँव का नक्शा, वित्त अथवा मालगुज़ारी-सम्बन्धी लेखे तथा अधिकारों के लेख सम्मिलित किये जाते हैं, के तैयार करने की विधि इस प्रकार होती है: पहले समस्त भूमि का प्रत्येक खेत पर जाकर सर्वेक्षण किया जाता है; साथ ही सीमाओं का निर्धारण किया जाता है ताकि खेती योग्य भूमि का तथा मालगुज़ारी के लिए हर तरह की मिट्टी का सही अनुमान लगाया जा सके और अधिकार-सम्बन्धी सही लेखे तैयार किये जा सकें। इस सर्वेक्षण के आधार पर प्रत्येक गाँव के लिए एक नक्शा बनाया जाता है जिसमें हर जोत पृथक्-पृथक् दिखलाई जाती है तथा खेती योग्य एवं बेकार पड़ी भूमि का सम्पूर्ण क्षेत्रफल एवं उसकी स्थिति दिखलाई जाती है। गाँव के नक्शे के अनुरूप साधारणतः खतौनी (खेतों का रजिस्टर) भी बनाया जाता है और इन दोनों के आधार पर वित्त अथवा मालगुज़ारी-सम्बन्धी लेखे तैयार किये जाते हैं जिनमें मालगुज़ारी जमा करने वालों की सही सूची रहती है तथा प्रत्येक नाम के सामने उसके द्वारा देय रकम लिखी होती है। इनके पूरक के रूप में आँकड़े देने वाली तालिकाएँ एवं आँकड़ों से पूर्ण अन्य लेख-पत्र रहते हैं, जिनसे गाँव के पिछले इतिहास एवं उसकी वर्तमान अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। अन्ततः अधिकारों का एक लेखा स्वतन्त्र रूप से अथवा मालगुज़ारी के लेखे में ही जुड़ा हुआ तैयार किया जाता है, जो भू-धृति तथा भूमि-सम्बन्धी विभिन्न अधिकार, जैसे ज़मींदार, हिस्सा बँटाने वाले, अधीनस्थ स्वामी, मौरूसी काश्तकार आदि के अधिकार और रहन, विक्रय, पट्टे आदि द्वारा उत्पन्न हुए अधिकार दिखलाता है। प्रत्येक व्यक्ति के इस प्रकार के लेखों के दर्ज करने एवं उनमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन होने पर उसकी रजिस्ट्री करने की व्यवस्था से ये सब लेखे अन्तिम तिथि तक पूर्ण रहते हैं। इस प्रकार लिखे गए अधिकार वैधानिक समझे जाते हैं जब तक कि उनके विरुद्ध कुछ प्रमाण न मिले।

(२) मालगुजारी का निर्धारण—मालगुजारी की माँग निश्चित करने के उद्देश्य से पहले भूमि का मूल्याङ्कन किया जाता है और लगान की दरें मालूम की जाती हैं और उनको जोड़कर उसकी ठीक-ठीक-व्यवस्था की जाती है। यह सम्पत्ति (ज़मींदारी)

---

१. इम्पीरियल गज़ेटियर, खण्ड ४, अध्याय ७ देखिए।

२. 'कैडेस्ट्रॉल' का शाब्दिक अर्थ भूमि के स्वामित्व एवं क्षेत्रफल से है, जिस पर लगान निर्धारित किया जा सके।

अथवा जोत की ज़मीन द्वारा देय रकम होती है। कुछ स्थितियों में इसके अतिरिक्त भी कार्य करना शेष रहता है, जिसके अन्तर्गत इस सम्पूर्ण रकम में से कितना-कितना हिस्सेदारों अथवा काश्तकारों द्वारा देय होगा, यह मालूम करना आवश्यक हो जाता है।[1] विभिन्न राज्यों में मालगुजारी निर्धारित करने के विभिन्न आधारों के सम्बन्ध में अभी विचार किया जायगा।

(३) मालगुजारी की वसूली : (क) किश्तें—सरकारी मालगुज़ारी की सम्पूर्ण रकम एक साथ वसूल नहीं की जाती, वरन् मालगुज़ारी देने वालों की सुविधानुसार किश्तों में वसूल की जाती है। उदाहरणार्थ, एक सामान्य जमींदार मालगुज़ारी की रकम उस समय तक जमा नहीं कर सकता जब तक कि फसल कट न जाय तथा उत्पाद को बाजार में बेच न दिया जाय। किश्तों की रीति का चलन में आने का दूसरा कारण यह है कि एक ही बार में बहुत अधिक रुपये की माँग को बचाया जा सके, क्योंकि इससे कीमतों के गिरने एवं ब्याज की दर बहुत अधिक (असुविधाजनक स्तर तक) चढ़ जाने की सम्भावना रहती है।

(ख) मालगुजारी की बकाया रकम की वसूली का ढंग—मालगुज़ारी की बकाया रकम वसूल करने के सम्बन्ध में स्थायी बन्दोबस्त तथा अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रदेशों में भिन्नता है। स्थायी बन्दोबस्त वाले प्रदेशों में जमींदारी की भेंट के साथ यह कठिन शर्त भी थी कि निश्चित समय पर मालगुजारी अवश्य जमा कर दी जाय अन्यथा जमींदारी का तुरन्त विक्रय कर दिया जायगा। जमींदार की प्रतिष्ठा को दृष्टि में रखकर उसे सजा दिलवाना अथवा चल-सम्पत्ति की कुर्की कराना उचित नहीं समझा गया। अस्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में बकाया लगान वसूल करने की विधि इससे कम कठोर है तथा भूमि का विक्रय पहला कदम न होकर सब प्रयत्न कर लेने के पश्चात् अन्तिम उपाय के रूप में ही अपनाया जाता है।

(ग) मालगुजारी या भू-राजस्व का परिहार और निलम्बन—एक बन्दोबस्त के लिए जो मालगुजारी निर्धारित की जाती है, वह उस बन्दोबस्त की सम्पूर्ण अवधि के लिए यह ध्यान में रखकर निश्चित की जाती है कि उस काल की ऋतुएँ और परिस्थितियाँ सामान्य रहेंगी; तथापि स्थानीय अथवा व्यापक रूप से फैली हुई असामान्य विपदाएँ आ जाती हैं, जैसे नदियों में बाढ़ आना, वर्षा का बिलकुल न होना अथवा सिंचाई के साधनों का पूर्णतः अभाव हो जाना या उपज के बाजार-भावों का बहुत अधिक गिर जाना इत्यादि। यह बात होते हुए भी कि प्रत्येक समय हर तरह की विपत्तियों के बावजूद किसान अच्छी-से-अच्छी फसल उत्पन्न करना चाहता है, ये कारण उसे असहाय बना देते हैं। ऐसी स्थिति में किसान को कुछ सहायता देना अनिवार्य हो जाता है। जिस अनुपात में फसल नष्ट होती है यह सहायता उस अनुपात में दी जाती है तथा यह सहायता मालगुजारी के आंशिक अथवा पूर्ण परिहार और निलम्बन के रूप में हो सकती है। बाद में होने वाली फ़सल के अनुसार निलम्बित मालगुजारी या तो जमा करा ली जाती है या उसका परिहार कर दिया जाता है। आंशिक अथवा पूर्ण परि-

१. बैडेन पॉवेल, 'लेएड रेवेन्यू एएड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया', पृ० १४८।

हार फसलों के लगातार नष्ट होते रहने पर ही किया जाता है।

१४. बन्दोबस्तों का वर्गीकरण—बन्दोबस्तों की अवधि के हिसाब से उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। जब राज्य का अंश स्थायी रूप से सदैव के लिए निश्चित कर दिया जाता है जैसा कि बंगाल में होता है, तो उसे स्थायी बन्दोबस्त कहते हैं तथा जहाँ यह अस्थायी रूप से केवल एक निश्चित समय तक के लिए ही निर्धारित किया जाता हैं, वहाँ उसे अस्थायी बन्दोबस्त कहते हैं। ऐसे अस्थायी बन्दोबस्त ३० साल के लिए बम्बई, मद्रास और उत्तरप्रदेश में, २० साल के लिए मध्यप्रदेश में और ४० साल के लिए पंजाब में हैं।

बन्दोबस्त का वर्गीकरण भू-धृति की प्रणाली के आधार पर भी किया जाता है। भू-धृति के जिन तीन प्रमुख प्रकारों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, उसी के अनुसार बन्दोबस्त भी निम्न तीन प्रकार के होते हैं:[1]

(१) एक जमींदार के अन्तर्गत एक ही भू-सम्पत्ति या जागीर का बन्दोबस्त। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित भेद हो सकते हैं:

(क) बंगाल, उत्तरी मद्रास तथा बनारस में जमींदारों के साथ स्थायी बन्दोबस्त।

(ख) बंगाल के शेष जमींदारों[2] के साथ अस्थायी बन्दोबस्त।

(ग) अवध के ताल्लुकेदारों के साथ अस्थायी बन्दोबस्त।

(२) स्वामित्व वाले समुदायों, अधिकांशतः गाँव वालों के समुदायों, की भू-सम्पत्ति के बन्दोबस्त। इन्हें महलवारी बन्दोबस्त कहते हैं। ऐसे बन्दोबस्तों के निम्नलिखित रूप होते हैं जिन सबका आधार अस्थायी होता है:

(क) उत्तरप्रदेश व आगरा और अवध में महलवारी बन्दोबस्त। (यहाँ कोई ताल्लुकेदार नहीं होते हैं, केवल गाँव के समुदाय ही होते हैं।)

(ख) पंजाब के महलवारी बन्दोबस्त।

(ग) मध्यप्रदेश के मालगुजारी बन्दोबस्त।

(३) वैयक्तिक खेतिहर भूमि के स्वामित्व के बन्दोबस्त। इसके भी भेद अस्थायी रूप के हैं तथा निम्नलिखित हैं:

(क) मद्रास की रैयतवारी प्रथा।

(ख) बम्बई और बरार की रैयतवारी प्रथा।

(ग) आसाम और कुर्ग की विशेष प्रथाएँ (ये सिद्धान्ततः रैयतवारी ही हैं,

---

१. बन्दोबस्त चाहे जिस प्रकार के हों किन्तु "वे सब निम्नलिखित तीन बातों में आपस में अवश्य मिलते हैं। प्रथम मालगुजारी के निर्धारण के पूर्व नक्शा तथा अधिकारों के लेखे तैयार किये जाते हैं; द्वितीय, भूमि को मिट्टियों के अनुसार बाँट लिया जाता है, तथा तृतीय, मालगुजारी का निर्धारण अब फसल की उपज पर निर्भर नहीं करता वरन् कृषक की वास्तविक सम्पत्ति पर निर्धारित किया जाता है।" सर एडवर्ड ब्लन्ट, 'द आई० सी० एस०' पृ० १३१।

२. एक जमींदारी बन्दोबस्त आवश्यक रूप से स्थायी बन्दोबस्त नहीं होता है, तथा एक रैयतवारी बन्दोबस्त आवश्यक रूप से अस्थायी बन्दोबस्त ही नहीं होता है। अवध में जमींदारी बन्दोबस्त अस्थायी होते हैं। इसी प्रकार रैयतवारी बन्दोबस्तों के स्थायी ढंग के होने पर भी कोई रोक नहीं है, यद्यपि ऐसा कोई उदाहरण नहीं दीख पड़ता।

किन्तु सरकारी भाषा में ऐसी नहीं कही जातीं।)

प्रत्येक बन्दोबस्त ऊपर दिये तीन वर्गों में से किसी एक प्रकार का होना चाहिए और अवश्य ही उसे या तो स्थायी अथवा अस्थायी होना चाहिए।[1]

१५. जमींदारी बन्दोबस्त : बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त—हम अब तक यह देख चुके हैं कि किस प्रकार (मालगुज़ारी जमा करने वाले) राजस्व-कृषि के विकास ने, विशेष रूप से बंगाल में पुराने किसानों को दबा दिया और नये भूमि-स्वामियों को जन्म दिया, जो ज़मींदारों के नाम से प्रसिद्ध हुए। हम यह भी देख चुके है कि किस प्रकार मुग़ल साम्राज्य के पतन होने के कारण अकबर द्वारा प्रतिपादित राजस्व-प्रशासन के अन्त हो जाने से किसान को एक ओर तो ज़मीदारों के नाना प्रकार के अधिक लगानों का शिकार होना पड़ा तथा दूसरी ओर राज्यीय शासकों द्वारा भूमि पर लगाए असंख्य अतिरिक्त-कर देने पड़ते थे। जो कुछ व्यवस्था शेष रह गई थी, वह सन् १७६५ मे दीवानी के अधिकार दे दिये जाने के उपरान्त कम्पनी के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में और बिगड़ गई। लॉर्ड क्लाइव की दोहरी शासन-प्रणाली के अन्तर्गत तो स्थिति अत्यधिक शोचनीय हो गई। अब न तो नवाब के लगान वसूल करने वाले राज्य-कर्मचारी ही सुशासन बनाए रखने का अपना उत्तरदायित्व अनुभव करते थे, और न ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा नियुक्त कर्मचारी ही देश में अच्छी शासन-व्यवस्था स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे। फलस्वरूप जनता का इन दोनों द्वारा दमन किया जाता था, किन्तु इनमें से जनता की रक्षा कोई भी न करता था। सन् १७६९ में नियुक्त किये गए राजस्व-पर्यवेक्षक भी ज़मीदारों द्वारा किसान की लूट को रोकने में असमर्थ ही रहे, क्योंकि एक तो वे कम उम्र के अनुभवहीन कर्मचारी थे, दूसरे इस सम्बन्ध में प्रत्येक आवश्यक सूचना केवल ज़मींदारों और कानूनगों तक ही सीमित थी और वे कोई भी सूचना देना नहीं चाहते थे। सन् १७७० में जो भयंकर अकाल पड़ा उससे किसानों की कठिनाई में और वृद्धि ही हुई। सन् १७७२ में कम्पनी की संचालक-सभा ने दीवान का कार्य स्वयं करने का निश्चय किया तथा वारेन हेस्टिंग्ज़ को राजस्व-शासन प्रत्यक्ष रूप से चलाने का आदेश दिया। उसने कलक्टरों की नियुक्ति करके मालगुज़ारी वसूल करने की स्थिति को कुछ सँभाला। बाद में उसने माल-सम्बन्धी परगना, राज्यीय तथा केन्द्रीय बोर्ड भी स्थापित किये, परन्तु मालगुज़ारी निर्धारित करने की पद्धति में परिवर्तन करने का बहुत बुरा प्रभाव हुआ। पहले पाँच साल के लिए तथा फिर प्रति वर्ष लगान वसूल करने के लिए पट्टों की जनता में नीलामी की जाने लगी तथा जो सबसे ऊँची बोली बोलता था उसे ही लगान वसूल करने के सम्बन्ध में पट्टे दिये जाने लगे। इससे ज़मींदार को तो अलग किया जाने लगा किन्तु पूँजीपतियों एवं सट्टेबाजों

---

१. सन् १९२८-२९ में रैयतवारी प्रथा के अन्तर्गत खेतिहर भूमि का क्षेत्रफल ३३४,५९८,००० अथवा सम्पूर्ण क्षेत्रफल का ५१% था: स्थायी रूप से जमीदारी अथवा गॉव की जातियो के अन्तर्गत १२१,०१७,७०० अथवा सम्पूर्ण क्षेत्रफल का १९% था, तथा जमीदारी एवं गांव की जातियों की अस्थायी रूप से निर्धारित खेतिहर भूमि का क्षेत्रफल १९८,९०२,००० अथवा सम्पूर्ण क्षेत्रफल का ३०% था।—इण्डिया इन १९३०-३५, पृ० १९९।

को बढ़ावा मिला, जो किसानों पर अत्यधिक लगान तथा अन्य नाना प्रकार के अवैध अतिरिक्त भूमि-कर लगाकर उनसे भरसक धन खीचने की चेष्टा करते थे। लगान वसूल करने की इस नई पद्धति का मूल कारण सम्भवतः यही था कि अब तक ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की आर्थिक अवस्था बहुत बिगड़ चुकी थी, किन्तु कम्पनी के संचालक-गण कम्पनी के अंशधारियों को बहुत ऊँचे लाभांश देने के लिए चिन्तातुर थे। इस प्रकार की बिगड़ी हुई परिस्थिति में सुधार करने तथा बंगाल के कृषकों की कठिनाइयो को कम करने के मुख्य उद्देश्यों से प्रेरित होकर सन् १७८६ में लार्ड कार्नवालिस भारत आये।

लार्ड कार्नवालिस के शासन का सबसे महत्त्वपूर्ण क़दम बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त है। राज्य का अंश स्थायी रूप से सदैव के लिए निश्चित कर दिया जाय, यह विचार सबसे पहले फ्रान्सिस के मस्तिष्क में आया था। बाद में इसे फॉक्स ने अपने 'भारत विधेयक' में स्थान दिया। सन् १७८५ में संचालक-सभा ने इसके लिए भारत के शासन-प्रबन्ध-कर्ताओं को सिफारिश की। किन्तु अन्त में लार्ड कार्नवालिस ने ही सर जॉन शोर की सहायता से बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त की नीति को कार्य-रूप में परिणत किया। तीन वर्ष की जाँच के पश्चात् जमींदारों के साथ एक निर्णय किया गया, जिसके अन्तर्गत जितने क्षेत्रफल का वे लगान वसूल करते थे उस क्षेत्रफल का उन्हें पूर्ण स्वामी घोषित किया गया, जिससे ज़मीदारों की स्थिति वैध हो सके और वे सरकार के प्रति अपने दायित्व को भली प्रकार से निभा सके। ऐसा करने का एक अन्य उद्देश्य यह भी था कि ज़मींदार इससे अपनी भू-सम्पत्ति में दिलचस्पी लेने लगेंगे। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ज़मींदारों को यह अधिकार केवल इसी शर्त पर दिया गया था कि वे सरकार को सदैव मालगुज़ारी देते रहेंगे तथा यदि कभी उन्होंने मालगुजारी जमा न की तो उनकी भू-सम्पत्ति को बेचा जा सकेगा। इस सम्बन्ध में अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि के कारण फसल न होने और मालगुज़ारी जमा न किये जाने का बहाना नही सुना जायगा। इसके साथ ही सरकार ने "अधीनस्थ ताल्लुकेदार, रैयत एवं कृषकों की भलाई और उनकी रक्षा के लिए आवश्यक उपायों को क्रियान्वित करने का अधिकार भी अपने पास सुरक्षित रखा।" मालगुज़ारी का निर्धारण इस प्रकार किया गया कि जमींदार किसानों से जो लगान वसूल करेंगे उसका १०/११ भाग सरकार का अंश होगा तथा शेष १/११वाँ भाग वे अपने दायित्व तथा अन्य परेशानियों के एवज में रख लेगे। मालगुजारी की रक़म भूमि का सर्वेक्षण किये बिना, भूमिगत अधिकारों एवं स्वार्थों के लेखों को देखे बिना तथा विभिन्न प्रकार की मिट्टियों की उत्पादन-क्षमता पर विचार किये बिना ही तुरन्त निश्चित कर दी गई। सन् १७९३ में संचालक-सभा की सलाह से यह बन्दोबस्त सदैव के लिए स्थायी घोषित कर दिया गया। साथ ही यह भी घोषित किया गया कि मालगुजारी की निर्धारित रक़म में भी कभी कोई परिवर्तन न किया जा सकेगा तथा सरकार ने स्पष्ट शब्दों में यह आश्वासन दिया कि ज़मींदारों से अथवा उनके उत्तराधिकारियों से कभी भी मालगुजारी की निर्धारित रकम में वृद्धि करने के लिए नहीं कहा जायगा। चाहे वे अपनी भू-सम्पत्ति की

कितनी भी उन्नति कर लें ।[1] ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मुख्य उद्देश्य यह था कि सरकारी मालगुजारी नियत समय पर अवश्य जमा हो जाय। इसके लिए खेती का विकास अत्यन्त आवश्यक था तथा संचालकों की राय में यह उसी समय सम्भव था जब कि स्थायी बन्दोबस्त कर दिया जाय। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यद्यपि जमींदारों के अधिकारों को स्वीकार करने में सर जॉन शोर लार्ड कार्नवालिस से सहमत थे, तथापि वे बन्दोबस्त को सदैव के लिए स्थायी घोषित करने से पूर्व अब तक चले आ रहे दस-वर्षीय बन्दोबस्त के समाप्त होने तक प्रतीक्षा करने के पक्ष में थे।

१६. बंगाल में सन् १७६३ के जमींदारी बन्दोबस्त की आलोचना—उक्त बन्दोबस्त की अनेक प्रकार से आलोचना की जा सकती है। प्रथम, कोई भी बन्दोबस्त करने से पूर्व जो आवश्यक प्रारम्भिक क्रियाएँ की जानी चाहिएँ, जैसे भूमि का विस्तृत सर्वेक्षण, मिट्टी के अनुसार भूमि का विभाजन, भूमिगत अधिकारों के लेखे तैयार करना इत्यादि, यह सब-कुछ नहीं किया गया। दूसरे, इस डर से कि कहीं ज़मींदारों में अविश्वास न उत्पन्न हो जाय, उनकी जागीरों के आन्तरिक हितों एवं स्वार्थों की विवेचना नहीं की गई। रैयतों के विषय में यह आशा की गई कि ज़मींदार उनसे आपस में समझौता कर लेंगे तथा ज़मींदार उनके अधिकारों की रक्षा करेंगे। फिर भी जैसा कि बैडेन-पॉवेल ने कहा है, "भूमि के सर्वेक्षण के बिना तथा भूमिगत अधिकारों एवं हितों को देखे बिना ही स्थायी बन्दोबस्त करना अन्य बातों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिकूल प्रभावों से पूर्ण सिद्ध हुआ है।"[2]

स्थायी बन्दोबस्त का दूसरा बड़ा दोष यह था कि इसमें रैयतों के अधिकारों एवं हितों की रक्षा करने की कोई व्यवस्था नहीं की गई। इन पर दो प्रकार के अन्याय हुए। एक तो इनसे भू-स्वामित्व के अधिकार छीन लिये गए और दूसरे, इन्हें पूर्ण रूप से केवल ज़मींदारों की ही दया पर छोड़ दिया गया जिन्होंने इन पर नाना प्रकार से अधिक लगान लगाना आरम्भ कर दिया।[3] यह समझना एक भूल ही थी कि देश में प्रचलित रीति-व्यवहारों ने भूमि से सम्बन्धित पक्षों के अधिकारों को सुनिश्चित कर दिया था तथा उनके आधार पर अदालतें सम्बद्ध पक्षों के भूमिगत हितों एवं वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा कर सकेंगी। यद्यपि ऐसा एक सामान्य नियम था कि रैयतों को भी पट्टे दिये जायँ, जिसमें प्रत्येक रैयत का क्षेत्र दर्ज हो और उन सब शर्तों तथा

१. टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ५५। लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल, रिपोर्ट, खण्ड १, पैरा ४४ भी देखिए।

२. 'लैंड सिस्टम्स ऑफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड १, पृ० २८६।

३. स्थायी बन्दोबस्त के दो दोष थे : "पहला यह कि, गाँवों में खेतिहर भूमि पर स्वामित्व अथवा अधिकार सम्बन्धी किसानों के सब अधिकार समाप्त कर भूमि पर केवल जमीदार का ही स्थायी आधिपत्य स्वीकार किया गया; और दूसरे, सब किसानो के लिए एक ऐसा अधिनियम पास कर दिया गया जिसके अन्तर्गत समस्त किसानों को जमीदार से ऐसे समझौते के लिए छोड़ दिया गया जिसमें उन्हें वे सब बातें स्वीकार करनी पड़ी जिन्हें जमीदार ने चाहा।" सर जे० ई० कोलब्रुक (इसे मॉरीसन ने अपनी "द इण्डस्ट्रियल आर्गेनाइजेशन ऑफ ऐन इण्डियन प्रॉविन्स' नामक पुस्तक में पृष्ठ २७ पर उद्धृत किया है।)

स्थितियों का उल्लेख हो जिन पर उस रैयत को खेतिहर भूमि ठेके पर दी जा रही है, किन्तु अमल में ऐसा नहीं किया जाता था, क्योंकि पहले तो पट्टों को न्यायालय में प्रस्तुत किये जा सकने की दृष्टि से उनका कोई मूल्य न था। दूसरे, पट्टा लिखवाने के लिए किसान भी राजी नहीं थे। उन्होंने इसमें अपनी दो हानियाँ देखीं। एक यह कि ऐसा करने से उनकी अधीनस्थ स्थिति प्रमाणित हो जाती, तथा दूसरी यह कि उन्हें फिर पट्टे में लिखी सारी बातों एवं स्थितियों को स्वीकार करना पड़ता जिन्हें वस्तुतः वे स्वयं भली प्रकार से नहीं समझते थे। यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा कि तत्कालीन भूमि को बेचे जा सकने की छूट देने वाले नियम के अन्तर्गत किसानों से जिस कड़ाई के साथ बहुत अधिक लगान वसूल कर लिया जाता था, यह भी उनकी दुःखमय अवस्था का एक बहुत बड़ा कारण था। जब भी किसान वायदे के अनुसार मालगुजारी नहीं चुकाते थे उनकी ज़मीन तुरन्त ही नीलाम कर दी जाती थी। ऐसा इसलिए आवश्यक समझा गया कि सरकार जिस प्रकार वायदे के अनुसार नियत समय पर ज़मींदार से सदैव मालगुजारी जमा करा लेना चाहती थी उसी भाँति ज़मींदार भी अपने आसामियों से लगान वसूल कर सकें और इसमें ज़मींदार की कुछ सहायता करना भी आवश्यक समझा गया। सन् १७९९ के विनियम ७ के अन्तर्गत ज़मींदार को कुर्की करा लेने से सम्बन्धित व्यापक एवं मनमाने अधिकार प्रदान किये गए। यही नहीं, अनेक स्थितियों में राज्य का अंश न देने के कारण स्वयं ज़मींदार को अपनी भू-सम्पत्ति का वास्तव में विक्रय करना पड़ता था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि ज़मींदारों के उत्तराधिकारी भूमि का क्रय करने के पूर्व उससे सम्बन्धित अपने अधिकारों की स्पष्ट रूप से व्याख्या कराने के लिए ज़िद करते। स्पष्ट ही इसका अर्थ यह था कि किसानों के अधिकारों को पूर्ण रूप से कुचल दिया जाय तथा उसे नये स्वामी की अधिकाधिक एवं बलपूर्वक वसूल किये जाने योग्य माँगों के अधीन बना दिया जाय। आसामी की यह अत्यधिक शोचनीय एवं अन्यायपूर्ण स्थिति लगभग ७५ वर्ष, सन् १८५९ और १८८५ के काश्तकारी नियम बनने तक, रही।[1]

प्रायः यह दृढ़तापूर्वक कहा जाता है कि लार्ड कार्नवालिस स्वयं एक अंग्रेज जमींदार था अतः वह अपने अभिजात पूर्व ग्रहों को लेकर भारतवर्ष में भी इंगलैण्ड की तरह ज़मींदारों का एक नया अभिजात वर्ग बनाना चाहता था, यद्यपि इन दोनों देशों की स्थितियों में बहुत अधिक अन्तर था। वास्तव में यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि स्थायी बन्दोबस्त कम्पनी के मध्यमवर्गीय कर्मचारियों की देन थी। हाँ, हो सकता है, स्वयं एक अभिजात अंग्रेज परिवार का व्यक्ति होने के नाते लार्ड कार्नवालिस ने इस नीति को, जिससे उसका नाम सम्बन्धित हो गया है, तुरन्त ही अपना लिया हो जिसे अन्यथा वह इतनी प्रसन्नता एवं शीघ्रता से स्वीकार न करता। यह तो निश्चित रूप से असत्य है कि केवल कार्नवालिस ही स्थायी बन्दोबस्त का जन्मदाता और सबसे बड़ा समर्थक था। यही नहीं, इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि जिस

१. सन् १७९३ से १८५९ तक के समय के लिए बंगाल लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, खण्ड १, पैरा ४९ देखिए।

समय लार्ड कार्नवालिस के हाथ में सत्ता आई, उस समय तक ये ज़मींदार अपनी स्थिति इतनी अधिक सुदृढ़ बना चुके थे कि उनकी उपेक्षा करना तथा पिछली एक शताब्दी की घटनाओं को भुलाकर नये सिरे से इस समस्या का विश्लेषण करना असम्भव हो चुका था और जमीदारों के अतिरिक्त भूमि का वास्तव में, मौलिक रूप से, स्वामी कौन था—क्योंकि ज़मींदार तो केवल मालगुजारी जमा करने वाले कृषक-मात्र ही थे। इस प्रकार अब तक जो कुछ किया जा चुका था उसको लार्ड कार्नवालिस ने निष्ठुर तथ्यों के परिणाम के रूप में स्वीकार कर लिया। यहाँ इस बात को भी याद रखना चाहिए कि उस समय बंगाल की कृषि कुछ तो दीवानी के बाद की लगान-सम्बन्धी सर्वदा बदलने वाली नीति के कारण तथा सन् १७७० के भयंकर अकाल के कारण जिस प्रकार की हीन अवस्था को प्राप्त हो चुकी थी, उसका शीघ्र हल निकालना अत्यन्त आवश्यक था। अतः इसके पक्ष में बड़े प्रबल कारण थे कि किसी-न-किसी तरह का जमींदारी बन्दोबस्त होना ही चाहिए। नक्शों एवं प्रत्येक व्यक्ति की खेतिहर भूमि के क्षेत्रफल एवं लगान के सम्बन्ध में विश्वसनीय लेखों के अभाव में रैयतवारी बन्दोबस्त करना असम्भव था। सड़कों तथा संचार-साधनों की कमी तथा किसानों से प्रत्यक्ष रूप से लगान वसूल कर सकने योग्य शिक्षित कर्मचारियों के अभाव में यह आवश्यक हो गया कि कोई ऐसी संस्था अवश्य होनी चाहिए जो ठेके पर अथवा कमीशन पर मालगुजारी वसूल कर ले।[1] ऐसी स्थितियों में यही उचित समझा गया कि जमीदारों को ही भू-स्वामी मान लिया जाय, क्योंकि वे ही मालगुजारी वसूल करने का व्यवस्थित माध्यम प्रस्तुत करते थे तथा उन्ही को स्वीकार करने में कृषि के पुनरुद्धार के कुछ आसार दृष्टिगत होते थे।

बङ्गाल के बन्दोबस्त का तीसरा तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष निर्धारण की चिरन्तनता का प्रश्न है, किन्तु यह केवल बङ्गाल तक ही सीमित न होकर अन्य क्षेत्रों के लिए भी महत्त्व का है। अतः इसके सम्बन्ध में विशेष अध्ययन बाद में किया जायगा। (आगे सेक्शन ३१-३२ देखिए।)

१७. बनारस तथा मद्रास में स्थायी बन्दोबस्त—बनारस में अंग्रेज बङ्गाल का ही नमूना अपनाना चाहते थे, किन्तु वस्तुतः वे यहाँ की विशिष्ट संयुक्त भू-धृति पद्धति से अपरिचित थे; अतः उन्होंने ज़मींदारी गाँवों की स्थिति को बिलकुल भुला दिया—जिनमें एक सबल जातीय भावना से युक्त व्यक्ति निवास करते थे। उन्होंने किसी एक मुख्य हिस्सेदार अथवा किसी अन्य प्रमुख व्यक्ति के साथ ही स्थायी बन्दोबस्त (सन् १७९५ में) पूर्ण कर लिया। मद्रास में मैसूर तथा कर्नाटक के ज़िले मिलने तक किसी निश्चित योजना का पालन नहीं किया गया। इसके पश्चात पूरी प्रेसीडेन्सी में स्थायी बन्दोबस्त करने का प्रयत्न किया गया, यद्यपि रैयतवारी के आधार पर बन्दोबस्त प्रारम्भ कर दिया गया था। यहाँ कौनसी पद्धति अपनाई जाय, इस सम्बन्ध में काफ़ी मतभेद रहा, किन्तु संचालक-सभा ने बङ्गाल में स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत मालगुजारी के नियत समय पर जमा किये जाने से बहुत प्रभावित होकर मद्रास सरकार को यह आदेश दिया कि वह ज़मींदारों के साथ स्थायी रूप से बन्दोबस्त कर ले। उत्तरी मद्रास में तथा

१. देखिए, लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल, रिपोर्ट, खण्ड १, पैरा ४५।

दक्षिणी मद्रास के कुछ भागों में जमींदारों का अस्तित्व था। ये लोग अधिकतर भूतपूर्व राजाओं—शासकों—के उत्तराधिकारी थे। अतः इनके साथ बन्दोबस्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। दक्षिणी मद्रास में इनमें से कुछ ही जमीदारों को, जिन्हें पोलीगार कहा जाता था, स्वीकृत किया गया तथा शेष से उनके स्वामित्व के अधिकार दण्ड-स्वरूप छीन लिये गए, क्योंकि इन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना का विरोध किया था। इस प्रेसीडेन्सी के अधिकांश भाग में रैयतवारी गाँव थे, जहाँ इस प्रकार के मध्यस्थ थे ही नहीं तथा संचालक-सभा के आदेशानुसार इनके स्थान पर साहसी ठेकेदारों की खोज की गई। गाँवों को कृत्रिम ज़िलों के रूप में अथवा अन्य गाँवों के समूह के रूप में एकत्र किया गया तथा सबसे ऊँची बोली बोलने वालों के हाथ उन्हें नीलाम कर दिया गया। ये इस सम्पूर्ण भू-सम्पत्ति के ज़मींदार बन जाते थे। किन्तु यह प्रयोग बुरी तरह से असफल रहा और होना भी यह चाहिए था। जैसा कि बैडेन पावेल ने कहा है, "जब वास्तविक ज़मींदार ही, जिसका स्वाभाविक विकास १५० वर्षों में हुआ था, इतना बुरा था तब ऐसे नीलाम खरीदकर बनने वाले ज़मीदार के विषय में क्या कहा जा सकता था ? यह पद्धति पूर्णतः असफल ही रही।"[1] अतः इस प्रयोग को सदैव के लिए छोड़ दिया गया तथा मनरो द्वारा विकसित एवं दृढ़तापूर्वक समर्थित—चाहे उसकी उद्भावना किसी के भी द्वारा हुई हो—रैयतवारी पद्धति को अपनाया गया। किन्तु रैयतवारी पद्धति को भली प्रकार अपनाने से पूर्व ही मद्रास प्रेसीडेन्सी का लगभग २० प्रतिशत से ३३ प्रतिशत के बीच का भाग स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत आ चुका था। मद्रास में जमींदारी जागीरों के लिए काश्तकारी विधानों की प्रगति का विवरण पहले ही दिया जा चुका है।

१८. स्थायी बन्दोबस्त का बाद का इतिहास :—(क) कम्पनी के अधीन—कम्पनी के शासन के दिनों में वैल्ज़ली, मिण्टो, हेस्टिंग्ज, बैंटिक तथा मनरो, इन सबने भारत के शेष भागों में स्थायी बन्दोबस्त का विस्तार करने का दृढ़ता से समर्थन किया। उनका विश्वास था कि बंगाल के उदाहरण को देखते हुए—जो पुनर्जीवित हो चला था—यह पूर्ण रूप से आशा थी कि इससे कृषि के शीघ्र विकास की सम्भावनाएँ अवश्य दृष्टिगत होंगी। फिर भी सन् १८२० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालकों ने ऐसे प्रस्तावों को अस्वीकृत कर दिया, यद्यपि देश के सब भागों में इस आशय की प्रतिज्ञाएँ घोषणा द्वारा तथा अनेक प्रकार की आशाएँ दिलाकर की गई थीं।[2]

(ख) सम्राट् के अधीन—कम्पनी के समाप्त कर दिये जाने के उपरान्त लार्ड कैनिंग ने कर्नल बेअर्ड स्मिथ की सिफारिश पर इस प्रश्न को पुनः उठाया। सन् १८६० में उड़ीसा में एक भयंकर अकाल पड़ा था जिसके कारणों की जाँच करने तथा ऐसे संकटों

---

१. लैण्ड सिस्टम्स ऑफ ब्रिटिश इण्डिया, खण्ड १, पृ० २६२।

२. जैसा कि रानाडे ने कहा था : "कैप्टेन विन्गेट और उसके साथी जो बम्बई सर्वेक्षण के अग्रसर थे, सदैव स्थायी बन्दोबस्त को अपनी भू-सम्बन्धी नीति का उत्कृष्ट नमूना मानते थे तथा समय-समय पर होने वाले बन्दोबस्तों को तो केवल स्थायी बन्दोबस्त की तैयारी अथवा बीच-बीच में बन्दोबस्त का प्रारम्भ मानते थे।"—रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू एसेसमेण्ट कमिटी (१६२६), पृ० ७२।

के निवारण के लिए सुझाव प्रस्तुत करने के उद्देश्य से कर्नल बेअर्ड स्मिथ की नियुक्ति की गई थी। सर चार्ल्स वुड इनकी कुछ सिफारिशों से सहमत थे, किन्तु इन पर कोई कार्य-वाही न कर सके। सर स्ट्रैफर्ड नॉर्थकोर्ट ने, जो उनके पश्चात् भारत-सचिव हुए, सन् १८६७ में कुछ शर्तों के साथ स्थायी बन्दोबस्त करने के लिए कहा। ये शर्तें इस प्रकार थीं : जहाँ कृषि योग्य भूमि के ८० प्रतिशत भाग पर खेती की जाती थी तथा ऐसी कोई सम्भावना न थी कि नहर द्वारा सिंचाई इत्यादि करके उपज को २० प्रतिशत से अधिक बढ़ाया जा सके, वहाँ राज्य का अंश सदैव के लिए स्थिर कर दिया जाय। इन शर्तों का व्यवहार में अर्थ यह था कि स्थायी बन्दोबस्त उस समय तक के लिए स्थगित किया जाय जब तक कि भूमि के मूल्य में किसी भी प्रकार की उन्नति होने की सम्भावनाएँ रहें। सन् १८८३ में भारत-सचिव लार्ड किम्बरले ने अन्तिम रूप से इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया—मुख्यतः इस आधार पर कि देश अभी अविकसित ही है। उस समय से इस सम्बन्ध में सरकार का रुख कुछ ऐसा रहा कि स्थायी बन्दोबस्त का प्रश्न सदैव के लिए समाप्त मान लिया जाय। परन्तु फिर भी यदा-कदा स्थायी अथवा अस्थायी बन्दोबस्त सम्बन्धी पुराने वादविवाद की प्रतिध्वनि सुनने को मिलती रही। हाल ही के वर्षों में बंगाल भू-राजस्व आयोग ने प्रस्ताव रखा कि बंगाल की ज़मींदारी की स्थायी बन्दोबस्त वाली व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाय तथा उसके स्थान पर ज़मींदारियों को राज्य द्वारा खरीद लिया जाय। इस प्रस्ताव पर जो मतभेद रहे उनका विवरण आगे सेक्शन ३२ में देखिए।

१९. बंगाल के शेष ज़मींदारों तथा अवध के ताल्लुकेदारों के साथ अस्थायी बन्दोबस्त—बंगाल के उन भागों में जहाँ किन्हीं कारणों से स्थायी बन्दोबस्त नहीं किया जा सका वहाँ अस्थायी बन्दोबस्त किये गए, जिनके अन्तर्गत लगभग ७० प्रतिशत सम्पत्ति (माल-गुज़ारी के रूप में) सरकार द्वारा ले ली जाती है तथा शेष ३० प्रतिशत खेतिहर भूमि के अधिकारियों—जो मध्यमवर्गीय होते हैं—को छोड़ दी जाती है। जहाँ तक माल-गुजारी के निर्धारण का प्रश्न है, बंगाल में जो पद्धति अपनाई जाती है वह ठीक वैसी ही है जो आगरा में प्रयुक्त की जाती है। इसका वर्णन आगे किया गया है।

ताल्लुकेदारी के अंगभूत गाँव इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि वास्तव में अवध के बन्दोबस्त को संयुक्त गाँव बन्दोबस्त पद्धति का ही सुधरा हुआ रूप माना जा सकता है, जिसका विवरण हम आगे दे रहे हैं।

२०. महलवारी बन्दोबस्त—आगरा क्षेत्र में अस्थायी बन्दोबस्त का जो रूप विकसित हुआ वह बिलकुल उन राज्यों जैसा है जहाँ अधिकतर ज़मींदारी के अधिकारों से युक्त ग्रामीण समुदायों से व्यवहार किया जाता है। पहले यह प्रयत्न किया गया कि माल-गुजारी जमा करने वाले कृषक अथवा किसी अन्य ख्याति-प्राप्त व्यक्ति के साथ स्थायी रूप से बन्दोबस्त कर दिया जाय, किन्तु गृह-विभाग के अधिकारी तो स्थायी बन्दोबस्त जैसी किसी व्यवस्था की बात सुनना ही नहीं चाहते थे। इसके अतिरिक्त सन् १८१९ में हॉल्ट मैकेन्जी ने, जो कि एक जाँच आयोग के सचिव थे, गाँवों पर स्वामित्व वाली संस्थाओं के अस्तित्व की ओर ध्यान दिलाया और कहा कि उनकी तो प्रतिष्ठा करनी ही

होगी तथा ऐसी अवस्था में बंगाल में वैयक्तिक जमीदारों का-सा स्वरूप यहाँ न चल सकेगा और एक पूर्ण सर्वेक्षण तथा समस्त भूमिगत अधिकारों का लेखा अत्यन्त आवश्यक है। अतः एक सामान्य उपाय के रूप में स्थायी बन्दोबस्त की कल्पना भी नही की जा सकती।

उड़ीसा में बन्दोबस्त करने का प्रश्न भी इसी समय उपस्थित हुआ तथा उत्तरी पश्चिमी प्रान्त (जिसे आगरा व अवध का संयुक्त प्रान्त कहा जाने लगा) मे इस समय जाँच की ही जा रही थी। इन दोनों राज्यों की स्थितियों को ध्यान में रखते हुए सन् १८८२ का ७वाँ विनियम पास किया गया। यह विनियम तथा इसमें बाद मे किये गए संशोधन ही ज़मीदारों तथा गाँव-समुदायों के साथ किये गए अस्थायी बन्दोबस्तों के मुख्य आधार है।

आगरा में केवल कुछ व्यक्तिगत ज़मीदारों तथा ताल्लुकेदारों को छोड़कर अधिकांश दशाओं में गाँव-समुदायों के ऊपर कोई व्यक्ति न था। अतः इनसे संयुक्त रूप से ही समझौते किये गए, यद्यपि इनमें से कोई एक प्रतिष्ठित हिस्सेदार साधारणतः चुन लिया जाता था जिसे मालगुजारी जमा करने का काम सौप दिया जाता था तथा वह शेष हिस्सेदारों की ओर से समझौते पर हस्ताक्षर कर देता था। यह उल्लेखनीय है कि मालगुजारी के निर्धारण के सम्बन्ध में सभी हिस्सेदार संयुक्त एवं वैयक्तिक रूप से उत्तरदायी होते थे। आगरा के ताल्लुकेदारों के सामन्तों जैसे अधिकार भी अवध के ताल्लुकेदारों के स्वामित्व के अधिकारों के समक्ष हीन थे, अतः उनकी माँग को इस प्रकार पूरा किया गया कि उनके अधीनस्थ गाँव-समुदाय से जितनी आवश्यक हो उतनी अधिक मालगुजारी जमा करने के लिए कहा गया तथा ताल्लुकेदारी के भत्ते के रूप में उन्हें मालगुज़ारी का १० प्रतिशत सरकारी खजाने से सीधा दे दिया जाता था। आगरा के गाँव-समुदाय से जो बन्दोबस्त किया गया उसके सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि गाँव का कोई भाग अथवा कोई विशेष हिस्सेदार, जो एक निश्चित सीमा से ऊपर का हो, पूर्ण बँटवारा करा सकता है तथा मालगुज़ारी जमा करने के संयुक्त दायित्व के स्थान पर स्वतन्त्र एवं व्यक्तिगत दायित्व ले सकता है। बन्दोबस्त का कार्य अंशतः अदालती होता है तथा अंशतः राज-वित्त से सम्बन्धित। भूमि पर जिसका अधिकार है, उससे सम्बन्धित लेखे एवं उन अधिकारों का निर्धारण करना अदालती कार्य है तथा आसामियों पर लगान का निर्धारित किया जाना राज-वित्त से सम्बन्धित है। बन्दोबस्त करते समय सामान्य प्रकार से पहले भूमि की सीमाएँ निर्धारित कर दी जाती है, भूमि का सर्वेक्षण किया जाता है, खेतिहर ठेके की भूमि के स्वामित्व एवं उससे सम्बन्धित अधिकारों का ज्ञान किया जाता है तथा अन्त में मालगुजारी का निर्धारण किया जाता है।

२१. महलवारी पद्धति में मालगुज़ारी निर्धारित करने के सिद्धान्त—अभी हम मालगुज़ारी निर्धारित करने के सम्बन्ध में जिन सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे उनके विषय में यह जान लेना चाहिए कि वे सब प्रकार की महलवारी पद्धतियों पर लागू होते है। अनेक प्रकार की विधियों, जैसे कुल उत्पाद का मूल्याङ्कन किया जाना इत्यादि का

प्रयोग करने के उपरान्त मालगुज़ारी निर्धारित करने के उद्देश्य से सरकार ने निम्नलिखित प्रणाली अपनाई। लगान के हिसाब से भूमि का जो वास्तविक मूल्य होता है उसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मालगुज़ारी के निर्धारण का आधार बनाया जाता है। जागीर की परिसम्पत्ति का एक अंश जो वर्ष-भर में प्राप्त हो, उसे मालगुज़ारी कहा जा सकता है। यह अंश समय-समय पर बदलता रहा है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में प्रारम्भ में यह अंश बहुत अधिक, यहाँ तक कि ८० प्रतिशत से भी अधिक, था।[1] लार्ड विलियम बैंटिक ने सन् १८३३ में इसे घटाकर ६६ प्रतिशत कर दिया। सन् १८५५ के सहारनपुर नियमों के अन्तर्गत इसे और घटाकर ५० प्रतिशत कर दिया गया और सरकारी कर्मचारियों द्वारा यह दृढ़तापूर्वक कहा जाता है कि वर्तमान काल में यह अंश अधिकांश स्थितियों में ५० प्रतिशत से भी कम वसूल हुआ है (आगे सेक्शन ४३ देखिए।)

परिसम्पत्ति में मुख्यतः निम्न की गिनती की जाती है: (१) कुल लगान जो वास्तव में वसूल किया गया हो। आगरा में मुख्यतः यही मालगुज़ारी निर्धारित करने का मुख्य आधार होता है; (२) जिन कृषि-जमीनों पर स्वामियों का स्वयं अधिकार होता है अथवा जिन्हें वे बिना कोई लगान वसूल किये उठा देते हैं, उन ज़मीनों का लगान के आधार पर अनुमान से मूल्याङ्कन कर लिया जाता है; तथा (३) कुछ अन्य साधारण लाभ, जैसे उपयोगी किन्तु बेकार पड़ी भूमि, जानवरों के चराने, फलादि और जंगली उपज से होने वाली आय इत्यादि। इन तीनों में से पहले दो जो रियासत का लगान के अनुसार मूल्याङ्कन निश्चित करते हैं, मुख्य तत्त्व हैं।

आगरा, अवध, पंजाब तथा मध्यप्रदेश में प्रयुक्त विभिन्न महलवारी पद्धति वाले क्षेत्रों में मालगुजारी निर्धारित करने के ये सामान्य सिद्धान्त हैं, यद्यपि विभिन्न प्रान्तों में अपनाई जाने वाली रीति के विस्तार में कुछ अन्तर होना स्वाभाविक ही है। बन्दोबस्त के समय, जो वास्तविक लगान अदा किये जाने योग्य होता है वह आगरा वाली विधि के अनुसार ही निर्धारित किया जाता है। मध्यप्रदेश में इस उद्देश्य से कि लगान का प्रभाव उन पर पूर्णतः समान रूप से पड़ सके, एक विशिष्ट प्रणाली अपनाई जाती है जिसका वर्णन बाद में किया जायगा। पंजाब में क्योंकि अधिकांश भूमि स्वयं स्वामियों के अधिकार में रहती है अथवा आसामी लोग उपज के रूप में लगान अदा करते हैं, अतः भूमि का लगान के आधार पर नकद रुपयों के रूप में मूल्यांकन करने वाली विधि नहीं अपनाई जा सकती। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि कतिपय नमूने की भूमि छाँटकर उन पर नकद रुपयों में दिये जाने योग्य लगान की रकम मालूम कर ली जाय तथा इनके आधार पर गाँव की समस्त ज़मीनों का लगान मालूम कर लिया जाय।

---

१. उदाहरणार्थ उड़ीसा में सन् १८२२ में अधिकृत रूप से सम्पत्ति का ८३.३ प्रतिशत घोषित किया गया। सन् १८४० में यह ६५ प्रतिशत किया गया तथा कहीं-कहीं कुछ कमी करके ६० प्रतिशत ही रखा जाता था और सन् १९०१ में जब पुनः बन्दोबस्त किया गया तो इसे ५४ प्रतिशत तक घटा दिया गया। देखिए, लैण्ड रेवेन्यू पॉलिसी ऑफ द गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया, पृ० १३।

२२. उत्तर प्रदेश में महलवारी बन्दोबस्त सम्बन्धी कार्य—उत्तर प्रदेश में बन्दोबस्त सम्बन्धी कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व बन्दोबस्त अधिकारी गाँवो का मुआयना करता है तथा एक-सी मिट्टी तथा अन्य प्राकृतिक बातो के आधार पर मालगुजारी के निर्धारण के हेतु उनके वर्ग बना देता है। इसके पश्चात् प्रत्येक प्रकार की मिट्टी का लगान निर्धारित कर लिया जाता है। लगान निर्धारित करने का मुख्य आधार यह होता है कि कुछ स्थायी तथा प्रतिष्ठित आसामियो की भूमि जिस किराये पर दी जा सके, वह रकम मालूम कर ली जाती है। यह ख्याल रखा जाता है कि ये आसामी अपनी आजीविका के लिए पूर्णत: अपनी भूमि पर ही अवलम्बित हो जिससे यह निश्चित हो कि वे अपनी भूमि की सब प्रकार से देख-रेख रखते होगे। इस रकम का अनुमान कर लेने के उपरान्त बन्दोबस्त अधिकारी मालगुजारी का निर्धारण कर देता है। यह करते समय वह कुछ ऐसी बातो का भी ख्याल रखता है जैसे संचार-साधन, जनसख्या मे वृद्धि, फसल सम्बन्धी आँकडे, खेती की हुई भूमि के क्षेत्र मे बढ़ोतरी इत्यादि।[1] जिन स्थानो पर भूमि को नकद किराये पर नही दिया जाता वहाँ पर बन्दोबस्त सम्बन्धी अधिकारी उसी प्रकार की भूमि के अन्य स्थानो पर किराये की रकम का अनुमान करके मालगुजारी का निर्धारण कर देता है।

अवध में लागू की गई विधि—अवध मे बन्दोबस्त का तरीका प्राय वैसा ही है जैसा आगरे मे है। उसमे केवल इतना अन्तर है कि कभी-कभी बन्दोबस्त पूरे गाँव-समुदाय के साथ किया जाता है और अधिकाश स्थितियो मे कम अथवा अधिक गावो की बडी जागीर की मालगुजारी अकेले ताल्लुकेदारो से ही निश्चित कर ली जाती है। एक ताल्लुकेदार पर जो मालगुजारी निर्धारित की जाती है वह उसकी जागीर के प्रत्येक गाँव पर लगाये जा सकने वाले लगान की रकमो का जोड़ होता है। कुछ स्थितियो मे, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, जहाँ उसके अधीनस्थ गाँव-समुदाय अपने अधिकारो को सुरक्षित रखने में सफल हो सके है, वहाँ इनके साथ एक सहायक बन्दोबस्त किया जाता है—जिससे उनके द्वारा ताल्लुकेदारो को दी जाने वाली रकम निश्चित कर ली जाती है। यह रकम इतनी अवश्य होती है कि ताल्लुकेदार को मालगुजारी की दस प्रतिशत रकम लाभ के रूप मे अवश्य मिल जाय।

२३. पंजाब का महलवारी बन्दोबस्त—यहाँ पर भी गाँवो के सर्वेक्षण, अधिकारो के लेखे आदि से सम्बन्धित सब वे ही विधियाँ होती है, किन्तु मालगुजारी के निर्धारण की विधि मे कुछ अन्तर होता है। यहाँ आसामियो की सख्या बहुत अधिक नही होती तथा अधिकतर आसामी उपज के रूप मे लगान देते है। ऐसी स्थिति मे बन्दोबस्त-अधिकारी गाँव की प्रत्येक प्रकार की भूमि को ध्यान मे रखकर उससे मिल सकने वाली लगान की रकम अनुमान लगाकर, समस्त गाँव के लिए एक-सी दर पर मालगुजारी का निर्धारण कर देता है। वह इस बात को ध्यान मे रखता है कि यदि सब लोग नकद लगान देते तब क्या रकम प्राप्त हो सकती थी और उसी के अनुसार मिट्टी की प्रकृति को देखते हुए अनेक हिस्सो मे बाँट देता है। इसके पश्चात् वह नमूने के तौर

१. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ६७।

पर कुछ जमीनों के लगान की नकद आमदनी का अनुमान लगाकर कुछ ऐसे नियम निर्धारित कर लेता है, जिनके अनुसार वह समस्त क्षेत्रफल की मालगुजारी निर्धारित कर देता है। पंजाब मे यद्यपि सिद्धान्त रूप से लगान प्रत्येक आसामी से वसूल नहीं किया जाता तथा गाँव की सपत्ति के समस्त स्वामियों से संयुक्त रूप से वसूल किया जाता है—और वे सब उसे संयुक्त रूप से ही देने के लिए उत्तरदायी होते हैं—तथापि व्यवहार में प्रत्येक आसामी की लगान की रकम निर्धारित कर ली जाती है, तथा वह उससे पृथक् रूप से वसूल की जा सकती है। इस प्रकार यहाँ के खेतिहर किसानों की भी प्राय: वही स्थिति होती है जो बम्बई तथा मद्रास के स्वामित्व वाले किसानों की।[1] सन् १९२९ के पजाब भू-राजस्व संशोधित विधान के अन्तर्गत राज्य का अंश परिसम्पत्ति का एक चौथाई तथा बन्दोबस्त ४० वर्ष तक के लिए निश्चित किया गया है (आगे सेक्शन ४३ भी देखिए।)

२४. मध्यप्रदेश का मालगुजारी बन्दोबस्त—जहाँ तक मालगुजारी-निर्धारण के आधार का सम्बन्ध है यहाँ भी लगभग वही विधि अपनाई जाती है जो आगरा में व्यवहार में लाई जाती है, किन्तु एक प्रकार से दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। मध्यप्रदेश मे मराठों ने गाँवों की मालगुजारी मालगुजार कहलाने वाले व्यक्तियो के सुपुर्द कर दी। ब्रिटिश सरकार ने इन व्यक्तिगत ताल्लुकेदारो से व्यवहार करने के लिए उन्हे स्वामित्व का पद प्रदान कर दिया और उनको गाँवों के मुखिया के रूप में स्वीकार कर लिया, यद्यपि यहाँ के गाँव भी बम्बई तथा मद्रास जैसे रैयतवारी गाँव थे जिनमें बहुत अधिक आसामी थे तथा प्रत्येक अपनी भूमि का स्वामी था। ऐसी स्थिति में उनकी बहुत अधिक रक्षा करना आवश्यक हो गया, विशेष रूप से यह ख्याल करते हुए कि उनके स्वामित्व के पद से उन्हे केवल मालगुजारो का आसामी बना दिया गया था। बन्दोबस्त सम्बन्धी अधिकारो को केवल मालगुजारों द्वारा देय मालगुजारी की रकम ही निर्धारित नही करनी थी वरन् लगभग सभी आसामियों द्वारा मालगुजारों को दी जाने वाली रकम भी निर्धारित करनी थी।[2] इससे यह स्पष्ट है कि यहाँ वार्षिक लगान का अनुमान उन स्थानों की अपेक्षा अधिक सही होगा जहाँ केवल सरकार को देय मालगुजारी का निर्धारण किया जाता है।

इस प्रकार मध्यप्रदेश में लगान के निर्धारण की विधि बहुत जटिल होती है। इसके लिए भूमि को मिट्टी की प्रकृति के अनुसार अनेक भागों में बाँट दिया जाता है। यह विभाजन मिट्टी की उत्पादन-क्षमता को ध्यान में रखकर किया जाता है। खेती के द्वारा होने वाले औसत लाभ का अनुमान लगाया जाता है तथा इस प्रकार विभिन्न मिट्टियों का अन्तर ज्ञात कर लिया जाता है। यह ध्यान में रखा जाता है कि मिट्टियों

१. वही, पैरा १६८।

२. "बन्दोबस्त के कार्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मालगुजारी का निर्धारण, इसलिए भी अधिक जटिल हो जाता था कि मालगुजार लगान तो बहुत कम वसूल करते थे, किन्तु आसामियों को नये पट्टेदारों पर अथवा पहली बार भूमि को पट्टे पर देते समय नजराने के रूप में बहुत रकम वसूल कर लेते थे।"—टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ९९।

की उत्पादन-क्षमता के अन्तर के अतिरिक्त भूमि की स्थिति का भी लगान के निर्धारण पर बहुत प्रभाव पड़ता है।[1]

२५. रैयतवारी बन्दोबस्त : मद्रास की रैयतवारी विधि—हम यह देख ही चुके हैं कि किस प्रकार मद्रास में स्थायी बन्दोबस्त करने के प्रयत्नों के विफल हो जाने के परिणामस्वरूप रैयतवारी विधि अपनाई गई। इस बन्दोबस्त के सिद्धान्त किसी विधान में प्रतिपादित नहीं हैं वरन् इस सम्बन्ध मे व्यापक आदेश दिये गए हैं। प्रत्येक गाँव का ठीक-ठीक सर्वेक्षण किया जाता है तथा गाँव का नक्शा तथा कृषि की जमीनों के स्वामित्व का विवरण तैयार किया जाता है। मिट्टी की उत्पादन-क्षमता के अनुसार भूमि का वर्गीकरण कर लिया जाता है। भूमि की उत्पादन-क्षमता औसत उपज के आधार पर निश्चित कर ली जाती है। प्रत्येक भूमि की उपज के नकद मूल्य का अनुमान बन्दोबस्त के पूर्व के २० ऐसे वर्षों के आधार पर लगा दिया जाता है जिनमे अकाल न पड़ा हो। इसमें से किसान के व्यय घटा दिये जाते हैं और जब उत्पाद का सही मूल्य मालूम कर लिया जाता है। इसका लगभग आधा भाग मालगुजारी की अधिकतम सीमा के रूप में निर्धारित कर दिया जाता है। व्यापारियों के लाभ, उपज को बाजार तक ले जाने के लिए बाजार की दूरी, खराब मौसम तथा लाभ की दृष्टि से उतने अधिक अच्छे क्षेत्र न होने आदि के लिए छूट भी दी जाती है। इसके पश्चात् विभिन्न वर्गों की मिट्टियों को अलग-अलग भागों में बाँटा जाता है जिसे 'तरम' कहते हैं तथा प्रत्येक वर्ग की मालगुजारी की दर निश्चित कर ली जाती है। जिस गाँव में ये जमीने रहती हैं उसकी स्थिति तथा सिंचाई के साधनों की प्रकृति को ध्यान में रखकर इस दर मे आवश्यक परिवर्तन कर दिये जाते हैं। ऐसा करने के लिए गाँवों के समूह (वर्ग) बना लिये जाते है। यह समूह (वर्ग) दो बातों को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं। एक तो गाँवों की सड़क तथा बाजार से निकटता को ध्यान में रखा जाता है तथा दूसरे, गाँवों में पानी की सुविधा को ध्यान में रखा जाता है। इस प्रकार एक ही मिट्टी की जमीनों की भी मालगुजारी विभिन्न दरों पर निर्धारित की जाती है, क्योंकि वे दूसरे समूह के गाँव की हो सकती है अथवा उनमें सिंचाई के साधन भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते है। इस प्रकार जो मालगुजारी निर्धारित की जाती है वह खेत की उपज के सरकारी हिस्से का विनिमय-मूल्य समझा जा सकता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि किसी भूमि में खानें पाई जाती हैं तो उसके लिए अलग से मालगुजारी निर्धारित की जायगी।[2]

२६. बम्बई की रैयतवारी विधि—बम्बई की अपनी भू-राजस्व-संहिता[3] है जिसके अनुसार बन्दोबस्त-सम्बन्धी सब मामले निपटाए जाते हैं। जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, मद्रास में ऐसा नहीं है। बम्बई में उन नियमों के अतिरिक्त विशेष प्रकार की जागीर-

---

१. टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट; विशेष विवरण के लिए बैडेन पॉवेल की लैण्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया, पृ० १८६-८।

२. मद्रास के लगान-सम्बन्धी बोर्ड के आदेशानुसार जिसका उल्लेख टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ६४, में किया गया है।

३. बॉम्बे लैण्ड रेवेन्यू कोड (१८७६) १९३९ में संशोधित किया गया। आगे सेक्शन ४४ देखिए।

दारियों के लिए विशेष अधिनियम भी हैं जैसे गुजरात में ताल्लुकेदारों के लिए, कोंकण में खोटों के लिए तथा कैरा और भड़ौंच जिले के कुछ संयुक्त गाँवों के लिए।

भू-राजस्व के सामान्य इतिहास का अध्ययन करते समय हमने मराठों के भू-राजस्व-सम्बन्धी शासन का संकेत किया था तथा यह भी निर्देशित किया था कि अन्तिम पेशवाओं के काल में मालगुजारी जमा करने वाले किसानों की पद्धति अपनाई जाने के कारण उस शासन का ह्रास भी हुआ। जब दक्षिण का शासन पेशवाओं से अंग्रेजों ने लिया तो उन्होंने इस हानिकर पद्धति का अन्त करने की सोची तथा यह निश्चित किया कि वे नाना फड़नवीस वाली अधिक न्याय्य विधि को ही अपनाएँ।

कुछ थोड़ी-थोड़ी अवधि वाले प्रयोगों तथा अनेक सुझावों के—जिनमें एक सुझाव यह भी था कि गाँवों का बन्दोबस्त महलवारी पद्धति के अनुसार कर दिया जाय—पश्चात् अन्त में रैयतवारी प्रथा को अपनाया गया। सन् १८२५ में प्रिंगल को यह आदेश दिया गया कि भूमि का विस्तृत रूप से सर्वेक्षण करे। उसने भूमि को, वार्षिक लाभ के आधार पर, विस्तृत वर्गों में बाँटना चाहा। ऐसा करने में बहुत अधिक विवरण ज्ञात करने की आवश्यकता पड़ती थी। यह समस्त प्रयोग असफल रहा। इस प्रयोग की असफलता का एक कारण यह भी था कि इस विधि के परिणामस्वरूप बहुत अधिक मालगुजारी निर्धारित किया जाना अवश्यम्भावी था। इस प्रयोग के पश्चात् ही अकस्मात् कई वर्ष लगातार अकाल पड़ते गए, इसलिए भी यह असफल हो गया।

ऐसी स्थिति में सरकार ने यह आदेश दिया कि इस सम्बन्ध में सब कार्य फिर से किया जाय और सन् १८९६ में इसके लिए मिस्टर गोल्डस्मिथ तथा लैफ्टिनेण्ट विनगेट नामक दो अफसर नियुक्त किये गए। उन लोगों ने जो प्रणाली प्रवर्तित की उसी में समयानुसार आवश्यक परिवर्तन होते रहे, किन्तु अभी भी वास्तविक रूप से वही चलन में है।[1] सन् १८४० में उन अफ़सरों ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में उन्होंने वे सामान्य सिद्धान्त बनाए जिनके आधार पर बम्बई प्रेसीडेन्सी की विशेष स्थितियों को ध्यान में रखते हुए सर्वेक्षण करके बन्दोबस्त किया जा सकता है। कुछ कम मालगुजारी निर्धारित करने की सिफारिश की गई। उन्होंने यह भी कहा कि बन्दोबस्त ३० वर्षों के लिए हो। बन्दोबस्त के काल में अधिक कर लगाये जाने से बचाया जाय, भूमि पर स्वामित्व माना जाय, भूमि के विक्रय अथवा उसके हस्तान्तरण के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की जाय तथा अधीनस्थ आसामियों से क्या लगान वसूल किया जाय, इस सम्बन्ध में भी पूरी छूट दी जाय। बाद में इनके साथ कार्य करने के लिए केप्टन डेविडसन को नियुक्त किया गया और इन लोगों ने सन् १८४७ में एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसे संयुक्त रिपोर्ट कहते हैं तथा जिसमें उन सिद्धान्तों का विशद विवरण है जो वर्तमान पद्धति के आधार हैं।

इस रिपोर्ट में जो व्यवस्था अपनाई गई उसके अनुसार प्रिंगल की पद्धति के अनुसार भूमि का वर्गीकरण करने के लिए वार्षिक लाभ की रकम को आधार बनाना छोड़ दिया गया तथा इसके स्थान पर मिट्टी की गहराई तथा बनावट को ध्यान में रखता

१. रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू एसेसमेंट कमिटी, बॉम्बे, १९२६, पृ० ८-९।

आवश्यक समझा गया। मालगुजारी के निर्धारण करने के सम्बन्ध मे यह तय किया गया कि वर्षा, उपज की कीमतों, कृषि की समृद्धि आदि को ध्यान मे रखकर कतिपय प्रयोगो के आधार पर मालगुजारी निर्धारित की जाय, किन्तु यह सिद्धान्त सदैव ध्यान मे रखना चाहिए कि किसान से इतनी अधिक मालगुजारी देने के लिए न कहा जाय जितनी वह सरलता से नही दे सकता। पुराने समय के 'मीरासी' और 'उपरी' भू-धृति को एक मौरूसी भू-धृति मे बदल दिया गया। जब तक खेतिहर किसान निर्धारित मालगुजारी जमा करता जाता था, तब तक भूमि पर उसका स्वामित्व समाप्त नहीं किया जा सकता था। वह किसी भी खेत को छोड सकता था अथवा दूसरे खेतो पर अधिकार कर सकता था। अपनी शक्ति तथा अपने ससाधनो को ध्यान मे रखकर वह ऐसे किसी भी कार्य के लिए पूरी तरह स्वतन्त्र था। इसी आधार पर सन् १८७९ की बम्बई भू-राजस्व संहिता मे उसकी परिष्ठा और स्थिति की परिभाषा दी गई है। इस प्रकार की भू-धृति को रैयतवारी कहते है, जिसके अन्तर्गत आसामी अपनी भूमि का स्वामी होता है तथा इसे वह सीधे सरकार से प्राप्त करता है। पूर्ण अधिकार-सम्पन्न अथवा मौरूसी भू-धृति आनुवंशिक होती है, यह हस्तान्तरित की जा सकती है तथा सरकार की आज्ञा प्राप्त किये बिना ही इस पर से अपना स्वत्व हटाया जा सकता है। यदि मालगुजारी जमा न की जाय तो यह भूमिगत अधिकार समाप्त किया जा सकता है। साथ ही यह प्रतिभूति (गारण्टी) दी जाती है कि आसामी यदि अपनी भूमि मे कोई सुधार करेगा तो इस कारण उस पर कोई अतिरिक्त कर नही लगाया जायगा।[1]

२७. बम्बई के बन्दोबस्त की मुख्य बातें[2]—बम्बई की रैयतवारी व्यवस्था की भी वही मुख्य बाते है; जो मद्रास की व्यवस्था की; उसी प्रकार से भूमि की सीमाएँ निर्धारित कर दी जाती है, सर्वेक्षण के अनुसार नम्बर निर्धारित कर दिये जाते है जो अपरिवर्तनीय होते हैं; मिट्टी का वर्गीकरण किया जाता है किन्तु मालगुजारी के निर्धारित करने की विधि भिन्न होती है। प्रत्येक मिट्टी का आनुपातिक मूल्य आनो के हिसाब से निश्चित किया जाता है, यह ध्यान में रखकर कि सबसे अच्छी मिट्टी का मूल्य १६ आने है। इस प्रकार मिट्टी का आनुपातिक मूल्य निर्धारित करते समय मिट्टी की गहराई, रचना, नमी सोखने की क्षमता तथा मिट्टी के उपजाऊ-पन से सम्बन्धित अन्य भौतिक विशेषताओं का खयाल रखा जाता है। इन सबके आधार पर मिट्टी के कई वर्ग कर दिये जाते हैं और ऊपर बताई विधि के अनुसार प्रत्येक वर्ग के विषय मे यह निश्चित कर दिया जाता है कि वह वर्ग किस श्रेणी में आता है। मद्रास में तो यह किया जाता था कि इस प्रकार के मिट्टी के वर्गीकरण के पश्चात् ही प्रत्येक वर्ग की उपज के अनुसार उसकी मालगुजारी निर्धारित कर दी जाती थी, किन्तु यहाँ सम्पूर्ण क्षेत्र के लिए एक निश्चित मालगुजारी निर्धारित कर दी जाती है तथा इन वर्गों के आधार पर उस

१. कीटिंग, पृष्ठ २०-१ देखिए।

२. बॉम्बे लैण्ड रेवेन्यू कोड (१८७९) तथा संशोधित विधान (१९३९); आगे सेक्शन ४४ भी देखिए।

क्षेत्र की निर्धारित मालगुजारी बाँट ली जाती है।

१६३६ के बम्बई भू-राजस्व संहिता (संशोधन) अधिनियम के अन्तर्गत मालगुजारी निर्धारित करने में तीन मुख्य कार्य करने पड़ते हैं। पहला यह कि समस्त भूमि को ताल्लुकों में अथवा ताल्लुकों के हिस्सों में विभाजित कर लिया जाता है, जिससे उनके समूह या वर्ग बनाए जा सकें। ये समूह या वर्ग निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं : भौतिक स्वरूप, जलवायु, वर्षा, बाजार, संचार, कृषि का स्वरूप, जनसंख्या, श्रम-सम्भरण, कृषि-सम्बन्धी संशोधन, पिछले तीस वर्षों में कृषि-कर्म के लिए अधिकार में किये गए तथा कृषित क्षेत्र, मज़दूरी, कीमतें, मुख्य फसलों की उपज, इन फसलों को उगाने में सामान्य व्यय, कृषित ज़मीन का लगान पर उठाने की दृष्टि से मूल्य तथा कृषि-कार्य के हेतु भूमि को बेचने की सुविधा। अतः एक समूह (वर्ग) का तात्पर्य यह होता है कि इसके अन्तर्गत ताल्लुकों अथवा ताल्लुकों के हिस्सों की ज़मीनें ऐसी होंगी जिनमें ऊपर लिखी बातें अधिकांश रूप से समान पाई जायँ। इसके पश्चात् दूसरा क़दम यह होता है कि प्रत्येक समूह या वर्ग के लिए मालगुज़ारी की प्रामाणिक दर निश्चित की जाती है। प्रामाणिक दर का तात्पर्य उस दर से होता है जो सब प्रकार से श्रेष्ठ १६ आने वाली, उस समूह या वर्ग की एक विशेष-भूमि—जैसे शुष्क फसलों की अथवा चावल की अथवा बागबानी की—पर प्रति एकड़ लगाई जाय। 'प्रामाणिक दर' पहले कार्य के अन्तर्गत लिखी सब बातों का खयाल करके निश्चित की जाती है तथा यह इस प्रकार निश्चित की जानी चाहिए कि सम्पूर्ण मालगुजारी की रकम किसी समूह या वर्ग की ज़मीनों पर इतनी न हो जाय कि वह किसी भी भूमि के बन्दोबस्त से पाँच साल पहले के औसत लगान के ३५ प्रतिशत से अधिक हो जाय। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि भूमि के वार्षिक लगान के अनुसार उसका मूल्यांकन सन् १६३६ के बम्बई भू-राजस्व संहिता संशोधन अधिनियम (बाम्बे लेण्ड रेवेन्यू एमेण्डमेण्ट एक्ट) के अन्तर्गत मालगुजारी की अधिकतर सीमा निर्धारित करने का आधार माना गया है। बम्बई की यह व्यवस्था बहुत समय तक केवल प्रयोगों के रूप में ही चलती रही, क्योंकि लगान की दर के सम्बन्ध में बन्दोबस्त-अधिकारी का जो निर्णय होता था वह किन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित न होकर स्थानीय ज्ञान एवं अनुभव पर ही आधारित रहता था।[1] इन सबके होते हुए भी हाल के कुछ वर्षों से भूमि का लगान दर जो पट्टों एवं भूमि के विक्रय-सम्बन्धी लेखों से जाना जा सकता है, व्यवहार में मालगुलारी निर्धारित करने का मुख्य आधार हो गया है।[2] वार्षिक लगान की दृष्टि से भूमि का मूल्यांकन ही अब निश्चित एवं वैधानिक रूप से मालगुलारी की अधिकतम सीमा निर्धारित करने का आधार स्वीकार कर लिया गया है। सन् १६३६ के बम्बई भू-राजस्व संहिता संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत इसकी परिभाषा इस प्रकार दी

१. 'द बॉम्बे सर्वे एण्ड सैटलमेन्ट मेनुअल', जिसे 'टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट', पैरा ६६ उद्धृत किया गया है।

२. रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू एसेसमेंट कमिटी, बम्बई, १६२६, पर बम्बई सरकार का प्रस्ताव देखिए।

गई है : एक वर्ष के लिए भूमि के सबसे अधिक लाभदायक उपयोग के हेतु जो प्रतिफल दिया जाय वह उसका लगान-मूल्य है। इसमें भूमि को इस प्रकार लगान पर देने वाले के लिए कुछ लाभ अथवा फसल का कुछ भाग, अथवा समय-समय पर या विशिष्ट अवसरों पर भी कोई सेवा सम्मिलित है। बन्दोबस्त-अधिकारी को यह आदेश होते हैं कि वह बन्दोबस्त करने के लिए विधान के अन्तर्गत दिये नियमों के अनुसार भूमि का लगान-मूल्य निश्चित करें। मालगुजारी निर्धारण के सम्बन्ध में तीसरा तथा अन्तिम कदम यह होता है कि सम्पूर्ण मालगुजारी के दायित्व को व्यक्तिगत अथवा ताल्लुकों का उप-विभाजन करके उसके अनुसार बाँट दिया जाय। यह कार्य, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, मिट्टी के आनावारी वर्गीकरण के आधार पर किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि १६ आने वाली भूमि पर अधिकतम मालगुजारी तीन रुपये प्रति एकड़ है तो ८ आने वाली भूमि के खेत पर यह १ रु० ८ आ० प्रति एकड़ के हिसाब से होगी।[1]

यह उल्लेखनीय है कि सन् १९३९ के संशोधित भू-राजस्व संहिता कानून के अन्तर्गत सरकार को यह अधिकार है कि यदि कोई बन्दोबस्त कृषि उपज की किन्हीं विशेष कीमतों के आधार पर किया गया है तथा यदि उन कीमतों में भी परिवर्तन हो जाता है तो वह निर्धारित मालगुजारी में भी परिवर्तन कर सकती है। इस प्रकार राजस्व सम्बन्धी व्यवस्था में अत्यधिक अपेक्षित लोच का प्रारम्भ किया गया है। इस प्रकार के किसी विधान के अभाव में किसानों को बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी, विशेष रूप से उस समय जब कृषि-सम्बन्धी पदार्थों की कीमतें निरन्तर गिरती जाती थीं, जैसा कि १९२९-३३ की मन्दी के समय हुआ। इसके विपरीत यह भी न्याय-संगत ही है कि यदि कृषि की उपज के मूल्यों में वृद्धि हो जाय तो सरकार अधिक मालगुजारी प्राप्त करने की भी अधिकारी है। इस प्रकार की व्यवस्था का प्रारम्भ अन्य राज्यों में भी किया जाना चाहिए।

संशोधन के फलस्वरूप निर्धारित मालगुजारी में वृद्धि करने पर कुछ नियन्त्रण भी है जिनके अन्तर्गत मालगुजारी की वृद्धि सम्पूर्ण ताल्लुका और समूह की मालगुजारी के २५ प्रतिशत से अधिक न की जा सकेगी तथा किसी गाँव, सर्वेक्षण के किसी एक क्षेत्र अथवा ताल्लुके के उप-विभाग की सम्पूर्ण मालगुजारी के ५० प्रतिशत से अधिक न की जा सकेगी। भूमि में सुधार करने की इस प्रकार से रक्षा की गई है कि यदि खेतिहर जमीन में आसामी के द्वारा कराये गए सुधारों के प्रयत्नस्वरूप भूमि का लगान की दृष्टि से मूल्यांकन बढ़ेगा तो किसी स्थिति में मालगुजारी पुनः निर्धारित कराने की आवश्यकता न पड़ेगी।

२८. **आसाम की व्यवस्था**—आसाम में भूमि के स्वामी तो केवल वही थे जो पुराने बंगाल के जिलों के स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत भूमि पर आधिपत्य रखते थे तथा कुछ ऐसे स्थायी किसान थे जिन्हें भू-स्वामित्व की पदवी स्थायी रूप से प्राप्त थी। यह पदवी उन किसानों को प्राप्त थी जो सन् १८८६ के विनियमन के पूर्व के दस वर्षों से निरन्तर भूमि पर अधिकार किये हुए थे तथा उस नियम के पश्चात् १० वर्षों

१. बम्बई में बन्दोबस्त-सम्बन्धी जो व्यवस्था है वही बरार में है।

के लिए किसी बन्दोबस्त के अन्तर्गत अथवा पट्टे के अन्तर्गत भूमि पर कब्जा किये हुए थे। वहाँ काफी भूमि पर इस प्रकार भी कब्जा होता है कि उनकी अनुज्ञा (परमिट) पर पट्टा प्रतिवर्ष नया होता रहता है अथवा उनका पट्टा १० वर्ष से कम के लिए लिखा रहता है। आसाम मे बेकार भूमि-सम्बन्धी नियम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि किसी भी जिले मे मुश्किल से २५ प्रतिशत से कम भाग में ही खेती की जाती है।

बगाल मे चाय वाली जमीने कम लगान पर लम्बी अवधि के पट्टे पर होती हैं। पट्टे की अवधि समाप्त होने के उपरान्त तत्कालीन नियमों के अनुसार उस भूमि पर पुन: लगान निर्धारित किया जा सकता है, किन्तु केवल यही विशेषता रहती है कि इसके फलस्वरूप लगान की अधिकतम दर वही हो सकती है जो जिले की सामान्य कृषि की फसल की सबसे ऊँची दर है।

२६. राज्य स्वामित्व अथवा वैयक्तिक स्वामित्व—वर्तमान काल मे भू-राजस्व-सम्बन्धी जो व्यवस्था है उसका आलोचनात्मक अध्ययन तथा उससे सम्बन्धित अन्य जटिल प्रश्नों का अध्ययन करने के पूर्व हमे इस प्रश्न को भुला देना चाहिए कि भारत मे भूमि का स्वामित्व सम्पूर्ण रूप से राज्य मे निहित है अथवा यहाँ निर्विवाद रूप से भूमि व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तर्गत आती है। इस सम्बन्ध मे प्रारम्भ में ही यह कह देना अत्यन्त आवश्यक दीख पड़ता है कि इस प्रश्न का स्पष्ट तथा निश्चित रूप से कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता तथा किसी भी प्रकार से व्यवहार मे इस बात से कोई अन्तर नही पड़ता कि भू-राजस्व लगान है अथवा कर।

पहले हम इस प्रश्न का अध्ययन सामान्य रीति से करेंगे। इस सम्बन्ध में जो विशेष प्रकार से विचारणीय विषय है, वे कर जांच-समिति के अनुसार निम्नलिखित हैं: (१) क्या राज्य ने भूमि पर हिन्दू एवं मुस्लिम राज्यों के अन्तर्गत अपने ही स्वामित्व का अधिकार स्थापित किया? (२) क्या ब्रिटिश सरकार ने ऐसे किन्ही अधिकारो का उत्तराधिकार प्राप्त किया था? (३) क्या अब राज्य का भूमि पर स्वामित्व है, जबकि भूमि (क) ज़मीदारी अथवा (ख) रैयतवारी के अन्तर्गत उठी हुई है? (४) यदि नहीं, तो क्या ज़मींदार तथा किसान जितनी भूमि की मालगुजारी देते हैं उस पर स्वामित्व का अधिकार रखते हैं? (५) भू-राजस्व को कर कहा जाय अथवा लगान?

जहाँ तक पहले दो प्रश्नों का सम्बन्ध है सामान्यत: यह माना जाता है कि ब्रिटिश राज्य के प्रादुर्भाव के पूर्व भूमि पर राज्य का ही अनन्य स्वामित्व न था, अत: ब्रिटिश सरकार को भी ऐसा कोई अधिकार हस्तगत न हुआ होगा। इस सम्बन्ध मे माउण्ट स्टुअर्ट एलफिनस्टन, एच० एच० विलसन, बैडेन पॉवेल आदि के विचार तथा बम्बई के उच्च न्यायालय का कनारा के एक मुकदमे मे सन् १८७५ में दिया गया विस्तृत निर्णय इत्यादि उद्धृत किये जाते है। बम्बई के उच्च न्यायालय का यह निर्णय विल्सन के विचारों का समर्थन करता है कि भूमि पर राज्य का स्वामित्व प्राचीन नियम अथवा हिन्दुओं की किसी भी व्यवस्था[1] के अनुसार नही है तथा आधुनिक हिन्दू वकील भी इस सम्बन्ध में वैयक्तिक स्वामित्व का निषेध करके केवल राज्य का ही अनन्य अधिकार स्वीकार नही करते। इसी प्रकार मुस्लिम विधान से सम्बन्धित अपने

निष्कर्ष को कर्नल गैलोवे ने संक्षेप में निम्न प्रकार से कहा है : "भूमि जितनी अधिक किसानों की सम्पत्ति हो सकती थी, उतनी थी। जब तक वह लगान तथा अन्य कर इत्यादि देता था तब तक न कोई कानून और न कोई नीति ही उससे छेड़-छाड़ कर सकती थी। यदि वह लगान इत्यादि जमा न करता तो उसकी भूमि को कुर्क कराया जा सकता था और ऐसा तो इंगलैण्ड के विधान के अन्तर्गत सुदृढतम भू-धृति के अधिकार-प्राप्त प्रथम श्रेणी के सम्मानित पुरुषो के साथ भी हो सकता है। भारतीय किसान का अधिकार भूमि पर कब्जा पाने तथा उसे हस्तान्तरित करने का अधिकार है, उसकी भूमि की लगान की दर निश्चित कर दी जाती है तथा कभी-कभी तो सम्पूर्ण रकम भी निर्धारित कर दी जाती है। तब किस प्रकार भारतीय किसान के भूमि-सम्बन्धी अधिकार अंग्रेज भू-स्वामियों के अधिकारों से कम है ?"[२]

जो व्यवस्था उत्तरी भारत में है तथा जो मुसलमान शासकों के राज्य में थी, वह कहीं अधिक स्पष्ट एवम् प्रभावपूर्ण ढंग से दक्षिणी भारत मे लागू होती है, क्योंकि वहाँ तो भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व निश्चित रूप से माना गया है और विशेष रूप से देश के उन भागों में, जो कभी मुसलमान शासकों के अधीन रहे ही नही।

अतः प्रथम दो विषयों के सम्बन्ध में कर-जाँच-समिति एकमत थी कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों शासनों के अन्तर्गत राज्य का भूमि पर कभी अनन्य आधिपत्य नही रहा तथा राज्य ने भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व को निश्चित रूप से स्वीकार किया।[३] सन् १६४० में नियुक्त बंगाल भू-राजस्व आयोग ने भी इस मत का समर्थन करते हुए कहा कि स्थायी बन्दोबस्त के समय भी यद्यपि सिद्धान्ततः 'भारत के कुछ भागों में राज्य को ही भूमि का सर्वोच्च स्वामी माना गया है, परन्तु व्यवहार में सरकार ने भूमि पर अपना वास्तविक स्वामित्व कभी प्रदर्शित नहीं किया। सरकार की माँग केवल उपज के एक अंश तक ही सीमित रही।[४]

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् तथा देश में ब्रिटिश शासन के पूर्ण स्थायी रूप से जम जाने तक के बीच के समय मे राज्य के गवर्नरों तथा अन्य अपने साहस से कुछ प्रदेशों पर अधिकार करने वाले व्यक्तियों ने, अपने मनमाने अधिकार प्रदर्शित करना प्रारम्भ किया। इन लोगों ने जब अधिक-से-अधिक लगान लगाना तथा वसूल करना प्रारम्भ कर दिया तो उस स्थिति में किसानों के दिमाग में केवल यही परेशानी रहती थी कि चाहे भूमि पर उनका वैयक्तिक स्वामित्व स्वीकार न किया जाय किन्तु उन्हें इतनी स्वतन्त्रता अवश्य मिले कि वे जब चाहें भूमि को त्याग सकें और इस प्रकार बढ़ते हुए लगान के बोझ से बच सकें। ऐसी स्थिति में सरकार ने भूमि पर अपने

---

१. 'भूमि उसकी है जिसने सबसे पहले उसको साफ किया, जिस प्रकार कि हिरन उसका होता है जो उसे सर्वप्रथम गिरा देता है।' मनु के इन नियमों का उल्लेख बैडेन पॉवेल ने अपनी 'लेन्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया' पृ० १२३ पर किया है।

२. टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ८०।

३. जे० ब्रिग्स, 'लैन्ड टैक्स इन इण्डिया', पृष्ठ १२७ भी देखिए।

४. रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल, खण्ड १, पैरा ४१।

अनन्य स्वामित्व का अधिकार जमाया जिसकी प्रतिद्वन्द्विता करने की लोगों ने परवाह न की। अतः बैडेन पॉवेल का यह कहना सही है कि "यह तो कभी सत्य नहीं हो सकता कि मि० जेम्स जॉन, कर्नल मनरो तथा अन्य व्यक्तियों को इस तथ्य के विषय में असत्य ज्ञान हो कि उनके समय में, अर्थात् बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त के समय में, सब सरकारें भू-स्वामित्व का अधिकार जता रही थी।"[1]

ब्रिटिश सरकार ने इस सम्बन्ध में जो तर्क प्रस्तुत किये उनमें न तो दृढ़ता थी और न एकरूपता। साथ ही उनकी सामान्य नीति का सदैव यही रुख रहा कि भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व स्वीकार किया जाय। गाँवों तथा जागीरों की खेती-योग्य भूमि (बेकार भूमि अथवा ऐसी भूमि के विषय में नहीं जिनका स्वमित्व का अधिकार स्पष्ट एवं निश्चित रूप में सरकार को प्राप्त है) के विषय में बैडेन पॉवेल कहते हैं कि ब्रिटिश सरकार ने प्रत्येक स्थान पर भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व प्रदान किया है अथवा स्वीकार किया है तथा देश के बड़े-बड़े भागों में, जैसे बंगाल, अवध, सम्पूर्ण उत्तरी भारत इत्यादि में ब्रिटिश सरकार ने जमींदारों तथा गाँव के मालिकों के भूमि पर स्वामित्व-सम्बन्धी अधिकारों को स्पष्ट रूप से घोषित किया है।[2]

यह सामान्य धारणा है कि जहाँ तक बंगाल तथा अन्य स्थानों की जमीदारी तथा अन्य जागीरों का सम्बन्ध है भूमि पर वैयक्तिक अधिकार के सम्बन्ध में कोई झगड़ा नहीं है। इसके विपरीत इस बात पर भी कोई झगड़ा नहीं है कि बेकार भूमि पर तथा बंगाल और बिहार की 'खास महल' जैसी जागीरों पर जो सरकार के प्रत्यक्ष प्रबन्ध में है, सरकार का पूर्ण स्वामित्व है। परन्तु जहाँ तक रैयतवारी प्रदेशों की भूमि का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में काफ़ी मतभेद है। एक तरफ यह कहा जाता है कि रैयत—अथवा बम्बई में जिसे भू-अधिकारी कहते हैं—स्थायी ज़मीदार की हैसियत से किसी प्रकार भी कम नहीं है, तथा वह भूमि पर पूर्ण स्वामी के रूप में कब्ज़ा करता है, जिस सम्बन्ध में केवल शर्त यही रहती है कि वह निर्धारित लगान जमा करता रहे। यह तथ्य कि

---

१. राजा का भूमि के स्वामित्व का निश्चित अधिकार स्पष्ट रूप से टीपू सुलतान द्वारा व्यक्त किया गया। इसके विपरीत मराठों के मीरासी भूमिगत अधिकारों के सम्बन्ध में लिखते हुए माउन्ट स्टुअर्ट एलफिंस्टन ने कहा, "अधिकांश रैयत अपनी भू-सम्पत्तियों के स्वामी हैं, केवल उन्हें सरकार को एक निश्चित भूमि-कर आवश्यक रूप से देना पडता है। उनकी सम्पत्ति वंशपरम्परागत हस्तान्तरित हो सकती है तथा उसका विक्रय किया जा सकता है। जब तक वे मालगुजारी देते रहें उन्हें कभी हटाया नहीं जा सकता और यदि कभी ऐसा कर भी दिया जाय तब भी उन्हें यह छूट रहती है कि अपनी भू-सम्पत्ति से सम्बन्धित सरकार के कर जमा करके काफ़ी समय तक—कम-से-कम ३० वर्ष तक—वे अपनी भू-सम्पत्ति को वापस माँग सकते हैं।"—'रिपोर्ट आन द टेरीटरीज़ कांकर्ड फ्रॉम पेशवाज़'।

२. इस स्थति की कभी अधिकारपूर्वक आलोचना भी की जाती थी। यह कहा जाता था कि बंगाल तक में जमीदारों को पूर्ण स्वामित्व के अधिकार प्रदान नही किये गए। उनके साथ जो स्थायी बन्दोबस्त किया गया वह उन पर कृपा की गई थी तथा ऐसा इसलिए किया गया था कि वह उचित नीति समझी गई। ऐसा पूर्व शासनों के सिद्धान्तों अथवा इनके कार्य-कलापों के आधार पर नही किया गया तथा मालगुजारी के अपरिवर्तनीय निर्धारण के अतिरिक्त सरकार तब भी स्वामी बनी रही तथा जमींदार मालगुजारी एकत्र करने के हेतु प्रतिनिधि मात्र रहे अथवा उनकी स्थिति सरकार के अधीन केवल आसामी की रही।

यदि वह लगान जमा नही करेगा तो सरकार भूमि पर से उसका कब्जा छीनकर अपना अधिकार घोषित कर देगी, यह प्रमाणित नही कर सकता कि उसका किसी प्रकार भी भूमि पर कम स्वामित्व है। इसका कारण यह है कि किसी प्रकार भी यह असाधारण अथवा असामान्य नियम नही है तथा यह व्यक्तिगत अधिकार वाली भूमि पर समस्त स्थानों पर लागू होता है, जहाँ सरकार मालगुजारी जमा न करने पर उस सम्पत्ति को कुर्क करा सकती है। इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते हैं कि सरकार भूमि को रहन में जमानत बतौर रखी हुई समझ सकती है, जिस जमानत को उस भूमि पर निर्धारित मालगुजारी वसूल करने के लिए केवल अन्तिम आश्रय के रूप मे छुआ जा सकेगा।[1] रैयतवारी को जमींदारी से पृथक् करने वाला एक लक्षण यह भी है कि यदि अधिकारी चाहे तो उसकी इच्छा पर रैयतवारी भूमि को छोड़ना पड़ सकता है। इसी वजह से रैयतवारी प्रदेशों में राज्य को ही वास्तविक भू-स्वामी मानने का यह बहुत ही कमजोर कारण दीख पड़ता है। खेती-योग्य भूमि पर कब्जे वाले व्यक्ति या मौरूसी काश्तकार के समान इस लक्षण का जन्म भी उस समय से होता है जब किसान से बलपूर्वक अधिक-से-अधिक लगान वसूल किया जाता था तथा उसे नाना प्रकार से कुचला जाता था और इस कारण वह किसी भी भूमि से बँधना और बिना किसी शर्त के माँगे गए लगान के लिए उत्तरदायी नही होना चाहता था। किसान के स्वाभाविक भय को मिटाने के लिए उसे यह छूट प्रदान की गई कि वह जब चाहे अपनी भूमि को छोड़ सके; ऐसा इसलिए नही किया गया कि ब्रिटिश सरकार की ऐसी कोई इच्छा रही हो कि किसान से स्वामित्व का अधिकार किसी प्रकार से हस्तगत कर लिया जाय। वास्तविकता तो यह है कि वे इसे प्रदान करने के इच्छुक ही थे। एक दूसरी बात जो राज्य के स्वामित्व के सम्बन्ध मे कही जाती है, वह यह है कि कुछ राज्यों में सरकार की अनुमति प्राप्त किये बिना कृषि की भूमि का कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए उपयोग नही किया जा सकता तथा सरकार यदि ऐसा करने देती है तो उस स्थिति में मालगुजारी पुनः निर्धारित की जायगी। परन्तु ऐसी स्थिति की तुलना को हम प्रायः सभी सभ्य देशों में वैयक्तिक सम्पत्ति पर लगे प्रतिबन्धो से कर सकते है, जिनके अन्तर्गत जन-साधारण के स्वास्थ्य अथवा अन्य जन-हित की दृष्टि से व्यक्तिगत अधिकारों को नियन्त्रित कर दिया जाता है। अतः हम तो जाँच समिति के मत का समर्थन करते है कि जमींदार तथा रैयत दोनो को ही भूमि के सम्बन्ध मे स्वामित्व का अधिकार इस शर्त पर प्राप्त है कि वे मालगुजारी जमा करते रहे; यद्यपि रैयतवारी अवस्था मे भू-स्वामी की निश्चित एवं साधारण परिभाषा देना कठिन है।[2] यहाँ हम एक अन्य मत का भी वर्णन कर देना आवश्यक समझते है जिसके अनुसार भारतीय भू-धृति का स्वरूप भूमि पर पूर्ण स्वामित्व की अंग्रेजी प्रथा तथा राज्य का अनन्य रूप से स्वामित्व, इन दोनो के बीच का रास्ता है। यहाँ न तो भूमि पर पूर्ण रूप से वैयक्तिक स्वामित्व ही है और न यहाँ भूमि केवल सरकार की ही सम्पत्ति है

१. बैडेन पॉवेल, 'लेन्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया', पृ० ४६।

२. टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पैरा ८३।

परन्तु यहाँ इन दोनों के बीच की व्यवस्था है। यहाँ की स्थिति को नियन्त्रित राज्य स्वामित्व अथवा प्रतिबन्धित वैयक्तिक स्वामित्व कहा जा सकता है। ज़मींदार अथवा रैयत के अधिकार को तो स्वीकार किया जाता है किन्तु उसके साथ ही राज्य का भी संयुक्त रूप से हित सन्निहित रहता है अथवा भूमि पर उनके अधिकार में राज्य का भी अधिकार एकीभूत रहता है तथा उत्तरी भारत में आसामियों के भी अधीनस्थ भूमिगत अधिकार होते हैं, जैसे भू-धृति की स्थिरता।[१]

३०. भू-राजस्व (मालगुज़ारी) : कर अथवा लगान?—यदि भूमि पर वैयक्तिक अधिकार स्वीकार कर लिया जाता है तब तर्क के अनुसार उसका यही अर्थ निकलता है कि भू-राजस्व कर है, लगान नहीं। यह निश्चित करने के लिए कि भू-राजस्व लगान है अथवा कर, भूमि पर राज्य का स्वामित्व सिद्ध करने और न करने वाले सब तर्क-वितर्क यहाँ भी लागू किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस विशेष प्रश्न का कि भू-राजस्व लगान है अथवा कर, को तय करने के लिए हम कुछ अन्य विशिष्ट बातें भी बताना चाहते हैं।[२] उदाहरणार्थ, भू-राजस्व को कर से भिन्न तथा लगान की प्रकृति का सिद्ध करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि भू-राजस्व कितने समय के लिए निश्चित किया जाता है। उस काल में राज्य की संकटकालीन अथवा अत्यावश्यक परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन नहीं किये जा सकते। यही नहीं, इसके निर्धारित करते समय लगान देने वालों को अनेक प्रकार की छूट भी दे दी जाती है, जैसे मकान आदि के लिए बिना किराये की भूमि तथा सर्वसाधारण के जानवरों के लिए चरागाह आदि। परन्तु इसके विपरीत यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि सरकार द्वारा प्रत्येक वर्ष इस लगान को परिवर्तित करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ऐसा न करने का निश्चय करते समय सरकार के सम्मुख केवल नीति, आवश्यकता एवं मितव्ययिता के ही विचार रहते हैं। इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वैयक्तिक ज़मीनों पर वार्षिक लगान बहुत लम्बी अवधि के लिए नहीं निश्चित किये जाते। सच तो यह है कि अधिकांश पट्टों का प्रतिवर्ष नवीकरण होता है। जहाँ तक मकान अथवा चरागाह इत्यादि की बिना किराये की ज़मीनों को देने का सम्बन्ध है, वस्तुतः इस प्रश्न को सुलझाने में ये सब बातें निर्णायक महत्त्व नहीं रखतीं। वर्तमान काल की ज्ञानयुक्त सरकारें, जिनके सम्मुख कृषकों की भलाई का ध्येय होता है, उन्हें इस प्रकार की सुविधाएँ दे सकती हैं, परन्तु इससे वे किसी भी प्रकार अपनी ज़मींदारी का अधिकार स्थापित नहीं करतीं। भू-राजस्व एक कर है, इस सम्बन्ध में एक अनावश्यक तथा तुच्छ तर्क यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि इसका निर्धारण एवं इसे वसूल करने की विधि कर की भाँति ही होती है।

अन्तिम रूप में भूमि के वैयक्तिक स्वामित्व के पक्ष में जो एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया जाता है, वह यह है कि सन् १८८६ के आय-कर विधान के अन्तर्गत कृषि आय को कर-मुक्त रखा गया है तथा यह कहा जाता है कि इससे यह ध्वनित होता है कि

१. मॉरीसन, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ १८।

२. टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ४४-४५।

भूमि-सम्बन्धी आय द्वारा पहले ही कर दे दिया जाता है। यदि भू-राजस्व केवल लगान ही होता, तथा वह इसलिए दिया जाता कि सरकार भूमि पर स्वामित्व-प्राप्त जमींदार है तो कृषि-आय पर कर लगाना पूर्णतया न्यायोचित होता।[1]

उपर्युक्त विवरण से यह प्रतीत होता है कि यह प्रश्न अत्यधिक पेचीदा है तथा इसका उत्तर स्पष्ट एवं निश्चित शब्दों में किसी प्रकार नहीं दिया जा सकता, यद्यपि राज्य स्वामित्व के स्थान पर वैयक्तिक स्वामित्व का पक्ष सबसे अधिक प्रतीत होता है। हम बैडेन पॉवेल के विचार से पूर्णतः सहमत हैं कि यह वादानुवाद एक निष्प्रयोजन वाक् युद्ध मात्र है। यह निष्प्रयोजन इस कारण है कि इसका कोई अन्त ही नहीं। इन दोनों विरोधी सिद्धान्तों के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कुछ व्यक्तियों को एक पक्ष के तर्क विशेष प्रभावित कर सकते हैं तथा अन्य व्यक्तियों पर विपक्ष के तर्क विशेष प्रभाव डाल सकते हैं, भले ही वे किसी पक्ष-विशेष के समर्थक न हों। यह निष्फल भी है, क्योंकि इस प्रश्न का हल हम किस प्रकार ढूँढते हैं इससे व्यावहारिक रूप में नीति-निर्धारण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तथा इस विषय का व्यावहारिक पक्ष इसके सैद्धान्तिक पक्ष से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि भू-राजस्व इतना सीमित नहीं है कि उसे वसूल कर लेने के उपरान्त भू-स्वामी के पास जीवन की निम्नतम आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ और नहीं बचता तो पूर्ण एवं बिना किसी शर्त पर भी रैयत के लिए स्वामित्व के अधिकारों का कोई महत्व नहीं है। इसी प्रकार यदि किसान के वर्तमान अधिकार—अर्थात् भूमि को बेचने, गिरवी रखने आदि—सुरक्षित रहें तथा सरकार द्वारा लगाई मालगुजारी थोड़ी ही रहे, तो किसान को दूसरी कोई चिन्ता न होगी कि सरकार सर्वमान्य भू-स्वामी एवं जमींदार है। हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि सम्पूर्ण वादविवाद व्यवहार की दृष्टि से बहुत कम महत्त्व का है। उदाहरणार्थ, भू-राजस्व सम्बन्धी विषयों के अन्तर्गत अधिशासी वर्ग पर विधान सभा के नियन्त्रण का, इस प्रश्न से कि भूमि की स्पष्ट रूप से सरकार स्वामिनी है अथवा नहीं, कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यदि सरकार ही जमींदार रहती तब भी राज्य का अभिप्राय केवल अधिशासी-वर्ग से नहीं होता। राज्य के एक अंग अर्थात् विधान मण्डल को दूसरे अंग अर्थात् अधिशासी-वर्ग के कार्यों में कितना हस्तक्षेप करना चाहिए यह केवल शासन-

---

१. यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि यह तर्क भी वैयक्तिक स्वामित्व के पक्ष में निश्चित एवं अन्तिम रूप से समर्थक तर्क नहीं है; क्योंकि यह तर्क प्रस्तुत करना भी सम्भव है कि कृषि-आय को आय-कर से मुक्त रखने का कारण यह है कि ऐसे किसान बहुत ही सीमित संख्या में बचेंगे जो सरकार को लगान देकर भी इतनी आय प्राप्त करते हों कि उनकी आमदनी आय-कर की छूट की सीमा से अधिक हो; और इन पर कर लगाना उचित भी नहीं है। इससे, सरकार यह भी कह सकती है कि कृषि-आय का आय-कर के उद्देश्य से निर्धारण न करना साधारण दृष्टि से ही किया गया है तथा जब सरकार चाहेगी वह ऐसा कर लेगी। यह तर्क इस तथ्य से भी प्रबलता प्राप्त करता है कि बिहार सरकार ने सन् १९३८ से कृषि-आय पर भी कर लगा दिया है। तथा अन्य राज्यीय सरकारें भी ऐसा करने को सोच रही हैं। अन्तिम रूप से यह कहा जा सकता है कि इंगलैण्ड में भूमि-कर के अतिरिक्त कृषि-लाभ पर आय कर भी दिया जाता है, किन्तु इससे वहाँ भूमि वैयक्तिक स्वामित्व के सम्बन्ध में कोई झगड़ा नहीं उत्पन्न होता है।

सम्बन्धी-सुविधा, कार्यक्षमता तथा राजनीतिक विचार-धारा पर निर्भर होता है। यह भली प्रकार कहा जा सकता है कि देश की भू-राजस्व सम्बन्धी व्यवस्था का प्रभाव देश के लाखों-करोड़ों व्यक्तियों पर पड़ेगा, अतएव ऐसी स्थिति मे विधान-मण्डल का अपेक्षाकृत अधिक नियन्त्रण श्रेयस्कर होगा। यह सत्य है कि अपने उत्तरदायित्वों के प्रति पूर्ण सजग सरकारों में प्रत्येक कर के बारे में विधान-मण्डल को निर्णय करने का अधिकार होता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि कर के अतिरिक्त वे किसी अन्य प्रकार के भार नही लगा सकते। इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते हैं कि विधान-मण्डल के अधिक नियन्त्रण का समर्थन, इस अनुमान के आधार पर और भी हो जाता है, कि भू-राजस्व कर है लगान नही, यद्यपि इसके लिए इस अनुमान का निश्चय रूप से सच होना आवश्यक नहीं।

कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि जब हम सरकार का पूर्ण स्वामित्व स्वीकार करते है तो हमें सरकार का यह अधिकार भी स्वीकार करना चाहिए कि वह पूर्ण आर्थिक लगान वसूल कर सकती है।[1] परन्तु यह तो ऐसी स्थिति है जिससे हम कभी बच ही नही सकते, क्योंकि यह तो कर-निर्धारण का सिद्धान्त है कि सिद्धान्त-रूप से कर के अन्तर्गत आर्थिक लगान भी अवश्य रह सकता है और इससे कर देने वालों को भी कोई हानि न होगी यदि हम निश्चित रूप से आर्थिक लगान (अथवा वास्तविक अनुपार्जित वृद्धि) को अलग कर सकें तथा इसमें मज़दूरी, लाभ, ब्याज इत्यादि को सम्मिलिति न करें। मालगुजारी निर्धारित करते समय हम चाहे लगान सिद्धान्त का अनुसरण करें और चाहे कर॰ लगाने में सम्बन्धित नियमों का पालन करें, इससे व्यवहार मे कोई अन्तर नही पड़ता है। इसका ज्ञान इस तथ्य से किया जा सकता है कि सरकार ने इस मत का, कि भू-राजस्व कर है, निश्चय रूप से समर्थन किये बिना ही कर-जाँच-समिति को यह निर्देश देने में कोई आपत्ति न देखी कि वह भू-राजस्व के प्रति व्यक्ति का अध्ययन करे तथा कर लगाने के सिद्धान्तों के अनुसार, यदि वर्तमान भू-राजस्व व्यवस्था में कोई दोष हों तो, उन्हे बताए और यदि आवश्यक हो तो सम्पूर्ण वर्तमान व्यवस्था को परिवर्तित कर देने की भी सिफारिश करे। जहाँ तक निर्धारित मालगुजारी में वृद्धि करने का प्रश्न है अथवा अनाप-शनाप लगान वसूल करने का सम्बन्ध है,

१. बारदोली रिपोर्ट पढकर श्री वी० जी० काले ने जो निष्कर्ष निकाले उनमें से एक इस सम्बन्ध में भी था कि भू-स्वामी राज्य है अथवा व्यक्ति। इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना व्यावहारिक दृष्टि से बडा आवश्यक है। (जुलाई, सन् १९२९ के इण्डियन जर्नल ऑफ़ इकनामिक्स में 'ए लैसन फ्रॉम बारदोली' नामक लेख पढिए।) बारदोली की समस्या का कारण यह था कि बम्बई के तत्कालीन बन्दोबस्त कमिश्नर एफ० जी० एच० एण्डरसन ने असावधानी से लगान-मूल्य एवं भू-राजस्व सूचनांक सिद्धान्त (लैण्ड रेवेन्यू इन्डेक्स थ्योरी) का एक साथ व्यवहार में प्रयोग करना चाहा। एण्डरसन रिकार्डो के लगान सिद्धान्त में विश्वास करने वाला था। यह तो ठीक है किन्तु रिकार्डो का लगान सिद्धान्त इस कल्पना पर तो आधारित नहीं है कि भूमि का स्वामित्व राज्य में निहित है। एण्डरसन ने स्वयं यह घोषित किया था कि मालगुजारी की अधिकारी तो सरकार है ही, परन्तु इसका इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं है कि भूमि का स्वामित्व सरकार में निहित है अथवा व्यक्ति-विशेष में।" (फेक्ट्स एण्ड फैलेसीज ऑफ द बाम्बे लेन्ड रेवेन्यू सिस्टम, पृ० १४२।)

यह तो स्पष्ट है कि कोई भी सभ्य सरकार, इस आधार पर कि वह भू-स्वामिनी है, अपने ऐसे कार्यों को, जिनसे किसान पर निर्दयता अथवा कठोरता बरती जाय, न्यायोचित नही ठहरा सकती। भू-स्वामी हो जाने के बावजूद भी राज्य को कोई वैधानिक अधिकार प्राप्त नही है कि वह भूमि के उपयोग के बदले जैसा चाहे वैसा लगान वसूल कर ले। फिर सरकार केवल वैधानिक अधिकारो के बल पर ही तो सब कार्य नही कर सकती; उसे अपने प्रत्येक कार्य पर नैतिक दृष्टि से भी विचार करना होता है। अतः अत्यधिक मालगुजारी लगाकर सरकार यह बचाव नही ले सकती कि भूमि पर उसका पूर्ण स्वामित्व है। कभी-कभी यह तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि भू-राजस्व की आलोचना करने वाले इसे जितना अधिक एवं भारदायक समझते है, यह वास्तव में उतना नही है, हालाँकि यह नही कहा जा सकता कि उनका यह तर्क कहाँ तक सही है। यदि यह मान भी लिया जाय कि भूमि पर राज्य का ही स्वामित्व होता है, तब भी उसे एक सुज्ञानी भू-पति की भाँति व्यवहार करना चाहिए और अन्ततः अपने ही हित में उसे भू-राजस्व की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे कि किसान के उचित लाभ मे किसी प्रकार कमी न आए अथवा उसका व्यवसाय करने का उत्साह मन्द न पड़े अथवा किसी प्रकार उसकी कार्य-क्षमता का ह्रास न हो। उदाहरणार्थ, एक उदार, शुभ-चिन्तक एवं सुज्ञानी भू-स्वामी कभी ऐसी जमीनो से बलपूर्वक लगान नही लेगा जो कृषि-कार्य की दृष्टि से अनार्थिक हैं। इसके विपरीत वह पहले छोटे-छोटे खेतों की चकबन्दी करना चाहेगा और जब उनके आकार का इतना विस्तार हो जायगा कि उसकी आय में से व्यय निकालकर भी कुछ बचत हो सकेगी, तभी वह भूमि का लगान वसूल करना चाहेगा। अतः भूमि पर सरकार का आधिपत्य चाहे स्वीकार कर लिया जाय फिर भी अनार्थिक जमीनों पर लगान की छूट की स्थिति भली प्रकार समझ में आ सकती है। साधारण तथा कम मालगुजारी निर्धारित करने वाली बात भी दृष्टि में रखने पर समझ में आ सकती है कि वास्तव में सरकार का जनता से स्वतन्त्र कोई पृथक् हित नही होता है। सरकार अपने लिए सबसे अच्छा काम उसी समय करती है, जब वह जनता की सबसे अच्छी प्रकार से सेवा कर रही हो, क्योंकि सरकार वस्तुतः जनता ही है।

इस वादविवाद के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि कतिपय सैद्धान्तिक प्रश्नों पर दोनों मतों के अनुयायी सहमत हैं। उदाहरणार्थ, यद्यपि सरकार ने यह समझकर कि वही भूमि की स्वामी है, इससे अनुचित लाभ भी उठाने की चेष्टा की है तथापि वास्तव में सरकार की नीति सदैव यही रही है कि वैयक्तिक स्वामित्व की भावना का विकास किया जाय। सरकार ने यह बात साधारणतः स्वीकार की है कि इस भावना को किसी प्रकार भी क्षुब्ध करना हानिकारक होगा। एक साधारण सरल हृदय भारतीय किसान के मस्तिष्क मे इस प्रकार का कोई सन्देह नही होता है कि जब तक वह अपनी भू-सम्पत्ति को वंश-परम्परा से प्राप्त करने का अधिकार रखता है तथा उसे बेचने, किसी को पट्टे पर देने तथा उसे रहन रखने के लिए स्वतन्त्र है—तथा जिन अधिकारों को देश के राज्य-स्वामित्व के प्रबल समर्थक भी नही छेड़ना चाहते हैं—तब तक यदि राज्य-स्वामित्व जैसी कोई स्थिति है तो वह कोरे नाम की ही वस्तु है।

यह सरकार द्वारा अपने वर्तमान अधिकारो में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार नही करेगा।[1] इस बात पर भी साधारणतः लोग एकमत है कि जहाँ तक कर के प्रति भार की दृष्टि से विचार करने का सम्बन्ध है भू-राजस्व को कर समझना चाहिए तथा कर जाँच समिति ने इस मत का समर्थन भी किया है, यद्यपि उनका ऐसा करने का आधार यह है कि भू-राजस्व राष्ट्रीय आय मे से घटाया जाता है।[2]

इसके अतिरिक्त भू-राजस्व से सम्बन्धित सम्पूर्ण नीति, उदाहरणार्थ, निर्धारण की अधिकतम सीमा, बन्दोबस्त की अवधि इत्यादि के विषय मे जो वादविवाद किया जाता है उसमे स्थिर रूप से इस बात का कोई सन्दर्भ नही दिया जाता कि भू-राजस्व कर है अथवा लगान। ऐसी स्थिति मे यदि सरकार स्पष्ट एव निश्चित शब्दो मे यह घोषित कर देती कि वह भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व को पूर्ण स्वीकृति प्रदान करती है तथा इस अभिमानपूर्ण बहाने को त्याग देती कि वह स्वय सम्पूर्ण रूप से भू-स्वामित्व के अधिकार रखती है, तो सम्भवत. इस सम्बन्ध मे होने वाले निरर्थक वादविवाद का बहुत-कुछ अन्त हो जाता और इससे जनता मे पुन. विश्वास का सचार भी होता। साथ ही यह स्वीकार कर लेने से राज-कर से सम्बन्धित अथवा अन्य किसी प्रकार की भी असुविधा होने की सम्भावना नही है।

३१. स्थायी बनाम अस्थायी बन्दोबस्त—पिछली शताब्दी के अन्तिम दिनो मे विस्तृत क्षेत्र में तथा बहुत गम्भीर प्रकृति के अकालों के कारण देश के अधिकाश व्यक्तियो को कठोर यातनाओ का शिकार बनना पड़ा। उसके कारण सरकार की भू-राजस्व सम्बन्धी नीति के प्रति सब लोगो का ध्यान आकर्षित हुआ तथा साधारणतः भारत सरकार की नीति तथा इस सम्बन्ध मे प्रत्येक राज्यीय सरकार की नीति की स्वर्गीय आर० सी० दत्त द्वारा कडी आलोचना की गई तथा दत्त साहब ने इण्डियन सिविल सर्विस के कुछ पेशन प्राप्त यूरोपियन सदस्यो के साथ इस विषय पर राज्यसचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) के समक्ष एक प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत किया। इसके कुछ समय पूर्व आर० सी० दत्त ने सन् १९०० मे लार्ड कर्जन के नाम कुछ 'खुले पत्र' भी लिखे थे। लार्ड कर्जन की सरकार ने सन् १९०२ मे एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव प्रकाशित कराया जिसमे समस्त आलोचनाओ का उत्तर दिया गया था तथा राज्यीय सरकारो द्वारा प्रस्तुत रिपोर्टो के आधार पर सरकार की सामान्य नीति की रूप-रेखा दी गई थी।

श्री दत्त ने एक बात यह भी कही कि चाहे स्थायी बन्दोबस्त ४० वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ कर दिया जाता, जब कि सन् १८६० मे लार्ड केनिंग ने इसका विस्तार करने का सुझाव रखा था, तो भारत इन भयानक तथा उजाडने वाले भयकर अकालो से बच जाता—जिनका शिकार उसे उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे होना पडा। उन्होने बगाल के

१. मेवाड का किसान सदैव निम्न कहावत कहता रहता है जो बड़ी स्पष्ट एव उसके अधिकारो की सूचक है कि 'भोगरा धणी राज हो भूमरा धणी माज हो' अर्थात् कर राज का होता है तथा भूमि मेरी होती है।—ब्रिग्स, पूर्व उद्धृत, पृ० ९०। यह धारणा मेवाड के किसान की ही नहीं है बरन् देश के सब भागों के किसानों की है।

२. टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ८४।

किसानों की समृद्धि का मुख्य श्रेय स्थायी बन्दोबस्त को ही दिया तथा यह भी कहा कि उनके इतने अधिक संसाधनों का होना, बुरी फसलों के दिनों में भी उस स्थिति का सामना करने की क्षमता, उनका कृषि-व्यवसाय का विकास करना, पूँजी संचय करना तथा उसे उपयोगी उद्योगों, सार्वजनिक कार्यो एवं संस्थाओं में विनियोग करना आदि, इन समस्त कार्यो के पीछे मूल रूप में स्थायी बन्दोबस्त ही है। यद्यपि स्थायी बन्दोबस्त के अब उतने समर्थक न तो सरकारी कर्मचारियों में ही और न गैर-सरकारी व्यक्तियों में ही रह गए है, तथापि अब भी यह विषय समाप्त नहीं हो गया है। उदाहरणस्वरूप सन् १९२४-२५ में बम्बई भू-राजस्व निर्धारण समिति के समक्ष कुछ व्यक्तियों ने गवाही देते हुए कहा था कि वे स्थायी बन्दोबस्त के ही पक्ष में है। बंगाल में यह वादविवाद पुन: प्रबल हो गया तब भू-राजस्व आयोग की नियुक्ति की गई तथा इस आयोग ने अपने अनुभव प्रकाशित कराये (सेक्शन ३२ देखिए)। अतः यह अनुचित न होगा यदि हम स्थायी बन्दोबस्त तथा इसके बंगाल में क्रियान्वित होने से सम्बन्ध रखते हुए पक्ष तथा विपक्ष में प्रस्तुत किये जाने वाले तर्को का संक्षेप में अध्ययन कर लें।

जो इसका समर्थन करते है वे यह बात दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि बंगाल में यह अत्यधिक सफल रहा है।[1] (१) जहाँ तक इसके आर्थिक पक्ष का सम्बन्ध है उनका कथन है कि इससे राज्य को एक निश्चित तथा स्थायी मालगुजारी मिल जाती है तथा इसके लिए सरकार को समय-समय पर मालगुजारी के निर्धारण तथा उसे वसूल करने में बहुत अधिक व्यय नहीं करना पड़ता। (२) दूसरे, इससे जमींदार किसानों के स्वभावत: नेता बन सके है जो व्यावहारिक जीवन में सार्वजनिक हित की भावना से प्रेरित होकर शिक्षा-प्रसार, जन-स्वास्थ्य सुधार तथा अन्य कार्य करते रहते हों[2]। (३) जहाँ तक मितव्ययिता का सम्बन्ध है, इससे कृषि-कार्य के प्रति लोगों में साहस का संचार हुआ है जिससे कृषि की उन्नति हुई है तथा कृषक के संसाधनों का विस्तार हुआ है जिससे अभाव अथवा न्यूनता के काल में भी किसानों में स्थिति का सामना करने की विलक्षण क्षमता उत्पन्न हो सकी है। (४) अन्तिम, स्थायी बन्दोबस्त द्वारा अस्थायी बन्दोबस्त की बुराइयों को दूर किया जा सकता है। ये बुराइयाँ इस प्रकार की थीं जैसे मालगुजारी के पुनर्निर्धारण के समय काश्तकार को अत्यधिक परेशान करना, दुबारा बन्दोबस्त करने के लिए बहुत अधिक व्यय करके कर्मचारी आदि रखना, बन्दोबस्त के अन्तिम दिनों में स्वाभाविक रूप से काश्तकारों की भूमि के क्षय होने की प्रवृत्ति—जो उनकी

१. स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष में हाल ही में प्रस्तुत किये गए तर्को के सम्बन्ध में बर्दवान के महाराजाधिराज बहादुर, सर विजयचन्द मेहताब तथा श्री बी० के० राय चौधरी के भिन्न मत प्रकट करने वाली टिप्पणी देखिए। रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल, खण्ड १, पैरा २९-३४।

२. यह भी तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि स्थायी बन्दोबस्त द्वारा जमीदारों के लाभ में वृद्धि हुई जिसके-फलस्वरूप वे ऐसे भूमि गत पट्टे वाले नियुक्त कर सके जो भूमि पर खेती करते थे तथा उनके इस कार्य के कारण बंगाल में ऐसे जमीदारों की उन्नति हुई जिनके पास संस्कृति तथा राजनीति के हेतु पर्याप्त समय था, जो शिक्षा प्राप्त करके अनेक व्यवसाय तथा सरकारी नौकरियाँ कर सकते थे तथा ज राजनीतिक प्रगति के लिए उत्तरदायी हैं। रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल, खण्ड १, पैरा ७७।

जान-बूझकर की हुई लापरवाही के कारण होती थी ताकि उस भूमि का लगान बढ़ाया न जा सके, उद्योगों के विकास तथा कृषि-सुधार में रुकावटें तथा किसी वैधानिक अथवा न्याय-प्रणाली के उचित नियन्त्रण के अभाव में भू-राजस्व सम्बन्धी सरकारी कर्मचारियों के हाथों में समस्त अधिकारों का केन्द्रित हो जाना इत्यादि।

(१) स्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि इससे राज्य की मालगुजारी एक निश्चित रकम पर सीमित हो गई है तथा यह रकम भूमि की उपज को देखते हुए राज्य के भाग की जो रकम होनी चाहिए थी उससे कही कम थी। यही नही, जिन राज्यों में स्थायी बन्दोबस्त नही है, वहाँ की भूमि चाहे बंगाल की भूमि से कम उपजाऊ हो, फिर भी स्थायी बन्दोबस्त वाले राज्यों की मालगुजारी की रकम उन राज्यों से बहुत कम है। जनसंख्या की वृद्धि तथा उसके परिणामस्वरूप खेती के विस्तार एवं भूमि के मूल्य में हुई वृद्धि में भी सरकार को कोई अंश नही मिल सका है। स्थायी बन्दोबस्त के फलस्वरूप वह मालगुजारी चलती आ रही है जिसके निर्धारण का भूमि के उपजाऊपन से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार निर्धारित की गई मालगुजारी प्रत्येक ज़िले में भिन्न है तथा जैसे-जैसे समय बीतता जाता है यह और अधिक असमान होती जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि राज्य को एक निश्चित तथा स्थायी मालगुजारी मिल जाती है, किन्तु इसके लिए राज्य को बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। सन् १९३८-४० के बंगाल के भू-राजस्व आयोग के अनुमान के अनुसार सरकार को प्रति वर्ष २ करोड़ रुपये से ८ करोड़ रुपये के बीच की हानि होती है। इसमें वह हानि सम्मिलित नही है जो सन् १७९३ से रुपये की क्रय-शक्ति के ह्रास के कारण हुई।[१] एक कृषि-प्रधान देश में जहाँ भू-राजस्व से प्राप्त आय राज्य की आय का प्रमुख साधन है, वहाँ भू-राजस्व के स्थायी एवं लोचहीन होने के कारण बंगाल सरकार को अत्यधिक असुविधा का सामना करना पड़ता है तथा इसके परिणामस्वरूप अनेक दिशाओं में जहाँ सरकार को कार्य करने की आवश्यकता थी, वहाँ वह कार्य करने से रुक जाती है। यह आशा कि स्थायी बन्दोबस्त के फलस्वरूप राज्य की आय के अन्य साधनों में वृद्धि सम्भव हो सकेगी कोरी आशा ही रह गई तथा जहाँ कहीं सफल भी हुई वहाँ उतनी नहीं जितनी कि सोची गई थी। इस प्रकार ज़मींदारों की निरन्तर बढ़ती हुई सम्पन्नता में सरकार का जो उचित अंश था उससे वह वंचित ही रही। यह उल्लेखनीय है कि जमींदारों के वैभव की वृद्धि उनके प्रत्यक्ष प्रयत्नों के परिणामस्वरूप न थी वरन् कुछ अनुकूल स्थितियाँ ही उत्पन्न हो गई थी, जैसे जनसंख्या में वृद्धि, सुधरे हुए संचार-साधन, मूल्यों में वृद्धि आदि।[२] इसके अतिरिक्त स्थायी बन्दोबस्त के कारण सरकार को खनिज तथा नाव चलाने योग्य नदियों में मछलियों आदि पर लगाये जा सकने योग्य लगान की भी हानि

१. रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल, खण्ड १, पैरा ७३ और ८०।

२. बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त के कुछ परिणामों का अध्ययन करने के लिए 'रिपोर्ट ऑफ द इण्डियन स्टेट्यूटरी कमीशन' के ३८१-२ पैरा देखिए; श्री एम० ए० हक द्वारा लिखित 'द मैन बिहाइण्ड द प्लो', पृष्ठ संख्या २२४-६७ तथा रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल, खण्ड १, पैरा ७२-९३ भी देखिए।

हुई क्योंकि स्थायी बन्दोबस्त के समय इन प्राकृतिक संसाधनों का कोई ख्याल नहीं किया गया था जिनके कारण सामञ्जस्य स्थापित किये बिना ही जमींदारों ने ऐसे साधनों का अपने स्वार्थ-हित खूब उपयोग किया। यह उल्लेखनीय है कि भूमि पर कम कर लगाने के पक्ष में जो नीति रही उसके परिणामस्वरूप लोगों में अपना धन उद्योगों की अपेक्षा भूमि में विनियोग करने के प्रति अधिक झुकाव हुआ तथा भूमि का लगान वसूल करने के उद्देश्य से ही इतनी अधिक मात्रा में पूंजी का विनियोग किया गया न कि कृषि अथवा उद्योग-धन्धों की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के ध्येय से।[1] (२) स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष में कभी जो राजनीतिक दृष्टि से यह तर्क प्रस्तुत किया जाता था कि इस बन्दोबस्त के अन्तर्गत जमींदारों की स्वामि-भक्ति प्राप्त की जा सकी है, इसमें वस्तुतः अब कोई सत्यता नहीं रह गई है। यही नहीं, अब तो राज्यीय सरकारें समस्त जनता से राजभक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहती है; वे केवल कुछ बड़े जमींदारों की स्वामि-भक्ति से ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहतीं। (३) जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि यह आशा की जाती थी कि जमीदार धनिक एवं सहृदय होंगे तथा अपनी रयत के स्वाभाविक नेता के रूप में उनकी स्थिति को ऊँचा उठाने का यत्न करेंगे, उसके सम्बन्ध में भी साधारणतः यह विश्वास किया जाने लगा कि यह आशा भी फलीभूत नहीं हो सकी है। यही नहीं, "यद्यपि बंगाल में काफी संख्या में योग्य, सहृदय तथा सुज्ञानी ज़मींदार है तथा देश के अन्य भागों में भी हैं, किन्तु इनके साथ-ही-साथ ज़मींदारी प्रथा की कुछ ऐसी विशिष्ट कुरीतियाँ भी हैं, जो बंगाल में ही नहीं पनप रहीं वरन् देश के अन्य भागों में भी पनप रही है। यह बुराई इस प्रकार की है जैसे कार्य से अनुपस्थित होना, क्रूर-हृदय प्रतिनिधियों द्वारा रियासत का इन्तज़ाम कराना, ज़मींदार तथा आसामियों के मध्य दुःखमय सम्बन्ध रहना, आसामी तथा ज़मींदार के बीच बहुत संख्या में तथा विभिन्न अधिकार-प्राप्त अनेक भूमिगत अधिकार-सम्पन्न मध्यस्थों का उपस्थित होना, आदि आदि।" निश्चित लगान तथा भूमि के आर्थिक लगान में काफ़ी गुञ्जाइश रहने के कारण भूमि एक के पश्चात् दूसरे के द्वारा पट्टे पर दी जाने लगी थी जिससे आसामी तथा ज़मींदार के बीच मध्यस्थों की एक लम्बी कड़ी सी बन गई थी। परिणामस्वरूप ज़मींदार तथा रैयतों के प्रत्यक्ष सम्बन्ध लगभग समाप्तप्राय हो गए और लार्ड कार्नवालिस की इंग्लैण्ड के नमूने पर बंगाल में ज़मींदार तथा आसामी व्यवस्था स्थापित करने की इच्छा पूरी न हो सकी। "भूमि में किसी विशिष्ट व्यक्ति की रुचि नहीं रह गई। ज़मींदार तथा आसामी के मध्य जो एक लम्बी कड़ी स्थापित हो गई, उसमें से कृषि के कल्याण करने का उत्तरदायित्व किसी पर भी निश्चित नहीं किया जा सकता था।"[2] यह बुराई उस स्थिति में और भी अधिक बढ़ जाती है जब भूमि में स्वामित्व के अधिकार और अधिक बढ़ते चले जाते हैं। (४) जहाँ तक स्थायी बन्दोबस्त के कारण बंगाल की समृद्धि का सम्बन्ध है, उसके सम्बन्ध में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि ऐसा तो वस्तुतः दूसरे कारणों से ही हुआ है, जैसे

१. रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल, खण्ड १, पैरा ८०।
२. वही, पैरा ७८।

विशेष काश्तकारी कानूनों के अन्तर्गत आसामियों की रक्षा, जलवायु की अनिश्चितता से बंगाल की अपेक्षाकृत मुक्ति, सञ्चार (आवागमन) के अत्यन्त सुविधाजनक साधन, यहाँ के जूट का व्यावहारिक रूप से विश्व में एकाधिकार तथा कलकत्ता से होने वाला अत्यधिक व्यापार। परन्तु इस विचार की श्री आर० सी० दत्त ने बहुत कड़े शब्दों में आलोचना भी की थी। उनका कथन था कि यद्यपि स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत आसामियों के लिए अच्छा कार्य हुआ, उसे पूर्ण करने एवं उसकी पुष्टि करने के लिए काश्तकारी कानूनों की आवश्यकता भी थी, तथापि उन्होंने सरकार के इस कथन के सम्बन्ध में बहुत विरोध प्रदर्शित किया कि जब तक काश्तकारी विधान पास न किये गए स्थायी बन्दोबस्त ने कोई भी भलाई नही की। इस सम्बन्ध में श्री दत्त ने वेल्सले, मिण्टो, हेस्टिंग्ज़ तथा ऐसे ही अन्य विख्यात, राज-काज में कुशल राजनीतिज्ञों के उदाहरण प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किये। (५) जहाँ तक शासन-सम्बन्धी सुविधा का प्रश्न है, बंगाल की पेचीदा व्यवस्था ने अत्यधिक मुकदमेबाजी को जन्म दिया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सब लेखे गड़बड़ हैं तथा अनिश्चित रूप से रखे जाते हैं। लगान वसूल करने की कोई सन्तोषजनक विधि नहीं है जिससे कभी-कभी लगातार अनेक वर्षों तक लगान नही दिया जाता। परिणामस्वरूप किसानों में लगान न देने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि बंगाल भू-राजस्व आयोग ने कहा था कि वर्तमान ज़मीदारी व्यवस्था में जमींदार, काश्तकार तथा किसान, तीनों के स्वामित्व वाली व्यवस्थाओं के मुख्य लक्षण हैं, किन्तु इनके गुणों की अपेक्षा इनके अवगुण इसमें कहीं अधिक हैं।[1] (६) अन्तिम, इस बात के विरुद्ध कि बन्दोबस्त के प्रत्येक बार दुहराने में बहुत समय लगता है, बहुत व्यय होता है तथा गाँवों की अर्थ-व्यवस्था ही सम्पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न हो जाती है, अब यह कहा जा सकता है कि इतने लम्बे अनुभव के परिणामस्वरूप अब बन्दोबस्त का दुहराना कोई मुश्किल कार्य नहीं रह गया है तथा यह काफी सरलता तथा शीघ्रता से किया जा सकता है। वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि-सम्बन्धी लेखे जो स्थायी रूप से लिखे जाते हैं प्रतिवर्ष दुहराए जाने के कारण प्रत्येक बन्दोबस्त तक अन्तिम तिथि की स्थिति के अनुसार पूर्ण रहते हैं। इन लेखों में भूमिगत अधिकार का विशेष रूप से उल्लेख रहता है। इसके साथ खेतों की सीमाएँ निर्धारित की हुई रहती ही हैं, भूमि का भी स्थायी रूप से वर्गीकरण होता है। इस सबसे बन्दोबस्त का कार्य बहुत सख्त हो जाता है और फिर बन्दोबस्त भी साधारणतः २९-३० वर्ष के अन्तर से तो होता ही है। अतः गाँवों की अर्थ-व्यवस्था में कोई गड़बड़ी पैदा नहीं होने पाती तथा हाल के बन्दोबस्तों में तो सरकार के व्यय में भी बहुत कमी रही है। यह भी प्रयत्न किया जाता है कि छोटे कर्मचारियों की संख्या कम-से-कम कर दी जाया करे तथा बन्दोबस्त-सम्बन्धी अधिकांश कार्य-दायित्व सम्पन्न एवं बड़े राज्य-कर्मचारियों को ही दिया जाय जो किसान के प्रति स्वभावतः ही सहृदय होते हैं। यह भी निश्चित रहता है कि यदि स्थायी रूप से अथवा बहुत लम्बे समय तक खेतों में सुधार कराये जायँगे तो उनके कारण लगान में कोई वृद्धि न की जायगी। इस प्रकार

१. रिपोर्ट, खण्ड १, पैरा ८५।

लगान-वृद्धि के भय से भूमि का स्थायी सुधार न करने वाली प्रवृत्ति को भी समाप्त करने की चेष्टा की जाती है। यह भी कहा जाता है कि स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत लगान की कड़ाई के साथ वसूलयाबी वाली परेशानी भी समाप्त हो जाती है, क्योंकि अस्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत लगान देर से वसूल करने अथवा छूट देने के सम्बन्ध में काफी उदार नियम रहते हैं। इस प्रकार वर्तमान अस्थायी बन्दोबस्तों में स्थायी बन्दोबस्तों के अनेक गुण विद्यमान रहते है, किन्तु कमियाँ कम रहती हैं तथा इसके द्वारा राज्य के न्यायोचित अंश तथा कृषकों के अधिकार एवं उनकी सुविधाओं के बीच बड़ा सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

स्थायी बन्दोबस्त के सम्बन्ध में शासन-सम्बन्धी मत अब यह है कि अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रदेशों में स्थायी बन्दोबस्त के विस्तार के प्रश्न के सम्बन्ध में तो सोचा भी नही जा सकता। जैसा कि लार्ड इरविन ने एक बार कहा था कि लार्ड कार्नवालिस के समय से अब विश्व के व्यापार एवं बाजारों मे भारत की स्थिति बहुत ऊँची हो गई है तथा देश की वित्त-सम्बन्धी एवं सामाजिक समस्याओं मे ऐसे नवीन तत्त्व उपस्थित हो गए हैं जिनके कारण देश की आय एवं उसके व्यय में बहुत अधिक प्रत्यास्था संभव करने की आवश्यकता आ पड़ी है। अब निरन्तर सरकार के सम्मुख यह दायित्व आता जा रहा है कि वह नवीन कार्य करे तथा सरकार के पुराने कार्यो में सुधार करे, किन्तु इसके लिए सरकार के पास प्रत्येक समय अधिक-से-अधिक धन की आवश्यकता पड़ती जाती है। ऐसी स्थिति में यह असम्भव हो जाता है कि भूमि के मूल्य में होने वाली वृद्धि में सरकार का जो न्यायोचित अंश हो, उसे वह किसी भी कारण से छोड़ दे। इस बात में अब कोई सन्देह नही है कि अब वह समय आ गया है जब बंगाल तथा अन्य स्थानों की अस्थायी बन्दोबस्त वाली व्यवस्था को पुनः दुहराया जाय, जिससे कि कर के भार के वितरण में न्याय संभव हो सके तथा आय में लोच लाई जा सके।[१] ऐसा करने में चाहे इस प्रकार की कोई आपत्ति उठाई जाय कि इस प्रकार का सुधार करने से सरकार एक निश्चयपूर्वक की गई प्रतिज्ञा तथा नियम भंग करेगी तो उसके उत्तर में यह आसानी से कहा जा सकता है कि लगभग डेढ़ शताब्दी से भी अधिक समय व्यतीत हो जाने के उपरान्त मौलिक पट्टे का न तो अब कोई अर्थ रह गया है और न वह न्यायोचित ही रह गया है तथा अब स्वार्थी हितों को सार्वजनिक हित की वेदी पर फलने-फूलने का अवसर प्रदान नहीं किया जा सकता। "पूर्वकाल में जो प्रतिज्ञा की गई थी वह भूत की आवश्यकता थी; अब उसे भंग करना वर्तमान की आवश्यकता है," यह मेकियाविली का एक सिद्धान्त है जिसमें निष्कपटता की झलक स्पष्ट ही दीख पड़ती है। साथ ही व्यावहारिक दृष्टि से इस सिद्धान्त की बुद्धिमत्ता को भी कोई स्वीकार किये बिना न रहेगा, विशेष रूप से उस समय जब कि हम यह देखते हैं कि भूत और वर्तमान लगभग डेढ़ शताब्दी की लम्बी किन्तु महत्त्वपूर्ण अवधि के द्वारा एक-दूसरे से अलग हो चुके हैं।

सन् १९३५ के भारतीय विधान ने सार्वजनिक हित के लिए आवश्यक

१. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमीशन रिपोर्ट, पैरा ८७-८।

होने पर स्थायी बन्दोबस्त को समाप्त कर देने का अधिकार समाप्त नहीं किया। उक्त विधान के अन्तर्गत कतिपय वैधानिक सावधानियाँ रखी गई ताकि गवर्नरों तथा गवर्नर-जनरल के हेतु नियमित आदेशों के अनुसार हिज़ मैजेस्टी का अभिप्राय समझा दिया जाय।

३२. बंगाल का भू-राजस्व आयोग (१६३८-४०)—बंगाल की सरकार ने नवम्बर १६३८ में सर फ्रान्सिस फ्लाउड की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की जिसको यह कार्य सौंपा गया कि वह बंगाल की वर्तमान भू-राजस्व व्यवस्था तथा विशेष रूप से स्थायी बन्दोबस्त को ध्यान में रखकर उसकी जाँच करे तथा सरकार को वर्तमान व्यवस्था के गुण तथा अवगुणों से अवगत कराए। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट मार्च सन् १६४० में प्रस्तुत की।

इस आयोग का बहुमत इस पक्ष में था कि सन् १७६३ में स्थायी बन्दोबस्त लागू करने के जो भी न्यायपूर्ण कारण एवं स्थितियाँ रही हों, वर्तमान स्थिति में यह बिलकुल अनुकूल नहीं रह गया है तथा जमीदारी प्रथा में अब इतने दोष आ गए हैं कि वह देश के हित एवं स्वार्थ के हेतु कोई कार्य नहीं कर सकती (ऊपर सेक्शन ३१ देखिए)। बहुमत के अनुसार वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे वास्तविक खेती करने वाला काश्तकार भूमि सम्बन्धी पट्टा सीधे सरकार से ले तथा सरकार लगान वसूल करने वाले अन्य सब व्यक्तियों से यह अधिकार अपने हाथ में ले ले।[१] आयोग ने यह भी कहा कि स्थायी बन्दोबस्त के स्थान पर अस्थायी बन्दोबस्त कर देने से भी कोई सारपूर्ण लाभ न होगा (पैरा १३२)। ध्येय तो यह होना चाहिए कि स्थायी बन्दोबस्त तथा जमींदारी प्रथा के स्थान पर रैयतवारी व्यवस्था स्थापित की जाय ताकि सरकार तथा वास्तविक काश्तकार के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किये जा सके और सरकार स्वयं ही ज़मीदार की हैसियत से कृषकों के कल्याण की भावना से कृषि-सुधार हेतु नाना प्रकार की योजनाएँ क्रियान्वित करे। (पैरा ६४-५)।

इस आयोग ने बहुमत से यह सिफारिश की कि एक ऐसा विधान प्रस्तावित किया जाय जिसके अन्तर्गत लगान वसूल करने वाले प्रत्येक किसान, यहाँ तक कि भूमि जोतने वाले वास्तविक काश्तकार तक के हित का क्रय कर लिया जाय। भूमि के स्वामियों तथा पट्टेदारों को उनके वास्तविक लाभ का दस गुना क्षतिपूर्ति के रूप में दे दिया जाय। यदि सम्भव हो सके तो इसे नकद दे दिया जाय अथवा यह रकम उन्हें बन्धपत्रों के (बाण्डों) रूप में दे दी जाय जिनका भुगतान ६० वर्ष के पश्चात् हो सके। उन्होंने खनिज तथा मछलियों की आय पर भी अधिकार प्राप्त करने को कहा। जब तक राज्य द्वारा इस प्रकार क्रय करने का कार्य समाप्त न हो जाय, तब तक के लिए किसी अन्य शुल्क के बजाय कृषि-आय-कर लगाने का सुझाव रखा। उन्होंने यह भी कहा कि उक्त कर की सम्पूर्ण रकम को केवल कृषि के सुधार हेतु ही लगाया जाय।[२]

१. रिपोर्ट, खण्ड १, पैरा ६६।

२. २७ अप्रैल सन् १६४५ को बंगाल विधान सभा ने बंगाल कृषि आय कर बिल पास किया जिसके

इस आयोग की रिपोर्ट पर समस्त सदस्यों की सहमति न थी। इसके छः सदस्यो ने चार विषयों पर अपने विरोधी मत व्यक्त किये। विरोध प्रदर्शित करने वाले सदस्यों के मतानुसार राज्य द्वारा अधिकार प्राप्त कर लेना केवल वित्त-सम्बन्धी दृष्टि से ही संकटमय प्रयोग न होगा, वरन् सामाजिक तथा आर्थिक कारणों से भी यह अनुचित सिद्ध होगा। उनके मतानुसार बंगाल के काश्तकारों की आर्थिक कठिनाइयाँ भू-राजस्व व्यवस्था से सम्बन्धित नही हैं। इन कठिनाइयों के मुख्य कारणों में से जनसंख्या का बढता हुआ दबाव, हिन्दुओं तथा मुसलमानों के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम जिनके कारण खेती की जाने वाली जमीन का अपखण्डन एवं अन्तर्विभाजन हो गया है, वर्ष के अधिकांश भाग में कृषि से बेकार रहने पर धनोपार्जन के अन्य किसी भी प्रकार के साधनों का अभाव तथा कृषि पदार्थों के मूल्यों में कमी आदि कुछ महत्त्वपूर्ण कारण हैं। वर्तमान व्यवस्था के जो भी दोष रहे हों, उनका कहना था कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत बंगाल में मौरूसी किसान अन्य राज्यों की अपेक्षा कम लगान देता है तथा काश्तकारी विधानों के अन्तर्गत उसे अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक संरक्षण प्राप्त है। ऐसी अवस्था में राज्य द्वारा अधिकार प्राप्त कर लेने से काश्तकारों को कोई लाभ न होगा तथा ऐसी किसी भी योजना के क्रियान्वित होने से बंगाल में बहुत ही अनुचित प्रकार का सामाजिक बवण्डर खडा हो जायगा, जिसके शिकार अधिकांश मध्यमवर्गीय परिवार ही होगे जिनके भूमि-गत हित समाप्त कर दिये जायँगे। इसके अतिरिक्त क्षति-पूर्ति भी थोडी है तथा इसका आधार बहुत ही असन्तोषजनक है। इस बात का भी भय है कि यदि सरकार ही भूमि पर सम्पूर्ण स्वामित्व प्राप्त कर लेगी तो ग्रामीण वोट देने वालों के दबाव में आकर लगान भी कम हो जाय (पैरा ८९-९४)।

आयोग के बहुमत ने उन कारणों के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नही की जो अल्पमत द्वारा बंगाल की कृषि की हीन अवस्था के लिए उत्तरदायी ठहराये गए थे। परन्तु उन्होंने इस बात पर जोर देकर कहा कि जमीदारी व्यवस्था उक्त स्थिति को लाने का एक महत्त्वपूर्ण सहायक कारण रही है तथा अल्पमत ने जिन कारणों का उल्लेख किया है उनमे सबसे सरल रीति से इसके दोषों का निवारण किया जा सकता है। बहुमत ने इस बात को स्वीकार किया कि राज्य द्वारा अधिकार प्राप्त कर लेने वाले उनके प्रस्ताव के परिणामस्वरूप बंगाल की ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक अन्तर आ जायगा जिससे समस्त राज्य के सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा। साथ ही उन्होने इस बात को भी स्वीकार किया कि इतना महत्त्वपूर्ण परिवर्तन शनैः-शनैः कुछ वर्षो मे ही किया जा सकेगा। यह शासन-सम्बन्धी बहुत बड़ा कार्य होगा, जो सरकार के समस्त अंगों द्वारा पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ अपने कर्तव्यों का पालन किये बिना पूरा न किया जा सकेगा। उन्होंने सम्भावित सामाजिक छिन्न-भिन्नता की सम्भावना पर भी अपनी सहमति प्रकट की, परन्तु उनका यह मत था कि सम्पूर्ण राज्य के हित को ध्यान में रखते हुए वर्तमान भू-धृति व्यवस्था में परिवर्तन किये बिना उसे चालू नहीं रखा जा सकता तथा इसके दोष तभी दूर किये जा

अन्तर्गत ३,५०० रु० प्रति वर्ष से अधिक की कृषि आय पर कर लगाने की व्यवस्था की गई।

सकते हैं जब सरकार वास्तविक काश्तकार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित कर ले (पैरा १३८)।[1]

३२. बन्दोबस्त की अवधि—इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है कि बन्दोबस्त की अवधि कम-से-कम हो अथवा अधिक-से-अधिक। कुछ लोग कहते हैं कि बन्दोबस्त केवल १० वर्ष के लिए ही तय किये जायँ, किन्तु इसके विपरीत कुछ व्यक्ति चाहते है कि बन्दोबस्त की अवधि ९९ वर्ष निश्चित की जाय। जो लोग थोड़ी अवधि वाले बन्दोबस्त चाहते हैं, वे यह तर्क रखते हैं कि इससे सरकार तथा समुदाय को यह लाभ होगा कि सामान्य सम्पन्नता के दिनों में बिना परिश्रम किये जो वृद्धि होगी उसमे सरकार अपना उचित अंश प्राप्त कर सकेगी। यह तर्क उन प्रदेशो मे विशेष रूप से लागू होता है जहाँ आर्थिक समाधानों की उन्नति अति शीघ्रता से हो रही है। साथ ही उनका यह भी कहना था कि इससे एक लाभ यह होगा कि कृषि-जमीनों के लगान गिरते समय तथा कृषि-पदार्थों के मूल्यों में गिरावट आने के समय कम अवधि वाले बन्दोबस्तों मे मालगुजारी का कम निर्धारण किया जाना सम्भव है जिससे कृषकों को तुरन्त सहायता प्राप्त हो सकेगी। यह भी कहा गया कि थोड़ी अवधि वाले बन्दोबस्तो में हर बन्दोबस्त के समय थोड़ा-थोड़ा लगान बढ़ाते रहने से जनता में कम असन्तोष फैलेगा। इसके विपरीत उस स्थिति में जब लम्बी अवधि वाले बन्दोबस्तों के समाप्त होने पर फिर लम्बे समय के लिए किये जाने वाले बन्दोबस्त के समय यदि बहुत अधिक लगान में वृद्धि कर दी जाय तो अधिक असन्तोष फैलेगा। यह भी कहा जाता है कि लम्बी अवधि वाले बन्दोबस्त लगान देने वाले की दृष्टि से कम परेशान करने वाले होते हैं। उसे यह भय भी नही रहता कि यदि वह भूमि में सुधार कर लेगा तो उस पर लगान बढ़ जायगा। ऐसी स्थिति में वह अपने आर्थिक साधनों को भली प्रकार से एकत्र करके अपनी भूमि का स्थायी सुधार करा सकता है। यह मान लेने के उपरान्त भी कि नई मालगुजारी के निर्धारित करने हेतु एक उचित एवं वैज्ञानिक विधि का अनुसरण किया गया है, तुरन्त ही यह कह देना कठिन है कि निश्चित रूप से अमुक अवधि आदर्श रहेगी तथा शेष सब ठीक न रहेंगी। देश में साधारण विचारधारा यह है कि बन्दोबस्त लम्बी अवधि के लिए किये जायँ तथा उसे पुनः दुहराने के समय लगान बढ़ाने के सम्बन्ध में साधारणतः यह सोच ही लिया जाता है कि ऐसा तो होगा ही। यह उल्लेखनीय है कि कम-से-कम एक राज्य, पंजाब, में सन् १९२९ के पंजाब भू-राजस्व संशोधित विधान के अन्तर्गत बन्दोबस्त की अवधि बढ़ाकर ४० वर्ष के लिए कर दी गई। बम्बई भू-राजस्व निर्धारण

---

१. मार्च १९४५ में बंगाल की सरकार ने फ्लाउड कमीशन की सिफारिशों को क्रियान्वित करने का निश्चय किया। इसे फरीदपुर जिले से प्रारम्भ किया गया जहाँ बन्दोबस्त सम्बन्धी कार्य किया जा रहा था। यह अनुमान लगाया गया कि अन्य सब जिलों में इस योजना के विस्तार करने से राज्य की मालगुजारी लगभग १२ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ जायगी।

अखिल भारतीय कांग्रेस यह ऐलान कर चुकी है कि वह सरकार तथा काश्तकार के बीच सब मध्यस्थों को समाप्त कर देगी। इसी नीति को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से कांग्रेस की कार्यकारिणी ने अक्तूबर सन् १९४६ में एक प्रस्ताव पास किया जिसके अन्तर्गत समस्त राज्यीय कांग्रेस सरकारों से यह कहा गया कि वे ज़मींदारी की समाप्ति के सम्बन्ध में अपने प्रस्ताव भेजें।

समिति ने ३० वर्ष की अवधि की सिफारिश करते हुए कहा कि "३० वर्ष कृषकों के जीवन में एक पीढ़ी है। यदि किसान को इस अवधि के प्रारम्भ में ही इस बात का ज्ञान हो जाय कि सरकार उसकी मालगुजारी को बढ़ा सकती है, तो उसके पास इतना समय रहता है कि वह अपने सब व्ययों का अनुमान लगाकर अपने जीवन का रहन-सहन इस प्रकार निश्चित कर लेता है और जिस अनुपात मे मालगुजारी में वृद्धि की जाने की सम्भावना होती है, उसी के अनुसार वह अपनी स्थिति को बना लेता है। इसके अतिरिक्त इस बीच में यदि उसकी भूमि का मूल्य बढ़ जाता है अथवा कृषि-पदार्थों के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती है अथवा बाजारों तथा सञ्चार-साधनो में सुधार हो जाता है, तो उसकी आर्थिक स्थिति और भी अच्छी हो जाती है और वह बन्दोबस्त के पुनः दुहराये जाने के समय मालगुजारी में होने वाली वृद्धि के लिए अपने को और भी तैयार कर लेता है।" श्री एण्डरसन इतनी लम्बी अर्थात् ३० साल की अवधि के विरुद्ध थे क्योंकि उस समय बम्बई की पद्धति में यह दोष था कि प्रत्येक बन्दोबस्त के समय, जो ३३ प्रतिशत[1] वृद्धि का नियम था उससे कृषि के लाभों पर सब स्थानो पर समान रूप से कर लगाना सम्भव न था। लाभ अथवा लगान की वृद्धि भू-राजस्व की अपेक्षा तीव्रतर होती है तथा यह प्रति ३० वर्षों में ३३ प्रतिशत की अधिकतम दर से बढ़ सकते है।[2]

३४. मालगुजारी निर्धारण के सिद्धान्त—भारत के विभिन्न मालगुजारी-सम्बन्धी बन्दोबस्तों का अध्ययन करते समय, जैसा कि हम देख चुके है, कोई सर्व स्वीकृत तथा सदैव प्रयोग में लाये जाने वाले ऐसे सिद्धान्त नही है, जो मालगुजारी के निर्धारण किये जाते समय सदैव व्यवहृत होते हों। तथ्य तो यह है कि लगभग सभी राज्यों के सैद्धान्तिक नियम एक-दूसरे से भिन्न रहे हैं तथा अनेक बातों के आधार पर उनमें परिवर्तन किये जाते रहे है। यही नही, इस सम्बन्ध में बन्दोबस्त अधिकारी को अपना स्वतन्त्र निर्णय करने की भी छूट दी गई है। उत्तरप्रदेश, पंजाब तथा मध्यप्रदेश में मालगुजारी निर्धारित करने का सैद्धान्तिक आधार आर्थिक लगान है तथा मद्रास में वास्तविक उपज। बम्बई में कुछ समय पूर्व तक निश्चयात्मक रूप से कोई भी आधार नही था। वहाँ केवल अनुभव के आधार पर सामान्य आर्थिक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए बन्दोबस्त अधिकारी को जो उचित प्रतीत होता था, उसी के आधार पर वह मालगुजारी निर्धारित कर देता था।

३५. मालगुजारी निर्धारित करने के आधार के रूप में लगान-मूल्य—हाल ही में बम्बई[3] में जिस रीति को अपनाया गया, अर्थात् लगान-मूल्य को मालगुजारी निर्धारित करने का आधार बनाना, उससे ऐसे प्रश्न उपस्थित होते है, जो स्थानीय महत्त्व से भी अधिक महत्त्व के हैं। कृषि के लाभ को जानने के लिए भू-लगान के आँकड़ों पर निर्भर रहने के लिए

१. सन् १९३९ के बम्बई भू-राजस्व नियम संशोधित विधान के अन्तर्गत इसे घटाकर २५ प्रतिशत कर दिया गया।

२. 'फैक्ट्स एण्ड फैलेसीज ऑफ द बाम्बे लैन्ड रेवेन्यू सिस्टम', पृष्ठ १०९।

३. सेक्शन २७ और ४४ भी देखें।

इस दृष्टि से कहा जाता है कि यह विधि अधिक निश्चित है तथा इसके अपनाने से बन्दोबस्त अधिकारी अपने कार्य का औचित्य अधिक विधिपूर्वक ज्ञात कर सकता है—अपेक्षाकृत उस स्थिति के जब वह कोई अन्य विधि अपनावे—जो फसलों, कीमतों, सञ्चार-साधन की उन्नति आदि पर आधारित हो। परन्तु सन् १९२९ की बारदोली की पेचीदा स्थिति ने यह प्रमाणित कर दिया कि जब तक पूर्ण सावधानी के साथ प्रयुक्त न किये जायँ, लगान-सम्बन्धी आँकड़े गम्भीर अशुद्धियों तथा असहनीय मालगुजारी के अधिक एवम् असहनीय निर्धारण को जन्म दे सकते हैं। वास्तविक लगान कई कारणों से सच्चे लगान से बहुत अधिक हो सकता है। ये कारण इस प्रकार के हो सकते हैं—जैसे काश्तकारों मे बहुत अधिक स्पर्धा हो, आसामी ज़मीदार का ऋणी हो तथा ऐसी स्थिति में वह बहुत अधिक लगान देने के लिए बाध्य कर लिया जाय; इस लगान में ऋण पर लगाये जाने वाले ब्याज की रकम भी सम्मिलित हो जिससे भूमि की उपज का कोई सम्बन्ध न रहे, लगान-समृद्धि के समय निश्चित किया गया हो जिसे सामान्य स्थितियों का सूचक नही कहा जा सकता; लगान की रकम इस प्रकार भी निश्चित की जा सकती है कि यह लगान किसान सम्पन्न वर्षो में दे सकेगा तथा बुरे वर्षो में आवश्यकतानुसार इसमें काफी कमी कर दी जायगी; यह भूमि की आय में से ही दिया जाने वाला न हो वरन् किसान की समस्त आय को ध्यान में रखकर उसमें से दिये जाने वाला हो। औद्योगिक फसलों, यथा कपास आदि के लिए जो भूमि दी जाती है उसका लगान खाद्य-पदार्थ वाली फसलों की भूमि से कम होता है; अतः स्वाभाविक रूप से इसके परिणामस्वरूप लगान की रकम में अत्यधिक वृद्धि हो जायगी और भले ही इसका बहुत अधिक प्रभाव न पड़े तथापि इससे हानि होने की सम्भावना हो सकती है। कभी-कभी काश्तकार को ऐसी भूमि के लिए, जो केवल उसके खेत के समीप है, ज़मींदार की रुचि के अनुसार लगान देना पड़ता है। यह भी सम्भव हो सकता है कि समस्त प्रदेश का बहुत थोड़ा भाग ही नकद लगान पर उठाया जाय और यद्यपि लगान का मूल्य विक्रय के आधार पर जाना जा सकता है, यदि यह विक्रय सामान्य स्थितियों में हो तथा इस पर किसी प्रकार से गड़बड़ करने वाले तत्त्व प्रभाव न डालें तथा यह भी सम्भव है कि इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से एकत्रित आँकड़े सामान्य निष्कर्ष निकालने के लिए पूर्ण न हों।[1] बारदोली समिति के शब्दों में, "कच्चे माल को ध्यान में रखकर काफ़ी गुंजायश छोड़ना अत्यन्तावश्यक है। लगान के आँकड़ों के बारे में, जिन पर मालगुजारी का निर्धारण आवश्यक होगा, काफी जाँच-पड़ताल करना भी अत्यावश्यक है। यह तो अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि लगान के आँकड़े यदि पूर्ण सावधानी के साथ एकत्र किये जायँ, इस प्रकार उनकी तालिका बनाई जाय जिससे उनका वास्तविक महत्त्व जाना जा सके तथा जिस प्रकार के व्यवहारों में लगान की रकमें काम में लाई गई हों, उनका पूर्ण ध्यान रखा जावे तो भूमि के लगान की रकम ही केवल वह प्रमाण उपस्थित कर सकती है जिसके आधार पर मालगुजारी का पुनर्निर्धारण किया जा सकता है। अतः

१. इन विषयों के सम्बन्ध में पूर्ण अध्ययन के लिए बारदोली रिपोर्ट, पैरा २९-३८ देखिए। गाडगिल द्वारा लिखित 'बॉम्बे लैण्ड रेवेन्यू सिस्टम' भी देखिए।

इस बात के पूर्ण प्रयत्न किये जाने चाहिएँ कि भूमि के लगान तथा उसके विक्रय से सम्बन्धित विश्वसनीय आँकड़े एकत्र किये जायँ तथा पूर्ण सावधानी के साथ उनका संकलन किया जाय।[1] इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि एकत्र किये गए आँकड़े तथा अन्य सूचनाएँ मालगुजारी के पुनः निर्धारण के कार्य में विश्वसनीय होंगी अथवा नहीं तथा उनका किस प्रकार अत्युत्तम उपयोग किया जा सकता है, आदि सब बातों का निश्चय करना केवल बन्दोबस्त अधिकारी अथवा अन्य सरकारी कर्मचारी पर ही नहीं छोड़ना चाहिए, वरन् इसके लिए एक उपयुक्त सलाहकार समिति का निर्माण किया जाना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जहाँ लगान के आधार पर भूमि का मूल्यांकन काफी उचित एवं सन्तोषजनक प्रतीत हो, वहाँ भी बम्बई भू-राजस्व निर्धारण समिति के निर्देशों के अनुसार मालगुजारी के दुहराते समय अन्य तत्त्वों जैसे सञ्चार-साधन, बाजार की कीमतें, आर्थिक दशा, फसल की उपज से सम्बन्धित किये गए प्रयोगों के परिणाम आदि के आधार पर मालगुजारी पुनर्निर्धारित की जानी चाहिए। ऐसा बहुत कम स्थितियों में होगा, जब इन सब सम्बन्धित बातों के बिना ही मालगुजारी पुनर्निर्धारित कर ली जाय।

अतः हम सन् १६३६ में बम्बई भू-राजस्व सम्बन्धी नियमों के इन संशोधनों का स्वागत करते हैं जिनमें लगान की दृष्टि से भूमि के मूल्यांकन को मालगुजारी के पुनर्निर्धारित करने का आधार माना गया है तथा इस सम्बन्ध में अन्य तत्त्वों को भी पूर्ण महत्त्व दिया है। यही नहीं, बन्दोबस्त अधिकारी द्वारा सताये गए व्यक्ति को, उसके निर्णय के विरुद्ध आपत्ति करने का भी अवसर प्रदान किया गया है।

३६. भारत के भू-राजस्व के सम्बन्ध में रिकार्डों का सिद्धान्त—जैसा कि हम पहले देख चुके हैं प्रत्येक राज्य में मालगुजारी निर्धारित करने के सिद्धान्त विभिन्न हैं। फिर भी तत्कालीन भारत सरकार का यह कथन था कि जहाँ तक ब्रिटिश भारत का सम्बन्ध है प्रत्येक स्थान पर मालगुजारी आर्थिक लगान का मामूली भाग है। किन्तु स्पष्टतः ऐसा उन स्थितियों में तो अवश्य नहीं होगा जहाँ खेती की अनार्थिक भूमि है, जिसके होने से सरकार भी इन्कार नहीं करती। ऐसी स्थिति में जैसा कि वाडिया और जोशी ने कहा है, "भूमि-कर भूमि के आधार पर नहीं लगाया जाता वरन् काश्तकार को निम्नतम जीवित रहने-भर के लिए छोड़कर शेष सब ले लिया जाता है।"[2] इससे स्थितियों में जहाँ व्यवहार में शुद्ध आर्थिक लगान से अधिक नहीं लिया जाता वहाँ यह संयोगवश ही है; इसके लिए विशेष प्रयत्न नहीं किये जाते, क्योंकि वास्तव में किसान का अतिरिक्त या अतिरेक निकालते समय उसकी उपज के मूल्य में से उपज के हेतु किये गए अनेक व्यय नहीं घटाये जाते। उदाहरणार्थ, काश्तकार तथा उसके परिवार के श्रम को काम में नहीं जोड़ा जाता। उत्तरी भारत में वास्तविक लगान, जिस पर मालगुजारी आधारित रहती है, वस्तुतः आर्थिक लगान की अपेक्षा बहुत अधिक भी होता है, क्योंकि भारत एक ऐसा देश हैं जहाँ का मुख्य उद्यम कृषि ही हैं तथा कृषि

१. बारदोली रिपोर्ट, पैरा ३८ देखिए।
२. 'वैल्थ ऑफ इण्डिया', पृ० २८१।

एवं अन्य व्यवसायों में प्राप्त श्रम एवं पूजी की दृष्टि से कोई स्पर्धा भी नहीं है। काश्तकार को तो अपनी भूमि पर खेती करनी ही है चाहे उसे इतना अधिक लगान क्यों न देना पड़े कि उसे भूखों मरने तक की नौबत आ जाय। "इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि हम उद्योग एवं शिल्पकारी आदि के रूप में जीविकोपार्जन के अन्य साधन प्रस्तुत कर सकें तो अन्य किसी साधन के अभाव में परवश होकर जो इतनी बड़ी संख्या में लोग केवल खेती ही करते हैं, यह स्थिति न रहे।"[1] लगान-मूल्य के वर्तमान अंक इसलिए भी आर्थिक लगान के सूचक नहीं कहे जा सकते क्योंकि आज किसान को भूमि की भूख-सी है; उसकी आर्थिक स्थिति ऐसी है कि उसे केवल भूमि ही चाहिए। आर्थिक स्थिति के अतिरिक्त वर्तमान स्थिति में किसानों की कुछ विचारधारा भी ऐसी ही है कि वे अपने धन को केवल खेती में ही लगाएँ। अरसे से चली आई यह विचारधारा उसी समय परिवर्तित हो सकती है जब उद्योगों का विकास करके पूँजी के विनियोग के हेतु अन्य साधन प्रस्तुत किए जायँ। रिकार्ड के सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक लगान का जो अभिप्राय है उसका मालगुजारी के निर्धारण से कोई निश्चित सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, यद्यपि हम यह भी नहीं कह सकते कि प्रत्येक स्थिति में भू-राजस्व अर्जित आय पर ही लगाया जाता है। इसके साथ ही हम इस बात को भी नहीं मान सकते कि केवल इसलिए कि भूमि की उपज पर पहला भार भू-राजस्व का है, इसलिए यह आर्थिक लगान[2] का भाग नहीं हो सकता, क्योंकि रिकार्ड के सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक लगान उत्पत्ति का अन्तिम भार है। जब हम यह कहते हैं कि आर्थिक लगान उपज पर अन्तिम भार होता है तो हम इस ख्याल से नहीं कहते कि आर्थिक लगान को समय के अनुसार सबसे बाद में दिया जाता है, परन्तु लगान का आर्थिक विश्लेषण करते समय हम ऐसा कहते हैं। जिस प्रकार मज़दूरी, मज़दूरों द्वारा की गई उत्पत्ति से प्राप्त की जाती है, किन्तु इनका भुगतान पहले ही होता है, इसी प्रकार अतिरिक्त या अतिरेक प्राप्त होने की आशा में किसान को अतिरिक्त या अतिरेक प्राप्त होने से पूर्व ही उससे लगान वसूल किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में सही आलोचना यह होगी कि मालगुजारी का निर्धारण ऐसे समय भी कर लिया जाता है जब किसान को अतिरिक्त या अतिरेक प्राप्त होने की कोई सम्भावना नहीं दीख पड़ती। यही नहीं, उससे मालगुजारी वसूल भी कर ली जाती है और अतिरिक्त प्राप्त न होने पर मालगुजारी वापस नहीं की जाती। मालगुजारी माफ़ करना अथवा उसमें से छूट देने वाली विधि सदैव ही क्रियान्वित होती रहेगी, इसकी निश्चयात्मक रूप से कोई गारन्टी नहीं दी जा सकती तथा व्यवहार में ऐसा सदैव होता भी नहीं है, अतः किसी भी स्थिति में मालगुजारी को सम्पूर्ण उपज पर नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि यह शुद्ध आर्थिक लगान अथवा अनर्जित आय नहीं है।

३७. मालगुजारी या भू-राजस्व निर्धारित करने का एक नया आधार—कर जाँच समिति ने यह सिफारिश की कि प्रत्येक राज्य में भूमि के वार्षिक मूल्य को समान रूप से माल-

१. वही।
२. वही।

गुजारी निर्धारित करने का आधार बनाया जाय तथा बन्दोबस्त अधिकारी को यह कार्य सौंप दिया जाय कि वह प्रत्येक राज्य की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर वार्षिक मूल्य मालूम कर लेवे। वार्षिक मूल्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि "कुल उपज में से उत्पादन-लागत घटाने पर जो शेष रहे वही वार्षिक मूल्य है। यह ध्यान रहे कि उत्पादन-लागत में किसान तथा उसके परिवार द्वारा किये हुए श्रम का मूल्य एवम् (कृषि करने के हेतु) साहसोद्यम का प्रतिफल भी सम्मिलित है।" जहाँ पर लगान काश्तकारी कानूनों अथवा रीति-रिवाजों, जो कानून के समान ही है, के द्वारा निर्धारित होते हैं अथवा जहाँ बन्दोबस्त अधिकारी निश्चित किये जाते हों, वहाँ यह लगान ही वार्षिक मूल्य मानना चाहिए। इस प्रकार वर्तमान काल मे मालगुजारी निर्धारित करने के आधार के सम्बन्ध में जो अस्थिरता चल रही है, उसका अन्त किया जा सकेगा। हमारे अनुसार वार्षिक मूल्य स्पर्धाजन्य लगान-मूल्य नही है जो बहुत अधिक भी हो सकता है। उदाहरणार्थ. उन स्थितियों में जब किसानों मे भूमि के लिए बहुत अधिक स्पर्धा हो, चाहे इस कारण से कि दूसरे व्यवसायों का अभाव है और चाहे इस कारण से कि परम्परानुसार कृषि के प्रति उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, बहुत ही कम स्थितियों में यह लगान बहुत कम हो सकता है, जैसे उस समय जब कम मालगुजारी निर्धारित कराने के उद्देश्य से जमीदार तथा किसान दोनों आपस मे मिल जायँ और स्वयं जान-बूझकर लगान बहुत अधिक गिरा दे। वार्षिक मूल्य वाला आधार अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि यह काश्तकार तथा उसके परिवार के श्रम और साहसोद्यम का प्रतिफल उन्हे प्रदान करता है।

३८. मालगुजारी की दर : एक सिफारिश—वार्षिक मूल्य का क्या अनुपात ले लिया जाय, इस सम्बन्ध में दूसरे देशों के प्रयासों को ध्यान में रखकर कर-जाँच-समिति ने सिफारिश की कि मालगुजारी का निर्धारण वार्षिक मूल्य के २५ प्रतिशत से अधिक न होना चाहिए। यह ध्यान में रखते हुए कि विभिन्न राज्यों में सम्भवतः वार्षिक मूल्य के विभिन्न प्रतिशत के आधार पर मालगुजारी वसूल की जाती होगी तथा जिसका पता तुरन्त नही लगाया जा सकता, उन्होंने यह सिफारिश की कि पहले योग्य व्यक्तियों द्वारा जाँच का प्रबन्ध किया जाय ताकि यह ज्ञात हो जाय कि वर्तमान काल मे किस दर पर मालगुजारी वसूल की जाती है और इसके पश्चात् प्रत्येक राज्य में विधान द्वारा एक सामान्य दर निर्धारित कर ली जाय।

प्रामाणिक दर के अतिरिक्त समिति ने सिफारिश की कि स्थानीय संस्थाएँ अपनी आवश्यकताओं के हेतु कर लगाएँ और सामान्यतः स्थानीय दर अधिक-से-अधिक भू-राजस्व के २५ प्रतिशत के आसपास हों। इस बात को ध्यान में रखकर कि स्थानीय परिषदों (बोर्डों) में अधिकांशतः कृषक तथा जमीदार ही होगे तथा यह कि इनके द्वारा प्राप्त आय अधिकांश में उस स्थान-विशेष के सुधार एवं उसकी उन्नति के लिए ही व्यय की जायगी, समिति ने यह आशा प्रकट की कि इनके द्वारा वसूल की जाने वाली दर के प्रति काश्तकारों मे सामान्य कार्यो के हेतु मालगुजारी में वृद्धि की अपेक्षा कम असन्तोष होगा। यूरोप के देशों में भी जहाँ यह रीति प्रचलित है, एक सामान्य प्रामाणिक दर के

अतिरिक्त स्थानीय कर वसूल करने की रीति सन्तोषप्रद सिद्ध हुई है ।

३९. मालगुजारी में वृद्धि करने की क्या सीमाएँ होनी चाहिए—यह ध्यान में रखकर कि कहीं मालगुजारी में बहुत अधिक वृद्धि न कर दी जाय, यह आवश्यक जान पड़ता है कि इसके लिए भी एक अधिकतम सीमा निर्धारित कर ली जाय । इस सम्बन्ध में हम बम्बई भू-राजस्व निर्धारण समिति की सिफ़ारिश को स्वीकार करते हैं कि यह अधिकतम सीमा वर्तमान गाँव, समूह, खेती करने योग्य जमीन आदि किसी में भी भेद न करते हुए अधिक-से-अधिक २५ प्रतिशत होनी चाहिए । इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक होगा कि जिस तालुका की मालगुजारी बढ़ाई जा रही है उसकी मालगुज़ारी का दूसरी बार निरीक्षण हो चुका है ।

४०. भू-राजस्व में कर के सिद्धान्तों को लागू करना[1]—(१) कर का पहला सिद्धान्त अर्थात् निश्चयात्मकता, तो पूर्णतः लागू होता है, क्योंकि बन्दोबस्त की अवधि तक के लिए भू-राजस्व निश्चित रहता है । काश्तकार यह जानता है कि उसे निश्चित रूप से क्या देना है । यद्यपि मालगुजारी के निर्धारित करने का आधार अस्थिर है फिर भी मालगुजारी के पुनः निर्धारित होने के समय यह अस्थिरता भी समाप्त होने की सम्भावना रहती है । मालगुजारी के निर्धारण हेतु ऊपर लिखे अनुसार एक समान आधार अपनाने से यह अस्थिरता भी समाप्त हो जायगी ।

(२) कर-निर्धारण का दूसरा सिद्धान्त सुविधा है । यह सिद्धान्त भी लागू होता है । इसे हम इस प्रकार दिखा सकते हैं कि भू-राजस्व, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, काश्तकार की सुविधा के अनुसार किश्तों में वसूल किया जाता है । इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि निश्चितता के सिद्धान्त का पूरी तरह से पालन करने के कारण सुविधा के सिद्धान्त का कुछ कम ख्याल रखा जाता है, क्योंकि मालगुजारी की रकम निश्चित करते समय अच्छे तथा बुरे दोनों प्रकार के वर्षों में दी जाने योग्य मालगुजारी का औसत निकालकर यह मालगुजारी काश्तकार से प्रतिवर्ष वसूल की जाती है। ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि बुरे वर्षों में काश्तकार की सुविधा का पूर्ण ध्यान रखना सम्भव न हो सकता हो । इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखकर कार्य किया जाता है कि किसान अच्छी फसल वाले वर्षों में कुछ बचा लेगा तथा इससे बुरे वर्षो की कमी को पूरा कर लेगा, परन्तु यह आशा तथ्यों के आधार पर सही नहीं उतरती । परिणामस्वरूप प्रतिवर्ष वसूल की जाने वाली यह औसत रकम अभाव वाले वर्षों में बहुत कठोर तथा क्रूर प्रतीत होती है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, मालगुजारी का परिहार और निलम्बन पर्याप्त लोच के साथ नहीं होता तथा कर-जाँच समिति के अनुसार बुरे वर्षो में भू-राजस्व में लोच न होने के कारण बहुत संख्या में किसानों को साहूकारों एवं महाजनों की शरण लेनी पड़ती है । एक दूसरी असुविधा बन्दोबस्त की लम्बी अवधि कही जा सकती है । वर्तमान बन्दोबस्त के समय में जो लगान काश्तकार को देना पड़ता है वह उसके अनुसार अपने जीवन का रहन-सहन निर्धारित कर लेता है । ऐसी स्थिति में यदि अगले बन्दोबस्त के समय मालगुजारी में काफी वृद्धि कर दी

१. टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ८६-९ ।

जाती है तो उस वृद्धि के पश्चात् तुरन्त ही उसे अपने परिवार का बजट अनुकूल रूप से बनाने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है, यद्यपि लम्बी अवधि के लिए बन्दोबस्त करते समय यही आशा की जाती है कि बन्दोबस्त की अवधि में वह इतना अवसर प्राप्त कर लेगा कि मालगुजारी के पुनः निर्धारित होने तक सम्भावित वृद्धि का अनुमान लगाकर उसके अनुरूप अपने रहन-सहन का स्तर बना लेगा। इस कठिनाई को कम करने के उद्देश्य से मालगुजारी बढ़ाने की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी जाती है[1] तथा इस सीमा के अन्दर भी यदि अधिक वृद्धि का किया जाना निश्चित होता है तो उसे क्रम से बढ़ाने के यत्न किये जाते हैं। पुनः बन्दोबस्त के कारण जो परेशानी होती उसे भूमि-सम्बन्धी लेखों को शनैः शनैः पूर्ण करके कम-से-कम करने की चेष्टा की जाती है, यद्यपि इस कार्य के पूर्ण करने में काफी वर्षों तक जाँच-पड़ताल करने की आवश्यकता होती है।

(३) जहाँ तक मितव्ययिता के सिद्धान्त का सम्बन्ध है इस सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि राजस्व से सम्बन्धित जो सरकारी कार्य-प्रणाली स्थापित की जाती है, उसका पूर्ण व्यय भू-राजस्व के निर्धारण एवं एकत्रीकरण पर ही नहीं डालना चाहिए, क्योंकि उक्त कर्मचारियों से ऐसे अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य भी कराये जाते हैं जिनका भू-राजस्व से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(४) जहाँ तक 'योग्यता' अथवा 'क्षमता' के सिद्धान्त का सम्बन्ध है, सरकार का कहना है कि इस सिद्धान्त का भी सन्तोषजनक रीति से पालन किया जाता है, क्योंकि अब राज्य के अंश में निरन्तर क्रमिक ह्रास ही होता जा रहा है। हम इस कथन के प्रमाण में पहले ही आवश्यक अंक प्रस्तुत कर चुके हैं। श्री आर० सी० दत्त ने भू-राजस्व सम्बन्धी नीति पर जो वादविवाद प्रारम्भ किया था उसके परिणामस्वरूप प्रामाणिक दर को अधिकतम दर में परिवर्तित कर दिया गया था।[2] कर जाँच-समिति ने यह दिखलाने के लिए अंक प्रस्तुत किये हैं कि किस प्रकार सन् १९०३ से १९२४ तक निरन्तर राज्य के अंश के कम होने की ही प्रवृत्ति रही है। इस काल में जब कि कीमतों में ११७ प्रतिशत वृद्धि हुई, लगान केवल २० प्रतिशत ही बढ़ा।[3] इसके अतिरिक्त लगान की इस वृद्धि में ७ प्रतिशत वृद्धि अवश्य ही अतिरिक्त बोये गए क्षेत्रफल-विस्तार के कारण हुई होगी।

जहाँ तक भू-राजस्व के आपात का सम्बन्ध है, प्रत्येक प्रान्त में और प्रत्येक

---

१. देखिए, 'लैण्ड रेवेन्यू पालिसी ऑफ द डिवेलपमेन्ट ऑफ इण्डिया', पृष्ठ ३८-४०।

२. श्री आर० सी० दत्त ने यह कहा कि मालगुजारी की अधिकता पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों में अकाल पड़ने का महत्त्वपूर्ण कारण था। जहाँ तक भू-लगान तथा अकालों का सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर हमारे विचार ऐसे ही एक अन्य वादविवाद, भू-राजस्व तथा ऋणिता के प्रश्न के अनुरूप हैं। हमारी यह सम्मति है कि जिस प्रकार भू-राजस्व ऋणिता का एक छोटा कारण हो सकता है उसी प्रकार अकालों का भी यह एक मामूली कारण हो सकता है।

३. विश्वव्यापी मंदी के सन् १९२९-३३ के वर्षों में कृषि-पदार्थों की कीमतों में बहुत अधिक गिरावट आ जाने के कारण कर-जाँच समिति द्वारा उल्लिखित प्रवृत्ति में बहुत विघ्न पड़ा।

जिले में भी भिन्न-भिन्न विधियों के अपनाये जाने के कारण इस सम्बन्ध में सामान्य रूप से कुछ भी कहना वांछित न होगा। इस पर पाँच कसौटियों के आधार पर विचार किया जा सकता है :(१) भू-राजस्व तथा जनसंख्या मे क्या अनुपात है; (२) भू-राजस्व तथा कृषि-क्षेत्रफल में क्या अनुपात है, अर्थात् प्रति एकड़ का क्या औसत निर्धारण है; (३) विभिन्न प्रकार की मिट्टियों पर किये हुए निर्धारण की तुलना; (४) कुल अथवा वास्तविक उपज तथा निर्धारित मालगुजारी का क्या अनुपात है; तथा (५) भूमि के लगान अथवा वार्षिक मूल्य का निर्धारित मालगुजारी से क्या अनुपात है ? कर-जाँच समिति ने अन्तिम सिद्धान्त को सबसे कम असन्तोषजनक पाया किन्तु इस रीति मे भी सम्पूर्ण एवं विश्वसनीय आँकड़ो के अभाव मे वे कोई निश्चित निष्कर्ष निकालने मे असमर्थ रहे कि विभिन्न राज्यों मे मालगुजारी का वास्तविक भार क्या है।

४१. औपचारिक न्याय का सिद्धान्त—वर्तमान भू-राजस्व व्यवस्था के अन्तर्गत इस सिद्धान्त की काफ़ी उपेक्षा की जाती है क्योंकि एक तो, जैसा कि हम देख चुके है, विभिन्न राज्यों, यहाँ तक कि विभिन्न जिलों मे ही असमानता पाई जाती है तथा दूसरे कर लगाने के उद्देश्य से भूमि से प्राप्त आय को अन्य साधनों से प्राप्त आय से भिन्न माना जाता है।

१. अन्तर्प्रान्तीय असमानताएँ—प्रथम, स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में स्पष्टतः ही अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रदेशों से कम कर लगाया जाता है। अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रदेशों में पंजाब के ११ ज़िलों में जिनमें हाल ही में बन्दोबस्त किये गए, वास्तविक लगान के अनुपात मे भू-राजस्व का प्रतिशत १९ से ३६ के बीच में रहता है तथा औसत २५ प्रतिशत रहता है। उत्तर प्रदेश में यह २० से ४२ प्रतिशत के बीच मे रहता है तथा औसत २७ प्रतिशत रहता है। रैयतवारी राज्यों में बम्बई के विभिन्न भागों में यह प्रतिशत १७ से ५० के बीच में रहता है। बरार में दो ताल्लुकों में जिनका बन्दोबस्त हाल ही में किया गया है, औसत १० प्रतिशत है। मद्रास में लगभग आधे ज़िलों में यह प्रतिशत स्पष्टतः ही १७ है।[१] ये अंक पूर्णतः शुद्ध नहीं हैं, किन्तु फिर भी वे यह दिखलाने के लिए पर्याप्त रूप से विश्वसनीय है कि मालगुजारी के भार के सम्बन्ध में विभिन्न प्रान्तों में काफ़ी असमानता है। औपचारिक न्याय उस समय हो सकेगा जब कर-जाँच-समिति की सिफ़ारिशों के अनुसार भूमि के वार्षिक मूल्य का २५ प्रतिशत राज्य के अंश के रूप में समान रूप से वसूल किया जाय।

२. भू-राजस्व तथा आय-कर की तुलना—जहाँ तक इस दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है भू-राजस्व तथा आय-कर की तुलना करने पर इन दोनों प्रकार की आय में तीन मुख्य भेद स्पष्टतः लक्षित होते है। पहला यह कि भूमि से प्राप्त आय की कोई निम्नतम सीमा[२] नही होती जिस पर कर न लगे जैसा कि आय-कर में होता है। दूसरा यह

१. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ९४।

२. यह तथ्य कि सिद्धान्ततः भू-राजस्व केवल अनर्जित आय में से ही लिया जाता है इस बात के लिए पर्याप्त रूप से पूरक नही समझा जा सकता कि उसके आधार पर एक कर-मुक्त निम्नतम सीमा निर्धारित कर ली जाय। कृषि-आय में साधारणतः बहुत अधिक अन्तर नही होते हैं तथा विशेष रूप से रैयतवारी प्रदेशों में

कि भूमि-राजस्व के सम्बन्ध में आय के अनुपात में कर का प्रतिशत बहुत अधिक होता है। तीसरा भेद यह है कि भू-राजस्व के कर में क्रमिक वृद्धि नहीं होती है अर्थात् प्रगामी नहीं है। इन दोनों प्रकार के करों में सादृश्य दो प्रकार से स्थापित किया जा सकता है: एक यह कि आय-कर को भू-राजस्व के समस्त लक्षणों के अनुरूप बनाया जाय तथा दूसरा यह कि भू-राजस्व में इस प्रकार परिवर्तन किया जाय कि वह हर प्रकार से आय-कर की भाँति हो जाय। इनमें पहला रास्ता अपनाना तो सम्भव नहीं मालूम देता। यह कार्य प्रतीपगामी भी होगा, क्योंकि ऐसा करने से कर-मुक्त निम्नतम सीमा तथा क्रमिक वृद्धि जैसे ठोस सिद्धान्तों को त्यागना पड़ेगा। तब हमको दूसरे मार्ग की व्यावहारिकता और उसकी समस्याओं पर विचार करना चाहिए। इस सम्बन्ध में पहले इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि कृषि-आय में से ३,००० रु० से कम की कर-मुक्त आय पर कर न लगाने का क्या प्रभाव पड़ेगा। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति की सम्भावना को पूर्णतः काल्पनिक एवं अव्यावहारिक होने के आधार पर अस्वीकृत कर देना चाहिए, क्योंकि इससे राज्य की आर्थिक सम्पन्नता पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार का निष्कर्ष उस समय निकलता है जब हम इसकी भिन्नता के आधार पर दोनों की एकरूपता की कल्पना करते हैं। ऐसी स्थिति में औपचारिक न्याय के सिद्धान्त को उत्पादन अथवा व्यावहारिक उपयोगिता के सिद्धान्त के पक्ष में त्यागना पड़ेगा। यदि हम कर-जाँच समिति की यह सिफ़ारिश मान लें कि वार्षिक मूल्य का २५ प्रतिशत भू-राजस्व की प्रामाणिक दर मानी जाय तथा इसके अतिरिक्त स्थानीय दर के आधार पर अन्य कर लगा दिये जायँ तब भी यह प्रतिशत ग़ैर-कृषि की आय से अधिक बैठेगा (केवल कुछ उन बहुत ऊँची रकम की आय को छोड़कर जिन पर बहुत अधिक प्रतिशत आय-कर तथा अधिकर के रूप में देना पड़ता है)। प्रगामी सिद्धान्त भू-राजस्व में भी लागू किया जा सकता है जैसा कि अधिक प्रगतिशील यूरोप के देशों तथा जापान में किया भी जाता है जहाँ कृषि-आय पर भी आय-कर लगता[1] है अथवा उन पर मृत्यु-कर[2] लगता है।

सम्पूर्ण विवरण के पश्चात् हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि कृषि-आय को पूर्ण रूप से आय-कर के सदृश कर देना ही व्यावहारिक नहीं है तथा कुछ समय तक के लिए तो कृषि-आय पर कर आदि के उद्देश्य से स्वयं भू-राजस्व को ही कर के रूप में देखना पड़ेगा। इसका यह अभिप्राय नहीं कि कृषि-आय पर सदैव के लिए कर नहीं लगाया जा सकेगा। वस्तुतः भू-राजस्व तथा आय-कर दोनों में ही सुधार करने की

अतः ऐसी स्थिति में यदि भू-राजस्व को भी वर्तमान आय-कर के सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित किया गया तो बहुत-सी आय कर से पूर्णतः छुटकारा पा जायगी।

१. साइमन कमीशन के राजस्व-निर्धारक (फिनेन्शियल एसेसर) सर वाल्टर लेटन के इस प्रस्ताव का विवरण कि कृषि-सम्बन्धी आय पर भी आय-कर लगाया जाय, जो कि अभी इससे मुक्त है, खण्ड २, अध्याय १२, सेक्शन ११ में दिया हुआ है।

२. टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी ने डॉ० ग्रेंगरी का मत स्वीकार करते हुए कहा कि भू-लगान आवश्यक रूप से पदार्थों पर कर है, व्यक्तियों पर नहीं और इस प्रकार इसमें क्रमिक वृद्धि करने वाले सिद्धान्त का प्रत्यक्षतः लागू किया जाना सम्भव नहीं। (रिपोर्ट, पैरा ८९)।

आवश्यकता है जिससे वे पूर्णतः कर के सिद्धान्तों के अनुरूप बनाए जा सकें। एक ठोस कर-पद्धति वह है जो न तो उत्पादन के हेतु उपयोगी एवं आवश्यक कार्य-विधि को हटाती है अथवा उसके प्रति उत्साह को किसी प्रकार भंग करती है और न उपयोगी एवं आवश्यक उपभोग में ही किसी प्रकार की कमी करती है।[१] इन सिद्धान्तों का पालन करना यह बतलाता है कि अनर्जित आय पर, चाहे वह भूमि से प्राप्त हुई हो अथवा अन्य साधनों से, कर अवश्य लगाना चाहिए और यदि अनर्जित तथा अर्जित दोनों प्रकार की आय पर कर लगाना हो तो अर्जित आय पर अनर्जित आय की अपेक्षा बहुत कम कर लगाना चाहिए। सिद्धान्त रूप में समस्त अनर्जित आय को राज्य ले सकता है यद्यपि व्यवहार में सरकार इसका कुछ प्रतिशत ही लेती है, क्योंकि सम्पूर्ण आय में से अनर्जित रकम को सही-सही जानना कठिन होता है। इस प्रकार अनर्जित आय की आड़ में आवश्यकता से अधिक कर वसूल नहीं किया जाता। आय-कर की वर्तमान व्यवस्था इसीलिए दूषित है कि वह अर्जित एवम् अनर्जित दोनों प्रकार की आय पर समान दर से ही कर लगाती है। भूमि-कर इसलिए दोषयुक्त है कि वह खेती की सबसे छोटी जमीन की आय पर भी लगाया जाता है चाहे वह भूमि कितनी ही अनार्थिक क्यों न हो। यही नही, भू-राजस्व तो समस्त भूमियों पर दिया जाता है चाहे किसी भूमि से वास्तव में आय होती हो और चाहे न होती हो। भू-राजस्व तथा आय-कर में एक यह भी अन्तर है कि आय-कर व्यक्तियों की आय पर लगाया जाता है जिससे उसके द्वारा दिखाई हुई आय की जाँच करके उस पर ही कर लगता है, परन्तु भू-राजस्व में प्रत्येक खेती-योग्य जमीन पर लगान वसूल किया जाता है। प्रत्येक भूमि पर अलग-अलग लगान निर्धारित करना सम्भव नहीं होता, इसलिए अनेक अच्छी-बुरी ज़मीनों का औसत निकालकर उस औसत के अनुसार प्रत्येक जमीन पर लगान वसूल किया जाता है। इससे किसी जमीन पर आवश्यकता से कहीं अधिक लगान लग सकता है तथा कही बहुत कम लगान हो सकता है। सिद्धान्ततः भू-राजस्व अतिरिक्त आय का एक अंश माना जाता है, परन्तु स्पष्ट ही अनार्थिक ज़मीनों से कोई अतिरिक्त आय नहीं होती फिर भी उन पर लगान लगाया जाता है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एक निश्चित आकार से कम होने वाली ज़मीनों को भू-राजस्व से मुक्त करना कहाँ तक व्यावहारिक है। यहाँ फिर यह कठिनाई उपस्थित होगी कि अनार्थिक जमीनों पर लगान की छूट देने से सरकार को गम्भीर आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि अतिप्राचीन काल से लोग इसी प्रकार भूमि-कर देते चले आ रहे हैं जिससे वे उसके आदी हो चुके हैं और यह अब बिना किसी शंका एवं विरोध के दे दिया जाता है तथा इसे देते समय किसान किसी प्रकार का अन्याय अनुभव नहीं करता है। इसके साथ ही इस बात में भी कोई सन्देह नहीं कि यदि हमें अपनी कर-व्यवस्था को न्याय एवं युक्तिपूर्ण बनाना है तो कालान्तर में अनार्थिक क्षेत्रों को कर से छूट देनी ही पड़ेगी[२] तथा एक उच्चतम निर्धारित सीमा से नीचे की सब

१. देखिए, जे० ए० हॉब्सन, 'टैक्सेशन इन द न्यू स्टेट', पृ० १०।

२. चतुर किन्तु भ्रमात्मक तर्क, जो अनार्थिक भूमियो को मुक्त करने के खिलाफ दिया गया है, के लिए

जमीनों को भू-राजस्व से मुक्त करना पड़ेगा जैसा कि गैर-कृषि आय के सम्बन्ध में किया जाता है। इससे अनार्थिक क्षेत्रों को कर से छूट देने के विरोध में एक तर्क—अन्तर्विभाजन—को प्रोत्साहन भी मिलेगा। परन्तु भूमि के अन्तर्विभाजन को दूर करने का उचित उपाय उसे प्रत्यक्ष रूप से कानून द्वारा हल करना है; अप्रत्यक्ष रूप से भू-राजस्व-व्यवस्था के निर्धारण से ही यह बुराई दूर नही की जा सकेगी।

४२. वैधानिक नियन्त्रण—भारत में भू-राजस्व-सम्बन्धी विषयों के वैधानिक नियन्त्रण का सिद्धान्त नया नही है। देश के कुछ राज्यों मे पहले से ही विधान-मण्डलों द्वारा भू-राजस्व-व्यवस्था के सम्बन्ध में विशेष विधान बनाए जा चुके है। उदाहरणार्थ बम्बई में सन् १८७९ में पास हुए बम्बई भू-राजस्व संहिता (बाम्बे लेण्ड रेवेन्यू कोड) के अन्तर्गत भू-राजस्व की व्यवस्था की गई है। किन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में देश में स्थिति बहुत असन्तोषजनक ही थी, क्योंकि कुछ राज्यों मे कोई भी वैधानिक नियन्त्रण न था तथा कुछ अन्य राज्यों में जहाँ कुछ नियन्त्रण था भी तो वह क्षुद्र प्रकार का था तथा उसके विस्तार की अत्यधिक आवश्यकता थी जिससे कि भू-राजस्व-सम्बन्धी व्यवस्था पर जो यह दोषारोपण किया जाता था कि शासन मनमानी करता रहता है उस दोष को समाप्त किया जा सके।[१] इस सम्बन्ध मे सन् १९१९ की संयुक्त संसदीय समिति के निम्नलिखित शब्द उल्लेखनीय है : "समिति कुछ साक्षियों द्वारा बताई गई इस बात से बहुत प्रभावित है कि किस प्रकार भारतीय जनता पर मनमाने ढंग से कर लादे जा सकते है जिन करों मे से अधिकांश के सम्बन्ध में न तो विधान द्वारा उनकी अधिकतम सीमा निश्चित की गई है और ऐसे ही कुछ अन्य करों के निर्धारण के सम्बन्ध में भी विधान द्वारा निश्चित कोई प्रणाली नही बनाई गई है। समिति का विचार है कि देश की जनता पर जो भी भार पडे वह अधिक-से-अधिक मात्रा में विधान-मण्डल की देख-रेख में ही हो। विशेष रूप से मालगुजारी के पुनः निर्धारण के सम्बन्ध में उनका निश्चित मत है कि इसे विधान द्वारा अवश्य नियन्त्रित होना चाहिए। समिति का यह मत है कि अब वह समय आ गया है जब मालगुजारी जिन सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित की जायगी उन सिद्धान्तों को एक विधान का रूप दे दिया जाय। यही नही, भूमि के मूल्यांकन, निर्धारण की अधिकतम सीमा, पुनः दुहराने की अवधि, निर्धारित मालगुजारी मे क्रमिक वृद्धि एवं लगान देने वाले के हित से सम्बन्धित समस्त क्रियाओं के मुख्य सिद्धान्तों को विधान का रूप दिया जाना अत्यावश्यक है।" समिति ने यह सोचा कि विधान-परिषदों मे ग्रामीण जनता को उचित प्रतिनिधित्व देने तथा कृषि-विषय को मन्त्रियों को सौंपने के पहले ऐसा सुधार कर लेना अत्यावश्यक है।

४३. भू-राजस्व सम्बन्धी विधान की प्रगति—उपर्युक्त सिफ़ारिशों पर राज्यीय विधान-सभाओं में बहुत वादविवाद हुआ और उन्होंने भू-राजस्व सम्बन्धी विषयों के सम्बन्ध में विधान बनाने प्रारम्भ कर दिये अथवा इस सम्बन्ध में आवश्यक कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

एण्डरसन, पूर्व उद्धृत, पृ० १४-१६ देखिए।

१. सन् १९१९ के वैधानिक सुधारों पर भारत सरकार का नोट तथा सर शंकरन नय्यर का विरोधी मत देखिए।

ये विषय निम्नलिखित थे—(१) बन्दोबस्त के सिद्धान्त तथा मालगुजारी के निर्धारण हेतु प्रामाणिक दर का निश्चित किया जाना, (२) बन्दोबस्त को दुहराते समय मालगुजारी बढ़ाने की अधिकतम सीमा निर्धारित करना, तथा (३) बन्दोबस्त की अवधि। सन् १९२८-२९ मे भू-राजस्व निर्धारण से सम्बन्धित सिद्धान्तों को सम्मिलित करते हुए पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश की विधान-परिषदों ने विधान पास कर लिए।[1] सन् १९२९ के पंजाब भू-राजस्व संशोधन विधान के अन्तर्गत राज्य का अंश वास्तविक सम्पत्ति का चौथाई निश्चित किया गया है तथा बन्दोबस्त की अवधि ४० वर्ष निश्चित की गई है। बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में कोई विधान पास करने की आवश्यकता नही समझी गई, क्योंकि इन राज्यों में अधिकांश प्रदेश स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत है। मद्रास तथा आसाम[2] में मालगुजारी के निर्धारण के सम्बन्ध में विधान पास कराने के प्रयत्न सफल न हो सके। बम्बई में मालगुजारी निर्धारित करने के हेतु जून सन् १९२४ में भू-राजस्व निर्धारण समिति नियुक्त की गई। इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव विधान परिषद् में पास किया जा चुका था। इस समिति के ग़ैर सरकारी सदस्यों ने इस बात की ज़ोरदार शब्दों में सिफारिश की कि विधान परिषद् की एक स्थायी परामर्श समिति की नियुक्ति की जाय जो बन्दोबस्तों के दुहराने से सम्बन्धित सब प्रस्तावों पर विचार करे और यदि सरकार इस समिति की सिफारिशों को स्वीकार न करे तो जब तक विधान परिषद् की स्पष्ट स्वीकृति प्राप्त न कर ली जाय उन प्रस्तावों पर कार्य न किया जाय। ऐसी समिति का निर्माण इस दृष्टि से भी अत्यन्त आवश्यक है कि शासन-सम्बन्धी अधिकारी सदैव सरकार के आर्थिक दृष्टिकोण से ही सद्भावना रखते हैं; वे लगान देने वाले के प्रति कोई भी दिलचस्पी नही दिखलाते।[3] बम्बई सरकार ने, जो इस प्रस्ताव के विरुद्ध थी, बाद में अपने रुख में परिवर्तन किया और ग़ैर सरकारी नियन्त्रण को भी कुछ हद तक स्वीकार किया और यह विश्वास दिलाया कि बम्बई भू-राजस्व सम्बन्धी नियमों के प्रस्तावित संशोधनों में वह इसका ध्यान रखेगी (नीचे सेक्शन ४४ देखिए) कि सम्बन्धित मौरूसी काश्तकारों को ही नहीं वरन् सार्वजनिक संस्थाओं एवं अन्य समुदायों को भी इस बात का अवसर प्रदान किया जायगा कि वे बन्दोबस्त-अधिकारी के प्रस्तावों पर वादविवाद कर सकें।

सन् १९३७ में राज्यीय स्वायत्त-शासन के आगमन तथा कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों द्वारा सरकार का कार्य-भार सँभाल लेने के उपरान्त पुनः अनेक राज्यों में भू-राजस्व

१. देखिए, 'इण्डिया इन १९२८-२९', पृ० ३२१।

२. आसाम में सितम्बर सन् १९३० में एक बिल पास किया गया जिसके अन्तर्गत अधिकतम लगान सम्पूर्ण उपज का १० प्रतिशत निर्धारित किया जा सकता था जबकि सरकार ने १२½ प्रतिशत का सुझाव दिया था। यह दर परिषद् के सब दलों के प्रतिनिधियों के समझौता कर लेने के कारण रखी गई थी, किन्तु गवर्नर ने इस बिल को विधान परिषद् के विचारार्थ पुनः वापिस भेज दिया। परिषद् ने १२½ प्रतिशत पास करना अस्वीकार कर दिया। गवर्नर ने अपनी स्वीकृति रोक ली। देखिए, 'इण्डिया इन १९३०-३१', पृ० ५७७।

३. देखिए, रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू एसेसमेंट कमिटी, बम्बई (१९२६) पर सन् १९२७ का भारत सरकार का प्रस्ताव तथा समिति के सरकारी सदस्यों की रिपोर्ट।

सम्बन्धी सुधारों को बल मिला तथा मालगुजारी के निर्धारण की विधि तथा इसकी व्यवस्था में प्रत्येक स्थान पर बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के प्रयत्न किये जाने लगे।

४४. सन् १९३९ का बम्बई भू-राजस्व संहिता (संशोधन) विधान—बम्बई में कांग्रेस सरकार ने अप्रैल सन् १९३९ में विधान-सभा में भू-राजस्व संहिता को संशोधित करने के उद्देश्य से एक बिल प्रस्तावित किया ताकि थोड़े-बहुत रूपान्तर के पश्चात् भू-राजस्व निर्धारण समिति की सिफ़ारिशों को कार्य-रूप में परिणत किया जा सके। यह बिल बाद में विधान बना दिया गया तथा विधान द्वारा राज्य में भू-राजस्व निर्धारण को नियन्त्रित कर दिया गया। सन् १९३९ के बम्बई भू-राजस्व सम्बन्धी नियमों के संशोधित विधान के अन्तर्गत बन्दोबस्तों के सम्बन्ध में जो भी आदेश दिये जायँगे उनके निश्चित करने का अधिकार विधान-सभा को होगा। इस विधान के अन्तर्गत बन्दोबस्त की अवधि ३० वर्ष से अधिक की न होगी सिवाय तब जब कि सरकार की राय में बन्दोबस्त का दुहराना उचित न हो। एक सदृश समूह में एक विशेष वर्ग की भूमि पर मालगुजारी के निर्धारण की प्रामाणिक दर इस प्रकार निश्चित की जायगी कि वह बन्दोबस्त वाले वर्ष के पूर्व के पाँच सालों में भूमि का जो लगान-मूल्य रहा है उसके ३५ प्रतिशत से अधिक न हो।[1] बन्दोबस्त की क्रिया से सम्बन्धित अन्य सैद्धान्तिक विषय जैसे समूह बनाना, वैयक्तिक सुधारों द्वारा भूमि के मूल्य की वृद्धि होने पर उसकी मालगुजारी में वृद्धि से मुक्ति, मालगुजारी का निर्धारण, मालगुजारी की वृद्धि की सीमाएँ इत्यादि सब विषय इस विधान के अन्तर्गत आ गए।[2] इस बात की भी व्यवस्था की गई कि प्रत्येक गाँव की बन्दोबस्त की रिपोर्ट प्रकाशित की जाय तथा प्रत्येक व्यक्ति इसके सम्बन्ध में अपनी आपत्ति कहने के लिए स्वतन्त्र हो। इस रिपोर्ट से असन्तुष्ट या पीड़ित व्यक्ति द्वारा प्रार्थना पत्र देने के सम्बन्ध में यह व्यवस्था है कि सन् १९३९ के बम्बई राजस्व *न्यायाधिकरण* विधान के अन्तर्गत जिस राजस्व *न्यायाधिकरण* की स्थापना की गई है उसके समक्ष भी यह रिपोर्ट प्रस्तुत की जाय। इसके पहले कि राज्यीय सरकार बन्दोबस्त सम्बन्धी रिपोर्ट पर आदेश निर्गमित करे, यह रिपोर्ट तथा इस पर की गई आपत्तियाँ, एवम् राजस्व-न्यायाधिकरण के मत, यदि रिपोर्ट न्यायाधिकरण को भेजी गई हो तो, सहित प्रत्येक राज्यीय विधान-मण्डल के सम्मुख लाई जाती हैं। नया विधान सरकार को यह भी अधिकार प्रदान करता है कि वह उपयुक्त स्थितियों में कृषि-पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि अथवा कमी होने पर उसी के अनुसार मालगुजारी को भी व्यवस्थित कर ले।[3]

परिशिष्ट[4]

ऊपर अध्याय का बहुत-कुछ अविभाजित भारत से ही सम्बन्धित है।

---

१. विशेष विवरण के लिए ऊपर सेक्शन २७ देखिए।

२. ऊपर सेक्शन २७ भी देखिए।

३. बम्बई सरकार का गज़ट, १६ फरवरी, सन् १९३९, विधान नं० १२ सन् १९३९ का देखिए; तथा ऊपर सेक्शन २७ भी देखिए।

४. यह परिशिष्ट, अद्यतन सूचनाएँ देने के लिए यहाँ अनुवादक द्वारा दिया जा रहा है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् देश की भूमि-व्यवस्था में अनेक आधारभूत परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों का उचित महत्त्व समझने के लिए इन्हें एक साथ देखना चाहिए। इसी कारण हम इन्हें पाद-टिप्पणियों में प्रस्तुत न करके एक परिशिष्ट में प्रस्तुत कर रहे हैं।

अध्याय के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि स्वतन्त्रता के पश्चात् जो भूमि-व्यवस्था हमें अंग्रेजों से प्राप्त हुई, उसमें प्रधानतः दो दोष थे।

(१) भूमि-व्यवस्था शोषणात्मक थी। लगभग आधी भूमि पर ज़मींदारों का अधिकार था जो किसानों से अत्यधिक लगान वसूल करते थे और उसका थोड़ा-सा भाग ही सरकारी खज़ाने में जमा करते थे। किसान अत्याचार के शिकार होते थे, सरकार को उसका भाग नहीं मिलता था तथा मध्यस्थ (ज़मींदार) कोई काम किये बिना ही बहुत अधिक प्रतिफल पाते थे।

(२) ज़मींदारी के अतिरिक्त रैयतवारी प्रान्तों में भी भूमि को उप-कृषकों को देना बहुत प्रचलित था। भूमि अधिकतर उन लोगों द्वारा जोती जाती जो उसके स्वामी न थे। परिणामस्वरूप भूमि का लगान बहुत बढ़ गया।

स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् भूमि-व्यवस्था के इन दोषों को दूर करने के प्रति भारत सरकार जागरूक हुई। कांग्रेस की आर्थिक योजना समिति ने सिफारिश की कि राज्य और किसान के बीच सारे मध्यस्थों का अन्त कर दिया जाय और उनके स्थान पर सहकारी एजेन्सियों का संगठन किया जाय। अतएव समस्त राज्यों ने इस सम्बन्ध में विधान बनाए।

समस्त राज्यों ने ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया। लगभग सभी पार्ट ए० और पार्ट बी० राज्यों में इस सम्बन्ध में कानून बन चुके हैं। इसी प्रकार के कदम विन्ध्य प्रदेश, भोपाल, दिल्ली और हिमाचल प्रदेश में उठाये गए हैं जब कि अजमेर और कच्छ भी पीछे नहीं हैं।

ज़मीदारी-प्रथा के उन्मूलन में मुख्यतया तीन कठिनाइयाँ उपस्थित हुई। प्रथम—जमींदारों ने इस कानून का वैधानिक ढंग से विरोध किया। उन्होंने इसे विधान के अन्तर्गत मूलभूत अधिकारों के विरुद्ध ठहराने की कोशिश की। अतएव विधान में संशोधन किये गए। इन संशोधनों का भी प्रतिवाद किया गया, परन्तु अन्त में उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) द्वारा इन संशोधनों को वैध ठहराने पर यह कठिनाई दूर हो गई। द्वितीय—गाँवों में पूर्ण लेखों तथा यथोचित शासन-व्यवस्था के अभाव के कारण भी इसे कार्यान्वित करने में कठिनाई हुई। तीसरी और अन्तिम कठिनाई क्षति-पूर्ति की थी। ज़मीदारों को क्षति-पूर्ति देने के लिए बहुत धन अपेक्षित था इसलिए भी इसे कार्यान्वित करने में देर हुई। इन कठिनाइयों के होते हुए भी राज्यों ने अच्छी प्रगति की। (रामपुर को छोड़कर) उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में सभी ज़मींदारियाँ समाप्त कर दी गई हैं। मद्रास और उड़ीसा में भी अधिकांश जमींदारियाँ छीन ली गई हैं। नीचे कुछ प्रमुख राज्यों के सम्बन्ध में ज़मीदारी-उन्मूलन कानून की कार्य-प्रणाली दी जा रही है।

उत्तर प्रदेश—ज़मींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार कानून के अन्तर्गत

३,६०,००,०००[1] एकड़ भूमि १६०·१३ करोड़ रु० की क्षति-पूर्ति देकर ज़मींदारों से ले लेने की व्यवस्था है। ज़मींदारी उन्मूलन के बाद प्रान्त में एक नई भू-धृति प्रणाली का विकास हुआ जिसके निम्न प्रकार हैं—

(१) भूमिधर—इन्हें बेदख़ल नहीं किया जा सकता। ये अपनी भूमि को किसी भी काम के लिए प्रयोग में ला सकते हैं। भूमि पर इनका स्थायी एवम् वंश परम्परागत अधिकार होता है तथा वे उनका हस्तान्तरण कर सकते हैं।

ज़मींदारों को उनकी सीर, खुदकाश्त और बागात के सम्बन्ध में भूमिधर के अधिकार प्रदान किये गए हैं। सीर को लगान पर जोतने वाले किसानों को यह अधिकार दिया गया है कि वे दस गुना लगान जमा करके भूमिधर के अधिकार प्राप्त कर लें।

(२) सीरदार—उन सब किसानों को जिनके मौरूसी अधिकार हैं, उदाहरणार्थ ख़ास शर्तों पर जोतने वाले अवध के किसान, लगान-मुक्त किसान, लगान की निश्चित दर पर जोतने वाले किसान आदि, कानून के अन्तर्गत सीरदार के अधिकार प्राप्त होंगे। सीरदारों का भूमि पर स्थायी एवम् वंश परम्परागत अधिकार तो होगा, परन्तु वे भूमि को कृषि, पशु-पालन या बाग़ लगाने के अतिरिक्त अन्य किसी काम में प्रयोग न कर सकेंगे।

(३) आसामी अधिकार उन कृषकों या उपकृषकों को प्रदान किये गए हैं जो चरागाह या जलमग्न भूमि या कभी-कभी खेती होने वाली ज़मीन के गैर मौरूसी किसान हैं। कानून के अन्तर्गत जिन व्यक्तियों को भूमिधर और सीरदार पट्टे पर ज़मीन देंगे, उन्हें भी आसामी अधिकार प्राप्त होंगे। इस दशा में भूमि पर आसामियों का अधिकार उस समय तक के लिए होगा जब तक कि भूमिधर और सीरदार उसे स्वयं न जोतना चाहें या उनकी वह अयोग्यता समाप्त न हो जाय किसके कारण उन्होंने भूमि उठा दी है। आसामियों के अधिकार वंश परम्परागत तो होंगे परन्तु सामान्यतः स्थायी न होंगे।

(४) वे सब किसान जिनके भूमि में कोई स्थायी अधिकार न थे, जिनमें लगान पर जोतने वाले कृषक और उपकृषक भी सम्मिलित थे, अधिवासी कहलाए। कानून प्रारम्भ होने के पाँच वर्ष तक इन्हें भूमि रखने का अधिकार दिया गया। यदि पाँच वर्ष बाद ये किसान परम्परा से चले आये सीर के लगान का १५ गुना जमा कर दें (उपकृषक प्रधान कृषक के लगान का १५ गुना जमा कर दें) तो उन्हें भूमिधर के अधिकार प्राप्त हो जायँगे।

अतः स्पष्ट है कि आसामी और अधिवासी भू-धृति का संक्रमणकालीन रूप है। भविष्य में भूमिधर और सीरदार मालगुजारी (भू-राजस्व) जमा करेंगे तथा आसामी और अधिवासी लगान देंगे।

ज़मींदारों को वास्तविक सम्पत्ति की ८ गुनी क्षतिपूर्ति दी जायगी। छोटे ज़मींदारों को पुनर्वास अनुदान देने की भी व्यवस्था है। मालगुज़ारी की रकम के

१. देखिए, 'लैण्ड रिफ़ॉर्म्स इन इण्डिया', एच० डी० मालवीय, पृ० १०८।

अनुसार छोटे ज़मींदारों को वास्तविक सम्पत्ति की २ से लेकर २० गुनी राशि पुनर्वास अनुदान के रूप में मिलेगी। उदाहरण के लिए जो ज़मींदार २५ रु० तक की मालगुजारी देते थे उन्हें उनकी वास्तविक सम्पत्ति का २० गुना पुनर्वास अनुदान के रूप में मिलेगा। जो ज़मींदार ३५०० रु० से लेकर ५००० रु० तक मालगुज़ारी जमा करते थे उन्हें उनकी वास्तविक सम्पत्ति का दुगुना पुनर्वास अनुदान के रूप में मिलेगा। वास्तविक सम्पत्ति (नेट एसेट्स) जानने के लिए कुल सम्पत्ति (ग्रॉस एसेट्स) में से निम्न व्यय घटा दिये जाते हैं।

(१) मध्यस्थ द्वारा दी जाने वाली मालगुज़ारी, लगान, उपकर या स्थानीय कर।

(२) प्रबन्ध-व्यय तथा वसूल न होने वाला बकाया लगान।

(३) मध्यस्थ की निजी काश्त की भूमि की आय।

मध्यप्रदेश—मध्यप्रदेश स्वामित्व अधिकार उन्मूलन अधिनियम १९५० (मध्यप्रदेश एबालीशन आफ प्रोप्राइटरी राइट्स एक्ट १९५०) के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के मध्यस्थों, उदाहरणार्थ ज़मींदार, मालगुज़ार आदि का उन्मूलन कर दिया गया है। इस कानून के अनुसार केवल सीर और खुदकाश्त मालिक-मकबूज़ा[1] (प्लॉट प्रोप्राइटरशिप) अधिकारों के अन्तर्गत उनके पास रहेंगे जिसके लिए उन्हें उस स्थान के किसानों द्वारा दिये जाने वाले अधिकतम लगान के समान ही मालगुजारी देनी होगी। इस प्रकार वहाँ भी जमींदारी उन्मूलन के बाद भू-धृति की एक नई प्रणाली की स्थापना की व्यवस्था की गई है। निर्धारित रकम देने पर सभी किसानों को मालिक-मकबूज़ा के अधिकार प्रदान करने की व्यवस्था है। गाँव का राजस्व-शासन एक पटेल की नियुक्ति द्वारा चलाया जायगा। इनका प्रबन्ध भी ऐसी ग्राम-पंचायतों के हाथ में सौंप दिया जायगा जो इस योग्य होंगी।

जमींदारों की क्षतिपूर्ति की योजना उत्तरप्रदेश के समान ही है। स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार उसमें यत्र-तत्र परिवर्तन कर दिये गए हैं।

पंजाब—पंजाब सरकार ने भूमि समस्याओं की परीक्षा एवम् उनके सुधार के लिए सुझाव प्रस्तुत करने के हेतु एक भूमिसुधार समिति की स्थापना की। इस समिति का मत था कि आला-मालिक, ताल्लुकदार आदि का भूमि से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है अतएव उनके भूमिगत अधिकार समाप्त कर दिये जायँ। इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया गया और १९५१ में पंजाब औक्यूपेन्सी एक्ट और पंजाब एबालीशन आफ आलामालकियत एण्ड ताल्लुकदार राइट्स एक्ट राष्ट्रपति के कानून के रूप में लागू किये गए। इन दोनों कानूनों को सन् १९५२ में पुनः पास किया गया। इन कानूनों के अन्तर्गत ऐसे ज़मींदारों और आला-मालिकों के अधिकार समाप्त कर दिये गए और ये अधिकार मौरूसी किसानों और अदना मालिकों को प्रदान किये गए। ज़मींदारों और आला-मालिकों की क्षतिपूर्ति की भी व्यवस्था की गई है।

गैर मौरूसी (इच्छाधीन) किसानों की सुरक्षा के सम्बन्ध में भी तीन दृष्टिकोणों से विचार किया गया :

१. देखिए, 'लैण्ड रिफॉर्म्स इन इण्डिया', एच० डी० मालवीय, पृ० २४५।

(१) भू-धृति की स्थिरता,

(२) लगान पर औचित्य, तथा

(३) बेदखल करने के लिए क्षतिपूर्ति।

इस सम्बन्ध में पंजाब टेनेन्ट्स सीक्योरिटी आफ टेन्योर एक्ट, १९५३, पास किया गया है जो उपर्युक्त समस्याओं से सम्बन्धित है।

अन्य राज्यों में भी इसी प्रकार के कानून बनाये गए हैं। बिहार में ५०,००० रु० की वार्षिक आय वाली जमींदारियाँ सरकार ने ले ली है। आसाम में स्थायी बन्दोबस्त वाली जमींदारियों के उन्मूलन का कार्य १५ अप्रैल १९५५ से शुरू होने वाला था। मध्यस्थों के उन्मूलन के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति इस प्रकार है।

(१) मध्यप्रदेश, पंजाब, हैदराबाद, पैप्सू और भोपाल में मध्यस्थों के उन्मूलन सम्बन्धी कानून पूर्णतया कार्यान्वित किये जा चुके हैं।

(२) आन्ध्र, बम्बई, मद्रास, उत्तरप्रदेश, मध्यभारत और सौराष्ट्र में बहुत हद तक कार्यान्वित किये जा चुके हैं।

(३) बिहार, उड़ीसा, राजस्थान और विन्ध्यप्रदेश में अंशतः कार्यान्वित किये जा चुके हैं।

मध्यस्थों के उन्मूलन से ही समस्या का पूर्ण निदान नही हो सकता। किसानों की सुरक्षा, उचित लगान तथा उनके अधिकारों को स्थायित्व प्रदान करना भी आवश्यक है। इसी उद्देश्य से विभिन्न राज्यों के जमींदारी उन्मूलन कानून मध्यस्थों के उन्मूलन के साथ ही उपर्युक्त तत्त्वों से भी युक्त हैं। उदाहरणार्थ, उत्तरप्रदेश में जमींदारी उन्मूलन के साथ ही किसानों को स्थायी अधिकार प्रदान किये गए हैं। कुछ राज्यों में इसके लिए अलग से कानून भी बनाये गए हैं। लगान कम करने के सम्बन्ध में भी कदम उठाये गए हैं। योजना आयोग की सिफारिश के अनुसार लगान उपज के $\frac{1}{4}$ या $\frac{1}{5}$ से अधिक न होना चाहिए। कुछ राज्यों में पट्टे की अवधि भी निश्चित कर दी गई है। यह अवधि बम्बई में १० वर्ष तथा हैदराबाद में ५ वर्ष है। यदि भूमि का स्वामी ज़मीन वापिस लेने के लिए एक साल का नोटिस नहीं देता तो यह पट्टा पुनः चालू किया जा सकता है।

स्थायी बन्दोबस्त के गुण-दोषों का विवाद तो समाप्त हो चुका है। जमींदारी उन्मूलन सिद्धान्ततः हर राज्यों ने स्वीकार कर लिया है। १० नवम्बर १९५३ को पश्चिमी बंगाल विधान सभा में जमीदारी उन्मूलन के सम्बन्ध में एक बिल (वेस्ट बंगाल एस्टेट्स एक्वीज़ीशन बिल) पेश किया गया जो उसी माह में पास कर दिया गया। इस बिल में प्रवर-समिति ने कुछ परिवर्तन भी किये। बिल का प्रधान उद्देश्य क्षति-पूर्ति द्वारा मध्यस्थों को समाप्त करना है, यद्यपि कुछ हद तक उन्हें खास भूमि रखने की इजाजत है। यह बिल अन्य प्रान्तों के कानूनों की भाँति सर्वांगीण नहीं है। इसमें भूमि के वितरण की व्यवस्था नहीं की गई है। इस उद्देश्य से वहाँ भूमि सुधार बिल (लैण्ड रिफॉर्म बिल) बनाया जा रहा है [1] जो भूमि-वितरण की पूर्ण व्यवस्था करने में समर्थ होगा।

१. देखिए, 'लैन्ड रिफॉर्म्स इन इण्डिया', एच० डी० मालवीय, पृ० १४१।

अध्याय १३

उद्योग : एक सामान्य सर्वेक्षण

१. हाल के वर्षों में भारत का औद्योगिक इतिहास—इस अध्याय मे हम भारत की औद्योगिक स्थिति का साधारण रूप से अवलोकन करना चाहते है। दूसरे भाग मे हम विशिष्ट समस्याओं, जैसे संरक्षण, बडे पैमाने के उद्याग और कुटीर उद्योग आदि का विस्तार से वर्णन करेगे। हम उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक भारत के औद्योगिक इतिहास का वर्णन पहले ही कर चुके है।[1] हम देख चुके है कि किस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत एक औद्योगिक और खेतिहर देश था और कहाँ तक तत्कालीन मापदण्ड से उद्योगो ने उच्च कोटि की प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। हम यह भी देख चुके है कि किस प्रकार १८वी शताब्दी के अन्तिम वर्षों से अनेक प्रतिकूल परिस्थितियो के परिणामस्वरूप उसके उद्योग शिथिल होने लगे। गत शताब्दी की अन्तिम दो दशाब्दियों तथा विशेषकर वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में देश का औद्योगिक पिछड़ापन दादाभाई नौरोजी और रानाडे जैसे देशभक्तो का ध्यान आकर्षित करने लगा। इसे देश मे बार-बार पड़ने वाले अकालों एवम् देश को पीस देने वाली दरिद्रता का कारण समझा गया जो अकालों का प्रतीक थी। सन् १८८० के दुर्भिक्ष आयोग (फैमीन कमीशन) ने समस्या का सही निदान किया जब उन्होंने यह बताया कि बार-बार अकाल पड़ने का कारण देश मे उद्योगो की विविधता का अभाव है और इसका उपचार किया जाना चाहिए। १९०१ के दुर्भिक्ष आयोग ने भी वही बात दुहराई और वही उपचार बताए। यह विचार पनपने लगा कि प्रकृति ने भारत को सदैव के लिए अपनी आवश्यकताओं के हेतु दूसरे देशों पर निर्भर रहने के लिए नही बनाया है। देश में जो थोड़े से उद्योग सरकारी सहायता के बिना जड़ जमा चुके थे वे ब्रहुत अंशों में विदेशी धन और साहस के आभारी थे।

ऐसी दशा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सन्तोषजनक नही कही जा सकती थी। जापानी सरकार के घोर प्रयत्न, जिनके फलस्वरूप अत्यन्त थोड़े समय मे जापान औद्योगिक देशों की प्रथम पंक्ति मे आ गया, हमारी सरकार की उदासीन नीति से कितने विपरीत हैं? लकाशायर के कपडो के व्यापारियो के प्रभाव मे आकर जब सरकार ने गत शताब्दी के अन्त मे कपास पर उत्पाद-कर (कॉटन एक्साइज ड्यूटी) लगा दी तब यह सन्देह होने लगा कि सरकार भारत के औद्योगिक विकास के प्रति केवल

१. पीछे अध्याय ५।

उदासीन ही नही बल्कि विरोधी भी है। इन परिस्थितियो को ध्यान मे रखने पर इस बात पर आश्चर्य नही होता कि उद्योगों के अभाव में जनता का मध्यवर्गीय शिक्षित नवयुवक समाज की दरिद्रता और आर्थिक असन्तोष राजनीतिक रग में रँगने लगा। आर्थिक और राजनीतिक असन्तोष के गठबन्धन के प्रथम निश्चित चिह्न तब प्रकट हुए जब १९०५ में भारतीय कांग्रेस के साथ भारतीय औद्योगिक सम्मेलन का भी प्रारम्भ हुआ। बंग-भंग को समाप्त करने वाले आन्दोलन ने इस गठबन्धन को और भी दृढ कर दिया। "स्वदेशी आन्दोलन तथा विदेशी बहिष्कार एक ही उद्देश्य के दो पहलू थे।"[1] देश-भर मे औद्योगिक उत्साह की एक लहर फैल गई। कपडा, पेन्सिल, चाकू-छुरे, माचिस, शीशा आदि के अनेक कारखाने स्थापित हो गए। किन्तु ये सब धीरे-धीरे समाप्त हो गए। इसका कारण व्यावहारिक और व्यावसायिक शिक्षा का अभाव था, परन्तु सबसे प्रधान कारण यह था कि इनके समाप्तप्राय होने पर भी सरकार ने इनकी ओर आँख उठाकर नही देखा। भारतीय निर्माताओं के हितों की प्रतिकूलता में भी रेलवे की भेदात्मक-दर की नीति वैसी ही रहने दी गई। संरक्षण करों से अबाधित विदेशी प्रतिस्पर्धा वैसी ही बनी रही। परन्तु यह केवल राज्य-निर्बाधता के व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का फल नही था जो सदैव से अफसरो की नीति रही है। विदेशी बहिष्कार ने सरकार को विरोधी बनाने मे सहायता दी। चाहे जिन कारणो से हो, असफलता ने इस बात को साफ कर दिया कि इस देश के औद्योगिक विकास मे व्यवस्थित और दृढ सरकारी सहायता की अत्यन्त आवश्यकता है। कम-से-कम प्रारम्भिक अवस्था मे तो वह आवश्यक है ही। इस प्रकार १९१४-१८ के युद्ध के पूर्व भारतीय उद्योग अत्यन्त अविकसित अवस्था में था। कुल मिलाकर व्यवस्थित उद्योगो मे केवल पश्चिमी भारत की कपड़े की मिले, बंगाल की जूट मिले, बिहार, बंगाल और उड़ीसा की कोयले की खानें थीं। यहाँ १९०७ में स्थापित (१९१२ में चालू) टाटा आयरन और स्टील कम्पनी को विशेष रूप से ध्यान मे रखना होगा, क्योंकि यह औद्योगिक प्रगति मे भारतीय साहसोद्यम का महत्त्वपूर्ण कदम है। कपास ओटने और दबाने के कारखाने, जूट दबाने के कारखाने, कागज, चावल और चीनी की मिले, पेट्रोल साफ करने, चमड़े इत्यादि के कारखाने भी खुले, किन्तु ये बहुत महत्त्वपूर्ण नही; इनका उल्लेख-मात्र ही पर्याप्त है।

२. औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में सरकारी नीति का सर्वेक्षण[2]—यहाँ हम रुक-कर औद्योगिक नीति का संक्षेप मे पुनरवालोकन कर लेना ठीक समझते है। हम पहले ही देख चुके हैं कि किस प्रकार वाणिज्य-भावना से प्रेरित ईस्ट इण्डिया कम्पनी पहले उन उद्योगों पर जोर देती थी जिस पर उसका निर्यात-व्यापार निर्भर था। किन्तु

---

१. देखिए, मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, पैरा ३३५।

२. विषय की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए, ए० जी० क्लो, 'द स्टेट एण्ड इन्डस्ट्री', अ० १-३; 'स्टेट एक्शन इन रिस्पेक्ट ऑफ इन्डस्ट्रीज', १९२८-३५, बुचानन; द डिवेलपमेंट ऑफ कैपिटलिस्ट एटरप्राईज इन इन्डिया, पृ० ४६०-७५; और जी० ई० हबर्ड, ईस्टर्न इन्डस्ट्रियलाइजेशन एन्ड इट्स एफेक्ट ऑन द वेस्ट, पृ० २६०-५।

इंगलैण्ड के पूँजीपतियों के प्रभाव के कारण इस नीति का परित्याग करना पड़ा और भारत को इंगलैण्ड के निर्माण-उद्योगों के विकास के लिए कच्चा माल देने वाले देश के रूप में देखा जाने लगा।

जब कम्पनी एक व्यापारी संस्था न रही तब भी औपनिवेशिक नीति की विरासत के रूप में मिला यह दृष्टिकोण कुछ दिन तक जीवित रहा। १८५८ में कम्पनी के समाप्त होने और सम्राट् द्वारा भारत का शासन सँभाल लेने पर भी यह दृष्टिकोण नही बदला। जो विचारधारा पहले स्वार्थ से प्रेरित होकर चल रही थी उसे अब इंगलैण्ड और भारत में राज्य-निर्बाधता (Laissez faire) के सिद्धान्तों से बल मिला। यद्यपि कभी-कभी औद्योगिक विकास में सरकार की रुचि के दर्शन होते थे किन्तु उसका रूप बड़ा ही अव्यवस्थित और आवश्यकताओं को देखते हुए अत्यन्त ही अपूर्ण और हास्यास्पद था। बहुत दिन तक तो वाणिज्यिक और औद्योगिक ज्ञान के एकत्रीकरण और वितरण तथा अत्यन्त अधूरी प्राविधिक और औद्योगिक शिक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया जा सका। कुछ औद्योगिक प्रदर्शनियाँ की जाती थीं और भारतीय उद्योगों पर राज्यों द्वारा थोड़े से लेख (मोनोग्राफ) प्रकाशित कर दिए जाते थे; परन्तु सरकार की ओर से जो कुछ कार्यवाही की गई, वह सरकार द्वारा सुविचारित किसी विस्तृत योजना का परिणाम न होकर कुछ उद्योगी और उत्साही सरकारी अफसरों के व्यक्तिगत परिश्रम का ही परिणाम थी। सरकारी नीति में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा था और उसके प्रथम चिह्न लार्ड कर्जन के संकेत पर सन् १९०५ में स्थापित वाणिज्य और उद्योग के राजकीय विभाग के रूप में प्रकट हुए। इसी बीच कुछ राज्यीय सरकारों जैसे उत्तरप्रदेश तथा मद्रास ने औद्योगिक नीति के कार्य-क्रम प्रारम्भ कर दिए थे जो सरकार के घनिष्ठ सहयोग, सहायता और नेतृत्व की अपेक्षा रखते थे। उदाहरण के लिए अल्यूमीनियम उद्योग में किये गए सफल प्रयोगों से उत्साहित होकर मद्रास सरकार औद्योगिक विकास में अधिकाधिक सक्रिय भाग लेने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि हाथ की बुनाई और चमड़ा बनाने की क्रूम पद्धति को काफी प्रेरणा मिली। प्राविधिक और औद्योगिक शिक्षा के निरीक्षण और प्रोत्साहन के लिए एक अलग अधिकारी की नियुक्ति हुई। इन सब प्रयत्नों का इंगलैण्ड में पहले भी विरोध हो चुका था किन्तु १९१० के लार्ड मॉर्ले के आज्ञापत्र से काफी रुकावट पैदा हो गई। लार्ड मार्ले उस समय राज-सचिव (सेक्रेटरी ऑव स्टेट) थे और राज्य-निर्बाधता (Laissez faire) के सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक होने के कारण, सरकार द्वारा उद्योगों को दिया गया प्रत्यक्ष प्रोत्साहन—चाहे वह प्रदर्शन और प्रयोग के रूप में ही क्यों न हो—उन्हें असह्य था। 'उनकी नीति के अनुसार सरकारी धन जनता को विज्ञान तथा यूरोपीय देशों के अनुभव द्वारा प्राप्त पद्धतियों की शिक्षा देने में व्यय किया जा सकता है, किन्तु सरकार इससे आगे नहीं जा सकती और न उसे जाना ही चाहिए। यह सिद्ध करने का भार कि इन आधुनिक तरीकों से व्यावसायिक लाभ हो सकता है व्यक्तिगत साहस पर छोड़ देना

चाहिए।'[1] इससे मद्रास सरकार का उत्साह ठण्डा पड़ गया। बाद में मद्रास सरकार इन निर्देशो से और आगे बढ़ गई और अनावश्यक रूप से अपने कदम वापिस ले लिए।[2] लार्ड मार्ले के स्थानापन्न लार्ड क्रिय़ू Crewe ने बताया कि मद्रास सरकार ने अपना ध्यान केवल औद्योगिक स्कूलो तक केन्द्रित करके मार्ले के आज्ञा पत्र (१६१०) का सकुचित अर्थ लगाया।

नये राज-सचिव का विचार अधिक साहसपूर्ण नीति का अनुसरण करने का था किन्तु अब भारत सरकार के डरने की बारी आई। वह इस बात से आशकित हो उठी कि प्रदर्शन-यन्त्रों (Plants), आर्थिक सहायता तथा उद्योगो को. अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष रूप से सहायता देने के प्रस्तावों को स्वीकार करना कहाँ तक उचित होगा। इस काम में आवश्यक संगठन और साधनों के अभाव के कारण भी बाधा पहुँची, जिसके कारण, उनके कथनानुसार, मार्ले की अति सतर्क नीति का अनुसरण भी असम्भव हो गया। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि आवश्यक संगठन और साधनों का निर्माण करना चाहिए था, परन्तु सच बात तो यह है कि स्वदेशी आन्दोलन से उत्पन्न उत्साह को भी सरकार भारतीय उद्योगों के विकास और पुनरुद्धार मे न लगा सकी। स्वदेशी आन्दोलन रचनात्मक दृष्टिकोण से एक स्वस्थ आन्दोलन था, परन्तु कई कारणों से वह असफल रहा। इन कारणों में से एक प्रधान कारण सरकारी सहयोग का अभाव भी था।

३. १६१४–१८ के युद्ध-काल में औद्योगिक विकास—इसी तरह काम चल रहा था कि युद्ध की विभीषिका ने लोगों की आँखें खोल दी और उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि जीवन की आवश्यक वस्तुओं के लिए बाह्य पूर्ति पर निर्भर रहना कितना भयानक है। शत्रुता होने के कारण शत्रु देशों से तो सामग्री का आयात बन्द ही हो गया, साथ ही मित्र राष्ट्रों के भी युद्ध में लीन होने के कारण वहाँ से भी आयात कम हो गया। इस प्रकार भारत के उद्योग-विकास को सुनहरा अवसर मिला। किन्तु विदेशी प्रतिद्वन्द्वियों के हट जाने से जो अवसर मिला उसका न तो सरकार और न जनता ही पूरा फायदा उठाने के लिए प्रस्तुत थी। अतएव अफसोस के साथ उन्होंने देखा कि जापान और अमेरिका ने इस अवसर का पूरा उपयोग किया और युद्धकाल में उनकी सामग्रियों का भारत में आयात खूब बढ़ा। औद्योगीकरण के उच्च स्तर पर पहुँचने के कारण इन देशों ने भारत के बाजारों में अपना स्थान दृढ कर लिया। भारत उस समय अनेक बाधाओं का सामना कर रहा था जैसे आवश्यक यन्त्रादि और सामग्री का अभाव, जिनकी उत्पत्ति वह स्वयं नहीं कर पाता था। इसके अतिरिक्त प्राविधिक (टेक्निकल) विशेषज्ञों, कुशल श्रमिकों, रेल के डिब्बों, जहाजों, कोयले तथा कोकिंग प्लान्ट का भी

१. देखिए, इण्डस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, पैरा १०८।

२. १६१० के मार्ले के निर्णय के घातक प्रभाव जताने वाली औद्योगिक आयोग की बहुमत-रिपोर्ट से मदनमोहन मालवीय जी का मतभेद था। उन्होंने बताया कि यद्यपि मार्ले सरकार द्वारा प्रवन्धित उद्योग के विपक्ष में था किन्तु वह प्राविधिक तथा औद्योगिक पाठशालाओं के लिए धन देने के पक्ष में था, लेकिन सरकार इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य न कर सकी। देखिए, इण्डस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, विमति टिप्पणी (मिनट ऑव डिसेन्ट), पृ० ३१३-१४।

अभाव था।[१]

१९१४–१८ की लड़ाई में सैनिक महत्त्व के कारण देश के आर्थिक साधनों को विकसित करने की आवश्यकता प्रकाश में आई। यह अनुभव किया गया कि यद्यपि पूर्वी युद्ध-क्षेत्रों में भारत की सेवाएँ सराहनीय रहीं किन्तु यदि देश औद्योगिक विकास से युक्त होता तो और महत्त्वपूर्ण सहायता पहुँचा सकता था। "आजकल उद्योग-विकसिक देशों द्वारा उत्पन्न सामग्री यदि मात्रा में नहीं तो प्रकार में युद्ध-सामग्री की सूची से इतनी मिलती-जुलती है कि भारत का औद्योगिक विकास एक सैनिक आवश्यकता हो गई है।"[२] इन सब पहलुओं पर ध्यान रखकर, भारत के औद्योगिक विकास के परीक्षण के लिए मई १९१६ में औद्योगिक आयोग की नियुक्ति हुई। इसका काम इस बात की भी जाँच करना था कि किस प्रकार भारत की पूँजी को उद्योग और वाणिज्य के नये कार्यों में लाभपूर्वक लगाया जा सकता है और किस हद तक सरकार उनका प्रोत्साहन और संचालन कर सकती है। इस आयोग की रिपोर्ट (१९१८) ने देश को आत्म-निर्भर बनाने के लिए उद्योगों को विकसित करने में सक्रिय सरकारी सहायता पर ज़ोर दिया। इस उद्देश्य को दृष्टिगत करके यह आवश्यक समझा गया कि सरकार के पास समुचित प्रशासकीय यन्त्र हो और वैज्ञानिक तथा प्राविधिक विषयों पर परामर्श देने के लिए विशेषज्ञ हों। उनकी एक खास सिफारिश प्रान्तीय उद्योग-परिषदों की स्थापना तथा औद्योगिक और रासायनिक सेवाओं को प्रारम्भ करने के लिए थी।

४. भारतीय युद्ध-सामग्री बोर्ड (इण्डियन म्यूनीशन्स बोर्ड)—इसी बीच फरवरी सन् १९१७ में भारत-सरकार ने भारतीय युद्ध-सामग्री बोर्ड की स्थापना की। इसका उद्देश्य "युद्ध की आवश्यकताओं को विशेष रूप से ध्यान में रखकर भारत के उद्योगों का विकास करना था। इसका कार्य भारत में उन वस्तुओं की माँग को घटाना और सामंजित करना था जिनका उत्पादन और निर्माण यहाँ न होता था ताकि माल बाहर भेजने के लिए जहाजों के भार को कम किया जा सके।" यद्यपि बोर्ड को युद्ध के संचालन की सामग्री पर ही अधिक ध्यान देना था किन्तु अपनी परिधि के अन्दर यह देशी उद्योगों को कई प्रकार से प्रोत्साहित कर सका, जैसे (१) भारत में बनी हुई चीज़ें और सामग्री का प्रत्यक्ष क्रय। (२) इंगलिस्तान तथा अन्य देशों की मांगों को प्राथमिक पद्धति तथा नियन्त्रण के अनुसार भारत में उत्पादित सामग्री की ओर प्रेरित करना (मोड़ना)। (३) उन व्यक्तियों और फर्मों को, जो विदेशों से उत्पादन की मशीनें मँगाना चाहते थे या प्राविधिक (टेक्निकल) विशेषज्ञों की सहायता चाहते थे, प्रोत्साहित करना। (४) जो लोग भारत में नये उद्योगों को चलाना चाहते थे उनके ज्ञान और विशेषज्ञों की सलाहें दिलवाना। इस प्रकार अनेक उद्योगों को प्रेरणा मिली। उदाहरण के लिए कपड़ा, जूट, लोहा, इस्पात, चमड़ा, इन्जीनियरिंग, रसायनिक पदार्थ, खनिज तेजाब, तेल, शीशा, सीमेण्ट, कृत्रिम खाद, रंग, वार्निश,

---

१. देखिए, इण्डियन म्यूनीशन्स बोर्ड इण्डस्ट्रियल हेण्डबुक, पृ० १६।
२. देखिए, माण्टेगू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, पैरा ३३७।

आपरेशन के औज़ार, छुरे, चाकू इत्यादि। माल मँगाने के सम्बन्ध में एक विशेष पद्धति (होम इन्डेन्ट्स) और प्राथमिकता पद्धति का अनुसरण एक प्रकार से—थोड़े दिन के लिए ही सही—भारतीय सरकार द्वारा स्वदेशी के सिद्धान्तों को मान लेने के बराबर था। राज्य निर्बाधता के व्यक्तिवादी सिद्धान्त से अलग होने वाले इन प्रयोगों से साफ जाहिर होता है कि सरकार चाहे तो भारतीय उद्योगों के विकास के क्षेत्र में पर्याप्त काम कर सकती है। उद्योग आयोग की सिफारिशों के अनुसार विभिन्न राज्यों में औद्योगिक विभाग स्थापित किये गए तथा युद्ध-सामग्री बोर्ड की राजकीय (इम्पीरियल) उद्योग और वणिज्य-विभाग में विलयन कर दिया गया। एक केमिकल सर्विसिज़ कमेटी की भी नियुक्ति हुई। अखिल भारतीय केमिकल सर्विसिज़ का विचार छोड़ दिया गया और राज्यों को भारत सरकार अधिनियम १९१९ के अनुसार अपनी जिम्मेवारी पर विकास-कार्य करने की स्वतन्त्रता दी गई। किन्तु यह कहना पड़ता है कि औद्योगिक आयोग द्वारा बनाई गई योजना, जिसे केन्द्रीय सरकार ने प्रारम्भ किया, माण्टेग्यू चेमस्फर्ड सुधार के प्रान्तीय स्वायत्त शासन के बीच ठीक से नहीं जम सकी।[1]

५. (१९१४-१८) युद्धोत्तर औद्योगिक अभिवृद्धि—लड़ाई खतम होने पर चारों ओर थोड़े दिन के लिए औद्योगिक क्रियाशीलता दिखाई पड़ी। कारण यह था कि लोगों को आशा थी कि जिन उद्योगों की माँगें लड़ाई के कारण पूरी न हो सकीं वहाँ पर्याप्त क्षेत्र मिलेगा, और वे सोचते थे कि लड़ाई के जमाने में होने वाला लाभ और मुद्रा-प्रसार इसी प्रकार चलता रहेगा। भारतवर्ष में कुछ समय तक निर्माण तथा निर्यात करने वाले जूट, कपास, सीमेण्ट, लोहा, इस्पात, मैंगनीज, तेल, चमड़ा इत्यादि उद्योग बहुत समृद्ध रहे। युद्ध-काल में नये यन्त्र (प्लांट), मशीनरी और प्राविधिक विशेषज्ञों के आयात के अभाव के कारण नई कम्पनियों का निर्माण सम्भव न हो सका। किन्तु इसके बाद खासकर १९२०-२१ में कम्पनियाँ बनाने का भूत सवार हो गया। बड़े ऊँचे-ऊँचे लाभांश घोषित किये गए और औद्योगिक प्रतिभूतियों (सीक्योरीटीज़) के मूल्य अत्यधिक बढ़ गए।[2] भारत सरकार की मुद्रा-नीति, जिसने रुपये की विनिमय-दर में भारी परिवर्तन किये, अभिवृद्धि एवं अवसाद दोनों स्थितियों को चिन्ताजनक बनाने में काफी सहायक रही।

६. व्यापारिक अवसाद (मंदी)—यद्यपि विभिन्न उद्योगों में अभिवृद्धि की अवधि में थोड़ा-बहुत अन्तर था परन्तु यह अल्पकालिक ही थी। १९२० के बीच में निश्चयपूर्वक रुख बदल गया और अवसाद (मंदी) की दीर्घ अवधि प्रारम्भ हुई। भारत में अन्य देशों की भाँति व्यापार-चक्र के सभी लक्षण दिखाई पड़े। युद्धजनित शिथिलता और मुद्रा की अपस्फीति के परिणामस्वरूप स्थायी माँग और ऊँची कीमतों की आशा पर पानी फिर गया। इसके अलावा १९२०-२१ में रुपये के विनिमय-मूल्य में भारी कमी

---

१. देखिए, क्लो, पूर्व उद्धृत, अध्याय ३।

२. देखिए, टेक्सटाइल टेरिफ बोर्ड रिपोर्ट, टेबल VIII; और बाम्बे स्टॉक एक्सचेंज इनक्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पृ० ५१।

होने के कारण आयात करने वालों को धक्का पहुँचा और निर्यात करने वालों ने विनिमय-दर के ऊँची रहने के पूरे प्रभाव का अनुभव किया। अभिवृद्धि काल में पुराने उद्योगों के प्रसार तथा नये उद्योगों की स्थापना का प्रभाव बाज़ार पर पड़ने लगा और मन्दी की हालत और भी खराब होने लगी। कितनी ही कम्पनियों और फर्मो का अवसायन (लिक्विडेशन) हो गया। जो बची उनके लिए भी कोई उज्ज्वल भविष्य नहीं दिखाई पड़ा। १९२४ में रुपये के विनिमय-मूल्य में जो वृद्धि हुई उससे मन्दी की अवधि और बढ़ गई। साथ ही इसने विदेशी प्रतिद्वन्द्विता मुद्रा को और भी घनीभूत कर दिया क्योंकि अन्य देशों के मुद्रा-अवमूल्यन ने प्रतिद्वन्द्विता को उनके (विदेशियों के) पक्ष में कर दिया था। अतएव टेरिफ बोड (देखिए, नीचे सेक्शन ८) को लोहे और इस्पात तथा कपड़े के उद्योग की सुरक्षा के लिए सिफारिशें करते समय मजबूर हो इन बाधाओं को ध्यान में रखना पड़ा। समय बदलने के साथ ही इन उद्योगों को बड़ी हानि होती या इन्हें परिदत्त पूँजी (पेड-अप केपीटल) पर ४·६% (१९२३) तथा २·२% (१९२५ और २६) के लाभांश से सन्तोष करना पड़ता। इन परिस्थितियों में स्टाक एक्सचेंज काफी अस्थिर हो उठा और मन्दी की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई देने लगीं। न्यूयार्क संकट (१९२९) और मूल्यों की संसार-व्यापी भारी कमी ने समस्या को और विकट बना दिया। कृषि-प्रधान भारत को ब्रिटेन जैसे औद्योगिक देशों की अपेक्षा अधिक हानि उठानी पड़ी।[1] कृषि-उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में भारी कमी ने कृषकों की क्रय-शक्ति को घटाकर भारतीय उद्योगों के लाभों को बुरी तरह प्रभावित किया। विदेशों की कृषि-मन्दी ने वहाँ भारत के जूट की माँग कम कर दी। इसके अतिरिक्त औद्योगिक देशों की मन्दी तथा उनमें से कुछ द्वारा किये गए मुद्रा के अवमूल्यन ने भारतीय बाजारों में विदेशी प्रतिस्पर्धा घनी-भूत करके औद्योगिक वस्तुओं के मूल्यों की कमी को और बुरी तरह प्रभावित किया।

७. औद्योगिक समुत्थान व पश्चायन (रिसेशन)—विभिन्न देशों—विशेषकर स्टर्लिंग समूह के देशों में जिन्होंने महान् मंदी का सामना किया था—के समान ही भारत में सन् १९३२ में उद्योगों की अवस्था में समुत्थान के प्रथम चिह्न निश्चित रूप से दिखाई पड़े। कोयले को छोड़कर प्रायः सभी उद्योगों का उत्पादन बढ़ा। सबसे अधिक वृद्धि चीनी उद्योग में हुई और १९२९-३० से १९३६-३७ में उत्पादन तिगुना हो गया। दूसरे नम्बर पर कपड़े के उत्पादन में वृद्धि हुई जिसका उत्पादन इसी अवधि में दुगना हो गया। सीमेन्ट, जूट, लोहा इस्पात तथा कागज आदि में भी काफी वृद्धि हुई।[2] कृषकों की क्रय-शक्ति घटने के बावजूद उद्योगों में इस प्रकार की वृद्धि के कई कारण कहे जाते हैं। इसका मुख्य कारण तो भारत की चीनी, कपड़ा लोहा आदि उद्योगों के प्रति संरक्षण की नीति तथा सस्ती उत्पादन मशीनों के आयात से मिला हुआ प्रोत्साहन है। सितम्बर १९३१ के बाद बड़ी मात्रा में सोना बाहर भेजने से पूँजी की वृद्धि हुई। इस प्रकार बड़ी

१. विश्व आर्थिक अवसाद के कारणों तथा भारत पर उसके प्रभाव के लिए खण्ड २, अध्याय ९ और १० देखिए।

२. विशेष विवरण के लिए खण्ड २, अध्याय २ देखिए।

संख्या में कम्पनियों का निर्माण सम्भव हुआ।[1] अन्त में कांग्रेस द्वारा प्रेरित स्वदेशी आन्दोलन ने भी उद्योगों के विकास में पर्याप्त सहायता पहुँचाई।

१९३७-३८ में एकाएक अभिवृद्धि से अवसाद की ओर झुकाव हुआ। इसे साधारणतः पश्चायन (रिसेशन) कहा जाता है। साल के प्रारम्भ में हिस्सों के बाजार और विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में बड़ी क्रियाशीलता थी। व्यापारियों में आशा और विश्वास का संचार था जिससे व्यापारिक चक्र के परिचित लक्षण—सट्टा और अधिव्यापार (ओवर ट्रेडिंग)—उत्पन्न हो गए। १९३७ के प्रारम्भिक महीनों में कृषि-वस्तुओं के पुनः मूल्य बढ़ने तथा दुनिया के कृषि-उत्पाद के व्यापार में वृद्धि के परिणाम-स्वरूप किसानों की आय बढ़ने लगी।[2] किसानों की क्रय-शक्ति बढ़ जाने से उद्योगों की सामग्री की माँग भी बढ़ी और उनकी अवस्था पहले की अपेक्षा सुधरने लगी। १९३७-३८ के पूर्वार्द्ध में उत्पादन में और वृद्धि हुई। चीनी का उत्पादन सबसे अधिक बढ़ा। कपड़े तथा लोहे के उत्पादन ने नया रिकार्ड स्थापित किया। कोयले का भी उत्पादन बढ़ा। काम के घण्टों के समझौते के टूटने के पश्चात् जूट की उत्पत्ति में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। लेकिन हवा का रुख १९३७-३८ में फिर बदला और प्राथमिक वस्तुओं तथा हिस्सों के मूल्य में भारी कमी हुई। कुछ दिन तक यह अधोगामी प्रवृत्ति चलती रही, किन्तु अक्तूबर १९३७ के बाद जब अमेरिका पश्चायन मे और बढ़ गया तो भारतीय उद्योगों का प्रतिरोध टूट गया और वे मन्दी के शिकार हुए। संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन में जब दशा-सुधार के चिन्ह दिखाई पड़ने लगे तब जून १९३८ में उद्योगों के लाभ और प्रतिभूतियों के मूल्य में थोड़ी-सी वृद्धि दिखाई पड़ने लगी। लेकिन इसे कायम नही रखा जा सका, क्योंकि दुनिया के सभी भागों में मन्दी का बोलबाला था। इसीसे युद्ध प्रारम्भ होने के पहले आठ महीनों में दिखाई पड़ने वाली समृद्धि को भी धक्का पहुँचा। लोहे और इस्पात को छोड़कर जिनका कि उत्पादन बराबर चल रहा था, प्रायः सभी उद्योगों में एक प्रकार की निराशा और उदासी छायी रहती थी।

८. संरक्षणात्मक प्रशुल्क का सूत्रपात, आदि—१९१४-१८ में भारतीय उद्योगों को जो प्रोत्साहन मिला था वह निश्चय ही अस्थायी था और नवम्बर १९१८ में जब अल्पकालिक सन्धि हुई तो युद्ध-सामग्री का खरीदना बन्द हो गया तथा अन्य देशों से पूर्ववत् व्यापार सम्बन्ध स्थापित हो गए तब यह प्रोत्साहन समाप्त हो गया। युद्धजनित कठिनाइयों के कारण आय के लिए आयात-कर अवश्य बढ़ा दिये गए थे फिर भी संरक्षण प्रशुल्कों की दीवाल की ओट न होने के कारण भारतीय उद्योगों को फिर बाहरी प्रतिद्वन्द्विता का धक्का सहना पड़ा। इन परिस्थितियों में प्रशुल्क नीति को फिर से बदलने की माँग जोर पकड़ने लगी। जन-साधारण की इच्छाओं के बावजूद भी उद्योग-आयोग के विचाराधीन विषयों में प्रशुल्क नीति को नही रखा गया। कारण यह बताया गया कि उस अवसर पर भारत सरकार की आर्थिक नीति को बदलने के सम्बन्ध में कोई प्रश्न उठाना बुद्धिमानी नही थी। मांटेग्यू चेम्सफर्ड रिपोर्ट ने बताया कि सैद्धान्तिक रूप से भारत में

१. देखिए, खण्ड २, अध्याय ९, सेक्शन २२।
२. देखिए, खण्ड २, अध्याय ६, सेक्शन ८।

स्वतन्त्र व्यापारी (फ्री ट्रेडर) का कोई अस्तित्व न होने के कारण सचाई और न्याय की दृष्टि से भारतीयों को अपनी प्रशुल्क नीति के निर्धारण की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए और सरकार को अपनी स्वतन्त्र-व्यापार-नीति को उनके ऊपर लादने का कोई हक नहीं है। इससे संरक्षणवादियों को पर्याप्त बल और सुदृढ़ आधार प्राप्त हो गया। कुछ इसी प्रकार की सिफारिश भारत सरकार कानून १६१६ की 'संयुक्त-प्रवर-समिति' (ज्वाइन्ट सिलेक्ट कमिटी) ने की जब उन्होंने कहा कि आर्थिक स्वतन्त्रता की परिपाटी स्थापित की जानी चाहिए। ब्रिटिश संसद ने इसे स्वीकार कर लिया। साम्राज्य में उत्पन्न वस्तुओं को प्राथमिकता देने के आधार पर अन्तर-साम्राज्यीय कर-सम्बन्धों को नियमित करने की नीति ने अन्य देशों के साथ भारत के प्रशुल्क-सम्बन्धों के प्रश्न को फिर से खड़ा कर दिया। साम्राज्य-अधिमान (इम्पीरियल प्रिफरेन्स) तथा भविष्य में भारत की राजस्व-नीति पर रिपोर्ट देने के लिए भारत सरकार ने जो साम्राज्यिक विधान परिषद् फरवरी १६२० में स्थापित की उसने दूसरे प्रश्न पर निश्चित सिफारिशें करने की अक्षमता प्रकट की और इसकी जाँच के लिए एक अलग आयोग की नियुक्ति का सुझाव पेश किया। इसके फलस्वरूप १६२१ में अर्थ-आयोग (फिस्कल कमीशन) की नियुक्ति हुई। सन् १६२३ में भारत सरकार ने विवेचनात्मक संरक्षण की नीति को स्वीकार कर लिया जिसके कार्यान्वित करने का भार टैरिफ बोर्ड पर था। इस नीति के अनुसरण में विभिन्न उद्योगों द्वारा संरक्षण की माँग की जाँच करने के लिए प्रशुल्क-मण्डल की नियुक्ति हुई। इसकी सिफारिशों पर लोहा, इस्पात, कपड़ा, कागज, माचिस, चीनी इत्यादि उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया गया।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकारी उदासीनता की नीति, जो अब तक भारतीय उद्योगों के विकास में बड़ी चट्टान के समान देश की आर्थिक भावनाओं को रोके खड़ी थी, क्रमशः टूट गई तथा राज्य-निर्बाधता और स्वतन्त्र व्यापार के थोथे सिद्धान्तों को दुहराने के बजाय सरकार ने देश के उद्योगों के बढ़ाने के लिए सक्रिय प्रयत्न करना प्रारम्भ किया।[2] सरकार की आर्थिक नीति के इस परिवर्तन ने १६३६ में युद्ध प्रारम्भ होने के साथ और जोर पकड़ा (देखिए नीचे सेक्शन १०-१४)। कुछ लोगों के अनुसार सरकार को और अधिक उत्साह से काम करना चाहिए था ताकि देश का उद्योगीकरण शीघ्र हो जाता।[3] राज्य के समुचित पथ-प्रदर्शन और सहायता द्वारा अपेक्षाकृत थोड़े समय में देश का उद्योगीकरण किया जा सकता है। हम कालवर्ट की इस राय से सहमत नहीं कि "यूरोप के छः शताब्दियों में हुए औद्योगिक विकास के इतिहास को सरकारी सहायता से थोड़े समय में प्राप्त करने की चेष्टा से निराशा और असफलता के अतिरिक्त और कुछ हाथ न लगेगा।"[4] उन्नीसवीं शताब्दी में शीघ्रतापूर्वक किये गए जर्मनी और जापान के

१. देखिए, खण्ड २, अध्याय २।

२. केन्द्रीय एवम् प्रान्तीय सरकारों द्वारा बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास के लिए अपनाये गए विभिन्न प्रयत्नों के लिए देखिए खण्ड २, अध्याय १ और २।

३. देखिए, वी० के० आर० वी० राव, 'व्हट इज़ रांग विद इण्डियन इकनामिक लाइफ ?' पृ० ८३-६४।

४. वेल्थ एण्ड वेलफेअर ऑफ पंजाब, पृ० १७६।

औद्योगिक विकास इस कथन का खोखलापन सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। इसी प्रकार का तर्क राजनीति के क्षेत्र में भी दिया जाता था कि जिस वैधानिक विकास में इंगलैण्ड को एक हजार वर्ष लगे उसे भारत एक या दो पीढ़ियों में नहीं प्राप्त कर सकता। निस्सन्देह एक देश दूसरे देशों के अनुभव से लाभ उठा सकता है और इससे औद्योगिक एवम् राजनीतिक विकास की अवधि अवश्य कम हो जानी चाहिए।

९. भारत के औद्योगिक आयोजन के लिए कांग्रेस का प्रस्ताव—भारत के औद्योगिक विकास के इतिहास मे कांग्रेस का औद्योगिक आयोजन का प्रस्ताव एक महत्त्वपूर्ण कदम था। लगभग दो दशकों तक कांग्रेस कुटीर उद्योगों के पुनरुद्धार और प्रोत्साहन की नीति का अनुसरण करती रही और बड़े यन्त्रों के उपयोग से देश के उद्योगों के विकास का विरोध करती रही। इसका महत्त्वपूर्ण रचनात्मक योगदान सूत कातने वालों की अखिल भारतीय संस्था और अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संस्था की स्थापना था। किन्तु कांग्रेस के भूतपूर्व सभापति श्री एस० सी० बोस और मद्रास सरकार के भूतपूर्व मन्त्री श्री वी० वी० गिरि जिनके प्रयत्नों के फलस्वरूप दिल्ली में सन् १९३८ में 'कांग्रेस' प्रान्तों के उद्योग-मन्त्रियों का एक सम्मेलन किया गया, के योग्य नेतृत्व के कारण उपर्युक्त नीति में परिवर्तन किया गया। सम्मेलन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि उद्योगीकरण के बिना देश की बेकारी, गरीबी, राष्ट्रीय सुरक्षा और साधारण रूप से देश का आर्थिक उद्धार सम्भव न होगा। जो राष्ट्र का समुदाय उद्योगीकरण का विरोधी होगा उसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में जीवित रहने का अवसर न मिलेगा।

अतएव उद्योगीकरण के प्रथम चरण के रूप में सम्मेलन ने एक विस्तृत, राष्ट्रीय आयोजन का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। योजना में राष्ट्रीय महत्त्व के आधारोद्योगों, जैसे मशीनों के बनाने का काम, इंजिनों का निर्माण, विद्युत यन्त्र और भारी रासायनिकों की उत्पत्ति आदि को स्थापित करने की अनिवार्य आवश्यकता पर बल दिया गया। प्रारम्भिक कार्य के लिए पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आयोजन समिति की नियुक्ति हुई। औपचारिक रूप से दिसम्बर १९३८ में बम्बई में कमेटी बनी जिसने तुरन्त ही देश के तमाम आर्थिक जीवन से सम्बन्धित बड़े और मध्यम पैमाने के उद्योग, कुटीर उद्योग, कृषि, यातायात तथा व्यापार आदि के सम्बन्ध में एक विस्तृत प्रश्नावली जारी की। बाद में विभिन्न विषयों के लिए २९ उप-समितियाँ बनाई गई; तदन्तर उनमें जनगणना और सांख्यिकी तथा प्रचार की दो और समितियाँ जोड़ी गईं। लगभग बीस समितियों ने राष्ट्रीय आयोजन समिति को अपनी रिपोर्ट दी और उनके आधार पर इसने अपने मोटे-मोटे निष्कर्ष प्रकाशित किये। योजना समिति ने प्रयोगात्मक रूप से प्राप्ति के स्तर और अवधि को इस प्रकार से नियोजित करने का प्रयत्न किया कि ५ से १० साल के बीच में न केवल जीवन की आवश्यकताओं वरन् सभ्य जीवन की सुविधाओं का स्तर भी दूना हो जाय।

१९३९ में युद्ध प्रारम्भ होने के कारण परिस्थितियों के परिवर्तन और प्रान्तों से कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के पद-त्याग से योजना के कार्य में रुकावट पहुँची। यह ५ वर्षों के मौन के उपरान्त फिर सितम्बर १९४५ में अपना कार्य प्रारम्भ कर सकी। आँकड़ों

की अपूर्णता तथा धन के अभाव में आयोजन समिति के कार्य में बाधा पहुँची। परिणामतः इसके निष्कर्ष बड़े ही उलझे हुए और साधारणीकृत थे जिनकी व्यावहारिक उपयोगिता बहुत कम थी। अन्य गैर-सरकारी योजनाओं में बम्बई योजना है जिसका विवरण इस पुस्तक के द्वितीय खण्ड सेक्शन १५ में दिया गया है। विभिन्न प्रान्तों तथा कुछ बड़ी रियासतों ने भी अपने युद्धोत्तर पुनर्निर्माण की योजनाएँ बनाई।

१०. (द्वितीय) युद्धकालीन एवं युद्धोत्तर औद्योगिक विकास—अब हम संक्षेप में उन कारणों की समीक्षा करेंगे जिन्होंने कुछ हद तक १९३९-४५ में औद्योगिक विकास में सहायता दी। प्रथम, विदेशी आयात के कम होने के कारण देश के बाजारों में भारतीय उत्पादकों के लिए, कम-से-कम कुछ उद्योगों में, अर्द्ध-एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न हो गई। दूसरे, कामनवेल्थ देशों से युद्ध-सामग्री की माँग तथा देश की सुरक्षा की आवश्यकताओं ने देश में औद्योगिक क्रियाशीलता उत्पन्न कर दी और देश के औद्योगिक साधनों का अधिकाधिक उपयोग किया जाने लगा। कामनवेल्थ देशों के पूर्वी समूह के नेता तथा निकट पूर्व में मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं के सहायक के रूप में भारत की स्थिति का अनुमान १९४० में नई दिल्ली में हुए पूर्वी समूह सम्मेलन (ईस्टर्न ग्रुप कान्फ्रेन्स), रोजर मिशन के आगमन तथा भारत में पूर्वी-समूह परिषद् (ईस्टर्न ग्रुप कौंसिल) की स्थापना से लगाया जा सकता है। १९४२ के अप्रैल में आया अमेरिकन प्राविधिक मिशन (अमेरिकन टेक्निकल मिशन) भी इसी प्रकार का महत्त्व रखता है। भारत की सेना को आधुनिक बनाने के सम्बन्ध में चैटफील्ड समिति की सिफारिशों ने भी भारत के औद्योगिक विकास को प्रेरणा दी। इन विकासों की पुष्टि तथ्यों और आँकड़ों से होती है। युद्ध के प्रथम दो वर्षों में समुद्र पार से १६० करोड़ की सामग्री की माँग हुई। पहली लड़ाई में स्थापित युद्ध-सामग्री परिषद् के अनुरूप ही स्थापित किये गए पूर्ति-विभाग (डिपार्टमेण्ट ऑफ सप्लाई) ने पहले और दूसरे वर्षों में क्रमशः ५६ और ७६ करोड़ का आर्डर किया। इन आर्डरों में कपड़े और लोहे से लेकर चमड़े तक की चीजें शामिल थीं। भारत सरकार ने युद्ध सामग्री बनाने वाली फैक्टरियों में विकास की एक विस्तृत योजना कार्यान्वित की। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि युद्ध से सम्बन्धित २०,००० वस्तुएँ देश में उत्पन्न की जाने लगीं। भारत अपनी यौद्धिक आवश्यकताओं का ९०% उत्पन्न करता था तथा हथियार, गोलियाँ, गोले, बन्दूकें, बालू के बोरे, गद्दियाँ, बिजली के तार (केबल), सड़क बनाने वाली मशीनें, बिजली के पंखे जैसी वस्तुएँ बाहर भी भेजता था।

दूसरी अनुकूल परिस्थिति युद्ध-काल में भारत सरकार की औद्योगिक नीति का और अधिक उदार हो जाना था। लोहे के पाइप और ट्यूब उद्योग तथा अल्यूमीनियम जैसे उद्योगों को, जो कि युद्ध-काल में प्रारम्भ किये गए थे, युद्धोत्तर काल में भी बाह्य प्रतिस्पर्धा से सुरक्षित करने का आश्वासन दिया गया। दूसरे, १९४० में भारत सरकार ने वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान की एक परिषद् (बोर्ड) स्थापित की जिसकी आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए, दूसरे वर्ष ही एक अलग औद्योगिक अनुसन्धान-कोष की स्थापना की गई जिसे ५ वर्ष तक १० लाख वार्षिक अनुदान दिया गया

तीसरे, भारत सरकार ने प्राविधिकों (टेक्निशियन) और कुशल श्रमिकों की कमी को दूर करने के लिए सार्जेण्ट कमेटी की सिफारिश के अनुसार युद्ध के प्राविधिकों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया तथा बेविन योजना के अन्तर्गत इंगलिस्तान की फैक्टरियों में भारतीय अप्रेन्टिसों को दी गई सुविधा से भी लाभ उठाया। अन्त में युद्धोत्तर पुनर्निर्माण तथा युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था से शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था की ओर संक्रमण से सम्बन्धित समस्याओं को सुलझाने के लिए बनाई गई समितियों का भी जिक्र कर देना उचित होगा।

११. पुनर्निर्माण समितियों की स्थापना—जून १९४१ में भारत सरकार ने देश के युद्धोत्तर आर्थिक पुनर्निर्माण सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिए 'युद्धोत्तर-पुनर्निर्माण समिति' स्थापित करने की घोषणा की। इस समिति की पहली बैठक २३ जून १९४१ को हुई जिसमें तमाम विभागों के सचिव उपस्थित थे और इसका सभापतित्व वाणिज्य-सदस्य ने किया। इसने पुनर्निर्माण समस्या को सुलझाने के लिए चार उप-समितियाँ स्थापित करने का निश्चय किया। उद्योग, वाणिज्य और व्यापार के सरकारी और गैर-सरकारी सदस्यों से निर्मित ये समितियाँ इस प्रकार थीं—(१) श्रम और सैन्य-भंजन समिति (२) लड़ाई में लिये गए ठेकों को सुलझाने वाली समिति, (३) सार्वजनिक-कार्य-समिति, (४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं कृषि समिति। बाद में, भारतीय विश्वविद्यालयों से लिये गए सदस्यों से एक पाँचवीं समिति बनाई गई। सरकारी पुनर्निर्माण (संयोजन) समिति का उद्देश्य पाँचों समितियों के कार्य को संयोजित करने और उन्हें आवश्यक सामग्री देने का था। संयोजक समिति का कार्य अन्य समितियों से रिपोर्ट लेना और उनके कार्य का पथ-प्रदर्शन करना था। संयोजन-समिति की सिफारिश पर गवर्नर-जनरल-इन-काउन्सिल जैसा उचित समझता वैसा निर्णय करता।

(१) श्रम और सैन्य भंजन समिति—इसके कर्तव्य इस प्रकार हैं : (क) युद्ध से प्रभावित उद्योगों के बढ़ते हुए नियोजन (एम्प्लायमेण्ट) के आकार का सांख्यिकी अनुमान लगाना। इन उद्योगों में हथियार बनाने की फैक्टरियों, कपड़े बनाने की फैक्टरियों, इंजीनियरिंग एवं कपड़े की मिलों को लिया जा सकता है। (ख) कहाँ तक एक उद्योग में लगे हुए श्रमिक दुबारा ट्रेनिंग दिये बिना दूसरे उद्योग में लगाए जा सकते हैं, इस प्रश्न पर विचार करना। फिर से ट्रेनिंग देने के लिए क्या व्यवस्था की जा सकती है और ट्रेनिंग की दिशा क्या होगी; अन्त में किसी सहायता की आवश्यकता होगी या नहीं, यदि होगी तो तनख्वाह और नौकरी की शर्तें क्या होंगी। (ग) सेना के अधिकारियों से सम्पर्क बनाए रखना ताकि युद्ध के समाप्त होने पर श्रम की समस्या और जटिल न हो जाय। (अतएव सेना को रंगरूटों के पहले के पेशों का लेखा रखना होगा।) (घ) इस बात पर विचार करना कि क्या भावी मालिक और नौकर को संयुक्त करने की सुविधाएँ युद्धोत्तर काल के रोजगारी संकट को देखते हुए उचित हैं।

(२) युद्ध के ठेकों को समाप्त करने वाली समिति—इस समिति का कार्य युद्ध-सामग्री के उत्पादन समाप्त होने से आर्थिक ढाँचे को पतन और भ्रष्ट होने से बचाने की व्यवस्था का सुझाव देना और जैसे-जैसे वाणिज्यिक माँग बढ़ती जाय वैसे-वैसे युद्ध-

सामग्री का उत्पादन कम करते जाना तथा बचे स्टॉक को इस प्रकार निकालना कि न तो कीमतों पर बुरा प्रभाव पड़े और न नये उत्पादन की प्रारम्भिक माँगों मे रुकावट ही पड़े ।

(३) सरकारी क्रय-नीति तथा सार्वजनिक कार्य सम्बन्धी समिति—इसका कार्य काम छूटे मजदूरो को फिर से रोजी देने की समस्या पर विचार करना तथा सार्वजनिक कार्य की एक व्यवस्थित नीति का अनुसरण करते हुए जैसे-जैसे युद्ध-सामग्री की माँग कम होती जाय सार्वजनिक कार्यो का प्रसार करना ।

(४) कृषि और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समिति—इसका कार्य विदेश-व्यापार नीति तथा कृषि नीति से सम्बन्धित था ।

१२. अर्थशास्त्रियों की परामर्श समिति—इस पाँचवी समिति का निर्माण भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों के अर्थ-शास्त्रियो द्वारा हुआ । इसका कार्य विभिन्न समितियों से सहयोग करना तथा उपलब्ध सूचना और सामग्री के आधार पर भारत सरकार को युद्धोत्तर पुनर्निर्माण-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने के लिए सुझाव देना था । २४ अक्तूबर, १९४१ को समिति के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए सर ए० मुदालियार ने समिति के समक्ष प्रस्तुत कार्यों की ओर संकेत किया और कहा कि समिति को तुरन्त लागू की जा सकने वाली विभिन्न वैकल्पिक नीतियों का निर्माण करना चाहिए। इनका सम्बन्ध इस प्रकार के प्रश्नो से था : उद्योग और व्यापार के सम्बन्ध में सरकार की युद्धोत्तर नीति क्या होगी ? पूर्व आयोजित रेखाओं पर किस प्रकार उनका विकास सुरक्षित किया जा सकता है ? कहाँ तक भारत आत्म-निर्भर हो सकता है और कहाँ तक ऐसा करना वांछनीय है ? बाद में, मुद्रा, विनिमय और बैंकिग जैसी समस्याओं के हल से भी समिति सम्बन्ध रखती ।

देश के शीघ्र उद्योगीकरण की माँग युद्धकाल मे जोर पकड़ती गई और अन्त मे अनिवार्य हो गई । इसके फलस्वरूप आर्थिक आयोजन के विभिन्न यन्त्र स्थापित हुए । यहाँ पर हम निष्कर्ष रूप में उनका संक्षिप्त विवरण देंगे ।

१९४४ में बम्बई योजना के प्रकाशन ने निस्सन्देह उद्योगीकरण के प्रश्न में सरकार की रुचि उत्पन्न कर दी और इस प्रश्न के हल के लिए ठोस कदम उठाने के लिए मजबूर किया । १९४४ मे एक विशेष विभाग जिसका नाम 'आयोजन और विकास-विभाग' था, बनाया गया । अगस्त सन् १९४४ से इसने कार्य प्रारम्भ किया किन्तु १९-४६ में मध्यकालीन सरकार (इन्टेरिम गवर्नमेंट) के स्थापित होने के पूर्व ही वह बन्द कर दिया गया । इसका विशेष कार्य औद्योगिक आयोजन था । औद्योगिक परामर्शदाता के अधीन एक अलग कार्यालय की स्थापना हुई । २९ विशेष मण्डल (पेनेल) स्थापित किये गए जिनमे से प्रत्येक को एक या अधिक उद्योग सौपे गए । इनका कर्तव्य सम्बन्धित उद्योगों का आयोजन करना और रिपोर्ट देना था । यातायात, व्यापार, डाक, उड्डयन उद्योग, कृषि तथा जहाजो के निर्माण-जैसे विषयों से सम्बन्धित अनेक नीति-समितियाँ भी थीं । इनके सदस्य सरकारी और गैर सरकारी दोनों प्रकार के व्यक्ति थे जो केन्द्र तथा विभिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व करते थे । इनका कार्य साल में दो या एक बैठकों

में किये गए काम का पुनरावलोकन तथा भविष्य के लिए नीति-निर्धारण करना था।

आयोजन और विकास-विभाग के कहने पर विभिन्न राज्यों ने अपनी अलग-अलग पंचवर्षीय योजनाएँ प्रकाशित कीं। लेकिन ये योजनाएँ विभिन्न विभागों द्वारा अपने प्रसार और विकास के लिए बनाये गए कार्यक्रमों के संग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं थीं।

युद्ध की आकस्मिक समाप्ति, फसलों की असफलता से उत्पन्न खाद्य-संकट, एवं बाद की शरणार्थी पुनर्वास-समस्या तथा मुद्रास्फीति इन सबके सम्मिलित प्रभाव ने सरकार को कितनी ही महत्त्वाकांक्षी योजनाओं को छोड़ देने पर बाध्य किया। अतएव केवल ऐसी ही योजनाएँ हाथ में ली गई जो तत्काल लाभ पहुँचा सकें या जो योजनाएँ इतनी आगे बढ़ चुकी थीं कि अब उन्हें रोकना बेकार था और जो थोड़े समय में ही उत्पादन में सहायता देने लगतीं।

इन कठोर आवश्यकताओं के अतिरिक्त और भी कारण हैं जिन्होंने उपर्युक्त आयोजन-यन्त्र से ठोस लाभ न होने दिया जो स्वयं संगठन के दोषों से युक्त था। आयोजन विभाग के दोषों को प्रान्तीय एवम् केन्द्रीय दोनों योजनाओं के संचालन और निरीक्षण (supervision) का अधिकार नहीं दिया गया था। यद्यपि उसके उद्योग-सम्बन्धी कार्यों को पूरी व्याख्या कर दी गई थी किन्तु अन्य क्षेत्रों में इसके कार्य की सीमा-रेखाएं अनिर्दिष्ट और अस्पष्ट थीं। यदि आयोजन से फल की आशा करनी थी तो उसे विस्तृत एवं सुसम्बद्ध बनाना चाहिए था। इतने विभाग और एजेन्सियाँ अपने अलग-अलग ढंग से आपस में बिना किसी सम्बन्ध के काम कर रही थीं कि सारी-की-सारी योजना विश्रृंखल हो गई। वस्तुतः इस अराजकता को योजना का नाम देना ही गलत था, क्योंकि यह आयोजन तो एकदम योजना-हीन थी।

१३. भारतीय उद्योग की बाधाएँ—भारत मशीनों तथा अन्य आवश्यक सामग्रियों के लिए विदेशों का मुँह ताकता है। इनका आयात स्वतन्त्रापूर्वक न हो सकने के कारण ही भारत प्रथम युद्ध में औद्योगिक उन्नति न कर सका। एक ही पीढ़ी में भारत को अपने अपर्याप्त औद्योगिक उपस्कर के सहारे ही दूसरा युद्ध करना पड़ा। भारी रासायनिक उद्योग की कमी भी इस औद्योगिक पिछड़ेपन में सहायक हुई, क्योंकि वे औद्योगिक विकास के लिए अनिवार्य हैं। विशेषज्ञों और प्राविधिकों की कमी, जिसने युद्ध-पूर्ति योजना में काफी रुकावट डाली, औद्योगिक प्रगति को रोकने का एक विशेष कारण है।

इन बाधाओं के बावजूद भी कई उद्योगों ने युद्धजनित अवसरों से विभिन्न मात्रा में लाभ उठाया। इनको दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) नये व पुराने बड़े पैमाने पर संगठित उद्योग, (२) नये व पुराने मध्यम एवं छोटे पैमाने के उद्योग जिनमें कुटीर उद्योग भी शामिल हैं। प्रथम श्रेणी में लोहे, जूट, कपड़े, चमड़े, ऊन, चीनी, कागज और सीमेंट के उद्योग आते हैं।[1] इस समय नये बड़े पैमाने पर चलाये गए

१. चीनी को छोड़कर इन उद्योगों के विशेष विवरण के लिए देखिए, खण्ड २, अध्याय २; चीनी के लिए देखिए ऊपर अध्याय ६।

अल्यूमीनियम और भारी रसायन उद्योग, इन्जीनियरिंग की नवीन शाखाएँ जिनमें मशीन, औजार, वायुयान तथा जलयान के उद्योग हैं, भारत के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जब प्रथम युद्ध ने उपभोक्ताओं की सामग्री के उत्पादन करने वाले उद्योगों को प्रेरणा दी तो द्वितीय युद्ध ने आधारोद्योगों को प्रोत्साहित किया और उत्पादकों की सामग्री उत्पन्न करने में सहायता दी।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि युद्ध ने अनेक मध्यम और छोटे पैमाने के उद्योगों और कुटीर उद्योगों को भी प्रोत्साहित किया। युद्ध से लाभान्वित उद्योगों में शीशा, रबर का सामान, स्टेशनरी, छोटे-मोटे रासायनिक पदार्थ, बटन, दरी, चाकू, छुरी, मसहरी आदि के उद्योग प्रमुख है।

कपड़े की मिलों पर युद्ध की माँगों के कारण तथा यह अनुभव होने पर कि हाथ से बुने कपड़ों से कुछ प्रकार की आवश्यकताएँ, जैसे पट्टी बाँधने के कपड़े इत्यादि अधिक आसानी से पूरी की जा सकती हैं, हाथ से कपड़ा बुनने वालों को अधिक काम मिलने लगा। हाथ से ऊनी कम्बल तैयार करने वालों को सेना के लिए कम्बल बनाने के बड़े-बड़े आर्डर भी मिले।

१४. अमेरिकन टेकनिकल मिशन—यहाँ हम डॉ० हेनरी ग्रेडी की अध्यक्षता में आये अमेरिकन टेकनिकल मिशन की चर्चा कर सकते हैं। यह मिशन अप्रैल सन् १९४२ में भारत आया और भारत के युद्धकालीन उत्पादन की जाँच-पड़ताल करके जून के आरम्भ में ही इसने गवर्नर जनरल को अपनी रिपोर्ट दी। यद्यपि मिशन का उद्देश्य युद्ध जीतने के लिए उत्पादन की वृद्धि करने का था किन्तु इसकी रिपोर्ट में कुछ ऐसी सिफारिशें भी हैं जो शान्ति के समय में पुनर्निर्माण के लिए बहुमूल्य है। उदाहरण के लिए मिशन ने उद्योगों के शीघ्र युक्तीकरण एवं कठोर नियन्त्रण पर जोर दिया। इसके साथ ही पावर अल्कोहल की उत्पत्ति की सम्भावनाओं की खोज, विद्युत शक्ति की प्राप्ति और प्रसार, लोहे और इस्पात के उद्योग का विस्तार, रबर इकट्ठा करने, अल्यूमीनियम उत्पन्न करने तथा शुद्ध गंधक उत्पन्न करने पर भी जोर दिया। इसने भारत सरकार द्वारा प्रारम्भ किये गए प्रशिक्षण-कार्यक्रम—विशेष संस्थाओं या उद्योग-केन्द्रों के अन्तर्गत—का भी पक्ष लिया। समस्त जाति के आर्थिक जीवन के नियमन का सिद्धान्त मिशन की रिपोर्ट में निहित है।

१५. भारत का औद्योगिक पिछड़ापन—इसमें कोई मतभेद नहीं कि भारत औद्योगिक दृष्टि से बहुत पीछे है। यह बात कृषि की प्रधानता, नगरों की अल्प-संख्या, कच्चे माल का बड़ी मात्रा में निर्यात, निर्मित वस्तुओं का आयात, और राष्ट्रीय आय की अल्पता आदि से स्पष्ट है। उद्योगों का विकास सीमित होने के साथ ही असमान भी है। यह उन्हीं उद्योगों तक सीमित है जहाँ लाभ आसानी से और सुरक्षापूर्वक प्राप्त हो सकता है। नये उद्योगों की अपेक्षा विनियोग के लिए वाणिज्य अधिक लाभकारी समझा जाता है। दूसरी बात यह है कि अर्थ-आयोग का यह कथन कि 'देश की जनसंख्या, साधनों और विस्तार को देखते हुए उद्योग अविकसित हैं' अभी तक उतना ही

सत्य है ।[1] वे उद्योग भी जो देश में दृढ़तापूर्वक जड़ जमा चुके हैं, जैसे कपड़े की मिलें, सहायक वस्तुओं और मशीनों के आयात पर निर्भर रहते हैं। उद्योग-प्रधान देशों द्वारा भारतीय बाजारों पर अपना अधिकार जमाने की उत्सुकता के कारण आयात की सरलता और स्वतन्त्र व्यापार-नीति आदि ने देश में इन उद्योगों की स्थापना कर दी। भारत सरकार की भारत कार्यालय में विविध सामग्रियों के लिए आर्डर (इण्डेन्ट) देने की पुरानी नीति, जिसे भारत में भण्डार क्रय-विभाग (स्टोर्स परचेज़ डिपार्टमेन्ट) के अभाव से और भी प्रोत्साहन मिला, भारत के औद्योगिक प्रगति को बढ़ाने के उद्देश्य से संचालित नहीं थी । इस प्रकार भारत ने अपने को स्थायी, सुस्थिर, औद्योगिक संगठन के लिए आवश्यक आधारभूत धात्वीय एवं रासायनिक उद्योगों से रहित पाया । लोहा और इस्पात तथा अभियान्त्रिकी (इन्जीनियरिंग) नगण्य पैमाने पर विद्यमान थे। भारत स्वयं एक "कील या ढ़िबरी बनाने की मशीन भी नहीं बना सकता था, किन्तु यदि बाहर से लगभग सब हिस्से आ जायँ तो वह रेलवे इन्जन तक बना सकता था ।"[2] औद्योगिक महत्त्व के तेजाब और क्षार उत्पन्न करने के आधारभूत उद्योग नहीं थे जिनकी कमी के कारण कागज, माचिस, तेल, विस्फोटक, रंग और कपड़े बनाने के उद्योगों के काम में भी रुकावट पड़ती थी और इनके लिए आवश्यक रासायनिक पदार्थों के लिए भारत को विदेशों का मुँह ताकना पड़ता था । इसके अतिरिक्त कारीगर, अभियन्ता, प्राविधिक एवम् रासायनिक विशेषज्ञों की कमी ने भी काम में पर्याप्त रुकावट डाली । इसका कारण भारत में प्रशिक्षण-केन्द्रों का अभाव था जिसके फलस्वरूप विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पड़ता था ।

भारत के शक्ति-साधनों का विवरण दिया जा चुका है। जैसा कि हम देख चुके हैं कोयला, तेल, ईंधन के सम्बन्ध में भारत की स्थिति इतनी सन्तोषजनक नहीं है जसी कि प्रायः कल्पना की जाती है । फिर भी इसकी नदियों, झरनों आदि की शक्ति के उपयोग और औद्योगिक प्रयोग की बड़ी सम्भावनाएँ हैं । इसके जंगलों में अतुल सम्पत्ति है । परिवहन के नये साधनों, अन्वेषण की सुविधाओं और अधिक पूँजी लगाने से वनोत्पत्ति पर आधारित उद्योगों को काफी प्रोत्साहन मिलेगा। जहाँ तक मानव-शक्ति का सम्बन्ध है यह मानना पड़ेगा कि यूरोपीय श्रमिक की कल्पना में भारतीय श्रमिक अवश्य ही अकुशल है; वह अस्थिर है और उसका स्वभाव परिवर्तनशील है। इतना मान लेने पर भी उत्तम प्रशिक्षण, कार्य-दशाओं में सुधार तथा रहने की परिस्थितियों के परिवर्तन, अच्छे श्रम-संघ संगठन से इसको काफी कार्य-कुशल बनाया जा सकता है। इसकी संख्या विपुल है । जहाँ तक दक्ष प्रबन्धकों का प्रश्न है, उसके विषय में कालवर्ट का मत है कि "भावी प्रबन्धकों को सर्वोत्तम प्रशिक्षा मिल और मजदूरों के बीच ही मिल सकती है । प्रबन्ध-कला उद्योग के वातावरण में ही सीखी जा सकती है ।"[3] चूँकि देश में ऐसे औद्योगिक वातावरण का अभाव है अतः देश को जापान की तरह

१. रिपोर्ट, पैरा ४१ ।

२. देखिए, इण्डस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, पैरा ८१.

३. वैल्थ एण्ड वेलफेअर ऑफ द पंजाब, पृ० १६८ ।

विदेशों से कुशल प्रबन्धकों को बुलाना होगा और देश के नवयुवकों को आवश्यक अनुभव और शिक्षा के लिए विदेश भेजना होगा। एक समय आएगा जबकि देश में इस प्रकार के औद्योगिक वातावरण का निर्माण हो जायगा। तब इन उपायों का आश्रय लेने की आवश्यकता न रहेगी। भारतीय पूँजी ने बहुत दिनों से 'लज्जाशील' होने का नाम कमा रखा है, किन्तु यदि आशा और सुरक्षा के वातावरण का संचार हो जाय तो भविष्य में यह आशा की जा सकती है कि वह धीरे-धीरे अपनी लज्जाशीलता और संकोच का परित्याग कर देगी। सुधरे हुए बैंकिग सगठन, विस्तृत गृह-बाजार एवं भारत के औद्योगिक जागरण के लिए प्रदर्शित उत्साह, इन सबके संयुक्त प्रभाव से आधुनिक उद्योगों के लिए भारतीय पूँजी अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त होगी। भारतीय रेलवे कम्पनियों द्वारा अनुसरण की जाने वाली भेदात्मक नीति—इस दुर्गुण की उपस्थिति औद्योगिक एव अर्थ-आयोग दोनो ने ही स्वीकार की थी—भारतीय वाणिज्य एवं औद्योगिक समुदाय की शिकायत का एक प्राधन कारण रही है। सरकार द्वारा प्रधान रेलों के प्रबन्ध का भार सँभालने, कर परामर्श समिति (रेट्स एडवाइजरी कमेटी की स्थापना तथा स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार द्वारा रेल नीति का नियन्त्रण आदि उद्योगीकरण की प्रगति में अवश्य सहायक होगे। देश की सड़कों के सुधार की समस्या—जो असाधारण रूप से दोषपूर्ण हैं, विशेषकर गाँवो में—को सुलझाने का प्रयत्न किया जा रहा है। और देश के भावी विकास की हर योजना मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

१६. औद्योगिक विकास से लाभ[1]—औद्योगिक विकास से देश को होने वाले लाभ इतने स्पष्ट है कि उनका विवरण देने की आवश्यकता नही। बहुत से अवसरों पर हमने देश की गरीबी और उसके कारणों की आलोचना की है तथा देश की आर्थिक पद्धति की कमियों की चर्चा की है।

(१) एक कमी देश की उत्पादक शक्तियों का केवल कृषि-मात्र पर अनुचित केन्द्रीकरण है। उद्योगो का समुचित विकास इस दोष को दूर करने में सहायक होगा। इससे विभिन्न उद्योगों में जनसंख्या का वितरण समान होने में सहायता मिलेगी एवं देश की अर्थ-व्यवस्था अधिक दृढ़ हो जायगी। इस प्रकार दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता करने की समस्या हल्की हो जायगी क्योंकि कृषि में इस समय लगे बहुत से अतिरिक्त व्यक्ति अन्य प्रदेशों में चले जायँगे।

(२) दूसरे, उद्योगों के स्थापन से राष्ट्रीय आय बढ़ेगी और जनसाधारण के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो जायगा। इससे उनकी कार्य-कुशलता में वृद्धि होगी जिससे उत्पादक शक्ति बढ़ेगी। इस प्रकार लाभप्रद क्रिया-प्रतिक्रियाओं की शृङ्खला प्रारम्भ हो जायगी।

(३) राष्ट्रीय आय के बढ़ने से जन-साधारण की कर-क्षमता बढ़ जायगी और सरकार राष्ट्रीय पुनर्जीवन के कार्यों को हाथ में ले सकेगी जो कि इस समय धनाभाव के कारण नहीं प्रारम्भ किये जा रहे है। उद्योगों के विकर्षण से कर-पद्धति अधिक

१. देखिए, फिस्कल कमीशन रिपोर्ट, अध्याय ४।

लचीली हो जायगी, क्योंकि मालगुज़ारी जैसे कर जो कृषि पर लगते हैं जल्दी नहीं बढ़ाए जा सकते जब कि अन्य साधनों पर लगाये गए कर शीघ्रता से बढ़ाए जा सकते हैं। आय-कर इसका प्रमुख उदाहरण है। ये कर सरलता से राज्य-कोष में धन जमा कर सकते हैं।

इसलिए यह सोचना कि देश का उद्योगीकरण होने से विदेशी वस्तुओं का आयात कम हो जायगा और उसके परिणामस्वरूप सरकार की आय घट जायगी, बिलकुल गलत है। हो सकता है कि कुछ आयात-कर समाप्त हो जायँ लेकिन जब देश का जीवन-स्तर ऊँचा होगा तो उनके स्थान पर अन्य सामग्रियाँ मँगाई जायँगी। अस्तु, उद्योगीकरण से सरकार की आय बढ़ेगी।

(४) उद्योगीकरण का अन्य लाभ यह होगा कि राष्ट्रीय चरित्र को प्रवृत्ति और प्रतिभा के अनुकूल विकसित होने का अवसर प्राप्त होगा। इससे देश की रगों में समाए हुए बौद्धिक जड़त्व एवं पुरातनवादिता—जो कृषि-प्रधान देश की विशेषता होती है—को दूर करने में भी सहायता मिलेगी और धीरे-धीरे डेनमार्क और अमेरिका की तरह कृषि का भी उद्योगीकरण हो जायगा। साधारणतया एक औद्योगिक जन-समूह अपेक्षाकृत अधिक जागरूक होता है और यही कारण है कि नगर सदैव से सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र रहे हैं। जैसा कि मेटलैण्ड ने कहा "जब मनुष्य निकट सम्पर्क में रहते हैं तब उनके मस्तिष्क में विचार जागते हैं।" औद्योगिक शिक्षा अत्यधिक साहित्यिक शिक्षा के दुर्गुणों को दूर करने में भी सहायक होगी और धीरे-धीरे प्रबन्ध का व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त होगा। इस प्रकार जनता स्वतन्त्रता से प्राप्त उत्तर-दायित्व को अच्छी तरह निभा सकेगी।

(५) उद्योगीकरण युद्धोत्तर काल में उत्पन्न मध्यवर्ग की बढ़ती बेरोज़गारी की समस्या को भी हल करने में सहायक होगा। नवयुवक नौकरी के लिए केवल सरकारी नौकरियों और कुछ आवश्यकता से अधिक भरे पेशों, जैसे डाक्टरी और वकालत, का ही मुँह न देखेंगे।

(६) उद्योगीकरण के सैनिक महत्त्व पर हम अन्यत्र विचार कर चुके हैं।

(७) द्रव्य के आसंचयन की प्रवृत्ति, जिसकी बहुधा अतिशयोक्ति की जाती है, परन्तु जिसके विद्यमान होने से इन्कार नहीं किया जा सकता, उद्योगीकरण द्वारा पूँजी का सुरक्षित विनियोग और लाभ के मार्ग में लगाए जाने के अवसर प्राप्त होने पर कम हो जायगी। सम्मिलित पूँजी वाली (ज्वाइंट-स्टाक) कम्पनियों के खुलने से सुप्तावस्था में पड़ी रहने वाली छोटी-छोटी रकमें भी उत्पादन के कार्य में लगाई जा सकेंगी। यह भी ध्यान देने की बात है कि कृषि से पैदा और इकट्ठी की गई धन-राशि की अपेक्षा उद्योगों से प्राप्त पूँजी अधिक सरलता से नवीन उद्योगों के संचालन के लिए मिल सकती है।

(८) अन्त में, उद्योगों के प्रसार से राष्ट्र के धन में वृद्धि होगी और जो भाग इस उत्पादन में लगा होगा उसकी आर्थिक स्थिति कृषि में लगे व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक सुधरी होगी, क्योंकि उद्योगों में कृषि की अपेक्षा ऊँची मजदूरी मिलती है। इस

प्रकार समूचे क्षेत्र का कल्याण होगा।

१७. उद्योग की कृषि पर प्रतिक्रिया—सब बातों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण का कृषि पर लाभप्रद प्रभाव पड़ेगा। भारतीय कृषि की दुरवस्था का एक कारण पूँजी का अभाव है। यह कमी उद्योगों में एकत्र धनराशि खेती में लगाने के लिए प्राप्त होने पर पूरी हो जायगी। यहाँ हम इंगलैण्ड के 'औद्योगिक क्रान्ति' के समय वहाँ की कृषि सम्बन्धी उन्नति की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जहाँ कृषि-विकास का अर्थ-प्रबन्धन बड़े-बड़े उद्योगपतियों और व्यापारियों ने किया। भू-स्वामित्व के राजनीतिक एवं सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार होने के कारण, इंगलैण्ड की भाँति यहाँ भी भू-विनियोग अनेक उद्योगपतियों को अपनी ओर आकर्षित करेगा।

कृषि का पारिश्रमिक भी, विशेषकर औद्योगिक क्षेत्रों के पास, बढ़ जायगा। औद्योगिक प्रगति का परिणाम यह भी होगा कि कस्बों और नगरों की संख्या बढेगी तथा उनके निकट सम्पर्क में आने से ग्रामीण जनता का मानसिक विकास होगा; वह प्रगतिशील हो जायगी। उद्योगों को कच्चा माल देने की हैसियत से भी कृषि-विकास में प्रेरणा मिलेगी। ज्यों-ज्यों उद्योग विकसित होंगे कृषि को और भी प्रोत्साहन मिलेगा।

कभी-कभी कहा जाता है कि उद्योगों के विकास से ग्रामीण श्रमिकों का प्रवाह नगर की ओर होगा, फलतः कृषि-काम में बाधा पड़ेगी और खाद्य-पूर्ति घट जायगी। यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि इस समय खेती पर काम करने वालों का केवल २% उद्योगों में लगा हुआ है तो यह भ्रम कि अति शीघ्र गति से होता हुआ उद्योगीकरण कृषि के विपक्ष और उद्योगों के पक्ष में जनसंख्या का असमान वितरण कर देगा, भी निराधार प्रतीत होता है। इसके अलावा हम एक सुधरी कृषि के ज़माने की ओर आँख लगाए बैठे हैं जब थोड़ी जनसंख्या सुधरे आधुनिकतम तरीकों द्वारा केवल निर्वाह के लिए ही नहीं वरन् बढ़ती आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक अन्न उत्पन्न करने में भी सहायक होगी। यह धारणा भी निराधार है कि औद्योगिक विकास के फलस्वरूप कृषि एक गौण स्थान की अधिकारिणी हो जायगी। कुछ भी हो, हमें कृषि-मात्र या उद्योग-मात्र को उपास्य नहीं बना लेना चाहिए। जब तक उद्योग और कृषि के मध्य राष्ट्र श्रम और पूँजी को इस तरह से विभाजित करता है कि राष्ट्रीय आय अधिकतम हो जाय तब तक यह प्रश्न बिलकुल महत्त्वहीन है कि कृषि को पहला स्थान मिलता है या दूसरा। सच बात तो यह है कि खेती इस देश की परिस्थितियों के इतनी अनुकूल है कि भारत में यह सदैव महत्त्वपूर्ण बनी रहेगी। यदि हम ग़ैर-आर्थिक तर्कों का सहारा लें—और ऐसा करना उचित भी है—तो हम कह सकते हैं कि कृषि सुदृढ़ और समृद्ध कृषक-समूह को बनाए रखने में हमारी सहायता करती है जो देश का सुदृढ़-तम आधार है।

अतएव कृषि और उद्योगों को लेकर खड़ा किया गया विवाद भ्रामक और सारहीन है। हम देख चुके है कि उद्योगों के विकास से कृषि को बहुत लाभ होगा और इसी प्रकार उद्योगों की समृद्धि भी कृषि पर निर्भर है जो स्वयं स्पष्ट है यदि हम केवल इतना ध्यान में रखें कि अन्ततोगत्वा भारतीय उद्योगों से उत्पन्न वस्तुओं के

प्रधान ग्राहक कृषक ही होंगे।[1]

१८. उद्योगों के लिए पूँजी—इसकी व्याख्या दो भागों में की जा सकती है—(१) भारतीय (देशी) पूँजी, (२) विदेशी पूँजी।

(१) भारतीय (देशी) पूँजी—हम पहले कह आए हैं कि भारतीय पूँजी की मात्रा और उत्साह दोनों विशेष रूप से १९१४-१८ के युद्ध के बाद से बढ़ रहे हैं। यह भारत सरकार को रुपयों के रूप में दिये जाने वाले ऋण और भारत की सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों की परिदत्त पूँजी के लेखे से प्रकट है। परन्तु फिर भी देश की पूँजी के साधनों के विकास और विनियोग को बढ़ाने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके बिना देश की औद्योगिक प्रगति में बड़ी रुकावट पड़ेगी। इस प्रश्न का महत्त्व और बढ़ गया है क्योंकि अब औद्योगिक कार्य कुछ इने-गिने क्षेत्रों, जैसे जूट और कपास की मिलों, तक ही सीमित नहीं है वरन् वह अनेक क्षेत्रों की खोज में है जैसे टाटा का लोहे का कारखाना, सीमेंट, चीनी, शीशे की फैक्टरियाँ, कागज की मिलें तथा नई योजनाएँ भी जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, यथा देश की जल-शक्ति का उपयोग, मशीनों का उत्पादन, मोटर और मिलों की सहायक सामग्री आदि-आदि। इन प्रस्तावित एवं विचारित योजनाओं की पूर्ति के लिए अपार धनराशि की आवश्यकता है। अतएव यह आवश्यक है कि देश के सुप्त धन के समस्त साधनों का प्रयोग किया जाय। यह कैसे किया जाय इसे समझने के लिए हमें (१) मोफसिल और (२) बड़े-बड़े व्यापारिक नगरों में प्राप्त धन के रूप तथा विस्तार का अध्ययन करना होगा एवं विचारना होगा कि किस प्रकार इसका उपयोग किया जा सकता है।

(१) मोफसिल में बैंकिंग की सुविधाओं के अभाव के कारण पूँजी में किसी प्रकार का संगठन नहीं है। वाणिज्यिक सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों का प्रसार विशेष कठिनाइयों से युक्त है यद्यपि प्रमुख नगरों में इम्पीरियल बैंक[2] की शाखाएँ खुलने से परिस्थिति बहुत कुछ सुधर गई है। डाकखाने के सेविंग्स बैंक एवं सहकारी बैंकों ने भी गाँवों की बचत का कुछ भाग प्राप्त किया है, परन्तु व्यवहारतः गाँव के छोटे व्यापारियों, कारीगरों एवं कृषकों को पूँजी देने का प्रधान साधन गाँव का साहूकार है। शायद ही कभी वह अपना धन नये कामों में लगाता हो। गाँवों की बचत का एक बड़ा भाग आभूषणों और आसंचयन के रूप में एकत्र किया जाता है। सरकारी नौकर और पेशेवर लोग भी धन भूमि में विनियोग करने को, चाहे वह खरीदने के रूप में हो या रहन रखने के रूप में, अधिक पसन्द करते हैं। यह मानना पड़ेगा कि बैंकिंग क प्रचार कृषकों की अपेक्षा इस श्रेणी के व्यक्तियों में शीघ्रता से हो रहा है।

(२) प्रेसिडेन्सी और व्यावसायिक नगरों में परिस्थिति अधिक सन्तोषजनक है। वहाँ बैंकिंग की अधिक सुविधाएँ हैं और लोगों में उद्योग और वाणिज्य में रुपया लगाने की तत्परता भी है। साधारण तौर से यह कहा जा सकता है कि ख्याति-प्राप्त

१. 'यह कृषि बनाम उद्योग का प्रश्न नहीं है बल्कि दो बड़े धन्धों के साथ-साथ पनपने का प्रश्न है, जिनमें कृषि सदा अग्रिणी है।' काल्वर्ट, वैल्थ एण्ड वेलफेअर ऑफ द पंजाब, पृ० १८६।

२. अब स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया।

और कुशल व्यक्तियों के प्रवर्त्तक होने पर ऐसे उद्योग में कभी भी धन का अभाव नहीं पड़ता। लेकिन यहाँ भी कठिनाइयों का एकदम अभाव नहीं है। औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन की दृष्टि से वर्तमान बैंकिंग पद्धति काफी लचीली नहीं है। वर्तमान नियमों के अन्तर्गत इम्पीरियल बैंक अचल सम्पत्ति पर ऋण नहीं दे सकता, और न ही लम्बे समय के लिए उद्योगों को धन ही दे सकता है। १६३५ में रिज़र्व बैंक के स्थापित होने पर भी इस दृष्टि से इम्पीरियल बैंक के कानून में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त तरल सम्पत्ति के आधार पर कर्ज देने में इम्पीरियल बैंक ३०% का अन्तर (मार्जिन) रखता है। अन्य बैंकों ने भी यही नीति बरतनी प्रारम्भ कर दी है जिससे उद्योगों को बहुत कठिनाई होती है। विनिमय बैंक विदेशी विनिमय के लाभप्रद व्यापार में अपना धन लगाते हैं और इनमें से बहुतों की पूँजी और प्रबन्ध भी विदेशी है। अतएव भारत की आर्थिक अवस्था के ज्ञान और जन-सम्पर्क के अभाव के कारण वे भारतीय उद्योग-धन्धों को धन नहीं देते और न उनसे औद्योगिक विकास के लिए सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण की आशा ही करनी चाहिए। सम्मिलित पूँजी वाली भारतीय कम्पनियाँ भी पुरानी प्रथा के अनुसार अल्प काल के लिए धन देती हैं। इस शताब्दी के प्रारम्भ में जिन बैंकों ने (उदाहरणार्थ पीपुल्स बैंक ऑफ लाहौर जो सन् १६१३ में फेल हो गया) साधारण वाणिज्यिक बैंकिंग को औद्योगिक बैंकिंग से संयुक्त करने का प्रयास किया वे असफल रहे। इसका कारण थोड़े दिन के लिए जमा की हुई रकम को दीर्घकालिक व्यापार में लगाना तथा एक ही उद्योग में अधिक धन लगा देना था।

औद्योगिक धन की कमी के कारण बड़ी-बड़ी कम्पनियों को प्रारम्भिक एवं चालू पूँजी के लिए प्रबन्धक एजेन्टों पर निर्भर रहना पड़ता है। प्रबन्धक एजेण्ट भी स्वनियन्त्रित मिलों के हिस्से और ऋणपत्र खरीदते हैं और उन्हीं (प्रबन्धक एजेण्टों) की साख पर बैंक उद्योग-कम्पनियों को धन देते हैं।[1] प्रबन्धकारिणी एजेन्सी प्रणाली विदेशों के सुसंगठित द्रव्य बाजार तथा पाश्चात्य औद्योगिक बैंकिंग पद्धति का भारतीय रूप (स्थानापन्न) है और इसका जन्म आर्थिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ है।[2] यह किसी भी प्रकार आदर्श व्यवस्था नहीं कही जा सकती क्योंकि इसमें अनेक गम्भीर दोष हैं।[3] बम्बई, अहमदाबाद और इन्दौर में मिलों को जनता के निक्षेपों (डिपाज़िट) से धन मिल जाता है। किन्तु धन प्राप्त करने का यह बड़ा ही अस्थिर और असन्तोषजनक साधन है और इसे 'सुख के साथी' (फेअर-फ्रेण्ड) की उपाधि ठीक ही दी गई है। जब बुरा समय आता है तो अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के उद्योगों से धन (खींच) लिया जाता है। अतएव ऐसे समय जब कि मन्दी, भले ही वह अस्थायी हो, को रोकने के लिए सारे साधनों (धन) की अधिक आवश्यकता होती है धन वापस लेने से बिगड़ी हुई स्थिति और भी बिगड़ जाती है। जनता को सलाह देने का कोई

१. रिपोर्ट ऑफ द सेण्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमिटी, पैरा ३५० देखिए; एस० के० बसु, 'इण्डस्ट्रियल फाइनेन्स इन इण्डिया' अध्याय ६ भी देखिए।

२. पनन्दीकर, बैंकिंग इन इण्डिया, पृ० २१५।

३. इस प्रणाली के उद्भव और कार्यों का संक्षिप्त वर्णन खण्ड २, अध्याय २ में दिया गया है।

मान्यता-प्राप्त साधन न होने के कारण भी पूँजी का प्रवाह मुक्त रूप से औद्योगिक विकास के लिए नही हो पाता।

अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नगरों में भी उद्योगों के लिए आवश्यक दीर्घकालिक ऋण की समुचित व्यवस्था नहीं है। थोड़े से औद्योगिक बैंकों की स्थापना की गई। उनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण बैंक, जिससे भविष्य के लिए बड़ी आशाएँ बँध गई थीं, टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक था। किन्तु थोड़े समय के प्रभावहीन-वैभवहीन जीवन के उपरान्त इसने औद्योगिक कार्य बिलकुल छोड़ दिया। फिर कुछ दिनों तक साधारण वाणिज्य-बैंकिंग और विदेशी विनिमय में लगा रहा और अन्त में इसका विलयन सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया में कर दिया गया जो केवल वाणिज्य-बैंक है। टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक की असफलता के अन्य कारणों में एक कारण यह भी है कि बैंक अभिवृद्धि काल में स्थापित किया गया था इसलिए बाद मे उसे कठिन परेशानियों का सामना करना पड़ा। इसके अलावा एक गलती यह भी थी कि वह किसी एक प्रबन्धक एजेण्टों की फर्म से सम्बन्धित उद्योगों के प्रवर्तन और अर्थ-प्रबन्धन में लगा रहता था।[1]

छोटे और मध्यम श्रेणी के साहसोद्यमियों को धन मिलने में अधिक कठिनाइयाँ होती हैं क्योकि न तो ये सुरक्षा के रूप में स्टॉक उपस्थित कर सकते हैं न उनकी इतनी प्रतिष्ठा और साख ही होती है कि नाम पर रुपये मिल जायँ। सहकारी साख भी उनके लिए उपयुक्त नही है, क्योंकि वह छोटे पैमाने पर काम करने वाले कारीगरों—उदाहरणार्थ जुलाहों—के लिए उपयुक्त है। अतएव बहुत दिनों से सरकार से इस बात की माँग की जा रही है कि वह सुरक्षित लाभांश, प्रत्यक्ष ऋण और तैयार माल की खरीद द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन उद्योगों को सहायता पहुँचाए। औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन की समीक्षा औद्योगिक आयोग (१९१६-१८) और बाद में केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति (१९३०-३१) ने विस्तृत रूप से की।

औद्योगिक आयोग ने विशेष प्रकार की उद्योग-बैंकों की स्थापना की सिफारिश की। उनके विचार में इस प्रकार के बैंकों की स्थापना इतने राष्ट्रीय महत्त्व की थी कि उसके लिए सरकारी सहायता की माँग करना उचित था। वास्तव में एक ऐसे बक की आवश्यकता थी जो छोटे उद्योगपतियों से सम्पर्क स्थापित कर सके, विस्तृत क्षेत्र में उद्योगों की भावी सम्भावनाओं का अनुमान लगा सके, और जिसके पास इतना धन हो जो तुरन्त न भुनाई जा सकने वाली प्रतिभूतियों में लगाया जा सके। उनके विचार में सरकार और चाहे जो सहायता दे, उसे विशेष रूप से उद्योग-विभाग के द्वारा विशेषज्ञों की सम्मति का प्रबन्ध करना चाहिए ताकि औद्योगिक बैंक कम-से-कम इतना तो अनुमान लगा सके कि जो उद्योग उनसे सहायता की माँग कर रहे हैं उनका भविष्य कैसा है। औद्योगिक बैंक स्वय विशेषज्ञों को नही रख सकते अतः सरकार को इस कमी को पूरा करना होगा।[2] औद्योगिक बैंकों के निर्माण के प्रश्न तथा केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति द्वारा सुझाये गए राज्यीय एवं केन्द्रीय औद्योगिक निगम (कारपोरेशन) का

१. देखिए, पी० एस० लोकनाथन, 'इण्डस्ट्रियल आर्गनाइजेशन इन इण्डिया', पृ० २५८-९।
२. देखिए, इण्डस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, । रा २८७-९२।

विवरण पुस्तक के दूसरे खण्ड में दिया गया है।[1]

औद्योगिक आयोग ने सुझाव दिया कि इस प्रकार बैंकों के स्थापना होने तक वर्तमान सम्मिलित पूँजी वाले बैंक मध्यम-श्रेणी के उद्योगों को ऋण देकर सहायता करें। उद्योग-सञ्चालक और विशेषज्ञों द्वारा प्रार्थी उद्योग की आर्थिक दशा और भविष्य की जाँच के उपरान्त इस ऋण को सरकार की गारंटी प्राप्त होनी चाहिए। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि कुछ दशाओं में जैसे जन-लाभ के कार्य या राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों को सरकार को स्वयं आर्थिक सहायता देनी चाहिए। इस प्रकार की सहायता विभिन्न रूप ग्रहण कर सकती है, जैसे लाभांश की गारंटी, रुपयों के रूप में ऋण, सरकार द्वारा उत्पादित वस्तुओं के क्रय का आश्वासन, या हिस्से की पूँजी में सरकारी योग आदि। ऐसी सहायता देने के पूर्व उचित सावधानी बरतना आवश्यक है ताकि सरकार के आर्थिक हित सुरक्षित रहें और विदेशी पूँजीपति, दी गई रियायतों से अनुचित लाभ न उठा सकें। सम्भवतः दोनों युद्धों के बीच आर्थिक कठिनाइयों ने औद्योगिक बैंकों की स्थापना के महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों को अनिश्चित समय के लिए स्थगित कर दिया। यह ठीक है कि सन् १६२३ से पंजाब, मद्रास, मैसूर, बिहार, बंगाल एवं उड़ीसा में उद्योगों को सरकारी सहायता देने का कानून (स्टेट एड टु इण्डस्ट्रीज़ एक्ट) लागू हैं और बम्बई में उद्योगों को सरकारी सहायता देने के नियम प्रचलित किये गए हैं, परन्तु ये कानून और नियम उद्योगों को धन देने में अधिक सहायक नहीं हुए हैं और कुल मिलाकर इनकी धाराओं के अन्तर्गत बहुत थोड़ा धन दिया गया है।[2] अतः औद्योगिक बैंकों का स्थापन अब भी अति वाञ्छनीय है। केन्द्रीय तथा राज्यीय बैंकिंग जाँच-समितियों द्वारा किये गए विस्तृत सर्वेक्षण से भी उद्योगों की वर्तमान आर्थिक कठिनाइयों के समाधान की तीव्र आवश्यकता की पुष्टि हो गई है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति द्वारा प्रकाशित प्रश्नावली में औद्योगिक बैंकों और प्रधान उद्योगों के लिए साख-सुविधाओं को प्रमुखता दी गई। यदि समिति की सिफारिशों को कार्यान्वित किया जाय तो औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन एक सुदृढ़ एवं प्रगतिशील आधार पर हो जायगा। सरकारी सहायता प्राप्त औद्योगिक-साख-निगम (कारपोरेशन) सन् १६३६-३७ में उत्तरप्रदेश और बंगाल में स्थापित हुए।[3] बम्बई की आर्थिक एवं औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने भी छोटे पैमाने के उद्योगों को धन देने के लिए राज्यीय सरकार द्वारा एक छोटे उद्योगों के बैंक की स्थापना की जोरदार सिफारिश की। इस सम्बन्ध में हाल में किये गए वैधानिक कार्य (औद्योगिक-आर्थिक निगम अधिनियम, १६४८) की व्याख्या द्वितीय खण्ड के ११वें अध्याय के सेक्शन ५५ में की गई है।[4]

१. अध्याय ११; सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ४०१-६ भी देखिए।

२. इन अधिनियमों की विस्तृत समीक्षा के लिए देखिए, प्रोसीडिंग्स ऑफ फिफ्थ इन्डस्ट्रीज़ कान्फ्रेंस, बुलेटिन नं० ५० ऑफ इण्डियन इण्डस्ट्रीज़ एण्ड लेबर।

३. खण्ड २ अध्याय १, सेक्शन १४ और अध्याय ११, सेक्शन ५४ में भी इस प्रश्न पर विचार किया गया है; एन० दास० 'इन्डस्ट्रियल एन्टरप्राइज इन इण्डिया', पृ० १३८-४०, भी देखिए।

४. अधिक विवरण के लिए देखिए, रिपोर्ट ऑफ द बॉम्बे इकनामिक एण्ड इण्डस्ट्रियल सर्वे कमिटी, पैरा २१६।

१६. बाह्य पूँजी—सन् १६२३ में संरक्षण नीति के अपनाने के साथ ही विदेशी पूँजी का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठा है। साधारणतः कहा जाता है कि यदि विदेशी पूँजी बिना किसी प्रतिबन्ध के प्रशुल्क की दीवाल के पीछे आश्रय पा सकी तो संरक्षण से होने वाले लाभ प्रायः समाप्त हो जायँगे। स्वतन्त्र व्यापार के युग में भी विदेशी पूँजी से अनेक कम्पनियाँ देश में स्थापित हो गई थीं। अर्थ आयोग (फिस्कल कमीशन) तथा १६२४ में नियुक्त बाह्य-पूँजी समिति (एक्सटर्नल कैपीटल कमिटी) दोनों ने बाह्य-पूँजी के सम्बन्ध में उचित नीति अपनाने के प्रश्न पर विचार किया।

२०. विदेशी पूँजी की मात्रा—यद्यपि भारत में विदेशी पूँजी का शुद्ध अनुमान कठिन है परन्तु मोटे तौर पर अनुमान लगाने के लिए पर्याप्त आँकड़े उपलब्ध हैं।[1] अभी हाल में बी० आर० शिनोय द्वारा लगाये गए अनुमान के अनुसार मार्च १६४५ में विदेशी पूँजी २२७५० लाख पौण्ड थी। यह अमुमान इस प्रकार लगाया गया था—बाह्य-ऋण का बाज़ार-मूल्य =८३०६·१ लाख × थोक मूल्य देशनांक। यह बराबर है= २०५८० लाख पौण्ड। इसमें १६२४ लाख पौण्ड और जोड़ा जायगा जो रुपयों में दिये गए भारतीय ऋण में विदेशियों के भाग का प्रतिनिधित्व करता है। यह एक अति-रंजित अनुमान है[2] क्योंकि यह १६३६ से विदेशियों द्वारा भारतीयों को हस्तान्तरित किये गए व्यवसायों को ध्यान में नहीं रखता।[3] प्रतिभूतियों और हिस्सों के मूल्य में हुई वृद्धि को घटा देना उचित नहीं है—अधिकतर इनके मूल्य कृत्रिम रूप से बढ़े हुए हैं—क्योंकि यदि सब विदेशी सम्पत्ति को खरीद लेने का निश्चय भी कर लिया जाय तो भी क्रय-मूल्यों का एक उचित और प्रचलित मूल्य स्तर से काफी नीचे स्तर पर निर्धारण करना असम्भव न होगा।

इसके अतिरिक्त, भारतवासी विदेशी कम्पनियों तथा रुपये की पूँजी से स्थापित ग़ैर भारतीयों द्वारा प्रबन्धित कम्पनियों—जैसे जूट की मिलों—में बड़े-बड़े हिस्सों के अधिकारी हैं जो नित्य ही बढ़ते जा रहे हैं। लेकिन इसके विपरीत हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि रुपये की पूँजी से सञ्चालित अनेक भारतीय कम्पनियों में विदेशी पूँजी भी लगी हो सकती है और प्रबन्ध भी ग़ैर भारतीयों के हाथों में हो सकता है। कलकत्ता की जूट की मिलें, बकिंघम और कर्नाटक की कपड़े की मिलें, मद्रास और कानपुर की ऊन की मिलें इसका उदाहरण हैं।[4]

---

१. २४ मई १६४६ के ईस्टर्न इकनामिस्ट में 'इण्डिया डेटर ऑर क्रेडिटर' नामक लेख देखिए।

२. अभी हाल में रिज़र्व बैंक द्वारा किये गए सर्वेक्षण के अनुसार जून १६४८ तक विदेशियों द्वारा विनियोजित पूँजी की मात्रा ५६६ करोड़ रुपया आँकी गई है। इसमें विभिन्न देशों का भाग इस प्रकार है: इंगलिस्तान ३७६ करोड़ रुपया, अमरीका ३० करोड़ रु०, पाकिस्तान २१ करोड़ रु०, और कनाडा ६ करोड़ रुपया।

३. सन् १६१४ से देखा गया है कि विदेशी पूँजी और फर्मों की तुलना में भारतीय पूँजी की मात्रा और फर्मों की संख्या अधिक बढ़ रही है। १६३६-४५ के युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों ने इस प्रवृत्ति को और तीव्र कर दिया है।

४. गत वर्षों में नाम के लिए भारतीय कहलाने वाली फर्मों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है, उदाहरणार्थ इन शब्दों को जोड़ा गया है 'इण्डिया लिमिटेड।'

विदेशी पूँजी की शुद्ध गणना के प्रश्न को छोड़ देने पर भी इस बात में कोई सन्देह नही कि भारत मे लगी विदेशी पूँजी की मात्रा बहुत है। भारत मे बड़े पैमाने पर किये जाने वाले अनेक उद्योग, जैसे बैंक, जहाज, रेलवे, चमड़ा कमाना, चाय व कहवा और बीमा कम्पनियाँ इत्यादि विदेशी पूँजी की सहायता से चल रहे हैं; यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि इधर कुछ वर्षों से, भारतीय पूँजी अपने लिए एक अलग रास्ता बना रही है और मात्रा मे भी बढ़ रही है।

२१. भारत में विदेशी पूँजी : मुख्य समस्याएँ—अब हम विदेशी पूँजी से सम्बन्धित राष्ट्रीय नीति के प्रश्न पर विचार करेंगे। विदेशी पूँजी ऋण या उद्योगों में लगी पूँजी के रूप में आ सकती है। ऋण के रूप मे विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में सभी लोग इस बात से सहमत हैं कि जब तक देश की पूँजी प्राप्त नही होती तब तक विदेशी ऋण विरोध के स्थान पर प्रोत्साहन का विषय है। ऐसा करना हानिकारक न होकर लाभ-प्रद है। परन्तु हमे देश की पूँजी को प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

अमेरिका और जापान[1] जैसे राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत देशो ने भी इस प्रकार से विदेशी पूँजी को देश में लगाने के लिए प्रोत्साहन दिया है। साथ ही ग़ैर-सरकारी भारतीय शिक्षित मत भी इस अर्थ में विदेशी पूँजी के उपयोग के पक्ष मे है। उदाहरणार्थ आर० सी० दत्त ने देश की रेलों के अर्थ-प्रबन्धन के लिए विदेशों में ऋण एकत्र करने को ठोस एवम् सुविचरित नीति माना। इसमें विदेशी पूँजीपति अपनी लगाई पूँजी पर केवल एक निश्चित ब्याज पाता है और ब्याज और ऋण न चुकाए जाने पर ही उद्योग पर अधिकार प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार से लिये गए ऋण के अनेक उदाहरण हैं जैसे राज्य और नगरपालिका द्वारा लिये गए ऋण, बन्दरगाहो के अधिकारियों के बन्ध-पत्र (बाण्ड), निजी कम्पनियों के बन्ध-पत्र (बांड) और ऋण-पत्र (डिबेंचर), बैंकों द्वारा लिये गए ऋण।[2] जैसा कि डॉ० स्लेटर ने लिखा है "चूँकि विदेशी नियन्त्रण का प्रश्न नहीं उठता अतएव केवल निम्न मुख्य बातें ही विचारणीय हैं : (१) क्या लिये गए ऋण से कोई नई सम्पत्ति उत्पन्न की जा सकती है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निश्चित ब्याज से अधिक उत्पादन करने में सहायक हो सके; (२) क्या विदेशों से ऋण लेना भारत में ऋण लेने की अपेक्षा अधिक लाभप्रद है? यदि दोनों प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में है तो निश्चय ही विदेशी पूँजी का उपयोग लाभ-कारी है।" बाह्य-पूँजी समिति ने भी कहा था कि सरकारी या अर्द्ध-सरकारी ऋण में बाह्य या देश की पूँजी के बीच विचारशील वस्तु केवल ब्याज की दर ही नही है।

---

१. तुलना कीजिए, "भारत की स्थिति, जहाँ तक विदेशी पूँजी का सम्बन्ध है, जापान से बिलकुल भिन्न है। जापान ने विदेशों से अपने औद्योगिक विकास के लिए ऋण लिया, किन्तु पूँजी का नियन्त्रण अपने हाथ में रखा और शीघ्र ही ऋणी से ऋण देने वाला राष्ट्र हो गया। किन्तु भारत में जापान की तुलना में यह कमी रही है कि जिन उद्योगों में विदेशी पूँजी लगी उनका नियन्त्रण भी विदेशी हाथो में चला गया और इस प्रकार आर्थिक विकास की सामान्य दिशा भी उन्ही के हाथ में चली गई।" हबर्ड, पूव उद्धृत, पृ० २७३।

२. देखिए, एक्सटर्नल केपीटल कमिटी रिपोर्ट, पैरा १७।

उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि विनिमय की आवश्यकताओं के अतिरिक्त, जहाँ तक सम्भव हो बाह्य ऋण की अपेक्षा रुपये के रूप में ऋण लेना चाहिए, भले ही इसमें ब्याज की दर कुछ ज्यादा क्यों न हो। इससे देश में बचत करने और उद्योगों में पूँजी लगाने की शक्ति बढ़ जायगी और इससे सरकारी अपक्व प्रमाण पत्र (स्क्रिप), एवम् सुरक्षित बन्ध-पत्रों (बाण्डों) के रूप में बैंकों को सुरक्षा प्राप्त होगी और वे उद्योगों को अधिक धन दे सकेंगे। विशेषकर इस दृष्टि से हम भारत के स्टर्लिंग ऋण के लौटाने और रुपयों में परिवर्तन करने का स्वागत करते है।

विदेशी पूँजी लाभ में हिस्सा लेने या सट्टे के रूप में दूसरे देश से आ सकती है। इसके साथ ही विदेशी प्रबन्ध और नियन्त्रण भी आ जाते हैं। इस प्रकार की पूँजी का ही प्राय: विरोध किया जाता है।

२२. विदेशी पूँजी के विरुद्ध आपत्तियाँ—विदेशी पूँजी के विरुद्ध मुख्य तर्क निम्न हैं।[1] (१) पहला स्पष्ट विरोध इस आधार पर किया जाता है कि लाभ देश के बाहर जाता है। कई व्यक्तियों को तो यह इतना भयंकर दोष दिखाई पड़ता है कि देश के प्राकृतिक साधनों को विकसित और लाभपूर्ण बनाने की अपेक्षा, जिससे विशेषकर विदेशियों को लाभ हो, वे बाहरी पूँजी पर एकदम प्रतिबन्ध लगा देना चाहते हैं। इससे देश का औद्योगिक विकास भले ही अनियत काल के लिए स्थगित हो जाय लेकिन वे विदेशियों के लाभ के लिए बाहर से धन मँगाना उचित नहीं समझते। आधारोद्योगों एवम् उन उद्योगों के सम्बन्ध में जो देश की सुरक्षा से सम्बन्ध रखते हैं तथा ऐसे प्राकृतिक साधनों के विषय में भी जैसे खनिज पदार्थ, जो एक बार समाप्त हो जाने पर किसी भी हालत में नहीं मिल सकते, यह भावना बड़ी तीव्र है। (२) दूसरा विरोध इस आधार पर किया जाता है कि विदेशी फर्मों के संचालक उन्हीं देशों से चुने जाते हैं; यही नहीं, उच्च पदाधिकारियों का चुनाव भी इसी प्रकार होता है। फलत: दायित्व-पूर्ण पदों पर भारतीयों के पहुँचने के कम ही अवसर आ पाते हैं। साधारणतया वे भारतीयों को शिक्षार्थी (एप्रेन्टिस) के रूप में भी प्रशिक्षा देने से इन्कार कर देते हैं। इस प्रकार विदेशी पूँजी के पक्ष में कहे जाने वाले लाभ से लोग वंचित रह जाते हैं। (३) इससे कुछ ऐसे स्थायी स्वार्थ उत्पन्न हो जाते हैं जो देश के राजनीतिक एवं आर्थिक आकांक्षाओं के विरोधी होते हैं। यह बात राजनीतिक दृष्टि से पराधीन राष्ट्रों के विषय में विशेष रूप से लागू होती है। नियम या सत्ता विदेशी पूँजीपतियों को अपने हित के लिए देश का शोषण करने देती है ताकि पराधीन देश पिछड़े रहें और विदेशी पूँजी-पति इन देशों के राजनीतिक स्वतन्त्रता या प्रगति के किसी भी आन्दोलन का विरोध करने में यथासामर्थ्य नहीं चूकते। स्वतन्त्र देशों में प्राय: देखा जाता है कि विदेशी पूँजी राजसत्ता से गठबंधन कर लेती है चाहे राजसत्ता कितनी ही निरंकुश क्यों न हो। कारण यह है कि विदेशी पूँजी का हित स्थिरता में है प्रगति में नहीं। दूसरे अपनी सरकारों द्वारा वे देश के राजनीतिक या आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करा सकते हैं।

---

१. देखिए, फिस्कल कमीशन रिपोर्ट, पैरा २६०, विमति टिप्पणी, पैरा ५४-८; एक्सटर्नल कैपीटल कमिटी रिपोर्ट, पैरा १७।

यह खतरा हमेशा मौजूद रहता है। भारतवर्ष ने तो विदेशी पूँजी और विदेशी सत्ता के इस अपवित्र गठबंधन का कुपरिणाम भोगा है। जब स्वतन्त्रता की ओर भारत की प्रगति रुक न सकी तब आत्मरक्षा से प्रेरित होकर विदेशी पूँजी ने राष्ट्रीय हितों का दामन पकड़ा।

२३. बाह्य-पूँजी के उपयोग और लाभ—इन सब त्रुटियों के बावजूद भी कुछ कारणों से कतिपय प्रतिबन्ध सहित विदेशी पूँजी का स्वागत वांछनीय है। इससे पहला लाभ है कि यह देश के उद्योगीकरण में सहायता देकर देश को धनी बनाने म उपयोगी सिद्ध होती है। उद्योगों के विदेशी पूँजी पर निर्भर होने पर भी प्रारम्भ से ही लाभ मालूम होने लगता है, क्योंकि श्रमिकों के पारिश्रमिक के रूप में ही सही, राष्ट्रीय आय बढ़ती अवश्य है। यदि औद्योगिक विकास न करने और विदेशी धन की सहायता से औद्योगिक विकास करने के बीच चुनाव करना पड़े तो आर्थिक दृष्टिकोण से दूसरे मार्ग को चुनना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि यदि लाभ और मजूरी दोनों ही देश में रहें तो अधिक लाभ होगा। यह बड़े महत्त्व की बात होगी यदि देश के साहसोद्यमी देश की पूँजी से औद्योगिक विकास को अपने हाथ में ले लें। ऐसा करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि मजूरी से कुल मिलाकर देश का लाभ ही होगा, भले ही वे कुल अर्जित आय का अल्पांश या अधिकांश हो।[१] मजूरी के रूप में देश को होने वाले लाभ के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह भी है कि विदेशी पूँजीपति के साथ प्राविधिक कुशलता और बहुमूल्य पेटेन्ट के अधिकार तथा संगठन भी देश में आ जाते हैं जो उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक हैं। लेकिन इसका पूरा लाभ तभी उठाया जा सकता है जबकि विदेशी फर्में अपने उद्योग-केन्द्र में देश के नवयुवकों और श्रमिकों को प्रविधि (टेकनीक) की शिक्षा दें। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि बहुत दिनों से विदेशी—विशेषकर यूरोपीय—पूँजी देश के उद्योगों में लगी है फिर भी उपर्युक्त प्रकार के कोई उल्लेख्य लाभ नहीं हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि देश में विदेशी पूँजी के निर्बाध आगमन-मात्र से ही उससे सम्बन्धित सब फायदे नहीं ले सकते हैं। विदेशी कम्पनियों पर ऐसी शर्तें लगाना आवश्यक है जिनसे देश में औद्योगिक शिक्षा शीघ्रता से प्रसारित हो। इस बात से इन्कार करने से कि भारतीयों में औद्योगिक नेतृत्व एवं ज्ञान का अभाव है कोई लाभ नहीं होता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अवसर और सुविधाएँ प्राप्त होने पर वे पश्चिम से इस विषय में सीख सकते हैं। यदि विदेशी उद्योगपतियों से भारतीयों को आधुनिक ढंग और नये विचारों की दीक्षा नहीं मिल पाती तो देश में विदेशी पूँजी के लाने का उद्देश्य ही असफल हो जायगा।

बाह्य-पूँजी से दूसरा लाभ यह बताया जाता है कि यह उद्योग को प्रारम्भ करने का व्यय-भार सम्हालती है और इस तरह विकास का पथ प्रशस्त करती है।[२] परन्तु औद्योगिक कार्यों को प्रारम्भ करने में विदेशियों पर निर्भर रहना कमजोरी का

१. देखिए, मारीसन, 'इकनामिक ट्रान्जीशन इन इण्डिया', पृ० २२०।

२. भारत में यूरोपीय उद्योग का इतिहास संक्षेप में बुचानन, पूर्व उद्धृत, अ० ३ में दिया गया है।

लक्षण है। इधर हाल में वायुयान-निर्माण और जहाज बनाने के क्षेत्र में दिखाये गए साहस से स्पष्ट लक्षित होता है कि भारतीय पूँजी की हिम्मत बढ़ रही है और देश के उद्योगीकरण मे उस पर अधिकाधिक विश्वास किया जा सकता है। वह उद्योग प्रारम्भ करने की जोखिम उठाने को धीरे-धीरे तत्पर हो रही है। कभी-कभी तो विदेशियो के साथ——उन्हे थोड़े हिस्से देकर——भी उद्योग प्रारम्भ किये जा रहे हैं, किन्तु इनमें नियन्त्रण पर उनका प्रमुख अधिकार नही रहता। इसके हाल ही के उदाहरण बिरला-नफील्ड और टाटा-इम्पीरियल-केमीकल इण्टस्ट्रीज है जिन्होने क्रमशः मिलकर मोटरकार बनाने और रंग बनाने के उद्योग प्रारम्भ किये है।

२४. बाह्य-पूँजी पर प्रतिबन्ध—विदेशी पूँजी से होने वाले लाभ और हानि पर विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यद्यपि देश मे बाह्य-पूँजी का उन्मुक्त प्रवाह वाछनीय नही है फिर भी देश के औद्योगिक विकास में यह महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, यदि इसका समुचित नियमन किया जाय और इस पर आवश्यक प्रतिबन्ध लगाए जायें। प्रतिबन्धो की ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि दोनो विरोधी विचारों में समन्वय स्थापित किया जा सके। एक ओर तो आवश्यक मात्रा और उचित प्रकार की विदेशी पूँजी को आकर्षित करने का प्रश्न है, क्योंकि यदि प्रतिबन्ध अत्यन्त कठोर, हैं तो विदेशी पूँजी बाहर ही रहेगी और इससे देश को हानि होगी, दूसरी ओर प्रतिबन्धों का नितान्त अभाव या उन्हें लगाने मे बहुत ढिलाई बरतने से भी यह डर है कि कही विदेशी पूँजी देश के सभी लाभप्रद उद्योगों पर अधिकार न जमा ले और देश को आनुषंगिक लाभ भी न प्राप्त हो। प्रस्तावित प्रतिबन्ध निम्न प्रकार के है :

(१) विदेशी कम्पनियों की संस्थापना और रजिस्ट्री यहाँ होनी चाहिए। उनकी पूँजी रुपयों में होनी चाहिए ताकि भारतीयों को भी विनियोग के अवसर मिल सकें तथा प्रबन्ध भारत के राष्ट्रीय हितों से तादात्म्य कर सके। यह कहा जाता है कि इस प्रकार के प्रतिबन्ध से सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियाँ बनाने के स्थान पर निजी कम्पनियाँ बनाकर बचा जा सकता है। लेकिन इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगों के लिए निजी कम्पनियाँ पर्याप्त धन एकत्र नहीं कर सकतीं। फिर भी यदि इस प्रकार से बच निकलने के अत्यधिक प्रयत्न हों तो विशेष कानून बनाकर इसे रोका जा सकता है।

(२) दूसरे, प्रबन्ध पर पर्याप्त भारतीय नियन्त्रण को सुरक्षित करने के लिए ऐसी कम्पनियों के हिस्सों का एक भाग भारतीय पूँजी के लिए निर्दिष्ट कर देना चाहिए। यह भी किया जा सकता है कि नई कम्पनियों में भारतीय पूँजी के लिए कुछ स्थान अल्प समय के लिए सुरक्षित रखा जाय। इस व्यवस्था के विरुद्ध यह कहा जाता है कि जब तक प्रारम्भ में भारतीयों द्वारा लगाई गई पूँजी के मुक्त हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध न लगाए जायेंगे तब तक यह व्यवस्था बिलकुल बेकार होगी। परन्तु हिस्सों के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध लगाने का परिणाम यह होगा कि सीमित बाजार के कारण भारतीय हिस्सेदारों को हानि होगी। दूसरे, जहाँ तक भारतीयों के लिए हिस्से अलग किये जायेंगे वहाँ तक पूँजी सीमित हो जायगी और प्रतिस्पर्धा के अभाव में इस पूँजी पर

लाभ बढ़ जायगा, जिसका अर्थ यह होगा कि उपभोक्ता को हानि पहुँचेगी और पूँजी-पतियों को लाभ होगा। यह भी कहा जाता है कि चाहे कितने ही प्रतिबन्ध क्यों न लगाए जायें किन्तु व्यवहार मे उनसे बच निकलना कठिन न होगा।[1]

(३) तीसरे, यह भी प्रस्तावित किया गया है कि संचालकों में से कुछ प्रतिशत भारतीय हों और हो सके तो वे भारतीय हिस्सेदारों द्वारा ही चुने जायें। यह आपत्ति, कि ऐसा करने में साम्प्रदायिकता की गंध आती है जो व्यापारिक हित और कुशल-प्रबन्ध के लिए घातक है, भी इस प्रत्युत्तर से दूर हो जाती है कि विदेशी पूँजी पर केवल विदेशी होने के नाते प्रतिबन्ध लगाना भी साम्प्रदायिकता की बू लिये हुए है। परन्तु फिर भी कुछ अन्य कारणों से इसे आवश्यक माना जाता है। इसके उदाहरण मे पं० मालवीय ने इगलिश ओवरसीज (क्रेडिट इन्श्योरेंस) ऐक्ट १९२० की व्यवस्था की ओर सकेत किया था जिसके अन्तर्गत उन्हीं फर्मो को ऋण दिया जाता जो प्रधानत: अंग्रेजी फर्मे हों। उसी प्रकार भारत में भी स्वतन्त्र-व्यापार-काल में भी जब कभी व्यक्तिगत कम्पनियों को रियायतें दी गई तो सरकार को इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

(४) यह सुझाव भी रखा गया है कि भारतीय और गैर-भारतीय सभी कम्पनियो को चाहिए कि वे भारतीय शिक्षार्थी (अप्रेन्टिसों) की प्रशिक्षा का प्रबन्ध करें और इसका पालन न करने पर उन पर दण्डकारी कर लगाए जायँ।

यह सभी लोग स्वीकार करते है कि विदेशी पूँजी से होने वाले लाभो के बढ़ाने और हानियों को कम करने के लिए इस प्रकार के कुछ प्रतिबन्ध आवश्यक है। १९२४ के भारतीय लौह उद्योग संरक्षण अधिनियम (इण्डियन स्टील इण्डस्ट्री प्रोटैक्शन एक्ट) के अन्तर्गत इन प्रतिबन्धों को कानूनी रूप दे दिया गया है। यह किन दशाओं में लागू किया जाय इस विषय में मतभेद है। अर्थ-आयोग तथा बाह्य-पूँजी समिति की बहुमत रिपोर्ट ने कहा कि सरकार द्वारा आर्थिक सहायता इत्यादि दिये जाने पर ही इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए जाने चाहिएँ। सब दशाओं में प्रतिबन्ध लगाने का उन्होंने इसलिए विरोध किया कि वे अधिक भारकारी होगे और इसलिए इनसे बचने की कोशिश की जायगी। यदि यह सम्भव न हुआ तो इसका प्रभाव यह होगा कि विदेशी पूँजी इस भय से देश में आने से रुक जायगी। अर्थ-आयोग की अल्पमत-रिपोर्ट (माइनॉरिटी रिपोर्ट) ने कहा कि संरक्षण स्वयं एक महत्त्वपूर्ण रियायत है। आर्थिक सहायता और संरक्षण द्वारा सहायता पहुँचाने में कोई तर्कसम्मत भेद नहीं किया जा सकता। इनके मतानुसार ऊपर निर्देशित प्रतिबन्ध हर हालत में लागू किये जाने चाहिएँ, चाहे रियायतें दी जाती है या नही।

उपर्युक्त विवेचन से यही सामान्य निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान परिस्थिति में देश के औद्योगिक विकास की गति को तेज करने के लिए बाह्य-पूँजी आवश्यक है। इससे उपभोक्ताओं के हितों की हानि के समय को कम किया जा सकता है (जो उस समय तक चलेगा जब तक संरक्षण-कर कायम रहते है) और उद्योगों को आधुनिक मशीनें

१. एक्स्टर्नल कैपिटल कमिटी रिपोर्ट, पैरा २१-३।

प्राप्त हो सकती हैं। दूसरे, ऊपर बताये गए लाभों को सुरक्षित करने के लिए बाह्य-पूँजी के मुक्त-प्रवाह को नियन्त्रित करना होगा। किन परिस्थितियों में, किस प्रकार, यह नियन्त्रण होना चाहिए, यह विस्तृत विवेचना का विषय है। अर्थ-आयोग (फिस्कल कमीशन) के बहुमत और अल्पमत के मतभेद (जिसका निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं) का प्रधान कारण यह था कि जहाँ बहुमत प्रतिबन्धों की प्रभावात्मकता पर कम विश्वास करता था वहाँ अल्पमत निश्चय रूप से उनके पक्ष में था। परन्तु बाह्य-पूँजी के नियमन और नियन्त्रण द्वारा राष्ट्रीय उद्देश्य की प्राप्ति के प्रश्न पर दोनों में मतैक्य है।

विदेशी पूँजी के नियमन के उपाय कहाँ तक सफल होंगे यह प्रयोग और गलतियों द्वारा ही जाना जा सकता है। यदि विशेष प्रकार का प्रतिबन्ध किसी एक विशिष्ट उद्योग या परिस्थिति में ठीक परिणाम नहीं देता तो उसे हटाकर उसके स्थान पर अन्य प्रकार का उचित प्रतिबन्ध लगाना होगा। हमारे विचार से अल्पमत की सिफारिशों के अनुसार प्राथमिक अवस्था में थोड़ा कठोर प्रतिबन्ध लगाने से बहुत बड़ी हानि न होगी। यदि वे अनुपयुक्त सिद्ध होते हैं तो परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन या संशोधन किया जा सकता है। हम इस बात में विश्वास नहीं करते कि अत्यन्त कठोर प्रतिबन्धों से विदेशी पूँजी डरकर बाहर भाग जायगी और फिर बन्धनों के पुनः शिथिल किये जाने पर वह न लौटेगी। जागरूक भारतीय जनमत के अनुसार विदेशी पूँजी पर प्रारम्भ में ही प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है।

२४. १९३५ के संविधान में विदेशी-पूँजी की स्थिति—१९३५ के 'भारत सरकार-अधिनियम' (गवर्नमेंट ऑफ इन्डिया एक्ट) में कितनी ही ऐसी धाराएँ थीं जो विदेशी पूँजी के प्रति विवेचनात्मक व्यवहार से सम्बन्धित हैं। उन्हें संक्षेप में नीचे दिया जाता है।

इंगलिस्तान में अधिवासित ब्रिटिश प्रजाजनों को न तो भारत में आने से रोका जा सकता है और न उनके यात्रा करने, रहने, सम्पत्ति खरीदने, सरकारी पद ग्रहण करने या किसी भी प्रकार का पेशा अपनाने में किसी प्रकार से बाधा पहुँचाई जा सकती है।

इंगलिस्तान या बर्मा में अधिवासित प्रजाजनों तथा ब्रिटिश अथवा इंगलिस्तान या बर्मा में संस्थापित ब्रिटिश कम्पनियों के सम्बन्ध में कर-विषयक कोई भेद न किया जायगा।

भारत में व्यापार करने वाली ब्रिटिश कम्पनियों को भी वही अनुदान एवं सहायता मिलेगी जो कि ब्रिटिश-भारत में संस्थापित कम्पनियों को मिल सकती है।

ब्रिटिश भारत में रजिस्ट्री हुए किसी भी जहाज या हवाई जहाज के पक्ष में ऐसा व्यवहार न किया जायगा जो इंगलिस्तान में रजिस्ट्री हुए जहाज या हवाई जहाज़ के प्रति विवेचनात्मक (भेद-भावपूर्ण) हो।

भारतीय धारासभाओं को इजाज़त दी गई कि वे उद्योग और व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए आर्थिक सहायता उन उद्योगों तक सीमित रखें जो ब्रिटिश-भारत के नियमों के अन्दर संस्थापित हैं और जो भारतीयों को प्रशिक्षण की सुविधा

देती है तथा जिनके आधे से अधिक संचालक भारतीय है। यह बात उन कम्पनियों के लिए थी जो कानून बनने के समय ऐसे कार्यो (उद्योग-व्यापार) में संलग्न नही थी।

विवेचनात्मक व्यवहार की धाराएँ तभी तक लागू हो सकती थीं जब तक कि उसी प्रकार का व्यवहार इंगलिस्तान मे भारतीयों या भारतीय कम्पनियों के प्रति न दिखाया जाय। यदि इंगलैण्ड की सरकार और फेडरल सरकार के बीच ऐसा समझौता हो जाय कि संघ (फेडरेशन) स्थापित हो जाने के बाद वे एक-दूसरे के नागरिकों एवं कम्पनियों से समान व्यवहार करेंगी तो ये धाराएँ स्थगित कर दी जायेंगी।[1]

उपर्युक्त परिनियत व्यवस्थाओं के अतिरिक्त गवर्नर-जनरल और गवर्नरों को प्राप्त आदेशों (इन्स्ट्रूमेन्ट्स आफ इन्स्ट्रक्शन) के अनुसार किसी बिल पर स्वीकृति देने या रोक रखने की विवेकपूर्ण शक्ति प्राप्त थी और जिस बिल के प्रभाव को भी वे भेद-भावपूर्ण समझते थे उसे रोक रखने का उन्हे अधिकार था। यदि उन्हें यह सन्देह हो कि कोई बिल संविधान अधिनियम (कान्स्टीट्यूशन एक्ट) के उद्देश्यों को आघात पहुँचा रहा है तो वे उसे सम्राट् की सरकार द्वारा विचार के लिए रख सकते थे।

यदि हम यह ध्यान में रखे कि इंगलिस्तान मे अंग्रेजी उद्योगो से प्रतिस्पर्धा करने वाला कोई भी भारतीय उद्योग नही है तो आदान-प्रदान का सिद्धान्त, जिसके द्वारा साधारणतया इंगलैण्ड में भारतीयों या कम्पनियों पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध न लगाए जायेंगे, बिलकुल निरर्थक प्रतीत होगा। इस सिद्धान्त को सार्थक करने के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय उद्योगों का इतना तीव्र विकास किया जाय ताकि उनमें इतनी क्षमता और प्राण-शक्ति आ जाय कि वे अंगरेजी कम्पनियों का सामना कर सकें। वाणिज्य-सम्बन्धी विवेचनात्मक व्यवहार के विरोधी धाराओं के शाब्दिक अनुशीलन से पता चलता है कि राष्ट्रीय हित एवं सुरक्षा की दृष्टि से शक्तिशाली ब्रिटिश फर्मो के विरुद्ध उठाया जाने वाला हर कदम कठिनाइयों से भरा है।

आज जब हम अपने देश के स्वामी हो गए हैं तथा देश के सर्वोत्तम हितों में विदेशी पूँजी के प्रति कोई भी व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र है, उपर्युक्त सभी कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी।

२६. आन्तरिक पूँजी के साधनों के विकास की आवश्यकता—यह तो स्पष्ट ही है कि देश को सबसे अधिक लाभ तभी होगा जब नई पूँजी के लिए बाह्य पूँजी पर निर्भर न रहकर वह आन्तरिक पूँजी से अपनी सारी आवश्यकताएँ पूरी करने में समर्थ होगा। जैसा कि बाह्य-पूँजी समिति ने कहा था "बाह्य पूँजी की वास्तविक समस्या भारत की पूँजी के आन्तरिक साधनों के विकास में निहित है। भारत की 'विशाल सुप्त पूँजी' को जागृत करने के लिए बैंकिंग की सुविधाओं के अभिवर्द्धन एवं प्रसार की आवश्यकता है।"[2] भारतीय बैंकों के विकास और पुनर्गठन तथा केन्द्रीय एवं राज्यीय बैंकिंग जाँच समितियों की सिफारिशों का विवरण बैंकिंग के अध्याय में

१. देखिए, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, १९३५, सेक्शन १११-१८; एन० एस० पारदशानी, 'हाउ इण्डिया इज़ गवर्न्ड' पृ० १३६-३७; जी० एन० जोशी, 'इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन' पृ० १२२-३।

२. देखिए, एक्सटर्नल कैपीटल कमिटी रिपोर्ट, 'सिफारिशो का सारांश'।

दिया गया है ।[1]

विदेशी पूँजी के स्थान पर देशी पूँजी के प्रयोग का अर्थ यह है कि उद्योग केवल भारतीयों द्वारा दिये गए धन से संचालित ही न हों अपितु उनका स्वामित्व एवम् प्रबन्ध भी भारतीयों के हाथ में हो। इस पिछली बात का विवरण हम इसी अध्याय में पहले कर चुके हैं।

१. देखिए, खण्ड २, अध्याय ११।

परिशिष्ट[1]

विभाजन के बाद[2]

१. जनसंख्या—१९४१ की जनगणना पर आधारित, निम्न तालिका, दोनों देशों और उनसे बाहर की रियासतों का क्षेत्रफल हजार-वर्गमील मे तथा जनसंख्या दस लाख व्यक्तियों में प्रदर्शित करती है।

	जन संख्या (दस लाख)	कुल का प्रतिशत	क्षेत्रफल (१००० वर्ग मील)	सम्पूर्ण क्षेत्रफल का प्रतिशत	घनत्व
भारतीय संघ					
प्रान्त	२३०	५७.८	६२७	४०.१	३६८
रियासतें	६८	१७.६	४१८	२६.५	१६७
योग	२९८	७५.४	१,०४५	६६.६	२९९
पाकिस्तान					
प्रान्त	६६	१६.९	२३६	१४.९	२८०
रियासतें	५	२.६	१२९	८.१	३७
योग	७१	१९.५	३६५	२३.०	१९५
हैदराबाद	१६	४.१	८२	५.२	१९८
कश्मीर	४	१.०	८२	५.२	
कुल योग	३८९	१००	१५७४	१००	२४१

पूर्वी पाकिस्तान के २५ प्रतिशत क्षेत्रफल में पाकिस्तान की लगभग ६४ प्रतिशत जनसंख्या केन्द्रित है। पूर्वी पाकिस्तान में जनसंख्या का घनत्व ७१८ है जब कि पश्चिमी पाकिस्तान का घनत्व १३६ है।

भारत की नागरिक जनसंख्या १४ प्रतिशत और पाकिस्तान की ८ प्रतिशत है।

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि विभाजन के समय प्रायः ५० लाख मुसलमान भारत से पाकिस्तान गये और प्रायः इतने ही हिन्दुओं का आगमन भारत में हुआ। इस

१. इस परिशिष्ट का उद्देश्य विभाजन के तात्कालिक परिणामो का दिग्दर्शन कराना है।

२. यह परिशिष्ट अधिकतर प्रो० सी० एन० वकील के उपयोगी प्रकाशन 'इकनामिक कॉन्सीक्वेन्सेज ऑफ द पार्टीशन', द्वितीय संस्करण, पर आधारित है।

प्रकार अब भी ३२० लाख मुसलमान हिन्दुस्तान में हैं और १५० लाख गैर मुसलमान पाकिस्तान में हैं।

२. कृषि—१९३८-९ के अंकों से स्पष्ट है कि प्रायः दोनों देशों में क्षेत्रफल का प्रायः आधा बिना जुताई के पड़ा है। आनुपातिक रूप से जोती जाने वाली भूमि पाकिस्तान में भारत से थोड़ी ज्यादा है। भारत में प्रति व्यक्ति बोया गया क्षेत्र ०.७५ एकड़ है और पाकिस्तान में ०.६४ एकड़ है। भारत में कुल क्षेत्रफल का १५% जंगल है और पाकिस्तान में ५%। न जोती जाने वाली भूमि पाकिस्तान में आनुपातिक दृष्टि से अधिक है।

क्षेत्र का विभाजन १०लाख एकड़ों में	भारतीय संघ		पाकिस्तान		हैदराबाद	कश्मीर	कुल
	क्षेत्र	%	क्षेत्र	%	क्षेत्र	क्षेत्र	क्षेत्र
कुल बोई गई भूमि	२०४	४२	४३	३७	२७	२	२७७
परती	४७	९	११	९	३	०.३	६१
कुल जोती भूमि	२५१	५१	५४	४६	३०	२.३	३३८
जंगल—	७४	१५	५	५	६	२	८७
जुताई के लिए अप्राप्य	८०	१६	३०	२६	१०	३	१२३
अन्य न जोती जाती हुई भूमि	८६	१८	२६	२३	२	१	११५
कुल न जोती जाती भूमि	२४०	४९	६१	५४	१८	६	३२५
कुल योग	४९१	१००	११५	१००	४८	८.३	६६३

भारत में २५१० लाख एकड़ अर्थात् जोती जाने वाली भूमि के १८% की सिंचाई होती है। इसके विपरीत पाकिस्तान में ५४० लाख एकड़ अर्थात् जोती हुई भूमि के ३९% की सिंचाई होती है। प्रायः अधिक सिंचाई के साधन पाकिस्तान में ही स्थित थे।

लगभग १८३६ लाख एकड़ अर्थात् ७८% भारत की और ३७७ लाख एकड़ अर्थात् ७७ प्रतिशत पाकिस्तान की भूमि में खाद्यान्नों की खेती की जाती है। भारत में प्रति-व्यक्ति खाद्यान्न उत्पन्न करने वाली भूमि ०.६१ एकड़ तथा पाकिस्तान में ०.५४ एकड़ है। लेकिन सिंचाई के साधनों की सुविधा के कारण पाकिस्तान की प्रति एकड़ उपज भारत से ज्यादा है। परिणामतः पाकिस्तान में खाद्यान्नों की बचत होती है जब कि भारत में खाद्यान्नों की कमी है जोकि प्रतिवर्ष ३० और ५० लाख टन के बीच रहती है।

भारत को पाकिस्तान से कपास और जूट की आयात करनी पड़ती है। इसके विपरीत मूँगफली, कहवा, चाय केवल भारत में उत्पन्न होते हैं और इनके लिए पाकिस्तान भारत पर निर्भर है।

दूध के मामले में पाकिस्तान की परिस्थिति भारत से अच्छी है। चमड़े भी पाकिस्तान में अधिकता से मिलते हैं।

३. खनिज पदार्थ—कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत का खनिज-उत्पादन पाकिस्तान की अपेक्षा कहीं अधिक है।

खनिज	भारत (१९४४)	पाकिस्तान (१९४४)
कोयला (लाख टन)	२४८	३
लोहा ,,	२३	—
ताँबा ,,	३.३	—
मैंगनीज ,,	३.७	—
बाक्साइट (टन)	१२,१३५	—
पेट्रोल (दस लाख गैलन)	६६	२१
अभ्रक (हण्ड्रेड वेट)	१३९,०००	—
क्रोमाइट (हजार टन)	२१	१९
जिप्सम ,,	२६	५८

४. व्यापार और उद्योग—विभाजन के परिणामस्वरूप समस्त औद्योगिक ढाँचा ही अस्त-व्यस्त हो गया। कारीगर और कुशल श्रमिक जो कि प्रधानतया मुसलमान थे पूर्वी पंजाब की फैक्ट्रियों को बिना मजदूरों की छोड़कर पाकिस्तान चले गए। पश्चिमी पाकिस्तान से हिन्दू पूँजीपति फैक्ट्रियों के लिए प्रबन्ध-कुशलता की कमी उत्पन्न करके हिन्दुस्तान चले आए। जबकि कपास और जूट अधिकतर पाकिस्तान में उन्पन्न किया जाता है कपड़े और जूट की प्रायः सब मिलें भारतवर्ष में हैं।

नीचे दिये गए १९४२ के अंकों से विभिन्न उद्योगों के वितरण का अंदाज़ा मिल जायगा।

उद्योग	भारत	पाकिस्तान
कपड़े की मिलें	३५७	१५
जूट ,,	१११	—
चीनी ,,	१७६	१५
लोहा और इस्पात के कारखाने	३६	—
सीमेन्ट की फैक्ट्रियाँ	५७	८
कागज़ की मिलें	१९	—
शीशे की फैक्ट्रियाँ	११२	५

१९४३-४ में सूती कपड़े की मिलों की कुल संख्या ४१० थी जिनमें से केवल

१५ पाकिस्तान में स्थित थीं। भारत की कपड़ और जूट की मिलें कच्चे माल के लिए पाकिस्तान पर निर्भर हैं।

अविभाजित भारत में औद्योगिक कारखानों का ८६% भारत के हिस्से में है और उद्योगों में लगे हुए व्यक्तियों में ९०% भारत में पाए जाते हैं। पाकिस्तान में बहुत से बड़े उद्योगों की कमी है। मध्यम-श्रेणी के भी जो उद्योग पाकिस्तान के पास हैं वे भी भारत से हीन कोटि के हैं। इसके अतिरिक्त भारत में पाकिस्तान की अपेक्षा उद्योगों की अधिक विविधता है।

हालांकि पाकिस्तान के पास थोड़ी सी सीमेन्ट की फैक्ट्रियाँ है, लेकिन वे कोयले और टाट के बोरों के लिए भारत पर निर्भर है। पाकिस्तान का चीनी उद्योग भी गन्ने के क्षेत्रफल को ध्यान में रखते हुए अविकसित है।

पाकिस्तान के औद्योगिक ढाँचे की सबसे बड़ी कमी है लोहे और इस्पात के कारखानों का एकदम अभाव।

पाकिस्तान भारत से भी अधिक कृषि-प्रधान देश है। जब कि पहले अविभाजित भारत दुनिया में जूट की निर्यात करने का एकाधिकार रखता था अब विभाजित भारत दुनिया में सबसे अधिक जूट की आयात करने वाला हो गया है। इसी तरह भारतीय संघ को लगभग रुई की दस लाख गाँठें पाकिस्तान से मँगानी पड़ती हैं (प्रायः मध्यम और बड़े रेशे की रुई की)। अविभाजित भारत का रुई उत्पन्न करने वाले प्रदेश का अधिकांश भाग पाकिस्तान के हिस्से में है। भारतीय संघ का पाकिस्तान तथा अन्य देशों के साथ व्यापार-सन्तुलन (भारत के लिए घाटे का व्यापार सन्तुलन है) ठीक नहीं है। भारत की सबसे जटिल समस्या, जो कि पाकिस्तान में भी कुछ रूप में है, यह है कि वह किस प्रकार आयात और निर्यात के बीच की खाई को कम करे, कैसे आयात घटाए और निर्यात बढ़ाए।

४. यातायात—रेलवे—भारतीय रेलों में लगी कुल पूँजी ७०२ करोड़ है जब कि पाकिस्तान की १३६ करोड़। अविभाजित भारत के रेलों की कुल लम्बाई का ७७% भारतीय संघ में है। निम्न तालिका से मीलों के हिसाब से हुआ विभाजन स्पष्ट हो जायगा :

भारतीय संघ	मील	पाकिस्तान	मील
१. पश्चिमोत्तर रेलवे (पूर्वी पंजाब व्यापारिक लाइनें)	१६१०	१. पश्चिमोत्तर रेलवे	
		व्यापारिक लाइनें	३११०
२. आसाम रेलवे		स्ट्रैटेजिक रेलवे	१८१७
ब्राड गॉज	३७६	२. आसाम रेलवे	
मीटर गॉज	१३९९	ब्रॉड गॉज	५०३
३. ई० आई० आर०		मीटर गॉज	९९९
बी० बी० सी० आई०		३. जोधपुर हैदराबाद रेलवे	३१९
बी० एन० आर०			
जी० आई० पी०			
एम० एण्ड एस० एम०	२११८०		
ओ० टी० आर०			
एस० आई० आर०			
बेजवाड़ा और धोर करनूल			
	२४५६५		६७४८

भारतीय-संघ पश्चिमोत्तर रेलवे की सैनिक महत्त्व की लाइनों के उत्तरदायित्व से मुक्त हो गया है जिनसे १९२४ से १९४६ के बीच में लगभग ४२ करोड़ रुपये का घाटा हुआ। लेकिन इसके बदले 'केन्द्रीय-वेतन-आयोग' (सेन्ट्रल पे कमीशन) के सुझावों को स्वीकार करने, और 'भण्डार और ईंधन' की बढ़ती कीमतों से कुछ कठिनाइयाँ हो रही हैं।

शरणार्थियों की बाढ़ ने दोनों देशों के रेलवे की आर्थिक दशा तथा साधारण प्रशासन को अस्त-व्यस्त कर दिया। ढाई महीने के बीच रेलवे को ३० लाख शरणार्थियों को ढोना पड़ा। इस कार्याधिक्य से पुराने और बदले जाने लायक इन्जिनों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा।

लेकिन भारतीय रेलों का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल है और वे धीरे-धीरे सुधार की ओर बढ़ रही हैं। नीचे की तालिका से विभाजन के बाद रेलों की आय-व्यय में हुई वृद्धि स्पष्ट हो जायगी :

	अविभाजित-भारत (१९३९-४०)	भारतीय संघ (१९४८-४९)	पाकिस्तान[१] (१९४८-४९)
कुल आय	१०२·७३	१९०	३६·८९
कुल व्यय	६९·९३	१५९·७८	३७·१५
विविध आय	०·६४	२·१६	—
नेट आय	३३·४४	३२·३८	—
ब्याज का खर्च	२९·११	२२·५३	—
बचत-लाभ	४·३३	९·८५	—

१. पाकिस्तान के अंकों में पोस्ट और तार की आय भी शामिल है।

पश्चिमोत्तर रेलवे तथा आसाम-बंगाल रेलवे जिनका कि दोनों देशों में विभाजन हो गया अन्य रेलों की अपेक्षा बहुत ही कम लाभ कर सकीं। इसका अभिप्राय यह है कि पाकिस्तान का रेलवे-बजट घाटे में होगा, हालांकि उसने (पाकिस्तान ने) केन्द्रीय-वेतन आयोग की वेतन दर की सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया है।

इंगलिस्तान से विभिन्न पुर्जों को मँगाकर अपनी फैक्टरियों में इंजिन तैयार करने, डिब्बों और इंजिनों की शीघ्रता से दिशा बदलने तथा बिना टिकट चलने वालों के साथ शीघ्रता से बरती गई सख्तियों तथा इन सबके सम्मिलित प्रभाव से भारतीय रेलों में काफी सुधार हो गया है।

२. जहाज—अविभाजित भारत का जहाजी परिवहन १,५०,००० टन था जो कि विश्व का ०·२४ प्रतिशत है। इसमें पाकिस्तान का हिस्सा ४०,००० टन से अधिक नहीं है।

३. सड़कें—कच्ची और पक्की दोनों मिलाकर ३१५,००० मील लम्बी सड़कों में से २६५,००० भारत और ५०००० मील पाकिस्तान में है।

६. मुद्रा (करेन्सी) और विनिमय—पाकिस्तान-मॉनिटरी सिस्टम एवं रिज़र्व बैंक आर्डर, १९४७, की मुख्य व्यवस्थाएँ नीचे दी जाती हैं :

(१) ३० सितम्बर, १९४८ तक भारतीय नोट (लीगल टेन्डर) वैध-मुद्रा के रूप में स्वीकार किये जाने थे।

(२) ३० सितम्बर, १९४८ के बाद रिज़र्व बैंक पाकिस्तान के लिए नोट छापने वाली सत्ता नहीं रहा। तब से पाकिस्तान को अपनी मुद्रा बनाने का अबाध अधिकार है।

(३) १ अप्रैल, सन् १९४८ से रिज़र्व बैंक 'पाकिस्तान नोट' जारी कर सकता था।

(४) ३० सितम्बर, १९४८ के पश्चात् शीघ्र ही रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को चाहिए कि निकाले हुए नोटों के मूल्य के बराबर सम्पत्ति assets पाकिस्तान सरकार को हस्तान्तरित कर दे।

(५) १ अक्तूबर, १९४९ तक पाकिस्तान सरकार रिजर्व बैंक आफ इण्डिया से कुछ परिस्थितियों में भारतीय नोट स्वीकार कर सकती थी, लेकिन ये नोट, जब और जैसे पाकिस्तान चाहे, पाकिस्तान के नोटों द्वारा बदलने पड़ेंगे।

(६) पाकिस्तानी मुद्रा के प्रचलन के एक वर्ष बाद तक पाकिस्तान में भारतीय रुपया और अन्य सहायक सिक्के वैध मुद्रा (Legal tender) के रूप में स्वीकार किये जायँगे।

इस प्रकार ऊपर बताई गई तिथियों से पाकिस्तानी नोटों और मुद्रा का प्रचलन हुआ।

अक्तूबर १९४८ से पाकिस्तान को अपनी मुद्रा के मूल्य-निर्धारण का अधिकार मिल गया। विदेशी व्यापार से पाकिस्तान की स्थिति देखते हुए यह अनुमान लगाया जाता है कि पाकिस्तानी मुद्रा भारतीय रुपये की समता में रहेगी।

७. **बैंकिंग**—विभाजन के ठीक बाद दोनों देशों में बैंकों की संख्या निम्न तालिका से प्रकट है—

		भारत	पाकिस्तान
अनुसूचित बैंक	....		
प्रधान कार्यालय	....	८५	१३
शाखाएँ	....	२४२८	६२०
योग	....	२५१३	६३३
नानुसूचित-बैंक	....		
प्रधान कार्यालय	....	४६२	१५७
शाखाएँ	....	११७५	४११
योग	....	१६३७	५६८
कुल योग	....	४१५०	१२०१

बैंकों में पाकिस्तान का हिस्सा जन-संख्या के अनुपात में था, लेकिन विभाजन के उपरान्त बहुत से देशी बैंकर और बैंक भारत में चले आए। फलतः पाकिस्तान की बैंकिंग पद्धति काफी गिरी दशा में है। बैंक द्वारा दिये जाने वाले ऋण तथा चुकता की जाने वाली बिलों की मात्रा काफी घट गई है तथा सावधि निक्षेप (टाइम डिपाज़िट) ३६ करोड़ से घटकर १८ करोड़ रुपये हो गया है। हिन्दू पूँजीपतियों के अपने कोष और बहुमूल्य वस्तुओं के साथ पाकिस्तान से बड़ी संख्या में भाग आने के कारण वहाँ की परिस्थिति स्वभावतः बहुत खराब हो गई है।

पश्चिमी पंजाब की सरकार ने खास तौर से कपास और गेहूँ के व्यापार को धन देने के लिए १ करोड़ रुपये के साथ एक कारपोरेशन बनाया। विभाजन के पूर्व इस कारपोरेशन का धन हिन्दू पूँजीपतियों द्वारा दिया गया था।

जैसा कि पाकिस्तान मॉनीटरी सिस्टम और रिज़र्व बैंक आर्डर १९४७ में संकेत किया गया था, १ जुलाई, १९४८ में देश के जन-ऋण और विनिमय का प्रबन्ध करने के लिए एक केन्द्रीय पाकिस्तान बैंक की स्थापना की गई जिसका नाम है 'पाकिस्तान राज्य बैंक' (द स्टेट बैंक ऑफ पाकिस्तान)। बैंक का ढाँचा रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया से बहुत मिलता-जुलता है।

८. **'राजस्व'**—१९४४-४५ के अंकों के आधार पर दोनों देशों की केन्द्रीय आय का अनुमान नीचे की तालिका से लग सकता है (संख्या लाख रुपयों में दी गई है):

आय के स्रोत	भारत का हिस्सा	पाकिस्तान का हिस्सा	योग
१. आयात-निर्यात कर (कस्टम्स)	२९३२	८९७	३८२९
२. केन्द्रीय एक्साइज़ कर	३२८७	५२७	३८१४
३. कारपोरेशन टैक्स एवं आयकर			
साधारण	५२९५	४४३	५७३८
सरचार्ज	३२७३	२८४	३५५७
४. व्यापार-लाभ-कर	११००	१००	१२००
५. गृह-प्रशासन	१९१	५७	२४८
६. मुद्रा एव मुद्रण	९६०	२८६	१२४६
७. (सिविल वर्क्स) गृह-कार्य	५९	१८	७७
८. व्याज	१३७	४१	१७८
९. अफीम	१०४	—	१०४
१०. राज्यों से प्राप्ति	४६	१४	६०
११. युद्ध से सम्बन्धित आय	१४३२	४२८	१८६०
१२. पोस्ट और टेलिग्राफ से कुल आय	७८९	२३६	१०२५
१३. रेलों से कुल प्राप्त आय	२४६४	७३६	३२००
१४. राज्यों की बाँटी गई आयकर का घटाया हिस्सा	—२१२५	—५,३१	—२६५६
योग	२००४४	३५२९	२३५६३

१९४८-४९ के बजय के आँकड़ों से यह ऊपर दिया गया अनुमान काफी सही साबित हुआ—राज्यों के सम्बन्धित अनुमान नीचे (लाख रुपयों में) दिये जाते हैं। इनका आधार (१९४४-४५) के आँकड़े है :

पाकिस्तान के प्रान्त

पश्चिमी पंजाब	१४९५
सिन्ध	८८०
सीमा प्रान्त	१८४
पूर्वी बंगाल	१८८४
सिलहट	१००
बलूचिस्तान	२०

भारतीय राज्य

पूर्वी पंजाब	८०६
उत्तर प्रदेश	२७४७
बिहार	१२७५
उड़ीसा	३१८

आसाम	४६२
मध्यप्रदेश—बरार	६६२
बम्बई	३३६७
मद्रास	४१२४
पश्चिमी बंगाल	१४७८

विभाजन के परिणामस्वरूप दोनों देशों का खर्च बहुत बढ गया है। साम्प्रदायिक दंगों को शान्त करने के लिए तथा शासन और सुरक्षा कायम रखने के लि सुरक्षा और पुलिस को सुदृढ़ करना पडा है।

एक अन्य आनुषगिक किन्तु बड़ी ही जटिल समस्या शरणार्थियों को सहायता देने और उनके पुनर्वासन की है। यह कुछ दिनों तक चलेगी।

विस्तृत उपद्रवों से खाद्य-फसलो को बड़ी क्षति हुई जिससे देश की खाद्य-समस्या और भी संकटपूर्ण हो गई। परिणामतः खाद्य-सहायता पहुँचाने के खर्च में बड़ी ही वृद्धि हुई है।

विशेषकर अनुत्पादक व्यय के कारण मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्तियों को बल मिला जिनके भार से सरकार को राष्ट्र-निर्माण-सम्बन्धी अनेक योजनाओं को स्थगित करना पड़ा।

समुद्र-पार पेन्शनें, विभाजन के पूर्व लिये गए ऋण पर ब्याज, जो कि प्रतिवर्ष ६८·५ करोड़ रु० है कई वर्षों तक भारतीय संघ के उत्तरदायित्व का प्रधान अंग बनेगी।

६. सम्पत्ति और देनदारियों का विभाजन—१२ दिसम्बर, १९४७ को दोनों देशों में सम्पत्ति और देनदारियों के वितरण के मोटे-मोटे सिद्धान्तों के निर्धारण के लिए एक समझौता हुआ—

१ मार्च को ब्याज देने वाली सम्पत्ति का मूल्य १००० करोड़ रुपये था, अरक्षित ऋण ८६७ करोड़ रु० और खजाने में रखे गए नक़द और प्रतिभूतियाँ लगभग ५१४ करोड़ रु० मूल्य की थीं—

समझौते के अन्तर्गत हुआ विभाजन इस प्रकार है—

	भारत (करोड़ रुपये)	पाकिस्तान (करोड़ रुपये)
ब्याज देने वाली सम्पत्ति	८३५	१६५
नक़द बाकी	३२५	७५

८६७ करोड़ रुपये के ऋण में पाकिस्तान का हिस्सा १७·५% है। ⅓ युद्ध-सामग्री पाकिस्तान को मिली। पाकिस्तान को ६ करोड़ रुपये अपनी युद्ध-सामग्री की फैक्टरियाँ चलाने के लिए और मिले। कुछ समय तक भारतीय और पाकिस्तानी दोनों प्रतिभूतियों पर भारतीय सरकार ब्याज देगी। उसके बाद पाकिस्तान अपने हिस्से का ब्याज देगा। पाकिस्तान भारत का ऋण वार्षिक किश्तों में ५० वर्ष में चुकाएगा। यह विभाजन के पाँच वर्ष बाद से प्रारम्भ होगा। भारत को पाकिस्तान में प्रतिभूतियाँ रखने वालों को लगभग ७ करोड़ देना होगा।